सम्पादकः

प्रो॰ उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः'

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१६३

॥ श्रीः ॥

ऋग्वेद-संहिता

सानुवादभूमिकाविवेचनसायणस्कन्दभाष्यांश-
परिशिष्टादिविभूषिता

(प्रथमाध्यायः, सूक्तानि १-१९)

संपादकः
प्रो० उमाशंकरशर्मा 'ऋषिः'
बि० एन्० कालेजस्य सँस्कृतविभागाध्यापकः
(पटनाविश्वविद्यालयस्थः)
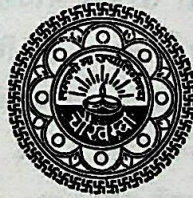
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

पञ्चम संस्करण १९९८

मूल्य १२५-००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(प्राच्यभारती के प्रकाशक एवं वितरक)

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
163

THE
ṚGVEDA-SAMHITĀ

With
an Introduction, Discussion, Anglo-Hindi Translation, Extracts from Sāyaṇa and Skanda, and Appendixes

(Chapter I, Hymns 1-19)

Edited by
Prof. UMA SHANKAR SHARMA 'Ṛṣi'
Deptt. of Sanskrit, B. N. College
(Patna University)

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1

भूमिका

[ऋग्वेद के अध्ययन का महत्त्व—ऋग्वेद का समय तथा उसके आधार—भाषाविज्ञान, ज्यौतिष, भूगर्भशास्त्र, पुरातत्त्व—ऋग्वेद के अनुशीलन की परम्परा—प्राचीन तथा आधुनिक युग—व्याख्यापद्धति—संरचना तथा विषय-वस्तु—धर्म तथा दर्शन—देवतावाद—प्रस्तुत संस्करण।]

आर्य-जाति के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य के रूप में ऋग्वेद का महत्त्व सदा ही अक्षुण्ण रहा है। आधुनिक अनुसंधानों ने सम्पूर्ण विश्व के इतिहास के रिक्त स्थान की पूर्ति में भी इसे सहायक सिद्ध किया है। भारतवर्ष के तो प्रत्येक अनुवर्ती साहित्य-रूप का यह उपजीव्य ही है और यही कारण है कि आज के सभी क्षेत्रों के शोध अपने निष्कर्षों की प्राप्ति में तब तक अधूरे समझे जाते हैं जब तक वे स्रोत के रूप में ऋग्वेद का उद्धरण नहीं देते। हमारे यहाँ वेदाध्ययन की अनिवार्यता का पता तैत्तिरीयारण्यक (२।१५) के 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य से भली-भाँति लगता है। इस नित्य वेदाध्ययन का कारण बतलाते हुए उसी स्थान पर उद्धृत ऋचा में कहा गया है कि जो व्यक्ति अच्छे मित्र के समान पालन करनेवाले वेद का त्याग करते हैं उन्हें वाणी के प्रयोग में भी भाग (Share) नहीं मिलता—वे वाक्य-प्रयोग के योग्य भी नहीं हैं। उनका वेदभिन्न समस्त साहित्य का श्रवण-अध्ययन मिथ्या (आधार-हीन) है क्योंकि वे अच्छे कर्म या पुण्य के मार्ग से परिचित नहीं।[1] वेद के अध्ययन में प्राचीन काल के लोग, तात्कालिक भौतिक लाभ नहीं होने पर भी, केवल पुण्यलाभ या अदृष्ट के लिए भी प्रवृत्त होते थे और इसी रूप में संपूर्ण वेद-वाङ्मय को रक्षा निःस्वार्थ हुई थी। यदि भौतिक लाभ की भावना प्राचीन ऋषियों और विद्वानों को होती तो कहना कठिन है कि आज हमारे समक्ष वेद-वाङ्मय अपने रूप का अनावरण, और वह भी इतनी शुद्धता के साथ, करता। वेद पर आश्रित ग्रन्थ ही नहीं, तत्सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ भी वेदों की रक्षा के प्रयास का उल्लेख करते मिलते हैं।

पतञ्जलि अपने महाभाष्य में व्याकरणशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

---

१. तै० आ० २।१५ में उद्धृत ऋग्वेद की ऋचा (१०।७१।६)—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

वेदाध्ययन की यह निष्कारणता धार्मिक प्रभाव के कारण इस रूप में पुण्य का कारण बन गयी कि न केवल वेद का उच्चारण या अर्थज्ञान पुण्यप्रद स्वीकृत हुआ प्रत्युत वैदिक मन्त्रों का कानों में पड़ जाना अथवा उन्हें लिखना भी पुण्यकार्य में निविष्ट हो गया। किन्तु इस पुण्य का आभास तो तभी हो सकता है जब वेद के महत्त्व का ज्ञान हो। अतएव वेदाध्ययन को कतिपय विशिष्ट वर्गों तक सीमित रखने के उद्देश्य से अधिकारी का निरूपण भी करना आवश्यक हो गया। अधिकारि-निरूपण को आधुनिक काल में कुछ लोग हास्यास्पद रूढि कहकर तिरस्कृत करते हैं किन्तु यह एक अपरिहार्य सत्य है कि विषय-विशेष में प्रवेश की न्यूनतम योग्यता सदा से सर्वत्र—आज भी—निर्धारित है। यह दूसरी बात है कि हमारे प्राचीन आचार्य किसी विषय में प्रवेश की अधिकतम योग्यता को न्यूनतम मानकर चलते थे। एक और बात है। आजकल किसी विषय के प्रति श्रद्धा को महत्त्व नहीं दिया जाता जब कि प्राचीन अधिकारि-निरूपण में आस्था का प्रमुख स्थान था। विशेष रूप से वेदाध्ययन में तो इसका महत्त्व अत्यधिक है क्योंकि भारतीय परम्परा में अदृष्ट (पुण्य) उसका प्रयोजक रहा है। अदृष्ट-प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब श्रद्धा हो। यद्यपि सायणाचार्य ने वेदाध्ययन को दृष्टार्थ (= अर्थज्ञान रूपी साक्षात् प्रयोजन की सिद्धि के लिए) माना है तथापि यूरोपीय विद्वानों के इस क्षेत्र में प्रवेश के पूर्व वेदों का अध्ययन मुख्यतः अदृष्टार्थ अथवा ऋषि-यज्ञ (जो नित्य किये जाने वाले पंच महायज्ञ का अङ्ग था) के रूप में होता था। अठारहवीं शताब्दी की संध्या के अनन्तर ही वेदों की उपयोगिता के अनेकानेक गुप्त द्वार अनावृत हुए तथा भारतीय विद्वानों में भी वेदों के प्रति जागृति उत्पन्न हुई। उस समय तक सामान्य जनता में वेदविद्या तथा संस्कृताध्ययन के प्रति भी ऐसी अनास्था हो रही थी कि किसी विद्वान् ने क्षुब्ध होकर कहा था—

> गता वेदविद्या गतं धर्मशास्त्रं गतं रे गतं रे गतं न्यायशास्त्रम्।
> इदानीन्तनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित्कृदन्ते ॥

उपर्युक्त अदृष्ट रूपी प्रयोजन तो केवल श्रद्धालु व्यक्तियों के लिए है। उसके अतिरिक्त भी यदि हम वेदों में प्रधानतम ऋग्वेद के उपयोगों का निरूपण करने लगें तो निराशा नहीं होगी। संक्षेप में हमें ऋग्वेद के अध्ययन के निम्नलिखित प्रयोजन प्राप्त होते हैं—(१) ऋग्वेद का समस्त परवर्ती भारतीय साहित्य के स्रोत के रूप में अध्ययन, (२) आर्यजाति के प्राचीनतम इतिहास के साधन के रूप में अध्ययन, (३) विश्व इतिहास की विच्छिन्न श्रृङ्खला को जोड़ने वाले ग्रन्थ के रूप में अध्ययन, (४) तुलनात्मक भाषा-

विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन, (५) तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र (mythology) की दृष्टि से अध्ययन।

(१) हम जानते हैं कि भारतवर्ष का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद ही है। एक तो सामान्य नियम के अनुसार ही पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव परवर्ती पर पड़ता है, दूसरे ऋग्वेद की स्थिति धार्मिक कारणों से भी कुछ विलक्षण-सी है अतः समस्त साहित्य पर उसका प्रभाव परिव्याप्त है। काव्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, व्याकरण इत्यादि सभी क्षेत्रों पर ऋग्वेद की छाप तो है ही, यदि हम उनके स्रोत का अन्वेषण करें तो हमें ऋग्वेद में प्रवेश करना पड़ेगा। यह सही है कि हमें यहां कालिदास की कमनीय कविता, भवभूति का हृदयद्रावी करुणरस, दण्डी का पदलालित्य, माघ का पाण्डित्य-प्रकर्ष और बाण की धीर-गम्भीर पदावली ऋग्वेद में नहीं मिलती[1] तथापि यह मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद में हमें उषा के मनोरम रूप के चित्रण तथा इन्द्र के वीरकर्मों के वर्णन में[2] आदि कविता के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार अग्नि के सूक्तों में अत्यन्त स्वभावोक्तिपूर्ण प्रार्थना प्राप्त होती है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी हमें जीवेश्वर-संबन्ध, जीवस्वरूप, संसार की सत्ता, प्रेत्यभाव इत्यादि आध्यात्मिक प्रश्नों का समाधान षड्दर्शनों के समान भले ही नहीं मिले किन्तु ऋग्वेद में इनके व्यावहारिक पक्ष का अभाव नहीं है। ऋग्वेद के ऋषि अपनी स्पष्ट तथा सरल उक्तियों में देवताओं को हव्य-प्रदान करने की प्रतिज्ञा करते हैं यदि वे भी प्रतिदानस्वरूप याचकों को गौ, दीर्घायु, वीरपुत्र तथा संपत्ति दें। ऐसी बातों से ऋग्वेद का

---

१. Ghate's Lectures on Rigveda, Poona, 1926. P. 3.

२. द्रष्टव्य—(क) अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥
[ऋ० १।१२४।७]

अर्थात उषा कभी भ्रातृहीन भगिनी के समान अपने दायभाग को लेने के लिए पितृ-सम सूर्य के पास आती है तो कभी वह सुन्दर वस्त्र पहनकर पति को लुभाने के लिए हंसती हुई सुन्दरी के समान पति (सूर्य) के समक्ष अपना सुन्दर रूप प्रकट करती है।

(ख) द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥
[ऋ० २।१२।१३]

जिसके सामने स्वर्ग और पृथ्वी तक झुकती है, जिसकी प्रचंडता से पहाड़ थर्राते हैं, जिस वज्रबाहु को लोग सोमपायी कहते हैं और जिसके हाथों में वज्र है—हे मनुष्यों, वही इन्द्र है।

विपुलांश भरा हुआ है। जीवन की आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान प्रदान करने वाली ऋचाएं भी हैं जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् विलक्षण भाव होने के कारण परवर्ती रचना मानते हैं। इनमें एकतत्त्व की प्रतिष्ठा, मूलतत्त्व की दुर्बोधता आदि का निरूपण हुआ है जैसे—

[क] एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
[ऋ० १।१६४।४६]

अर्थात् एक ही परमेश्वर-तत्त्व को मेधावी लोग अनेक प्रकार से पुकारते हैं, उसे ही अग्नि, यम और मातरिश्वन् (वायु) कहते हैं।

[ख] को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥
[ऋ० १०।१२९।६]

सचमुच कौन जानता है, यह कौन कह सकेगा कि यह कहां से उत्पन्न हुई, यह सृष्टि कहां से आरम्भ हुई ? इस (संसार) की सृष्टि के बाद ही देवगण (आये); अब जहां से यह आयी है, उसे कौन जाने ?

व्याकरण-शास्त्र के इतिहास का आरम्भ भी ऋग्वेद से ही होता है जिसमें शास्त्र की प्रशंसा में अनेक ऋचाएं मिलती हैं। एक ऋचा में व्याकरण को हमारी अनेक इच्छाओं की पूर्ति करने में सहायक होने के कारण वृषभ कहा गया है (कामानां वर्षकः पूरकः)। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में उसकी चार सींगें हैं। वर्तमान, भूत और भविष्यत्—तीन काल उसके पैर हैं। सुप् और तिङ् उसके दो सिर हैं। सात विभक्तियां हाथ हैं। उर, कण्ठ और और सिर—इन तीन स्थानों में बंधा है। यह महान् देवता मनुष्यों में स्फुट वाणी प्रदान करके प्रविष्ट है।[1]

सत्य यह है कि ऋग्वेद में हमें प्रतीक के रूप में समस्त ज्ञान का स्रोत उपलब्ध होता है। इस प्रतीक का ही पल्लवन तथा पुष्पीकरण परवर्ती साहित्य में हुआ है। कई स्थितियों में उक्त पल्लवित साहित्य से वेदार्थ करने में सहायता मिलती है तथा वैदिक प्रतीक का सही अर्थ समझ में आता है। इसी से कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति॥ [महाभारत, १।१।२६७]

---

१. चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
[ऋ० ४।५८।३]

पुराणों में बहुधा जो पर्वतों के उड़ने का उल्लेख है यह रूपक तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक ऋग्वेद में पर्वत का अर्थ मेघ भी होता है, यह न जान लें। इन्द्र से संबद्ध विभिन्न पौराणिक आख्यानों का स्रोत यहीं मिलता है। उदाहरणार्थ इन्द्र का एक वैदिक नाम शतक्रतु है जिसका व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है—सौ-सौ शक्तियों से युक्त। क्रतु का मुख्य अर्थ है कर्म या प्रज्ञा। अब चूंकि यज्ञ में दोनों की आवश्यकता होती है अतः अर्थादेश से क्रतु यज्ञ का पर्याय बन गया और जब पौराणिक काल में इन्द्र को देवराज के रूप में देखा गया तो 'शतक्रतु' शब्द ने भी अपना रूप दिखलाया और कल्पना की गयी कि कोई भी मानव एक सौ यज्ञ करके इन्द्र के पद (देवराज) का अधिकारी बन सकता है। अब मनोविज्ञान आया। कौन ऐसा व्यक्ति है जो स्वेच्छा से अपना पद दूसरे को देना चाहेगा—चाहे वह अधिकारी क्यों न हो ? अतः इन्द्र किसी व्यक्ति को अधिकारी बनने ही क्यों दें ? अब इन्द्र विघ्नकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनका यह रूप न केवल पुराणों में प्रत्युत बौद्ध जातकों में भी प्राप्त होता है। इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि आर्यों की वीरता के मानदण्ड रूप इन्द्र किस प्रकार बाद में स्वार्थी, पदलोलुप और ईर्ष्यालु देवता के रूप में उद्भूत हुए हैं।

(२) ऋग्वेद में ही आर्यजाति के प्राचीनतम इतिहास की सामग्री उपलब्ध होती है। इतिहास के अन्तरङ्ग साधनों में यद्यपि पुरातत्त्व तथा परम्परा का भी स्थान है और इन्हें, विशेषतया पुरातत्त्व को, बहुत महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है तथापि साहित्यिक सामग्री का भी उससे कोई न्यूनतर महत्त्व नहीं होता। इसका महत्त्व तब सर्वाधिक हो जाता है जब उस काल के इतिहास के ज्ञान के लिए कोई दूसरा साधन नहीं मिलता। भारतीय इतिहास का तिथिक्रम श्रीलंका में प्राप्त महावंश नामक पालिग्रंथ के आधार पर बुद्ध के जन्म से आरम्भ होता है। इसके पूर्व-काल का अनुमानमात्र शताब्दियों के माध्यम से होता है और उसे प्रागैतिहासिक काल के नाम से अभिहित किया जाता है। यह तो विपुल वेद-वाङ्मय है जो इतिहास की अविच्छिन्न धारा प्रदान करके प्रागैतिहासिक युग को भी ऐतिहासिक युग के रूप में परिणत करता है। इतिहास का अर्थ अब केवल राजाओं के राज्यकाल का क्रमबद्ध वर्णन मात्र नहीं है प्रत्युत मानव से संबद्ध सभी पक्षों की—धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा ज्ञान-विज्ञान की अन्य सभी शाखाओं के प्राचीनतम ज्ञात रूप से आरम्भ करके अधुनातन उपलब्धियों तक का क्रमबद्ध विवरण देना उसी का काम है। इस दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन हमें प्राचीनतम धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्था

के निरूपण में सहायता प्रदान करता है। हमारे सौभाग्य से ऋग्वेद को धार्मिक महत्त्व मिला जिससे उसका अक्षर-अक्षर शुद्ध रूप में यथावत् सुरक्षित है और इसी के फलस्वरूप अपने पूर्वजों के समक्ष पहुँचकर हम उनके रहन-सहन, आचार-व्यवहार, चिन्तन-प्रक्रिया, उच्चारण, धार्मिक विश्वास इत्यादि का साक्षात्कार कर सकते हैं।[1]

सिन्धु-घाटी की सभ्यता तथा ऋग्वेदकालिक सभ्यता के पौर्वापर्य एवं समकालिकता को लेकर यद्यपि अनेक मत प्रचलित हैं और यह कहना कठिन है कि दोनों में कोई सम्बन्ध था या नहीं तथापि यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि दोनों सभ्यताओं के अनावरण की अपनी सीमाएं होते हुए भी तथा मोहन-जो-दारो या हरप्पा के खण्डहरों में भौतिक दृष्टि से उस काल के साथ अधिक सान्निध्य का अनुभव करने पर भी अपने समय के समाज के जितने पक्षों का अभिव्यञ्जन ऋग्वेद करता है सिन्धु-घाटी के भग्नावशेष नहीं। प्रत्यक्षीकृत भौतिक साधनों के आधार पर—पृथ्वी के अन्दर बहनेवाली नालियों, सीधी रेखा में जानेवाली सड़कों, पंक्तिबद्ध भवनों तथा सार्वजनिक स्नानगृहों को देखकर—सिन्धु-घाटी के निवासियों को अपेक्षाकृत अधिक सभ्य माना गया है और ऋग्वेद में उपलब्ध युयुत्सु आर्यों की लोकविमुख सभ्यता को हीनतर सिद्ध करने के प्रयास हुए हैं। यह विषय विवादास्पद है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता पूर्णतया नष्ट हो गयी और उसकी कोई भी छाप परवर्ती भारतीय सभ्यता में नहीं है। द्रविड़ों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने का सिद्धान्त भी सन्दिग्ध है। दूसरी ओर ऋग्वेदकालिक सभ्यता और संस्कृति अभी भी समय-समय पर आने वाली विदेशी झंझाओं के बाद भी सुरक्षित है। कालक्रम से इसमें कृत्रिमता और अलंकृति का प्रवेश भले ही हुआ है तथापि अन्तरात्मा अभी भी अक्षुण्ण है। समस्त भारतीय जनता को, उसके जीवन-दर्शन को एकीभूत करने वाला तत्त्व यदि कोई है तो वह वेद और वैदिक युग का प्रभाव ही है। इसे हम अपने समस्त कार्य-कलापों के भीतर प्रवाहित होनेवाली अन्तर्धारा के रूप में समझ सकते हैं। हमारा आचार, धर्म, दर्शन—सब कुछ तो ऋग्वेद से प्रभावित है। धार्मिक कार्यकलापों की मौलिक एकरूपता का श्रेय वेदों को ही मिलना

---

१. *Ghate's Lectures on Rigveda*, Poona, 1926, p. 5—In the Rigveda, we are face to face with our ancestors, we see how they lived, how they spoke, how they thought, what religion and faith they professed, how they worshipped their gods, (and) what their ideals were.

चाहिए—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम—सर्वत्र वर्णाश्रम-धर्म में आस्था रखनेवाले व्यक्तियों के संस्कार वेद-मन्त्रों से ही सम्पन्न होते हैं। वैदिक संस्कार हमारे भीतर नसों में प्रविष्ट है जिससे हम वेद-विहीन भारतीय परम्परा की कल्पना स्वप्न में भी नहीं कर सकते।[1] यदि भारतवर्ष के वास्तविक इतिहास का विवेचन हो तो उसमें ऋग्वेद का प्रमुख स्थान होगा जहां से सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की अविच्छिन्न धारा आज तक प्रवाहित होती रही है। इसे समझने के लिए ऋग्वेद के अध्ययन से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता।

इससे स्पष्ट है कि न केवल संस्कृत के अध्येताओं या इतिहास के प्रेमियों के लिए ऋग्वेद का ज्ञान अनिवार्य है प्रत्युत भारतवर्ष से किसी प्रकार भी सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति के लिये ऋग्वेद एक अनिवार्यतया अध्येय ग्रंथ है जिसकी सहायता से ही कोई आधुनिक भारतीय जीवन-पद्धति के वास्तविक स्वरूप को समुचित संदर्भ में समझ सकता है। किसी विदेशी के लिए यहाँ का आचार-विचार पहेली हो सकता है किन्तु जब वह ऋग्वेद से चली आने वाली आचार-संहिता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसकी गहराइयाँ उसे समझ में आने लगती हैं। इतना सब कुछ होने पर भी ऋग्वेद के अध्ययन की घोर उपेक्षा हो रही है कि नीरस सूत्रों के अर्थ और पदकृत्य में वर्षों लगे रहनेवाले पण्डित वेदों के सरल मंत्रों का अर्थ नहीं कर पाते। इसी प्रकार विदेशों में भारतीय विषयों पर शोध करने जाने वाले भारतीय विद्वान् (?) ऋग्वेद का केवल नाम सुने हुए होते हैं। पराधीनता के पाश-संस्कार से हमारी बुद्धि ऐसी कुंठित है कि जब विदेशी विद्वान् हमारा ध्यान हमारे ही विषयों पर लगवाते हैं तब हमें चेतना होती है।

(३) ऋग्वेद का अध्ययन न केवल भारतीय इतिहास के निर्माण में अपना स्थान रखता है प्रत्युत विश्व इतिहास के लिए भी यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् क्षेत्रीय या राष्ट्रीय इतिहास में विश्वास नहीं करते क्योंकि किसी स्थान या राष्ट्र के निर्माण में विदेशी अथवा बहिरङ्ग सम्पर्क का भी प्रमुख स्थान होता है। यह जाति एक स्थान से दूसरे स्थान में जाती है, अपनी संस्कृति का दायभाग भी साथ लिये रहती है। एक देश में पनपने वाला धर्म दूसरे देश में फलता-फूलता है। विदेशियों का आक्रमण किसी देश

---

१. तुलनीय—वही, पृ० ६—The refined poetry of कालिदास, the philosophical vigour of कपिल, the voluptuous mysticism of जयदेव and epic simplicity of व्यास and वाल्मीकि all admirable in themselves, would, however, float before our eyes like the mirage of a desert, unless they are provided with the historical background by the Vedas.

के जीवन-दर्शन को प्रभावित कर सकता है। भारत में ही अनेकानेक धर्मों, संस्कृतियों और जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। अतः इतिहास क्षेत्रीय होने से विशृङ्खलित तथा विच्छिन्न होता है और विश्व इतिहास की सार्वजनीन कल्पना की जाती है। बोघोजकोई (तुर्की) में १४०० ई० पू० के प्राप्त हित्ताइत शिलालेख में जो मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य—जैसे भारतीय देवताओं के नाम मिलते हैं वे संस्कृति के आदान-प्रदान के प्राचीनतम प्रमाण हैं। ऋग्वेद में हमें विश्व-इतिहास के वे पृष्ठ प्राप्त होते हैं जहां से ऐतिहासिक युग का आरम्भ माना जाता है। इसके पूर्व की सभ्यताओं का पुरातात्त्विक आधार पर (पूर्वपाषाण, उत्तरपाषाण, ताम्र तथा लौह-युग) अनुमान मात्र किया जाता है। किन्तु ऋग्वेद में तो हम तात्कालिक सभ्यता का साक्षात्कार ही करते हैं। मैक्समूलर के शब्दों में 'विश्व इतिहास में वेद उस रिक्तस्थान की पूर्ति करता है जो किसी भाषा की साहित्यिक कृति से सम्भव नहीं। यह हमें उस काल में पहुँचा देता है जिसका हमारे पास कोई अभिलेख (record) नहीं; मानवों की उस पीढ़ी के शब्दों को ही हमारे पास ला देता है जिसके विषय में हम अनुमान या कल्पना के सहारे अस्पष्ट रूपरेखा बना सकते थे। जब तक मानव अपने जातिगत इतिहास में रुचि लेता रहेगा और जब तक हम अपने पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में प्राचीन युग की स्मृतियों के चिह्न सँजोये रहेंगे तब तक मानव जाति की आर्यशाखा के अभिलेखों से भरी-पूरी पुस्तकों की पंक्तियों के बीच पहली पंक्ति ऋग्वेद की ही रहेगी।'[1]

(४) भाषाविज्ञान के क्षेत्र में तो ऋग्वेद का स्थान अनुपम ही है। यूरोपीय विद्वानों को जब तक संस्कृत से परिचय नहीं हुआ था तब तक वे लातिन, ग्रीक या हिब्रू को प्राचीनतम भाषा मानते थे। सर विलियम जोन्स ने सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान संस्कृत के साथ उन भाषाओं की तुलना की ओर आकृष्ट किया और परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में अवेस्ता, लातिन, ग्रीक, संस्कृत, ट्यूटॉनिक इत्यादि प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर भारोपीय परिवार की कल्पना हुई तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative Philology) नामक एक नये शास्त्र का आविर्भाव हुआ। इसका आधुनिक नाम (Linguistics) पड़ने के पूर्व तक यही नाम

---

१. *Ancient Sanskrit Literature*. p. 63—As long as man continues to take an interest in the history of his race, and as long as we collect in libraries and museums the relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, will belong for ever to the Rigveda.

प्रायः एक सौ वर्षों तक प्रचलित था। इसमें संस्कृत का प्रतिनिधित्व प्राचीनता की दृष्टि से ऋग्वेद ही करता है। भाषा के चारों पक्षों की—ध्वनि, रूप, अर्थ और वाक्य की—दृष्टि से ऋग्वेद अपने निकटतम ग्रन्थ अवेस्ता से तुलनीय है, कुछ लोग तो शास्त्रीय संस्कृत भाषा की अपेक्षा भी उसे ऋग्वेद से निकटतर मानते हैं। कुछ ध्वनियों के हेरफेर से वही शब्द ऋग्वेद में भी हैं तथा ग्रीक आदि भाषाओं में भी। अर्थ कहीं बदला है तो सकारण और सम्बद्ध क्षेत्र में ही। कुछ तुलनायें इस प्रकार हैं—ऋ० अभरन्, ग्रीक—epheron अर्थ दोनों में समान है—'उन्होंने धारण किया'। अंग्रेजी में bear (धारण करना) भी उसी रूप से निष्पन्न है। ऋ० दमः, लातिन—domus (दोमुस्)। दोनों में अर्थ है 'घर'। अंग्रेजी का domestic (घरेलू) इसी से निष्पन्न है। कहीं सकारण अर्थ बदला है जैसे—ऋ० सानुः (पर्वतशृङ्ग), लातिन—nix-nivis; प्राचीन अंग्रेजी Snaw, अंग्रेजी–Snow, जर्मन Schnee (= तुषार)। यूरोपीय प्रदेशों में चूंकि पर्वतशृङ्ग की कल्पना तुषार के बिना संभव नहीं अतः यह सम्बद्ध अर्थ में बदला गया। ऋग्वेद का 'नपात्' (पुत्र) शब्द ग्रीक लातिन में nepos (पुत्र) हुआ है किन्तु आगे निष्पन्न होनेवाली भाषाओं में अर्थ बदल देता है। अंग्रेजी में nephew (भतीजा), nepotism (भाई-भतीजावाद) तथा संस्कृत में नप्ता (नाती, पोता) हो गया है।

भाषाविज्ञान का अध्ययन तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक इन दो विधियों से सम्पन्न होता है। दोनों ही विधियों में ऋग्वेद की महत्ता अक्षुण्ण है। तुलनात्मक विधि के अन्तर्गत इसकी भाषा की तुलना भारोपीय परिवार की अन्य प्राचीन भाषाओं से करके कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं। ग्रिम, ग्रासमान तथा फेर्नर के सुप्रसिद्ध ध्वनि-नियम, अनुनासिक तथा तालव्यीकरण के सिद्धान्त इसी के प्रतिफल हैं। इस दृष्टि से फ्रांस बॉप, रॉथ तथा कार्ल ब्रुगमैन के तुलनात्मक कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक विधि के अन्तर्गत किसी भाषा के उद्भव और विकास का अध्ययन किया जाता है। किसी भी भारतीय आर्यभाषा का ऐतिहासिक अध्ययन ऋग्वेद से ही उपक्रान्त होता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि किसी भाषा की कोई विशिष्ट प्रवृत्ति उससे निकली भाषा में अनुपस्थित रहकर भी तीसरी पीढ़ी में प्रकट होती है। ऋग्वेद का 'शमी' शब्द जो रथ में घोड़ों को जोतने वाले कांटे (pole, pin) के अर्थ में है मगही में 'समैला' का रूप लेता है। इसी प्रकार तुमुन्नर्थक वैदिक 'तवे' प्रत्यय संस्कृत में बिल्कुल नहीं किन्तु पालि तथा अशोकीय प्राकृत में पाया जाता है। इसी से डा० सुकुमार सेन प्रभृति विद्वान् पालि को सीधे वैदिक भाषा से संभूत मानते हैं। जिस प्रकार भारतीय आचार-विचार पर

-ऋग्वेद की गहरी छाप है उसी प्रकार यहां की भाषा भी प्रत्यक्षतः (आर्य-भाषाओं की स्थिति में) या परोक्षतः (द्रविड भाषाओं की स्थिति में) उससे प्रभावित है ।

(५) पिछली शताब्दी में तुलनात्मक भाषाविज्ञान के साथ ही तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र के अध्ययन की भी आधारशिला रखी गयी । यह देखा गया कि भारोपीय भाषाभाषियों की प्राचीन दन्तकथाओं में अद्‌भुत समानता है । उदाहरण के लिए सृष्टि के प्रलय का वर्णन भारत, ईरान तथा यूरोप में समान रूप से दन्तकथाओं में उपनिबद्ध है। ऋग्वेद में भी आर्यों की प्राचीनतम दन्तकथाओं का स्वरूप मिलता है । इन्द्र के द्वारा गायों की रक्षा करने तथा वलासुर की गुफा के विदारण का अनेक मन्त्रों में उल्लेख है । इन्द्र द्वारा वर्षा-प्रनिरोधी वृत्र का संहार भी अति प्रसिद्ध कथा है जिसका विकास पौराणिक आख्यानों में हुआ है । इसी प्रकार शुनःशेप और विश्वामित्र की कथायें, पुरूरवा और उर्वशी का संवाद (ऋ० १०।९५), यम-यमी-संवाद (ऋ० १०। १०) इत्यादि बहुत महत्त्व के स्थल हैं । कीथ ने इन्हें भारतीय नाटकों का प्राचीनतम रूप माना है । ऋग्वेद की कथाओं का तुलनात्मक की अपेक्षा ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है । तथापि इनका स्थान विश्व की पुराकथाओं की प्रथम पंक्ति में ही है[1] तथा इस क्षेत्र में अधिकांश कार्य अधूरा पड़ा हुआ है ।

इस प्रकार ऋग्वेद के अध्ययन के एकाधिक प्रयोजन हमें तत्काल प्राप्त होते हैं ।

ऋग्वेद का काल—

पाश्चात्य आलोचनात्मक पद्धति के भारत में प्रवेश के साथ ही भारतीय साहित्य के काल-निरूपण की समस्या आयी । जीवन के प्रति आध्यात्मिक

---

१. डा० घाटे (उक्त ग्रन्थ में पृ. १०—११) तुलनात्मक देवतावाद का उदाहरण देते हैं । अंग्रेजी का fortune (=भाग्य) शब्द लातिन fortuna से निष्पन्न है जो मूल धातु ferre (लाना) से संबद्ध है । उसी धातु से बना हुआ शब्द है Fors (फोर्स) जो इताली की एक प्राचीन देवी का नाम है और जो अपने साथ भाग्य या दुर्भाग्य लाती हैं । ये जुपिटर (जिउस=द्यौस्) की पुत्री तथा देवताओं में प्रथम उत्पन्न हैं । ऋग्वेद की उषा-देवी से ये अद्‌भुत समता रखती हैं क्योंकि उषा को भी 'अग्रिया', 'दुहिता दिवः', 'प्रथमा पूर्वहूतौ' इत्यादि कहा गया है । वैदिक भाषा और विशेषतः ऋग्वेद से इन देवताओं के संबन्ध पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है ।

दृष्टिकोण रखने के कारण हमारे देश में इतिहास-बोध होने पर भी प्राचीन काल में भी पाश्चात्य ऐतिहासिक प्रणाली का अभाव ही रहा है अतएव किसी भी साहित्यिक कृति का काल-निरूपण समस्या तो है ही, विवाद का भी विषय है। वैदिक साहित्य भी इसका अपवाद नहीं। वेदों के सम्बन्ध में एक दूसरी बात भी है।- वह यह है कि शास्त्रों में इनका कर्तृत्व भी विवादग्रस्त है तथा तीन[1] परस्पर विलक्षण मत मिलते हैं। (१) नैयायिकों का कहना है कि वेदों के रचयिता ईश्वर हैं जिन्होंने विश्वामित्र, वसिष्ठ इत्यादि ऋषियों को वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार कराया। इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान के रूप में वेद परमाप्त का वाक्य अर्थात् आगम प्रमाण है। (२) पूर्व मीमांसक वेदों को नित्य शब्दराशि के रूप में स्वीकार करते हैं जिनका आदि अन्त नहीं होता। ईश्वर-प्रभृति किसी पुरुषविशेष की यह रचना नहीं। इसीलिए वे इन्हें 'अपौरुषेय' कहते हैं। उपर्युक्त ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। मन्त्रों-ब्राह्मणों में कहीं भी अनित्य पदार्थों की चर्चा नहीं है। (३) वेदान्ती तथा वैयाकरण कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यमात्र के हित के लिए परमात्मा के मुख से निःश्वासवत् वेद अनायास प्रादुर्भूत हुए। तदनुसार अपौरुषेय होते हुए भी ये ईश्वर से सम्बद्ध हैं। इन दो मतों में वेद स्वतः प्रमाण हैं जब कि नैयायिक इन्हें ईश्वरकर्तृक होने के कारण प्रमाण मानते हैं।

उपर्युक्त भारतीय विचारधारा के अनुसार वेद के काल-निरूपण का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु आधुनिक युग की ऐतिह्यासिक दृष्टि से परिपूत मस्तिष्क वाले विद्वान् को इससे संतोष नहीं। वह तो अपनी प्रखरतम मेधा का प्रयोग करके कुछ ठोस निष्कर्षों पर पहुँचना चाहता है। यह तो निर्विवाद है कि ऋग्वेद के मन्त्रों के रूप में ही साहित्यिक कृति प्राप्त होती है। अन्य वेदों के मन्त्र, जो ऋग्वेद से नहीं लिये गये हैं, उनकी अपेक्षा अर्वाचीन हैं। यह बात बहुत ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद के मन्त्रों का काल पृथक् है, उनके संग्रह (संहिता के रूप में व्यवस्थापन) का काल पृथक् है। दोनों को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। मन्त्रों के संकलन का काल तो तब आता है जब सभी वेदों के मन्त्र प्रकाश में आ चुके थे, यागों में ऋत्विजों की सुविधा के लिए, श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर ऋक्, सामन् और यजुस् मन्त्रों का पृथक्-पृथक् संकलन हुआ। जब हम ऋग्वेद के काल की चर्चा करते हैं तब ऋचाओं की रचना का ही काल समझना चाहिए, न कि उनके संकलन का।

---

१. द्रष्टव्य—वरदाचार्य, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २४।

ऋग्वेद का काल-निरूपण अधोलिखित चार मुख्य आधारों पर आश्रित है—(१) भाषा-वैज्ञानिक आधार, (२) ज्योतिषशास्त्रीय आधार; (३) भूगर्भशास्त्रीय आधार और (४) पुरातात्त्विक आधार। इनमें प्रत्येक से पृथक् निष्कर्ष निकलते हैं।

(१) ऋग्वेद के रचनाकाल का सर्वप्रथम निरूपण मैक्समूलर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' (प्रकाशन १८५९ ई०) में किया था। इनके मत का एकमात्र आधार बुद्धधर्म (छठी शती ई० पू०) के द्वारा समस्त वैदिक वाङ्मय की सत्ता-स्वीकृति है। मैक्समूलर के अनुसार समूचे वैदिक युग को चार अवस्थाओं या कालों में बांटा जा सकता है—छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण तथा सूत्र काल। यदि प्रत्येक काल की विचारधारा के उद्भव तथा विकास के लिए २०० वर्षों की अवधि मानी जाय और ६०० ई० पू० में सूत्रकाल की सत्ता स्वीकार की जाय तो ८०० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक ब्राह्मण काल, १००० ई० पू० से ८०० ई० पू० तक मन्त्रकाल तथा १२०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक छंद का काल सिद्ध होता है। इसी अन्तवाले काल में ऋग्वेद की रचना हुई थी, साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने अपनी मौलिक प्रतिभा इन मन्त्रों की रचना में प्रदर्शित की। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार १२ वीं शताब्दी ई० पू० ऋग्वेद का अनुमानित काल है। इनका मत ऐसे शुभ लग्न में प्रतिपादित हुआ था कि सर्वाधिक प्रचारित हुआ और आज तक इतिहासकार इसे मान्यता देते हैं। किन्तु इस मत को स्वयं मैक्समूलर ने एक सुझाव के रूप में, दृढ़ सिद्धान्त बनाकर नहीं, प्रस्तुत किया था। उन्होंने 'भौतिक धर्म' शीर्षक अपनी जिफोर्ड व्याख्यानमाला में (१८८९ ई०) यह स्पष्ट स्वीकार किया कि इस पृथ्वी की कोई शक्ति यह निश्चय नहीं कर सकती कि वैदिक मन्त्रों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० ई० पू० में की गयी। इस मत में ऋग्वेद की केवल उत्तरी कालसीमा का निर्धारण किया गया है कि ऋग्वेद के मन्त्र इस काल के बाद नहीं लिखे गये।[1]

कुल २०० वर्षों का मानदण्ड किसी एक अवस्था के विकास के लिए मानना अत्यन्त काल्पनिक और अपर्याप्त है। सभी अवस्थाएं समान कालावधि में ही होंगी, यह भी असमान्य है। जो कुछ भी हो वेद के काल निरूपण में मैक्समूलर का प्रयास आधार-शिला तो रखता ही है।

---

1. Macdonell, *Vedic Reader*, p. XI—All that we can say with any approach to certainty is that the oldest of them cannot date from later than the thirteenth Century B. C.

भाषा-वैज्ञानिक आधार पर ऋग्वेद के काल निरूपण में ऐतिहासिक विधि के अन्तर्गत पाणिनि के द्वारा निरूपित भाषा तथा तुलनात्मक विधि के अधीन अवेस्ता की भाषा की सहायता ली जा सकती है। बटकृष्ण घोष[1] इन दोनों आधारों पर ऋग्वेद की भाषा का काल १००० ई० पूर्व निर्धारित करते हैं। उनके अनुसार चॉसर तथा बर्नर्ड शॉ की भाषाओं में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर ऋग्वेद की भाषा तथा पाणिनि-निरूपित भाषा में भी है। भाषा के परिवर्तन की चाल एक समान होती है अतः ६०० वर्षों का व्यवधान बहुत है। पाणिनि ४०० ई० पू० के हैं अतः ऋग्वेद १००० ई० पू० से अधिक पहले का नहीं हो सकता। यही बात अवेस्ता की भाषा के साथ भी है। ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषाओं में इतना साम्य है कि ये दोनों एक ही भाषा की दो बोलियाँ मालूम पड़ती हैं। दोनों का समय १००० ई० पू० है क्योंकि दोनों का समसामयिक प्रयोग हो रहा था।

भाषाविज्ञान के आधार पर निकले हुए निष्कर्ष में सर्वाधिक सावधानी की आवश्यकता होती है क्योंकि यह इतना सूक्ष्म विषय है कि अमूर्त की सीमा तक जा पहुँचता है। उपर्युक्त निष्कर्ष की प्राप्ति में घोष महोदय का भाषावैज्ञानिक उत्साह इतना मुखर हो गया है कि दुराग्रहपूर्वक अतथ्य के आलम्बन से भी नहीं हिचकता। भाषा-परिवर्तन की गति का निरूपण कई कारणों पर निर्भर करता है जैसे—भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक, जातीय मिश्रण, सांस्कृतिक इत्यादि। चूँकि सर्वत्र स्थितियाँ समान नहीं होतीं अतः एक सुदूरवर्ती भाषा की परिवर्तन-गति दूसरी में भी लागू होगी, ऐसा नहीं मान सकते। अंग्रेजी भाषा में परिवर्तन की गति में तीव्रता हो सकती है उस आधार पर ऋग्वेद की भाषा को पाणिनि से उतनी ही दूर मानना जितनी दूरी चॉसर और शॉ में है, भ्रमपूर्ण है। जब किसी ग्रन्थ को शास्त्रीय स्तर प्राप्त हो जाता है तब उसमें प्रयुक्त भाषा की विकृति-गति क्षीणतर हो जाती है। ऋग्वेद की भाषा को विकृत होकर पाणिनि तक आने में कितना अन्तराल होगा यह कल्पना पर आश्रित है तो सही, किन्तु इतना अवश्य कहा जायगा कि हजारों वर्षों की अवधि भी हो सकती है। वैसे विन्तरनित्स ने इन्हीं आधारों पर २००० ई० पू० के निकट का समय माना है।[2]

---

१. Cf. The Cultural Heritage of India (कलकत्ता रामकृष्ण मिशन से प्रकाशित) में डा० घोष का लेख *'Origin of the Indo-Aryans,'* पृ० १३६–७।

२. यह स्मरणीय है कि पाणिनि के अद्यावधि स्वीकृत काल पर ही विद्वानों ने आपत्ति उठायी हैं तथा तृतीय-सहस्राब्दी ई० पू० तक इनका समय ले जाने का प्रयास हुआ है। मैक्समूलर के भाषावैज्ञानिक आधार पर ही ह्विटनी

(२) ज्योतिर्विज्ञान की सहायता से ऋग्वेद का काल-निरूपण करनेवालों में प्रमुख हैं—शंकर बालकृष्ण दीक्षित, बाल गंगाधर तिलक तथा हरमन जाकोबी। दीक्षित की स्थापना का आधार शतपथ ब्राह्मण की निम्न पंक्तियां हैं—

एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति। तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते। (शतपथ ब्रा० २।१।२)।

इस उद्धरण में शतपथ-काल में कृत्तिका नक्षत्र का पूर्व में उदय होना कहा गया है। आजकल यह पूर्वीय बिन्दु से कुछ उत्तर की ओर हटकर उगता है। दीक्षित की गणना के अनुसार ऐसे व्यवधान के कारण कृत्तिका की तात्कालिक स्थिति शतपथ ब्राह्मण का काल ३००० ई० पू० में सिद्ध करती है। कृत्तिका का उल्लेख करनेवाली तैत्तिरीय संहिता उससे भी प्राचीन है और ऋग्वेद की स्थिति तैत्तिरीय संहिता की अपेक्षा भी प्राचीनतर है। अतः कम से कम ३५०० ई० पू० तो इसका काल होना ही चाहिए।[1]

लोकमान्य तिलक का सिद्धान्त वसन्त सम्पात (Vernal Equinox) के आरम्भ पर आश्रित है। प्राचीन काल में वर्षारंभ वसन्त से मानते थे। वसन्तादि ऋतुएं क्रमशः पीछे की ओर हटती जा रही हैं अर्थात् जिस नक्षत्र में आज कोई ऋतु आरम्भ होती है पहले उसके बादवाले नक्षत्र में ही आरम्भ होती थी। आजकल वसंत-संपात मीन की संक्रान्ति (प्रायः १४ मार्च) से प्रारम्भ होता है जब कि सूर्य पूर्वभाद्रपद के चतुर्थ चरण में रहता है। यह वसंत संपात कभी उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु इत्यादि नक्षत्रों में आरंभ होता था जहाँ से क्रमशः पीछे हटते हुए आज की स्थिति में आया है। कम-से-कम दो नक्षत्र (= १ मास, क्योंकि एक नक्षत्र में सूर्य प्रायः १४-१५ दिन रहता है) पीछे हट जाने पर ऋतु का परिवर्तन परिलक्षित होता है। अब हम यह देखें कि नक्षत्रों के खिसकने में कितना समय लगता है क्योंकि इसी पर ऋग्वेद का काल-निरूपण निर्भर करता है।

(२०००—१५०० ई० पू०), बेनफी (२००० ई० पू०), वेबर (१६ वीं शती ई० पू०) तथा हॉग (२००० ई० पू० से भी पहले) ने भी अपने मत दिये हैं।

१. शंकर बालकृष्ण दीक्षित, भारतीय ज्योतिशास्त्र, पृ० १३६—१४० ।

सूर्य का संक्रमण-वृत्त ३६० अंशों का है जो २७ नक्षत्रों में विभक्त है। अतः प्रत्येक नक्षत्र १३$\frac{1}{3}$ अंशों का (३६०÷२७) एक चाप बनाता है। यह माना गया है कि संक्रमण-बिन्दु ७२ वर्षों में एक अंश पीछे खिसकता है अर्थात् एक नक्षत्र खिसकने में ७२ × १३$\frac{1}{3}$ = ९७२ वर्षों का समय लगता है। ब्राह्मणकाल में कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-संपात का प्रारंभ होता था अर्थात् आज की अपेक्षा ४$\frac{1}{2}$ नक्षत्र आगे ही वसंतारंभ होता था। तदनुसार ९७२ × ४$\frac{1}{2}$ = ४३७४ या साढे चार हजार वर्ष पूर्व या २५०० ई० पू० के आसपास ज्योतिष की उक्त घटना संभवतः घटी होगी। दीक्षित इसे ३००० ई० पू० मानते हैं किन्तु इसके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य की कालगणना में शिथिल पड़ जाते हैं। तिलक इसे पूरा करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण को पूर्ववर्ती तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष का मुख है। तिलक इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि फाल्गुन नक्षत्र में पूर्ण चन्द्रमा था तो वसन्त-संपात अवश्य ही मृगशिरा में सूर्य के रहने की स्थिति में प्रारम्भ होता होगा। मृगशिरा से कृत्तिका तक पीछे हटने में ९७२ × २ अर्थात् मोटे तौर पर २००० वर्ष लगे होंगे। इस संहिता का काल इसलिए ४५०० ई० पू० तक चला जाता है। तिलक यहीं नहीं रुकते। मृगशिरा से भी आगे पुनर्वसु तक में वसंत-संपात के आरंभ होने के संकेत वे ऋग्वेद से खोज निकालते हैं। पुनर्वसु की स्वामिनी अदिति है जिसे देवताओं की माता माना गया है। इसका कारण यह है कि पुनर्वसु नक्षत्र में वसंत संपात होने से देवयान (उत्तरायण, देवताओं पवित्र काल) आरम्भ होता था। यह समय उक्त काल के भी २००० वर्ष पूर्व रहा होगा। तिलक इसे ६००० ई० पू० मानते हैं। ६०००–४५०० ई० पू० का युग उनके मत में भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम युग है जिसे वे अदिति-युग कहते हैं। उनके अनुसार वैदिक काल को चार भागों में बांटा जा सकता है—

[क] अदिति-काल (Aditi or Pre-Orion period)—यह ६०००–४००० ई० पू० का समय है जब कि गद्य-पद्य में उपास्य देवताओं के नामों, गुणों तथा मुख्य चरितों का निरूपण करनेवाले निविदों या याग-सम्बन्धी विधियों की रचना हुई थी।

[ख] मृगशिरा-काल (Orion period)—प्रायः ४०००–२५०० ई० पू० के इस युग में ऋग्वेद के अधिकांश मंत्रों की रचना हुई तथा यह आर्यसभ्यता के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल था। इसमें रचना का कार्य सभी युगों से अधिक हुआ। तिलक ने अपने ग्रन्थ का नाम भी (The Orion) इसी के आधार पर रखा।

[ग] कृत्तिका-काल (२५००–१४०० ई० पू०)—इस काल में तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण आदि की रचना पूरी हुई। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' के एक श्लोक के आधार पर, जिसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर घूम जाने का वर्णन मिलता है,[1] इस काल की अन्तिम सीमा इस ग्रन्थ को ही माना गया है।[2] इस काल तक ऋग्वेद के सूक्त प्राचीन तथा दुर्गम हो चुके थे।

[घ] अन्तिम काल (१४००–५०० ई० पू०)—इस काल में सूत्रग्रन्थों तथा षड्दर्शनसूत्रों की रचना हुई। इसी के अन्तिम भाग में वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में बुद्धधर्म का उदय हुआ।

जर्मन विद्वान् जाकोबी ने भी ऋतुओं के प्रारम्भ होने में ऋग्वेद काल से आजतक के हुए परिवर्तनों के आधार पर ज्योतिःशास्त्रीय गणना से ४००० ई० पू० ऋग्वेद का समय सिद्ध किया। गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट ध्रुवदर्शन भी उनकी गणना में बहुत महत्त्व रखता है। जाकोबी ने उपर्युक्त विचार रॉथ-स्मृति-ग्रन्थ में दिया था जिसकी यूरोपीय जगत् में अत्यधिक आलोचना हुई। मैकडोनल ने कहा कि आर्यों को उस समय सूर्य की निश्चित गति का पता था, इसीका कोई प्रमाण नहीं। (द्रष्टव्य, *Vedic Reader, XI* तथा 146)।

(३) ऋग्वेद में भूगर्भ-संबंधी इतने तथ्य प्राप्त होते हैं कि उनके आधार पर उसके काल का निर्णय किया जा सकता है। ऋग्वेद की सबसे पवित्र नदी सरस्वती थी जिसके तट पर अनेक यज्ञ होते थे। यह ऊँचे पर्वतों से निकल कर समुद्र में गिरती थी (ऋ० ७।९५।२)। यह शुतुद्रि के साथ मिलकर गरजते हुए समुद्र में गिरती थी (ऋ० ३।३३।२)। यह समुद्र आधुनिक राजस्थान की मरुभूमि में ही था। हो सकता है किसी भूकंप से समुद्र मरुभूमि में परिणत हो गया हो जो धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। आज सरस्वती का मार्ग मरुभूमि में विलीन है। दूसरा तथ्य है कि आर्यों का निवासस्थान सप्तसिन्धु में था जिसके चारों ओर समुद्र थे (ऋ० ९।३३।६, १०।४७।२)। पश्चिमी समुद्र तो आज भी है, दक्षिणी समुद्र राजस्थान की मरुभूमि में था, पूर्वी समुद्र उत्तरप्रदेश तथा बिहार-बंगाल में था अर्थात् गंगा की पूरी घाटी

---

१. वेदाङ्ग ज्योतिष, श्लोक ६—प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा॥

२. हॉग इस समय को ११८६ ई० पूर्व मानते हैं तथा इस तथ्य से दो निष्कर्ष निकालते हैं कि (क) १२ वीं शती ई० पू० में भारतीयों ने ज्यौतिष-शास्त्रीय गणना में पर्याप्त प्रगति कर ली थी तथा (ख) उस समय तक समस्त वैदिक कर्मकाण्ड-साहित्य पूरा हो चुका था। घाटे—Lec. Rigveda, p. 197

जलमय थी। गंगा हरिद्वार के निकट ही समुद्र में मिल जाती थी। उत्तरी समुद्र के विषय में भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि बल्ख और ईरान के उत्तर में विशाल सागर था जो उत्तरी महासागर (Arctic Ocean) से मिला हुआ था। इसे एशियाई भूमध्यसागर कहा जाता था। आधुनिक कृष्ण सागर, कास्पियन सागर, अराल सागर इत्यादि इसी के अवशिष्ट रूप में माने जाते हैं।

उस समय दक्षिण भारत एक पृथक् भूखण्ड के रूप में था। उत्तरी भारत में एकमात्र सप्तसिन्धु प्रदेश ही जल के ऊपर था और वहां विपाशा, शुतुद्रि, सरस्वती आदि नदियां बहती थीं। जल में शीत का अत्यधिक प्राबल्य था, वर्षा भी खूब होती थी। भूगर्भज्ञों के अनुसार भूमि और जल के उक्त भाग तथा सप्तसिन्धु (पंजाब) में शैत्य का प्राबल्य भूगर्भशास्त्र के हिम-युग (Pleistocene Period) की बात है। यह समय ५० हजार से लेकर २५ हजार ई० पू० तक था। इसके बाद राजस्थान की मरुभूमि निकली, पंजाब में उष्णता बढ़ी, पूर्वी समुद्र धीरे-धीरे भूमि के रूप में बदलने लगा और आर्यों का प्रसार पूर्व की ओर भी हुआ। अतः ऊपर के भौगोलिक निर्देश ऋग्वेद काल कम से कम २५००० ई० पू० सिद्ध करते हैं। इसके प्रमुख व्याख्याता अविनाशचन्द्र दास हैं।

पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद के उपर्युक्त निर्देशों को वैज्ञानिक नहीं मानते ये केवल ऋषियों की कल्पना हैं। अतः उन्हें आधार मानकर कोई वैज्ञानिक अनुसंधान करना व्यर्थ है।

(४) पुरातात्त्विक सामग्री भी ऋग्वेद के काल-निरूपण में पर्याप्त सहायता पहुँचाती है। इस प्रसंग में दो तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा बोगाजकोई का हित्ताइत शिलालेख। मोहन-जो-दरो तथा हरप्पा नामक स्थानों में खुदाई से अनुपम सभ्यता के चिह्न प्राप्त हुए हैं। इसका काल ४५०० ई० पू० से १६०० ई० पू० तक निर्धारित किया गया है। इस सभ्यता का विनाश विद्वानों के अनुसार किसी आक्रमण के फलस्वरूप हुआ था जिससे सभी निवासी नगर छोड़कर भाग गये। कुछ लोगों के कंकाल भी पाये गये हैं जो संभवतः छिपे हुए या असमर्थ व्यक्तियों के हैं। विद्वानों का विश्वास है कि इस सभ्यता का ध्वंस उन्हीं लोगों के आक्रमण से हुआ जिनके पुरोहितों ने ऋग्वेद की रचना की थी। ये और कोई नहीं, आर्य लोग ही थे। सिन्धु-घाटी सभ्यता के उत्खनक तथा प्रथम आख्याता सर जॉन मार्शल का कथन है कि उक्त सभ्यता के विध्वंस तथा ऋग्वेद के समय के मध्य २०० या तदधिक वर्षों का व्यवधान होना चाहिए किन्तु हरप्पा की अप्राप्य नेह

खुदाइयों, बेबिलोन के तिथिक्रम में संशोधन तथा ऋग्वेद के संकेतों से भी यह सिद्ध होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के विध्वंस तथा आर्यों के आक्रमण में कालव्यवधान नहीं रहा होगा।[1] सर मोर्टिमर ह्वीलर इत्यादि कुछ पुरावेत्ता तो निश्चत रूप से आर्यों को ही इस सभ्यता का विध्वंसक मानते हैं।[2] यह स्थिति प्रायः १६०० ई० पू० में ऋग्वेद का समय स्थिर करती है।

मेसोपोटामिया (ईराक; दजला-फरात नदियों की घाटी) की प्राचीन सभ्यता के साथ सिन्धु सभ्यता के सम्बन्ध-चिह्न मिलते हैं किन्तु बेबिलोन पर जब कसाइत आक्रमण हुआ (प्रायः १६०० ई० पू०) उस समय के बाद से ऐसे सम्बन्धों के चिह्न समाप्त हो जाते हैं जिससे प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता इस समय नष्ट हो गयी थी। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि १६०० ई० पू० में आर्यों के आक्रमणों से सदा के लिए सिन्धु-सभ्यता का विनाश हो गया। किन्तु यह संघर्ष एक दिन का नहीं था। प्रायः इस सभ्यता के उदयकाल से ही आर्यवीरों का आक्रमण आरम्भ हो गया था। पाश्चात्य विद्वानों का विश्वास है कि आर्य भारत में बाहर से आये। यह भाषाविज्ञान तथा पुरातत्त्व की दृढ़ भित्ति पर स्थिर है। दूसरी ओर अधिकांशतः आस्था तथा भक्ति पर आश्रित हमारा सिद्धान्त है कि आर्य भारत से ही सर्वत्र गये। सिन्धु-सभ्यता के अवशेष इसमें आपत्ति उठाते हैं। वैदिक सभ्यता और संस्कृति आज तक अविच्छिन्न है, जब कि सैन्धव सभ्यता एक काल में पनपी और कालान्तर में नष्ट हो गयी। यदि वैदिक सभ्यता की उपस्थिति में ही यह उत्पन्न हुई तो कहां से आयी तथा युयुत्सु आर्यों ने इसे इतने दिनों तक कैसे रहने दिया जबकि दोनों एक ही प्रदेश में थे? ऋग्वेद में सर्वत्र शत्रुओं को नष्ट करना, विजय में सहायता मांगना, दासवर्ण (काले रङ्ग के निवासियों) को नीचा दिखाना, युद्ध में शत्रुओं की संपत्ति लूटना इत्यादि वर्णित हैं। ये वर्णन सिन्धु-सभ्यता के साथ आर्य-सभ्यता के अनवरत संघर्ष के मुखर साक्षी हैं, हरप्पा के भग्नावशेष तो मौनरूप से सब कुछ निवेदन करते ही हैं। यह अधिक सम्भव लगता है कि आर्यों की प्रथम शाखा जो ऋग्वेद से सम्बद्ध थी बहुत पूर्व ही यहां आ चुकी हो—४५०० वर्ष ई० पू० का समय भी हो सकता है; उसके बाद एक पर एक शाखा आती गयी और अन्ततः १६०० ई० पू० में सिन्धु सभ्यता का पूर्ण नाश कर ही बैठी। इन पिछली शाखाओं में ही कुछ मध्यपूर्व तथा तुर्की की ओर भी रह गयीं—यूरोप में भी इनका

---

१. A. L. Basham, *The Wonder that was India*, p. 28.

२. Sir R. Mortimer Wheeler, *The Indus Civilization*, Cambridge, 1953.

पूर्ण विस्तार हुआ। इन सबों के मूल पुरुषों का नाम भारोपीय रखा गया है जो संभवतः अपने को 'वीराः' या विरोस् (viros) कहते थे।

भारोपीय जातियों के साथ स्थानीय जातियों के सम्मिश्रण से सीरिया के उ० पू० तथा पूर्वी तुर्की में दो नवीन जातियों का उद्भव हुआ—हित्ताइत तथा मितन्नि। इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने परस्पर वैर की शान्ति के लिए वैवाहिक सम्बन्ध के अनन्तर अपने देवताओं की शपथ लेकर संधि की तथा इस घोषणा-पत्र को ईंटों में उत्कीर्ण कराया। इन देवताओं में उनके अपने तथा बेबिलोनी देवताओं के अतिरिक्त चार वैदिक देवताओं के नाम भी ईरानी संस्करण में हैं—इन्दर (इन्द्र) उरुण्ण (वरुण), मितिर (मित्र) तथा नासतिय (नासत्यौ = अश्विनू–युगल)। यह लेख १४०० ई० पू० का है। इन देवताओं की एक साथ उपस्थिति इनके ऋग्वेदीय होने का ही प्रमाण है अतः इस शिलालेख तथा ऋग्वेद के काल में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं आर्यों की कई शाखायें अपनी सभ्यता तथा संस्कृति लिये हुए विभिन्न दिशाओं में गयीं तथा भारत में भी कई अवस्थाओं (phases) में इनका आगमन हुआ। यही नहीं, सांस्कृतिक आदान-प्रदान के साथ-साथ सांस्कृतिक विजय भी आर्यों की महती विशेषता थी। यही कारण है कि आर्यों के द्वारा सांस्कृतिक पराभव स्वीकार नहीं करने या उनके साथ सांस्कृतिक दृष्टि से सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकने से सैन्धव सभ्यता को भग्नावशेष के रूप परिणत होना पड़ा। जहां मध्यपूर्व में इनका मिश्रण हो गया वहीं सैन्धव सभ्यता इन्हें आत्मसात् नहीं कर सकी। जो कुछ भी हो इस पुरातात्विक सामग्री के आधार पर हम ऋग्वेद की अन्तिम काल सीमा १५०० ई० पू० के आसपास मान सकते हैं, पूर्वकाल-सीमा का तो निश्चय नहीं किया जा सकता किन्तु ४००० ई० पू० तक ले जाने में भी कोई सबल विरोध उत्पन्न नहीं होता। सिन्धु-सभ्यता के पुनः पुनः ध्वंस और अभ्युदय के साक्षी जो कई तल्ले (layers) मिले हैं वे प्रत्युत इसके समर्थक ही हैं।

हम विभिन्न आधारों से इस प्रकार पृथक्-पृथक् निष्कर्ष निकाल सकते हैं किन्तु सबों का संयुक्त रूप से प्रयोग करने पर इनके द्वारा प्रस्तुत विभिन्न तथ्यों का समाधान करके ही किसी निश्चित तथ्य पर पहुँचा जा सकता है। जहां तक भूगर्भशास्त्रीय तथ्यों का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि उस समय ये किसी अतीत तथ्य के द्योतक रहे होंगे या इनका प्रतीकात्मक मूल्य होगा। ज्यौतिषशास्त्रीय तथ्य कोई ऐसे सूक्ष्म निरीक्षण नहीं हैं कि उस समय आर्यों को पता ही न हो, फिर गणना का आधार तो आधुनिक गणित है—

प्राचीन तथ्य को आधुनिक गणित पर कसा गया है। अतः उस पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता। तिलक-प्रतिपादित अदिति-युग यदि कल्पना हो तो भी कृत्तिका के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता जो शतपथ ब्राह्मण में निर्दिष्ट है। ऋग्वेद उससे कुछ पूर्व का होना ही चाहिए। प्राचीन भाषाओं की परिवर्तन-गति के आधार पर भी समन्वय किया जा सकता है कि ४००० ई० पू० का काल यदि ऋग्वेद की रचना के लिए रखें तो कोई आपत्ति नहीं।

वेद के अनुशीलन की परम्परा—

वेदों की रचना (अथवा भारतीय परम्परा के अनुसार दर्शन) हो जाने के बाद मन्त्रों के अर्थ का सम्यक् ज्ञान सुरक्षित रखने के लिए विभिन्न ग्रन्थ लिखे गये। ब्राह्मण-ग्रन्थ तो वेदों में प्रतिपादित यज्ञों की व्याख्या तथा मंत्रों का याज्ञिक उपयोग बतलाते ही हैं, कहीं-कहीं उनकी व्याख्या भी करते हैं। यास्क ने अपने निरुक्त में जहाँ-तहाँ ब्राह्मणों में निर्दिष्ट विभिन्न शब्दों के निर्वचन 'इति ह विज्ञायते' कहकर उद्धृत किये हैं। सत्य तो यह है कि ब्राह्मणों में यत्र-तत्र बिखरी सामग्री का संकलन करके निरुक्त के अधिकांश की रचना हुई है। निरुक्त एक प्रकार से वैदिक व्याख्या का प्रथम ग्रन्थ है। हमने अन्यत्र सिद्ध किया है कि इस समय जो निरुक्त उपलब्ध है उसका सम्बन्ध ऋग्वेद से ही है। अतः ऋग्वेद के सहस्राधिक मंत्रों, मंत्रखंडों की व्याख्या आनुपूर्वी-क्रम से करने वाला यह ग्रन्थ हमारे लिए अत्यंत ही उपादेय है।

निरुक्त यद्यपि ऋग्वेद की व्याख्या का प्रथम प्रयास है तथापि इसे मंत्रार्थ के ज्ञान के लिए सर्वांशतः शुद्ध नहीं मान सकते। कारण यह है कि वेदों तथा निरुक्त के काल में हजारों वर्षों का अन्तर है और यास्क अनेक स्थानों पर अपनी कल्पना तथा तात्कालिक भाषा के अपने ज्ञान का भी उपयोग वेदार्थ में करने लगते हैं। उनके समय तक मन्त्रार्थ दुरूह हो चुका था इसका पता उनके द्वारा निर्दिष्ट कौत्स के विचारों से लगता है कि मन्त्रों का अर्थ नहीं होता (निरुक्त १।१५)। कौत्स की अनेक युक्तियों का खंडन यास्क ने किया है तथापि एक संप्रदाय की सत्ता तो मालूम होती है जो मन्त्रों को अदृष्टार्थ या केवल उच्चारण के लिए मानता था। जैमिनि के मीमांसासूत्रों में भी इसका विशद विवेचन है। इसके अतिरिक्त निघण्टु का संकलन भी मंत्रार्थ की तात्कालिक दुर्बोधता का परिचायक है। यदि मन्त्र सुबोध थे तब उनके लिए कोशग्रन्थ की आवश्यकता ही क्या थी? यास्क ने विभिन्न पक्षों का उल्लेख किया है कि अमुक शब्द की व्याख्या अनेक अर्थकारों के अनुसार

पृथक्-पृथक् है।[1] उन्होंने वेद-संहिताओं तथा वेदाङ्गों के संग्रह का प्रयोजन बतलाते हुए यह समझा ही दिया है कि मन्त्रों के समय से उस समय तक बहुत अधिक व्यवधान पड़ गया था[2]—मन्त्रों का साक्षात्कार करनेवाले 'ऋषि' श्रवणेन्द्रिय के उपयोग के बिना ही मंत्रार्थ जानते थे क्योंकि उन्होंने शब्दार्थ के दर्शन अपनी अध्यात्म-दृष्टि से किये थे। इसीलिए इनकी संज्ञा ऋषि थी (√दृश् > ऋषि)। इन ऋषियों ने अपने शिष्यों को मन्त्रों का अर्थ-साक्षात्कार कराया तो सही किन्तु उपदेश के द्वारा, श्रुति-परंपरा से। ये लोग 'श्रुतर्षि' हुए। ये लोग श्रवण के बाद दर्शन की योग्यता से सम्पन्न हुए थे। इन्हीं श्रुतर्षियों ने अपने ज्ञान की सुरक्षा के लिए तथा विश्व भर में कल्याण की कामना से विश्लेषण-विधि से (बिल्मग्रहणाय) वैदिक संहिताओं तथा वेदाङ्गों का संकलन किया (समाम्नासिषुः)।

इतना होने पर भी निरुक्त में यास्क ने अपने पूर्ववर्ती सभी ज्ञात साधनों का उपयोग किया है। वैकल्पिक व्याख्याएँ, ब्राह्मणों के उद्धरण तथा विभिन्न आचार्यों के मत इसके द्योतक हैं। निरुक्त के अतिरिक्त अन्य वेदाङ्ग भी वेदार्थ के अनुशीलन में सहायक होते हैं। इनमें कल्पसूत्रों की दृष्टि तो यज्ञपरक अर्थ देने में ही लगी हुई है और इनका उपयोग सायणाचार्य ने भी स्थान-स्थान पर किया है। ज्योतिष का भी याज्ञिक उपयोग ही है। छन्दःशास्त्र मन्त्रों में पाद, यति इत्यादि का निरूपण करके अर्थज्ञान में सहायक बनता है। किन्तु वेदाङ्गों में सबसे अधिक सहायता शिक्षा (प्रातिशाख्य), व्याकरण तथा निरुक्त से ही प्राप्त होती है और ये तीनों मिलाकर वेदार्थ के शुद्धतम स्वरूप पर हमें पहुँचा सकते हैं। किन्तु जैसा कि निरुक्त के साथ काल-व्यवधान का प्रश्न है, अन्य सहयोगियों की भी वही स्थिति है। शिक्षा ग्रन्थों के प्राचीनतम उपलब्ध प्रतिनिधि हैं प्रातिशाख्य। ये प्रत्येक वैदिक शाखा के लिए पृथक्-पृथक् हैं और यही कारण है कि इन्हें प्रातिशाख्य कहा जाता है। ये प्रातिशाख्य

---

१. द्रष्टव्य—निरुक्त २।१६—तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः।

२. निरुक्त १।२०—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।

वेदों की व्याख्या तो नहीं करते किन्तु ध्वनिशास्त्रीय विषयों का सम्यक् निरूपण करते हैं जैसे सन्धि, अवग्रह, दीर्घकरण इत्यादि। इनसे पद-पाठ में सुविधा होती है और अन्ततः पद-स्वरूप-निर्धारण हो जाने पर मंत्रार्थ करने में सहायता मिलती है। प्रातिशाख्यों से एक ओर जहाँ व्याकरण-शास्त्र के इतिहास के प्रारंभिक स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है वहीं दूसरी ओर सम्बद्ध वैदिक शाखा में मन्त्रों के पाठ का स्वरूप भी निश्चित किया जा सकता है। संप्रति शौनक-रचित ऋक्प्रातिशाख्य उपलब्ध है[1]—जिसके अठारह पटलों में विभिन्न संधियों, स्वरों, वर्णों तथा छन्दों का भी विवेचन सूत्रों में किया गया है। व्याकरण से वेदों के मंत्रों का अर्थ भी परोक्षतः जाना जा सकता है क्योंकि इसका मुख्य प्रयोजन शब्दों के रूपों की व्याख्या करना है। अभी तक पाणिनि की अष्टाध्यायी ही उपलब्ध व्याकरणग्रन्थों में प्रथम है किन्तु इसका बहुत छोटा भाग ही वैदिक-भाषा की व्याख्या कर सका है। उसमें भी आधा से अधिक भाग वैदिक स्वरों की विवेचना करता है। कुल २६१ सूत्र मूलतः वैदिक व्याकरण के हैं जो वैदिक भाषा की एक झलक भर दे पाते हैं। अतः शब्द-साधुत्व के लिए अधिकांशतः उणादिसूत्रों का अवलम्ब लेना पड़ता है जैसा कि सायण ने किया है। कुल मिलाकर देखने पर मालूम होता है कि निरुक्त और व्याकरण—ये दो वेदाङ्ग ही मन्त्रार्थ में क्रमिक महत्त्व रखते हैं।

पद-पाठ का भी मन्त्रों के अर्थ में बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि कहीं-कहीं दुरूह स्थलों में पद-विच्छेद होने से ही अर्थ का बोध होता है। ऋग्वेद के पद-पाठ के रचयिता शाकल्य हैं। जिन्होंने जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया था।[2] संभवतः ये उपनिषत्-काल के ऋषि थे। यास्क इनके पद-पाठ को कहीं-कहीं स्वीकार नहीं करते जैसे निरुक्त ५।२१ में 'अरुणो मासकृद् वृकः' (ऋ० १०।५।१८) की व्याख्या में यास्क 'मासकृत्' शब्द का अर्थ मासों का कर्ता मान कर इसे एकपद के रूप में लेते हैं, शाकल्य 'मा सकृत्'

---

१. ऋग्वेद प्रातिशाख्य (उव्वट भाष्य सहित), संपा०—डा० मंगलदेव शास्त्री। मूलभाग इलाहाबाद से १९३१ में तथा अंग्रेजी अनुवाद लाहौर से १९३७ में प्रकाशित।

२. द्रष्टव्य—बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ तथा ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग २।३४।३३—

देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः।
जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद् द्विजः॥

इस प्रकार दो पद के रूप में पद-पाठ करते हैं। पुनः निरुक्त (६।२८) में 'वने न वायो' (ऋ० १०।२९।१) की व्याख्या में यास्क ने 'वायः' (पक्षी) एक ही पद माना है, शाकल्य 'वा+यः' दो पद मानते हैं। यास्क ने उनके पद-पाठ का खण्डन भी किया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पद-पाठ का मंत्रार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, पद-पाठ पर ही वेद-रक्षा में सम्बद्ध आठों विकृति-पाठ भी निर्भर करते हैं। पद-पाठ के विषय में दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं—एक तो यह कि यास्क अपने निरुक्त को पद-विभाग के लिए अनिवार्य मानते हैं[1] और दूसरी यह कि विभिन्न पदकार पद-पाठ के विषय में अपने अलग-अलग विचार रखते हैं। आदित्य शब्द के निर्वचन में निरुक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी इसका निर्देश करते हुए लिखते हैं कि पदकारों का तात्पर्य विचित्र होता है। कभी तो उपसर्ग का अवग्रह करते हैं, कभी नहीं।[2] अतः पदकारों को भी निश्चित अर्थ के विषय में संदेह अवश्य ही रहा होगा। तथापि यह बात सही है कि पद-पाठ ही वेदार्थ-ज्ञान का प्रथम सोपान है। किन्तु इसके लिए व्याकरण-नियमों की पूर्वकालिक सत्ता स्वीकार करनी होगी अन्यथा पद-पाठ में सन्धिविच्छेद, अवग्रह, प्रगृह्य संज्ञा इत्यादि का निश्चय कैसे हुआ होगा?

ऋग्वेद के अनुशीलन के लिए अनुक्रमणी-ग्रन्थों की भी उपादेयता है क्योंकि इनमें ऋषियों, छन्दों, देवताओं तथा सूक्तों की सूची है। इनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है शौनक-रचित बृहद्देवता। इसके अन्तर्गत १२०० श्लोकों में देवतावाद की भूमिका, निरुक्त-विषयक विवेचन तथा ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के देवताओं का निर्देश है। बीच-बीच में देवताओं से सम्बद्ध आख्यानों की सरस चर्चा हुई है। बृहद्देवता यास्क (७०० ई० पू०) के बाद की रचना है क्योंकि इसमें यास्क का नाम १८ बार आया है। स्वयं शौनक का भी उल्लेख कई बार होने से मैकडोनल का विचार है कि इसके प्रणेता शौनक नहीं, उन्हींके संप्रदाय के कोई आचार्य थे जो उनसे कालतः अनतिदूर थे।[3]

---

१. निरुक्त १।१७—अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' में अवग्रह नहीं करना किन्तु 'अवसायाश्वान्' में 'अवऽसाय' के रूप में अवग्रह करना निरुक्त-ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

२. स्कन्दस्वामी, निरुक्त (२।१३) में—विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन 'अधिवासम्' इति नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु अधिवासमिति अवगृहीतम्।

३. प्रथम प्रकाशन—HOS vol. V & VI, 1904, Ed. A.A. Macdonell. इन दोनों खण्डों का हिन्दी-अनुवाद चौखम्बा से प्रकाशित हो चुका है।

कात्यायन-रचित सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद से संबद्ध सभी विषयों की सूची दी गयी है। प्रत्येक सूक्त के प्रथम पद, ऋचाओं की संख्या, सूक्त के ऋषि का नाम तथा गोत्र, सूक्तों के मंत्रों के देवता तथा छन्द—ये सभी विषय इसमें निर्दिष्ट हैं।[1] उक्त दोनों ग्रन्थ पाणिनि के पूर्व की रचनायें हैं अतः इनका काल ६०० ई० पू० के निकट होना चाहिए।

उपर्युक्त सहायक ग्रन्थों के आधार पर तथा गुरु-परंपरा से सुने गये अर्थों पर आश्रित होकर कई लोगों ने वेद-भाष्य लिखे जिससे आधुनिक युग के लोगों तक मंत्रार्थ पहुँच सका। वैसे तो वेद के पूरे मंत्र का अर्थ पहली बार यास्क ने ही किया था तथापि उन्होंने आरम्भ से किसी संहिता का भाष्य नहीं किया, केवल उदाहरण के लिए दिये गये छिटपुट मन्त्रों की व्याख्या की है जिनकी संख्या भी सैकड़ों में है। इसी प्रकार कुमारिल तथा शंकराचार्य (७ वीं शताब्दी ई०) ने भी अपने भाष्यग्रन्थों में प्रसंगवश आये हुए मंत्रों की व्याख्या की है। इसी शताब्दी में ऋग्वेद के प्रथम उपलब्ध भाष्य के प्रणेता स्कन्दस्वामी हुए थे। अनुमान किया जाता है कि उपयुक्त आचार्यों के सत्प्रयास से वेदार्थगवेषणा प्रारम्भ हुई थी तथा भाष्य-रचना की प्रेरणा भी मिली थी।

अब हम ऋग्वेद के प्रमुख भाष्यकारों का परिचय प्राप्त करें।

(१) स्कन्दस्वामी—इनका गौरवपूर्ण स्थान ऋग्वेद के प्रथम उपलब्ध भाष्यकार होने के कारण अक्षुण्ण है। इन्होंने अपने भाष्य की पुष्पिकाओं में अपना परिचय भी दिया है। तदनुसार ये गुजरात की राजधानी वलभी[2] के निवासी थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। पीछे के ग्रंथों में इनका अनेकशः उल्लेख होने के कारण इनका समय स्थिर करना कठिन नहीं है। विशेषतः शतपथ-ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी ने इन्हें अपना गुरु बतलाया है।[3] स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद की व्याख्या करके हरिस्वामी को पढ़ाया था। हरिस्वामी ने अपने भाष्य की रचना का समय भी दिया है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

---

१. प्रकाशन—Ed. A. A. Macdonell. Oxford, 1886.

२. साम्बशिव शास्त्री इस वलभी को केरल प्रान्त के अन्तर्गत मानते हैं। स्कन्द के सहायकों की निवासभूमि देखते हुए यही सही मालूम पड़ता है।

३. श्लोक ७—यः सम्राट् कृतवान्सप्त सोमसंस्थास्तथर्क् श्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽध्यापयन्मां स्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥

अर्थात् कलियुग के ३७४० वर्ष बीतने पर यह भाष्य लिखा गया। कलियुग का प्रारम्भ ३१०२ ई० पू० में माना गया है, तदनुसार यह शतपथ-भाष्य ३७४०–३१०२ अर्थात् ६३८ ई० में समाप्त हुआ। अब इसके पूर्व भाष्य-रचना की पूरी अवधि, हरिस्वामी का अध्ययन तथा स्कन्दस्वामी द्वारा ऋग्वेद-व्याख्या की रचना का समय थोड़ा-थोड़ा भी निकालें तो ६००–२५ ई० के बीच स्कन्दस्वामी के ऋग्भाष्य का समय निश्चित किया जा सकता है। हरिस्वामी द्वारा स्कन्द के लिए 'अस्ति' निर्देश दो बातें सूचित करता है— एक तो यह कि ६३८ ई० में स्कन्दस्वामी जीवित थे और दूसरी कि दोनों में पर्याप्त घनिष्ठता थी, सम्भवतः ये एक ही संपन्न परिवार के सदस्य थे। स्कन्द-स्वामी का समय इस प्रकार हर्षवर्धन तथा पुलिकेशी द्वितीय (सत्याश्रय) का समय (७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) है।

स्कन्दस्वामी ने निरुक्त पर भी टीका लिखी है।[1] देवराज यज्वा (निघण्टु के व्याख्याकार) के कथनानुसार स्कन्दस्वामी ने निरुक्तटीका में 'प्रयस्' तथा वेदभाष्य में 'श्रवस्' का अर्थ अन्न किया है, इससे दोनों (वेदभाष्यकार तथा निरुक्तटीकाकार) की अभिन्नता सिद्ध होती है। स्कन्दस्वामी का ऋग्भाष्य अति सरल तथा विशद है। सूक्तों में ऋषि-देवता का निरूपण करते हुए प्राचीन अनुक्रमणियों का उद्धरण भी दिया गया है। वैदिक ग्रंथों से अपने अर्थ के प्रमाण भी दिये गये हैं। सायण की तरह विस्तृत व्याकरण-प्रक्रिया तो नहीं है किन्तु उपयोगी व्याकरण परित्यक्त भी नहीं है। इनके भाष्य से सायण अत्यधिक प्रभावित हैं, इसमें संदेह नहीं।[2] स्कन्दभाष्य केवल आधे ऋग्वेद पर ही है चतुर्थ अष्टक तक। शेषभाग की पूर्ति नारायण तथा उद्गीथ ने की है जैसा कि वेंकटमाधव अपने ऋग्भाष्य में कहते हैं—

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥

नारायण ने संभवतः पंचम अष्टक से भाष्य-रचना की हो। अनुमानतः ये भी ७ वीं शती के हैं।

---

१. प्रकाशन—पंजाब विश्व० लाहौर, १९२८-३४। संपादक—डा० लक्ष्मण स्वरूप। इसका पूर्ण भाग उपलब्ध नहीं हुआ है। अतः खण्डांश का ही प्रकाशन हुआ है।

२. स्कन्दभाष्य के दो संस्करण हैं—के साम्बशिवशास्त्री का त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला से ३ खंड (१९२९-४२) तथा कुन्ज़न् राज का मद्रास से १ खण्ड १९३५ ई०। प्रकृत संस्करण में यथास्थान दोनों सहायक रहे हैं यद्यपि इनमें पाठान्तर भी है।

स्कन्द के दूसरे सहायक उद्गीथ का भाष्य[1] उपलब्ध है। इन्होंने ऋग्वेद के अन्तिम भाग पर भाष्य लिखा है। ये अपने को 'वनवासी विनिर्गताचार्य' कहते हैं जिससे प्रतीत होता है कि ये मूलतः कर्णाटक के पश्चिमी प्रान्त के रहने वाले थे जिसे उस समय वनवासी कहते थे। वनवासी की नगरी का वर्णन ६३४ ई० में उत्कीर्ण ऐहोल शिलालेख में हुआ है[2] जिससे प्रतीत होता है कि ये ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध या इसके निकट ही होगा जब वनवासी की सम्पदा भुलाये नहीं भूलती होगी। सायण ने इसका नाम लिया है।[3]

(२) वेंकटमाधव—इन्होंने समस्त ऋग्वेदसंहिता पर अपना संक्षिप्त भाष्य लिखा है जिससे अनेक दुरूह स्थलों को समझने में सहायता मिलती है। भाष्य का नाम ऋगर्थदीपिका है।[4] इसके प्रथमाध्याय के अन्त में भाष्यकार ने अपना परिचय दिया है कि पितामह का नाम माधव, पिता का वेंकटार्य, मातामह का भवगोल तथा माता का सुन्दरी था। ये चोल-देश (आन्ध्र प्रदेश) के निवासी थे। इनके काल के विषय में यही कहा जा सकता है कि सायण (ऋ० १०।८६।१), देवराज यज्वा (निघण्टु भाष्य-भूमिका, समय–१३०० ई०) तथा केशवस्वामी (नानार्थार्णवसंक्षेप, समय १२५० ई०) के द्वारा उल्लिखित होने से ये १२०० ई० के बाद के नहीं हो सकते हैं। उस समय तक ये प्रमाणकोटि में आ गये थे अतः इनका समय साम्बशिव शास्त्री[5] के अनुसार १०५०–११५० ई० के बीच का है। डा० सरूप १० वीं शताब्दी का समय इन्हें देते हैं।

इनका भाष्य 'वर्जयन् शब्दविस्तारं शब्दैः कतिपयैरिति' की प्रतिज्ञा के अनुसार अत्यन्त संक्षिप्त है। यहाँ तक कि मूलशब्दों का भी सन्निवेश नहीं किया गया है। अन्वय द्वारा केवल प्रतिशब्दों के प्रयोग से ही अर्थ किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेंकटमाधव की विशेष व्युत्पत्ति थी क्योंकि

---

१. प्रकाशन—द० ऐं० वै० कालेज, लाहौर, १९३५ ई०।

२. ऐहोल शिलालेख—वरदातुङ्गतरङ्गरङ्गविलसद्धंसावलीमेखलां
वनवासीमवमृद्नतः सुरपुरप्रस्पर्धिनीं सम्पदा।

३. डा० कुञ्जन् राज ने स्कन्द, नारायण, उद्गीथ, महेश्वर, माधव तथा हरिस्वामी को वलभी-सम्प्रदाय का वेदभाष्यकार मानकर इस विषय में एक उपयोगी निबंध अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन के छठे अधिवेशन में (पटना, १९३०) प्रस्तुत किया था—*The Valabhī School of Vedabhāṣya-kāras*.

४. Ed. L. Sarup. in 6 vols. Lahore.

५. ऋग्वेद, स्कन्द–वे० मा० भाष्य, भूमिका, पृ० ७।

ब्राह्मणों से अनेक उद्धरण इन्होंने दिये हैं; साथ ही पृथक् श्लोक में इस मान्यता का उल्लेख किया है कि केवल व्याकरण और निरुक्त जानने वाला संहिता का चतुर्थांश ही जानता है, ब्राह्मण-ग्रन्थों के अर्थ में कृतश्रम विद्वान् ही वेद के समस्त अर्थ का प्रतिपादन कर सकते हैं।[1] इस प्रकार वेदार्थ के प्राचीनतम साधन का उपयोग करने के कारण इस भाष्य का बहुत अधिक महत्त्व है।

(३) आनन्दतीर्थ—सुप्रसिद्ध द्वैतवादी माध्व वैष्णव-संप्रदाय के प्रवर्तक आनन्दतीर्थ ने ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों पर अपना 'माध्वभाष्य' लिखा था जिसमें सभी मंत्रों का प्रतिपाद्य भगवान् नारायण को ही माना है। यह व्याख्या गीता के वाक्य 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' से अनुप्राणित है। भाष्यकार का काल तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में इनके दार्शनिक मतों का विवेचन 'पूर्णप्रज्ञ-दर्शन' के अध्याय में किया है। इस माध्वभाष्य के ऊपर भी इनके शिष्य तथा सुख्यात माध्व आचार्य जयतीर्थ ने टीका लिखी थी जो भाष्य-रचना के तीस वर्षों के भीतर ही लिखी गयी थी। आनन्दतीर्थ के भाष्य में ऋचाओं के तीन प्रकार के अर्थों की चर्चा है—आधिभौतिक जैसे अग्नि आदि के रूप में, आधिदैविक जैसे उनके अन्तर्गत ईश्वर के रूप में तथा आध्यात्मिक। जयतीर्थ ने ये तीनों अर्थ माध्वभाष्य में स्वीकार किये हैं।

(४) सायणाचार्य—वेदाध्ययन के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व सायण के भाष्यों का है जिनका नाम वेदार्थप्रकाश है। इन्होंने चारों वैदिक संहिताओं (शुक्ल यजुर्वेद की काण्वसंहिता तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर भी) तथा १३ ब्राह्मणों-आरण्यकों पर अपने भाष्य की रचना की। इनके समय के विषय में भटकना नहीं पड़ता। सायण ने स्वयं अपने ग्रन्थों में बहुत सामग्री दी है तथा विजयनगर के अनेक शिलालेखों आज्ञापत्रों से भी सहायता मिलती है। सायणाचार्य विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना के समय (१३३६ ई०) विद्यमान थे। उस साम्राज्य की स्थापना महाराज हरिहर ने अपने गुरु तथा सायण के बड़े भाई माधवाचार्य के आदेश से वैदिक धर्म

---

१. संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद् येषां परिश्रमः॥
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥

[वैदिक सा० और सं०, पृ० ७३।]

की रक्षा के लिए की थी। साम्राज्य-स्थापना में हरिहर के भाई बुक्क का भी हाथ था किन्तु उन्होंने बड़े भाई हरिहर की मृत्यु के बाद १३५४ ई० से १३७९ ई० तक राज्य किया था। सायणाचार्य ने इनके राज्यकाल के अन्तिम १६ वर्षों में इनके प्राधानामात्य का पद-सँभाला था। तदनन्तर बुक्क के पुत्र हरिहर (द्वितीय) ने १३७९ ई० १३९९ ई० तक राज्य किया, इनके राज्यकाल में भी प्रथम आठ वर्षों तक सायण प्रधान मन्त्री थे। उसी पद पर १३८७ ई० में इनकी मृत्यु हुई थी।[१] सायण के बड़े भाई माधवाचार्य का जीवन-काल १२९५ ई० १३८५ ई० (९० वर्ष) तक माना गया है।[२] सायण और उनके बड़े भाई माधव के मृत्यु-वर्ष में केवल दो वर्षों का अन्तर है। माधव संन्यासावस्था में स्वर्गवासी हुए जब कि सायण अपने मंत्रिपद पर ही। यदि दोनों भाइयों की आयु में २० वर्ष का अन्तर स्वीकार करें तो १३१५ ई० के आसपास, संभवतः इससे कुछ पूर्व ही, सायण का जन्म हुआ था। ७०-८० वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ था।

सायण के विद्यागुरु थे विद्यातीर्थ जिनका उल्लेख इन्होंने अपने भाष्यों के आरंभ में किया है।[3] विद्यातीर्थ का प्रभाव महाराज बुक्क पर भी था तथा हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में माधवाचार्य के अतिरिक्त उनसे भी बुक्क को प्रेरणा मिलती थी। सायण ने तो यहाँ तक कहा है कि बुक्क का सम्राट्-पद उन्हीं गुरु जी की कृपा का फल है (यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः)। बुक्क-द्वारा हिन्दू-धर्म की रक्षा किये जाने की योजना के अन्तर्गत ही वेदभाष्यों को प्रस्तुत कराना भी था। बुक्क ने सर्वप्रथम अपने गुरु माधवाचार्य को ही इसका भार दिया किन्तु उन्होंने अपने अनुज सायण की ओर संकेत किया। तदनुसार सायणाचार्य विशाल वेद-वाङ्मय के उद्धार के महत्तम कार्य में लगे। सायण ने अपने बड़े भाई के व्यक्तित्व को भी अभिभूत होने नहीं दिया तथा अपने भाष्य को सायणमाधवीय या केवल माधवीय कहा है।

कुछ लोगों ने स्पष्ट संकेत देखकर वेदभाष्यों का रचयिता माधवाचार्य को

---

१. द्रष्टव्य—पं० बलदेव उपाध्याय, आचार्य सायण और माधव पृ० १३३।

२. द्रष्टव्य—सर्वदर्शनसंग्रह का मेरा संस्करण, भूमिका, पृ० ४२।

३. यस्य निःश्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

माना है। केवल भाष्य का नाम ही माधवीय है, ऐसी बात नहीं। ऋग्भाष्य-भूमिका में कहा गया है—

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः॥ ४॥

किन्तु इसका उत्तर सायण की भ्रातृभक्ति से दिया जा सकता है। सायण-रचित भाष्य के लोग पुष्ट प्रमाण देते हैं। वस्तुस्थिति कुछ दूसरी ही है। सायण तथा माधव जैसे व्यस्त मंत्रियों के लिए, वह भी जब विजयनगर के चारों ओर शत्रु ही शत्रु थे, वेद-भाष्य के समान श्रमसाध्य कार्य में लगना और पूरा करना कुछ विचित्र-सा लगता है।[1] यह अनुमान किया जाता है कि सायण ने अपनी अध्यक्षता में विद्वानों से यह कार्य संपन्न कराया होगा। इस विषय में दो विद्वानों के निष्कर्ष समान हैं। प्रथम विद्वान्[2] नरसिंहाचार्य ने १३८६ ई० (१४४३ वि० सं०) के एक शिलालेख का उल्लेख किया है जिसमें वैदिकमार्ग-प्रतिष्ठापक, धर्मब्रह्माध्वन्य, महाराजाधिराज श्रीहरिहर के द्वारा विद्यारण्य श्रीपादस्वामी के समक्ष चतुर्वेद-भाष्य-प्रवर्तक नारायण वाजपेय-याजी, नरहरि सोमयाजी तथा पण्ढरि दीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर सम्मानित किये जाने की चर्चा है। जिनकी प्रेरणा से या जिनकी अध्यक्षता में वेदभाष्यों की रचना हुई उनका दानकाल में उपस्थित रहना आवश्यक था। संभवतः इन्हीं तीन पण्डितों ने वेदों पर भाष्य लिखा था तथा सायण ने उनका संपादन किया। द्वितीय विद्वान्[3] डा० गुणे ने केवल ऋग्वेदभाष्य की अन्तरंग परीक्षा करके दिखलाया है विभिन्न अष्टकों में प्राप्त मंत्रांशों की व्याख्या विविध प्रकार से की गयी है। यह शैली-भेद भाष्य के एककर्तृत्व का खण्डन करता है। प्रथम तथा दशम मण्डलों में भाष्य का विस्तार है जब कि अन्य मण्डलों में वह संक्षिप्त है। प्रथम अध्याय के भाष्य में ही हम देख सकते हैं कि प्रथम ९ सूक्तों तक व्याकरण-प्रक्रिया दुहरायी नहीं जाती। जिस पद का स्वर तथा संस्कार (formation) एक बार निरूपित हो गया, उसे पुनः नहीं कहा जाता है भले ही वह पद दूसरी बार दूसरे मन्त्र में प्रयुक्त हुआ हो। १० वें सूक्त के बाद से एक दूसरा ही हाथ

---

१. प्रा० ए० बी० कीथ के कर्तृत्व पर भी लोगों को आश्चर्य होता है कि विभिन्न विषयों से सम्बद्ध इतने अधिक ग्रन्थ वे कैसे लिख सके, जब कि सभी अपने आप में एक मानदण्ड ही हैं। (कूड़ा-करकट लिखने की बात और है।) कीथ की निश्चिन्तता इसका कारण है।

२. India Antiquary, 1916. P. 19.

३. Ashutosh Comm Vol. V, P. 437-73.

भाष्यकर्ता के रूप में आता है जिसे यह पता नहीं कि कोई शब्द पूर्व में आ चुका है तथा उसकी व्याख्या भी की गयी है। प्रत्येक दस सूक्तों पर व्याख्या का आवेग उत्पन्न होता है और धीरे-धीरे इसमें वेगक्षीणता आती है। कई स्थानों पर परम्परा के अनुसार सभी साधनों का उपयोग हुआ है किन्तु कहीं-कहीं सुप्रसिद्ध साधनों का भी तिरस्कार दिखलाई पड़ता है। जो कुछ भी हो, व्याख्या का संपादन इतना सुन्दर हुआ है कि कहीं भी आपाततः विशृङ्खलता नहीं मिलती। लगता है सायण ने यदि पण्डितों की सहायता ली भी तो इतने ढङ्ग से उन्हें व्याख्याकार के रूप में प्रशिक्षित किया था कि भाष्य में एकरूपता बनी रहे। यह तो कहा ही जा सकता है कि सभी वेद-भाष्यों के ऊपर एक ही रचयिता की कल्पना की सुदृढ़ छाप है। तथापि 'इन पण्डितों ने सायण को वेदभाष्य लिखने में सहायता अवश्य की थी। सायण के साथ सहयोग देने के लिए विद्वानों की एक मण्डली उपस्थित थी जो उनकी संरक्षकता में वेद के भिन्न-भिन्न भागों पर भाष्य लिखती थी, यह सिद्धान्त मानना युक्तिपूर्ण है'।[1]

अब हम सायणाचार्य के 'वेदार्थप्रकाश' नामक इस वेदभाष्य की समीक्षा करते हुए उनके पाण्डित्य का विवेचन करें। सायण ने अपने वेदभाष्य में वेदमन्त्रों का अन्वय करते हुए प्रत्येक शब्द का सम्यक् विवेचन किया है जिसमें अष्टाध्यायी तथा कहीं-कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से उसकी व्युत्पत्ति, सिद्धि और स्वराघात (accent) का निरूपण किया गया है। स्वर तथा व्याकरण के विवेचन में वे यहां तक सिद्धहस्त हैं कि शास्त्रार्थ के विचार से पूर्व और उत्तर पक्षों की कोटियां भी प्रस्तुत करने लगते हैं। उदाहरणार्थ 'ऋतस्पृशा' (ऋ० १।२।८), 'पुरुदंससा' (ऋ० १।३।२), 'सुष्टुतिम्' (ऋ० १।७।७), 'सुविवृतम्' (ऋ० १।१०।७), 'अक्षितोतिः' (ऋ० १।६।९) इत्यादि शब्दों में व्याकरण तथा स्वर की विशिष्टता का वैदुष्यपूर्ण विवेचन द्रष्टव्य है। इन स्थानों में शास्त्रीय भाषा-शैली का ऐसा परिनिष्ठित प्रयोग है कि सायण का शास्त्रार्थी रूप व्याख्याता से कम महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। शंका-समाधान में विभिन्न शास्त्रग्रन्थों में विकीर्ण सामग्री का परस्पर अनुक्रम बैठाना सायण-सदृश महामनीषी का ही काम है। ये विवेचन विशिष्ट शैली में होने पर भी इस युक्ति से प्रस्तुत किये गये हैं कि उस शैली को समझने की न्यूनतम योग्यता रखने वाला व्यक्ति भी, चाहे उन सम्बद्ध ग्रन्थों की मूल पंक्तियों को नहीं समझ सके, सायण की पंक्तियों से उन विषयों को अवश्य ही समझा जा सकता है।

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० १०५।

किन्तु सायण व्याकरण-विषयक विवेचन केवल प्रथम अष्टक की व्याख्या तक ही सीमित रखते हैं, दशम मण्डल में अवश्य ही पुनः उसके दर्शन होते हैं। वेद के अर्थ का जहां तक प्रश्न है यह स्पष्ट है कि सायण मन्त्रों का यज्ञपरक व्याख्यान करते हैं। ऐसी बात नहीं कि सायण दूसरे प्रकार के अर्थों से परिचित नहीं होंगे किन्तु जहां एक ओर उनकी पृष्ठभूमि में 'वैदिकमार्ग-प्रवर्तक' वीर बुक्कभूपाल थे दूसरी ओर अग्रभूमि में सोमयाजी जैसे कर्मकाण्डी व्याख्या में लगे हुए थे। स्वयं सायण ऋग्भाष्यभूमिका के आरम्भ में तैत्तिरीय-संहिता (कृष्ण यजुर्वेद) का भाष्य सर्वप्रथम सम्पन्न करने का कारण बतलाते हुए अर्थज्ञान का प्रयोजन यज्ञ का अनुष्ठान ही निश्चित करते हैं।[1] उनका निश्चित विश्वास था कि वेदों का परम्परागत अर्थ यज्ञपरक ही है। वेद के व्याख्यान में उनके सहायक ग्रन्थ हैं—१. निगम अर्थात् ब्राह्मणादि में आये हुए मन्त्रों की व्याख्या करने वाले वाक्य, २. निरुक्त तथा ३. व्याकरण[2] इन सबों की परम्परा का ध्यान रखकर भी गुरु सम्प्रदाय का महत्त्व सायण स्वीकार करते हैं।[3] गुरु-परम्परा के अनुभवी व्यक्ति जानते हैं कि अनेक विषय ग्रन्थों से नहीं पाये जाते, गुरुमुख से सुनकर सीखे जाते हैं तथा इसी क्रम से चले आ रहे हैं। इस प्रकार गुरु तथा शास्त्र की परम्परा (संप्रदाय) चलती है; इसी में ज्ञान की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती है। इस परंपरा से विच्छिन्न व्यक्ति के लिए तो प्राचीन वाङ्मय दुर्बोध ही रहेगा।

यज्ञानुष्ठान के अतिरिक्त सायण का एक दूसरा पूर्वाग्रह है अद्वैत वेदान्त। जहां पहेली के रूप में मन्त्र होते हैं वहां यज्ञपरक व्याख्या से काम नहीं चलता तो वेदान्त ही उसमें सहायक होता है। दशम मण्डल के दार्शनिक सूक्तों में, जो निश्चित रूप से परवर्ती शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों के समान सुघटित तथा विकसित नहीं हैं, सायण ज्ञान की श्रृङ्खलाबद्ध रूपरेखा खींचते

---

१. ऋग्भाष्यभूमिका, पृ० २—अस्तु एवं सर्ववेदाध्ययन-तत्पारायण-ब्रह्मयज्ञ-जपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्।

२. वही, पृ० १२—विद्यमान एवार्थः प्रमादालस्यादिभिर्न ज्ञायते। तेषां निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः।

३. वही, पृ० ७—'अधः स्विदासीत्' इति मन्त्रश्च न सन्देह प्रबोधनाय प्रवृत्तः। किं तर्हि? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसम्प्रदायरहितैः दुर्बोधत्वम् 'अधःस्विदासीत्' इत्यनया वचोभङ्ग्या उपन्यस्यति।

हैं। उदाहरण के लिए पुरुष-सूक्त (ऋ० १०।९०) द्रष्टव्य है जिसमें सायण अपना समस्त पाण्डित्यप्रकर्ष प्रकट कर देते हैं।

उपर्युक्त दोनों तथ्यों को सायण का पूर्वाग्रह कहें या व्याख्या-विषयक दृष्टिकोण कहें, हमें इसी मानदण्ड पर उनकी समीक्षा करनी होगी। परम्परा ने या उन्हीं के शब्दों में संप्रदाय ने उन्हें यही दृष्टिकोण दिया था। जहां तक याज्ञिक व्याख्या का सम्बन्ध है हम देखते हैं कि प्रत्येक सूक्त का आरम्भ वे कल्पसूत्रों से ही करते हैं। अनुक्रमणियों के आधार पर ऋषि, छन्द तथा देवता का निर्देश करने के पश्चात वे सूक्तस्थ मन्त्रों का विधिपूर्वक विनियोग बतलाते हैं कि किस याग के किस भाग में अमुक मन्त्र प्रयुक्त होता है। इन सभी के निर्देश में ये सम्बद्ध ग्रन्थों से प्रमाण देना नहीं भूलते। याज्ञिक व्याख्या से सायण का प्रेम ऋग्वेद के द्वितीय सूक्त (१।२) भाष्य के आरम्भ में अपने चरमोत्कर्ष पर है जहां वे मीमांसा-सूत्रों (२।१।१३-२९) के आधार पर यह निर्णय करते हैं कि शस्त्र (ऋग्वेद के मन्त्र) देवता के स्मरण के रूप में संस्कार-कर्म हैं अथवा वे अदृष्ट का फल देनेवाले प्रधान कर्म ? यह विशुद्ध मीमांसा-दर्शन का सूक्ष्म प्रश्न भूमिका में हो तो सार्थक है, सूक्तों के बीच में इसका विवेचन असंगत लग सकता है किन्तु अपनी व्याख्या तथा सूक्तों के अवतरणों की सार्थकता दिखलाने के लिए इसका विवेचन सायण को यहीं पर अच्छा लगा।

सायण अपनी व्याख्या के समर्थन में पुराण, इतिहास, स्मृति, कोष, निरुक्त, ब्राह्मण, महाभारत इत्यादि अनेक ग्रन्थों से प्रमाण देते हैं। इससे इनका अगाध पाण्डित्य प्रकट होता है। यास्क के निरुक्त का तो इन्होंने पूरा उपयोग किया है। यदि परिश्रम किया जाय तो प्रायः पूरे निरुक्त की व्याख्या सायण के वेदभाष्यों में ढूँढ़ी जा सकती है। जिन मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने की है उनकी व्याख्या में सायण यास्क का पूरा उद्धरण देकर उसका स्पष्टीकरण करते हैं। यास्क के निर्वचनों का भी उपयोग सायण ने पूरा किया है। ऋ० १।२।४ की व्याख्या में इन्द्र-शब्द के यास्कोक्त १५ निर्वचनों का उद्धरण देकर (निरुक्त १०।८) सायण उसका पूर्ण विश्लेषण करते हैं। इसी प्रकार किसी मन्त्र की व्याख्या में आवश्यकतानुसार आख्यायिका भी देकर अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए पणियों के द्वारा गायों का छिपाया जाना (१।६।५), इन्द्र के साथी देवताओं का वृत्र के श्वास से भाग जाना (१।६।७), कक्षीवान् ऋषि की वंशावली (१।१८।१) इत्यादि द्रष्टव्य हैं।

सामान्य रूप से सायण वैदिक शब्दों का प्रतिशब्द ही देकर काम चलाते

हैं, और पूरा अर्थ हो जाने पर स्वर-संस्कार की विवेचना करने लगते हैं, किन्तु कहीं-कहीं अर्थ की अस्पष्टता रह जाने पर 'इत्यर्थः' के साथ भावार्थ का भी बोध कराते हैं। शब्दों के सभी ज्ञात वैकल्पिक अर्थों का निर्देश भी होता है जिससे सायण की निरपेक्षता सिद्ध होती है। इस प्रकार मन्त्र-विषयक कोई भी ज्ञातव्य तथ्य सायण की दृष्टि से बचा नहीं है।

सायण के वेदभाष्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं उनकी भूमिकाएं जिनमें वे न केवल अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हैं प्रत्युत मीमांसा-दर्शन से संबद्ध कई तथ्य भी उपस्थित करते हैं। संहिता के आकार के अनुरूप ऋग्भाष्यभूमिका सबसे बड़ी है जिसमें (१) यजुर्वेद की व्याख्या का प्राथम्य, (२) वेद का लक्षण-प्रमाण, (३) मन्त्र-भाग की सार्थकता (वाच्यार्थत्व), (४) विधि-भाग का प्रामाण्य, (५) अर्थवाद का प्रामाण्य, (६) वेदों का अपौरुषेयत्व, (७) मन्त्र और ब्राह्मण के लक्षण, (८) स्वाध्याय का उद्देश्य, (९) स्वाध्याय का स्वरूप तथा (१०) वेदार्थज्ञान के लिए छह वेदाङ्गों की उपयोगिता—इतने विषय पाण्डित्यपूर्वक विवेचित हुए हैं।

अपने पूर्ववर्ती वाङ्मय का सायण ने अपने भाष्यों में इतना सम्यक् उपयोग किया है कि उनके भाष्य को शास्त्र-कोटि मिल जाना कोई आश्चर्य नहीं। संस्कृत-भाषा में निबद्ध कोई भी भाष्य, चाहे वह महाभाष्य हो या शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्र भाष्य (क्योंकि इनकी दृष्टि सर्वांगीणता पर नहीं थी), सायण-भाष्य की विषय-व्यापकता नहीं छू सकता। यदि सायण-भाष्य का पूर्णरूप से अध्ययन किया जाय तो भारतीय परम्परा की परिधि का पता हमें हो जाय तथा हम भारतवर्ष में किये गये वेदानुशीलन का सम्यक् रूप देख सकें।

पाश्चात्य विद्वानों में सायण-भाष्य के प्रामाण्य (वेदार्थ के यथार्थ रूप प्रस्तुत करने में क्षमता) को लेकर दो मत हैं। कुछ लोग (विल्सन, मैक्स-मूलर) इन्हें वेदार्थ-ज्ञान में एकमात्र सहायक तथा किसी भी यूरोपीय विद्वान् के ज्ञान-प्रदर्शन की अपेक्षा अधिक आप्त मानते हैं जब कि दूसरे लोग (रॉथ इत्यादि) साइण-बहिष्कार (Los von Sāyaṇa) की बात उठाते हैं। पिछली शताब्दी में यह मत बहुत प्रबल था। वर्तमान शताब्दी में गेल्डनर, रेनु इत्यादि विद्वानों ने भाषाशास्त्र का आश्रय लेने पर भी सायण-भाष्य की आप्तता में आस्था रखी है। सत्य तो यह है कि वेद-प्रासाद में पहुँचकर भले ही हम क्रान्तिकारी बातें सोचने लगें किन्तु वहां पहुँचने के लिए सायणभाष्य-रूपी सिंहद्वार की आवश्यकता तो पड़ेगी ही। इस भूतल पर कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसे परम्परा को अनुच्छिन्न किये बिना वेदमन्त्रों का अर्थ स्वतः स्फुरित हो और जो ऋषिकोटि में पहुँच जाये। वेद का प्रचलित अर्थ जानकर

के ही कोई अपनी 'तपःपूत' या 'भाषाशास्त्र के ज्ञान से पूत' दृष्टि लगाकर दूसरे अर्थों का विन्यास कर सकता है।

कोई भी मानव पूर्णता की मूर्ति नहीं। गुण-दोष सर्वत्र रहते हैं। किसी व्यक्ति में श्रद्धा रखने वाले को उसके दोष भी गुण ही प्रतीत होते हैं जब कि उसके प्रति द्वेष-भाव रखने वालों को उसके गुण भी दोष मालूम होते हैं। यही बात सायण-भाष्य के साथ भी है। रॉथ उनमें कोई विशेषता नहीं पाते जब कि भारतीयों को उनपर भय-मिश्रित आश्चर्य होता है। आधुनिक आलोचनात्मक विधि का प्रयोग करने पर हमें सायण में कुछ दोष दिखलाई पड़ते हैं[1] जिन्हें इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

(१) रॉथ का कहना है कि सायण के समय तथा ऋग्वेद के समय में इतना व्यवधान है कि सायण को सर्वथा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जिसे हम परम्परा-प्राप्त अर्थ कहते हैं वह वास्तव में व्याकरण तथा निर्वचन के बल पर किया हुआ बहिरङ्ग-विधि से प्राप्त अर्थ है। अपने आप में शब्द का अर्थ करने की अपेक्षा दूसरे स्थानों में तद्विषयक उपलब्ध सामग्री की सहायता से एकरूपता की प्राप्ति कहीं श्रेयस्कर है।[2] रॉथ की मुख्य आपत्ति यही है कि सायण विभिन्न स्थानों में एक ही शब्द के अनेक अर्थ करते हैं, विभिन्न स्थानों के तथा कथित विभिन्न अर्थों के सामंजस्य से एक सामान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है। सायण वैदिक शब्दों को संस्कृत के समान अनेकार्थक मानकर विभिन्न अर्थ करते हैं। दूसरी ओर रॉथ वैदिक शब्दों की एकार्थकता पर दृढ़ हैं। अपने कोशग्रंथ में इसी ढङ्ग से उन्होंने वैदिक शब्दों की समीक्षा की है। यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय तो रॉथ की यह आपत्ति सर्वथा निरर्थक नहीं है क्योंकि सायण कहीं-कहीं अनेकार्थकता-सिद्धान्तका अतिरेक कर देते हैं। पंचम सूक्त के आठवें तथा नवें दोनों

---

1. Ghate's *Lectures on the Rigveda*, p. 94—"That this commentary of Sāyaṇa viewed from our standpoint is full of defects cannot be denied."

2. "Even a superficial examination shows that their plan of inter-pretation is the very opposite of traditional, that it is in reality, a grammatical and etymological one, which only agrees with the former method in the erroneous system of explaining every verse, every line, every word by itself, without inquiring if the results so obtained harmonize with those derived from other quarters." घाटे की उक्त पुस्तक में पृ० ८८ पर उद्धृत।

मन्त्रों में 'वाजेषु वाजिनम्' आया है। अन्तर इतना है कि ८ वें मन्त्र में वह यजयान का बोध कराता है, नवें में इन्द्र का विशेषण है। अतः सायण 'संग्रामेषु संग्रामभवन्तं स्वभक्तम्' तथा 'युद्धेषु बलवन्तं त्वाम्' ये अर्थ करते हैं। वाज का अर्थ तुरत 'संग्राम' से बदल कर 'बल' हो जाता है। ९ वें मन्त्र में ही 'वाजयाम' का अर्थ किया है—अन्नयुक्तं कुर्मः। अब वाज का अर्थ 'अन्न' भी हो गया। यदि सायण थोड़ा ही प्रयास करते तो एक सामान्य (Common) अर्थ निकाल सकते थे। यहां निघण्टु का आलम्बन उनकी रक्षा करता है जो उनकी व्याख्या को पूर्णतः वस्तुनिष्ठ (objective) बना देता है।

(२) वेद-विषयक आस्था के कारण सायण शक्ति रहने पर भी उच्चतर आलोचनात्मक पद्धति का आश्रय नहीं ले सकते, ऐसा प्रतीत होता है। वेद में लौकिक, याज्ञिक और दार्शनिक ये तीनों अर्थ हैं, यह ज्ञान सायण को था। स्थान-स्थान पर वे लौकिक अर्थ की ओर बढ़े भी, किन्तु उनकी धार्मिक आस्था ने उन्हें यज्ञपरक अर्थ की ओर खींच लिया। इससे स्पष्ट है कि सायण-भाष्य में केवल एक ही अर्थ का प्रतिनिधित्व हो सका। न तो लौकिक (secular) अर्थ ही आ सका और न आध्यात्मिक अर्थ ही समुचित स्थान पा सका। यह बात असत्य है कि ऋग्वेद में सर्वत्र लौकिक या आध्यात्मिक या याज्ञिक अर्थ ही है। जहाँ जैसा अर्थ है उसे उसी रूप में रखना चाहिए।

(३) सायण के समय तक वेदार्थ की कोई सप्राण परम्परा नहीं थी। परम्परा के नाम पर जो कुछ भी था ग्रन्थों के रूप में छिटपुट सामग्री थी जिसे वे शास्त्र-सम्प्रदाय कहते हैं। दूसरी ओर गुरु-सम्प्रदाय से वेदार्थ का ज्ञान नहीं होता था, वेदों का शुद्ध उच्चारण सिखलाया जाता था जिसके फलस्वरूप आज तक वेदोच्चारण का प्राचीनतम रूप सुरक्षित है। वेदाङ्गों का अध्ययन शास्त्र के समान लोग अवश्य करते थे। उसी प्रकार दर्शनग्रंथों, पुराणों, धर्मशास्त्रों का भी अध्ययन होता था। ऐसी स्थिति में तात्कालिक शिक्षा का प्रभाव वेदभाष्यों पर पड़ना आवश्यक था। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों ने सायण को परम्परा से विच्छिन्न माना है।

(४) वेदमन्त्रों के कठिन या अप्रतीतार्थ पदों की व्याख्या में सायण एक ही साथ कई अर्थ देते हैं तथा किसी एक के प्रति अपनी प्राथमिकता नहीं दिखलाते। क्रतु-शब्द के सभी प्रयोगों में वे कर्म और प्रज्ञा दोनों अर्थ देना नहीं भूलते। 'ऋत' का अर्थ देने में वे यास्क के आधार पर जल, सत्य तथा यज्ञ ये तीनों अर्थ कहते हैं (ऋ० १।२।८)। 'धिष्ण्या' का अर्थ है 'बुद्धिमन्तौ' या 'धार्ष्ट्ययुक्तौ' (ऋ० १।३।२)। 'पुरुभुजा' का अर्थ दिया है 'विस्तीर्ण भुजौ' अथवा 'बहुभोजिनौ' (१।३।१)। कहीं-कहीं ऐसे विकल्पों में

रोचक कल्पना भी दिखलाई पड़ती है जैसे—'एहिमायासः' (१।३।९) की व्याख्या आ + √ईह् + इन् = एहिः = व्याप्ता माया प्रज्ञा येषां ते, 'सर्वतो व्याप्तप्रज्ञाः' करने के बाद एक अनुकरणप्रधान अर्थ दिया गया है। सौचीक अग्नि के जल में प्रविष्ट हो जाने पर विश्वेदेवों ने कहा था—'एहि, मा यासीः' (चले आइये, मत आइये)। बस इसी वाक्य का उच्चारण करने के कारण विश्वेदेवों को 'एहिमायासः' कह दिया गया।[1]

(५) विभक्तियों के व्यत्यय का नियम वेद में है किन्तु सर्वत्र नहीं। सायण अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए विभक्तियों के व्यत्यय-नियम का दुरुपयोग तक करते हैं। प्रथम पुरुष को उत्तम पुरुष या चतुर्थी को षष्ठी के रूप में परिणत कर देना उनके लिए कठिन नहीं है। धातुओं की अनेकार्थता का भी सायण दुरुपयोग करते हैं। ऋ० १।१०।२ में 'भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्' की व्याख्या करते हुए √स्पश् का अर्थ 'स्पर्श करना' लेते हैं जब कि इसका प्राचीन अर्थ 'देखना' है। यह पस्पश, पश्य् इत्यादि रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम अष्टक में तो धातुपाठ देने के कारण सायण पर प्रतिबन्ध-सा भी है किन्तु जहां बीच के मण्डलों में इस प्रकार का कोई प्रमाण निर्दिष्ट नहीं, वहाँ इनकी यदृच्छा पूर्णतः परिलक्षित होती है।

(६) सायण की एक बड़ी त्रुटि है कि वे शब्दों के विचार में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि दूसरे समान संदर्भ में आये हुए उस शब्द के अर्थ में कुछ भिन्न ही बात कह देते हैं। उस समय पूर्वोक्त व्युत्पत्ति का भी वे ध्यान नहीं रखते। संदर्भविच्छिन्न शब्दार्थ करने के कारण उन्हें प्रायः वैदिक वाक्य अपूर्ण प्रतीत होते हैं जिनकी पूर्ति वे अध्याहार से करते हैं। इसके उदाहरण सर्वत्र हैं।

(७) यह सही है कि सायण सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा निरुक्त के उद्धरण देते हैं और उनकी सहायता से वैदिक आख्यानों की व्याख्या भी करते हैं किन्तु कई स्थानों पर उन्हें परवर्ती पौराणिक आख्यानों के आधार पर हम वैदिक रूपकों की व्याख्या करते पाते हैं। ऐसे स्थल असंगत लगते हैं। डा० घाटे[2] ने इसका एक उदाहरण दिया है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ-सूक्त (१०।१२१) में एक सामान्य पाद है—कस्मै देवाय हविषा विधेम। यह एक सरल प्रश्न है जो प्राचीन लोगों के हृदय में उत्पन्न हुआ था कि

---

१. कहते हैं 'कलकत्ता' नाम इसी प्रकार पड़ा था। किसी अध्यापक के मुख से एक ही प्रकार के शब्द-समूह बार-बार सुनने पर छात्र उनका वही नाम रख देते हैं जैसे—Mr. So to Say, Mr, what'is called, Mr. Intellectual, प्रो० पूर्णरूपेण इत्यादि।

2. *Lectures on the Rigveda*, p. 95-6

हृव्य के द्वारा हम किस देवता की अर्चना करें ? यह उस देवता के विषय में सहज जिज्ञासा है जो संसार का आदिम कारण होने के साथ-साथ प्रकृति के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। सायण इसमें आनेवाले 'कस्मै' की व्याख्या करते हैं 'क' शब्द के वाच्य-स्वरूप प्रजापति देवता के लिए। प्रश्न का स्वरूप नहीं रहा—यह विधानात्मक वाक्य हो गया। यज्ञानुष्ठान में वेदार्थ के उपयोगी होने से प्रत्येक मंत्र में देवता की सत्ता मानना अनिवार्य है। निर्जीव पदार्थों में भी कृत्रिम देवता की सत्ता स्वीकृत है।[1] इसी नियम से सायण यहाँ प्रश्नवाचक सर्वनाम को ही देवता मान लेते हैं और इसके समर्थन में ब्राह्मण का प्रमाण भी खोज निकालते हैं। इस प्रसंग में सायण की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं कि प्रजापति को 'क' क्यों कहा गया—

'अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः। कमेर्डप्रत्ययः। यद्वा कं सुखं तद्रूपत्वात्क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदाय अहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीषि अहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात्क इति प्रजापतिराख्यायते।' (ऋ० १।१२१।१ पर सायणभाष्य।)

सत्य का अनादर करने से सायण को एक पर एक असत्य का आश्रय लेना पड़ता है तथा वे प्रजापति को 'क' सिद्ध करने के लिए ४ व्याख्यायें देते हैं।

इतना सब कुछ होने पर भी सायण के गुणों के समक्ष दोष नगण्य हैं। आज वैदिक व्याख्या-पद्धतियों का जितना विकास हो चुका है, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन सबों का आधार सायण-भाष्य ही है।[2] यह कहना गलत है कि सायण को परंपरा का ज्ञान नहीं था। उन्होंने जितने ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं वे यदि एक स्थान पर संकलित किये जाएँ तो विशाल पुस्तकालय तैयार हो जाय। पिशेल तथा गेल्डनर ने वैदिक व्याख्या में सायण

---

१. ब्रह्मसूत्र २।१।५ में 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' कहकर भूतेन्द्रियों में आरोपित चेतना का कारण बतलाया है कि उन पदार्थों में रहनेवाले चेतन देवताओं को चेतनोचित क्रियाओं से संबद्ध किया गया है, अचेतन पदार्थों को नहीं—मृदब्रवीत्, शृणोत ग्रावाणः इत्यादि इसी रूप में व्याख्यात होते हैं।

2. तुलनीय Max-Müller, *Vedic Hymns*, Part I, p. XXX—'If, therefore, we can now see further than he could, let us not forget that we are standing on his shoulders.'

की महत्ता दिखलाई है तथा सिद्ध किया है कि रॉथ की अपेक्षा भी अधिक योग्यता से सायण ने शब्दार्थ दिये हैं।[1] रॉथ ने कहा है कि सभी भारतीय टीकाकार 'पुरीष' का अर्थ उदक करते हैं जब कि इसका ठीक उलटा अर्थ है—भूमि। रॉथ का यह आरोप सही नहीं है। सायण ने ही इसके अनेक अर्थ किये हैं जैसे—पूरक मण्डल अर्थात् गोलाकार भूमि (यहाँ वे रॉथ से आगे बढ़कर शुद्धतर अर्थ देते हैं), पांशुयुक्त भूप्रदेश, मिट्टी इत्यादि। अतः रॉथ का दिया हुआ अर्थ सायण से अन्तर्हित नहीं था, प्रत्युत वे कहीं आगे थे।

वेदानुशीलन—आधुनिक युग—

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में १७८४ ई० अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है जब बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोधसंस्था का जन्म कलकत्ते में सर विलियम जोन्स के सत्प्रयास से हुआ। इसका उद्देश्य ही प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन था। इसके दूसरे ही वर्ष विल्किन्स ने भगवद्गीता का प्रथम अंग्रेजी-अनुवाद प्रकाशित कराया। फिर भी वैदिक अनुशीलन के इतिहास में १८०५ ई० का ही अधिक महत्त्व है क्योंकि इसी वर्ष कोलब्रुक (Colebrooke) ने एशियाटिक रिसर्चेज नामक पत्र में शताधिक पृष्ठों में वेद-विषयक अपना निबंध प्रकाशित किया जिसमें समस्त वैदिक साहित्य का सर्वेक्षण है।[2] यह इतिहास का एक विचित्र संयोग है कि जो कोलब्रुक पहले संस्कृत का बड़ा विरोधी था तथा विल्किन्स को 'संस्कृत के पीछे पागल' तक कहा करता था वही इसका इतना भक्त बन गया कि वेदानुशीलन का प्रथम दीपस्तम्भ उसी ने स्थिर किया। १८३८ ई० में जर्मन विद्वान् फ्रेडरिख रोजन (Friedrich Rosen) के सम्पादन में लन्दन से ऋग्वेद का प्रथम अष्टक प्रकाशित हुआ।[3] यह ऋग्वेद का सर्वप्रथम संस्करण था। इस विद्वान् की मृत्यु इसके प्रकाशन के एक वर्ष पूर्व ही हो गयी।

पेरिस में संस्कृत के अध्यापक यूजीन बर्नूफ (Eugene Burnouf) ने वैदिक अनुशीलन के क्षेत्र में रॉथ तथा मैक्समूलर के रूप में दो अतिविशिष्ट शिष्य दिये। रॉथ (Rudolf Roth 1821–95) ने, जो बाद में वैदिक भाषा विज्ञान का जन्मदाता बना, १८४६ ई० वे 'वेद का साहित्य तथा इतिहास'[4] नामक एक छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिखी जिससे वास्तव

---

1. Cf. *Vedische Studien*, Vol. I, Introduction, p. 6.

2. Colebrooke, *'On the Vedas, the Sacred Writings of the Hindus.'*

3. *Rigveda Saṃhitā, liber primus, Sanskrite et Latine*, London, 1838.

4. Rudolf Roth, *Zur Litteratur und Geschiste des Veda*, 1846.

में वेदाध्ययन की ओर पश्चिमी विद्वानों की प्रवृत्ति बढ़ी। रॉथ ने वेदानुशीलन के क्षेत्र में एक सर्वथा नवीन आगमन-विधि तथा ऐतिहासिक विधि का प्रवर्तन किया। इनकी मान्यता थी कि वेदों के अर्थज्ञान के लिए उन्हीं में आये हुए विभिन्न स्थलों के शब्दों की छान-बीन करने के बाद निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है। अपनी इस आगमनविधि का प्रयोग रॉथ ने अपने 'संस्कृत महाकोश' (Sanskrit-wörterbuch) में किया है। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ उसके विकास-क्रम के आधार पर दिया गया है जिसमें वेद से लेकर लौकिक संस्कृत तक के उद्धरणों द्वारा शब्दार्थ-विकास दिखलाया गया है। यह एक प्रकार से कोश से बढ़कर शब्द का इतिहास बतलाने वाला ग्रन्थ है। इसमें वैदिक शब्दों का अर्थ निर्णय रॉथ की देन है और संस्कृत शब्दों का अर्थ निरूपण में भोटलिंक (Otto Bohtlingk) ने परिश्रम किया। यह ग्रन्थ १८५२ ई० से १८७५ ई० तक सात खण्डों में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ अभी तक जर्मन-भाषा से किसी दूसरी भाषा में अनूदित नहीं हुआ और आज भी विद्वत्ता का मानदण्ड बना हुआ है।[1]

डा० वेबर का 'भारतीय साहित्य का इतिहास' (जर्मन-ग्रंथ) १८५२ ई० में प्रकाशित हुआ जिसमें वैदिक साहित्य का पूर्ण परिचय दिया गया है। वेबर ने अपनी जर्मन शोध-पत्रिका इन्दिशे स्तूदियन (Indische Studien =भारतीय अध्ययन) में भारतीय साहित्य के विभिन्न पक्षों पर अनेक निबन्ध लिखे जिनसे उनकी सर्वतोमुखी ज्ञानशक्ति का पता लगता है। इतिहास की परंपरा में दूसरा ग्रन्थ प्रो० मैक्समूलर का प्राचीन भारतीय साहित्य' (Ancient Sanskrit Literature) १८५९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें वैदिक वाङ्मय पर ही अधिक सामग्री है। मैक्समूलर के समान प्रतिभावान् तथा व्यापक रुचिसंपन्न कोई भी भारतीय विद्यानुरागी विद्वान् पश्चिम में नहीं हुआ। इन्होंने वैदिक व्याख्या, भाषा-विज्ञान, पुराकथा-विज्ञान, धर्म, दर्शन, व्याकरण इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में काम किये। प्रो० ब्लूमफील्ड ने इनके विषय में कहा है[2] कि हिन्दू लोग इन्हें मोक्षमूलर (मुक्ति का प्रधान कारण) कहते हैं। यदि मोक्ष का अर्थ 'विचारशक्ति स्वाधीनता' हो तो निश्चित रूप से वे मोक्षमूलर थे। इन्होंने सर्वत्र अपनी स्वच्छन्द विचार-शक्ति का परिचय दिया है। मैक्समूलर का सबसे बड़ा योगदान ऋग्वेद के अनुशीलन में सायण-भाष्य के साथ संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता का देवनागरी-लिपि

---

१. इसका अंग्रेजी अनुवाद मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ से निकलने की बात है।

2. Bloomfield, *Religion of the Veda*, p. 54.

में सर्वप्रथम प्रकाशन है। ग्रन्थ की विशद भूमिका तथा पाठालोचन-विषयक सामग्री देखकर ही कोई इनके परिश्रम का अनुमान कर सकता है। १८४९ ई० से १८७५ ई० तक यह कई खण्डों में प्रकाशित हुआ। १८९०-९२ में इसका द्वितीय संशोधित संस्करण निकला।[1] मैक्समूलर के संस्करण के प्रकाशन के बाद से ही ऋग्वेद की व्याख्या में सायण और रॉथ के अनुयायियों के दो दल हो गये।

विल्सन ने १८५० ई० में ही सायण-भाष्य के आधार पर ऋग्वेद-संहिता का पूरा अनुवाद[2] अंग्रेजी में किया। ऋग्वेद का सर्वप्रथम अनुवाद यही है। विल्सन सायण के कट्टर अनुयायी थे तथा ये सायण को किसी भी पाश्चात्य विद्वान् की अपेक्षा वेदार्थ करने में अधिक समर्थ मानते थे। यह आश्चर्य ही है कि विल्सन के अनुवाद के प्रकाशन के समय तक ऋग्वेद-संहिता मूलरूप में कहीं भी पूरी नहीं छपी थी। यह श्रेय आउफ्रेक्ट (Aufrecht) नामक विद्वान् को मिला जिन्होंने बड़े परिश्रम से १८६१-६३ ई० में रोमन लिपि में पूरे ऋग्वेद को प्रकाशित कराया। १८७७ ई० में इसका द्वितीय संस्करण निकला। आउफ्रेक्ट का एक दूसरा महान् योगदान है संस्कृत पुस्तकों की बृहत् सूची (Catalogus Catalogorum) प्रस्तुत करना जिसका प्रकाशन १८९१-१९०३ में हुआ। उस समय तक ज्ञात समस्त वाङ्मय की सूचना इसमें है।

रॉथ के एक शिष्य ग्रासमान (Grassmann) ने ऋग्वेद का एक कोश ग्रन्थ प्रस्तुत किया[3] जो रॉथ के कोश के समान व्यापक तो नहीं किन्तु सम्बद्ध उद्धरणों से अति उपयोगी है। यह कोश भी अभी तक जर्मन में ही है। ग्रासमान ने ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद भी जर्मन में किया जो लाइपजिग (Leipzig) से १८७६-७ में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद में रॉथ की व्याख्या पद्धति का अनुसरण किया गया है। इसी काल में लुडविग (Ludwig) ने भी ऋग्वेद का जर्मन में गद्यात्मक अनुवाद किया जो छह खण्डों में १८७६ ई० से १८८८ ई० तक प्रकाशित होता रहा। इस अनुवाद में सायण का मुक्त उपयोग किया गया है। ग्रिफिथ ने रॉथ तथा सायण दोनों

---

१. इसका नया संस्करण मूलरूप में ही फोटो से चौखम्बा संस्कृत सीरीज से १९६६ ई० में निकला।

२. इसके कई संस्करण भारत में भी हुए और आज भी इसकी मान्यता है। १८५१ ई० में ही लांगलोआ नामक विद्वान् द्वारा फ्रेंच में ऋग्वेद का अनुवाद ४ खण्डों में प्रकाशित हुआ।

३. *Wörterbuch Zum Rigveda*, 1873-75.

का यथावसर उपयोग करके अंग्रेजी में सभी वेदों का पद्यानुवाद किया। ऋग्वेद का अनुवाद बनारस से दो खण्डों में निकला (१८८९-९२)। यह बहुत अच्छा अनुवाद माना जाता है।[1]

भारत में स्वामी दयानन्द (१८२४–१८८३) ने प्रायः इसी काल में ऋग्वेद पर अपना संस्कृत-भाष्य लिखा[2] जो सप्तम मण्डल के कुछ भाग तक ही लिखा जा सका। इसमें इन्होंने निरुक्त तथा शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर मन्त्रों का अर्थ किया तथा वेदों को इतिहास नहीं मानकर उन्हें आर्यज्ञान की अमूल्य सम्पत्ति के रूप में देखा। वास्तव में ऋषि दयानन्द तथा उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य-समाज ने वेदों के प्रचार में अत्यधिक परिश्रम किया।

ऋग्वेद के संकलित मन्त्रों का अनुवाद 'पवित्र प्राच्यग्रंथमाला' (Sacred Books of the East) के ३२ वें तथा ४६ वें भाग में मैक्समूलर तथा ओल्डेनबर्ग (Oldenberg) ने किया। इसमें इन विद्वानों ने अपना सुन्दर आलोचनात्मक टिप्पणियां भी दी हैं। पिछली शताब्दी का अन्त होते-होते तक ऋग्वेद में पर्याप्त काम हो चुका था। वर्तमान शताब्दी में कुछ पुराने तथा अधिकांश नये विद्वान् प्रकाश में आये। ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद के ऊपर जर्मन भाषा में बहुत विवेचनापूर्ण व्याख्या लिखी जो दो खण्डों में बर्लिन से १९०९-१२ ई० में प्रकाशित हुई। उस समय तक किये गये वेदानुशीलन की सम्यक् समीक्षा इसमें की गयी है। इसी श्रृंखला में १८८८ ई० में प्रकाशित छन्दोविषयक ग्रन्थ में वे इसके पूर्व भी छन्द और वेदार्थ-विधि की मीमांसा कर चुके थे। इनके ग्रन्थों में एक ही स्थान पर वह सारी सामग्री मिल जाती है जो किसी मन्त्र के विषय में जर्मन, फ्रेंच या अंग्रेजी में कही गयी है। पिशेल (Pischel) तथा गेल्डनर (Geldner) ने संयुक्त रूप से 'वैदिक अध्ययन' (Vedische Studien) के तीन खण्डों में (प्रकाशन स्तुतगार्त से १८८९–१९०१) वेदार्थ विषयक नये विचार रखे जिनसे अनुप्राणित होकर गेल्डनर ने पूरे ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद किया।[3] यह अनुवाद अभी तक पाश्चात्य

---

१. अभी हाल ही में चौखम्भा-प्रकाशन से इसका पुनर्मुद्रण हुआ है।

२. यह भाष्य संस्कृत में हिन्दी अनुवाद के साथ है। लेखन काल भाद्र शु. १ सं० १९३३ (१८७६ ई०) तथा दीपावली १९४० सं० (१८८३ ई०) के बीच है। ऋ० ७।२।२ पर यह समाप्त हो जाता है। इसके पूर्व ही स्वामी जी ने १८७८ ई० में अपने सिद्धान्तों के प्रकाशनार्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' लिखी थी।

३. गौटिंजन से १९२३ में यह प्रकाशित होने लगा था किन्तु बाद में हार्वर्ड-ग्रन्थमाला (Hos) के ३३, ३४ और ३५ वें भाग के रूप में यह पूरा

वेदानुशीलन में अन्तिम शब्द माना जाता है। कलकत्ते से मन्मथनाथ दत्त शास्त्री ने सात खण्डों में सायण भाष्य के साथ ऋग्वेद तथा ३ खण्डों में उसका अनुवाद (अंग्रेजी) भी प्रकाशित कराया (१९०६)।

मैकडोनल का वैदिक अनुशीलन के क्षेत्र में पदार्पण १८८७ ई० में 'वैदिक रीडर' नाम सूक्त-संग्रह के साथ हुआ। इसके प्रथम संस्करण में उन सूक्तों पर सायण-भाष्य भी था। मैकडोनल की भाषाशास्त्रीय टिप्पणियों तथा शब्दानुक्रमणी से इसका महत्त्व आज तक बना हुआ है। इसके पूर्व ही १८८८ तथा १८८९ ई० में पीटरसन (P. Peterson) ऋग्वेद के सूक्तों के दो संग्रह बम्बई से प्रकाशित करा चुके थे। ये संग्रह सायण-भाष्य, अंग्रेजी अनुवाद तथा विविध टिप्पणियों से अलंकृत हैं। इनके कई संस्करण हो चुके हैं तथा कई विश्वविद्यालयों में ये पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हैं।[1] मैकडोनल ने अपने वैदिक रीडर को सुबोध बनाने के लिए वैदिक व्याकरण लिखा जो स्त्रासवर्ग (जर्मनी) से १९१० ई० में प्रकाशित हुआ। इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी हुआ जो अभी तक पर्याप्त लोकप्रिय है (Vedic Grammar for Students)। मैकडोनल के 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' का प्रकाशन १९०० ई० में हुआ। इसमें प्रथम ७ अध्यायों में वैदिक साहित्य से संबद्ध प्रचुर सामग्री है। प्रो० कीथ (A. B. Keith) के साथ मिलकर मैकडोनल ने वैदिक नामों की विवरणात्मक सूची प्रस्तुत की थी (प्रकाशन १९१२ ई०, Vedic Index of Names and Subjects)।[2] जर्मन भाषा में विन्तरनित्स (Winternitz) का भारतीय साहित्य का इतिहास (Geschichte der Indischen Litteratur) लाइपजिग से १९०४ में प्रकाशित हुआ। इसके तीन खण्डों में पहला वैदिक साहित्य का अतिविस्तृत परिचय देता है और अपने विषय का एक ही ग्रन्थ है।

इसी काल में हार्वर्ड ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मारिस ब्लूमफील्ड की

१९५१ ई० में प्रकाशित हुआ। १९५७ ई० में इसकी शब्दानुक्रमणिका (Index) भी निकली।

१. इनके अतिरिक्त छात्रों के उपयोग के लिए पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, डा० हरिदत्त शास्त्री, डा० देवराज चानना, तथा कान्तानाथ शास्त्री तेलंग (ब्रजबिहारी चौबे के साथ) के सूक्त-संग्रह विशेष उल्लेखनीय हैं। सबों की अपनी विशेषताएँ हैं। १०८ सूक्तों से युक्त वेलणकर-संपादित ऋक्सूक्तवैजयन्ती भी अद्यतन शोधों से पूर्ण संग्रह है।

२. इसके दो हिन्दी-अनुवाद हैं—डा० सूर्यकान्त (१९६३) तथा डा० रामकुमार राय (१९६२) के किये हुए।

उपयोगी सूचियाँ प्रकाशित हुईं। १० भाग के रूप में विशाल वैदिक वाक्य-कोश (Vedic Concordance) १९०६ में प्रकाशित हुआ। इस कोश में समस्त वैदिक साहित्य (उस समय तक उपलब्ध) के विभिन्न ग्रन्थों में आये हुए पादों, वाक्यों तथा उद्धरणों की वर्णानुक्रम से सूची है। अभी हाल में सुलभ संस्करण प्रकाशित हुआ था। पुनः उसी ग्रन्थमाला के २० वें तथा २४ वें भाग के रूप में ब्लूमफील्ड का ऋग्वेद-आवृत्ति-कोश (Ṛgveda Repetitions) १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ।

वैदिक धर्म और दर्शन पर वैसे तो मैक्समूलर ने भी लिखा था किन्तु स्वतन्त्र रूप से इसके पुराकथाशास्त्र (mythology) पर हिलेब्रांट (Hillebrandt, *Vedische Mythologie*) तथा मैकडोनल ने ग्रन्थों की रचना करके इसका सूत्रपात किया। द्वितीय ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है। इसकी परिणति कीथ की १९२५ ई० में हार्वर्ड ग्रन्थमाला के ३१ वें ३२ वें भागों के रूप में प्रकाशित 'वेदों तथा उपनिषदों का धर्म और दर्शन' (Religion and Philosophy of the Vedas and the Upanisads) नामक पुस्तक में है।

भारत में वैदिक अध्यात्मवाद के प्रवर्तक अरविन्द घोष इसी काल में वेदानुशीलन के क्षेत्र में उतरे। पांडिचेरी से प्रकाशित आर्य-पत्रिका में इन्होंने अनेक वैदिक सूक्तों का सटीक अनुवाद किया जिसमें अपनी पद्धति दिखलायी। इनमें अनेक सूक्त उनके बृहत्तम ग्रन्थ वेद-रहस्य (On the Veda)[1] में आ चुके हैं। इनके एक अनुयायी कपालिशास्त्री ने उनके सिद्धान्तों के अनुसार ऋग्वेद के आरम्भिक अंशों पर संस्कृत में सिद्धाञ्जन-भाष्य लिखा है (प्रकाशन, १९५० ई०)।

फ्रांसीसी विद्वान् रेनो (L. Renou) ने अपने विभिन्न निबन्धों और पुस्तकों के द्वारा वेदार्थनिर्णय के उपायों में उत्कर्ष उत्पन्न किया। इनका सबसे बड़ा कार्य वैदिक अनुशीलन की सूची तैयार करना है जो फ्रेंच में वैदिक ग्रन्थावली (Bibliographia Vedique) के नाम से १९३१ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें वेद से सम्बद्ध सभी ग्रन्थों के संस्करणों, निबन्धों, शोध ग्रन्थों इत्यादि की सूचना दी गयी है। इसके बाद के होने वाले कार्यों का संग्रह डा० दाण्डेकर के तद्विषयक ग्रन्थ (Vedic Bibliography) के दोनों भागों में हुआ है—प्रथम भाग १९४७ में निकला था, दूसरा अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। वैदिक अनुसंधान के लिए इनसे सर्वाधिक सूचना मिलती है।

---

१. प्रकाशन—पांडिचेरी, १९५६ ई०।

पूना से १९३० ई० में चिन्तामणि विनायक वैद्य का वैदिक साहित्येतिहास अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर पं० भगवद्दत्त ने भी वैदिक वाङ्मय का इतिहास लिखा। ऋग्वेद के सायण-भाष्य का सर्वोत्तम संस्करण निकालने का श्रेय पूना के ही वैदिक संशोधन मण्डल को है जिसने बड़े-बड़े वेद-विशेषज्ञों की सहायता से अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर पांच खण्डों में यह बृहत्तर कार्य सम्पन्न किया। १९३३ ई० से लेकर १९५१ ई० तक यह प्रकाशन चलता रहा। ऋग्वेद के हिन्दी-अनुवाद जयदेव विद्यालंकार तथा रामगोविन्द त्रिवेदी ने अपने-अपने ढङ्ग से किये। दोनों ही उत्तम हैं। श्रीराम शर्मा आचार्य का सानुवाद मूल ऋग्वेद अशुद्धियों के होने पर भी काफी लोकप्रिय है।

वेदों के प्रकाशन में सातवळेकर का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इन्होंने मूल का संस्करण तो उत्तमोत्तम प्रकाशित किया ही (ऋग्वेद संहिता, मूल, १९४० ई०), ऋग्वेद के अधिकांश का सानुवाद प्रकाशन भी किया। महाराष्ट्र में सातवलेकर यदि वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में अकेले कूद पड़े थे तो उधर पंजाब के होशियारपुर में पं० विश्वबन्धु भी विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान के माध्यम से वैदिक-पदानुक्रम-कोशों के निर्माण में दत्तचित्त थे। विशाल वेद-वाङ्मय की छानबीन करके शब्दों का निरूपण करना कितना कठिन है, यह उनके कोशों को देखने पर ही समझा जा सकता है।

प्रो० वेलणकर ने प्रायः ४५ वर्षों के अपने अध्यापन काल में वेद की बहुत सेवा की। 'ऋक्सूक्तवैजयन्ती' तथा ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का अत्युत्तम संस्करण इन्होंने प्रस्तुत किया। पिछले ग्रन्थ में अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणियों से इनका अध्ययन अङ्कित किया जा सकता है। होशियारपुर के ही उदीयमान विद्वान् डा० रामगोपाल ने वैदिक व्याकरण लिखने की बृहत् योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत दो बड़े-बड़े खण्ड निकल चुके हैं। वे मैकडोनल के वैदिक व्याकरण से भी अधिक व्यापक और प्रमेयबहुल हैं।

आधुनिक भारत में पूना तथा होशियारपुर ये दो ही केन्द्र मुख्यरूप से वैदिक अनुसंधान में लगे हुए हैं, जहां स्वतन्त्रता के बाद से कार्य की दिनानुदिन प्रगति देखी जा सकती है। वेद-विद्या के उद्धार की इन दोनों से बड़ी आशाएं हैं।[1]

---

१. उपर्युक्त तथ्य अति संक्षिप्त हैं। इस प्रकार के निबन्ध की अपनी सीमा है। शोधपत्रों तथा अनेक शोधनिबन्धों की चर्चा इसमें नहीं हो सकी है। विषय का प्रस्तुत संस्करण से सामंजस्य रखने के लिए ऋग्वेद-संहिता तक ही सीमित रखा गया है।

व्याख्या-पद्धति और विषय-वस्तु—

ऋग्वेद की भाषा तथा उसमें प्रतिपादित तथ्यों की गम्भीरता के कारण उसके सही अर्थ पर पहुँचना हमारे लिए एक पहेली है। उसमें किस प्रकार की बातें कही गयी हैं इसका विभिन्न रूप से प्रतिपादन किया गया है: प्राचीन काल से ही मंत्रों का अर्थ निर्णय करने का प्रयास होता रहा है और उन पूर्वपक्षियों को मुँहतोड़ उत्तर भी दिया जाता रहा है जिन्होंने वेदों को अनर्थक या वाच्यार्थ-हीन माना है। निरुक्त (१।१५) में यास्क ने ऐसे ही किसी कौत्स (<कुत्सा = निन्दा) नामक आचार्य का उल्लेख किया है जो वेद में कुछ अर्थ ही नहीं मानते। कौत्स की युक्तियाँ ही अवान्तर काल में वेदनिन्दक नास्तिक दार्शनिकों के द्वारा भी मान्य हुईं। 'जर्भरी' 'तुर्फरी' इत्यादि कठिन शब्दों की सत्ता से वेद पर अनेक आक्षेप किये गये किन्तु यास्क ने सबों को उत्तर दिया—नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।' वेदों के अर्थज्ञान के लिए ही तो निगम, निरुक्त और व्याकरण हैं। इस प्रकार प्राचीन काल से ही ऋग्वेद का अर्थ समझने के प्रयास ब्राह्मणों तथा वेदाङ्गों में होते रहे हैं। किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के साधनों के उपयोग के अनन्तर भी ऋषियों के अभीष्ट अर्थ तक हम पहुँच सकते हैं। यहीं पर ऋग्वेद की अनेक व्याख्या पद्धतियों को अवकाश मिलता है कि वे वेदार्थ के क्षेत्र में अपना कौशल प्रदर्शित करें।

आजकल ऋग्वेद के अर्थनिर्णय की तीन मुख्य पद्धतियाँ हैं—(१) सायण की याज्ञिक पद्धति, (२) भाषावैज्ञानिकों की ऐतिहासिक पद्धति तथा (३) दयानन्द सरस्वती एवं अरविन्द की आध्यात्मिक पद्धति। सर्वप्रथम हम तीनों पद्धतियों का सिद्धान्त-निरूपण करें।

(१) सायण की याज्ञिक पद्धति—सायण की अर्थ-निर्णन-विधि यज्ञानुष्ठान से सम्बद्ध है। ऋग्वेद के मंत्रों को ये यज्ञ-विनियोग के लिए मानते हैं, अतः मन्त्रों का अर्थ करने में जहाँ अध्याहार का प्रयोजन होता है यज्ञ-स्वरूप का निर्वाह इनका प्रयोजक बन जाता है। यह सही है कि चारों वेदों का संकलन ऋत्विजों के उपयोग के लिए हुआ है, किन्तु मन्त्रों में भी यज्ञार्थता हो ऐसी बात सर्वत्र नहीं। ब्राह्मण-वाक्य, निरुक्त, स्मृति, इतिहास, पुराणादि के बल पर सायण मन्त्रों के शुद्ध अर्थ तक पहुंचने का यथाशक्ति प्रयास करते हैं किन्तु प्रत्येक सूक्त के याज्ञिक विनियोग को भी भूल नहीं पाते। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' के इतने भक्त हैं कि मन्त्रों के अर्थ तक पहुँचने में वे परवर्ती ब्राह्मण-धर्म तक की सहायता लेते हैं। कुछ

भी हो, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, किसी पद्धति से वेद की व्याख्या करें सायण का आधार आवश्यक है। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है सायण विभिन्न प्राकृतिक देवताओं की स्वीकृति पूर्वमीमांसा के अनुसार देते हैं यद्यपि एकतत्त्व-वाद की व्याख्या भी अद्वैतवादी दृष्टिकोण से करते हैं।

(२) भाषावैज्ञानिक व्याख्या—इसके प्रवर्तक रॉथ हैं तथा आधुनिक युग की पाश्चात्य-पद्धति में प्रशिक्षित वेदज्ञ इसी के समर्थक हैं। इसके अनुसार वेदार्थ-निर्णय के लिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान की सबसे बड़ी आवश्यकता है। ऋग्वेद के शब्दों की व्याख्या में भारोपीय भाषा-परिवार की विभिन्न प्राचीन भाषाओं के शब्दों से सहायता ली जाती है तथा विभिन्न प्राचीन धर्मों तथा रीति-रिवाजों में वैदिक कल्पनाओं की व्याख्या खोजी जाती है। प्राचीन भारतीय परम्परा में अन्धश्रद्धा का दोषरोपण करके इस पद्धति में निष्णात विद्वान् भारतीय भाष्यकारों का उपहास करते हैं। किन्तु भारतीय परम्परा से पृथक् होकर वेदों का अर्थ करना 'मूलोच्छेदि पाण्डित्यम्' (ऐसी विद्वत्ता का प्रदर्शन जिसका आधार ही नहीं हो) होगा। परम्परा ज्ञान नहीं होने से ये पाश्चात्य विद्वान् कहीं-कहीं तो वेद का अनर्गल अर्थ कर बैठते हैं। भाषा-विज्ञान में शब्दार्थ का अध्ययन तो होता है किन्तु एक ही शब्द समश्रुति होने पर भी विभिन्न देशों में विभिन्न अर्थ धारण कर सकता है, इसे लोग भूल जाते हैं। 'सानु' का अर्थ संस्कृत में पर्वतभाग या अधित्यका है किन्तु यूरोप में यही 'बर्फ' का अर्थ देता है तो इसके आधार पर ऋग्वेद में स्थित इस शब्द का अर्थ 'तुषार' नहीं किया जा सकता, ऐसा करना हास्यास्पद होगा।

इस पद्धति में अनेक विद्वान् हो चुके हैं तथा सबों में एक ही समान गुण या दोष नहीं हैं। फिर भी भौतिक अर्थ पर इस पद्धति का इतना अधिक बल है कि दूसरे अर्थों की स्थिति ही नहीं। उदाहरण के लिए इन्द्र के विशेषण के रूप में आने वाले 'वृषभ' शब्द का अर्थ लें। सायण इसे 'कामनाओं के पूरयिता' के अर्थ में लेते हैं जब कि पाश्चात्य विद्वान् इसका संस्कृत वाला अर्थ 'साँढ़' (Bull) लेते हैं। हिलेब्राँट ने इसका कारण बतलाया है कि तात्कालिक आर्यों की दृष्टि में साँढ़ सबसे बलवान् प्राणी था, उसे बहुत अधिक मान्यता प्राप्त थी। मिस्र के चित्रलेख तथा सिन्धु-घाटी की सभ्यता से भी इसका समर्थन होता है। इन्द्र को उसी के सम्मान बलिष्ठ सिद्ध करने के लिए 'वृषभ' कहा गया है। यह कल्पना वैदिक आर्यों को अति-प्राकृत दशा में पहुँचा देती है। वैसे पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक शब्दों की बहुत छानबीन की है तथा अत्याधुनिक वैज्ञानिक विधियों का भी इसमें प्रयोग किया है तथापि आर्यों को निम्न कोटि की हास्यास्पद जाति सिद्ध करने में कल्पना की

उड़ान भी कम नहीं लगायी है। ऋग्वेद में 'शिश्नदेव' शब्द आया है (७।२१। ५ तथा १०।९९।३)। अब पाश्चात्य विद्वान् निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि प्राचीन भारत में लिङ्ग-पूजा होती थी। किन्तु वास्तव में 'देव' शब्द अपने लक्ष्यार्थ में है—देवता के समान उसे ही सब कुछ समझना। शिश्नदेव का तदनुसार अर्थ है कामपूर्ति में निरत पुरुष। इसीलिए यास्क और सायण इसका अर्थ 'अब्रह्मचर्य' करते हैं। प्रस्तुत संस्करण में भाषावैज्ञानिक विवेचन की झलक देने का प्रयास हुआ है।[1]

(३) आध्यात्मिक पद्धति—दयानन्द सरस्वती—आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द का कर्तृत्व ऋग्वेद-भाष्य के रूप में विशिष्ट है। इन्होंने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अपने वेदविषयक सिद्धान्तों का निरूपण किया है। ये देवतावाद का खंडन करके एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि जितने भी तथाकथित देवतावाचक शब्द हैं वे सब यौगिक होने के कारण परमेश्वर के वाचक हैं। उस परमेश्वर की स्तुति ही वेदों में विभिन्न नामों से हुई है। स्वामी जी के भाष्य का आधार है निरुक्त तथा व्याकरण जिसके अनुसार ये सभी शब्दों को यौगिक अथवा योगरूढ मानते हैं। रूढ शब्दों की सत्ता ये वेदों में नहीं मानते। मन्त्र-भाग को ही ये वेद स्वीकार करते हैं कि यह ईश्वरोक्त है। ब्राह्मण-भाग को जीवोक्त मानकर, उसमें विविध कर्मकाण्डों का वर्णन होने के कारण, वेद के रूप में स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार स्वामी जी ने वेद की व्याख्या में आध्यात्मिक शैली का प्रवर्तन किया।

स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त की ठोस आधारशिला हमें ऋग्वेद तथा निरुक्त में मिलती है। ऋग्वेद में (१।१६४।४६) स्पष्ट कहा गया है 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।' दूसरी ओर निरुक्त में (७।४) भी निर्दिष्ट है—माहाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।' अतएव अग्नि आदि को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का रूप मानना उचित ही है। किन्तु जब अग्नि आदि

---

१. अरविन्द ने भाषावैज्ञानिक पद्धति की कड़ी आलोचना करते हुए एक निबन्ध लिखा था—The Origin of Aryan Speech (*On the Veda*, P. 637–71) वे कहते हैं—(Comparative Philology has hardly moved a step beyond its origins, all the rest has been a mass of conjectural and ingenious learning of which the brilliancc is only equalled by the uncertainty and unsoundness. (Ibid. P. 637.).

की बिल्कुल सत्ता ही नहीं मानी जाती तब यह पद्धति परम्परा का उच्छेद करती है। स्वयं यास्क के अनुसार वैदिक मन्त्रों के त्रिविध अर्थ हैं—आधि-भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का बोधक है जिससे हमारे सब व्यवहार चलते हैं, दूसरी ओर यह उसमें अधिष्ठित देवता का भी वाचक है और अन्त में जगत् का नियमन करनेवाले परमेश्वर का अर्थ भी प्रकट करता है। इसी प्रकार प्रत्येक मन्त्र में भौतिक अर्थ, देवता-विशेष का अर्थ तथा परमेश्वर का अर्थ भी है। किसी एक अर्थ का सर्वांशतः ग्रहण करना न्याय नहीं है। स्वामी जी भौतिक और आधिदैविक अर्थों की सर्वथा उपेक्षा करते हैं।

स्वामी जी वेदों में इतिहास नहीं मानते किन्तु ज्ञान-विज्ञान की अक्षय-निधि होने के कारण उन्हें आधुनिक वैज्ञानिक विकास के सारे संकेत उनमें मिलते हैं। उनके अनुयायी वैदिक पण्डितों ने वेदों में रेल, तार, विमान, मोटर इत्यादि की सत्ता मानी है जो अपने आप में हास्यास्पद है। यौगिक प्रक्रिया के द्वारा अर्थ का अनर्थ करना कभी उचित नहीं। सर्वांशतः मान्य नहीं होने पर भी वेदों में सहसा जनता की रुचि उत्पन्न कर देना दयानन्द की विशेषता है। इनके भाष्य का एक अंश द्रष्टव्य है—

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये॥ (ऋ० १।२।३)।

भाष्य—वायो वेदवाणीप्रकाशकेश्वर! तव जगदीश्वरस्य प्रपृञ्चती प्रकृष्टा चासौ पृञ्चती चार्थसम्बन्धेन सकलविद्यासम्पर्ककारयित्री धेना वेदचतुष्टयी वाक् जिगाति प्राप्नोति। जिगातीति गतिकर्मसु पठितम्। तस्मात् प्राप्त्यर्थो गृह्यते। दाशुषे निष्कपटेन विद्यां दात्रे पुरुषार्थिने मनुष्याय उरूची बह्वीनां पदार्थविद्यानां ज्ञापिका। उरु इति बहुनामसु पठितम्। सोमपीतये। सूयन्ते ये पदार्थास्तेषां पीतिः पानं यस्य तस्मै विदुषे मनुष्याय। अत्र सह सुपेति समासः। भौतिकपक्षे स्वयं विशेषः—वायो! पवनस्य योगेनैव तव अस्य प्रपृञ्चती शब्दोच्चारणसाधिका धेना वाणी दाशुषे शब्दोच्चारणकर्त्रे उरूची बह्वर्थज्ञापिका।

भाष्य बहुत ही सरल संस्कृत में है किन्तु अपना सिद्धान्त भी इसमें परिस्फुट है। इसी प्रकार का भौतिक अर्थ भी कहीं-कहीं मान्य है जिसकी परिणति वैज्ञानिक उपकरणों की सत्ता-स्वीकृति में हुई है।

(४) आध्यात्मिक पद्धति—अरविन्द घोष—[1] अरविन्द अपने युग

---

1. द्रष्टव्य—A. B. Purani, *Studies in Vetic Interpretation*, 1963 (चौखम्भा प्रकाशन) पृ० १–१९।

के अद्वितीय विद्वान् तथा योगी थे। इन्होंने वेदों के अर्थ-निर्णय में दयानन्द का समर्थन करते हुए उस पद्धति को आगे बढ़ाया। इनके अनुसार वेदों में रहस्यात्मक अर्थ हैं। इनके कथनानुसार वैदिक युग में रहस्यवादी ऋषियों का एक सम्प्रदाय था जिसके अवशेष यूनान में हमें ऑर्फिक तथा इल्यूसीनियन सम्प्रदायों में मिलते हैं।[१] इन्हीं संप्रदायों ने पाइथेगोरस तथा प्लेटो को जन्म दिया। वैदिक ऋषियों ने उस प्राचीन ज्ञान को रहस्य बनाकर सुरक्षित रखा जिससे अनधिकारियों के हाथ में जाकर यह विकृत न हो जाय। उस अध्यात्म-ज्ञान का शनैः शनैः ह्रास हो गया।

अरविन्द की मान्यता है कि वैदिक मन्त्रों के दो अर्थ हैं—एक तो यज्ञ-याग में लगे हुए साधारण व्यक्तियों के लिए और दूसरा अध्यात्मप्रवण व्यक्तियों के लिए जिन्हें मन्त्रों के तल तक देखने की अन्तर्दृष्टि मिल गयी है। सभी यज्ञ-विधानों में ये दोनों अर्थ समवेत हैं। यज्ञ भी इसीलिए बाह्य तथा आध्यात्मिक दो प्रकार के हैं। वेदों के अर्थज्ञान के लिए कहीं दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती, योग और तपस्या से पवित्र किये गये हृदय में वेदार्थ स्वयं स्फुरित होता है। स्वयं ऋग्वेद में कहा गया है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋ० १।१६४।४५)

अर्थात् वाणी के चार खण्डों का बोध मनीषी ब्राह्मण (ज्ञानविधूतपाप्मा) ही कर सकते हैं। मनुष्यों के बीच तो वाणी का चतुर्थांश ही व्यक्त होता है, तीन भाग छिपे ही रहते हैं जिन्हें वे नहीं देख पाते। यहाँ स्पष्टतः वेदमन्त्रों की निगूढार्थता का संकेत है। अभी तक जो वेदार्थ हुए हैं वे उस तीन अंश से वंचित रहकर तुरीयांश के प्रकाशक हैं जिनका आधार मनुष्यों में प्रचलित भौतिक अर्थ है।

अरविन्द के अनुसार वह गूढार्थ-भाग मानोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक है। उदाहरण के लिए अग्नि के दो अर्थ हैं—(१) हवनकुण्ड में जलनेवाली अग्नि (२) हृदय में प्रदीप्त इच्छाशक्ति। इसी प्रकार सूर्य एक ओर सौर-मण्डल का दीप्तिमान् पिण्ड है तो दूसरी ओर अन्तःप्रकाश तथा उच्चज्ञान का

---

१. Aurobindo, *On the Veda*, p. 8—The hypothesis I propose is that the Ṛgveda is itself the one considerable document that remains to us from the early period of human thought of which the historical Eleusinian and Orphic mysteries were the failing remnants......etc.

देवता है। सोम सोमरस का भी बोधक है और आध्यात्मिक आनन्द का भी। इस प्रकार सभी देवता एक ओर जहाँ बाह्यशक्ति के प्रतिनिधि हैं वहीं दूसरी ओर परमात्मा की दिव्यशक्ति के अंश के रूप में मनोवैज्ञानिक शक्ति के भी प्रतीक हैं।

ऋग्वेद में हमें बहुधा यज्ञ-याग तथा युद्ध के वर्णन मिलते हैं। यह यज्ञ आध्यात्मिक यात्रा का सूचक है जो अग्नि के नेतृत्व में सम्पन्न होती है। युद्ध का अर्थ है, आर्यों की उक्त यात्रा के मार्ग में निरोध उत्पन्न करने वाले अन्धकार के विरुद्ध संघर्ष। गौ यदि प्रकाश है तो अश्व शक्ति है.। वैदिक ऋषि कहीं अश्व की प्रार्थना कर रहा हो तो घोड़े का अर्थ नहीं समझना चाहिए, वह तो शक्ति का स्रोत चाहता है। घृतस्नु का 'प्रकाश बिखेरनेवाला' अर्थ है। इस प्रकार अरविन्द की दृष्टि में वेद सिद्धों की वाणी है तथा यह अध्यात्मिक जगत् के रहस्यों का उद्‌घाटन करती है। इन्द्र के इन मन्त्रों का अरविन्द-कृत अनुवाद द्रष्टव्य है—[१]

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ (ऋ० १।४।५)

और हमारे रोकने वाले (निदः) हमसे कहें, 'इतना ही नहीं, आगे जाओ और इन्द्र (प्रकाश के दाता) में अपने कर्मों को विश्रान्ति देते हुए दूसरे क्षेत्रों में भी बढ़ो।' [यहाँ अरविन्द 'निदः' शब्द पर टिप्पणी देते हैं कि वेद में √निद् का अर्थ बन्धन, सीमा, रुकावट भी है तथा उसका सम्बन्ध 'निदित' शब्द के साथ है। निदित = बँधा हुआ। अरविन्द बिलकुल सही शब्दार्थ पर जाते हैं तथा सायण के 'निन्दितारः' की अपेक्षा कहीं अच्छा अर्थ देते हैं। निदित का प्रयोग ऋ० ५।२।७ में है—शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्—हे अग्निदेव, तुमने हजारों यूपों से बँधे हुए शुनःशेप को मुक्त कर दिया।]

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ (ऋ० १।४।६)

और योद्धा लोग (अरिः) जो काम करने वाले हैं (कृष्टयः), हमें पूर्ण भाग्यवान् घोषित करें, हे प्राप्तिकर्ता देव ! हम इन्द्र की (दी हुई) शान्ति में बसे रहें। [अरिः कृष्टयः—आर्य जाति या योद्धा जातियां ! ऐसा अनुवाद भी हो सकता है।]

---

१. Aurobindo, *On the Veda*, p. 292-3. इसमें पूरे सूक्त का अनुवाद है तथा आरम्भ में इन्द्र की आध्यात्मिक व्याख्या भी है।

ऋग्वेद की विषय-वस्तु—संरचना—

इन विभिन्न व्याख्यापद्धतियों के संदर्भ में यह कहना बड़ा कठिन है कि ऋग्वेद में मुख्यतः कौन-सा विषय वर्णित है तथापि हम यह कह सकते हैं कि निष्कर्षतः इसमें विविध विषय आये हैं।[1] इन विविध विषयों का वर्णन हमारा प्रतिपाद्य विषय है किन्तु इसके पूर्व ऋग्वेद की संरचना का ज्ञान होना अनिवार्य है।

पतंजलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ऋग्वेद की २१ शाखाओं की चर्चा की है जिनमें चरणव्यूह नामक ग्रन्थ के अनुसार ५ मुख्य हैं—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन तथा माण्डूकायन। इनमें भी आजकल एकमात्र शाकलशाखा ही प्राप्त है। यही मुद्रित है। अन्य शाखाओं की विशेषताएँ तो यत्र-तत्र उल्लिखित मिलती हैं किन्तु उन शाखाओं की ऋग्वेद-संहिता कहीं भी प्राप्त नहीं। ऋग्वेद-संहिता (शाकल-शाखा) का विभाजन आठ अष्टकों या दस मण्डलों में किया गया है।

अष्टक-विभाजन—यह विभाजन पाठ करने की सुविधा के लिए किया गया था तथा यह कृत्रिम विभाजन है। सभी अष्टक प्रायः समान लम्बाई के हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। (प्रस्तुत संस्करण में ऋग्वेद का प्रथम अध्याय पूरा है)। ये अध्याय पुनः वर्गों में विभक्त हैं। इन वर्गों में ऋचाएँ होती हैं जिनकी संख्या औसत ५ है किन्तु एक से लेकर नौ ऋचाएँ तक भी एक वर्ग में पायी जाती हैं। निम्न तालिका से वर्गों और ऋचाओं का सम्बन्ध प्रकट होगा—

वर्गसंख्या	ऋचाएँ		पूर्णसंख्या
१	१	=	१
२	२	=	४
९७	३	=	२९१
१७४	४	=	६९६
१२०७	५	=	६०३५
३४६	६	=	२०७६
११९	७	=	८३३
५९	८	=	४७२
१	९	=	९
२००६			१०४१७

1. S. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I p. 68—These varying opinions need not be looked upon as antagonistic to one another, for they only point to the heterogeneous nature of the Ṛg-Veda Collection.

इस प्रकार ऋग्वेद में कुल २००६ वर्ग तथा १०४१७ ऋचाएँ हैं किन्तु शौनकाचार्य की अनुक्रमणी के अनुसार ऋचाओं की पूर्णसंख्या १०५८०$\frac{1}{4}$ है।[1]

मण्डल-विभाजन—इस विभाजन का ऐतिहासिक आधार है क्योंकि प्रथम तथा दशम मण्डलों को छोड़कर शेष मण्डलों में सभी मन्त्र किसी एक ही ऋषि तथा उसके परिवार से संबद्ध हैं। आधुनिक वेद-पण्डित ऋग्वेद का उद्धरण देने में इसी क्रम का अनुसरण करते हैं। ये मण्डल कई सूक्तों में विभक्त हैं। जिसकी संख्या विभिन्न मण्डलों में विभिन्न है। एक-एक सूक्त में कई ऋचाएँ होती हैं जितनी संख्या भी भिन्न-भिन्न है। निम्न तालिका में विभिन्न मण्डलों के ऋषि तथा सूक्त संख्या दी जाती है—

मण्डल	ऋषि	सूक्त संख्या
१	मधुच्छन्दा, दीर्घतमा, अङ्गिरा इत्यादि	१९१
२	गृत्समद + वंशज	४३
३	विश्वामित्र, उनके पुत्र, शिष्य	६२
४	वामदेव + वंशज	५८
५	अत्रि, शिष्य	८७
६	भरद्वाज, शिष्य	७५
७	वसिष्ठ + वंशज	१०४
८	कण्व + वंशज	९२ (+ ११ बालखिल्य)
९	पवमान अङ्गिरा	११४
१०	क्षुद्रसूक्तीय, महासूक्तीय ऋषि	१९१
		१०१७ + ११

नवम मण्डल के सभी सूक्त सोम की स्तुति में प्रयुक्त हैं। सामवेद के मन्त्र प्रायः इसी मण्डल से लिये गये हैं। प्रथम मण्डल के ऋषि 'शतर्चिनः' कहे गये हैं जिसका कारण है कि इस मण्डल के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा के नाम पर १०० से अधिक ऋचाएँ अतः छत्रिन्याय से सभी ऋषियों को वैसा कहा गया है। द्वितीय से लेकर अष्टम मण्डल तक को वंशमण्डल कहते हैं क्योंकि इनके मन्त्र एक-एक ऋषि या उनके परिवार द्वारा देखे गये हैं। नवम को सोम या पवमान-मण्डल भी कहते हैं। षड्गुरुशिष्य के अनुसार दशम मण्डल में नासदीय सूक्त (१०।१२९) के पूर्व के सूक्त 'महासूक्त' तथा बादवाले

---

१. ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्तितम् ॥ ४३ ॥

'क्षुद्रसूक्त' कहलाते हैं और इसी लिए उनके ऋषि भी इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं। दशम मण्डल की एक विशेषता है कि ऋचाएं जिन देवताओं को संबोधित हैं वे देवता उनके ऋषि भी हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने दशम मण्डल के मन्त्रों को अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना है[1] जिसके वे कई कारण देते हैं—(१) अन्तरङ्ग कारण—इस मण्डल में पिछले देवताओं की कल्पना धीरे-धीरे समाप्त होने लगी थी। उषा आदि कुछ देवता लुप्त हो गये, हां, इन्द्र और अग्नि जैसे अति लोकप्रिय देवता अदृश्य नहीं हुए। 'विश्वेदेवाः' (जिनके अन्दर देवताओं के समूह का अवकाश था) बहुत प्रधान हो गये। भावात्मक देवताओं जैसे मन्यु, श्रद्धा इत्यादि की कल्पना की गयी। पुनः कुछ नये विषय भी, जो अन्य मण्डलों में नहीं हैं, प्रविष्ट हुए जैसे—सृष्टिवाद, दार्शनिक तत्त्वचिन्तन, विवाह तथा मृत्यु के संस्कार, झाड़-फूँक इत्यादि जिनसे इस मण्डल की अर्वाचीन रचना सिद्ध होती है। (२) बहिरङ्ग कारण—भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी यह मण्डल ऋग्वेद तथा अन्य वेदों की भाषा के संक्रमण का द्योतक है। इस मण्डल में सन्धियां बढ़ गयी हैं, शब्दों में र के स्थान पर लकार का प्रयोग बढ़ा है—सरिर > सलिल, रघु > लघु। प्रथमा + द्वितीया के द्वि० व० का आकारान्त रूप समाप्ति पर है—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (ऋ० १।१६४।२०) तथा सूर्याचन्द्रमसौ धाता (१०।१९०।३) तुलनीय हैं। प्रथमा ब० व० का 'आसः' रूप प्रायः समाप्त है। क्रियार्था क्रिया के लिए से, सेन् इत्यादि के स्थान पर अधिकांश तुमुन् का ही प्रयोग होने लगा। शब्दों के प्रयोग में भी पार्थक्य स्पष्ट है—'सीम्' का प्रयोग प्राचीन मण्डलों में ५० बार है, दशम में केवल १ बार। संस्कृत में प्रयुक्त शब्द जैसे √लभ्, काल, लक्ष्मी, एवम् इत्यादि का प्रयोग केवल इसी मण्डल में है। इन आधारों पर यह अनुमान किया जाता है कि ऋग्वेद के अन्य मण्डलों के मन्त्रों की अपेक्षा दशम मण्डल के मन्त्र बाद में रचे गये। वेदों का संकलन करने वाले ने (चाहे वे वेदव्यास ही हों) इसीलिए इन्हें अन्त में स्थान दिया है।

दशम मण्डल भले ही अर्वाचीन सिद्ध किया जाये किन्तु सब प्रकार से ऋग्वेद का वही अन्तःसार है तथा आर्यों की मेधा की परिणति भी वहीं दिखलाई पड़ती है। ऋग्वेद की विषयवस्तु की विवेचना में उसका स्थान प्रासंगिक नहीं, आधिकारिक रूप से प्राप्त होता है।

---

१. द्रष्टव्य—A. A. Macdonell, A History of Sanskrit Literature (1962), p. 36. पं० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० १६२–१७९।

ऋग्वेद में हमें मुख्यतः तीन प्रकार के सूक्त मिलते हैं—धार्मिक, लौकिक तथा दार्शनिक। इन सूक्तों से तात्कालिक धर्म, समाज तथा दार्शनिक स्थिति का सम्यक् परिचय मिलता है।

(१) धार्मिक सूक्त—ऋग्वेद का विपुल भाग धार्मिक वातावरण प्रस्तुत करता है। इससे भिन्न वातावरण के दर्शन हमें केवल दशम मण्डल में ही हो सकते हैं। अधिकांश सूक्त विभिन्न वैदिक देवताओं को संबोधित हैं जिनमें उनके वीरकर्मों, माहात्म्य तथा दयालु-स्वभाव का वर्णन तो है ही, उनसे पशु, संतान, उन्नति, दीर्घायु तथा विजय प्रदान करने की प्रार्थना भी की गयी है। पुनः उनसे यज्ञ में आने की प्रार्थना भी की गयी है।[1] ये सूक्त तात्कालिक पुरोहितों के द्वारा सोमयाग में पढ़े जाने के लिए रचे गये थे क्योंकि पुनः पुनः हमें इनमें सोमरस की चर्चा मिलती है। वैदिक यज्ञ न तो अत्यन्त सरल थे और न ब्राह्मणों में प्रतिपादित यज्ञों की संसृष्टता ही इनमें थी। धार्मिक सूक्तों में यज्ञ का अनेक बार उल्लेख होता है जिससे आज के पाठक को एकरूपता का कदाचित् अनुभव हो। हम अनेक मन्त्रों का अर्थ पाते हैं—हे देव (इन्द्र, अग्नि, या कोई), आप इस प्रवर्तमान यज्ञ में आइये, सोम प्रस्तुत है, पी लीजिए। फिर भी इन सूक्तों में हृदय की सरलता सर्वत्र ध्वनित होती है। न तो कहीं भाषा की कठिनाई है और न भावों की गंभीरता। इन सूक्तों में सरलता होने पर भी कहीं-कहीं काव्य-सुषमा की झलक दिखलायी पड़ती है क्योंकि जिन देवताओं की इनमें स्तुति की गयी है, वे प्रायः सभी मानवीकृत हैं—उन्हें मनुष्य के समान मानकर, हाथ, पैर, रथ, मुकुट, शस्त्र, आदि की कल्पना उनके साथ करके उनकी प्रार्थना की गयी है। इन्द्र से कहा गया है कि हे सोमपायी इन्द्र ! अपने रथ में आप पुष्ट अङ्गों वाले जवान घोड़ों को जोत लें तथा हमारे द्वारा की गयी स्तुतियां सुनने के लिए चल पड़ें।[2] मानवीकरण के प्रश्न का पूरा विवेचन निरुक्त के सप्तम अध्याय में यास्क ने किया है। देवताओं की स्तुतियों में मानवीय सम्बन्धों का निर्देश भी उन्हें प्रसन्न करने के लिए किया गया है जैसे हे अग्नि, जैसे पुत्र के लिए पिता सुगम है वैसे ही आप हमारे लिए सुगम बनें (स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव १।१।९)।

---

१. ऋग्वेद के प्रथमाध्याय वाले प्रस्तुत संस्करण की विषय-वस्तु संक्षेप में यही है।

२. युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर॥ (ऋ० १।१०।३)

यज्ञ का वातावरण विशेषतः प्रथम मण्डल में अत्यधिक है। अग्नि की स्तुति का अर्थ ही है यज्ञ के विभिन्न कार्यों का वर्णन। अग्नि को ऋत्विज, होता, पुरोहित कहना इसी तथ्य का पोषक है। १३ वें सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में प्रत्यक्षतः या परोक्षतः यज्ञ की चर्चा है कि हे अग्निदेव! देवताओं को यज्ञ में ले आएँ, सुखद रथ पर बैठाकर उन्हें लाना है, मैं सभी देवताओं को बुलाता हूँ, हे ऋत्विजो! घी से सना हुआ कुश लगातार बिछा दो इत्यादि। इस प्रकार के आवाहन-मन्त्रों में सीधे-सादे शब्दों में, बिना काव्य-कौशल का प्रयोग किये, ऋषियों की श्रद्धा अभिव्यक्त हुई है। अपनी स्तुतियों को ऋषि बहुत प्रशस्त तथा समुचित मानते हैं। कहीं-कहीं इन स्तुतियों की तुलना आभूषणों से की गयी है, अपने प्रेमी के पास जानेवाली प्रेयसी के समान स्तुति भी अलंकृत हैं। ये ऋषि अपनी शक्ति तथा ज्ञान के अनुसार देवताओं की स्तुतियां कर रहे हैं, ऐसी स्वीकारोक्ति कई स्थानों पर है। देवताओं के भेद से स्तुतियों में भी भेद होता है। एक ऋषि कहते हैं कि विभिन्न फल देनेवाले दूसरे देवताओं के लिए जो स्तुति उत्कृष्ट (सर्वोत्तम) मानी जाती है उसे मैं इन्द्र के लिए सामान्यतया अच्छी स्तुति नहीं मानता।

सामान्यरूप से धार्मिक सूक्तों में विभिन्न प्रकार के देवताओं के विशिष्ट कार्यों तथा उनसे संबद्ध आख्यानों, पुराकथाओं के भी वर्णन मिलते हैं। इस विषय का अध्ययन बड़ा ही रोचक होता है कि विभिन्न प्राकृतिक उपादानों को किस प्रकार देवताओं में अन्तर्भूत किया गया है। देवताओं के विषय में हम पृथक् चर्चा करेंगे। इनमें अग्नि तथा इन्द्र सबसे प्रधान देवता हैं। सविता, पूषा, मित्र, वरुण, विष्णु, रुद्र, मरुत, पर्जन्य आदि का उतना प्रमुख स्थान नहीं है।

(२) लौकिक सूक्त—ऋग्वेद का एक बड़ा भाग धार्मिक वातावरण से ओत-प्रोत होने पर भी इसमें लौकिक व्यवहार की प्रचुर सामग्री मिल जाती है जो सामान्यतया अथर्ववेद की विषयवस्तु के रूप में सुप्रसिद्ध है। किन्तु ऋग्वेद में लौकिक व्यवहार के प्राचीनतर रूप मिलते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है धर्मेतर विषयों के लिए ऋग्वेद का दशम मण्डल ही सुरक्षित है। ऐसे विषयों का क्षेत्र औषधि-विज्ञान, लोकव्यवहार, विवाह, राजतंत्र, दान की महिमा इत्यादि है। राजयक्ष्मा रोग के निवारण के उपायों का निरूपण करते हुए शरीर के अवयवों का वर्णन भी किया गया है (१०।१६१, १६३)। गर्भावस्था में होने वाले विघ्नों के निवारणार्थ भी उपाय दिये गये हैं (१०।१६२)। कोई औषधि सपत्नी-जन्य कष्ट का निवारण करती है[1],

---

१. इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ (ऋ० १०।१४५)

तो कोई सूक्त दुःस्वप्न दूर करने का उपाय बतलाता है (१०।१६४)। एक पूरा सूक्त मन के आवर्तन से सम्बद्ध है जिसमें किसी के प्रवासी मन को लौटाने की प्रार्थना है। उसका मन चाहे कहीं भी हो, यम्, वैवस्वत, भूमि या सागर के पास क्यों न चला गया हो—प्रार्थना से वह अवश्य आवर्तित हो जायगा (१०।५८)। एक दूसरे सूक्त में (१०।९७) आथर्वण भिषक् ऋषि ओषधियों की प्रशंसा में उनकी रोग-निरोधक क्षमता का वर्णन करते हैं। ओषधियों के विभिन्न रूपों का वर्णन इस मंत्र में बिल्कुल स्फुट है—

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ (१०।९७।१५)

अर्थात् जो औषधियाँ फलवाली हैं, जिनमें फूल नहीं लगते, जिनमें फूल होते हैं या जिनमें फूल नहीं होते—ये सभी बृहस्पति से उत्पन्न हैं, हमें रोगों से बचायें।

इसी मंडल में दो सूक्त (१७३–४) राजनीतिशास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें राजा की प्रशंसा ही नहीं, समस्त प्रजा के द्वारा राजा के वरण का भी उल्लेख है—

अभि त्वा देवः सविताऽभि सोमो अवीवृतत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ (ऋ० १०।१७४।३)

आप चूँकि सभी जीवों को अभिवृत (चुने गये) हैं अतः आपको पहले सविता देवता तथा सोम देवता ने चुना था। किन्तु इससे गणतंत्र का संकेत नहीं लेना चाहिए क्योंकि यहाँ औपचारिकता-मात्र है।

इस लौकिक प्रसंग में ऋग्वेद के संवादसूक्तों की भी चर्चा अनिवार्य है जिनकी संख्या प्रायः २० है। इनमें कथनोपकथन का प्राधान्य है इसीलिए इन्हें संवादसूक्त की संज्ञा दी गयी है। इनके स्वरूप के विषय में अनेक मत हैं। ओल्डनवर्ग इन्हें गद्य-पद्यात्मक प्राचीन आख्यानों का अवशिष्ट रूप मानते हुए कहते हैं कि गद्यभाग कथात्मक होने के कारण शनैः शनैः लुप्त हो गया किन्तु पद्यभाग रोचक और रमणीय होने से बचा रह गया। दूसरे लोग इन्हें वास्तविक नाटकों का अवशिष्ट अंश मानते हैं। विन्तरनित्स के अनुसार ये प्राचीन लोकगीत काव्य (Ballad) हैं जिनमें कथा और रूपक का सम्मिश्रण है। इन्हीं से कालान्तर में महाकाव्य तथा नाटक का उदय हुआ। पुरूरवा-उर्वशी (१०।८५) संवाद में उर्वशी नामक एक अप्सरा अपने भूलोकस्थ प्रेमी पुरूरवा से वार्तालाप करती है। उर्वशी पुरूरवा को सदा के लिए छोड़कर जा रही है, वह उससे लौटने का आग्रह करता है किन्तु उर्वशी उसकी प्रार्थना ठुकराकर चली ही जाती है। अमरता का वरदान वह अवश्य दे जाती

है। इस पार्थिव प्रेम का एक दूसरा रूप यम-यमी-संवाद (१०।१०) में मिलता है। दोनों भाई-बहन हैं। यमी अपने भाई को प्रलोभनों से आकृष्ट करना चाहती है किन्तु यम अनेक युक्तियों से अपने चरित्र की रक्षा कर इस अनैतिक संबन्ध से बचता है। यम का कथन है—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ (१०।१०।१०)

अर्थात् निश्चय ही वे आगामी युग आयेंगे जब सहोदर भी असहोदर—जैसे [वैवाहिक संबन्ध के लिए उपयुक्त] होंगे। हे सुन्दरि, अपनी बाहें अपने योग्य पति के गले में डालो तथा मुझे छोड़कर किसी दूसरे को पति बनाओ (ऋ० १०।१०।१०)। सरमा-पणि-संवाद (१०।१२०) में कथा है कि पणि जाति के लोगों ने आर्यों की गायें चुराकर कहीं अंधेरी गुफा में छिपा दीं। इन्द्र ने अपनी शुनी (कुत्ती) सरमा को पणियों के निकट उन्हें समझाने के लिए भेजा। सरमा आर्यों के पराक्रम का वर्णन करके उन्हें धमकी देती है कि गायें लौटा दें। इनके अतिरिक्त इन्द्र-इन्द्राणी (१०।८४) के संवाद में इन्द्राणी के कोपभाजन बने एक वानर को लेकर दोनों में विवाद होता है; विश्वामित्र-नदी (३।३३) के संवाद में विश्वामित्र के द्वारा नदियों को अल्प जलवाली (थाह) बनने की प्रार्थना तथा उनका प्रत्युत्तर है। देवताओं के बीच होने वाले संवाद भी लौकिक विषयों की झाँकी देते हैं जैसे इन्द्र और वरुण के बीच उत्कृष्टता का विवाद (४।४२), वरुण और अग्नि के बीच अग्नि के त्यागपत्र को लेकर वरुण के समझाने का विषय है। (१०।५१)। इसके बादवाले सूक्त (१०।५२) में भी देवताओं और अग्नि के बीच उसी विषय पर विवाद होता है। अन्ततः अग्नि अपना त्यागपत्र लौटा लेते हैं तथा यज्ञ में अपने पद पर, क्लान्त होने के बाद भी, बने रहते हैं। इस प्रकार इन संवाद-सूक्तों में हमें तात्कालिक लोकव्यवहार के दर्शन होते हैं।

मण्डूक-सूक्त के रूप में (७।१०३) हमें एक विचित्र वर्णन मिलता है। कुछ लोगों के अनुसार इसमें तात्कालिक ब्राह्मणों पर व्यंग्य है किन्तु मैकडोनल कहते हैं कि इसका उद्देश्य वर्षा का आगमन कराना है तथा उस रूप में यह सूक्त मंत्र का काम करता है। कुछ भी हो, इसमें वर्षाकाल के आरंभ में होने वाले मण्डूकों और उनके कोलाहल का बहुत ही स्वाभाविक चित्रण है। एक मेढक दूसरे की आवाज दुहराता है जैसे विद्यार्थी गुरु के शब्दों को दुहराता है। यह सब कुछ साथ ही साथ उच्चरित होने वाले

पाठ के समान हो रहा है; जिसे ये मेढक जल के ऊपर दुहरा रहे हैं ।[1] कोई मेढक गाय के समान बोलता है तो कोई बकरे के समान; कोई रंग-बिरंग है तो कोई हरे रंग का—एक ही नाम धारण करके इनके ये भिन्न रंग हैं, ये कई प्रकार से वाणी को अलंकृत करते हैं । इनमें कोई तो सोम सवन करने वाले ब्राह्मण हैं जो अपनी वार्षिक प्रार्थना में ऊंची आवाज कर रहे हैं; उधर गर्मी से बेहाल, पसीने से लथपथ अध्वर्यु महाराज आ रहे हैं । कोई भी छिपे नहीं हैं, सब के सब निकल ही रहे हैं ।[2]

ऋग्वेद में विद्यमान लौकिक सूक्तों में भी, भारतवर्ष के अन्य सामाजिक व्यवहारों के समान, धर्म तथा पुराकथाओं की छाप स्पष्ट दिखलायी पड़ती है । इनमें सर्वाधिक महत्व ४७ ऋचाओं वाले विवाह-सूक्त (१०।८५) का है । इसमें विवाह-संस्कार-संबन्धी अनेक ऋचाओं का असम्बद्ध संकलन होने से काव्यान्विति का अभाव अवश्य खटकता है । सोम तथा सूर्या के परस्पर विवाह का बड़ा ही रोचक वर्णन हुआ है जिसमें अश्विनों ने सूर्या के पिता को इस विवाह के लिए समझाया-बुझाया था । विवाह के बाद सूर्या की विदाई शाल्मली की लकड़ी से बने दो पहियोंवाले रथ पर होती है जिसे दो श्वेत वृष खींचते हैं । विदाई वाली ऋचाओं के बाद आशीर्वाद की ऋचायें हैं, उसके अनन्तर कन्या के आभूषण-सम्बन्धी तथा विवाह संस्कार में पढ़ी जानेवाली ऋचायें हैं । पति कहता है कि मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्य के लाभ के लिए ग्रहण करता हूँ कि तुम मेरे साथ वृद्धावस्था प्राप्त कर सको । भग, अर्यमा, सविता, पुरंधि इन सबों ने तुम्हें मेरी गृहस्थी में हाथ बँटाने के लिए नियुक्त किया है ।[3] इस सूक्त का सौन्दर्य अवर्णनीय है ।

दशम मण्डल में पाँच सूक्त (१०।१४–१८) मृत्यु-संस्कार से सम्बद्ध हैं । इनमें चार सूक्तों की विषयवस्तु भविष्यत्-जीवन से सम्बद्ध देवताओं की प्रार्थना ही है; इन देवताओं में यम, पितृगण (पितरः) अग्नि, पूषा तथा

---

१. यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥
(७।१०३।५)

२. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥
(७।१०३।८)

३. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥
(१०।८५।३६)

सरस्वती हैं। अतः न्यूनाधिक रूप से धार्मिक सामग्री से ये सूक्त संयुष्ट हैं। वास्तविक अर्थ में अन्तिम सूक्त (१८ वें) को विशुद्ध लौकिक सामग्री देने वाला कह सकते हैं। इसमें तात्कालिक मृत्यु-संस्कार की रूपरेखा गम्भीर भावों से अनुप्राणित मनोरम भाषा में प्रस्तुत की गयी है। इससे पता लगता है कि उस समय दाह के साथ ही शव को भूमि में दबाने की प्रथा भी थी। धीरे-धीरे दाह-संस्कार की ही एकमात्र मान्यता रह गयी। इसी के कारण आख्यानों में भी आगामी जीवन की कल्पना पर प्रभाव पड़ा जैसे अग्नि के द्वारा देवलोक तथा पितृलोक में शव को पहुंचाना। इस सूक्त के ८ वें मंत्र में मृतक की विधवा को सम्बोधित किया गया है कि तुम अब नये जीवन में प्रवेश करो, इस नये पति (देवर) ने हाथ पकड़ कर तुम्हें अपनी पत्नी बना लिया। विधवा के द्वारा देवर से विवाह किये जाने की बहुत-सी उपमायें ऋग्वेद में मिलती हैं[1] और इसी प्रथा से प्रभावित होकर यास्क ने भी 'देवर' के निर्वचन में 'द्वितीयः वरः' कहा है (नि० ३।१५)। सूक्त के अन्त में संसार की असारता का उपदेश मिलता है कि जैसे दिन के बाद दूसरा दिन, ऋतु के बाद दूसरी ऋतु होती है, पूर्व के बाद उत्तर अवश्य होता है—हे विधाता ! आप भी सबों के जीवन का यही क्रम रखते हैं कि एक के बाद दूसरे की मृत्यु होती है।

दानस्तुति के नाम से प्रसिद्ध कुछ सूक्तों तथा ऋचाओं में दान की महिमा तथा राजाओं की प्रशंसा गायी गयी है। इतिहास के विद्वान् कहते हैं कि किसी राजा के दान से संतृप्त पुरोहितों द्वारा ये स्तुतियाँ हुई हैं। मीमांसक इन्हें केवल प्ररोचना (आकर्षण के साधन, विज्ञापनमात्र) मानते हैं। दशम मंडल में एक प्रसिद्ध सूक्त (१०।११७) दान की महिमा का अतिभव्य निरूपण करता है। अनुवर्ती नीतिशास्त्र से तुलना के लिए ये ऋचायें बहुत ही उपयोगी हैं—

(१) न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥ (१)

देवताओं ने मृत्यु के कारण के रूप में एकमात्र क्षुधा ही नहीं दी है, खाये हुए आदमी के पास भी विभिन्न रूप में (कारणों से) मृत्यु पहुंच सकती है। दान करने वाले का धन कभी नष्ट नहीं होता और उधर कृपण (अदाता) पर कोई दया करनेवाला भी नहीं मिलता।

---

१. कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
(ऋ० १०।४०।२)

(२) न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।

अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ (४)

वह मित्र नहीं है जो अपने मित्र को, साथ उत्पन्न होने वाले को तथा अनुचरों को अपना भोजन नहीं बाँटता । इन्हें उचित है कि ऐसे मित्र के यहाँ से चल दें, क्योंकि वह उनका घर तो नहीं है और किसी दूसरे दाता के यहाँ पहुँचे जो भले ही अज्ञात क्यों न हो (या देनेवाले स्वामी के घर में पहुंचे) ।

(३) मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ (६)

ज्ञानशून्य (दान न करनेवाला) व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न-ग्रहण करता है, मैं सच कहता हूँ वह उसकी मृत्यु (का आदेश) ही है—न तो वह अर्यमादि देवताओं (कल्याण करने वालों) को पुष्ट करता है और न मित्र (अतिथि आदि) को ही कुछ देता है । अकेला खानेवाला व्यक्ति ही अकेला पापी होता है ।

इनके अतिरिक्त भी कुछ उपदेशात्मक सूक्त दशम मण्डल में हैं जैसे अक्षसूक्त (१०।३४) जिसमें हारे हुए जुआड़ी के पश्चात्ताप का अत्यंत कारुणिक चित्रण है । उसका कोई मित्र साथ नहीं देता । उसकी स्त्री भी उसे घृणापूर्वक घर से बाहर निकाल देती है । वह रोता है—

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः ।

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥ (१०।३४।४)

कि जिसके धन पर विजयी पासा की आंखें गड़ी हुई हैं, हारे हुए उस व्यक्ति की पत्नी का आलिंगन दूसरे लोग करेंगे । पिता, माता और भाई उसके विषय में कहते हैं—'हम नहीं जानते, इसे बाँधकर लेते जाओ ।' अन्त में द्यूत के परित्याग तथा कृषि में लगने के लिए सविता का आशीर्वाद है ।

वाणी तथा विद्या की स्तुति में प्रयुक्त सूक्त (१०।७१) अपनी विषय-वस्तु के लिए अत्यधिक विख्यात है । इसकी ऋचाओं के उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में आये हैं । जैसे सत्तू को चलनी से स्वच्छ करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् अपनी वाणी को मन से पवित्र करते हैं । तभी तो मित्रों को मैत्री की स्पष्ट प्रतीति होती है और उनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी रहती है ।[1] वाणी की शिव-भावना का निदर्शन अन्यत्र दुर्लभ है । इसी प्रकार अर्थज्ञान के महत्त्व का प्रदर्शन किया गया है कि कुछ लोग वाणी (शब्दों)

---

१. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥
(ऋ० १०।७१।२)

को देख सुनकर भी वास्तव में नहीं देखते-सुनते (क्योंकि उन्हें अर्थ समझ में नहीं आता)। वही वाणी दूसरे (अर्थज्ञ) के समक्ष अपना पूरा रूप खोल देती है जैसे कामपूर्ण स्त्री पति के समक्ष अपने को खोल दे (१०।७१।४)। आँख-कान की दृष्टि से समान होने पर भी मित्रगण मानसिक शक्ति में समान नहीं होते। कुछ लोग मुंह भर या कांख भर पानी वाले सरोवर के समान (अल्प ज्ञान वाले) हैं। दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे सरोवर के समान हैं जहां जी भर कर स्नान हो सके (१०।७१।७)। जब सभी ब्राह्मण मित्र अपने हृदय से निश्चित किये गये (वेदार्थ-निरूपण से सम्बद्ध) मानसिक वेगों के विषय में साथ चलते हैं तब उस समुदाय में से कुछ को अल्पज्ञान के कारण ज्ञान के विषय में पीछे छोड़ देते हैं किन्तु दूसरे तर्कप्रवण ब्राह्मण लोग अर्थ-मीमांसा में स्वच्छन्द विचरण करते हैं (१०।७१।८)।

(३) दार्शनिक सूक्त—सामान्यतया दर्शन के अन्तर्गत धर्म तथा धार्मिक आख्यान भी आते हैं क्योंकि ये दर्शन के प्रथम चरण हैं तथा इनमें ही चरम सत्य के प्रश्नों का समाधान प्राप्त होता है।[1] किन्तु वैदिक पण्डितों ने दार्शनिक सूक्त का अर्थ उतना व्यापक नहीं लिया है। इसके अन्तर्गत वे चरम सत्य के प्रश्नों के समाधान में जो अन्तिम निष्कर्ष हैं, वही ग्राह्य समझते हैं। अतएव दार्शनिक उद्भावनाओं का यत्र-तत्र अभिव्यंजन होने पर भी[2] दशम मंडल में, जहां ऐसी भावनाओं का अपेक्षाकृत सुसंबद्ध प्रकाशन हुआ है, हमें पूरे-के-पूरे सूक्त तात्कालिक दार्शनिक गतिविधि की अभिव्यक्ति करते हुए प्राप्त होते हैं जिन्हें दार्शनिक-सूक्त कह सकते हैं। इनमें मुख्य हैं—नासदीय-सूक्त (१०।१२९), पुरुषसूक्त (१०।९०), हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) तथा वाक्सूक्त (१०।१२५)।

नासदीयसूक्त में सृष्टि के आरम्भ का गम्भीर वर्णन है। 'उस समय न सत् था न असत्, न अन्तरिक्ष था और न उसके बाद का स्वर्गलोक ही था। सर्वत्र भ्रमण करनेवाला पदार्थ था तो केवल गहन जल ही था। न तो उस समय मृत्यु थी, न अमरता। रात और दिन होने के कोई निश्चित चिह्न भी नहीं थे। उस समय हवा के अभाव में साँस लेने वाला एक ही तत्त्व

---

१. द्रष्टव्य—राधाकृष्णन्—Indian Philosophy, Vol. I, p. 71—The impulse of philosophy finds its first expression in mythology and religion. In them we find the answers to the questions of ultimate existence, believed by the people in general.

२. जैसे—ऋ० १।२०।१०; १।८९।१०; १।१६४।४६ इत्यादि।

था जो अपनी शक्ति के बल पर था; और तो कहीं कुछ था ही नहीं।[1] अन्धकार से ढंके अंधकार में समूचा संसार अथाह जल से भरा था। शून्य से भरे हुए शून्य की इस स्थिति में तपस् (गर्मी) की शक्ति से बस वही एक तत्त्व उत्पन्न हुआ। उस तत्त्व से सर्वप्रथम काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ जो मन (चेतना) का प्रथम बीज है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
(ऋ० १०।१२९।४ पू०)।

तभी तो आपस में मिलकर विचार करते हुए ऋषियों ने अपने-अपने हृदय में असत् में सत् के बन्धन का पता लगा ही लिया। इस प्रकार इस सूक्त के अन्य मंत्रों में भी सृष्टि के आरंभ का सुविशद निरूपण है। यही सूक्त भारतीय दर्शन में विभिन्न अद्वैत दर्शनों का उपजीव्य है।

पुरुष-सूक्त में सर्वेश्वरवाद (Pantheism) का स्पष्ट निदर्शन है क्योंकि कहा गया है—पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् अर्थात् सभी अतीत और अनागत पदार्थ पुरुषरूप ही हैं। इतना ही नहीं, वह पुरुष समस्त संसार को परिवृत करने के बाद भी कुछ अंश से बचा ही रह जाता है (स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्)। पुरुष की कल्पना उस प्राकृत (Primordial) पदार्थ के रूप में की गई है जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न है। एक प्रकार से वही संसार का उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी है। एक रूपक के द्वारा यह बतलाया गया है कि इस सृष्टि-यज्ञ में उस पुरुष को हव्य बनाया गया, विभिन्न ऋतुएँ उस यज्ञ की सामग्री बनीं।[2] यज्ञ के परिणामस्वरूप विभिन्न जीव-जन्तु बने जैसे—गायें, घोड़े, भेड़ें इत्यादि। सभी वेदों तथा चतुर्वर्ण की सृष्टि भी उसी यज्ञ का फल थी। आकाश में वर्तमान नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु इत्यादि भी साथ ही साथ उत्पन्न हुए। इस प्रकार इस सूक्त में यज्ञ का रूपक देकर समस्त संसार की उत्पत्ति समझायी गयी है।

उपर्युक्त दोनों सूक्त जहाँ सृष्टि का विवरण देते हैं वहीं हिरण्यगर्भ-सूक्त संसार के नियामक ईश्वर का हिरण्यगर्भ के रूप में वर्णन करता है। सौन्दर्य

---

१. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
(ऋ० १०।१२९।२)

२. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ (१०।९०।६)

की दृष्टि से, चाहे वह भावात्मक हो या कलात्मक, इस सूक्त की अप्रतिमता अक्षुण्ण है। हिरण्यगर्भ परमेश्वर को समस्त सृष्टि के विभिन्न पदार्थों का नियमन करने वाला बतलाते हुए इसमें जिज्ञासा की गयी है कि हम किस देवता की अर्चना अपने हवि से करें—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। (१)

कि सबसे पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही वह समस्त संसार का एकमात्र स्वामी हो गया, जिसने पृथ्वी तथा इस स्वर्ग को भी धारण किया है—हम किस देवता की अर्चना अपने हवि से करें ? सर्वत्र, सभी देवताओं का नियामक (देवेष्वधि देवः) वही ईश्वर तो है। समस्त प्राणि जगत् तथा क्रियाशील संसार का एकमात्र राजा वही तो है जो द्विपदों-चतुष्पदों पर शासन करता है—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। (३)

स्वर्ग, पृथिवी, जल आदि भौतिक पदार्थों का उत्पादक तथा नियन्ता वही है। सभी पर्वत, नदियाँ, समुद्र, दिशाएँ उसी के आदेश पर चलती हैं। अन्त में उस तत्त्व को प्रजापति के रूप में संबोधित करके प्रार्थना की गयी है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ (१०)

हे प्रजापते, आपसे बढ़कर दूसरा कोई भी इन समस्त पदार्थों के ऊपर आधिपत्य रखनेवाला नहीं है। हम जिस कामना से आपका आह्वान कर रहे हैं, वह पूरी हो और हम विभिन्न प्रकार के धनों के स्वामी बन जायें।

वाक्सूक्त (१०।१२५) भी इसी प्रकार के तथ्यों का प्रतिपादन करने-वाला बड़ा ऊर्जस्वल सूक्त है। यह उस प्रकार की ऋचाओं से परिपूर्ण है जिन्हें यास्क ने आध्यात्मिक (उत्तमपुरुष से युक्त) कहा है (निरुक्त ७।१-२)। यहाँ वाक्-देवी स्वयं अपने रूप का माहात्म्य दिखाती हुई अपने को सर्वोपरि बतलाती हैं[1]—'मैं रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ चलती हूँ; मित्र और वरुण दोनों को धारण करने वाली मैं ही हूँ, मैं ही इन्द्र और अग्नि, दोनों अश्विनों को भी धारण करती हूँ।' विभिन्न स्थानों तथा रूपों में रहने वाली यह देवी सभी प्राणियों को भोजन देती है। चाहे कोई उन्हें न भी जाने

---

१. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ (१०।१२५।१)

किन्तु वे सब उन्हीं के अधिकार में रहते हैं। अपनी शक्ति से समस्त संसार में व्याप्त रहने वाली यह देवी कहती है—

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव। (१०।१२५।८)

मैं ही समस्त ससार को उत्पन्न करती हुई वायु के समान बहती हूँ। स्वर्ग और इस पृथ्वी के भी ऊपर मैं अपनी महिमा से इतनी बड़ी बनी हूँ।

इन दार्शनिक सूक्तों से ऋग्वेदीय दर्शन की झाँकी मिलती है। विभिन्न देवताओं की उपासना के सम्यक् रूप जहां एक ओर दिखलाई पड़ते हैं वहीं दूसरी ओर हम एकतत्त्ववाद (Monism) की ओर भी प्रवृत्ति पाते हैं—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अर्थात् वह एक ही सत् है जिसे विभिन्न देवताओं के रूप में अभिहित किया जाता है। यहाँ 'सत्' शब्द ऋग्वेददर्शन को एकदेववाद से ऊपर उठाकर एकतत्त्ववाद तक पहुँचा देता है। यह 'सत्' लिङ्ग-भेद (स्त्री-पुरुष) के ऊपर है, मानवीकरण की सीमाएं भी वहां तक नहीं पहुँच सकती हैं; इन सभी देवताओं के सम्बोधनों में उसी चरम सत् के विविध रूप देखने का प्रयास है। धार्मिक एकदेववाद (monotheism) हमें एक सीमा के अन्दर ही एक ईश्वर मानने को प्रवृत्त कर सकता है जिस पर मनुष्यकृत मर्यादाओं का आरोप होना अनिवार्य है क्योंकि कोई कितना सावधान व्यक्ति क्यों न हो, वह अपने ढङ्ग से ही उस एक देवतत्त्व का निरूपण करेगा और यहीं पर ससीम ईश्वर की कल्पना होती है। ऋग्वेद के उपर्युक्त दार्शनिक सूक्तों में उसे हिरण्यगर्भ, पुरुष या वाक् कहा गया है। किन्तु ऋषियों का दर्शन यहीं नहीं रुका रहता—व्यक्तित्व के आरोप वाले इस एकदेवात्मक तत्त्व के ऊपर उस अनिर्वाच्य तत्त्व का संकेत है जिसे 'सत्' कहा गया है। उसे ही नासदीय-सूक्त में 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' के द्वारा 'एकम्' कहा गया है। इस ब्रह्मरूप सत् का संकेत ऋग्वेद की दार्शनिक उपलब्धि को उस चरम स्थान पर पहुँचा देता है जो किसी भी दर्शन के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है।

किन्तु इस परम सत्य के रूप में वर्तमान एकतत्त्व की प्राप्ति बिना इसके निम्नतर सोपान (व्यक्तिगत ईश्वर) पर पहुँचे नहीं हो सकती। इसीलिए विभिन्न ऋषि सभी देवों पर शासन करनेवाले एकात्मक देव की स्तुति प्रस्तुत करते हैं—सबों की अपनी दृष्टि है, अपने अभिधान हैं, सबों ने अपने ढंग से उसका निरूपण किया है। देवताओं, पार्थिव पदार्थों तथा सभी शक्तियों का वह नियामक है—यह सबों का निष्कर्ष है। किसी पदार्थ का नियमन अथवा

उत्पादन, भले ही जगत् का कर्ता न हो, उस परम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से परम तत्त्व को ससीम बनाना ही है।

इस एकदेववाद तक भी सब की पहुंच नहीं है, यह तो स्वार्थहीन व्यक्ति की प्रार्थना का विषय हो सकता है। सामान्य जन तो इससे भी निम्न स्तर के होते हैं जो धन, जन, विजय, शक्ति इत्यादि की कामना तक अपनी श्रद्धा को सीमित रखते हैं। इसके परिणामस्वरूप कामना के अनुसार विभिन्न प्राकृतिक उपादानों की उपासना दिखलाई पड़ती है। ऋग्वेद के सूक्तों में जो दार्शनिक विकास के चिह्न हैं उनमें हमें प्राकृतिक देवता, मानवाकार देवता दिखलाई अवश्य पड़ते हैं किन्तु वे जिज्ञासु तथा सदा सत्य के मार्ग पर प्रवृत्त होनेवाले मानव हृदय की भावनाओं को तृप्त नहीं कर पाते। इसीलिए ऋग्वेद के सूक्तों में निम्नतम दार्शनिक रूप (देवताओं की पूजा) से लेकर उच्चतम दार्शनिक चिन्तन की क्रमिक उपलब्धि होती है। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने[1] ऋग्वेद के सूक्तों में विद्यमान धार्मिक विचारों के विकास के निम्नलिखित चरण माने हैं—

(१) द्यौः—देवता के प्रतिनिधित्व में प्रथम प्रकृति-देवताओं की पूजा।
(२) वरुण के अधीन नैतिक आदर्शों की सुरक्षा।
(३) विजय और आधिपत्य के युग में इन्द्र की पूजा।
(४) एकदेववादियों का देवता प्रजापति।
(५) ब्रह्म के रूप में उक्त चारों अवस्थाओं की परिणति।

ऋग्वेद के सूक्तों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इतनी अवस्थाओं के द्योतक सूक्त क्रमशः लिखे गये होंगे यद्यपि सूक्तों में इन अवस्थाओं का सम्मिश्रण कर दिया गया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि संहिता के रूप में ऋचाओं का जब संकलन हो रहा था उसके पूर्व ही चिन्तन की पाँचो अवस्थाएँ पूरी हो चुकी थीं।

संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करनेवाले सूक्तों के परिदर्शन से यह पता लगता है कि आर्य लोग दर्शन की इस समस्या से अपरिचित नहीं थे। इसके समाधान की भी विभिन्न अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। यूनानी विचारकों के समान ऋग्वेद में भी जल, वायु, तेज इत्यादि भौतिक पदार्थों की मूल तत्त्व के रूप में स्वीकृति देखी जा सकती है। कहीं-कहीं संसार का मूल पदार्थ 'असत्' कहा गया है जिससे अदिति (अनन्त, असीम) का तादात्म्य है। सत् पदार्थ को दिति कहते हैं जो प्रतिबद्ध होता है। इस अदिति या असत् से संसार की समस्त शक्तियां निकलीं जिसका उल्लेख इस मंत्र में है—

---

1. *Indian Philosophy*, Vol. I, p. 98.

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
(ऋ० १।८९।१०)

बहुतत्त्ववाद की अवस्था में संसार की उत्पत्ति अनेक देवताओं के प्रयास से कही गयी है जैसे—वरुण, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्मा इत्यादि (ऋ० ७।८६, ३।३२)। यह प्रायः कहा गया है कि जैसे स्थपति गृह-निर्माण करता है वैसे ही ये देवता जगत् की सृष्टि करते हैं। फिर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि इसके लिए वृक्ष या लकड़ी कहां से आयी (ऋ० १०।३१।७, १०।८१।४)? बाद की अवस्थाओं में ब्रह्म को ही वह वृक्ष बतलाया गया है जिससे संसार-रूप भवन बना। नासदीय-सूक्त इस अवस्था-क्रम की परिणति का द्योतक है। सत् या असत् का पहले तो प्रश्न ही नहीं था—सब कुछ अव्यक्त था, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों, काल, दिक्, जीवन, मृत्यु आदि की सीमाओं से वह बहुत ही ऊपर था। यह तो काम था जिससे संसारोत्पत्ति का कार्यक्रम चल पड़ा।

ऋग्वेदीय दर्शन में कहीं भी संसार को असत्य नहीं कहा गया है। संसार कोई उद्देश्यहीन छाया-रूप नहीं है, प्रत्युत ईश्वर के द्वारा निर्मित एक सत्य पदार्थ है। जहां कहीं 'माया' शब्द का उल्लेख मिलता है वहाँ वह शक्ति या ज्ञान के अर्थ में है जैसे—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (६।४७।१८) अर्थात् इन्द्र अपनी शक्तियों से शीघ्र अनेक रूप धारण कर लेते हैं। फिर भी कहीं-कहीं छल-कपट के अर्थ में यह शब्द आया है जैसे—मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः (हे इन्द्र, अपनी शक्तियों के द्वारा आपने छल करने वाले शोषण के दैत्य का संहार किया है)।

पुरुष-सूक्त में हमें सृष्टि की उत्पत्ति के निमित्तकारण के रूप में देवगण तथा उपादानकारण के रूप में पुरुष का विराट् शरीर मिलता है। यहाँ सर्वोच्च सत्ता ही सक्रिय पुरुष के रूप में परिणत हो जाती है क्योंकि पुरुष से विराट् और विराट् से पुरुष की उत्पत्ति[1] की चर्चा इसी तथ्य की ओर संकेत करती है।

धर्म तथा आचार-दर्शन—

संसार के नैसर्गिक दृश्यों पर आकृष्ट होकर ऋग्वेदकालिक आर्यपुरोहितों ने उन्हें विभिन्न देवताओं का रूप दिया तथा चेतनता के सर्वश्रेष्ठ रूप मानव के आधार पर उनकी कल्पना की। फलतः देवताओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ती गयी और उनमें मानव-गुणों के साथ दोष भी आरोपित हुए।

१. तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः (ऋ० १०।९०।५)।

हाथ, पैर आदि शारीरिक अवयवों के साथ उनमें युद्धलिप्सा, आनन्द, घृणा, क्रोध आदि के भाव भी कल्पित किये गये। देवताओं के मानवीकरण में फिर भी सीमायें हैं क्योंकि इन देवताओं को हम पुनः अपने प्राकृतिक परिवेश में प्रत्यावर्तित होते देखते हैं। उदाहरण के लिए, जल तथा मेघ से उत्पन्न इन्द्र मेघ-निर्घोष के साथ स्वर्ग से नीचे की ओर आक्रमण करते हैं। अन्य विषयों में—खाने, पीने, युद्ध करने, प्रशंसा सुनने में—वे बिल्कुल मनुष्य के समान हैं। इसीलिए ब्लूमफील्ड ने इन देवताओं के 'नियन्त्रित मानवीकरण' की चर्चा की है।

भयंकर देवताओं का प्रसादन तथा सौम्य देवताओं से आशीर्वाद की याचना—इन दो तथ्यों की प्राप्ति हमें सभी धर्मों में होती है। ऋग्वेद में भी रुद्र से प्रसन्न होने की प्रार्थना की जाती है, इन्द्र से युद्ध में विजयी बनाने की और अग्नि से धन-दान की। साधारणतः सभी देवताओं की स्तुतियों में साम्य होने पर भी उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। देवताओं पर उदारता और नैतिकता की अपेक्षा प्रबलता तथा शक्ति का ही अधिक आरोप हुआ है[1], जिससे वैदिक धर्म में दोष रहने पर भी आर्यों की यह दृढ़ नैतिक विशेषता ही कही जा सकती है कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण से धार्मिक क्रियाकलापों में सम्मिलित रहने पर भी वे देवताओं में नैतिक भावना का अभाव नहीं मानते क्योंकि सज्जनों की रक्षा और दुष्टों को दण्ड देने की प्रवृत्ति भी उन पर आरोपित है।

इन देवताओं को अपनी संपत्ति समर्पित करने की भावना से ही यज्ञ-यागों का प्रचलन प्रारंभ हुआ। यज्ञों में विभिन्न देवताओं का आवाहन करके उनकी स्तुति तथा हव्य (घृत, सोमरस इत्यादि) समर्पित किया जाता था। सर्वत्र श्रद्धा अनिवार्य थी क्योंकि वरुण-देवता मनोगत भावों को भी पहचानने में प्रवीण थे। बिल्कुल मानव के आकार में देवताओं की कल्पना करने से आर्यों का यह दृढ़ विश्वास था कि उनका हृदय जीतने के लिए एकमात्र उपाय उन्हें पूर्ण भोजन प्रदान करना ही है। कुछ विद्वानों की यह मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत तथा प्रामाणिक है कि यज्ञ-याग धार्मिक विकास की द्वितीय अवस्था के द्योतक हैं, प्रथम कल्प में ध्यान या सरल स्तुतियां रही होंगी। स्मृतियों और पुराणों की आप्तता पर कहा जाय कि कृतयुग में ध्यान, त्रेता

---

1. Cf. S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy,* Vol. I. p. 106—The Gods were conceived as strong rather than good, powerful rather than moral. Such a religion is not capable of satisfying men's ethical aspirations.

में यज्ञ, द्वापर में पूजा तथा कलियुग में भजन ईश्वर-प्राप्ति के साधन हैं तो अत्युक्ति नहीं क्योंकि भले ही हम युगों में विश्वास नहीं करें किन्तु धार्मिक विकास की इन अवस्थाओं में तर्कसंमत तथ्य तो अवश्य हैं।

ऋग्वेदीय (या वैदिक) धर्म में मूर्तिपूजा या मन्दिर नहीं थे। मनुष्यों और देवताओं में सामान्य रूप से बिना ध्यान के ही वार्तालाप का विवरण मिलता है। दोनों का अविच्छेद्य सम्बन्ध सामान्य मानव जीवन में हो गया-सा लगता है क्योंकि अपने सभी कार्यों में, व्यावहारिक उपयोग के पदार्थों में देव-भाव रखना उन लोगों की विशेषताएँ हैं। छोटी-से-छोटी आवश्यकता की पूर्ति में भी देवताओं से ही सहायता ली जाती है।

देवताओं के साथ पितरों की पूजा भी ऋग्वेदीय धर्म की विशेषता है। ऐसी कल्पना है कि यज्ञ-यागों में पितृगण भी अदृश्य रूप में देवताओं के साथ स्तुति सुनते तथा दिये गये पदार्थों (कव्य) को ग्रहण करने आते हैं।

आर्यों की 'ऋत'—कल्पना तात्कालिक आचार-शास्त्र की मनोरम मंजूषा है। यद्यपि 'ऋत' के अनेक अर्थ विभिन्न धार्मिक स्तरों पर रहे हैं तथापि इसे अधिकांश स्थानों में नैतिक अनुशासन या क्रम के अर्थ में लिया गया है। प्रायः सभी देवता ऋत की रक्षा करते हैं जिससे संसार का अनुशासन भंग न हो। इसीके आधार पर पाप-पुण्य की कल्पना भी हुई है। पाप के प्रति सचेत रहने का ही फल है कि अनेक प्रायश्चित्तीय यागों (इष्टियों) का विधान भी प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक धर्म में देवताओं की मनोवृत्ति का नैतिकता के मानदण्ड के निर्धारण में पूरा हाथ है क्योंकि उनके आदेश का उल्लंघन ही पाप है तथापि उन्हें भी ऋत के चक्र में बाँधा गया है। विशेषतया वरुण, जो ऋत के संरक्षकों में प्रधान हैं, इस विषय पर पूरी दृष्टि रखते हैं। पाप से कोई भी व्यक्ति वरुण का कोपभाजन बन सकता है। सबों को वैदिक यागों में सहायता करनी पड़ती है; दया, दान इत्यादि का प्रदर्शन मानव-जीवन में आवश्यक है। द्यूत, व्यभिचार, छल-प्रपंच इत्यादि की खुलकर निन्दा की गयी है। आर्यों की नैतिक भावना इतनी उदात्त है कि वरुण से न केवल अपने पापों को प्रत्युत अपने वंशानुगत पापों को भी क्षमा करने की प्रार्थना की गयी है—

> अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
> अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥

(ऋ० ७।८६।५)

सप्तम मण्डल की ऋचाओं के ऋषि वसिष्ठ कहते हैं कि हे राजन् (वरुण)!

आप हमें हमारे पैतृक (वंशानुगत) दुष्कर्मों से मुक्त करें, पुनः जो गलतियाँ हम अपने शरीरों से कर रहे हैं उनसे भी हमें मुक्त करें। पशु चुराने वाले चोर और बछड़े के समान मुझ वसिष्ठ को रस्सी (अपने दण्डपाश) से खोल दें।

देवताओं में भी नैतिक बल का अभाव नहीं। कुछ तो ऐसे हैं कि स्तुतियों से भी अपने धर्मपथ से स्खलित नहीं हो सकते। ऋग्वेद में हमें यद्यपि कहीं-कहीं (१०।१२७) तपस्या की चर्चा मिलती है तथापि प्रधान वातावरण तपोमय जीवन का नहीं। लोगों में प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अपूर्व आकर्षण है क्योंकि यज्ञों का प्रयोजन सांसारिक पदार्थों के प्रति प्रेम भी है। निराशावाद के उदाहरण द्यूत-सूक्त में भले मिल जाएँ किन्तु वहां तथा अन्यत्र भी पर्यवसान में आनन्द ही दिखलाया गया है।

पुरुष-सूक्त में चतुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) का सर्वप्रथम उल्लेख इसके बहुत बाद के समय में संकलन का द्योतक है। पहले विजेता आर्यों की एक ही जाति थी किन्तु धीरे-धीरे जीवन की संसृष्टता (उलझन) ने वर्ण-व्यवस्था उत्पन्न की। ऋग्वेद के अन्य भागों के संकेत एक ही वर्ण की व्यवस्था के बोधक हैं, विशः या वैश्य सभी को कहते थे, सभी लोग योद्धा थे क्योंकि युद्ध के उल्लेखों में कोई विशेष व्यवस्था नहीं है, सबों को यज्ञ का अधिकार था। पुरोहित-वर्ग को कोई विशेपाधिकार नहीं प्राप्त थे। किन्तु जब इनपर आर्य-संस्कृति तथा परंपरा की रक्षा महान् भार आ पड़ा तब इस वर्ग को जीवन-संग्राम की चिन्ता से मुक्त कर दिया गया तथा वर्णव्यवस्था स्थिर हुई। वर्णव्यवस्था के विपरीत हमें विभिन्न व्यवसायों में एक ही परिवार के लगे रहने के उल्लेख मिलते हैं—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। (ऋ० ९।११२।३)

अर्थात् मैं गायक (स्तुतिकर्ता) हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पत्थरों से अन्न दलने का काम करती है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था आर्यों के साथ ही नहीं आयी, जीवन की आवश्यकताओं (श्रम-विभाजन) पर आश्रित हुई।

देवतावाद—

ऋग्वेद के प्रत्येक मंत्र का सम्बन्ध एक या एकाधिक देवता से है जिसका ज्ञान रहना अत्यावश्यक है। प्रायः मंत्रों में निर्दिष्ट देवता ही उनके प्रधान देवता समझे जाते हैं, तथापि कहीं-कहीं भ्रम हो जाता है जिसका एक रोचक आख्यान यास्क ने निरुक्त में दिया है। शाकपूणि ने गर्व किया कि मैं सभी देवताओं को पहचान ले सकता हूँ। इनका गर्व चूर करने के लिए दो चिह्नोंवाले देवता प्रकट हुए। बेचारे निर्णय नहीं कर सके कि ये कौन हैं, तब विवश

हो उन्होंने देवता से ही पूछा कि आपको मैं जानना चाहता हूँ—आप कौन हैं ? तब देवता ने एक ऋचा पढ़कर बतलाया कि मैं इस ऋचा का देवता हूँ, तुम पहचान लो ।[1] इससे मन्त्रों में देवता-स्वरूप स्पष्ट होता है । किसी देवता का कोई मन्त्र तभी कहलाता है जब उसमें कोई कामना लेकर ऋषि किसी देवताविशेष के अर्थ की प्रधानता रखते हुए स्तुति करता है ।[2] जिन मन्त्रों में देवता का स्पष्ट निर्देश नहीं रहता उसका निर्णय करने का उपाय भी यास्क ने बतलाया है । जब वह मन्त्र किसी यज्ञ में प्रयुक्त हो रहा हो या उसके किसी अंगविशेष में प्रयुक्त हो तब यह पता लगाना चाहिए कि यह यज्ञ या यज्ञाङ्ग किस देवता का है—वही उस मन्त्र का भी देवता है । यज्ञ से सम्बन्ध नहीं होने पर ऐसे मन्त्रों में याज्ञिकों के मत से प्रजापति तथा निरुक्तकारों के मत से नराशंस देवता होते हैं । दूसरा विकल्प है कि किसी कामनाविशेष की पूर्ति करनेवाले देवता हों या देवतासमूह हों ।[3]

निरुक्त का सप्तम अध्याय देवतावाद की बृहद् भूमिका प्रस्तुत करता है जिसमें एक ही स्थान पर देवताओं के अधिकार, आकार, स्वरूप इत्यादि की सामग्री दी गई है । यास्क का स्पष्ट विचार है कि देवताओं के महान् अधिकार होने के कारण (महाभाग्यात्) उनके एक ही रूप की स्तुति विभिन्न प्रकार से की जाती है । उस एक ही रूप या शक्ति के विभिन्न नाम हैं—इन्द्र, अग्नि, वरुण इत्यादि । ये एक ही आत्मा के प्रत्यंग हैं ।[4] एक दूसरी विचारधारा है कि संज्ञा-शब्दों की प्रकृति (धातु) में विभिन्नता के कारण ऋषिगण उनकी स्तुति करते हैं । चूँकि ऐसे आख्यात जो देवतावाचक शब्दों की प्रकृति के रूप में हैं, अत्यन्त व्यापक होते हैं अतः देवताओं की स्तुतियों में भी व्यापकता के साथ विभिन्नता का समावेश होता है । देवताओं पर विभिन्न पार्थिव पदार्थों का (रथ, अश्व, शस्त्र, बाण इत्यादि) आरोपण होता है । क्या ये पदार्थ देवताओं को पृथक् दिये जाते हैं ? नहीं, ये सभी देवताओं के स्वरूप ही हैं । अग्नि का एकमात्र रूप है ज्वाला । इसे आप अग्नि की जिह्वा कहें,

---

१. शाकपूणिः संकल्पयांचक्रे सर्वा देवता जानामीति । तस्मै देवता उभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव । तां न जज्ञे । तां पप्रच्छ—विविदिषाणि त्वेति । सा अस्मै एतामृचमादिदेश । एषा मद्देवतेति । (निरुक्त २।८)

२. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । (निरुक्त ७।१)

३. द्रष्टव्य—निरुक्त ७।४ ।

४. एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । (वहीं) । प्रस्तुत लेखक के निरुक्त-संस्करण की भूमिका में देवताओं के नैरुक्त-विवेचन की समीक्षा की गयी है ।

रथ कहें, अश्व कहें, अग्नि का शरीर कहें, मुकुट कहें, आँखें कहें—किन्तु सर्वत्र तो एक ही वस्तु है। इसी से अग्नि पुनः निकलेंगे अतएव अग्निदेव को (या इसी आधार पर किसी देवता को) आत्मजन्मा कहा जा सकता है।

देवताओं को मुख्यतः स्थान के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया गया है। (१) पृथ्वी के देवता—प्रतिनिधि अग्नि। (२) अन्तरिक्ष के देवता—प्रतिनिधि इन्द्र या वायु। (३) द्युलोक (स्वर्ग) के देवता—प्रतिनिधि सूर्य। यास्क अन्य निरुक्तकारों का विचार अपनी सहमति के साथ प्रकट करते हैं कि वास्तव में ये तीन देवता हैं, अपने महाधिकार के कारण ये तथाकथित तत्स्थानीय देवताओं के रूप में विभिन्न नामों से संबोधित होते हैं। उदाहरणतः द्यौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषा, अश्विन् इत्यादि द्युस्थानीय देवता सूर्य ही हैं, उन्हीं के ये विभिन्न नाम हैं। ध्यातव्य है कि यास्क के विचार ने वैदिक देवताओं के सरलीकरण का बहुत प्रयास किया है जिससे पुराणों में इनमें से अनेक नाम वास्तव में सूर्य के पर्याय बन गये। ऋग्वेद में फिर भी इन विभिन्न देवताओं की कुछ विलक्षणता अवश्य मिलती है। देवताओं में कुछ तो सामान्य विशेषतायें हैं जैसे—मनुष्याकार, रथारोहण, सोमपान, अलंकरण। किन्तु कुछ व्यक्तिगत विशेषतायें भी हैं जैसे—वृत्रवध (इन्द्र), सभी प्राणियों को कार्य में लगाना (सविता), देवताओं को यज्ञ में लाना (अग्नि)।

प्रो० मैकडोनल ने[1] देवताओं के वर्गीकरण के अनेक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए निम्नलिखित भागों में उन्हें वर्गीकृत किया है—

(१) स्वर्ग के देवता—द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस् तथा अश्विन्-युग्म।

(२) अन्तरिक्ष के देवता—इन्द्र, त्रित आप्त्य, अपां नपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अज एकपाद, रुद्र, मरुद्गण, पर्जन्य, आपः।

(३) पृथ्वी के देवता—नदियां (सरस्वती, सिन्धु इत्यादि), पृथिवी, अग्नि, सोम।

(४) भावात्मक—(Abstract) देवता—सविता, धाता, त्वष्टा, धर्ता, विश्वकर्मा, प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, अदिति, दिति।

(५) देवियां—उषा, वाक्, पुरन्धिः, धिषणा, इला, सरस्वती, राका, पृश्नि, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, सूर्या, देवपत्नियां।

(६) युग्म देवता—मित्रावरुणा, इन्द्रावरुणा, द्यावापृथिवी (रोदसी), इन्द्रवायू, इन्द्राग्नी, इन्द्राबृहस्पती, इन्द्राविष्णू, इन्द्रापूषणा, सोमारुद्रा, अग्नीषोमा।

1. Cf. Vedic Mythology, p. 15 and onwards.

(७) देवतासमूह—मरुद्गण (२१ या १८०), रुद्रगण (असंख्य), आदित्यगण (७–८), विश्वेदेवाः।

(८) छोटे देवता—ऋभवः, अप्सरसः, गन्धर्वाः।

(९) रक्षक देवता—वास्तोष्पतिः (गृह के रक्षक), क्षेत्रस्य पतिः, उर्वरापतिः।

यद्यपि यह वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है क्योंकि एक वर्ग के देवता दूसरे वर्ग में भी आ जाते हैं तथापि इसमें सभी वैदिक देवताओं का समावेश हो गया है। भौतिक पदार्थों (वृक्ष, औषधि, द्वार। बर्हि आदि) की बात अलग है। इन सभी देवताओं का विस्तृत विवेचन मैकडोनल कृत 'वैदिक देवशास्त्र' (Vedic Mythology) नामक ग्रन्थ में ही देखना चाहिए। यहां हम ऋग्वेद के प्रथमाध्याय में आये हुए प्रमुख देवताओं की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं।

(क) अग्नि—

महत्ता की दृष्टि से अग्नि का स्थान इन्द्र के बाद आता है। इनकी स्तुति ऋग्वेद के प्रायः २०० सूक्तों में हुई है। प्रत्येक मण्डल में अग्नि-सूक्त इन्द्र-सूक्त के पूर्व आये हैं जिससे इनका भी माहात्म्य कम नहीं। वास्तव में इन्द्र और अग्नि मानव जीवन की दो मूल आवश्यकताओं के—क्रमशः जल तथा अग्नि के—प्रतीक हैं, किन्तु इन्द्र जहां जल के उत्पादक हैं, अग्निदेव स्वयम् अग्निस्वरूप ही हैं। इसीलिए इन्द्र को अग्नि का जुड़वां भाई कहा गया है। मित्र, वरुण, द्यौः, विष्णु इत्यादि विभिन्न देवताओं के साथ भी इनका तादात्म्य दिखलाया गया है।

अग्नि का शरीर मुख्यतः यज्ञाग्नि से सम्बद्ध है—घृत का पृष्ठभाग, घृत का ही मुख, रक्त जिह्वा, घृत के केश, ज्वालामय केश, चमकीले दांत, तीक्ष्ण जबड़े, तीन सिर, सहस्र नेत्र और शृङ्ग—ये उनके अवयव संस्कार हैं। कभी-कभी इन्हें वृष, अश्व, पक्षी, हंस इत्यादि के समान माना गया है। अग्नि का रथ प्रकाशयुक्त, चमकीला, सुन्दर तथा स्वर्णमय है। उसी रंग के सुन्दर घोड़े उनके रथ को खींचते हैं जिस पर चढ़ाकर ये अन्य देवताओं को यज्ञ में ले जाते हैं (ऋ० १।१४।१२)। अग्नि को इसीलिए दूत कहा गया है। यज्ञ-सहायक होने के कारण इन्हें ऋत्विज, पुरोहित तथा होता भी कहते हैं। अग्नि का भोजन लकड़ी अथवा घृत है, इन्हें तीन बार भोजन कराया जाता है। ये देवताओं के मुख भी हैं क्योंकि इन्हीं के माध्यम से वे भोजन पाते हैं। सोमपान के लिए इन्हें अन्य देवताओं के साथ बुलाया जाता है (द्रष्टव्य सूक्त १९)। अग्नि का याज्ञिक महत्त्व इतना है कि ये यज्ञ को जब चारों ओर से घेर लेते हैं तभी उस यज्ञ की सामग्री अन्य देवताओं तक पहुँच पाती है (१।१।४)।

अग्नि की त्रिविध उत्पत्ति का उल्लेख बहुत होता है। प्रथम जन्म यज्ञ में दो अरणियों से होता है जो अग्नि के माता-पिता कहे गये हैं और जिन्हें ये उत्पन्न होते ही निगल जाते हैं। इनकी दस कुमारी माताएँ अंगुलियों की प्रतीक हैं जिनकी सहायता से अरणि-मंथन होने पर ये उत्पन्न होते हैं। अग्नि की उत्पत्ति में पर्याप्त बल की आवश्यकता होती है जिससे इन्हें 'सहसस्पुत्र' या 'ऊर्जोनपात्' (शक्ति पुत्र) भी कहा जाता है। प्रतिदिन जन्म होने से इन्हें 'युवा' और यज्ञियों में प्रथम होने के कारण 'पुरातनतम' भी कहा गया है। इनका द्वितीय जन्म जल से होता है। अग्नि का यह रूप इतना अधिक प्रभविष्णु हुआ कि इस रूप वाले अग्नि को न केवल 'अपां नपात्' कहा गया प्रत्युत अग्नि से पृथक् एक नवीन देवता की ही सत्ता मान ली गयी। 'अपां नपात्' जल का पुत्र ही नहीं, उसका स्वामी तथा दाता भी है। यह विद्युत् से सम्बद्ध देवता नहीं अपितु अन्तरिक्ष (atmosphere) में निवास करनेवाली अग्नि का ही वह देवता है। अग्नि का तृतीय जन्म द्युलोक में होता है जहाँ उत्पन्न होते ही ये मातरिश्वा के समक्ष प्रकट हुए।[1] मातरिश्वा, जो यूनानी आख्यानों में प्रोमीथिउस् (Prometheus) के समकक्ष हैं, अग्नि को पृथ्वी पर देवताओं के वरदान (या उपहार) के रूप में लाये। मातरिश्वा और अग्नि कार्य-कारणरूप में सम्बद्ध हैं, अतः कहीं-कहीं उनमें तादात्म्य तथा कहीं पार्थक्य भी निरूपित है। अग्नि का द्युलोकीय रूप सूर्य ही है। निरुक्त (सप्तम अध्याय) में अग्नि के जातवेदस् तथा वैश्वानर ये दो और भी नाम पार्थिव, मध्यस्थानीय तथा द्युस्थानीय अग्नि के अर्थ में निर्दिष्ट हैं।

अग्नि के शरीर से अग्नि की पुनः उत्पत्ति होने के कारण इन्हें 'तनू-नपात्' (शरीरपुत्र) भी कहा गया है। ये यजमानों को सभी वस्तुएँ विशेषतया गार्हस्थ्य का आनन्द, संतान तथा अभ्युदय प्रदान करते हैं। मानव जीवन से इनका सम्बन्ध अन्य देवताओं की अपेक्षा बहुत ही अधिक है। ये एकमात्र देवता हैं जिन्हें 'गृहपति' कहा गया है। मर्त्यों के मध्य निवास करनेवाले अमर देवता ये ही हैं। देवताओं के लिए दूत हैं तो मनुष्यों के लिए हव्य-वाहक। ये कभी वृद्ध नहीं होते, मनुष्यों के पिता, भ्राता तथा पुत्र भी हैं। अग्नि का ज्ञान भी बहुत प्रशस्त है, इसी के फलस्वरूप उन्हें 'जातवेदस्' कहा गया है। पापों के विनाशक तथा आर्यों के महान् देवता के रूप में अग्नि का महत्त्व सर्वाधिक है। अग्नि के इस याज्ञिक तथा गृहस्थी वाले उपयोग के अतिरिक्त शव को जलाना (क्रव्याद्) तथा वनों का संहार करना भी महत्त्व-

---

१. स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने।

(ऋ० १।१४३।२)

पूर्ण कार्य है। संभवतः भारोपीय काल में ही याज्ञिक अग्नि का उपयोग था क्योंकि न केवल भारतीय तथा ईरानी लोग अग्नि में आहुति देते थे अपितु इताली तथा यूनान में भी प्रथा थी। किन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि उस समय इन्हें देवता का रूप मिल गया था।

अग्नि की व्युत्पत्ति √अग् या √अज् से संबद्ध है जिसका भाषाशास्त्रीय अर्थ है—'दूर करना', 'ले जाना'। लातिन इग्निस्, स्लावोनिक ओग्निस्, ग्रीक अगो, अंग्रेजी—agile में इसके रूप देखे जा सकते हैं।

(ख) इन्द्र—

ऋग्वेद के २५० सूक्तों में इन्द्र की स्तुति है। इनके अतिरिक्त ५० सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी इनकी स्तुति की गयी है। आर्यों के लिए वीरता के मूर्तिमान् रूप ये राष्ट्रीय देवता हैं। इन पर मानवीकरण तथा पुराकथाओं का भी सर्वाधिक आरोप है। इनके दो कार्य हैं। मुख्यतः ये मेघ-निर्घोष के देवता हैं जो शोषण तथा अन्धकार को दूर करके जल या प्रकाश को मुक्ति दिलाते हैं। दूसरी ओर ये युद्ध के भी देवता हैं जो आर्यों को उनके शत्रुओं के साथ होनेवाले युद्ध में सहायता पहुँचाते हैं।

शरीरतः ये बहुत सबल देवता हैं। सोम-पान की इनकी अतुल शक्ति का बहुत ही अधिक वर्णन है (१।८।७)। इनका वर्ण पिङ्गल (हरि) है, केश-दाढ़ी उसी रङ्ग के हैं। इनकी भुजाएँ वज्र के समान दृढ़ हैं तथा उनमें वज्र रहता भी है। इनका एकमात्र शस्त्र यही है। वज्र संभवतः विद्युत् की चमक का ही रूप है। वज्र का निर्माण त्वष्टा ने किया था। ऋभुओं के द्वारा सजाए अरुण वर्ण के रथ पर ये चलते हैं। सोमपान के कारण इनका उदर विशाल है तथा वृत्र-वध के लिए इनके तीन कुण्ड्या सोम पीने का वर्णन है। सोमपान के बाद ही ये अपनी वीरता का प्रदर्शन करते हैं।

शक्ति की दृष्टि से ये अनुपम हैं। शक्र (समर्थ), शचीपति (शक्ति के स्वामी)' शतक्रतु (शत-शत शक्तियों से पूर्ण) इत्यादि के रूप में वर्णित इन्द्र की शक्ति का पता देवता या मनुष्य नहीं पा सकते। कहा गया है कि पृथ्वी यदि दसगुना बड़ी भी होती तो भी इन्द्र उसके बराबर होते। सोमपान के अनन्तर इन्द्र की गर्वोक्तियों से परिपूर्ण 'एक पूरा सूक्त (१०।११९) ही है जिसके अन्तिम पाद में 'कुवित्सोमस्यापामिति' का निर्देश है।[1] इन्द्र द्यौः के

---

१. द्रष्टव्य—

अभि द्यां महिनाभुवमभीमां पृथिवीं महीम्। कुविस्सोमस्यापामिति ॥८॥
हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा। कुविस्सोमस्यापामिति ॥९॥
ओषमित्पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा। कुविस्सोमस्यापामिति ॥१०॥

पुत्र हैं, उत्पन्न होते ही प्रथम पद पर प्रतिष्ठित हुए। अग्नि और पूषा इन्द्र के भाई हैं, इन्द्राणी पत्नी है। मरुद्गण इनके घनिष्ठ मित्र हैं। वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति और विष्णु के साथ भी इनका आवाहन हुआ है। कई स्थानों में इन्हें सूर्यरूप भी माना गया है।

इन्द्र का प्रमुख आख्यान वृत्र-वध है। सोम पीकर, मरुतों के साथ चलकर ये वृत्र (शुष्कता का प्रतिनिधि, वर्षा निरोधक जिसे शुष्ण, नमुचि, अहि भी कहा गया है) पर भयंकर आक्रमण करते हैं। भीषण युद्ध छिड़ता है जिससे स्वर्ग-पृथ्वी कांप उठते हैं। वज्र से वृत्र का नाश करने पर ये पर्वत का छेद करके जल-प्रवाह का मोचन गायों के समान करते हैं। विद्युत्, निर्घोष, मेघ, जलवृष्टि इन प्राकृतिक तत्वों के स्थान पर वज्र, पर्वत, जल या नदियों का वर्णन मिलता है। मेघ को पर्वत या अद्रि कहा गया है। इसमें जल रहने के कारण गाय, उत्स, कोश इत्यादि के रूपक भी आते हैं। यही नहीं, मेघों में दैत्यों की नगरी की कल्पना है जिसमें अनेक दुर्ग भी हैं। इन्द्र इनका ध्वंस करके 'पुरभिद्' कहलाते हैं किन्तु इस कार्य के फलस्वरूप 'वृत्रहा' का विशेषण उन पर सामान्यरूप से लगाया जाता है। तिलक ने इन्द्र-वृत्र युद्ध को ध्रुवों पर होने वाले प्रकाश तथा अन्धकार के युद्ध का रूपक माना है। वृत्र-वध से जलवृष्टि, सूर्य-किरणों की मुक्ति तथा सोम की प्राप्ति का भी सम्बन्ध है। किरणों की मुक्ति वलासुर के कारागार से गायों की मुक्ति के रूप में वर्णित है।[1]

इन्द्र का सम्बन्ध अन्य भौतिक तथ्यों से भी है। उन्होंने चंचल पृथ्वी तथा हिलते हुए पर्वतों को स्थिर किया। स्वर्ग और पृथ्वी को भी उन्होंने ही पृथक् किया, फैलाया तथा स्थिर किया।[2] संग्रामों में दैत्यों के विनाशक के रूप में इन्हें बार-बार बुलाया जाता है। आर्य-जाति की रक्षा तथा दास-वर्ण के नियमन के इन्द्र प्रधान कारण हैं। उनकी उदारता उनके एक विशेषण 'मघवन्' से ही व्यक्त है।

वृत्र-वध के अतिरिक्त भी कुछ आख्यान इन्द्र से जुड़े हैं जैसे उषा के रथ का विध्वंस (ऋ० ४।५१), सूर्य के घोड़ों को रोकना, सोम पर विजय पाना, सरमा की सहायता से पणियों द्वारा रोकी गयी गायों की रक्षा इत्यादि। इन्द्र का वर्णन सुदास-राजा के रक्षक के रूप में भी है। नैतिक दृष्टि से वरुण

---

१. यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः॥ (२।१२।३)

२. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥ (२।१२।२)

इनके ठीक विपरीत हैं क्योंकि इन्द्र जहाँ अपने पिता त्वष्टा को मारने तथा स्वार्थवश अनुचित करने से भी सम्बद्ध हैं, वरुण नैतिकता के पूर्ण रक्षक हैं।

अवेस्ता में वेरेथ्रघ्न (वृत्रहन्) तथा बोथोज़कोई के शिलालेख में भी इन्द्र का उल्लेख होने से इन्द्र भारोपीय देवता प्रतीत होते हैं। इन्द्र का निर्वचन परमैश्वर्य के अर्थ में √इद् धातु से माना जाता है। यास्क ने इसके कई निर्वचन दिये हैं। मैकडोनल इन्दु (बूँद) को इसका स्रोत मानते हैं।

(ग) मित्र तथा वरुण--

मित्र तथा वरुण का युग्म इस प्रकार परस्पर संबद्ध है कि मित्र की अकेले एक सूक्त (३।५९) में तथा वरुण की प्रायः १२ सूक्तों में स्तुति हुई है। वरुण की विशेषताएँ तो कुछ स्पष्ट-सी हैं, किन्तु मित्र-सूक्त में दी गई सूचनाओं के आधार पर मित्र की व्यक्तिगत विशेषताएँ बहुत स्पष्ट नहीं। वरुण के साथ सदा रहने से दोनों का समान गुण-धर्म ही प्रायः कहा जाता है।

मित्र मनुष्यों (विशेषतः कृषकों) पर नियंत्रण रखते हुए निर्निमेष दृष्टि से उन्हें देखते हैं। सविता तथा विष्णु के अपने कार्य मित्र के नियम (व्रत) के अनुसार ही चलते हैं। मित्र को सूर्य के मार्ग पर भी नियंत्रण रखते हुए कहा गया है। अग्नि उषा के आगमन के पूर्व ही मित्र को उत्पन्न करते हैं तथा प्रज्वलित हो जाने पर स्वयं मित्र बन जाते हैं। अथर्ववेद में मित्र को प्रातःकाल तथा वरुण को सायंकाल से संबद्ध माना गया है जबकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में मित्र दिन से सम्बद्ध है, वरुण रात्रि से। सूर्य को सामान्यतः मित्र और वरुण की आँख माना गया है जिससे पौराणिक काल में मित्र सूर्य का पर्याय ही बन गये। ईरान में मिथ्र को सूर्य देवता या प्रकाश (सौर-प्रकाश) का देवता कहा जाता है। मित्र की निरुक्ति संदिग्ध है तथापि इसका प्राचीन अर्थ 'सहायक' या 'साथी' ही होगा जिस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद में बहुधा आया है। अवेस्ता का मिथ्र भी विश्वास का ही संरक्षक देवता है। ऋग्वेद में इनकी उदारता का बहुत वर्णन है, अतः मूलतः ये सूर्य की उदार शक्ति के प्रतिनिधि देवता ही होंगे।

वरुण का स्थान ऋग्वेद में इन्द्र के समकक्ष है भले ही इनकी स्तुति अपेक्षाकृत कम सूक्तों में हुई है। इनका मानवीकरण स्पष्ट है क्योंकि इनके शारीरिक अवयवों का बहुधा उल्लेख मिलता है। इनके रथ को भी घोड़े ही खींचते हैं। रथ सूर्य के समान चमकता है। वरुण के गुप्तचरों का वर्णन आता है। ये वरुण के चतुर्दिक् बैठ कर समस्त भुवन का निरीक्षण करते हैं। वरुण को सम्राट् कहा जाता है तथा राजोचित क्षत्र (संप्रभुता) का भी इनपर

आरोप होता है। अन्तरिक्ष के जल से वरुण का बहुत अधिक सम्बन्ध है जो उनके नियम पर ही चलते हैं—नदियां बहती हैं, वृष्टि होती है। इनके नियम से ही रात में चन्द्रमा चलता है, तारे प्रकाशित होते हैं और दिन में छिप जाते हैं। उनके पास माया (अतिभौतिक शक्ति) है जिससे वे न केवल निकट की वस्तुओं को बल्कि समुद्र में विद्यमान जलपोतों को, आकाश में उड़ते पक्षियों को, वायुमार्ग को भी वे जान जाते हैं (ऋ० १।२५।७–९)। मनुष्यों के सत्यासत्य का निरीक्षण वे करते हैं, पक्षिगण जो पलक गिराते हैं उसे भी ये जान जाते हैं (ऋ० २।२८।६)। वरुण का नियम अटल है (धृतव्रत), कोई उसका उल्लंघन करने पर पापभागी होता है तथा वरुण का क्रोध उत्पन्न होता है। पापी को वरुण अपने पाश (बन्धन) के द्वारा दण्डित करते हैं। ऋत के साथ उनकी इसीलिए समता है। देवता होने के कारण ये पश्चात्ताप करनेवाले पापियों को क्षमा भी कर देते हैं। वरुण की प्रायः सभी स्तुतियों में क्षमा मांगने का भाव प्रबल है।

वरुण की विशेषताओं से ही युक्त अवेस्ता का अहुर मज़्दा नामक देवता है, यूनान के देवता अउरेनोस् (ouranos) के साथ भी इनका साम्य है, अतः ये भारोपीय देवता हैं। मैकडोनल इनकी व्युत्पत्ति √वृ (ढँकना, घेरना) से मानते हैं क्योंकि इनके व्रत से समस्त संसार परिवृत है।

प्रथमाध्याय में मित्रवरुण की संयुक्त स्तुति में दोनों को वृष्टि में सहायक, ऋत की वृद्धि करनेवाला, मेधावी, उपकारी, बल तथा कर्म के दाता के रूप में देखा गया है। ये शत्रुओं को खा जाते हैं (वरुणं च रिशादसम्)।[1]

---

१. मित्रावरुण की संयुक्त स्तुतियों के सूक्त संख्या में बहुत अधिक हैं। संयुक्त विशेषताएँ वरुण की विशेषताओं से मिलती-जुलती हैं। चमकीले वस्त्रों का परिधान, परमाकाश में रथारोहण, स्वर्ग में निवास, आवास में सहस्र द्वार, माया के द्वारा साम्राज्य का संचालन, तीनों लोकों का संचालन तथा संरक्षण—ये इनकी संयुक्त विशेषताएँ हैं। नदियों के अधिष्ठाता के रूप में ये दोनों वर्षा प्रदान करते हैं। जल से मैदानों को भरकर ये उन्हें मधुमय कर देते हैं। इनके नियमों को अमर देवगण भी तोड़ नहीं सकते। 'ऋत' को सँभालते हुए ये उसे आगे ले जाते हैं। मिथ्या के ये प्रबल विरोधी हैं। अपने विरोधियों को ये रोगी बना देते हैं। अवेस्ता में भी अहुर तथा मिथ्र की संयुक्त स्तुति होने से ये बहुत प्राचीन युग्म हैं। द्रष्टव्य—Macdonell, *Vedic Reader*, p. 118-9.

(घ) अश्विन्-युगल—

ऋग्वेद के प्रधान देवताओं में इन्द्र, अग्नि तथा सोम के बाद सूक्त-संख्या की दृष्टि से इन्हीं का स्थान है क्योंकि ५० से अधिक सूक्तों में इनकी स्तुति है, सूक्तांशों में तो इनकी स्तुति हुई ही है। अश्विनों के वास्तविक रूप के विषय में अनेक मत हैं; कहीं इन दोनों को द्यावापृथिवी, कहीं दिन-रात, कहीं उषा-सन्ध्या और कहीं दानी राजाओं के रूप में समझा गया है। इनके नाम 'अश्विन्' का अर्थ है घुड़सवार (horseman) जो इन्हें प्रकाश का अतिप्राचीन वैदिक देवता सिद्ध कर देता है। ये दोनों सदा साथ हैं यद्यपि कुछ उद्धरणों के संकेत बतलाते हैं कि ये कभी पृथक् भी रहे होंगे। अश्व रखने के कारण ही इन्हें 'अश्विना' कहा गया है। ये अत्यधिक भास्वर, सुन्दर तथा कमल-माला से अलंकृत हैं। इनका मार्ग भी स्वर्णमय है। अपार बुद्धि तथा माया (अतिभौतिक शक्ति) से युक्त ये देवयुगल प्रायः 'दस्र' (आश्चर्यमय) तथा 'नासत्य' (सदा सत्य पर प्रतिष्ठित) कहे गये हैं। पिछला शब्द बोघाँज-कोई के शिलालेख में भी आया है। जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

अश्विना का विवाह सूर्यपुत्री से हुआ जिससे इनके रथ पर वह सदा आरूढ रहती है। इसीलिए विवाह-सूक्त (१०।८५) में अश्विनों की स्तुति है कि वे अपने रथ पर चढ़ाकर वधू को घर ले जाएँ तथा देवताओं के साथ उसे प्रजनन (पुत्रवती) का आशीर्वाद दें। अश्विनों को स्वर्ग का पुत्र कहा गया है किन्तु एक स्थान पर वे विवस्वान् तथा त्वष्टा की पुत्री सरण्यू के पुत्र कहे गये हैं। पूषा तथा उषा भी इनके अपत्य हैं। उपर्युक्त विवाह के कारण सूर्य से भी अश्विनों का घना सम्बन्ध है और वे सूर्य के साथ विचरण करते हैं।

मधु का अश्विनों से अद्वितीय सम्बन्ध है। माध्वी और मधुयुवा इनके विशेषण तो हैं ही, मधु इनका प्रिय पेय है। इनका चर्मपात्र सदा मधु से भरा रहता है, रथ भी मधुमय है जिससे भ्रमरों को मधु मिलता है। उषा और सूर्य के साथ ये कभी-कभी सोम भी पी लेते हैं। इनका रथ बहुत विचित्र है जिसमें तीन चक्र हैं जो निमेष तथा विचार से भी तेज दौड़ता है। ऋभुओं के द्वारा निर्मित इस सुनहले रथ को विभिन्न पशु खींचते हैं जैसे—भैंसे, गधे, और कभी पक्षी भी। यह रथ आकाश और पृथ्वी के चारों ओर एक दिन में ही परिक्रमा कर लेता है।

अश्विनों को देवताओं का वैद्य तथा दुःखनाशक कहा गया है। शान्तिकाल में ये मनुष्यों को विभिन्न प्रकार के दुःखों से बचाते हैं। रोगियों की रक्षा, दृष्टिशक्ति देना, वृद्धों में यौवन भरना—ये इनके चमत्कार हैं। इस विषय की

अनेक पुराकथायें इनसे संबद्ध हैं। भुज्यु को इन्होंने सागर में डूबने से बचायाँ था (ऋ० १।११६।५)।

यूनानी पुराणों के दो अश्वारोहियों, हेलेन के दो भाइयों और जिउस के युग्मपुत्र से भी इनकी समता की जा सकती है। अश्विनों की उपाधि 'दिवो नपाता' का लैटिक् Dewal Deli तथा लिथुआनिया के Devo Suneli से साम्य है। इनकी पत्नी सूर्या का साम्य लैटिक देवता की पत्नी Suales से है। इन तथ्यों से इनके भारोपीय देवता होने का पता लगता है।

(ङ) मरुद्गण—

ऋग्वेद में मरुतों की प्रधानता इसी से सिद्ध है कि अकेले इनकी स्तुति में ही ३३ सूक्त हैं, ७ सूक्तों में इन्द्र के साथ तथा १–१ सूक्त में अग्नि (ऋ० १।१९) तथा (ऋ० ६।५४) के साथ भी इनकी स्तुति हैं। इनकी संख्या ६० × ३ या ७ × ३ है। ये गण में रहनेवाले देवता हैं। ये रुद्र—पिता तथा पृश्नि-माता (जो गो-स्वरूप है) की सन्तति हैं। वायु-देव ने इन्हें द्युलोक के गर्भ में उत्पन्न किया अतः द्युलोक के भी पुत्र माने गये हैं किन्तु कभी-कभी इन्हें स्वतः उत्पन्न भी कहा जाता है। इस गण के सभी सदस्य परस्पर भाई हैं, समवयस्क तथा समानबुद्धि भी हैं। ये स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी—इन तीनों स्थानों पर रहते हैं। रोदसी (स्वर्ग + पृथिवी) देवी का उल्लेख इनके साथ बहुधा होता है। इनके साथ इनके रथ पर वह बैठती है—उनकी पत्नी के रूप में वह स्वीकृत है।

मरुतों की दीप्ति का बहुधा निर्देश है। ये स्वप्रकाश, अनलप्रभ, स्वर्णिम तथा विद्युत् से संबद्ध हैं। विद्युत् ही इनकी ऋष्टि (बर्छा, Spear) है, कभी धनुष-बाण भी धारण करते हैं किन्तु ये शस्त्रास्त्र उनके पिता रुद्र से अधिक संबद्ध हैं। इनके सभी आभरण स्वर्णमय हैं जैसे—माला, ऊर्ध्ववस्त्र, मुकुट इत्यादि। इनके रथ को बहुधा घोड़ियाँ खींचती हैं। अपने रूप को सँवारने में मरुतों की तुलना स्त्रियों से की जाती है। एक ओर जहां इनका सौम्य रूप बालकों के समान है, दूसरी ओर ये सिंह के समान भीषण तथा उपद्रवी भी हैं।

मेघ-निर्घोष तथा प्रबल झंझा का रव ही मरुतों का भीषण स्वर है। पर्वतों को तथा दोनों लोकों को प्रकम्पित करना इनका कार्य है। वृक्षों को चीर कर ये हाथियों के समान पूरे वन की सफाई कर डालते हैं। उनका प्रधान कार्य वर्षा लाना भी है, इस वर्षा से वे सूर्य की आंख पर भी आवरण चढ़ा देते हैं। वर्षा के समय अंधकार उत्पन्न कर देना साधारण तथ्य है। इस वृष्टि को दूध, घी तथा मधु भी कहा गया है। उष्णता दूर करना, अंधकार को भगाकर प्रकाश लाना तथा सूर्य के मार्ग का निर्माण करना भी इनके कार्य हैं।

कई स्थानों में इन्हें गायक कहा है। इन्द्र के द्वारा वृत्र के मारे जाने पर इन्होंने गीत गाया तथा सोमरस चुलाया था। यद्यपि इनका गीत वायु की ध्वनि का प्रतिरूप है तथापि कभी-कभी इनके गीत को स्तुति भी माना गया है। इसीलिए इन्हें पुरोहित भी कहा गया है। मेघनिर्घोष तथा झंझा के साथ संबद्ध होने से इनका सम्बन्ध इन्द्र के साथ भी है। विशेषतः वृत्रवध में इन्द्र की सहायता इन्होंने की थी। दूसरे स्वर्गिक कार्यों में भी ये इन्द्र की सहायता करते हैं किन्तु ये कार्य वे अकेले भी कर डालते हैं। अतएव कहा गया है कि वृत्र को इन्होंने टुकड़े-टुकड़े करके चीर दिया और गायों का उद्धार किया। जहां इनका सम्बन्ध इन्द्र से नहीं, वहां ये अपने पिता रुद्र के लक्षणों से ही संयुक्त रहते हैं। ये भी रोगनिवारक औषधियां लाते हैं जो प्रायः जलरूप हैं क्योंकि मरुद्गण वृष्टि के द्वारा ही औषधियां प्रदान करते हैं।

मरुत् शब्द की व्युत्पत्ति संभवतः √मर् (चमकना) से है जिससे इनका अर्थ होगा 'चमकीले देवता'।

प्रथम अध्याय में आये हुए अन्य देवताओं में वायु (सूक्त २), विश्वेदेवाः (सूक्त ३, १४), सरस्वती (सूक्त ३), ब्रह्मणस्पति (सूक्त १८) तथा सोम (सूक्त १८) भी हैं। इनका विवरण सम्बद्ध सूक्तों में न्यूनाधिक रूप से दिया गया है। विशेष विवरण के लिए मैकडोनल का वैदिक देवशास्त्र द्रष्टव्य है।

प्रस्तुत संस्करण विभिन्न विश्वविद्यालयों के वेद-विषयक पाठ्यक्रम की आवश्यकता को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। हमारे विश्वविद्यालयों में वेदाध्ययन के लिए दो प्रकार के पाठ्यक्रम रखे जाते हैं। प्रथम प्रकार में संपूर्ण ऋग्वेद या अन्य वेदों से भी चुने हुए सूक्त छात्रों को पढ़ाये जाते हैं। इसमें एक लाभ है कि विभिन्न विषयों के मंत्र पढ़ने को मिल जाते हैं, एकरसता नहीं रहती। इसीके अन्तर्गत पीटरसन, मैकडोनल, देवराज चानना तथा तेलंग के सूक्त-संग्रह आते हैं। अधिकांश स्थानों में ऐसा ही पाठ्यक्रम इन पुस्तकों की उपादेयता के कारण रखा गया है। दूसरा प्रकार है ऋग्वेद का एक अनुक्रम से अध्ययन। इसके निर्धारण में सायणाचार्य की उक्ति उपजीव्य का काम करती है—

एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः सम्प्रदायतः।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥

(ऋग्भाष्यभूमिका का मंगलश्लोक)

तदनुसार ऋग्वेद का प्रथम अध्याय भी बहुत से स्थानों में पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है। अभी तक इसपर विश्वविद्यालय के जिज्ञासुओं की दृष्टि

से कोई पुस्तक नहीं थी, यह मैं सायास कह सकता हूँ। अनेक प्रयास ऋग्वेद के प्रथमाध्याय के प्रकाशन के हुए किन्तु या तो उनमें इतने अधिक ज्ञान का प्रदर्शन हुआ कि वे अधूरे रह गये अथवा इतना हलका अर्थ दिया गया कि जिज्ञासा 'अपार्था' नहीं हुई। अतएव मेरे इस लघु प्रयास को भी मध्यम मार्ग पर चलने का अवसर मिल रहा है। इस संस्करण में ऋग्वेद के संहिता तथा पद-पाठ के साथ हिन्दी-अंग्रेजी अनुवाद भी दिये गये हैं। ये अनुवाद प्रायः सायण के आधार पर ही हैं। हिन्दी में तो मैंने अपनी स्वाधीनता यथापूर्व रखी है किन्तु अंग्रेजी अनुवाद प्रायः पाश्चात्यों के ही हैं, सायण से संगति रखने के लिए मुख्यतः विल्सन का आश्रय लिया गया है।

सायण तथा स्कन्द के भाष्यांश इसके बाद हैं। सायण का स्वरविषयक भाग मूल ग्रन्थ में छोड़ दिया गया है किन्तु विवेचन-खंड में उसे अन्तर्भूत कर लिया गया है। इस प्रकार सायण का भाष्य कुछ भी छूट नहीं सका है। यह अवश्य है कि उनकी अपूर्ण स्वरविवेचना भी पूरी कर दी गयी है। विवेचना-खंड अपने आप में एक नवीन अध्याय है जिसमें अबतक की सभी सुलभ सामग्री का उपयोग करके वेदार्थनिर्णय किया गया है। इसमें कलकत्ता रिसर्च इंस्टीट्यूट के ऋग्वेद-संस्करण से बहुत अधिक सहायता मिली है। प्रत्येक शब्द के स्वर की विवेचना भी विद्वानों को अच्छी लगेगी, ऐसा विश्वास है। परिशिष्ट में संक्षिप्त वैदिक व्याकरण तथा स्वर-प्रक्रिया का निरूपण है।

अपनी बुद्धि तथा अध्यापन के अल्पकालिक अनुभव के आधार पर इस संस्करण को सुन्दर तथा उपयोगी बनाने का प्रयास तो किया है किन्तु सफलता का प्रमाणपत्र तो कृपालु पाठक ही देंगे। मेरा तो संशयालु चित्त यही कहता है—

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

श्रीगंगादशहरा
वि० सं० २०२०

—उमाशंकरशर्मा 'ऋषिः'

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

ऋग्वेदसंहिता

सपदपाठाङ्ग्लानुवाद-हिन्दीव्याख्या-सायण-स्कन्दभाष्योपेता

प्रथमोऽध्यायः

(१) प्रथमं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।

१ ॐ अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ॥
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ १ ॥

ॐ अ॒ग्निम् । ई॒ळे॒ । पु॒रः॒ऽहि॑तम् । य॒ज्ञस्य॑ । दे॒वम् । ऋ॒त्विज॑म् ॥
होता॑रम् । र॒त्न॒ऽधात॑मम् ॥ १ ॥

Old–I magnify Agni, the purohita, the divine ministrant of the sacrifice, the Hotṛ priest, the greatest bestower of treasures.

[मैं] (पुरोहितं) पुरोहितस्वरूप, यज्ञसम्पादक, (यज्ञस्य) यज्ञ के (देवं) दानादिगुणों से युक्त या दिव्य (होतारम्) होता नामक (ऋत्विजम्) ऋत्विज तथा (रत्नधातमम्) धनों के सर्वश्रेष्ठ दाता (अग्निम्) अग्निदेव का (ईळे)स्तवन करता हूँ ॥ १ ॥

सायणः—अग्निनामकं देवम् ईळे स्तौमि । 'ईड् स्तुतौ' (धा० २१९) इति । डकारस्य ळकारो बह्वृचाध्येतृसम्प्रदायप्राप्तः । तथा च पठ्यते—

अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः ।
अज्मध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम् ॥ इति ।

मन्त्रस्य होत्रा प्रयोज्यत्वादहं होता स्तौमीति लभ्यते । कीदृशमग्निम् ? यज्ञस्य पुरोहितम् । यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं सम्पादयति । यद्वा, यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम् । पुनः कीदृशम् ? देवम् । दानादिगुणयुक्तम् । पुनः कीदृशम् ? पुनः कीदृशम् ? होतारम् ऋत्विजम् । देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव ।

तथा च श्रूयते—'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ० ब्रा० ३।१४) इति। पुनरपि कीदृशम्? रत्नधातमम्। यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा।......

अथ व्याकरणप्रक्रियोच्यते—अगिधातोर्गत्यर्थात् (धा० भ्वा० १४६) 'अङ्गेर्नलोपश्च' (उ० ४।४९०) इत्यौणादिकसूत्रेण नि-प्रत्ययः इदित्वान्नुमागमेन प्राप्तस्य नकारस्य (पा० ७।१।५८) लोपको भवति। अङ्गति स्वर्गं गच्छति हविर्नेतुमित्यग्निः। अत्र यास्कः—अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति संनममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इताद्, अक्ताद्दग्धाद्वा, नीतात्। खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः। (नि० ७।१४) इति। अग्रणीरिति। देवसेनामग्रे स्वयं नयतीत्यग्रणीः—इत्यग्निशब्दस्याद्यं प्रवृत्तिनिमित्तम्। 'अग्निर्वै देवानां सेनानीः', 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (ऐ० ब्रा० १।४) 'अग्निर्वै देवानामवमः (ऐ० ब्रा० १।१) 'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्' (तै० ब्रा० २।४।३।३), 'अग्निरवमो देवतानाम्' 'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इत्यादीनि ब्राह्मणानि। यज्ञेष्वग्निहोत्रेष्टिपशुसोमरूपेष्वग्रं पूर्वदिग्वर्त्याहवनीयदेशं प्रति गार्हपत्यात्प्रणीयत इति द्वितीयं प्रवृत्तिनिमित्तम्। संनममानः सम्यक् स्वयमेव प्रह्वीभवन्नङ्गं स्वकीयं शरीरं नयति काष्ठदाहे हविःपाके च प्रेरयतीति तृतीयं प्रवृत्तिनिमित्तम्।

यास्कः—अग्निमीळेऽग्निं याचामि। ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा। पुरोहितो व्याख्यातः [नि० २।१२—पुर एनं दधाति]। यज्ञस्य देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्। जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमम् = रमणीयानां धनानां दातृतमम्। (नि० ७।१५)।

स्कन्दस्वामी—अग्निमीळे = अग्निमहं स्तौमि। कीदृशं, पुरोहितम्। शान्तिपौष्टिकैः कर्मभिर्यो राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहित इत्युच्यते। तत्स्थानीयम्। यज्ञस्य यज्ञाधिकृतस्य। 'यज्ञो वै यजमान' इति श्रुतेः। आपदामपहन्तारमित्यर्थः। देवम्। दीव्यतिर्दानार्थे दीप्त्यर्थे वा। दातारं दीप्तं वा। अथवा पुरोहितशब्दः क्रियाशब्दः। पूर्वस्यां दिशि निहितमाहवनीयात्मना स्थापितम्। यज्ञस्येत्येतत्तु देवमित्यनेन सम्बध्यते। यज्ञस्य दातारं दीपयितारं वा। यज्ञं हि देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति। तदायत्तत्वाद् दीपयति च। न च यज्ञस्य देवमेव केवलं, किं तर्हि? ऋत्विजम्। कतमं, होतारम्। 'अग्निर्वै देवानां होतेति श्रुतेः। अग्निर्देवेभ्यो होता, तदधिकृतस्तु मानुषो होता, हौत्रं कर्म करोति। अथवा ऋत्विग्घोतृशब्दावपि क्रियाशब्दावेव। ऋतावृतौ यष्टारम्

ऋत्विजम् । यो यो यागकालस्तत्र तत्र यष्टारमित्यर्थः । होतारमाह्वातारम् । कस्य, सामर्थ्याद् देवानाम् । रत्नधातममिति । रत्नमिति धन नाम। दधातिर्दानार्थः । धनानामतिशयेन दातारम् ।

२ अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त ।
स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥ २ ॥
अ॒ग्निः । पूर्वे॑भिः । ऋषि॑ऽभिः । ईड्यः॑ । नूत॑नैः । उ॒त ।
सः । दे॒वान् । आ । इ॒ह । व॒क्ष॒ति॒ ॥ २ ॥

Old—Agni, worthy to be magnified by the ancient ṛṣis and by the present ones—may he conduct the gods hither.

(अ॒ग्निः) जो अग्निदेव (पूर्वेभिः) [भृगुअंगिरा आदि] प्राचीन काल वाले (ऋषिभिः) ऋषियों के द्वारा (उत) और (नूतनैः) नये ऋषियों के द्वारा भी (ईड्यः) स्तवन के योग्य हैं, (सः) वे अग्निदेव (देवान्) देवताओं को (इह) इस यज्ञ या संसार में (आवक्षति) बुला लावें ॥ २ ॥

सायणः—अयमग्निः पूर्वेभिः पुरातनैः भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः ऋषिभिः ईड्यः स्तुत्यो नूतनैः उत इदानीन्तनैरस्माभिरपि स्तुत्यः । स अग्निः स्तुत्यः सन्निह यज्ञे देवान् हविर्भुज आ वक्षति । वह प्रापणे (धा० भ्वा० १०२९) इति धातुः । आवहत्वित्यर्थः । पूर्वेभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०) इति भिस ऐसादेशाभावः । पुर्व पर्व मर्व पूरणे (धा० १५६८–७०) इति धातुः । पूर्वतिधातोरन्प्रत्यय औणादिकः । इन्प्रत्ययान्त ऋषिशब्दः । 'ऋष्यन्धक०' (पा० ४।१।११४) इति निपातनाल्लघूपधगुणाभावः । किप्रत्ययो (उ० ४।५५९) वात्र ज्ञेयः ।...उतशब्दो यद्यपि विकल्पार्थे प्रसिद्धस्तथापि निपातत्वेनानेकार्थत्वादौचित्येनात्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' (निरु० १।४) इति निपातत्वम् । देवानित्यस्य नकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि०' (८।३।९) इति रुत्वम् । 'अत्रानुनासिकः०' (पा० ८।३।२) इत्यनुवृत्तौ 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० ८।३।३) इत्याकारः सानुनासिकः । 'भोभगो०' (पा० ८।३।१७) इति रोर्यकारः । स च 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति लुप्यते । तस्यासिद्धत्वान्न पुनः सन्धिकार्यम् । वहतिधातोर्लोडर्थे छान्दसो लृट् । तस्य स्यप्रत्ययगतस्य यकारस्य लोपोऽपि छान्दसः । यद्वा, लेटि 'सिब्बहुलम्०' (पा० ३।१।३४) इति सिप्प्रत्ययः । 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इत्यडागमश्च । ततो वक्षतीति सम्पद्यते ।

स्कन्दः—किं कारणम् ? यस्मात्पूर्वेभिर्ऋषिभिः, पूर्वैरस्मत्तः पूर्वकालैर्भृग्वङ्गिरः प्रभृतिभिः । ईड्यः स्तुत्यः । नूतनैरुत । नूतनमिति नवं नाम । उतशब्दोऽ-

प्यर्थे समुच्चये । नवैश्चेत्यर्थः । यावान् कश्चिदृषिस्तेन सर्वेण यतः स्तोतव्यः, अतोऽहं स्तौमीत्यर्थः । एवमस्यार्धर्चस्य पूर्वयचैकवाक्यता । अपरः पादो भिन्नं वाक्यम् । स प्रकृतोऽग्निर्देवानेह वक्षति । आ इत्युपसर्गो व्यवहितोऽपि वक्षतीत्याख्यातेन सम्बध्यते । लडर्थे लेट् । इहेति कृत्स्नस्य जगतः प्रतिनिर्देशः । इहेति कृत्स्ने जगति । स एव देवानावहति यज्ञेषु, नान्यः कश्चिदित्यर्थः । अथवा अनयोरर्धर्चयोरेकवाक्यताप्रसिद्ध्यर्थं यत्तदोरुद्देशप्रतिनिर्देशार्थयोर्नित्यसम्बन्धात् स देवानिति च प्रतिनिर्देशार्थतच्छब्दश्रुतेः पूर्वस्मिन्नर्धर्चे उद्देशार्थो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । यः पूर्वैर्नवैश्च स्तुत्योऽग्निः, स देवानिह जगति आवक्षत्यावहति । अथवा, इहेति प्रकृतस्य कर्मणः प्रतिनिर्देशः । वक्षतीति लोडर्थो लट् । इह कर्मणि देवानावहत्विति ॥ २ ॥

३ अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे ।
य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

अ॒ग्निना॑ । र॒यिम् । अ॒श्न॒व॒त् । पोष॑म् । ए॒व । दि॒वेऽदि॑वे ।
य॒शस॑म् । वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥ ३ ॥

Old—May one obtain through Agni wealth and welfare day by day, which may bring glory and high bliss of valiant offspring.

[अग्नि का स्तवन करने वाला पुरुष] (अग्निना) अग्निदेव से (दिवेदिवे) प्रतिदिन, निरन्तर (पोषम् एव) केवल बढ़ने वाला [कभी क्षीण न होने वाला (वीरवत्तमम्) वीर सन्तानों से अधिकाधिक सम्पन्न तथा (यशसम्) कीर्ति प्रदान करने वाला (रयिम्) धन (अश्नवत्) पावे ॥ ३ ॥

सायणः—योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन अग्निना निमित्तभूतेन यजमानो रयिं धनम् अश्नवत् प्राप्नोति । कीदृशं रयिम् ? दिवेदिवे पोषमेव । प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु कदाचिदपि क्षीयमाणम् । यशसं दानादिना यशोयुक्तम् । वीरवत्तमम् अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम् । सति हि धने पुरुषाः सम्पद्यन्ते ॥ रयिशब्दो मघमित्यादिधननामसु पठितः (निघ० २।१०) । अश्नोतेर्धातोर्लेटि व्यत्ययेन तिप् । 'इतश्च लोपः०' (पा० ३।४।९७) इतीकारलोपः । 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इत्यडागमः । ततोऽश्नवदिति भवति । वकारान्ताद्दिवशब्दात्परस्याः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना शेभावः । 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८।१।४) इति द्विर्भावः । यशोऽस्यास्तीति विग्रहे सति 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० ५।२।१२७) इत्यच्प्रत्ययः ।

स्कन्द —अग्निनेति तृतीयानिर्देशाद् दत्तमिति वाक्यशेषः पञ्चम्यर्थे वा

तृतीया। अग्निना दत्तम्, अग्नेर्वा सकाशात्। रयिं धनम्। अश्नवद् अश्नुते प्राप्नोति। कः ? सामर्थ्यात्स्तोता। न केवलं धनं, किं तर्हि, पोषमेव। एव-शब्दोऽवधारणासम्भवाच्चार्थे। पुष्टिं च। कदा ? दिवेदिवे अहन्यहनि। सर्वका-लमित्यर्थः। यशसम्। यशश्शब्दः कीर्तिपर्यायः। छान्दसत्वाच्चामो न लुक्। यशश्च कीर्तिं चेत्यर्थः। कीदृशं यशः ? उच्यते। वीरवत्तमम्। वीराः पुत्रास्ते यस्मिन्सन्ति तद् वीरवद्। अतिशयेन वीरवद् वीरवत्तमम्। बहुभिः पुत्रैः सहितमित्यर्थः ॥ ३ ॥

४ अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑।
स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति ॥ ४ ॥

अग्ने॑। यम्। य॒ज्ञम्। अ॒ध्व॒रम्। वि॒श्वतः॑। परि॒ऽभूः। असि॑।
सः। इत्। दे॒वेषु॑। ग॒च्छ॒ति॒ ॥ ४ ॥

Old—Agni, whatever sacrifice and worship thou encompassest on every side, that indeed goes to the gods.

(अग्ने) हे अग्निदेव, [आप] (यम्) जिस (अध्वरं) हिंसारहित (यज्ञं) यज्ञ को (विश्वतः) चारों ओर से (परिभूः असि) परिव्याप्त कर लेते हैं, (स इत्) वह निश्चित ही, या केवल वही (देवेषु) देवताओं तक (गच्छति) पहुँच पाता है ॥ ४ ॥

सायणः—हे अग्ने, त्वं यं यज्ञं विश्वतः सर्वासु दिक्षु परिभूः परितः प्राप्तवा-नसि, स इत् स एव यज्ञो देवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गं गच्छति। प्राच्यादिचतुर्दिग-न्तेष्वाहवनीय-मार्जालीयगार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेषु अग्निरस्ति। परिशब्देन होत्रि-यादिधिष्ण्यव्याप्तिर्विवक्षिता। कीदृशं यज्ञम् ? अध्वरं हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति।

स्कन्दः—हे अग्ने, यं यज्ञम् अध्वरम्। अध्वरशब्दोऽयं यज्ञमित्यनेन पौनरुक्त्याच्च यज्ञनाम। किं तर्हि ? तद्विशेषणम्। हिंसावचनो ध्वरतिः हिंसाकर्मा। ध्वरणं ध्वरो हिंसा यस्मिन्नास्ति सोऽध्वरः। यज्ञे हि सर्वस्यानुग्रहो, न हिंसा। येऽपि हि तत्र पश्वादयो हिंस्यन्ते तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्टाः स्मरन्ति—

'ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितीः पुनः ॥' इति।

तस्मादुपपन्नं हिंसावर्जितत्वम्। अथवा षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः। अविद्यमानो ध्वरो यस्य सोऽध्वरः। रक्षोभिर्हिंसितुमशक्यमित्यर्थः। सर्वत्र षष्ठ्यर्थे द्वितीया। यस्य यज्ञस्य हिंसावर्जितस्य विश्वतः सर्वतः परिभूः। परिपूर्वो भवति सर्वत्र

परिग्रहे। परिग्रही भवसि। स इदिति। इच्छब्द एवार्थे। स एव देवेषु गच्छति। देवास्तमेव परिगृह्णन्ति, नान्यमित्यर्थः॥ ४॥

५ अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥ ५॥
अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः।
देवः। देवेभिः। आ। गमत्॥ ५॥

Old—May Agni, the thoughtful Hotṛ, he who is true and most splendidly renowned, may the god come hither with the gods.

(अग्निः) अग्निदेव [जो] (होता) [देवताओं का आवाहन करने वाले] होतृनामक पुरोहित हैं, जो (कविक्रतुः) अप्रतिहत प्रज्ञा वाले, (सत्यः) सच्चे [अर्थात् अवश्य फलदाता तथा] (चित्रश्रवस्तमः) सर्वाधिक सुन्दर कीर्ति सम्पन्न हैं [वे] (देवः) देव (देवेभिः) दूसरे देवताओं के साथ (आगमत्) आवें॥ ५॥

सायणः—अयमग्निर्देवः अन्यैः देवैर्हविर्भोजिभिः सह आगमत् अस्मिन्यज्ञे समागच्छतु। कीदृशोऽग्निः? होता होमनिष्पादकः। कविक्रतुः। कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनः, न तु मेधाविनाम। क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम। ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा। सत्यः अनृतरहितः, फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः। चित्रश्रवस्तमः, श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः। अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः। कविक्रतुश्चित्रश्रवस्तम इत्यत्रोभयत्र बहुव्रीहिः। सत्सु साधुः सत्यः। लोडन्तस्य गच्छत्वितिशब्दस्य छत्वाभावः। उकारलोपश्छान्दसः। ततो रूपं गमदिति भवति। स्पष्टमन्यत्॥ ५॥

स्कन्दः—अग्निर्होता देवानाम्। कविक्रतुः कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनो, न मेधाविनाम। क्रतुशब्दः प्रज्ञानाम कर्मनाम वा। क्रान्तं गतं सर्वत्राप्रतिहतं प्रज्ञानं कर्म वा यस्य स कविक्रतुः। सत्यः अभिसम्पादकः। यथाभिलषितफलद इत्यर्थः। चित्रश्रवस्तमः 'चायृ पूजानिशामनयोः' (धा० भ्वा० ९०५) इत्यस्य चित्रं पूजनीयं। विचित्रपर्यायो वा चित्रशब्दः। श्रव इत्यन्ननाम वा, धन नाम वा, कीर्ति पर्यायो वा। अतिशयेन पूज्यं विचित्रं वाऽन्नादीनामन्यतमं यस्य स चित्रश्रवस्तमः। देवो दानादिगुणः। देवेभिः सहयोगलक्षणा एषा तृतीया। देवैः सह। आगमत् आगच्छतु॥ ५॥

६ यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥ ६॥

यत् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भद्रम् । करिष्यसि ।
तव । इत् । तत् । सत्यम् । अङ्गिरः ॥ ६ ॥

Old—Whatever good thou wilt do thy worshipper, O Agni that (Work) verily is thine, O Angiras.

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (दाशुषे) हविप्रदान करने वाले यजमान के लिए (त्वम्) आप (यद् भद्रम्) जो भी कल्याणकर कार्य (करिष्यसि) करना चाहते हैं; (अङ्गिरः) हे अङ्गिरस्, (तत्) वह (सत्यम्) नियमपूर्वक होने वाला कार्य = कल्याणकार्य (तव इत) आपका ही है, [किसी दूसरे से यह सम्भव नहीं है] ॥ ६ ॥

सायणः—अङ्गेत्यभिमुखीकरणार्थो निपातः। अङ्गाग्ने, त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थम्। यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि तद् भद्रं तवेत् तवैव सुखहेतुरिति शेषः। हे अङ्गिरः ! अग्ने ! एतच्च सत्यं न त्वत्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति। भद्रशब्दार्थं शाट्यायनिनः समामनन्ति—'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्' इति। 'दाश्वान्साह्वान्०' (पा० ६।१।१२) इति सूत्रेण 'दाश्रृ दाने' (धा० भ्वा० ९०७) इति धातोः क्वसुप्रत्ययो निपातितः। भद्रशब्दः 'भदि कल्याणे' (धा० १।१२) इति धातो रक् प्रत्ययेन (उ० २।२९) निपात्यते। 'अङ्गिरा अङ्गाराः' इति यास्कः (नि० ३।१७)। ऐतरेयिणोऽपि प्रजापतिदुहितृध्यानोपाख्याने समामनन्ति—'येऽङ्गारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ० ब्रा० ३।३४) इति तस्मादङ्गिरोनामकमुनिकारणत्वादङ्गाररूपस्याग्नेरङ्गिरस्त्वम्।

स्कन्दः—अङ्गेति निपातोऽत्र पादपूरणः क्षिप्रार्थो वा सामर्थ्यात्। यत् क्षिप्रं दाशुषे। दाश्वान्यजमानो हविषां दातृत्वात्, तस्मै। त्वं हे अग्ने, भद्रं भजनीयं स्तुत्यमुत्कृष्टम्। इष्टमित्यर्थः। किं पुनस्तत् ? धनमन्नं वा। करिष्यसि दास्यसि। तवेत् तवैव तत्। यद्यजमानाय भद्रं दास्यसि यज्ञान्तरे तत्तुभ्यं दास्यति। तस्मात्तवैव। सत्यं मयोक्तम्। अथवा करिष्यसि चिकीर्षसि। यद्यजमानाय भद्रं धनमन्नं वा चिकीर्षसि तवैव तत्सत्यं नान्यस्य। यथेष्टफलप्रदत्वमेव नान्यः। हे अङ्गिरः ! अङ्गिरस ऋषेरग्नित उत्पत्तिः। तत्रेतिहासः—

त्रिसांवत्सरिकं सत्रं प्रजाकामः प्रजापतिः।
आहरत्सहितः साध्यैर्विश्वैर्देवैस्तथा सह॥
तत्र वाग्दीक्षणीयायामाजगाम शरीरिणी।
रेतश्चस्कन्द तां दृष्ट्वा तस्याथ वरुणस्य च॥

तच्छुक्लं प्रवहन्वायुरग्नौ प्रास्यद्यदच्छया ।
ततोऽर्चिषि भृगुर्जज्ञे अङ्गारेष्वङ्गिरा ऋषिः ॥ (बृ० दे० ५।९७-९)

इति । अतोऽङ्गिरसः कारणमग्निः । कार्यशब्देन कारणाभिधानमङ्गिर इत्यग्नेः । अथवा गुणतः । अङ्गानि शरीरावयवाः । तद्वदङ्गि शरीरम् । तस्य स्थितिहेतुमशितपीतरसम् । करोतीत्यर्थे अङ्गिरसयति । 'तत्करोति तदाचष्टे' (पा० ३।१।२६ वा०) इति ण्यन्तात् क्विप् । हे अङ्गिरः, शरीरस्थितिहेतोरशितपीतरसस्य कर्तः ! जाठरो ह्यग्निरन्नं रसीकरोति । रसो लोहित-मांस-स्नाय्वस्थि-मज्जा-शुक्लभावेन परिणममानः शरीरस्थितिहेतुर्भवति ॥ ६ ॥

७ उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् ।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ ७ ॥
उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । दि॒वेऽदि॑वे । दोषा॑ऽवस्तः । धि॒या । व॒यम् ।
नम॑ः । भर॑न्तः । आ । इ॒म॒सि॒ ॥ ७ ॥

Old—Thee, O Agni, we approach day by day, O (god) who shinest in the darkness, with our prayer, bringing adoration to thee.

(दोषावस्तः) अन्धकार को आलोकपूर्ण करनेवाले (अग्ने) हे अग्निदेव, (त्वा उप) आपके समीप (वयम्) हमलोग (धिया) विचारपूर्वक (दिवेदिवे) प्रतिदिन (नमः) स्तुति (भरन्तः) करते हुए (एमसि) आते हैं ॥ ७ ॥

सायणः—हे अग्ने, वयमनुष्ठातारः दिवेदिवे प्रतिदिनं दोषावस्तः रात्रावहनि च धिया बुद्ध्या नमः भरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्तः उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः । 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पा० ८।१।२३) इति युष्मच्छब्दस्यानुदात्तस्त्वादेशः । दोषाशब्दो रात्रिवाची । वस्तरित्यहर्वाची । नम इति निपातः । 'इमसि' इत्यत्र 'इदन्तो मसिः' (पा० ७।१।४६) इत्यादेशो निघातश्च ।

स्कन्दः—उपेत्युपसर्गः इमसीत्यन्तेनाख्यातेन सम्बन्धयितव्यः । हे अग्ने ! दिवेदिवे अहन्यहनि दोषावस्तः ! दोपेति रात्रिनाम । 'वस आच्छादने' । रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयितः ! धिया यादृश्यस्माकं प्रज्ञा तादृश्या वयं नमः स्तुतिं भरन्तः । 'हृञ् हरणे' इत्येतस्यैवैतत् । भत्वं 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० ३।१।८४ वा०) इति । हस्य भः । हरन्तः प्रापयन्तः, स्तुतिं कुर्वन्त इत्यर्थः । त्वा त्वामुप एमसि । आङत्र धात्वर्थानुवादी । उपागच्छामः ॥ ७ ॥

८ राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् ।
वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥ ८ ॥

Old—Who art the king of all worship, the guardian of ṛta, the shining one, increasing in thy own house.

(अध्वराणां) हिंसारहित यज्ञों के (राजन्तम्) प्रशासक, (ऋतस्य) अनिवार्य नियम के (गोपां) संरक्षक, (दीदिविं) प्रकाशमय तथा (स्वे) अपने (दमे) गृह अर्थात् यज्ञशाला में (वर्धमानम्) निरन्तर वर्धनशील [अग्नि के पास हम जाते है—पूर्वमन्त्र से सम्बन्ध] ॥ ८ ॥

सायणः—पूर्वमन्त्रे त्वामुपैम इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम् । कीदृशं त्वाम् ? राजन्तं दीप्यमानम् । अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां गोपां रक्षकम् । ऋतस्य सत्यस्यावश्यम्भाविनः कर्मफलस्य दीदिविं पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम् । आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते । स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिः वर्धमानम् ।

स्कन्दः—कीदृशं त्वाम् ? उच्यते—राजन्तम् । राजतिरैश्वर्यकर्मा । ईशानम् । कस्य ? अध्वराणां यज्ञानाम् । गोपां रक्षितारं च । कस्य ? ऋतस्य यज्ञस्यैव । ऋतशब्दो ह्यपठितोऽपि भूयिष्ठं यज्ञनाम दृश्यते । दीदिविम् अत्यर्थं दीप्तं वर्धमानं स्वे आत्मीये दमे यज्ञगृहे । दम इति गृहनाम । सामर्थ्यादत्र यज्ञगृहे वर्तते ॥ ८ ॥

९ स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

सः । नः । पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः । भव ।
सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ ९ ॥

Old—Thus O Agni, be easy of access to us, as a father is to his son. Stay with us for our happiness.

(अग्ने) हे अग्निदेव, (सः) वही आप (नः) हमारे लिए (सूपायनः) आसानी से प्राप्य, सुगम (भव) बन जायँ (पितेव) जिस प्रकार कोई पिता (सूनवे) अपने पुत्र के लिए [सुगम रहता है]। (नः) हमारे (स्वस्तये) कल्याण के लिए [आप हमारे] (सचस्व) पास रहें ॥ ९ ॥

सायणः—हे अग्ने, स त्वं नः अस्मदर्थं सूपायनः शोभनप्राप्तियुक्तो भव। तथा नः अस्माकं स्वस्तये विनाशराहित्यार्थं सचस्व समवेतो भव। तत्रोभयत्र दृष्टान्तः-। यथा सूनवे पुत्रार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति तद्वत्॥ 'इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्' (पा० २।२।१८ वा०) इति समस्तः पितेवेति शब्दो मध्योदात्तः। शोभनमुपायनमस्येति बहुव्रीहिः। 'नञ्सुभ्याम्०' (पा० ६।२।१७२) इति अन्तोदात्तत्वम्।

स्कन्दः—स इति पूर्वप्रतिनिर्देशो वा तच्छब्दश्रुतिसामर्थ्यादेव वा योग्यार्थसम्बन्धो वा। यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। यं त्वामस्तोष्महि, स त्वं नोऽस्माकं पितेव सूनवे। सूनुरित्यपत्यनाम। षष्ठ्यर्थे चात्र चतुर्थी। यथा पिता पुत्रस्य, एवं हे अग्ने, सूपायनः सूपगमः सुखोपसर्पो भव। सचस्व सेवस्व च नः अस्मान् स्वस्तये। स्वस्तीत्यविनाशनाम। अविनाशाय। रक्षितुमस्मानस्मत्समीपे नित्यं भवेत्यर्थः॥ ९॥

(२) द्वितीयं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । देवताः—वायुः (१-३) । इन्द्रवायू (४-६) । मित्रावरुणौ (७-९) गायत्रीछन्दः ।

१० वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ १ ॥

वायो इति । आ । याहि । दर्शत । इमे । सोमाः । अरंऽकृताः ।
तेषाम् । पाहि । श्रुधि । हवम् ॥ १ ॥

Come, handsome Vāyu; these Soma-draughts are prepared; drink them; hear (our) invocation.

(दर्शत) हे दर्शनीय (वायो) वायुदेव ! [हमारे इस याज्ञिक कर्म में] (आयाहि) आइये, (इमे) यह सामने (सोमाः) सोमरस (अरंकृताः) संस्कृत करके प्रस्तुत किया गया है । (तेषां) इसका (पाहि) पान कीजिये और (हवम्) हमारी आह्वानात्मक स्तुति (श्रुधि) सुनिये ॥ १ ॥

सायणः—दर्शत हे दर्शनीय वायो कर्मण्येतस्मिन् आ याहि आगच्छ । त्वदर्थम् इमे सोमाः अरंकृता अलंकृताः । अभिषवादिसंस्कारोऽलंकारः । तेषां तान् सोमान् । यद्वा, तेषामेकदेशमित्यध्याहारः । पाहि स्वकीयं भागं पिबेत्यर्थः । तत्पानार्थं हवम् अस्मदीयमाह्वानं श्रुधि श्रृणु । अत्र यास्कः—"वायवा याहि दर्शनीयेमे सोमा अरंकृता अलंकृतास्तेषां पिब श्रृणु नो ह्वानम्"—(नि० १०।२) इति ॥ दर्शतेत्यत्र 'भृमृदृशि०' (उ० सू० ३।३९०) इत्यादिसूत्रेण अतच्प्रत्यय औणादिकः । अलमित्यत्र छान्दसो रेफादेशः । श्रुधीत्यत्र 'श्रुश्रृणु०' (पा० ६।४।१०२) इत्यादिना हेर्धिभावः । हवमित्यत्र ह्वयतिधातोः 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति संप्रसारणे सत्युकारान्तत्वात् 'ऋदोरप्' (पा० ३।३।५७) इति अप्प्रत्ययः । संहितायां श्रुधीत्यस्य 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति दीर्घः ।

स्कन्दः—पृथग्देवत्याः सप्तात उत्तरेऽनन्तरास्तृचः । ये सप्त तृचा अत उत्तरे अनन्तरा एव पृथग्देवत्याः । तृचो वायव्यः । प्रथमस्तावत् तृचो वायुदेवतः । हे वायो ! आयाहि आगच्छ । हे दर्शत । अर्हे कृत्यार्थेऽयमतच् । दर्शनीय ! दर्शनार्ह ! यो हि दृष्टो दर्शनफलं साधयति, स दर्शनार्हः, नेतरः ।

किं कारणमागच्छानि। उच्यते। इमे सोमा अरंकृताः। अलंशब्दस्य पर्याप्त्यर्थस्य भूषणार्थस्य वेदम्। लकारस्य रत्वं छान्दसम्। पर्याप्ताः कृता भूषिता वा। बहवः कृताः श्रयणादिभिर्वा संस्कारैः संस्कृता इत्यर्थः। तेषाम्। द्वितीयार्थे षष्ठी एषा। षष्ठीनिर्देशादेव वा एकदेशमिति शेषः। तान् वैकदेशं स्वांशलक्षणं पाहि पिब। अतः सप्रयोजनत्वादागमनस्य श्रुधि शृणु हवम् आह्वानम्। मात्रानादरं कृथाः ॥ १ ॥

११ वाय॑ उ॒क्थेभि॑र्जरन्ते॒ त्वामच्छा॑ जरि॒तार॑ः ॥
सु॒तसो॑मा अह॒र्विद॑ः ॥ २ ॥
वायो॒ इति॑। उ॒क्थेभि॑ः। ज॒र॒न्ते॒। त्वाम्। अच्छ॑।
ज॒रि॒तार॑ः। सु॒तऽसो॑माः। अ॒हः॒ऽविद॑ः ॥ २ ॥

O Vāyu, the praisers, who have pressed out the Soma-juice and know the proper season, are praising you with holy praises.

(वायो) हे वायुदेव! (त्वाम् अच्छ) आपके उद्देश्य से (सुतसोमाः) सोमरस का अभिषवन किये हुए तथा (अहर्विदः) कालवेत्ता अथवा एक दिन में सम्पन्न होने वाले यज्ञों के वेत्ता (जरितारः) स्तुति करने वाले [पुरोहित या यजमान] (उक्थेभिः) स्तुतियों से (जरन्ते) स्तवन करते हैं ॥ २ ॥

सायणः—हे वायो जरितारः स्तोतारः ऋत्विग्यजमानाः, त्वामच्छ त्वामभिलक्ष्य उक्थेभिः आज्यप्रउगादिशस्त्रैः, जरन्ते स्तुवन्ति। कीदृशाः? सुतसोमाः अभिषुतेन सोमेनोपेताः। अहर्विदः। अहः शब्द एकेनाह्ना निष्पाद्येऽग्निष्टोमादिक्रतौ वैदिकव्यवहारेण प्रसिद्धः। क्रतुभिज्ञा इत्यर्थः। 'अर्चति गायति' इत्यादिषु चतुश्चत्वारिंशत्स्वर्चति कर्मसु धातुषु 'जरते ह्वयति' (निघ० ३।१४।८) इति पठितम्। स्तुतेरप्यर्चना विशेषत्वादौचित्येनात्र स्तुत्यर्थे जरतिधातुः। अच्छशब्दस्य संहितायां 'निपातस्य च' (पा० ६।३।१३६) इति दीर्घः।

स्कन्दः—उक्थशब्दः स्तोत्रवचनः। उक्थैः स्तोत्रैः जरन्ते वायो त्वामच्छ अभिजरन्ते अभिष्टुवन्ति त्वां जरितारः स्तोतारः कीदृशाः? सुतसोमा कृतसोमाभिषवाः। अहर्विदः अहः शब्दोऽत्राह्ना यः समाप्यते ज्योतिष्टोमादिः सोमयागस्तस्य वाचकः, न दिवसस्य। प्रक्रान्तस्य ज्योतिष्टोमादेरहः परिनियतस्य सोमयागस्य ज्ञातार इत्यर्थः ॥ २ ॥

१२ वायो॒ तव॑ प्रपृञ्च॒ती धेना॑ जिगाति दा॒शुषे॑।
उ॒रू॒ची सोम॑पीतये ॥ ३ ॥

वायो इति । तव । प्रऽपृञ्चती । धेना । जिगाति । दाशुषे ।
उरूची । सोमऽपीतये ॥ ३ ॥

O Vāyu, your approving speech goes to the giver (of the libation) and to many (others who invite you) for drinking Soma.

(वायो) हे वायुदेव ! (तव) आपकी (प्रपृञ्चती) सोम से संपर्क स्थापित करने वाली या सोम के गुणों का वर्णन करने वाली तथा (उरूची) चारों ओर फैली हुई (धेना) वाणी, जिह्वा (सोमपीतये) सोमरस पीने के लिए (दाशुषे) [हविः—] दानशील यजमान के पास (जिगाति) जाती है ॥ ३ ॥

सायणः—हे वायो तव धेना वाक् सोमपीतये सोमपानार्थं दाशुषे दाश्वांसं दत्तवन्तं यजमानं जिगाति गच्छति । 'हे यजमान त्वया दत्तं सोमं पास्यामि' इत्येवं वायुः ब्रूते इत्यर्थः कीदृशी धेना । प्रपृञ्चती प्रकर्षेण सोमसंपर्कं कुर्वती सोमगुणं वर्णयन्तीत्यर्थः । 'श्लोको धारा' इत्यादि सप्तपञ्चाशत्सु वाङ्नामसु गणः धेनाम्नाः' (नि० १।११।३९) इति पठितम् । 'वर्तते अयते' इत्यादिषु द्वाविंशधिकशत संख्येषु गतिकर्मसु 'गति जिगाति' (निघ० २।१४।११३) इति पठितम् । दाशुषे इत्यत्र 'गत्यर्थकर्मणि०' (पा० २।३।१२) इति चतुर्थी । ऊरूचीत्यत्र गौरादित्वेन (पा० ४।१।४१) ङीप् ।

स्कन्दः—हे वायो ! तत्रावयवभूता प्रपृञ्चनी । सामर्थ्यात्सोमसम्पर्के वर्तते न यत्र क्वचित् । प्रकर्षेण सोममभिलषन्तीत्यर्थः । प्रपृञ्चनी प्रकर्षेण स्तूयमानेति वा । धेना जिह्वा ! किं करोति ? उच्यते । जिगाति गच्छति । दाशुषे दाश्वांसं यजमानं प्रतीत्यर्थः । कीदृशी ? उरूची बहून् यजमानान् प्रति गन्त्री । अवयव भूतजिह्वा गमनेन अवयविनो वायोरेव गमनं लक्षयेत । वायुर्गच्छतोत्यर्थः किमर्थम् ? सोमपीतये सोमपानार्थम् ।

१३ इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम् ।
इन्दवो वामुशन्ति हि ॥ ४ ॥
इन्द्रवायू इति । इमे । सुताः । उप । प्रयःऽभिः । आ गतम् ।
इन्दवः । वाम् । उशन्ति । हि ॥ ४ ॥

O Indra and Vāyu, here are Soma-libations (poured out for you). Come you with food (for us), for the Soma-drops are desiring you.

इन्द्रवायू) हे इन्द्रदेव और वायुदेव, (इमे) ये सोमरस (सुताः)

बुलाया जा चुके हैं, प्रस्तुत हैं; (प्रयोभिः) अन्न के साथ (उप आ गतम्) इस स्थान पर आप दोनों आइये, (हि) क्योंकि (इन्दवः) सोम के विन्दु (वाम्) आप दोनों को (उशन्ति) कामना करते हैं ॥ ४ ॥

सायणः—हे इन्द्रवायू, भवदर्थम् इमे सोमाः सुताः अभिषुताः तस्मात् युवां प्रयोभिः अन्नैरस्मभ्यं दातव्यैः सह उप आ गतम्, अस्मत्समीपं प्रत्यागच्छतम्। हि यस्मात् इन्दवः सोमाः वां युवाम् उशन्ति कामयन्ते तस्मादागमनमुचितम् ॥ प्रीणयन्ति भोक्तॄनिति प्रयांस्यन्नानि। प्रीञ्धातोरन्तर्भावितण्यर्थात् (पा० ३।१।२६) असुन्प्रत्ययः। गमिधातोर्लोण्मध्यमपुरुषद्विवचने 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुकि सति 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना मकारलोपः। ततोगतमिति भवति। 'उन्दीक्लेदने' (धा० ७।१९) इति धातोः 'उन्देरिच्चादेः' (उ० सू० १।१२) इति उन् प्रत्ययः। आद्यक्षरस्य इकारादेशः। सोमरस्य द्रवत्वात् क्लेदनं संभवति।

स्कन्दः—हे इन्द्रवायू! इमे अभिषुताः सोमाः। अत्यन्तशीघ्रैरश्वैः उपागच्छतम्। प्रयोभिः प्रकर्षेण गन्तृभिः। अथवा प्रयः अन्नम्। सवनीय पुरोडाशैः सह अभिषुताः। न केवलाः। एतदज्ञात्वा उपागच्छतम् अथवा अन्नैः सह उपागच्छतमस्मद्दानार्हैः यतोवयमन्नकामा यज्मः। कस्मात्? इन्दवो वामुशन्तिहि। सोमाः युवां कामयन्ते—वयमिन्द्रवायुभ्यां पीयेमहि इत्येवम्। तस्मादुपागच्छतम्।

१४ वाय॒विन्द्र॑श्च चेतथः सु॒ताना॑ं वाजिनीवसू।
तावा या॑त॒मुप॑ द्र॒वत् ॥ ५ ॥

वायो॒ इति॑। इन्द्रः॑। च॒। चे॒त॒थः॒। सु॒ताना॑म्।
वा॒जि॒नी॒व॒सू॒ इति॑ वाजिनीऽवसू।
तौ। आ। या॒त॒म्। उप॑। द्र॒वत् ॥ ५ ॥

O Vāyu and Indra, abiders in the rite, you are aware of these libations. Thus you both come hither quickly.

(वाजिनीवसू) बहुत अन्नों से सम्पन्न होने वाले यज्ञ के निवासी (वायोइन्द्रश्च) हे वायुदेव और इन्द्रदेव, (सुतानाम्) इस प्रस्तुत सोम को (चेतथः) आप दोनों जानते हैं। (तौ) तो वही आप दोनों (द्रवत्) शीघ्र (उप आ यातम्) समीप आइये ॥ ५ ॥

सायणः—अत्र चकारेणान्यः समुच्चीयते। संनिहितत्वाद्वायुरेव। हे वायो त्वम् इन्द्रश्च युवामुभौ सुतानाम् अभिषुतान् सोमान् चेतथः जानीथः। यद्वा।

अभिषुतानां सोमानां विशेषमित्याध्याहारः कीदृशौ युवाम् ? वाजिनीवसू । वाजिनीशब्दो यद्यप्युषोनामसु पठितस्तथाप्यत्रासंभवान्न गृह्यते । वाजोऽन्नम् । तद्यस्यां हविः संततावस्ति सा वाजिनी । तस्यां वसत इति तौ वाजिनी वसू । तौ तथाविधौ युवां द्रवत् क्षिप्रम् उप समीपे आ यातम् आगच्छतम् । षड्विंशतिसंख्याकेषु क्षिप्रनामसु 'नु क्षिप्रं मक्षु द्रवत्' (निघ० २।१५।३) इति पठितम् ।

स्कन्दः—यौ हे वायो ! त्वं चेन्द्रश्च चेतथो जानीथः । किम् ? सुतानाम् । द्वितीयार्थे षष्ठी । शेषमिति शेषो वा । सुतान् सोमान्, सुतानां सोमानां शेषं वा स्वांशम् । वाजिनीवसू । वाजिनीत्येतदिहासम्भवान्नोषोनाम । किं तर्हि ? यौगिकम् । वाजो हविर्लक्षणमन्नं तद्यस्यामस्ति सा वाजिनी यागसन्ततिः । तद्वन्तौ । हविष्मद्यागसन्ततिधनावित्यर्थः । अथवा वाजो वेगो बलं वा तद्वती वाजिनी सेना तद्धनौ । वेगबलयोरन्यतरेण युक्तया सेनयोपेतावित्यर्थः । तावायातमिति उपागच्छतम् । द्रवत् क्षिप्रम् ।

१५ वाय॒विन्द्र॑श्च सुन्व॒त आ या॑त॒मुप॑ निष्कृतम् ।
म॒क्ष्वि१॒॑त्था धि॒या न॑रा ॥ ६ ॥

वायो॒ इति॑ । इन्द्रः॑ । च॒ । सु॒न्व॒तः । आ । य॒त॒म् ।
उप॑ । निः॒ऽकृतम् । म॒क्षु । इ॒त्था । धि॒या । न॒रा ॥ ६ ॥

O Vāyu and Indra, come to the purified (Soma) of the Soma-presser; quickly thus, O men, (will purification be accomplished) by this rite.

(वायो) हे वायुदेव (इन्द्रः च) और इन्द्रदेव, (सुन्वतः) सोम का अभिषवण करने वाले यजमान के (निष्कृतम्) संस्कृत या प्रस्तुत [सोम के लिए] (उप आ यातम्) आइये । (नरा) हे मनुष्यों अर्थात् इन्द्र और वायुदेव (इत्था) सचमुच [ऐसा होने पर] (धिया) इस कर्म के द्वारा (मक्षु) शीघ्र ही [सोम में संस्कार का आधान होगा] ॥ ६ ॥

सायणः—हे वायो त्वम् इन्द्रश्च सुन्वतः सोमाभिषवं कुर्वतो यजमानस्य निष्कृतं संस्कृतं संस्कर्त्तारं वा सोमम् उप आ यातम् आगच्छतम् । नरा हे नरौ पुरुषौ पौरुषेण सामर्थ्येनोपेतौ, युवयोरागतयोश्च सतोः धियामुना कर्मणा मक्षु त्वरया संस्कारः सम्पत्स्यते । इत्था सत्यम् ॥ 'निरित्येष समित्येतस्य स्थाने' इति यास्कः (नि० १२।७) । कृतशब्द आदिकर्मणि कर्त्तरि क्तः (पा० ३।४।७१ । संस्कर्त्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः । कुगतिप्रादयः (पा० २।२।१८) इति समासः । नरा । 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना सम्बोधन द्विवचनस्य डादेशः ।

स्कन्दः—हे वायो, इन्द्रश्च त्वं च सुन्वतः सोममभिषुण्वतः यजमानस्य स्वभूतम् निष्कृतं संस्कृतं वेद्याख्यप्रदेशं मक्षु उपायातम्। उपागच्छतम् इत्थाऽमुतोऽन्तरिक्षात्स्वस्मात्स्थानात् धिया कर्मणा हेतुना। अस्मदीययागकर्म परिसमापयितुमित्यर्थः। अथवा इत्था सत्येन भवतोरविसंवादिना सर्वदैव युष्मत्सम्बद्धेन कर्मणा हेतुना। हे नरा देवानां च मनुष्यत्वासम्भवस्ततः सर्वत्र तदाकारत्वान्मनुष्यनामभिर्व्यपदेशः। मनुष्याकारौ। यथा मनुष्या हस्ताद्युपेतशरीरास्तद्वद्धस्ताद्युपेतशरीरावित्यर्थः॥ ६॥

१६ मि॒त्रं हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम्।
धियं॑ घृ॒ताचीं॒ साध॑न्ता॥ ७॥

मि॒त्रम्। हु॒वे॒। पू॒तऽद॑क्षम्। वरु॑णम्। च॒। रि॒शाद॑सम्।
धिय॑म्। घृ॒ताची॑म्। साध॑न्ता॥ ७॥

I invoke Mitra of pure strength, and Varuṇa, the devourer of the malicious, the joint accomplishers of the act of bestowing water (on the earth).

(पूतदक्षं) पवित्रबल वाले (मित्रम्) मित्रदेव को (हुवे) मैं बुलाता हूँ, (रिशादसम्) हिंसक शत्रुओं के भक्षक (वरुणं च) वरुणदेव को भी [मैं बुलाता हूँ। ये दोनों] (घृताचीम्) [पृथ्वी पर] वर्षा करने वाले (धियं) कार्य के (साधन्ता, न्तौ) सम्पादक हैं॥ ७॥

सायणः—अहमस्मिन् कर्मणि हविष्प्रदानाय पूतदक्षं पवित्रबलं मित्रं हुवे। तथा रिशादसं रिशानां हिंसकानाम् अदसम् अत्तारं वरुणं च हुवे आह्वयामि। कीदृशौ मित्रावरुणौ। घृतमुदकमञ्चति भूमिं प्रापयति या धीवर्षणकर्म तां घृताचीं धियं साधन्ता साधयन्तौ कुर्वन्तौ। मित्रशब्दः पुंल्लिङ्गः। हुवे इति ह्वयतेः 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुकि सति 'ह्वः संप्रसारणम्' (पा० ६।१।३२) इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति संप्रसारणे उवङादेशः। रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः शत्रवः। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० ३।१।१३५) इति कः। तानत्तीति रिशादाः, तम्। 'धीः' इति 'अपः' इत्यादिषड्विंशतौ कर्मनामसु (निघ० २।१।२१) पठितः। घृतमञ्चतीति घृताची। 'ऋत्विग्दधृक्०' (पा० ३।२।५९) इत्यादिना क्विनि 'अनिदिताम्०' (पा० ६।४।२४) इति नकारलोपः। 'अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्' (पा० ४।१।६ वा०) इति ङीप्। 'अचः' (पा० ६।४।१३८) इत्याकारलोपे 'चौ' (६।३।१३८) इति दीर्घत्वम्। साधन्ता। 'राध साध संसिद्धौ' इत्यस्माद्धन्त-

र्भावितण्यर्थात् लटः शत्रादेशे (पा० ३।२।१२४) श्नुं बाधित्वा व्यत्ययेन शप्।
'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना विभक्तेराकारादेशः ।

स्कन्दः—मित्रं हुवे आह्वयाम्यहम् । कीदृशम् ? पूतदक्षम् । पूतं शुद्धम् अपगतदोषं बलं यस्य स पूतदक्षस्तं पूतदक्षम् । न च केवलं मित्रम्, किं तर्हि ? वरुणम् । तं च कीदृशम् ? रिशादसम् । 'असु क्षेपणे' । 'रिशतोऽस्यतीति रिशादाः' तं रिशादसम् । हिंसकानां क्षेप्तारम् । प्रतिहिंसितारमित्यर्थः । एवमर्धर्चो विभक्तस्तुतिः । परस्तु सहस्तुतिः । धियं वृष्ट्याख्यं कर्म धीः, ताम् । घृताचीम् घृतमित्युदकनाम । उदकं पृथिवीं प्रति या गमयति, सा घृताची, ताम् । साधन्ता साधयन्तौ वृष्टिं कुर्वन्ताविरयर्थः ॥ ७ ॥

१७ ऋतेन॑ मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा ।
क्रतुं॑ बृहन्त॑माशाथे ॥ ८ ॥

ऋतेन॑ । मित्रावरुणौ । ऋत॒ऽवृधौ । ऋत॒ऽस्पृ॒शा ।
क्रतु॑म् । बृ॒हन्त॑म् । आ॒शा॒थे॒ इति॑ ॥ ८ ॥

O Mitra and Varuṇa, augmenters of Water, presenters of water, you attend this nearly completed rite for its true (reward).

(मित्रावरुणौ) हे मित्रदेव और वरुणदेव, [आप दोनों] (ऋतावृधौ) जल या सत्य के प्रवर्धक तथा (ऋतस्पृशा) जल या सत्य के संरक्षक हैं; (ऋतेन) सत्य के द्वारा ही (बृहन्त) प्रायः सम्पूर्ण, प्रौढ (क्रतुम्) यज्ञ को [आप दोनों] (आशाथे) व्याप्त कर लेते हैं ।

सायणः—हे मित्रावरुणौ युवां क्रतुं प्रवर्तमानमिमं सोमयागम् आशाथे आनशाथे व्याप्तवन्तौ । केन निमित्तेन । ऋतेन अवश्य भावितया सत्येन फलेन । अस्मभ्यं फलं दातुमित्यर्थः । कीदृशौ युवाम् । ऋतावृधौ । 'ऋतमित्युदकनाम' (नि० २।२५) 'सत्यं वा यज्ञं वा' (नि० ४।१९) इति यास्कः । उदकादीनामन्यतमस्य वर्धयितारौ । अत एव ऋतस्पृशा उदकादीन् स्पृशन्तौ । कीदृशं क्रतुम् । बृहन्तम् अङ्गैरुपाङ्गैश्च अतिप्रौढम् ॥ मित्रावरुणाविस्यत्र मित्रश्चवरुणश्चेति मित्रावरुणौ । 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६।३।२६) इति पूर्वपदस्य आनङादेशः । ऋतस्य वर्धयितारौ इत्यर्थेऽन्तर्भावितण्यर्थात् वृधेः क्विप् । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । ऋतस्पृशा । 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति डादेशः । क्रतुम् । 'कृञः क्तुः' (उ० सू० १।७७) । आशाथे आनशाथे । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति वर्तमाने लिट् । नुडभावश्छान्दसः ।

स्कन्दः—ऋतेन यज्ञेन हेतुना । हे मित्रावरुणौ ? ऋतावृधौ यज्ञे हि यद्धविस्तदुपभुञ्जानाः स्तूयमानाश्च देवता वीर्येण वर्धन्ते तदायत्तत्वात्तासां स्थितेः । अथवा वृद्धिरत्रान्तर्णीतण्यर्थः । ऋतशब्दोऽपि यज्ञनाम उदकनाम वा । यज्ञस्यो-

दकस्य वा वर्धयितारावित्यर्थौ वा । अथवा ऋतमिति सत्यनाम । सत्यस्य स्तोतुर्यजमानस्य वा वर्द्धयितारावित्यर्थौ वा । ऋतस्पृशौ यज्ञोपभोगकाले स्प्रष्टारौ । यज्ञे हविषां प्रतिग्रहीतारावित्यर्थः । अथवा ऋतस्योदकस्य वृष्टिकाले स्प्रष्टारौ वर्षितारावित्यर्थः । क्रतुं कर्म । बृहन्तम् महत् । आशाथे व्याप्नुथः । कुरुथ इत्यर्थः । यत्र यज्ञस्तत्र विषये वर्षथ इत्यर्थः ॥ ८ ॥

१८ कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया ।
दक्षं दधाते अपसम् ॥ ९ ॥

कवी इति । नः । मित्रावरुणा । तुविऽजातौ । उरुऽक्षया ।
दक्षम् । दधाते इति । अपसम् ॥ ९ ॥

O wise Mitra and Varuṇa, born for the benefit of many, the refuge of many, prosper our Strength and work.

(कवी) हे बुद्धिमान् (मित्रावरुणा) मित्रदेव और वरुणदेव, [आप दोनों] (तुविजाता) बहुत लोगों के हित के लिए उत्पन्न हुए हैं, (उरुक्षया) तथा विशाल निवासस्थान वाले हैं, [आप दोनों हमें] (दक्षम्) बल और (अपसम्) कर्म (दधाते) दें ।

सायणः—मित्रावरुणावेतौ देवौ नः अस्माकं दक्षं बलम्, अपसं कर्म च दधाते पोषयतः । कीदृशौ । कवी मेधाविनौ । तुविजातौ बहूनामुपकारतया समुत्पन्नौ । उरुक्षया बहुनिवासौ । विप्रः धीरः इत्यादिषु चतुर्विंशतिसंख्याकेषु मेधाविनामसु 'कविः मनीषी' (निघ० ३।१५।१०) इति पठितम् । 'उरु तुवि' (निघ० ३।१।१,२) इत्येतौ शब्दौ द्वादशसु बहुनामसु पठितौ । 'ओजः पाजः' इत्यादिषु अष्टाविंशतिसंख्याकेषु बलनामसु 'दक्षः वीळु' (निघ० २।९।१३) इति पठितम् । अपशब्दः षड्विंशतिसंख्याकेषु कर्मनामसु पठितः (निघ० २।१।१) ॥ मित्रावरुणा । द्वन्द्वे 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६।२।१४१) इत्युभौ अवशिष्येते । उरूणां बहूनां क्षयौ उरुक्षयौ । 'क्षि निवासगत्योः' इति धातोः क्षियन्त्यस्मिन्निति क्षयः । दक्षो दक्षतेरुत्साहकर्मणो घञ् । आप्यते फलमनेन इति अपः कर्म । 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट्च वा' (उ० ४।६४७) ।

स्कन्दः—कवी मेधाविनौ नः अस्माकमर्थम् मित्रावरुणौ तुविजातौ बहूनामर्थाय जातौ । सर्वेषां प्राणिनामुपकारायोत्पन्नावित्यर्थः । उरुक्षया । बहुनिवासौ, विस्तीर्णनिवासौ वा । दक्षं बलं सेनालक्षणं दधाते धारयतः अपसं कर्म च । अस्मदर्थं च स्वसेनां पुष्णीतः, तया च वृष्ट्यादिकर्म कुरुत इत्यर्थः । अस्मभ्यं बलं यागादि कर्म च दत्त इत्यर्थः ॥

(३) तृतीयं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । देवताः—अश्विनौ (१–३) । इन्द्रः (४–६) । विश्वेदेवाः (७–९) । सरस्वती (१०–१२) । गायत्री छन्दः ।

१९ अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती ।
पुरुभुजा चनस्यतम् ॥ १ ॥

अश्विना । यज्वरीः । इषः । द्रवत्पाणी इति द्रवत्ऽपाणी ।
शुभः । पती इति । पुरुऽभुजा । चनस्यतम् ॥ १ ॥

Aśvins, cherishers of good deeds, long-armed, having outstretched hands (for receiving the oblation) desire for sacrificial food.

(द्रवत्पाणी) [हवि ग्रहण करने के लिए] चंचल हाथों वाले, (शुभस्पती) शोभन कर्मों के पालक तथा (पुरुभुजा) लम्बी भुजाओं वाले (अश्विना) हे अश्विनीकुमारों, [आप दोनों] (यज्वरीः) याग के निष्पादक (इषः) हविरूप अन्नों की (चनस्यतम्) इच्छा करो = इन्हें स्वीकार करो ।

सायणः—हे अश्विनौ युवाम् इषः हविर्लक्षणान्यन्नानि चनस्यतम् इच्छतं भुञ्जाथामित्यर्थः । यद्यपि चनश्शब्दोऽन्नवाची तथापीष इत्यनेन सह नास्ति पुनरुक्तिदोषः, इच्छामुपलक्षयितुं प्रयुक्तत्वात् । वक्तव्यमुवाच, समूलकाषं कषतीत्यादौ यथा पुनरुक्त्यभावस्तद्वत् । कीदृशी रिषः ? यज्वरीः यागनिष्पादिकाः । कीदृशावश्विनौ ? द्रवत्पाणी हविर्ग्रहणाय द्रवद्भ्यां पाणिभ्यामुपेतौ । शुभस्पती शोभनस्य कर्मणः पालकौ । पुरुभुजा विस्तीर्णभुजौ बहुभोजिनौ वा । यज्वरीः—यागकरणानामप्यन्नानामसिरिञ्छनत्तीतिवत् स्वव्यापारे कर्तृत्वविवक्षया 'सुयजोर्ङ्वनिप्' (पा० ३।२।१०३) इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । 'वनो रच' (पा० ४।१।७) इति ङीप् । तत्संनियोगेन रेफादेशः । द्रवन्तौ धावन्तौ पाणी ययोस्तयोः संबोधनं द्रवत्पाणी । शुभ इति 'शुभशुम्भ दीप्तौ' (धा० भ्वा०४३३) इत्यस्य संपदादित्वात् भावे क्विबन्तस्य षष्ठ्येकवचनम् । 'षष्ठ्याः पतिपुत्र०' (पा० ८।३।५३) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । पुरू विस्तीर्णौ भुजौ ययोस्तौ पुरुभुजौ । 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति डादेशः । पुरु बहु भुञ्जाते इति वा । चनस्यतमित्यत्र 'चायतेरन्ने ह्रस्वश्च' (उ० ४।२०१) इति 'चायृ पूजानिशामनयोः' (धा० भ्वा० ९०५) इत्यस्यासुन्प्रत्ययः, आकारस्य ह्रस्वे चानुकृष्टे नुडागमे च (उ० ४।१७८) 'लोपो व्योर्वलि' (पा० ६।१।६६) इति यकारलोपे चनस्-

शब्दोऽन्ननामसु पठितः। तदात्मन इच्छतीति 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० ३।१।८)। 'सनाद्यन्ता०' (पा० ३।१।३२) इति धातुत्वाल्लोण्मध्यमद्विवचनम्।

स्कन्दः—हे अश्विना यज्वरीः। करणस्येयं कर्तृत्वेन विवक्षा। इज्यते याभिस्ताः यज्वरीः इषो हविर्लक्षणान्यन्नानि। द्रवत्पाणी क्षिप्रहस्तौ। शीघ्रकारिणावित्यर्थः। शुभस्पती। शुभमित्युदकनाम। तस्याधिपती। पुरुभुजौ बहूनां हविषां भोक्तारौ। चनस्यतम्। चन इत्यन्ननाम तदिच्छतं चनस्यतम्। इच्छया चात्र तत्पूर्वकं भक्षणं लक्ष्यते। अस्मदीयानि हवींषि भक्षणीयानीत्यर्थः॥ १॥

२० अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया।
धिष्ण्या वनतं गिरः॥ २॥

अश्विना। पुरुऽदंससा। नरा। शवीरया। धिया।
धिष्ण्या। वनतम्। गिरः॥ २॥

Aśvins of many acts, guides, endowed with fortitude, accept our praises with a (loving) mind unaverted.

(धिष्ण्या) बुद्धियुक्त, (नरा) सबों को चलाने वाले (पुरुदंससा) अनेक कर्मों से युक्त (अश्विना) हे अश्विनीकुमारों, [आप दोनों] (शवीरया) अप्रतिहत गति से चलनेवाली (धिया) सादर बुद्धि से (गिरः) हमारी स्तुतियों को (वनतम्) स्वीकार करो।

सायणः—हे अश्विनौ युवां गिरः अस्मदीयाः स्तुतीः धिया आदरयुक्तया बुद्ध्या वनतं संभजतम्। स्वीकुरुतम्। कीदृशावश्विनौ? पुरुदंससा बहुकर्माणौ। षड्विंशतिसंख्याकेषु कर्मनामसु 'दंस' इति पठितम् (निघ० २।१) नरा नेतारौ। धिष्ण्या धार्ष्ट्ययुक्तौ बुद्धिमन्तौ वा। कीदृश्या धिया? शवीरया गतियुक्तया अप्रतिहतप्रसरयेत्यर्थः। शवीरयेत्यत्र 'शु श्रु गतौ' इति धातोर्बाहुलकादीरन् प्रत्ययः।

स्कन्दः—पुरुदंससा। दंस इति कर्मनाम। बहुकर्माणौ। नरा मनुष्याकृती। शवीरया। क्षिप्रमीरणं गमनं शवीरम्। अथवा शव इति बलनाम। परबलस्य प्रेरणमपनोदः शवीरः। तेन यौ यातो गच्छतस्तौ। शीघ्रगामिनौ। परबलापनोदगामिनावित्यर्थः। अथवा अनवग्रहात्पदस्य या शब्दो विभक्तेरादेशो न याते रूपम्। शवीरशब्दस्तु पूर्ववत्कर्तृसाधनः। शीघ्रगामिनौ परबलस्य प्रेरयितारावित्यर्थः। शवतेर्वा गत्यर्थस्य शवीरशब्दः। यज्ञान् शत्रून्वा प्रति गन्तारावित्यर्थः। धिया प्रज्ञया चित्तेन। महतादरेणेत्यर्थः। धिष्ण्या। धिषणेति

वाङ्नाम । तस्याः पुत्रौ धिष्ण्यौ । अपत्ये यत्प्रत्ययः । अथवा धीरिति प्रज्ञानाम । ष्णै वेष्टने । धीः स्ना वेष्टयित्री सर्वार्थग्रहणसमर्था ययोस्तौ धिष्णौ । धिष्णावेव धिष्ण्यौ । अत्यन्तप्रज्ञावित्यर्थः । वनतं संभजतम् । गिरोऽस्मदीयाः स्तुतिलक्षणा वाचः ॥ २ ॥

२१ दस्रा॑ यु॒वाक॑वः सु॒ता नास॑त्या वृ॒क्तब॑र्हिषः ।
आ या॑तं रुद्रवर्तनी ॥ ३ ॥

दस्रा॑ । यु॒वाक॑वः । सु॒ताः । नास॑त्या । वृ॒क्तऽब॑र्हिषः ।
आ । या॒त॒म् । रु॒द्र॒व॒र्त॒नी॒ इति॑ रुद्रऽवर्तनी ॥ ३ ॥

Aśvins, destroyers of enemies, shorn of falsehood, yours are the mixed libations of Soma extracted and placed on the lopped Kuśa-grass. Come hither, ye, who wander on the path of the heroes causing the enemies weep.

(रुद्रवर्तनी) शत्रुओं को रुलाते हुए वीरों के मार्ग पर चलनेवाले (नासत्या) असत्य से रहित तथा (दस्रा) शत्रुओं के नाशक (अश्विना) हे अश्विनीकुमारो, [आप दोनों के लिए इस यागकर्म में] (युवाकवः) जल से मिश्रित तथा (वृक्तबर्हिषः) मूलरहित कुशों पर रखा हुआ (सोमाः) सोमरस [प्रस्तुत है; आप दोनों] (आयातम्) आइये तो सही ॥ ३ ॥

सायणः—अत्राश्विनेत्यनुवर्तते । हे अश्विनौ, आयातम् अस्मिन्कर्मण्यागच्छतम् । किमर्थमिति तदुच्यते—सुताः युष्मदर्थं सोमाः अभिषुताः । तान्स्वीकर्तुमिति शेषः । कीदृशावश्विनौ ? दस्रा शत्रूणामुपक्षयितारौ । यद्वा देववैद्यत्वेन रोगाणामुपक्षयितारौ । 'अश्विनौ वै देवानां भिषजौ' (ऐ० ब्रा० १।१८) इति श्रुतेः : नासत्या असत्यमनृतभाषणं तद्रहितौ । अत्र यास्कः—'सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः । सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः' (निरु० ६।१३) इति । रुद्रवर्तनी रुद्रशब्दस्य रोदनं प्रवृत्तिनिमित्तम् । 'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) इति तैत्तिरीयाः । 'तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्राः' इति वाजसनेयिनः । रुद्राणां शत्रुरोदनकारिणां शूरभटानां वर्तनिर्मार्गो धाटीरूपो ययोस्तौ रुद्रवर्तनी । यथा शूरा धाटीमुखेन शत्रून् रोदयन्ति तद्वदेतावित्यर्थः । युवाकव इत्यभिषुतसोमानां विशेषणम् । वसतीवरीभिरेकधनाभिश्चाद्भिर्मिश्रिता इत्यर्थः । वृक्तबर्हिषः । वृक्तानि मूलैर्वर्जितानि वर्हींष्यास्तरणरूपाणि येषां सोमानां ते वृक्तबर्हिषः । यद्वा 'भरता' इत्यादिष्वष्टस्वृत्विङ्नामसु (निघ० ३।१८) वृक्तबर्हिष इति । तदानीं तृतीयार्थे प्रथमा । ऋत्विग्भिरभिषुता इत्यन्वयः । युवाकवः—यु मिश्रणे (धा० अ० २३) । युवन्ति मिश्रीभवन्ति वसतीवरीप्रभृतिभिः श्रयण-

द्रव्यैरिति युवाकवः। कटिकुषादिष्वगणितस्यापि यौतेर्बहुलग्रहणात् (उ०३।१६) काकुप्रत्ययः। तस्य कित्वेन गुणाभावादुवङादेशः। न विद्यतेऽसत्यमनयोरिति नासत्यौ। 'नभ्राण्नपान्नवेदानासत्य०' इत्यादिना (पा० ६।३।७५) प्रकृतिवद्भावान्नञो न लोपाभावः।

स्कन्दः—हे दस्रा दस्रनामानौ। दस्रावुपक्षयितारौ शत्रूणां, दर्शनीयौ वा। युवाकवः। युवां कामयन्ते इति युवाकवः। युष्मत्पानकामा इत्यर्थः! के? सुताः सोमाः। अथवा युवाकवो मिश्रिताः। केन? वसतीवर्यैकधनादिभिरद्भिः, श्रयणैर्वा। सुताः अभिषुताः सोमाः। हे नासत्या, नासत्यनामानौ, न वा असत्यौ। द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतिं गमयतः। सत्यावेव। वृक्तबर्हिषः सोमाः। भवदुपवेशनार्थं बर्हिर्वेद्यां स्तीर्णमित्यर्थः। एतज्ज्ञात्वा आयातमागच्छतम्। हे रुद्रवर्तनी, रुद्रा = शब्दयन्ती वर्तनिर्गमनमार्गो ययोस्तौ रुद्रवर्तनी। यतो यतः शत्रुशब्दस्ततस्ततो गन्तारौ, स्वयं पथि गन्तारौ शब्दस्य कर्तारावित्यर्थो वा॥ ३॥

२२ इन्द्रा या॑हि चित्रभानो सु॒ता इ॒मे त्वा॒यवः॑।
अण्वी॑भि॒स्तना॑ पू॒तासः॑॥ ४॥

इन्द्र॑। आ। या॒हि॒। चि॒त्र॒भा॒नो इति॑ चित्र॒ऽभानो। सु॒ताः।
इ॒मे। त्वा॒ऽयवः॑। अण्वी॑भिः। तना॑। पू॒तासः॑॥ ४॥

Come hither, Indra, of variegated lustre; these libations ever pure, expressed by the fingers (of the priests) are desraous of thee.

(चित्रभानो) नाना प्रकार के प्रकाशों से देदीप्यमान (इन्द्र) हे इन्द्र, आप आइये; [क्योंकि आपके लिए] (अण्वीभिः) ऋत्विजों की अंगुलियों द्वारा (तना) सर्वदा (पूतासः) [नवीन वस्त्र से] पवित्र किये गये (इमे) ये (सुताः) प्रस्तुत सोमरस (त्वायवः) आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सायणः—चित्रभानो चित्रदीप्ते हे इन्द्र, अस्मिन्कर्मणि आयाहि आगच्छ। सुताः अभिषुताः इमे सोमाः त्वायवः त्वां कामयमाना वर्तन्ते। अण्वीभिः। 'अग्रुव' इत्यादिषु द्वाविंशतिसंख्याकेषु अङ्गुलिनामसु (निघ० २।५) 'अण्व्य' इति पठितम्। ऋत्विजामङ्गुलिभिः सुता इत्यन्वयः। किंच, एते सोमाः तना नित्यं पूतासः पूताः शुद्धाः। दशापवित्रेण शोधितत्वात्।

इन्द्रशब्दं यास्को बहुधा निर्वक्ति (निरु० १०।८)—'इन्द्र इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयतीति वा, इरां धारयतीति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा। तद्यदेनं प्राणैः

समैन्धँस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते। इदंकरणादित्याग्रायणः। इदंदर्श-नादित्यौपमन्यवः। इन्दतेवैँश्वर्यकर्मणः। इञ्छत्रूणां दारयिता वा, द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम्' इति। अस्यायमर्थः—'दृ विदारणे' इति धातुः (धा० क्र्या० २१) इरामन्नमुद्दिश्य तन्निष्पादकजलसिद्ध्यर्थं दृणाति मेघं विदीर्णं करोतीतीन्द्रः। 'डुदाञ् दाने' इति धातुः (धा० जु० ९)। इरामन्नं वृष्टि-निष्पादनेन ददातीतीन्द्रः। धाञ् पोषणार्थः (धा० जु० १०)। इरामन्नं तृप्ति-कारणं सस्यं दधाति जलप्रदानेन पुष्णातीतीन्द्रः। इरामुत्पादयितुं कर्षकमुखेन भूमिं विदारयतीतीन्द्रः। पूर्वोक्तपोषणमुखेनेरां धारयति विनाशराहित्येन स्था-पयतीतीन्द्रः। इन्दुः सोमो वल्लीरसः। तदर्थं यागभूमौ द्रवति धावतीतीन्द्रः। इन्दौ यथोक्ते सोमे रमते क्रीडतीतीन्द्रः। 'ञिइन्धी दीप्तौ' इति धातुः (धा० रु० ११)। भूतानि प्राणिदेहानिन्धे जीवचैतन्यरूपेणान्तः प्रविश्य दीपयती-तीन्द्रः। एतदेवाभिप्रेत्य वाजसनेयिन आमनन्ति 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्रं इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' (बृ० उ० ४।२।२) इति। तद्यदित्यादिकं ब्राह्मणान्तर-वाक्यम्। तत्तत्रेन्द्रविषये निर्वचनमुच्यत इति शेषः। यद्यस्मात्कारणादेनं परमा-त्मरूपमिन्द्रं देवं प्राणैर्वाक्चक्षुरादीन्द्रियैः प्राणापानादिवायुभिश्च सहितं समैन्धन्। उपासका ध्यानेन सम्यक्प्रकाशितवन्तः। तत्तस्मात्कारणादिन्द्रनाम संपन्नम्। अस्मिन्पक्ष इध्यते दीप्यत इति कर्मणि व्युत्पत्तिः। आग्रायणनामको मुनिः 'इदं करणादिन्द्र' इति निर्वचनं मन्यते। इन्द्रो हि परमात्मरूपेणेदं जगत्करोति। औपमन्यवनामको मुनिरिदंदर्शनादिन्द्र इति निर्वचनमाह। इदमित्यापरोक्ष्य-मुच्यते। विवेकेन हि परमात्मानमापरोक्ष्येण पश्यति। 'इदि परमैश्वर्ये' इति धातुः (धा० भा० ६३)। स्वमायया जगद्रूपत्वं पारमैश्वर्यम्। तद्योगादिन्द्रः। अनेनाभिप्रायेण 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप' (ऋ० सं० ६।४७।१८) इति श्रूयते। इनशब्दस्य ईश्वरवाचकस्याकारलोपे सति नकारान्तमिन् इति पदं भवति। दृ भये इति धातुः (धा० भ्वा० ८१०)। स च परमेश्वरः शत्रूणां दारयिता भीषयितेतीन्द्रः। द्रु गतौ इति धातुः (धा० भ्वा ९७०)। शत्रूणां द्रावयिता पलायनं प्रापयितेतीन्द्रः। यज्वनां यागानुष्ठायिनामादरयिता भयस्य परिहर्ता॥

त्वामिच्छतीत्यर्थे युष्मच्छब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० ३।१।८)। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (पा० ७।२।९८) इति मपर्यन्तस्य त्वादेशः। 'क्याच्छन्दसि' (पा० ३।२।१७०) इति क्यजन्तादुप्रत्ययः। त्वद्यव इति प्राप्तौ 'युष्मदस्म-दोरनादेशे' (पा० ७।२।८६) इत्यविभक्तावपि हलादौ व्यत्ययेन आत्वम्। अणुशब्दः सौक्ष्म्यवाचकस्तद्योगात्प्रकृतेऽङ्गुलीषु वर्तते। 'वोतो गुणवचनात्'

(पा० ४।१।४४) इति ङीषि प्राप्ते व्यत्ययेन ङीन् स्वरार्थः। तना निपातो नित्यमित्यर्थे। पूतासः। 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।४०) इत्यसुक्।

स्कन्दः—योऽयं पञ्चमस्तृचः स इन्द्र देवतः। हे इन्द्र आयाहि, आगच्छ चित्रभानो! भानुर्दीप्तिः। विचित्रदीप्ते पूजनीयदीप्ते वा। किं कारणम्? सुता अभिषुता इमे सोमाः। त्वायवस्त्वत्कामाः। अपि नामेन्द्रोऽस्मान् पिबेदित्ये-वंकामा इत्यर्थः। न चाभिषुता एव केवलम्। किन्तर्हि? अण्वीभिस्तना पूतासः। तनाशब्दो दशापवित्रवचनः। अण्वीभिर्दशापवित्रेण च पूताः। हस्तेन दशा-पवित्रमादाय पूता इत्यर्थः ॥ ४ ॥

२३ इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ ५ ॥

इन्द्र। आ। याहि। धिया। इषितः। विप्रऽजूतः। सुतऽवतः।
उप ब्रह्माणि। वाघतः ॥ ५ ॥

Indra, come hither, drawn by devotion and invoked by the intelligent to the prayer of the priest with libation.

(सुतावतः) सोमरस प्रस्तुत करने वाले (वाघतः) ऋत्विज के (ब्रह्माणि उप) वेदस्वरूप स्तोत्रों के पास (धिया) हमारी बुद्धि या भक्ति से (इषितः) आकृष्ट तथा (विप्रजूतः) मेधावी ऋत्विजों के द्वारा प्रेरित होकर (इन्द्र) हे इन्द्र, [आप इस यज्ञ में] (आयाहि) आइये।

सायणः—इन्द्र, त्वम् आयाहि अस्मिन् कर्मण्यागच्छ। किमर्थम्? वाघतः ऋत्विजो ब्रह्माणि वेदरूपाणि स्तोत्राणि उपैतुम्। धिया अस्मदीयया प्रज्ञया इषितः प्राप्तः। अस्मद्भक्त्या प्रेरित इत्यर्थः। विप्रजूतः—यथा यजमानभक्त्या प्रेरितस्तथान्यैरपि विप्रैर्मेधाविभिः ऋत्विग्भिः प्रेरितः। कीदृशस्य वाघतः? सुतावतः अभिषुतसोमयुक्तस्य। 'केन' इत्यादिषु एकादशसु प्रज्ञानामसु (निघ० ३।९) 'धीः' इति पठितम्। 'चतुर्विंशतिसंख्याकेषु मेधाविनामसु (निघ० ३।१५) 'विप्रो धीर' इति पठितम्। 'भरता' इत्यादिषु अष्टस्वृत्विङ्नामसु (निघ० ३।१८) 'वाघत' इति पठितम्। 'इषितः' इत्यत्र 'इष गतौ' (धा० दि० २१) इत्यस्मान्निष्ठायामिडागमः। विप्रजूतः। 'टुवप् बीजतन्तुसन्ताने' (धा० भ्वा० १०२८) इति धातोः 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र०' (उ० २।२७) इत्यादिना रन्प्रत्ययान्तो विप्रशब्दो निपातितः। निपातनादुपधाया इकारो लघूपधगुणाभावश्च। तैर्जूतः प्राप्तः। जू इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थः। 'श्र्युकः किति' (पा० ७।२।११) इतीट्प्रतिषेधः। सुतावतः। छान्दसं दीर्घत्वम्। वाघच्छब्दः ऋत्विङ्नामसु पठितः।

स्कन्दः—हे इन्द्र, आयाहि आगच्छ। धिया अस्मदीयया प्रज्ञया इषितः शुद्धोऽप्ययमिषिधातुरधिपूर्वार्थो द्रष्टव्यः। अधीष्टोऽभ्यर्थित इत्यर्थः। विप्रजूतः—मेधाविभिः ऋत्विग्भिरभिगतः। केन? सामर्थ्यात् स्तुतिभिः। मयाभ्यर्थितोऽन्यैश्चर्त्विग्भिरभिष्टुत इत्यर्थः। क्वागच्छानि? उच्यते, सुतावतः। सुताः सोमा यस्य सन्ति स सुतावान्यजमानः, तस्य। उप ब्रह्माणि। उपशब्दः सामीप्ये। ब्रह्मेत्यन्ननाम। यजमानस्य स्वभूतानामन्नानां हविर्लक्षणानां समीप इत्यर्थः। वाघतः। ऋत्विङ्नामैतत्। इह तु सुतावतो यजमानस्य विशेषणत्वादन्तर्णीतमत्वर्थः। ऋत्विग्वतो यजमानस्य। अथवा वाघत इत्यस्यैव सुतावत इति विशेषणम्। ब्रह्मशब्दः स्तुतिवचनः। सुतावतः कृतसोमाभिषवस्य ऋत्विजो याः स्तुतयः, तत्समीपे। यत्र सोममभिषुत्यर्त्विजः स्तुवन्तीत्यर्थः॥ ५॥

२४ इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्व नश्चनः॥ ६॥

इन्द्र। आ। याहि तूतुजानः। उप। ब्रह्माणि। हरिऽवः।
सुते। दधिष्व। नः। चनः॥ ६॥

Indra. Come, making haste with tawny steeds, to the prayers, accept our food in this libation.

(हरिवः) हे अश्वयुक्त (इन्द्र) इन्द्रदेव! [आप] (तूतुजानः) शीघ्रता करते हुए (ब्राह्मणि उप) हमारे वेदस्वरूप स्तोत्रों के पास, उन्हें पाने के लिए (आयाहि) आइए और (सुते) इस सोमाभिषव वाले कर्म में (नः) हमारा (चनः) अन्नरूप हवि (दधिष्व) धारण कीजिये।

सायणः—हरिशब्द इन्द्रसम्बन्धिनोरश्वयोर्नामधेयम्। 'हरी इन्द्रस्य रोहितोऽग्नेः (निघ० १।१५।१) इति तदीयाश्वनामत्वेन पठितत्वात्। हे हरिवः, अश्वयुक्त इन्द्र, त्वं ब्रह्माणि उपैतुमायाहि। कीदृशस्त्वम्? तूतुजानः त्वरमाणः। आगत्य चास्मिन्सुते सोमाभिषवयुक्ते कर्मणि नोऽस्मदीयं चनः अन्नं हविर्लक्षणं दधिष्व धारय। स्वीकुर्वित्यर्थः। तूतुजानः। तुजेर्लिटि 'लिटः कानज्वा' (पा० ३।२।१०६) इति कानजादेशः। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० ६।१।७) इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम्। हरिव इत्यत्र हरयोऽस्य सन्तीति मतुपि 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति मकारस्य वत्वम्। सम्बुद्धौ 'उगिदचाम्०' (पा० ७।१।७०) इति नुम्। संयोगान्तलोपः (पा० ८।२।२३)। नकारस्य 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० ८।३।१) इति रुत्वम्। दधिष्वेत्यत्र दधातेर्लोटि थास्। 'थासः से' (पा० ३।४।८०)। 'सवाभ्यां वामौ' (पा० ३।४।९१) इत्येकारस्य वादेशः। 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति सार्वधातुका-

र्धधातुकसंज्ञयोः सत्योः सार्वधातुकत्वेन शपि (पा० ३।१।६८) तस्य 'श्लौ च' (पा० ६।१।९) इति द्विर्भावः। आर्धधातुकत्वेनेडागमश्च (पा० ७।२।३५)। 'आतो लोप इटि च' (पा० ६।४।६४) इत्याकारलोपः। चनः। 'चायेरन्ने ह्रस्वश्च' (उ० ४।२०१) इत्यसुन्नन्तः। चकारान्नुडागमे यलोपः।

स्कन्दः—हे इन्द्र आयाहि तूतुजानः क्षिप्रं त्वरमाण इत्यर्थः। उप ब्रह्माणि। हे हरिवः। हरी अश्वौ तद्वन्। आगत्य च सुते। द्वितीयार्थे सप्तम्येषा। सुतमभिषुतं दधिष्व धारय स्वोदरे। पिबेत्यर्थः। नोऽस्माकं स्वभूतं चनः सोमलक्षणमन्नम् ॥ ६ ॥

२५ ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑ देवास॒ आ ग॑त।
दा॒श्वांसो॑ दा॒शुषः॑ सु॒तम् ॥ ७ ॥
ओमा॑सः। च॒र्ष॒णि॒ऽधृ॒तः॒। विश्वे॑। दे॒वा॒सः॒। आ। ग॒त।
दा॒श्वांसः॑। दा॒शुषः॑। सु॒तम् ॥ ७ ॥

Come, Viśvedevas, protectors and supporters of men and best-owers (of rewards), to the libation of the worshipper.

(ओमासः) सबों के रक्षक, (चर्षणीधृतः) मनुष्यों को धारण करने वाले तथा (दाश्वांसः) यज्ञफल के दाता (विश्वे देवासः) हे विश्वदेव-गण, (दाशुषः) हव्यदाता यजमान के (सुतम्) प्रस्तुत किये गये सोम के पास (आगत) आइये।

सायणः—हे विश्वेदेवासः एतन्नामका देवविशेषाः। दाशुषो हविर्दत्तवतो यजमानस्य सुतमभिषुतं सोमं प्रति आगत आगच्छत। ते च देवा, ओमासो रक्षकाः। चर्षणीधृतो मनुष्याणां धारकाः फलस्य दातारः। मनुष्या इत्यादिषु पञ्चविंशतिसंख्याकेषु (निघ० २।३) मनुष्यनामसु चर्षणिशब्दः पठितः। अश्विनावित्यादिष्वेकत्रिंशत्संख्याकेषु देवविशेषनामसु (निघ० ५।६।२७) 'विश्वेदेवाः साध्याः' इति पठितम्। एतामृचं यास्क एवं व्याख्यातवान्— "अवितारो वाऽवनीया वा मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति। तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दाशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद्बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते "यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः" (निरु० १२।४०) इति। अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय इति यास्कस्य मतम्। देवविशेषस्यैवासाधारणं लिङ्गमिति शाकपूणेर्मतम्। अवन्तीत्योमासो देवाः। मन्निस्यनुवृत्तौ 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित्' (उ० १।१४३) इति मन्प्रत्ययः। 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (पा० ६।४।२०) इत्यूठ्। मनः कित्वेऽपि बाहुलकत्वाद् गुणः। असुक्। चर्षणयो मनुष्याः। तान्वृष्टिदानादिना धार-

यन्तीति चर्षणीधृतो देवाः। आगत। 'बहुलं छन्दसि (पा० २।४।७३) इति शपो लुकि सति 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना मकारलोपः। दाश्वांसः। 'दाश्ट दाने' (धा० स्वा० ९०७) इत्यस्य क्वसौ 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० ६।१।१२) इति निपातनात्क्वादिनियमप्राप्ते इडागमो द्विर्वचनं च न भवति। 'दाशुषः' इत्यत्र 'वसोः सम्प्रसारणम्'.(पा० ६।४।१३१) इति सम्प्रसारणम्। 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० ६।१।१०८) इति पूर्वरूपत्वम्। 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० ८।३।५७) इति षत्वम्।

स्कन्दः—वैश्वदेवस्तृचः षष्ठः। हे ओमासः। अवतेरयं पालनार्थस्य तर्पणार्थस्य वा कर्तरि माङ्प्रत्ययः। अवितारो रक्षितारस्तर्पयितारो वा। चर्षणीधृतः। चर्षणयो मनुष्यास्तेषां तैस्तैरुपकारैर्धारयितारो विश्वे सर्वे देवासो देवा आगत आगच्छत। दाश्वांसः। प्रत्यक्षकृतोऽयं मन्त्रः, न चेदमामन्त्रितम्। अतो यत्तच्छब्दावध्याहृत्यैकवाक्यता करणीया। ये दाश्वांसो दत्तवन्तो यजमानाय धनानि ते अप्रतिहतदानशक्तयः, दाशुषो हवींषि दत्तवतो यजमानस्य सुतं सोमं प्रति ॥ ७ ॥

२६ विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒प्तुरः॑ सु॒तमा ग॑न्त॒ तूर्ण॑यः।
उ॒स्रा इ॑व॒ स्वस॑राणि ॥ ८ ॥
विश्वे॑। दे॒वासः॑। अ॒प्ऽतुरः॑। सु॒तम्। आ। ग॒न्त॒। तूर्ण॑यः।
उ॒स्राःऽइ॑व। स्वस॑राणि ॥ ८ ॥

May Viśvadevas, *givers of rain swift or prompt in action, come to the libation as the (suns) rays (come) to the days.*

(तूर्णयः) शीघ्रताशील तथा (अप्तुरः) वृष्टि करने वाले (विश्वे देवासः) हे विश्वदेवगण! (स्वसराणि) दिनों को लक्ष्य करके (उस्रा इव) जैसे सूर्य की किरणें [आया-जाया करती हैं उसी तरह आप सब] (सुतम्) प्रस्तुत किये गये सोम के पास (आगन्त) आइये।

सायणः—विश्वे देवासः, एतन्नामकगणरूपा देवविशेषाः सुतं सोमम् आगन्त आगच्छन्तु। कीदृशाः? अप्तुरः, तत्तत्काले वृष्टिप्रदा इत्यर्थः। तूर्णयः त्वरायुक्ताः। यजमानमनुग्रहीतुमालस्यरहिता इत्यर्थः। विश्वेषां देवानां सोमं प्रत्यागमन उस्रा इत्यादिर्दृष्टान्तः। उस्राः सूर्यरश्मयः स्वसराणि अहानि प्रत्यालस्यरहिता यथा समागच्छन्ति तद्वत्। खेदय इत्यादिषु पञ्चदशसु रश्मिनामसु (निघ० १।५) उस्राः वसवः इति पठितम्। 'वस्तोः' इत्यादिषु द्वादशस्वहर्नामसु (निघ० १।९) 'स्वसराणि घ्रंसो घर्मः' इति पठितम्। तच्च पदं यास्केन व्याख्यातम्—"स्वसराण्यहानि भवन्ति स्वयंसारीण्यपि वा स्वरादित्यो भवति,

स एतानि सारयति । उस्रा इव स्वसराणीत्यपि निगमो भवति" (निरु० ५।४)। अप्तुरः । तुर त्वरणे श्लुविकरणी । तुतुरति त्वरयन्तीत्यर्थे 'क्विप् च' (पा० ३।२।१३४) इति क्विप् । आगन्त । आगच्छन्त्वित्यर्थे व्यत्ययेन मध्यमपुरुष-बहुवचनम् । 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।४।३७) इति शपो लुक् । तस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० ७।१।४५) इति तबादेशे '...अपित्' (पा० १।२।४) इति प्रतिषेधादङित्वादनुनासिकलोपाभावः । 'ञित्वरा सम्भ्रमे' (धा० भ्वा० ७७६) इति धातोस्त्वरन्ते इति तूर्णयः । 'उस्रा इव' इत्यत्र 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' (पा० २।१।४ वा०)। सरतीति सरः सूर्यः । पचाद्यच् । स्वः सरो येषां तानि स्वसराणि = अहानि ।

स्कन्दः—विश्वे देवासो हे विश्वे देवाः । अप्तुरः । अपशब्द उदकवचनः । अन्तर्णीतण्यर्थस्य तरतेरप्तुरः । अपां तारयितारः । आदित्यं प्रति गमयितारः । रश्मयो हि नैरुक्तानां विश्वे देवाः । ते च रसानामादातारः । अथवा 'आप्लृ व्याप्तौ' (धा० स्वा० १४) इत्येतस्य तृजन्तस्य षष्ठ्येकवचन एतद्रूपम् । स्तुतिभिश्च हविर्भिश्च देवानामाप्तुर्यजमानस्य स्वभूतं सोममागन्त आगच्छन्तु । आगन्तेति वा मध्यमपुरुषश्रुतिसामर्थ्याद् विश्वे देवास अप्तुर इत्येतौ व्यत्यये-नामन्त्रितप्रथमान्तौ व्याख्यातव्यौ । हे विश्वे देवा अप्तुरो यूयमागच्छत इति । तूर्णयः । क्षिप्रनामैतत् । क्षिप्राः । कथम् ? उस्रा इव स्वसराणि । उस्रा इति गोनाम रश्मिनाम वा ! स्वसराणीत्यहर्नाम । यथा दोहार्थं गावः समस्ता रश्मयो वा अहानि प्रत्यागच्छन्ति तद्वत्समस्ता आगच्छतेत्यर्थः ॥ ८ ॥

२७ विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒स्रिध॒ एहि॑मायासो अ॒द्रुहः॑ ।
मेधं॑ जुषन्त॒ वह्न॑यः ॥ ९ ॥

विश्वे॑ । दे॒वासः॑ । अ॒स्रिधः॑ । एहि॑ऽमायासः । अ॒द्रुहः॑ ।
मेध॑म् । जु॒षन्त॒ । वह्न॑यः ॥ ९ ॥

May Viśvadevas, *undecaying, with universal knowledge (or, one to whom can be said 'come in, donot go away'), devoid of malice and bearers (of riches) may accept (or partake of) the sacrifice.*

(अस्रिधः) कभी नष्ट न होने वाले, (एहिमायासः) प्रचुर प्रज्ञा वाले, (अद्रुहः) द्रोह से सर्वथा शून्य और (वह्नयः) धन के वाहक अर्थात् दाता (विश्वे देवासः) हे विश्वदेव-गण । आप (मेधं) पवित्र हव्य पदार्थ को (जुषन्ताम्) ग्रहण करें, सेवन करें ।

सायणः—विश्वे देवासः एतन्नामका देवविशेषाः । मेधं हविर्यज्ञसम्बद्धं

जुषन्त सेवन्ताम् । कीदृशाः ? अस्त्रिधः क्षयरहिताः शोषरहिता वा । एहिमायासः सर्वतो व्याप्तप्रज्ञाः । यद्वा सौचीकमग्निमप्सु प्रविष्टमेहि मा यासीरिति यदवोचन् तदनुकरणहेतुकोऽयं विश्वेषां देवानां व्यपदेश एहिमायास इति । अद्रुहः द्रोहरहिताः । वह्नयो वोढारः, धनानां प्रापयितारः । अस्त्रिधः स्त्रिधेः क्षयार्थस्य शोषणार्थस्य वा सम्पदादिभ्यो भावे क्विपि (पा० ३।३।१०८) नञा बहुव्रीहिः । 'ईह चेष्टायाम्' (धा० भ्वा० ६३३) । आ समन्तादीहत इत्येहिः (उ० ४।११७)। एहिर्माया प्रज्ञा येषामिति बहुव्रीहिः । अथवा एहीत्येतत्पदयुक्तं मा यासीरित्यत्र मायेत्यक्षरद्वयं येषां त एहिमायासः । उभयथा पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । अद्रुहः । द्रुह् जिघांसायाम् (धा० दि० ९१) सम्पदादित्वाद्भावे क्विपि बहुव्रीहिः । मेधम् ।' मेधृ संगमे च' । मेध्यते देवैः संगम्यत इति मेधं हविः । कर्मणि घञ् । जुषन्त सेवन्तामित्यर्थे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति धातुसम्बन्धे लङ् । यत उक्तरूपा विश्वे देवाः, अतो जुषन्तेति द्रुहादिधात्वर्थैः सम्बन्धात् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' । (पा० ६।४।७५) इत्यडागमाभावः ।

स्कन्दः—विश्वे देवासो विश्वे देवाः । अस्त्रिधः । न स क्षीयते मरुतो न हन्यत इति दर्शनात् स्त्रिधः क्षयार्थः शोषणार्थो वा । अथवा अशोषयितारो वा । एहिमायासः । सौचीकमग्निमप्सु प्रविष्टमेहि मा यासीरिति यदवोचन् , तदनुकरणहेतुकोऽयं विश्वेषां देवानां व्यपदेश एहिमायास इति । अथवा अहीनमाया एहिमायासः । अन्यूनप्रज्ञाना इत्यर्थः । अद्रुहः—अद्रोग्धारो यजमानानाम् । मेधं यज्ञमस्मदीयं जुषन्तां सेवन्ताम् । वह्नयो वोढारो, धनानां दातार इत्यर्थः ॥ ९ ॥

२८ पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ १० ॥
पावका । नः । सरस्वती । वाजेभिः । वाजिनीऽवती ।
यज्ञम् । वष्टु । धियाऽवसुः ॥ १० ॥

May Sarasvati, *the purifier having food (or deeds connected with food) and source of wealth, desire our sacrifice through work.*

(वाजेभिः) हविःस्वरूप अन्नों से, कर्मों से (वाजिनीवती) अन्न से सम्बद्ध क्रिया वाली, (पावका) पवित्र करने वाली तथा (धियावसुः) कर्म के द्वारा प्राप्यधन का साधन, बुद्धिधन वाली (सरस्वती) सर्वज्ञानमयी देवी (यज्ञं) इस यागकर्म की (वष्टु) कामना करे ।

सायणः—सरस्वती देवी वाजेभिः हविर्लक्षणैरन्नैर्निमित्तभूतैः। यद्वा यजमानेभ्यो दातव्यैरन्नैर्निमित्तभूतैः नः अस्मदीयं यज्ञं वष्टु कामयताम्। कामयित्वा च निर्वहत्वित्यर्थः। तथा चारण्यककाण्डे श्रुत्यैव व्याख्यातम्—'यज्ञं वष्ट्विति यदाह यज्ञं वहत्वित्येव तदाह' (ऐ० आ० १।१।४) इति। कीदृशी सरस्वती? पावका शोधयित्री। वाजिनीवती अन्नवत्क्रियावती। धियावसुः कर्मप्राप्यधननिमित्तभूता। वाग्देवतायास्तथाविधं धननिमित्तत्वमारण्यककाण्डे श्रुत्या व्याख्यातम्—'यज्ञं वष्टु धियावसुरिति वाग्वै धियावसुरिति' (ऐ० आ० १।१।४)। श्येनः सोम इत्यादिषु पञ्चत्रिंशत्संख्याकेषु देवताविशेषवाचिषु पदेषु (नि० ५।५) 'सरमा सरस्वती' इति पठितम्। एतामृचं यास्क एवं व्याचष्टे—'पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः' (निरु० ११।२६) इति। पवनं पावः शुद्धिस्तं कायतीति पावका। 'कै गै रै शब्दे'। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० ३।२।३)। यद्वा, पुनातीत्यर्थे ण्वुलि 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (पा० ७।३।४४) इति त्वस्याभावोऽन्तोदात्तत्वं च छान्दसम्। सरःशब्दः सर्त्तेरसुन्नन्तः।

वाजोऽन्नमास्विति वाजिन्यः क्रियाः। 'अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५) इतीनिप्रत्ययः। ताः क्रिया यस्याः सन्ति सा सरस्वती वाजिनीवती। 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति मतुपो वत्वम्। वष्टु। 'वश कान्तौ' (धा० अ० ७०)। कान्तिरभिलाषः। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक्। धियावसुः। धिया कर्मणा वसु यस्याः सकाशाद्भवति सा। छान्दसस्तृतीयाया अलुक्।

स्कन्दः—सारस्वतोऽयं सप्तमस्तृचः। सरस्वतीदेवतोऽयम्। पावका शोधयित्री अंहसां पापानामपनेत्री, अथवा क्षारयित्री उदकानाम्। नोऽस्माकं स्वभूतम्। सरस्वती मध्यमस्थाना वाक्। कीदृशी? वाजेभिर्वाजिनीवती। यजमानेभ्यो यानि ददाति तैरन्नैरन्नवती। अथवा हविर्लक्षणैरन्नैर्युक्ता। वाजिनीवती। वाजो बलं वेगो वा तद्वती वाजिनी। कासौ? सरस्वत्याः स्वभूता सेना तद्वती वाजिनीवती सरस्वती। अथवा वाजो हविर्लक्षणमन्नम्। तद्यस्यामस्ति सा वाजिनी यागसन्ततिः, तद्वती सरस्वती यज्ञं वष्टु कामयताम्। कामने नात्रागमनं सम्भजनं च लक्ष्यते। यो हि यं कामयते स तमागच्छति सम्भजति च। आगच्छतु सम्भजतां चेत्यर्थः। धियावसुः प्रज्ञावसुः। अथवा वसेराच्छादनार्थस्य वसुशब्दः। प्रज्ञया छादयित्री सर्वार्थानाम् ॥ १० ॥

२९ चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ११ ॥

चोदयित्री । सूनृतानाम् । चेतन्ती । सुऽमतीनाम् ।
यज्ञम् । दधे । सरस्वती ॥ १-१ ॥

Sarasvatī, sender of true and agreeable words and instructress of those having good mind has supported the sacrifice.

(सूनृतानां) प्रिय तथा सत्य वाणी को (चोदयित्री) प्रेरित करने वाली और (सुमतीनां) अच्छी बुद्धिवालों को [अनुष्ठान-कर्म का] (चेतन्ती) ज्ञान करानेवाली (सरस्वती) ज्ञानमयी देवी सरस्वती ने (यज्ञं) इस यज्ञ को (दधे) धारण किया है।

सायणः—या सरस्वती सेयमिमं यज्ञं दधे धारितवती । कीदृशी ? सूनृतानां प्रियाणां सत्यवाक्यानां चोदयित्री प्रेरयित्री । सुमतीनां शोभनबुद्धियुक्तानामनुष्ठातॄणां चेतन्ती तदीयमनुष्ठेयं ज्ञापयन्ती । चोदयित्री । 'चुद प्रेरणे' (धा० चु० ५९) । ण्यन्तात्तृच् । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० ४।१।५) इति ङीप् । सूनृतानाम् । 'ऊन परिहाणे' । (धा० चु० ३५६) इत्यतः 'क्विप् च' (पा० ३।२।७६) इति क्विपि सुतरामूनयत्यप्रियमिति सून् इति प्रियमुच्यते । तच्च तदृतं सत्यं चेति सूनृतम् । चेतन्ती । 'चिती संज्ञाने' । अत्र शपो ङीपश्च पित्त्वादनुदात्तत्वम् ।

स्कन्दः—चोदयित्री सूनृतानाम् । अपठितमपि वाङ्नामैतत् । मध्यमस्थाना हि सरस्वती । सा च गर्जितलक्षणां वाचं चोदयति । चेतन्ती सुमतीनां सुमतीन् भक्तिपरान्यजमानान् यज्ञं दधे धारयति सरस्वती । भूमिष्ठस्य यज्ञस्य मन्त्रलक्षणवागायत्तत्वात् , तस्याश्च सरस्वत्यायत्तत्वात् ॥ ११ ॥

३० महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥ १२ ॥

महः । अर्णः । सरस्वती । प्र । चेतयति । केतुना ।
धियः । विश्वाः । वि । राजति ॥ १२ ॥

Sarasvatī (the goddess with a distinct form and in the form of the river) by her act displays (makes known of) copious flood (= water in the form of currents) and enlightens understandings (i.e., intellects of the performer of sacrifice).

(सरस्वती) नदीरूप सरस्वती (केतुना) प्रवाहरूप कर्म द्वारा (महः) प्रचुर (अर्णः) तरंगयुक्त जल (प्रचेतयति) व्यक्त करती है, दिखलाती है। [देवतारूप में वही] (विश्वाः धियः) [अनुष्ठान करने वालों के] सारे ज्ञान को भी (विराजति) प्रकाशित करती है।

सायण:—द्विविधा हि सरस्वती, विग्रहवद्देवता नदीरूपा च। तत्र पूर्वाभ्यामृग्भ्यां विग्रहवती प्रतिपादिता। अनया तु नदीरूपा प्रतिपाद्यते। तादृशी सरस्वती केतुना कर्मणा प्रवाहरूपेण, महो अर्णः=प्रभूतमुदकं प्रचेतयति प्रकर्षेण ज्ञापयति। किञ्च स्वकीयेन देवतारूपेण विश्वा धियः = सर्वाण्यनुष्ठातृप्रज्ञानानि विराजति विशेषेण दीपयति। अनुष्ठानविषयबुद्धीः सर्वदोत्पादयतीत्यर्थः। सरस्वत्या द्विरूपत्वं यास्को दर्शयति—'तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति' (निरु० २।२३) इति। एकशतसंख्याकेषूदकनामसु (नि० १।१२) 'अर्णः क्षोदः' इति पठितम्। एतामृचं यास्को व्याचष्टे— महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया वेमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति' (निरु० ११।२७) इति। महो अर्णः, महदिति तकारस्य व्यत्ययेन सकारः। तस्य रुत्वोत्वगुणः। एङः पदान्तादति' (पा० ६।१।१०९) इति पूर्वरूपे प्राप्ते 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः। अर्तीत्यर्णः। 'उदके नुट् च' (उ० ४।६३६) इत्यसुन् प्रत्ययो नुडागमश्च। विश्वशब्दः क्वन्प्रत्ययान्तः।

स्कन्द:—महो महत् बहु अर्णो मेघस्थमुदकम्। सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा गर्जनाख्येन। गम्भीरं हि गर्जितं श्रुत्वा महदत्र मेघे उदकमित्यवगम्यते। केतुशब्दोऽपठितोऽपि कर्मनामापि, न प्रज्ञानामैव। कुत एतत्? 'वैश्वानरस्य विमितानि चक्षसा' इत्यत्र प्रयोगदर्शनात्। अत्र हि चक्षसेत्यनेन प्रज्ञाया उपात्तत्वात् असन्दिग्धं केतुशब्दस्य कर्मवचनत्वम्। किञ्च धियः कर्माणि प्रज्ञा वा विश्वाः सर्वा वा विराजति। विविधं दीपयति वृष्टिद्वारेण। अथवा धियो विश्वा इति षष्ठ्यर्थे द्वितीये। राजतिरप्यैश्वर्यकर्मा। कर्मणां प्रज्ञानां वा सर्वासां विविधमीष्टे इत्यर्थः ॥ १२ ॥

—❦—

(४) चतुर्थं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।

३१ सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

सुरूपऽकृत्नुम् । ऊतये । सुदुघाम्ऽइव । गोऽदुहे ।
जुहूमसि । द्यविऽद्यवि ॥ १ ॥

We invoke the performer of beautiful actions (Indra), day by day, for (our) protection—just like a good milch-cow for the milker's sake.

(सुरूपकृत्नुम्) सुन्दर रूप या कर्म के सम्पादक [इन्द्र को हम] (ऊतये) रक्षा के लिए (द्यविद्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) बुलाते हैं; (गोदुहे) गाय दुहनेवाले के सामने (सुदुघाम् इव) पर्याप्त दूध देनेवाली गाय की तरह [हम उन्हें बुलाते हैं] ।

सायणः—सुरूपकृत्नुं शोभनरूपोपेतस्य कर्मणः कर्त्तारमिन्द्रमूतये अस्मद्रक्षार्थं द्यविद्यवि प्रतिदिनं जुहूमसि आह्वयामः । आह्वाने दृष्टान्तः गोदुहे गोधुगर्थं सुदुघामिव सुष्ठु दोग्ध्रीं गामिव । यथा लोके गोर्यो दोग्धा तदर्थं तस्याभिमुख्येन दोहनीयां गामाह्वयति तद्वत् ॥ 'वस्तः' इत्यादिषु द्वादशस्वहर्नामसु (नि० १।९) द्यवि द्यवि इति पठितम् । सुरूपकृत्नुम् । करोतीति कृत्नुः । 'कृहनिभ्यां क्त्नुः' (उ० ३।३०) कित्वाद्गुणाभावः । तकारोपजनश्छान्दसः । ऊतये । अवतेर्धातोः 'उदात्त' इत्यनुवृत्तौ 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (पा० ३।३।९७) इति क्तिन्नुदात्तो निपातितः । सुदुघाम् । सुष्ठु दुग्ध इति सुदुघा । 'दुहः कब्घश्च' (पा० ३।२।७०) इति कप्प्रत्ययो हकारस्य च घकारः । कित्वाद् गुणाभावः । गां दोग्धीति गोधुक् । 'सत्सूद्विष०' (पा० ३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । जुहूमसि । ह्वयतेर्लट्युत्तमपुरुषबहुवचने 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७६) इति शपः श्लुः । 'अभ्यस्तस्य च' (पा० ६।१।३३) इत्यभ्यस्तकारणस्य ह्वयतेः प्रागेव द्विर्वचनात्सम्प्रसारणम् । 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० ६।१।१०८) इति पूर्वत्वम् । 'हलः' (पा० ६।४।२) इति दीर्घः । ततः 'श्लौ' (पा० ६।१।१०) इति द्विर्वचनम् । 'अभ्यासस्य ह्रस्वः' (पा० ७।४।५९) चुत्वजश्त्वे । 'इदन्तो मसिः' (पा० ७।१।४६) इतीकारागमः । द्यविद्यवि । 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८।१।४) इति द्विर्भावः । 'तस्य परमाम्रेडितम्' 'अनुदात्तं च' (पा० ८।१।२-३) इति द्वितीयस्यानुदात्तत्वम् ॥ १ ॥

स्कन्दः—सुरूपकृत्नुमित्यत आरभ्यैन्द्रदैवतमा मेधातिथेः स्मृतम् । सुरूपकृत्नुमित्यत आरभ्य ऐन्द्रदैवतमा मेधातिथेरार्षात् । सुरूपाणि शोभनानि कर्माणि तेषां कर्तारमिन्द्रम् । ऊतये सोमेन तर्पणाय पालनाय वा आत्मनः सुदुघामिव गोदुहे । यथा कश्चित्सुदोहां गां तस्या एव गोर्दोहायाह्वयेत् , तद्वत् । जुहूमसि आह्वयामः । द्यविद्यवि अहन्यहनि । सततमित्यर्थः ॥ १ ॥

३२ उप॑ नः॒ सव॒ना ग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब ।
गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ॥ २ ॥
उप॑ । नः॒ । सव॑ना । आ । ग॒हि॒ । सोम॑स्य । सो॒म॒ऽपाः ।
पिब॒ । गो॒ऽदाः । इत् । रे॒वतः॑ । मदः ॥ २ ॥

O Soma-drinker (Indra), Come (for drinking Soma) to our (three) offerings. And drink Soma. The delight of (thee), the rich (person), bestows cows, indeed.

(सोमपाः) हे सोमरस पीनेवाले [हे इन्द्र, सोम पीने के लिए] (नः) हमारे (सवना उप) प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल होनेवाले यज्ञों में (आगहि) आइये तथा (पिब) [सोमरस] पीजिये । (रेवतः) आप-जैसे धनवान् देव का (मदः) आनन्दित होना (गोदाः) हमें गायें प्रदान करता है ।

सायणः—हे सोमपाः सोमस्य पातरिन्द्र सोमं पातुं नोऽस्मदीयानि सवना त्रीणि सवनानि प्रत्युप समीप आगहि आगच्छ । आगत्य च सोमस्य सोमं पिब । रेवतो धनवतस्तव मदो हर्षो गोदा इत् गोप्रद एव । त्वयि हृष्टे सत्यस्माभिर्गावो लभ्यन्त इत्यर्थः ॥ सवना सूयते सोम एष्विति सवनानि । अधिकरणे ल्युट् (पा० ३।३।११७)। सुपो डादेशष्टिलोपश्च गहि । गमेः 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुक् । हेर्ङित्वाद् 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना मकारलोपः । 'अतो हेः' (पा० ६।४।१०५) इत्याभाच्छास्त्रीये लुकि कर्तव्ये 'असिद्धवदत्राभात्' (पा० ६।४।२२) इत्याभाच्छास्त्रीयो मकारलोपोऽसिद्धवद्भवति । गां ददातीति गोदाः । 'क्विप् च' (पा० ३।२।७६) इति क्विपं परमपि सरूपं बाधित्वा प्रतिपदविधित्वात् 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (पा० ३।२।७४) इति विच् । क्विपि हि 'घुमास्था०' (पा० ६।४।६६) इत्यादिना धातोराकारस्येत्वं स्यात् । रेवान् । रयिर्धनमस्यास्तीति मतुप् । 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति वत्वम् । 'रयेर्मतौ बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३७ वा०) इति सम्प्रसारणापरपूर्वत्वे गुणश्च । मदः । 'मदोऽनुपसर्गे' (पा० ३।३।६७) इत्यप् ।

स्कन्दः—उपेत्युपसर्गं आगहीत्याख्यातेन सम्बध्यते। उपागहि उपागच्छ नोऽस्माकं स्वभूतानि प्रातःसवनमाध्यन्दिनतृतीयसवनानि। यज्ञनाम वा सवनशब्दः। यज्ञान्। उपागत्य च 'सोमस्य सोमं, सोमस्य वैकदेशं स्वांशलक्षणं वा हे सोमपाः सोमानां पातः, पिब। किं कारणम्? उच्यते गोदा इत्। इच्छब्दः पदपूरणो यस्मादर्थे वा। गवां दाता यस्माद् रेवतो धनवतस्तव मदः। यस्मात्सोमेन मत्तो गां ददासीत्यर्थः ॥ २ ॥

३३ अथा॑ ते॒ अन्त॑मानां वि॒द्याम॑ सुमती॒नाम्।
मा नो॒ अति॑ ख्य॒ आ ग॑हि ॥ ३ ॥
अथ॑। ते॒। अन्त॑मानाम्। वि॒द्याम॑। सु॒ऽम॒तीनाम्।
मा। न॒ः। अति॑। ख्य॒ः। आ। ग॒हि॒ ॥ ३ ॥

Now (after drinking Soma) O Indra, may we Know (thee) having stood among those (men) of good intellect (who are) nearest thee. [Or, may we remember thee for the acquisition of intellect.] Do not reveal (this form of thine to others) having neglected us. But come (to us only).

(अथ) सोमपान के बाद [हे इन्द्र], (ते) आपके (अन्तमानाम्) अत्यन्त निकट रहनेवाले (सुमतीनाम्) बुद्धिमान् पुरुषों के [बीच रहकर हम आपको] (विद्याम) जान सकते हैं। [आप भी]. (नः) हमलोगों को (मा अतिख्यः) छोड़कर दूसरों को अपना रूप मत दिखलाइये। (आगहि) कृपया आइये।

सायणः—अथ सोमपानानन्तरम् इन्द्र, ते तव अन्तमानाम् अन्तिकतमानामतिशयेन समीपवर्तिनां सुमतीनां शोभनमतियुक्तानां शोभनप्रज्ञानां पुरुषाणां मध्ये स्थित्वा विद्याम वयं त्वां जानीयाम। यद्वा, सुमतीनां शोभनबुद्धीनां कर्मानुष्ठानविषयाणां लाभार्थमित्यध्याहारः, बुद्धिलाभाय त्वां स्मरेमेत्यर्थः। त्वमपि नोऽति मा ख्यः अस्मानतिक्रम्य स्वस्वरूपं मा प्रकथय। किन्त्वागहि अस्मानेवागच्छ ॥ अथेति 'निपातस्य च' (पा० ६।३।१३६) इति दीर्घत्वम्। अन्तमानाम्। अतिशयेनान्तिका इत्यतिशायने तमप्। 'तमे तादेश्च' (पा० ६।४।१४९ वा०) इति तादिलोपः। अन्तोऽस्यास्तीत्यन्तिकः समीपः। 'अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५) इति ठन्। दूरोत्कर्षस्य ह्यवसानं नास्ति। सामीप्योत्कर्षस्य पुनर्यो यस्य समीपः स एव तस्यान्त इत्यन्तवत्त्वात्समीपमन्तिकमुच्यते। विद्याम। वेत्तेर्लिङि 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (पा० ३।४।१०३) इति यासुडुदात्तः। सुमतीनाम्। मतिशब्दे क्तिन्नन्तेऽपि 'मन्त्रे वृषेष-

पचमनविदभूवीरा उदात्तः' (पा० ३।३।९६) इतीकार उदात्तः। शोभना मतिर्येषां ते सुमतय इति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरापवादेन 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तः। ख्यः। 'ख्या प्रकथने' (धा० अं० ५०) इत्यस्य लुङि सिपि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा० ३।१।५२) इति च्लेरङादेशः। 'आतो लोप इटि च' (पा० ६।४।६४) इत्याकारलोपः। 'इतश्च' (पा० ३।४।१००) इतीकारलोपो रुत्वविसर्गौ। 'न माङ्योगे' (पा० ६।४।७४) इत्यडभावः। गहि—पूर्वमन्त्रवत्।

स्कन्दः—अथेत्यानन्तर्ये। अथ सोमपानानन्तरं ते तव अन्तमानाम् अन्तमान् सन्निकृष्टान् विद्याम जानीयाम। कीदृशान्? सुमतीन् स्वद्भक्तिप्रज्ञोपेतान्। अथवा अन्तमानां सुमतीनामिति निर्धारणे षष्ठ्यौ। तव सन्निकृष्टानि सुमतीनि। मन्यतेरर्चतिकर्मत्वान्मतिशब्दः स्तुत्यर्थः। सुस्तुतीनि अत्यन्तोत्कृष्टानि धनानि तानि तेषां वैकदेशं लभेमहि। किं च मा नः अतिख्यः। अतिपूर्वोऽत्र ख्यातिः सामर्थ्यात्परित्यागेऽतिक्रमे वा। अस्मान्कदापि मा परित्याक्षीः, अतिक्रमीर्वा। किं तर्हि? सर्वदैवावगच्छ। अथवा ख्यातिः प्रथनार्थ एव। न इति कर्मश्रुतेः। अतिश्चोपसर्गः। मास्मानतिख्यः। अन्येभ्यः प्रकाशीभूः। अन्यसकाशं मा गमोऽस्मत्समीपमेवागच्छेरित्यर्थः ॥ ३ ॥

३४ परे॑हि॒ विग्र॒मस्तृ॑त॒मिन्द्रं॑ पृ॒च्छा वि॑प॒श्चित॑म्।
यस्ते॒ सखि॑भ्य॒ आ वर॑म् ॥ ४ ॥

परा॑। इ॒हि॒। विप्र॑म्। अस्तृ॑तम्। इन्द्र॑म्। पृ॒च्छ॒। वि॒पः॒ऽचित॑म्।
यः। ते॒। सखि॑ऽभ्यः। आ। वर॑म् ॥ ४ ॥

(O worshipper,) go to the intelligent and uninjured Indra who (gives) Completely the best (wealth, sons etc.) to thy friends (i. e., the sacrificial priests); (having gone there) ask him about the wise (hotṛ priest, myself).

[हे यजमान] (यः) जो इन्द्र (ते) तुम्हारे (सखिभ्यः) ऋत्विजों को (वरम्) धन पुत्रादि श्रेष्ठ पदार्थ (आ—य) अच्छी तरह [देते हैं] (विप्रम्) उन बुद्धिमान् तथा (अस्तृतम्) हिंसादि अधर्म से रहित (इन्द्रम्) इन्द्रदेव से (विपश्चितम्) हमारी अर्थात् स्तोता की बुद्धि या योग्यता के विषय में (पृच्छ) पूछो।

सायणः—अत्र यजमानं प्रति होता ब्रूते। हे यजमान, त्वमिन्द्रं परेहि। इन्द्रस्य समीपे गच्छ। गत्वा च विपश्चितं मेधाविनं होतारं मां पृच्छ। असौ होता सम्यक् स्तुतवान्नवेत्येवं प्रश्नं कुरु। य इन्द्रस्ते तव यजमानस्य सखिभ्यः

ऋत्विग्भ्यो वरं श्रेष्ठं धनं पुत्रादिकम् आ समन्तात् प्रयच्छतीति शेषः। तादृश-मिन्द्रमिति पूर्वंवान्वयः। पुनरपि कीदृशम्? विप्रं मेधाविनम्। अस्तृतमहिं-सितम्॥ 'विप्र' इत्यादिषु चतुर्विंशतिसंख्याकेषु मेधाविनामसु (नि० ३।१५) विप्रविपश्चिच्छब्दौ पठितौ। इन्द्रशब्द 'ऋज्रेन्द्राग्र०' (उ० २।१८६) इत्यादिना रन्। सखिभ्यः। 'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उ० ४।५७६) इति समाने उपपदे ख्यातेरिण्। डिदित्यनुवृत्तेस्तस्य डित्वाट्टिलोपश्च तत्संनियोगेन यलोपः। 'समानस्य छन्दस्य मूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा० ६।३।८४) इति सभावः। व्रियत इति वरः। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' (पा० ३।३।५८) इत्यप्। पित्वाद्धातुस्वरः॥४॥

स्कन्दः—आत्मन एवान्तरात्मनः प्रैषः। हे अन्तरात्मन् परागच्छ। कम्? इन्द्रम्। इन्द्रसकाशं गच्छेत्यर्थः। कीदृशम्? विप्रं मेधाविनम्। अस्तृतम्। स्तृञ्आच्छादने हिंसायां वा। अनाच्छादितं सर्वप्रकाशम्। अहिंसितं वा। गत्वा च पृच्छ। किम्? विपश्चितम्। एतदपि मेधाविनामैव। विप्रमिति पौनरुक्त्य-प्रसङ्गान्नेदमिन्द्रविशेषणम्। किं तर्हि? स्तोतृप्रतिनिर्देशः। मेधाविनं स्तोतारम्। कतमोऽसौ पुमानत्यन्तमेधावी स्तोता यस्य त्वं सम्यक् स्तुतिं शृणोषि इत्ये-तद्गत्वा इन्द्रं पृच्छेत्यर्थः। स किं करोति? इन्द्रं पृच्छेत्युच्यते। यस्ते तव सखिभ्यः सखिस्थानीयेभ्यः पुत्रपौत्रादिभ्यो वा आ वरम्। आ इत्युपसर्गात्, वरं, सखिभ्य इति च कर्मसम्प्रदानश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः। आदत्ते वरं ददात्य-भिलषितं ददातीत्यर्थः॥ ४॥

३५ उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद्दुवः॥ ५॥

उत। ब्रुवन्तु। नः। निदः। निः। अन्यतः। चित्।
आरत। दधानाः। इन्द्रे। इत्। दुवः॥ ५॥

Let our (relative priests,) doing service to Indra, sing (his) praises. O revilers, depart from here and every other place.

(इन्द्रे) इन्द्र की (दुवः) सेवा (दधानाः) करते हुए (नः) हमारे ऋत्विक् (ब्रुवन्तु) उनकी स्तुति करें (उत) और (निदः) निन्दक पुरुष (निः आरत) इस स्थान से चले जायँ (अन्यतः चित्) और दूसरे स्थानों से भी [भाग जायँ]।

सायणः—नोऽस्माकं सम्बन्धिनः। ऋत्विज इति शेषः। ते ब्रुवन्तु इन्द्रं स्तुवन्तु। उत अपि च, हे निदो निन्दितारः पुरुषाः निरारत इतो देशान्नि-र्गच्छत। अन्यतश्चिद् अन्यस्मादपि देशान्निर्गच्छत। कीदृशा ऋत्विजः? इन्द्रे

दुवः परिचर्यां दधानाः कुर्वाणाः । इच्छब्दोऽवधारणे । सर्वदा परिचर्यां कुर्वन्त एव तिष्ठन्त्वित्यर्थः ॥ निन्दन्तीति निदः । णिदि कुत्सायाम् । क्विपि नुमभावश्छान्दसः । चिदित्यपि शब्दार्थे । तेन न केवलमितः । इतो निर्गत्यान्यतोऽपि निर्गच्छतेति गम्यते । स एष धात्वर्थयोः सम्बन्धः आरतेति लुङा द्योत्यते । स हि धातुसम्बन्धाधिकारे विधीयते । आरत । अर्तेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति लोडर्थे लुङ् । मध्यमबहुवचनस्य तादेशः । 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (पा० ३।१।५६) इति च्लेरङादेशः । 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० ७।४।१६) इति गुणः । आडागमः । दुवः परिचर्या । 'इरज्यति' (नि ३।५) इत्यादिषु दुवस्यति इति पाठात् ॥ ५ ॥

स्कन्दः—उतशब्दः पदपूरणः । अप्यर्थे समुच्चये वा । उत्तरस्यां चर्चि यद्वच्यते तदपेक्षः समुच्चयः । अपि ब्रुवन्तु उच्चारयन्तु । किम् ? सामर्थ्यादिन्द्रस्य स्तुतीः । इन्द्रं नित्यं स्तुवन्तामित्यर्थः । नोऽस्माकं स्वभूता ऋत्विजः पुत्रादयो वा । निदः ये त्वस्माकं निन्दितारः । ते निरन्यतश्चिदारत । चिच्छब्द एवार्थे । अन्यत एव निर्गच्छन्तु । अन्येनैव पथा प्रयान्तु मा । इन्द्रं कदाचिदपि तत्त्वतो ज्ञासिषुः । मा च स्तौषुरित्यर्थः । दधाना इन्द्रे इद् दुवः । इच्छब्द पदपूरणः । इन्द्रे परिचर्यां दधानाः । इन्द्रं परिचरितुमिच्छन्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥

३६ उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥
उत । नः । सुऽभगान् । अरिः । वोचेयुः । दस्म । कृष्टयः ।
स्याम । इत् । इन्द्रस्य । शर्मणि ॥ ६ ॥

O (Indra) destroyer of enemies, may even enemies speak of us as prosperous, (what to talk of) our own men. May we live in the happiness (derived from the favour) of Indra.

(दस्म) हे शत्रुनाशक इन्द्र ! (नः) हम लोगों को (अरिः) शत्रु लोग (उत) भी (सुभगान्) सम्पत्तिशाली (वोचेयुः) कहें । (कृष्टयः) दूसरे मनुष्य [जो हमारे मित्रवर्ग में हैं, वे तो कहें ही ।] (इन्द्रस्य) इन्द्र की [कृपा से प्राप्त] (शर्मणि) सुख की स्थिति में (स्याम इत्) हम अवश्य रहें ।

सायणः—हे दस्म शत्रूणामुपक्षयितरिन्द्र त्वदनुग्रहात् अरिः उत शत्रवोऽपि नोऽस्मान् सुभगान् शोभनधनोपेतान् वोचेयुः उच्यासुः । कृष्टयो मनुष्या अस्मन्मित्रभूता वदन्तीति किमु वक्तव्यमिति शेषः । ततो धनसम्पन्ना वयमिन्द्रस्य शर्मणि इन्द्रप्रसादलब्धे सुखे स्यामेत् भवेमैव ॥ मघमित्यादिष्वष्टाविंशतिसंख्या-

केषु धननामसु (निघ० २।१०) 'रयिः क्षत्रं भग'इति पठितम् । मनुष्या इत्यादिषु पञ्चविंशतिसंख्याकेषु मनुष्यनामसु (निघ० २।३) 'कृष्टय' इति पठितम् । सुभगान् । संहितायां 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) इति नकारस्य रुत्वम् । 'भोभगो०' (पा० ८।३।१७) इति यत्वम् । 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति यलोपः । तस्यासिद्धत्वान्न पुनः सन्धिकार्यम् । 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० ८।३।३) इत्याकारस्य सानुनासिकता । अरिः । वचनव्यत्ययः । 'अच इः' (उ० ४।५७८) इतीप्रत्ययान्तः । वोचेयुः = उच्यासुः । 'वच परिभाषणे' (धा० अ० ५३) इत्यस्मादाशीर्लिङि झेर्जुसादेशे 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० ३।१।८६) इत्यङ्प्रत्यये 'वच उम्' (पा० ७।४।२०) इत्युमागमः । गुणः । 'किदाशिषि' (पा० ३।४।१०४) इति यासुट् । 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति लिङादेशस्य सार्वधातुकत्वात् 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (पा० ७।२।७९) इति सकारलोपः । 'अतो येयः' (पा० ७।२।८०) । 'आद्गुणः' (पा० ६।१।८७) । दस्म । 'दसु उपक्षये' (धा० दि० १०७) इत्यस्मादन्तर्भावितण्यर्थात् 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' (उ० १।१५०) स्याम । अस भुवि । श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) । यासुट उदात्तत्वम् । पादादित्वादनिघातः । शर्मणि । 'शॄ हिंसायाम्' (धा० क्र्या० १६) हिनस्ति दुःखमिति शर्म । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति मनिन् । 'नेड्वशि कृति' (पा० ७।२।८) इतीट्प्रतिषेधः ।

स्कन्दः—अपि नोऽस्मान् सुभगान्सुधनान् । अरिः । शत्रुपर्यायोऽयमीश्वरनाम वा । व्यत्ययेनैकवचनम् । शत्रवोऽपि ईश्वरा अपि वोचेयुः । हे दस्म उपक्षयितः शत्रूणां दर्शनीय वा । कृष्टयो मनुष्याः । तादृशं धनमस्मभ्यं देहि येन शत्रवोऽपि ईश्वरा अपि वा सुधनान् ब्रुवन्ति । किमुतान्ये मनुष्या इत्यर्थः । किं च स्यामेत् । इच्छब्दः पदपूरणोऽयम् । तवेन्द्रस्य सम्बन्धिनि शर्मणि सुखे त्वया दत्तेन धनेन सुखिनश्च भवेमेत्यर्थः । अथवा शर्मेति गृहनाम । मरणोत्तरकालं तवेन्द्रस्य गृहे भवेम । इन्द्रलोकं गच्छेमेत्यर्थः ।

३७ एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।
पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥

आ । ईम् । आशुम् । आशवे । भर । यज्ञऽश्रियम् ।
नृऽमादनम् । पतयत् । मन्दयत्ऽसखम् ॥ ७ ॥

Offer to Indra, the pervader (of every rite of libation), the juice that is present (at the three ceremonies), the grace of the

sacrifice, the exhilarator of mankind, the perfector of the act, the favourite of (that Indra) who gives happiness.—Wilson.

[हे यजमान !] (आशवे) पूरे सोमयाग को व्याप्त करनेवाले इन्द्र के लिए (ईम्) इस (आशुम्) सभी सवनों में व्याप्त सोम को, जो (यज्ञश्रियम्) यज्ञमात्र की सम्पत्तियां शोभा है, जो (नृमादनम्) मनुष्यों को आनन्द देता है, जो (पतयत्) सभी कर्मों में पहुँचा हुआ है तथा जो (मन्दयत्सखम्) यजमानों को आनन्द देनेवाले [इन्द्र का] मित्र अर्थात् प्रिय है— उसे (आ भर) ले आओ ।

सायणः—ईमिति निपात इदंशब्दार्थे वर्तते । हे यजमान, आशवे कृत्स्न-सोमयागव्याप्ताय इन्द्राय ईम् आ भर । इमं सोममाहर । कीदृशं सोमम् । आशुं सवनत्रयव्याप्तं यज्ञश्रियं यज्ञस्य संपद्रूपं नृमादनं नृणामृत्विग्यजमानानां हर्षहेतुं पतयत्पतयन्तं कर्माणि प्राप्नुवन्तं मन्दयत्सखम् । य० इन्द्रो मन्दयति यजमानान् हर्षयति तस्मिन्निन्द्रे सखिभूतोऽयं सोमः । तत्प्रीतिहेतुत्वात् तृप्तिहेतुत्वाद्वा ॥ आशुम् । 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उ० १।१) इत्युण् । प्रत्यय-स्वरः । आशवे । पूर्ववत् । यज्ञश्रियम् । 'समासस्य' (पा० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तः । माद्यन्तेऽनेनेति मादनः । 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११७) इति ल्युट् । पतयत् । पतेरदन्तस्य चौरादिको णिच् (पा० ३।१।२५)। 'अतो लोपः' (पा० ६।४।४८) । तस्य स्थानिवत्त्वादुपधाया वृद्ध्यभावः (पा० ७।२।११६ तथा १।१।५६) । लटः शत्रादेशः । 'णेरनिटि' (पा० ६।४।५१) । इति णिलोपाभावः । 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यमो लुक् । 'न लुमता०' (पा० १।१।६३) इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात् 'उगिदचाम्' (पा० ७।१।७०) इति न नुम् । एवं मन्दयच्छब्दोऽन्तोदात्तः । मन्दयतीन्द्रे सखा । सप्तमीति योगविभागात्समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (पा० ६।२।२) इति सप्तमीपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।

स्कन्दः—ई शब्द एनमित्यस्यार्थे । एनं सोमम् । आशुम् । क्षिप्रना-मैतत् । स्वकार्यकरणेषु क्षिप्रम् । आशवे । तादर्थ्ये चैषा चतुर्थी । सर्वार्थेषु क्षिप्रस्येन्द्रस्यार्थाय । आभर आहर अध्वर्यो ! यज्ञश्रियं यज्ञं यः श्रयति स यज्ञश्रीः, तं यज्ञश्रियं हविष्ट्वमापन्नमित्यर्थः । नृमादनं नरो मनुष्या ऋत्विजः, तदाकारा वा देवाः, तेषां मदकरम् । पतयत्पतयतिर्गतिकर्मा । द्वितीयैकवचनस्य च छान्द-सत्वाल्लुक् । पतयन्तं गच्छन्तमिन्द्रं प्रति गन्तारमित्यर्थः । मन्दयत्सखम् । मन्दयतिरर्चतिकर्मा । तानि तान्यभिप्रेतानि स्तोतुः संपादयन् य आत्मनः स्तुतिं कारयति, इन्द्रस्य सखीभूतः ॥ ७ ॥

३८ अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥

अस्य । पीत्वा । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । घनः । वृत्राणाम् ।
अभवः । प्र । आवः । वाजेषु । वाजिनम् ॥ ८ ॥

Having drunk, Shatakratu, af this (Soma juice), thou becamest the slayer of the Vritras; Thou defendest the warrior in battle.

(शतक्रतो) अनेक कर्म या शक्ति वाले हे इन्द्र ! (अस्य) सोमरस का यह अंश (पीत्वा) पीकर [आप] (वृत्राणाम्) वृत्रादि असुरों के (घनः) विनाशक (अभवः) हो चुके हैं। (वाजेषु) युद्धस्थलों में (वाजिनम्) युद्ध करने वाले [अपने भक्त की आपने] (प्रावः) अच्छी तरह रक्षा भी की है।

सायणः—हे शतक्रतो बहुकर्मयुक्तेन्द्र ! त्वमस्य सोमस्य सम्बन्धिनमंशं पीत्वा वृत्राणां वृत्तनामकासुरप्रमुखाणां शत्रूणां घनोऽभवः। हन्ताभूः। ततो वाजेषु संग्रामेषु वाजिनं संग्रामवन्तं स्वभक्तं प्रावः प्रकर्षेण रक्षितवानसि ॥ अस्येतीदंशब्देन प्रयोगसमये पुरोदेशस्थः सोमो निर्दिश्यते, न तु पूर्वप्रकृतः सोमः परामृश्यते । अतोऽनन्वादेशत्वान्नात्र 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' (पा० २।४।३२) इत्यशादेशः। पीत्वा। पिबतेः क्त्वाप्रत्यये घुमास्थादिना (पा० ६।४।६६) ईत्वम्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। असामर्थ्यान्न परामन्त्रिताङ्गवद्भावः। घनः। 'मूर्तौ घनः' (पा० ३।३।७७) इति हन्तेर्धातोः काठिन्येऽप्प्रत्ययः। तदस्यास्तीत्यर्शआदित्वादजन्तः। चित्वादन्तोदात्तः। वाजेषु। वृषादित्वादाद्युदात्तः। वाजिनम्। इनिप्रत्ययस्वरः ॥

स्कन्दः—अस्येति षष्ठी द्वितीयार्थे। षष्ठीश्रुतेर्वैकदेशमिति शेषः। इमं सोमम्, अस्य सोमस्यैकदेशं स्वांशलक्षणं पीत्वा। हे शतक्रतो शतशब्दो बहुनाम। क्रतुः कर्म प्रज्ञा वा। बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा। घनः हन्ता। वृत्राणामसुराणामन्येषां वा अभवः त्वं, प्रावः प्रकर्षेणारक्षः त्वम्। वाजेषु। वाज इत्येकवचनान्तं संग्रामपठितम्। संग्रामेषु। कं, वाजिनं संग्रामवन्तं हविर्लक्षणेनान्नेन अन्नवन्तम्। अथवा अभवः प्रावः इति लोडर्थे लङ्। हन्तास्मदीयानां शत्रूणां भव। प्रकर्षेण चाव संग्रामेषु मां वाजिनमिति। आत्मत्राणे संसर्गे वा ब्राह्मणवैश्ययोरपि शस्त्रादानस्मरणात् संभवत्यृषीणामपि संग्रामः। विशेषेण तु मधुच्छन्दसः क्षत्रियप्रसूतत्वात्। तत्रेदं शत्रुहननमात्मरक्षा चाशास्यते ॥ ८ ॥

३९ तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ।
धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥

तम् । त्वा । वाजेषु । वाजिनम् । वाजयामः । शतक्रतो
इति शतऽक्रतो । धनानाम् । इन्द्र । सातये ॥ ९ ॥

We offer to thee, Shatakratu, the mighty in battle (sacrificial) food for the acquirement, Indra, of riches.

(शतक्रतो) हे अनेक कर्म या बुद्धि वाले (इन्द्र) इन्द्र ! (वाजेषु) युद्धस्थलों में (वाजिनम्) बल का प्रदर्शन करनेवाले तथा (तं) उपर्युक्त गुणों से युक्त होने से (त्वा) आपको (धनानां) सम्पत्ति के (सातये) वितरण के लिए, [हमें वे सम्पत्ति दें—इसलिए] (वाजयामः) अन्नयुक्त या सबल करते हैं ।

सायणः—हे शतक्रतो बहुकर्मयुक्त यद्वा बहुप्रज्ञानयुक्तेन्द्र ! धनानां सातये संभजनार्थं वाजेषु युद्धेषु वाजिनं बलवन्तं त्वा पूर्वमन्त्रोक्तगुणयुक्तं त्वां वाजयामः । अन्नवन्तं कुर्मः । रण इत्यादिषु षट्चत्वारिंशत्सु संग्रामनामसु (निघ० २।१७) पौंस्ये महाधने वाजेऽज्मन्निति पठितम् । अष्टाविंशतिसंख्याकेषु अन्ननामसु (निघ० २।७) अन्धो वाजः पाजः इति पठितम् । उरु तुवीत्यादिषु द्वादशसु बहुनामसु (निघ० ३।२) । शतं सहस्रमिति पठितम् । अपोऽप्न इत्यादिषु षड्विंशतिसंख्याकेषु कर्मनामसु (निघ० २।१) शक्म क्रतुरिति पठितम् । केतः केतुरित्यादिषु एकादशसु प्रज्ञानामसु (निघ० ३।९) क्रतुः असुः इति पठितम् ॥ वाजेषु । वज व्रज गतौ (धा० भ्वा० २५३) । वाजयति गमयति शरीरनिर्वाहमनेनेति वाजो बलमन्नं वा । ण्यन्तात्करणे घञ् । वाजयामः । वाजोऽस्यास्तीति वाजवान् । तं कुर्म इत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' (पा० ३।१।२६ वा०) इति णिच् । 'इष्ठवण्णौ (णाविष्ठवत्) प्रातिपदिकस्य' (पा० ६।४।१५५ वा०) इति तस्मिन्परत इष्ठवद्भावात् 'विन्मतोर्लुक्' (पा० ५।३।६५) इति मतुपो लुक् । 'टेः' (पा० ६।४।१५५) इत्यकारलोपः ।

स्कन्दः—तच्छब्दः प्रकृतापेक्षः । तं त्वा वाजेषु वाजिनम् । वाजो बलं तद्वन्तम् । वाजयामः । वाजयतिरर्चतिकर्मा । स्तुमः । हे शतक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा । किमर्थम्? उच्यते—संग्रामे जिगीषितानां धनानां हे इन्द्र, सातये । 'षणु दाने' (धा० अ० ६८) दानाय । अथवा वन षण संभक्तौ । संभजनाय लाभायेत्यर्थः ॥ ९ ॥

४० यो रायो३ऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

यः । रायः । अवनिः । महान् । सुऽपारः । सुन्वतः । सखा ।
तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ १० ॥

Sing for that Indra, the protector of wealth, the mighty, the accomplisher of good deeds and the friend of the afferer of the libation.

(यः) जो (रायः) धन को (अवनिः) रक्षक, (महान्) अपने गुणों के कारण बड़े, (सुपारः) कार्यों को सफलतापूर्वक पार लगानेवाले तथा (सुन्वन्तः) सोम सवन करने वाले यजमान के (सखा) मित्र या प्रिय हैं, (तस्मै) उन (इन्द्राय) इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए (गायत) स्तुति कीजिये ।

सायणः—य इन्द्रो रायो धनस्यापनिः रक्षकः स्वामी वा तस्मै इन्द्राय गायत । हे ऋत्विजः तत्प्रीत्यर्थं स्तुतिं कुरुत । कीदृश इन्द्रः महान् गुणैरधिकः । सुपारः सुष्ठु कर्मणः पूरयिता । सुन्वतो यजमानस्य सखा सखिवत्प्रियः ॥ अवनिः । अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छा-दीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन हिंसादानभागवृद्धिषु च (धा० भ्वा० ६०१) इत्यस्मात् 'अर्ति-सृधृधम्यम्यश्यवितॄभ्योऽनिः' (उ० २।१०३) इत्यनिः । प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् । सुपारः । पॄ पालनपूरणायोः (धा० चु० ४) इत्यस्माण्णिजन्तात्कर्तरि० (पा० ३।१।६८) इत्यनुवृत्तौ पचाद्यच् (पा० ३।१।१३४) । 'चितः' (पा० ६।१। १६३) इत्यन्तोदात्तः । सखा । 'समाने ख्यश्चोदात्तः' (उ० ४।१३६) इती-ण्प्रत्ययान्तः । तत्संनियोगेन यलोपः । सशब्दस्य चोदात्तः । डित्वाट्टिलोपः । तस्मै । अदिरित्यनुवृत्तौ 'त्यजितनियजिभ्यो डित्' (उ० १।१३१) इति तनोतेरदिप्रत्ययः । डित्वाट्टिलोपे प्रत्ययस्वरेण तच्छब्द उदात्तः । इन्द्राय । इन्द्रशब्दो रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्वादाद्युदात्तः । 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (पा० १।४।३२) इत्यत्र क्रियाग्रहणं कर्तव्यम् (वार्तिं० इति वचनाद् गानक्रियया प्राप्यत्वात्संप्रदानत्वेन चतुर्थी ॥

स्कन्दः—य इन्द्रः रायो धनस्य । अवनिः । पृथिवीनामैतत् । आश्रय-त्वसामान्यात्तु इन्द्रे प्रयुज्यते । यथा पृथिवी सर्वार्थानामाश्रयः तद्वदाश्रय इत्यर्थः । अथवा, अवतेः स्वाम्यर्थस्य वा, अवाप्त्यर्थस्य वा कर्तरि अयमनि-प्रत्ययः । धनस्येशिता अवाप्ता वेत्यर्थः । कीदृशः, महान् सुपारः । 'पॄ पालन-

पूरणयोः' (धा० जु० ४)। सुष्ठु च पालयिता। सुन्वतोऽभिषवं कुर्वतः, सोमयाजिन इत्यर्थः। सखा सखिस्थानीयश्च सुन्वत एव। तस्मा इन्द्राय, तादर्थ्ये एषा चतुर्थी। तस्य इन्द्रस्यार्थाय। तमिन्द्रं स्तोतुमित्यर्थः। गायत सामगा! उद्गातारः! उच्चारणवचनमात्रो गायतिः। 'कै गै शब्दे' (धा० भ्वा० ९४२)। स्तुतिमुच्चारयत। यूयमृत्विजो मत्पुत्रपौत्रा वा ॥ १० ॥

(५) पञ्चमं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता ।

४१ आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।

सखायः स्तोमवाहसः ॥ १ ॥

आ । तु । आ । इत । नि । सीदत । इन्द्रम् । अभि । प्र ।

गायत । सखायः । स्तोमऽवाहसः ॥ १ ॥

Hasten hither, friends, offering praises; sit down, and sing repeatedly the praises of Indra.—Wilson.

(सखायः) हे ऋत्विजो, [इस यागकर्म में] (आ इत, आ तु) शीघ्र आइये, आइये । (निषीदत) बैठिये और (इन्द्रम्) इन्द्र की (अभि प्र गायत) स्तुति गाइये; [आप] (स्तोमवाहसः) स्तुतियों का वहन करते हैं ।

सायणः—तुशब्दः क्षिप्रार्थो निपातः । द्वाभ्यामाङ्भ्यामन्वेतुमितशब्दोऽभ्यसनीयः । हे सखायः ऋत्विजः, क्षिप्रमस्मिन्कर्मणि आगच्छतागच्छत । आदरार्थोऽभ्यासः । आगत्य च निषीदत उपविशत । उपविश्य च इन्द्रमभि प्र गायत । सर्वतः प्रकर्षेण स्तुत । कीदृशाः सखायः । स्तोमवाहसः । त्रिवृत्पञ्चदशादिस्तोमानस्मिन्कर्मणि वहन्ति प्रापयन्तीति ॥ आ तु आ । निपातस्वाद्याद्युदात्ताः । इण् गतौ (धा० अ० ३५) 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घत्वम् । नि । निपातत्वादाद्युदात्तः । सीदत । 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृशि०' (पा० ७।३।७८) इत्यादिना सदेः सीदादेशः । 'सदिरप्रतेः' (पा० ८।३।६६) इति संहितायां षत्वम् । स्तोमवाहसः । 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' (उ० १।१३७) इति स्तौतेर्मन् । स्तोमं वहन्तीति स्तोमवाहसः । 'वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि' (उ० ४।६६०) इत्यसुन्प्रत्ययः । तत्र 'णित्' इत्यनुवृत्तेः 'अत उपधायाः' (पा० ७।२।११६) इति वृद्धिः ।

स्कन्दः—तुशब्दः पदपूरणः क्षिप्रपर्यायो वा । आ आ इत्युपसर्गस्याभ्यासात् तत्संबन्धिनः इतेत्याख्यातस्याप्यभ्यासः । क्षिप्रमेत आख्याताभ्यासे च लोके गम्यतामित्यादौ अवश्यं कर्तव्यता प्रतीयते । क्षिप्रमवश्यमागच्छतेत्यर्थः । आगत्य च निषीदत उपविशत । यथास्थानं निषद्य च इन्द्रमभिप्रगायत । गायतिरर्चतिकर्मा । प्रकर्षेणाभिष्टुत । हे सखायः ऋत्विजः । स्तोमवाहसः स्तोमानामिन्द्रं प्रति प्रापयितारः, स्तोतार इत्यर्थः ॥ १ ॥

४२ पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ २ ॥
पुरुऽतमम् । पुरूणाम् । ईशानम् । वार्याणाम् ।
इन्द्रम् । सोमे । सचा । सुते ॥ २ ॥

When the libation is poured forth, (praise) Indra the discomfiter of many enemies, the lord of many blessings.

[हे ऋत्विजो ! आप लोग सब] (सचा) मिलकर (सोमे सुते) सोमरस के चुला लिये जाने पर (पुरूतमम्) अनेक शत्रुओं को कष्ट देनेवाले और (पुरूणां) बहुत से (वार्याणाम्) वरण करने योग्य धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रम्) इन्द्र की [स्तुति कीजिये] ।

सायणः—'सखायोऽभिप्रगायत' इति पदद्वयमत्रानुवर्तते । हे सखायः ऋत्विजः, सचा यूयं सर्वैः सह । यद्वा । सचा परस्परसमवायेन सुते अभिषुते सोमे प्रवृत्ते सति इन्द्रम् अभिप्रगायत । कीदृशमिन्द्रम् । पुरूतमम् । पुरून् बहून् शत्रून् तमयति ग्लापयतीति पुरूतमः । पुरूणां बहूनां वार्याणां वरणीयानां धनानामीशानं स्वामिनम् ॥ पुरूतमम् । तमु ग्लाने (धा० दि० ९६) इति धातोरन्तर्भावितण्यर्थात् पचाद्यच् । पुरूणाम् । पॄ पालनपूरणयोः (धा० जु० ४) इत्यस्मात् 'कुः' इत्यनुवृत्तौ 'पॄभिदिव्यधिगृधिधृषिभ्यः' (उ० १।२३) इति कुप्रत्ययः । कित्त्वाद् गुणनिषेधे (पा० १।१।५) 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० ७।१।१०२) इत्युकारः । 'उरण् रपरः' (पा० १।१।५१) । ईश ऐश्वर्ये (धा० अ० १०) इति धातोरनुदात्तेत्वात्परस्य शानचो लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् । वार्याणाम् । वृङ् संभक्तौ (धा० क्र्या० ३७) इत्यस्मात् 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा० ३।१।१२४) । क्यब्विधौ हि वृञ एव ग्रहणं न वृङः (पा० ३।१।१०९ वा०) । सचा । षच समवाये (धा० भ्वा० १०२२) । 'धात्वादेः षः सः' (पा० ६।१।६४) । संपदादित्वाद् भावे क्विप् (पा० ३।३।१०८ वा०) इति क्विप् । तृतीयैकवचनम् ।

स्कन्दः—कीदृशमिन्द्रम् ? उच्यते, पुरूतमम् । पुरुशब्दो बहुनाम । तमशब्दोऽपि नातिशयप्रत्ययः । अर्थासम्भवादुदात्तत्वाच्च । किं तर्हि ? 'तमु अभिकाङ्क्षायाम्' इत्यस्य रूपम् । बहुभिर्योऽभिकाङ्क्ष्यते प्रार्थ्यते याच्यते, स पुरूतमः, तं पुरूतमम् । पुरूणां बहूनामीशानं स्वामिनम् । वार्याणां वरणीयानामुत्कृष्टानां धनानाम् । क्रियाशब्देनेदमिन्द्रस्य गुणाभिधानम् । न नाम्ना प्रतिनिर्देशः । कुत एतत् । अस्यामृचि आख्याताभावाद् वा पूर्वयचैकवाक्यत्वात् तस्यां चेन्द्रशब्दस्य नाम्नो विद्यमानत्वात् । 'इदि परमैश्वर्ये' । अत्यन्ते-

श्वरमित्यर्थः । कदा पुनः स्तवाम ? उच्यते । सोमे सचा सुते । सचा सहेत्यर्थः । सर्वैर्ऋत्विग्भिः सहाभिषुते । कालोपलक्षणं चेदम् । अभिषवोत्तरकालमित्यर्थः ॥२॥

४३ स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरंध्याम् ।
गमद्वाजेभिरा स नः ॥ ३ ॥

सः । घ । नः । योगे । आ । भुवत् । सः । राये । सः ।
पुरम्ऽध्याम् । गमत् । वाजेभिः । आ । सः । नः ॥३॥

May he be to us for the attainment of our objects ; may he be to us for the acquirement of riches ; may he be to us for the acquisition of Knowledge ; may he come to us with food. -- Wilson.

(स घ) वे ही [इन्द्र-देवता] (नः) हमारे (योगे) अप्राप्त अर्थ की प्राप्ति में, (सः) वे ही (राये) धन के लाभ में तथा (सः) वे ही (पुरन्ध्याम्) स्त्री की प्राप्ति में भी (आ भुवत्) सहायक बनें; (सः) वे (वाजेभिः) देय अन्नों के साथ (नः) हमारे पास (आ गमत्) आवें ।

सायणः—घशब्दोऽवधारणार्थो निपातः । सर्वैस्तच्छब्दैः संबध्यते । स घ स एवेन्द्रः पूर्वमन्त्रोक्तगुणविशिष्टः नोऽस्माकं योगे पूर्वमप्राप्तस्य पुरुषार्थस्य सम्बन्धे आ भुवत् आभवतु । पुरुषार्थं साधयत्वित्यर्थः । स एव राये धनार्थमा भुवत् आभवतु । स एव पुरन्ध्यां योषिति आ भुवत् । यद्वा । बहुविधायां बुद्धौ आ भुवत् । 'पुरंधिबहुधीः' (नि० ६।१३) इति यास्कः । स एव वाजेभिः देयैरन्नैः सह नोऽस्मान् आ गमत् आगच्छतु ॥ घ । 'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ८४) इत्यनुदात्तः । संहितायाम् 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० ६।३।१३३) । इति दीर्घः । योगे । घञो ञित्वादाद्युदात्तत्वम् । भुवत् भूयात् । भवतेः आशीर्लिङि परतः 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० ३।१।८६) इत्यङ्प्रत्ययः । तस्य ङित्त्वेन गुणाभावादुवङादेशः । 'किदाशिषि' (पा० ३।४।१०४) इति यासुट् न भवति 'अनित्यमागमशासनम्' (परिभा० ९३।२) इति वचनात् । पुरंध्याम् । पुरंधिः पुरुधीः । पृषोदरादित्वात् (पा० ६।३।१०९ ; उकारस्य अमादेशः ईकारस्य ह्रस्वश्च । अथवा पुरं शरीरं धीयतेऽस्यामिति 'कर्मण्यधिकरणे च' (पा० ३।३।९३) इति किप्रत्ययः । अलुक् छान्दसः । गमत् । गमेर्लेटः तिप् । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० ३।४।९७) इति इकारलोपः । 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुक् । 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इत्यडागमः ।

स्कन्दः—घ इति पदपूरणः । स प्रकृत इन्द्रः नः अस्माकं योगे । योग उद्योगः । उत्साहः अलब्धलाभो वा, तस्मिन् । आभुवत् आभिमुख्येन भवतु ।

योगमस्माकं करोत्वित्यर्थः। स एव राये धने स एव पुरन्ध्यां बहुध्यां प्रज्ञायाम्। गमत्। वाजेभिरागमद् आगच्छतु। वाजेभिः सहयोगलक्षणैषा तृतीया। अस्मभ्यं यानि दातव्यानि तैरन्नैः सह तानि गृहीत्वा इत्यर्थः। अथवा हेताविथं तृतीया। प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा। हविर्लक्षणैरन्नैर्हेतुभूतैः। हविरुप-भोगार्थमित्यर्थः। कः, स एवेन्द्रः। कस्य वाजेभिः, नः अस्मत्संबन्धिभिः ॥३॥

४४ यस्य॑ सं॒स्थे न वृ॒ण्वते॒ हरी॒ स॒मत्सु॒ शत्र॑वः।
तस्मा॒ इन्द्रा॑य गायत ॥ ४ ॥

यस्य॑। स॒म्ऽस्थे। न। वृ॒ण्वते॑। हरी॒ इति॑। स॒मत्ऽसु॑।
शत्र॑वः। तस्मै॑। इन्द्रा॑य। गा॒य॒त ॥ ४ ॥

Sing to that Indra, whose enemies in combats await not his coursers harnessed in his car.

(यस्य) जिन इन्द्र देवता के (संस्थे) रथ में जुते हुए (हरी) दोनों घोड़ों का (समत्सु) युद्धस्थलों में (शत्रवः) शत्रुगण (न वृण्वते) सामना नहीं कर सकते (तस्मै) उन्हीं (इन्द्राय) इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए (गायत) स्तुति कीजिये।

सायणः—समत्सु युद्धेषु यस्येन्द्रस्य संस्थे रथे युक्तौ हरी द्वावश्वौ शत्रवो न वृण्वते न संभजन्ते। रथमश्वौ च दृष्ट्वा पलायन्ते इत्यर्थः। तस्म इन्द्राय तत्संतोषार्थं हे ऋत्विजः गायत स्तुतिं कुरुत। 'रणः' इत्यादिषु षट्चत्वारिंशत्सु संग्रामनामसु (निघ० २।१७) 'समत्सु समरणे' इति पठितम् ॥ संस्थे। सम्यक् तिष्ठतीति संस्थो रथः। 'आतश्चोपसर्गे' (पा० ३।१।१३६) इति कप्रत्ययः। हरतो रथमिति हरी अश्वौ। 'इन्' इत्यनुवृत्तौ 'हृपिषिरुहिवृतिविदिच्छिदिकी-र्तिभ्यश्च' (उ० ४।५५८) इतीन्प्रत्ययः। समत्सु। सम्पूर्वात् अत्तेः क्विप्। शत्रवः। शतिः सौत्रो धातुर्हिंसार्थः। 'रुशतिभ्यां क्रुन्' (उ० ४।५४३)।

स्कन्दः—यस्येन्द्रस्य स्वभूतौ संस्थे। अपठितमपि संग्रामनामैतत्। संग्रामे। न वृण्वते। वृणोतिरत्र सामर्थ्यात् प्राप्त्यर्थः। प्राप्नुवन्ति। हरी अश्वौ। समत्सु। संस्थ इत्यनेन गतत्वात्। क्रियाशब्दोऽयं, न संग्रामनाम। 'अद भक्षणे' (धा० अ० १)। संभक्षयत्सु परस्परं योद्धृषु महति युद्धे प्रवृत्त इत्यर्थः। शत्रवो वैरिणः। यः संग्रामे महति युद्धे प्रवृत्ते दूरस्थानेव रथप्राप्तान् शत्रून् निहन्तीत्यर्थः। तस्मा इन्द्राय सामान्युच्चारयत वा स्तुतीः ॥ ४ ॥

४५ सु॒तपा॑व्ने सु॒ता इ॒मे शुच॑यो यन्ति वी॒तये॑।
सोमा॑सो॒ दध्या॑शिरः ॥ ५ ॥

सुत॒ऽपाव्ने॑ । सु॒ताः । इ॒मे । शुच॑यः । यन्ति॑ । वी॒तये॑ ।
सोमा॑सः । दधि॑ऽआशिरः ॥ ५ ॥

These pure Soma juices, mixed with curds, are poured out for the satisfaction of the drinker of the libations.

(इमे) यह प्रस्तुत (सुताः) चुलाये हुए, (शुचयः) शुद्ध, पवित्र और (दध्याशिरः) दही से मिलकर दोषरहित बने हुए (सोमासः) सोमरस (सुतपाव्ने) सोमरस का पान करनेवाले [इन्द्र] के (वीतये) भोजन, तृप्ति के लिए (यन्ति) उनके पास जाते हैं ।

सायणः—इमे सोमासः अस्मिन्कर्मणि संपादिताः सोमाः सुतपाव्ने अभिषुतस्य सोमस्य पानकर्त्रे। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तस्य पातुः वीतये भक्षणार्थं यन्ति तमेव प्राप्नुवन्ति। कीदृशाः सोमाः। सुताः अभिषुताः। शुचयः दशा-पवित्रेण शोधितत्वात् शुद्धाः। दध्याशिरः अवनीयमानं दधि आशीर्दोषघातकं येषां सोमानां ते दध्याशिरः॥ सुतपाव्ने। सुतं पिबतीति सुतपावा। वनिपः पित्वाद् धातुस्वर एव शिष्यते। समासे द्वितीयापूर्वपदप्रकृतिस्वरं बाधित्वा कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। शुचयः। शुच दीप्तौ (धा० भ्वा० १८३)। 'इन्' इत्यनुवृत्तौ 'इगुपधात्कित्' (उ० ४।५५९) इति इन्। कित्वाल्लघूपध-गुणाभावः। वीतये। वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु (धा० अ० ३८) इत्यस्मात् 'वृषेपपचमनविदभूवीरा उदात्तः' (पा० ३।३।९६) इति क्तिन् उदात्तः। सोमासः। षुञ् अभिषवे (धा० स्वा० १)। 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षि०' (उ० १।१३७) इत्यादिना मन्। नित्वादाद्युदात्तः। 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।५०) इत्यसुगागमः। दध्याशिरः। दधाति पुष्णातीति दधि। डुधाञ् धारणपोषणयोः (धा० जु० १०)। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० ३।२।१७१) इति किन्। लिड्वद्भावात् द्विर्भावः। कित्वादाकारलोपः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्। शॄ हिंसायाम् (धा० क्र्या० १६)। शृणाति हिनस्ति सोमेऽवनीयमानं सत् सोमस्य स्वाभाविकं रसम् ऋजीषत्वप्रयुक्तं नीरसं दोषं वा इत्याशीः। क्विपि 'ॠत इद्धातोः' (पा० ७।१।१००) इति इत्वं रपरत्वं च। दध्येव आशीर्येषां सोमानां ते दध्याशिरः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ५ ॥

स्कन्दः—सुतानां सोमानां पात्रे सुता इमे यन्ति गच्छन्ति। न चाप्रदीय-मानानां गमनं सम्भवतीति प्रदानमनेन लक्ष्यते। सम्प्रदानचतुर्थीश्रुतेः दानार्थं एव वा वृत्तिः। प्रदीयन्त इत्यर्थः। किमर्थं, वीतये पानाय। के, सोमासः सोमाः। दध्याशिरः दधिमिश्राः। सोममिश्रं हि दध्याशीरुच्यते ॥ ५ ॥

४६ त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः ।
इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥ ६ ॥

त्वम् । सुतस्य । पीतये । सद्यः । वृद्धः । अजायथाः ।
इन्द्र । ज्यैष्ठ्याय । सुक्रतो इति सुऽक्रतो ॥ ६ ॥

Thou, Indra, performer of good works, hast suddenly become of augmented vigour for the sake of drinking the libation, and (maintaining) seniority (among the gods).

(सुक्रतो) शोभन कर्म या बुद्धि वाले (इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (त्वम्) आप (सुतस्य) सोमरस का (पीतये) पान करने के लिए एवं (ज्यैष्ठ्याय) देवताओं में ज्येष्ठ पद पाने के लिए (सद्यः) उसी क्षण में (वृद्धः) उत्साह-सम्पन्न (अजायथाः) हो गये ।

सायणः—सुक्रतो शोभनकर्मन् शोभनप्रज्ञ वा हे इन्द्र त्वं सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्य पीतये पानार्थं ज्यैष्ठ्याय देवेषु ज्येष्ठत्वार्थं च सद्यः तस्मिन्नेव क्षणे वृद्धोऽजायथाः अभिवृद्धयोत्साहेन युक्तोऽभूः । पीतये । पा पाने (धा० भ्वा० ९५०) इत्यस्मात् 'स्थागापापचो भावे' (पा० ३।३।९५) इति क्तिन् । 'घुमास्था०' (पा० ६।४।६६) इत्यादिना ईत्वम् । तस्य नित्त्वेऽपि व्यत्ययेन प्रत्ययोदात्तत्वम् । उत्तरसूत्रगतमुदात्तपदमत्रापि वा योजनीयम् । सद्यः । 'सद्यः पत्परारि०' (पा० ५।३।२२) इति सूत्रेण समानेऽहनीत्यर्थे समानस्य सभावो द्यश्च प्रत्ययो निपात्यते । प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । वृद्धः । वृधु वृद्धौ (धा० भ्वा० ७६०) । 'उदितो वा' (पा० ७।२।५६) इति क्त्वाप्रत्यये इटो विकल्पितत्वात् 'यस्य विभाषा' (पा० ७।२।१५) इति निष्ठायामिट्प्रतिषेधः । प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । ज्यैष्ठ्याय । ज्येष्ठस्य भावो ज्यैष्ठ्यम् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (पा० ५।१।१२४) इति ष्यञ् । ञित्वादाद्युदात्तः ॥ ६ ॥

स्कन्दः—त्वं सुतस्य सोमस्य पीतये पानार्थम् । सद्यः तस्यामेव वेलायां शरीरेण च वीर्येण च परिवृद्धः प्रतिबन्धकापनयनसमर्थः अजायथाः जायसे भवसि । न च केवलायै सोमपीतये । किं तर्हि ? हे इन्द्र ज्यैष्ठ्याय च । ज्येष्ठाः प्रशस्यतमाः प्रवृद्धतमा वा । तेषां कर्म ज्यैष्ठ्यम् । तस्मै च वृत्रवधादिकाय च । हे सुक्रतो, सुकर्मन्, सुप्रज्ञ वा । अथवा पीतये इति तृतीयार्थे चतुर्थी । त्वं सुतस्य सोमस्य पानेन सद्य एव समान एवाहनि । पानानन्तरमेव शरीरेण च वीर्येण च परिवृद्धो भवसि । किमर्थम् ? ज्यैष्ठ्याय सुकर्मणे वृत्रवधादिकाय ॥६॥

४७ आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः ।
शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥ ७ ॥

आ । त्वा । विशन्तु । आशवः । सोमासः । इन्द्र । गिर्वणः ।
शम् । ते । सन्तु । प्रऽचेतसे ॥ ७ ॥

Iudra, who art the object of praises, may these pervading Soma juices enter into thee ; may they be propitious for they (attainment of) superior intelligence.

(गिर्वणः) स्तुतियों के द्वारा सेवनीय (इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (त्वा) आपके पास (आशवः) तीनों सवनों को व्याप्त करने वाले (सोमासः) सोमरस (आविशन्तु) चारों ओर से पहुँचें, [तथा वे] (प्रचेतसे) प्रकृष्टज्ञान से भरे हुए (ते) आप-जैसे के लिए (शं) सुखकर (सन्तु) हों ।

सायणः—हे इन्द्र त्वां सोमासः सोमाः आविशन्तु आभिमुख्येन प्रविशन्तु । कीदृशाः सोमाः । आशवः सवनत्रये प्रकृतिविकृत्योर्वा व्याप्तिमन्तः । कीदृशेन्द्र । गिर्वणः गीर्भिः स्तुतिभिः संभजनीय देवविशेष । 'गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति' (नि० ६।१४) इति यास्कः । तथाविध हे इन्द्र ते तव प्रचेतसे प्रकृष्टज्ञानाय शं सुखरूपाः सोमाः सन्तु । गिर्वणः । गृणन्तीति गिरः स्तुतयः । गॄ शब्दे (धा० क्र्या० २६) । क्विपि 'ॠत इद्धातोः' (पा० ७।१।१००) इति इत्वं रपरत्वं च । गीर्भिर्वन्यते सेव्यते इति गिर्वणाः । वन षण संभक्तौ (धा० भ्वा० ४६४) । संभक्तिः सेवा । 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।६२८) इत्यसुन्प्रत्ययः । प्रचेतसे । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ७ ॥

स्कन्दः—आ त्वा विशन्तु प्रविशन्तु त्वा । त्वया पीयन्तामित्यर्थः । कीदृशाः ? आशवः स्वकार्यकरणे क्षिप्राः । के, सोमासः सोमाः हे इन्द्र, गिर्वणः । गिरः स्तुतयः । वनतिः संभक्त्यर्थः । स्तुतिभिः संभजनीयः । स्तुतीनां वा संभक्तः । आविश्य च शं, सुखनामैतत्, सुखम् । तुभ्यं सन्तु भवन्तु । प्रचेतसे प्रकृष्टज्ञानाय ॥ ७ ॥

४८ त्वां स्तोमा अवीवृधन्त्वामुक्था शतक्रतो ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ८ ॥

त्वाम् । स्तोमाः । अवीवृधन् । त्वाम् । उक्था । शतक्रतो
इति शतऽक्रतो । त्वाम् । वर्धन्तु । नः । गिरः ॥ ८ ॥

The chants (of the Sāma) have magnified thee, Shatakratu, *the hymns (of the R. C.) have magnified thee; may our praises magnify thee.*

(शतक्रतो) अनेक कर्म या बुद्धिवाले [हे इन्द्र-देव] ! (त्वां) आपको (स्तोमाः) सामगान करने वालों की स्तुतियों ने तथा (त्वाम्) आपको (उक्थाः) ऋचाओं ने (अवीवृधन्) समृद्ध किया है; अब (त्वां) आपको (नः) हमारी (गिरः) स्तुतियाँ (वर्धन्तु) समृद्ध करें ।

सायणः—हे शतक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा इन्द्र त्वां स्तोमाः सामगानां स्तोत्राणि अवीवृधन् वर्धितवन्ति । तथा बह्वृचानाम् उक्था शस्त्राणि त्वाम् अवीवृधन् । यस्मात् पूर्वमेवमासीत् तस्मादिदानीमपि नः अस्माकं गिरः स्तुतयः त्वां वर्धन्तु वर्धयन्तु अतिवृद्धं कुर्वन्तु । अवीवृधन् । 'वृधु वृद्धौ' (धा० भ्वा० ७६०) । ण्यन्ताद् लुङि चङि (पा० ३।१।४८) 'उर्ऋत्' (पा० ७।४।७) इति वृधेरुपधाया ऋकारस्य ऋकारविधानादन्तरङ्गोऽपि गुणो बाध्यते । द्विर्भाव (६।१।११)–हलादिशेष (७।४।६०)–सन्वद्भाव (७।४।७३)–इत्व (७।४।७९)–दीर्घत्व (७।४।९४)–अडागमाः (६।४।७१) । उक्था उक्थानि । 'पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्' (उ० २।१६४) इति वचेः थक्प्रत्ययः । तस्य कित्त्वात्संप्रसारणम् । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) इति शिलोपो नलोपश्च । वर्धन्तु । अन्तर्भावितण्यर्थात् वृधेः व्यत्ययेन परस्मैपदम् ॥ ८ ॥

स्कन्दः—त्वां स्तोमाः स्तोत्राणि अस्मदीयोद्गातृप्रयुक्तानि अवीवृधन् वर्धितवन्तः । स्तूयमाना हि देवता वीर्येण वर्धन्ते । न च केवलाः स्तोमाः, त्वदीयान्युक्थान्यपि त्वां वर्धितवन्ति । हे शतक्रतो ! उक्थशब्दस्तार्तीयसवनकहोतृकशस्त्रविशेषवचनः । शस्त्रमात्रवचनो वा । त्वां वर्धन्तु वर्धयन्तु । नः अस्माकमपि स्वभूताः गिरः स्तुतयः ॥ ८ ॥

४९ अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् ।
यस्मिन्विश्वानि पौंस्या ॥ ९ ॥
अक्षितऽऊतिः । सनेत् । इमम् । वाजम् । इन्द्रः । सहस्रिणम् ।
यस्मिन् । विश्वानि पौंस्या ॥ ९ ॥

May Indra, the unobstructed protector, enjoy these manifold (sacrificial) viands, in which all manly properties abide.

(अक्षितोतिः) अनवरत रक्षा करने वाले (इन्द्रः) इन्द्र-देव (इमं) इस (सहस्रिणं) [प्रकृति-विकृति रूप में उपजने वाले] हजारों की संख्या

से युक्त (वाजं) अन्न का (सनेत्) सेवन करे (यस्मिन्) जिस अन्न में (विश्वानि) सब तरह के (पौंस्या-नि) पुरुषार्थ-तत्त्व विद्यमान हैं ।

सायणः—इन्द्रः इमं वाजं सोमरूपमन्नं सनेत् संभजेत् । कीदृश इन्द्रः । अक्षितोतिः । अहिंसितरक्षणः । कदाचिदपि रक्षां न विमुञ्चतीत्यर्थः । सहस्रिणं प्रकृतौ विकृतिषु च प्रवर्तमानत्वेन सहस्रसंख्यायुक्तम् । यस्मिन्वाजे विश्वानि सर्वाणि पौंस्या पौंस्यानि पुंस्त्वानि बलानि वर्तन्ते तादृशं वाजमिति पूर्वत्रान्वयः ॥

अक्षितोतिः । ननु 'क्षि क्षये' (धा० भ्वा० २३६) इत्ययं धातुरकर्मकः । तस्य च कर्माभावात् अधिकरणे भावे कर्तरि वा क्तप्रत्ययेन भवितव्यम् । तदिह यदि कर्तर्यधिकरणे वा स्यात् तदा तयोरर्थयोः ण्यत्प्रत्ययस्याविधानात् 'क्षियः' (पा० ६।४।५९) इत्यनुवृत्तौ 'निष्ठायामण्यदर्थे' (पा० ६।४।६०) इति दीर्घेण भवितव्यम् । तथा च 'क्षियो दीर्घात्' (पा० ८।२।४६) इति निष्ठानत्वे अक्षीण इति स्यात् न तु अक्षित इति । अथ 'नपुंसके भावे क्तः' (पा० ३।३।११४) इति भावपरः क्षितशब्दो गृह्यते । तदा तस्य ण्यदर्थत्वेन '०अण्यदर्थे' इति निषेधात् दीर्घनत्वयोरभावात् क्षितमिति सिध्यति । तदा तु नञ्तत्पुरुषः प्रकृतेन नान्वेतीति न विद्यते क्षितमत्रेति बहुव्रीहिणैव भवितव्यम् । तथा च 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं स्यात् । पुनः ऊतिशब्देन बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव स्वरः तिष्ठेदिति अभिमतमाद्युदात्तत्वं न सिध्येदिति । सत्यम् । अत एवात्र क्षिधातुरन्तर्भावितण्यर्थो गृह्यते । तेन सकर्मकत्वात्कर्मण्येषा निष्ठा । ततश्च '०अण्यदर्थे' इति निषेधात् दीर्घो निष्ठानत्वं च न भविष्यति । तथा च नञ्तत्पुरुषे न क्षिता अक्षिता अक्षयिता इत्यर्थः । तत्र चाव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन नञ उदात्तत्वम् । पुनः ऊतिपदेन बहुव्रीहौ स एव स्वरः स्थास्यतीति न कोऽपि दोषः । 'रिक्षि चिरि जिरि दाश दृ जिघांसायाम्' (धा० स्वा० ३१) इति क्षिणोतेर्हिंसार्थस्य वा कर्मणि निष्ठा । तथा चाहिंसितोतिरित्यर्थे उक्तक्रमेण स्वरः सिध्यतीति न दोषः ॥

सनेत् । 'वन षण संभक्तौ' (धा० भ्वा० ४६५) । भौवादिकः । सहस्रिणम् । सहस्रमस्यास्ति । 'अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५) । प्रत्ययस्वरः । विश्वानि । विशेः क्वनि (उ० १।१४९) नित्त्वात् आद्युदात्तः । पुंसः कर्माणि पौंस्यानि । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (पा० ५।१।१२४) इति ष्यञ् । ञित्वादाद्युदात्तः । प्रथमाबहुवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना डादेशः । ननु 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' (पा० ४।१।८७) इत्यनेन 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (पा० ५।२।१) इत्येतत्पर्यन्तेष्वपत्याद्यर्थेषु नञ्स्नञोर्विधानात्, यथा पुंसोऽपत्यं पौंस्नः पुंस

आगतः पौंस्न इत्यादि, तद्वत् पुंसो भावः कर्म वा इत्यस्मिन्नप्यर्थे ष्यञं बाधित्वा पौंस्नानि इत्येव भवितव्यम् । कथमुच्यते पौंस्यानीति । उच्यते—'आ च त्वात्' (पा० ५।१।१२०) इति सूत्रे त्वात् इत्यवधिनिर्देशात् 'ब्रह्मणस्त्वः' (पा० ५।१।१३६) इत्येतत्पर्यन्तैः इमनिजादिभिः प्रत्ययैः सह त्वतलोः समावेशः । एवं तत्रैव चशब्दात् नञ्स्नञोरपि ष्यञादिभिः समावेश एव, न बाध्यबाधकभावः ॥ ९ ॥

स्कन्दः—अक्षिता अन्येनाहिंसिता अक्षीणा वा ऊतिः पालनं यस्य सोऽक्षितोतिः । सनेत् संभजतु । इमं वाजं संग्रामम् इन्द्रः सहस्रिणं योद्धृसहस्रयुक्तम् । अस्मिन् संग्रामेऽस्मद्रक्षणाय संनिहितो भवत्वित्यर्थः । 'यस्मिन् संग्रामे । किम्, उच्यते । विश्वानि सर्वाणि । पौंस्या । बलनामैतत् । हस्त्यश्वरथपदातिलक्षणानि बलानि । अथवा वाज इत्यन्ननाम । इदमस्मदीयं सोमलक्षणमन्नं सम्भजेत् पिबेद् इन्द्रः स्तुतिसहस्रयुक्तं यस्मिन् बलानि सर्वाणि सामर्थ्यलक्षणानि । वाजः पीतः सर्वसामर्थ्यानि जनयतीत्यर्थः । अथवा यस्मिन् विश्वानि पौंस्येति इन्द्रविशेषणम् । यस्मिन्निन्द्रे सर्वाणि बलानि यः सर्वैर्बलैर्बलवान् यो महाबल इत्यर्थः ॥९॥

५० मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम् ॥ १० ॥

मा । नः । मर्ताः । अभि । द्रुहन् । तनूनाम् । इन्द्र । गिर्वणः ।
ईशानः यवय । वधम् ॥ १० ॥

Indra, who art the object of praises, let not men do injury to our persons : thou art mighty, keep off violence.

(गिर्वणः) हमारी स्तुतियों को ग्रहण करने वाले (इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (मर्त्ताः) विरोधी मनुष्य (नः) हमारे (तनूनाम्) शरीर को (मा अभि द्रुहन्) कोई पीड़ा न पहुँचा पावें । (ईशानः) आप सर्वसमर्थ हैं अतः (वधं) हिंसा या हिंसकों को (यवय) दूर भगा दीजिये ।

सायणः—हे गिर्वणः इन्द्र मर्ताः विरोधिनो मनुष्याः नोऽस्मदीयानां तनूनां शरीराणां मा अभि द्रुहन् अभितो द्रोहं मा कुर्युः । ईशानः समर्थस्त्वं वधं वैरिभिः संपाद्यमानं यवय अस्मत्तः पृथक् कुरु । 'मनुष्याः' इत्यादिषु पञ्चविंशतिसंख्याकेषु मनुष्यनामसु (निघ० २।३) 'मर्ताः व्राताः' इति पठितम् । मर्ताः । 'असिहसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन्' (उ० ३।३६६) इति तन् । द्रुहन् । द्रुह जिघांसायाम् (धा० दि० ९१) । 'लिङर्थे लेट्' (पा० ३।४।७) इति प्रार्थनायां लेट् । तस्य झि । 'झोऽन्तः' (पा० ७।१।३) । 'इतश्च लोपः

परस्मैपदेषु' (पा० ३।४।९७) इति इकारलोपः। शपो लुक्। 'सार्वधातुकमपित्' (पा० १।२।४) इति तिङो ङित्वाल्लघूपधगुणाभावः (पा० १।१।५)। यवय। यौतेर्णिचि 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (परिभा० ९३।१) इति वृद्धिर्न क्रियते। अथवा यौतीति यवः। पचाद्यच् (पा० ३।१।१३४)। यवं करोतीत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' (पा० ३।१।२६ वा०) इति णिच्। इष्ठवद्भावात् टिलोपः (पा० ६।४।१५५ वा०)। तस्य स्थानिवद्भावात् (पा० १।१।५६) वृद्ध्यभावः। वधम्। 'हनश्च वधः' (पा० ३।३।७५) इति भावे अप्॥ १०॥

स्कन्दः—मानः अस्माकं मनुष्याः अभिद्रुहन् द्रोहं कार्षुः। तनूनां शरीराणाम्। हे इन्द्र! गिर्वणः स्तुतिभिः संभजनीयः स्तुतीनां वा संभक्तः। ईशानः प्रभुस्त्वम्। यवय। यौतिः पृथग्भावे पृथक् कुरु अपनय अस्मत्तः। वधं हिंसां हन्तारं वा॥ १०॥

(६) षष्ठं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रः (१–३०, १०)
मरुतः (४–९) च देवता ।

५१ युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ।
रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ १ ॥

The circum-stationed (inhabitants of the three worlds) associate with (Indra), the mighty (Sun), the indestructive (fire), the moving (wind), and the lights that shine in the sky.—(W).

(परितस्थुषः) चारों ओर अवस्थित त्रिलोक के प्राणी, (ब्रध्नम्) आदित्य के रूप में स्थित, (अरुषम्) अहिंसक अग्नि के रूप में स्थित, (चरन्तम्) विहरणशील वायु के रूप में स्थित [इन्द्र को) (युञ्जन्ति) [अपने यज्ञकर्म में देवता के रूप में] नियुक्त करते हैं; [उन्हीं इन्द्र के विशेष रूप में] (रोचना) प्रकाशयुक्त नक्षत्र (दिवि) स्वर्ग में, आकाश में (रोचन्ते) चमकते हैं ।

सायणः—इन्द्रो हि परमैश्वर्ययुक्तः । परमैश्वर्यं च अग्निवाय्वादित्यनक्षत्ररूपेणावस्थानादुपपद्यते । ब्रध्नम् आदित्यरूपेणावस्थितम् अरुषं हिंसकरहिताग्निरूपेणावस्थितं चरन्तं वायुरूपेण सर्वतः प्रसरन्तमिन्द्रं परि तस्थुषः परितोऽवस्थिताः लोकत्रयवर्तिनः प्राणिनः युञ्जन्ति स्वकीये कर्मणि देवतात्वेन संबद्धं कुर्वन्ति । तस्यैवेन्द्रस्य मूर्तिविशेषभूतानि रोचना रोचनानि नक्षत्राणि दिवि द्युलोके रोचन्ते प्रकाशन्ते । अस्य मन्त्रस्योक्तार्थपरत्वं ब्राह्मणान्तरे व्याख्यातम्—'युञ्जन्ति ब्रध्नमित्याह । असौ वा आदित्यो ब्रध्नः । आदित्यमेवास्मै युनक्ति । अग्निर्वा अरुषः । अग्निमेवास्मै युनक्ति । चरन्तमित्याह । वायुर्वै चरन् । वायुमेवास्मै युनक्ति । परितस्थुष इत्याह । इमे वै लोकाः परितस्थुषः । इमानेवास्मै लोकान्युनक्ति । रोचन्ते रोचना दिवीत्याह । नक्षत्राणि वै रोचना दिवि । नक्षत्राण्येवास्मै रोचयति' (तै० ब्रा० ३।९।४।१-२) इति । पञ्चविंशतिसंख्याकेषु महन्नामसु (निघ० ३।३) 'महः ब्रध्नः' इति पठितम् । आदित्यस्यापि महत्त्वादेव ब्रध्नत्वम् । अरुषम् । 'उष रुष रिष हिंसार्थाः' (धा० भ्वा० ६९४) । रोषन्तीति रुषा हिंसकाः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० ३।१।१३५) इति

कः। न सन्ति रुपा यस्यासौ अरुपः। तस्थुषः। तिष्ठतेर्लिटः क्वसुरादेशः (पा० ३।२।१०७) 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (पा० ७।२।६७) इति इटमन्तरङ्गमपि बाधित्वा 'संप्रसारणं संप्रसारणाश्रयं च बलीयः' (महा० ६।१।१७।२) इति शसि परतो भत्वात् (पा० १।४।१८) 'वसोः संप्रसारणम्' (पा० ६।४।१३१)। परपूर्वत्वम्। 'आदेशप्रत्ययोः' (पा० ८।३।५९) इति षत्वम्। रोचना। 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (पा० ३।२।१४९) इति युच्। 'युवोरनाकौ' (पा० ७।१।१) इत्यनादेशः॥ १॥

स्कन्दः—योगः सम्बन्धः। युञ्जन्ति सम्बन्धयन्ति। केन, सामर्थ्यात् स्तुतिभिः हविर्भिश्च। के, सामर्थ्यात् स्तोतारो यष्टारश्च। ब्रध्नं महन्नामैतत्। महान्तमिन्द्रम्। अरुषम्। रुशतिर्दीप्त्यर्थः 'रुशद्वत्सा रुशती०' (ऋ० सं० १।११३।२) इति प्रदर्शनात्। तस्य वा रोचतेर्वा दीप्तिकर्मणः आङ्पूर्वस्येदं रूपम्। आङश्च ह्रस्वत्वम्। आरुशम् आरोचमानं वा। दीप्तमित्यर्थः। अरुषत्या-र्यतीति गतिकर्मसु (निघ० २।१४) पाठात् अरुषतेर्गत्यर्थस्य अरुषशब्दो गन्तृवचनः। शत्रून्यज्ञान्वा प्रति गन्तारम्। चरन्तं परिसर्वतो गच्छन्तम्। यत्र यत्रेन्द्रो गच्छति तत्र तत्रैनं स्तोतारो यष्टारश्च स्तुवन्ति चेत्यर्थः। अथवा युञ्जन्तीति युजिः शुद्धोऽपि सामर्थ्यात् सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः। स्वार्थसिद्धौ स्तोतारो यष्टारश्चैनं नियुञ्जते। महान्तं दीप्तं चेन्द्रं सर्वतो गच्छन्तम्। यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्रैनं मनुष्या इदमिदं च नः कुर्वित्यर्थं याचन्त इत्यर्थः। रथोऽत्र सामर्थ्यात् युज्यमानः, नेन्द्रं युञ्जन्ति। इन्द्रस्य रथं ब्रध्नमरुषं च सर्वतो गन्तारं गच्छन्तम्। के, सामर्थ्यात् सारथयो मातलिप्रभृतयोऽन्येऽस्य रथं युञ्जन्ति। स नः स्वयं युनक्ति ब्रध्नादिगुणः युञ्जन्ति न किञ्चिदिति। एवं गुणकीर्तनादिन्द्रस्येयं स्तुतिः। किञ्च तस्थुषः रोचन्ते रोचना दिवि। तस्थुष इति षष्ठीनिर्देशात् प्रभावेणेति वाक्यशेषः। स्थितस्य व्याप्रियमाणस्य इन्द्रस्य प्रभावेण रोचन्ते दीप्यन्ते। रोचना दीप्तिस्वभावकानि नक्षत्राणि दिवि द्युलोके कथं पुनरिन्द्रप्रभावेण नक्षत्राणि दीप्यन्ते। उच्यते—वक्ष्यते 'इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि' (ऋ० सं० १।७।३) इति। सूर्यस्य प्रभावश्च सुषुम्नो नाम रश्मिः तत्संबन्धात् चन्द्रमा नक्षत्राणि च दीप्यन्ते। अथवा युजिरुत्पूर्वार्थे। अन्तर्णीतण्यर्थश्च द्रष्टव्यः। उद्योजयन्ति उत्साहयन्ति वृष्टिकर्मणि ब्रध्नमरुषं चेन्द्रम्। किं कुर्वन्तम्? उच्यते—चरन्त परितस्थुषः। परिशब्दो लक्षणे कर्मप्रवचनीयः, 'तस्थुषः' इत्यनेन च सम्बध्यते। तस्थिवःशब्दः स्थावरवचनः। गच्छन्तं स्थावराणि प्रति। स्थावरग्रहणं चात्र जङ्गमस्यापि प्रदर्शनार्थम्। सोमपानायासुरयुद्धलोलुपतया जङ्गमस्थावरात्मकं कृत्स्नं जगत् परि-भ्रमन्तमित्यर्थः। के उद्योजयन्ति? उच्यते—रोचन्ते रोचना दिवि। एकवाक्य-

ताप्रसिद्ध्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ। ये अनित्यरश्मयो रोचन्ते रोचना दिवि ते आदित्यरश्मयो हि प्रावृडारम्भे रसदातारः। ते रसानर्पयन्तः उद्योजयन्तीन्द्रं वृष्टिकर्मणि। एतस्मिंस्त्वर्थे रश्मिविषयत्वात् रोचनेत्येतत् पदमूष्मान्तन्त्यायं दृश्यते न स्वरान्तमतो नैष पदकाराभिप्रायः। ज्योतिष्ट्वापेक्षं वा रश्मीनां नपुंसकत्वम्। अध्वर्यवस्त्वादित्यदेवतामृचं मन्यते। कथम्? एतेषां हि विनियोजनेऽसियुक्तश्चाश्वोऽनया आदित्यरूपेणोच्यते। कथमवगम्यते? श्रुतेः। एवं हि श्रुतिर्भवति—'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषमित्याह। असौ वा आदित्यो ब्रध्नः। अरुषोऽसुमेवास्मादादित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै' इति। तस्मादादित्यदेवतेयमिति। तन्न, तत्रापि विनियोगवशान्नियुज्यमानोऽश्वो ब्रध्नोऽरुषश्चोच्यते। भक्तिमात्रं तु श्रुतिः। अपि च, यदि श्रुतिबलात् तत्रादित्यो देवता, तथा नाम इह स्वैन्द्रप्रकरणे समाना ब्रध्नारुषयोश्चेन्द्रेऽपि संभवात्। परस्यां चर्च्यस्य शब्देनानुवादात्। तेनेहादिष्टस्य ब्रध्नस्यान्वादेशात् तस्याश्चर्चो हरिसंबन्धादैन्द्रतायाः असंदिग्धत्वादैन्द्रत्वमेवास्या ऋच इति॥ १॥

५२ युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ २॥
युञ्जन्ति। अस्य। काम्या। हरी इति। विऽपक्षसा। रथे।
शोणा। धृष्णू इति। नृऽवाहसा॥ २॥

They (the charioteers) harness to his car his two desirable coursers, placed on either hand, bay-coloured, high-spirited, chief-hearing.

(अस्य) इन इन्द्रदेवता के, (रथे) रथ में [सारथि लोग] (काम्या) कामना के योग्य, (विपक्षसा) रथ के दोनों भागों में स्थित, (शोणा) लाल रंग वाले, (धृष्णू) धैर्यवान्, प्रगल्भ और (नृवाहसा) मनुष्यों का वहन करने वाले, (हरी) घोड़ों को, (युञ्जन्ति) नियुक्त कर देते हैं।

सायणः—अस्य ब्रध्नादिशब्दप्रतिपाद्यस्य आदित्यादिमूर्तिभिस्तत्र तत्रावस्थितस्येन्द्रस्य रथे हरी एतन्नामानौ द्वावश्वौ सारथयः युञ्जन्ति। इन्द्रसंबन्धिनोरश्वयोर्हरिनामत्वं 'हरी इन्द्रस्य रोहितोऽग्नेः' (निघ० १।१५) इति पठितत्वात्। कीदृशौ हरी? काम्या कामयितव्यौ। विपक्षसा विविधे पक्षसी रथस्य पार्श्वौ ययोरश्वयोस्तौ विपक्षसौ। रथस्य द्वयोः पार्श्वयोर्योजितावित्यर्थः। शोणा रक्तवर्णौ धृष्णू प्रगल्भौ नृवाहसा नृणां पुरुषाणाम् इन्द्रतत्सारथिप्रमुखाणां वोढारौ। अस्य। ब्रध्नमित्युक्तस्य परामर्शात् 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' (पा०

२।४।३२) इति अश्। शित्वात् (पा० १।१।५५) सर्वादेशोऽनुदात्तः । काम्या। 'कमु कान्तौ' ('धा० भ्वा० ४४४) । 'कमेर्णिङ्' (पा० ३।१।३०) । कामयतेः 'अचो यत्' (पा० ३।१।९७)। 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति द्विवचनस्य डादेशः । हरतो रथमिति हरी । 'हृपिषि०' (उ० ४।५५८) इत्यादिना इन्। विपक्षसा । 'पचिवचिभ्यां सुट् च' (उ० ४।६५९) इति पचेः असुन् सुडागमश्च। विभिन्ने पक्षसी पार्श्वौ ययोस्तौ । द्विवचनस्य डादेशः । रमन्तेऽस्मिन्निति रथः। 'रमु क्रीडायाम्' (धा० भ्वा० ८७८)। 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' (उ० २।१५९) इति क्थन्। कित्वात् 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना मकारलोपः। शोणा। 'शोणृ वर्णगत्योः' (धा० भ्वा० ४५६)। गमनकरणत्वात्करणे घञ्। 'सुपां सुलुक्०' इति डादेशः। धृष्णू। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' (धा० स्वा० २३)। 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० ३।२।१४०)। कित्वाद् गुणाभावः। नृवाहसा। नॄन् वहतः इति वहेः 'वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि' (उ० ४।६६०) इत्यसुन्। 'णित्' (उ० ४।६५७) इत्यनुवृत्तेर्वृद्धिः ॥ २ ॥

स्कन्दः—युञ्जन्ति सारथयोऽस्येन्द्रस्य स्वभूतौ काम्या कामयितव्यावुत्कृष्टौ कामसंवादिनौ वा हरी अश्वौ। विपक्षसा सव्यदक्षिणभेदेन विभिन्नौ रथपक्षौ ययोस्तौ विपक्षसौ। सकारश्छान्दस उपसर्जनः। पर्यायान्तरं वा पक्षशब्दो द्रष्टव्यः। रथस्य सव्यदक्षिणपार्श्वस्थावित्यर्थः। क्व युञ्जन्ति ? रथे। कीदृशौ ? शोणा रक्तवर्णौ। धृष्णू प्रगल्भौ, अभिभवितारः शत्रूणाम्। नृवाहसा मनुष्यान्प्रति मनुष्याकारस्य वेन्द्रस्य वोढारौ ॥ २ ॥

५३ के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒ पेशो॑ मर्या अपे॒शसे॑ ।

समु॒षद्भि॑रजायथाः ॥ ३ ॥

के॒तुम् । कृ॒ण्वन् । अ॒के॒तवे॑ । पेशः॑ । म॒र्याः॒ । अ॒पे॒शसे॑ ।

सम् । उ॒षत्ऽभिः॑ । अ॒जा॒य॒थाः॒ ॥ ३ ॥

Mortals, you owe your (daily) birth (to such an Indra), who with the rays of the morning gives sense to the senseless, and to the formless form.

(मर्याः) हे मनुष्यों ! [यह आश्चर्य आप देखिये कि आदित्य के रूप में ये इन्द्र-देव] (उषद्भिः) अपनी दाहक किरणों से, प्रतिदिन उषाकाल से मिलकर (अकेतवे) रात्रि में निद्राभिभूत होने से ज्ञान रहित व्यक्ति को, (केतुम्) ज्ञान तथा (अपेशसे) अंधकार के कारण रूपरहित वस्तु को (पेशः) रूप (कृण्वन्) प्रदान करते हुए [प्रातःकाल] (सम् अजायथाः) समुत्पन्न हुए [अथवा मनुष्यों ! आप कैसे इन्द्र से उत्पन्न हुए हैं ।]

सायणः—हे मर्याः मनुष्याः इदमाश्चर्यं पश्यतेत्यध्याहारः। किमाश्चर्यमिति तदुच्यते। आदित्यरूपोऽयमिन्द्रः उषद्भिः दाहकैः रश्मिभिः प्रतिदिनमुषःकालैर्वा संभूय अजायथाः उदपद्यत। अथवा सूर्यस्यैवास्तमये मरणमुपचर्य व्यत्ययेन बहुवचनं कृत्वा संबोधनं क्रियते। हे मर्य प्रतिदिनं त्वम् अजायथा इति योज्यम्। किं कुर्वन्। अकेतवे रात्रौ निद्राभिभूतत्वेन प्रज्ञानरहिताय प्राणिने केतुं कृण्वन् प्रातः प्रज्ञानं कुर्वन्। अपेशसे रात्रौ अन्धकारावृतत्वेन अनभिव्यक्तत्वात् रूपरहिताय पदार्थाय प्रातरन्धकारनिवारणेन पेशः रूपमभिव्यज्यमानं कुर्वन्। 'पेश इति रूपनाम पिंशतेः' (नि० ८।११) इति यास्कः। 'अकेतवे' 'अपेशसे' इति चतुर्थ्यौ षष्ठ्यर्थे द्रष्टव्ये। कृण्वन्। 'कृवि हिंसाकरणयोश्च' (धा० भ्वा० ५९९) लटः शत्रादेशः। 'इदितो नुम् धातोः' (पा० ७।१।५८) इति नुमागमः। कर्तरि शपि प्राप्ते 'धिन्विकृण्व्योर च' (पा० ३।१।८०) इति उप्रत्ययः। तत्संवियोगेन वकारस्य च अकारः। 'अतो लोपः' (पा० ६।४।४८) इति अकारलोपः। तस्य स्थानिवद्भावात् पूर्वस्य लघूपधगुणो (पा० ७।३।८६) न भवति। मर्याः 'छन्दसि निष्टर्क्य०' (पा० ३।१।१२३) इत्यादौ म्रियतेर्निपातः। उषद्भिः। 'उष प्लुष दाहे' (धा० भ्वा० ६९७)। ज्वलद्भिः रश्मिभिः। लटः शत्रादेशे शपि प्राप्ते व्यत्ययेन शः। 'सार्वधातुकमपित्' (पा० १।२।४) इति तस्य ङित्वात् लघूपधगुणो न भवति। अजायथाः। अजायत इत्यत्र पुरुषव्यत्यये निघातः ॥ ३ ॥

स्कन्दः—केतुरिति प्रज्ञानाम। प्रज्ञां कुर्वन्। अकेतवे षष्ठ्यर्थे चतुर्थीयम्। प्रज्ञारहितस्य। पेशः रूपनामैतत्। रूपं च। हे मर्याः, व्यत्ययेनात्र एकवचनस्य स्थाने बहुवचनम्। मर्य मर्त्याकार इन्द्र! अपेशसे रूपवर्जितस्य। प्रज्ञारूपे चात्र प्रदर्शनार्थे। यस्य यदभिलषितं तस्य तत्तत् संपादयन्नित्यर्थः। समुषद्भिः। संशब्दः सहार्थे। उषच्छब्दो वश कान्तावित्यस्य कान्तिवचनः, न वसोऽर्थासंभवात्। सह कान्तिभिस्त्वमजायथाः, जन्मन एव प्रभृति त्वं सर्वस्य सर्वाभिलषितसम्पादी कान्तश्चासीरित्यर्थः। अथवा माध्यमिकाः स्तनयित्नुलक्षणा वाच उषसः, ताभिः सह त्वमजायथाः। जन्मनः प्रभृति गर्जितेत्यर्थः ॥ ३ ॥

५४ आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ४ ॥

आत्। अह। स्वधाम्। अनु। पुनः। गर्भऽत्वम्। आऽईरिरे।
दधानाः। नाम। यज्ञियम् ॥ ४ ॥

Thereafter verily those who bare names invoked in holy rites

(the Maruts) having seen the rain (about to be engendered), instigated him to resume his embryo condition (in the clouds).

(आत्) उसके बाद (अह) सचमुच (स्वधाम्) उत्पन्न होने वाले अन्न को (अनु) लक्षित करके (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य (नाम) नाम या अभिधान (दधानाः) धारण करने वाले [मरुत्-देवताओं ने] (पुनः) दूसरी बार (गर्भत्वात्) मेघ के बीच जल को गर्भ के रूप में (आईरिरे) प्रेरित किया । [ऐसा वे पुनः पुनः, प्रतिवर्ष वर्षाकाल में करते हैं ।]

सायणः—आत् इत्ययमानन्तर्यार्थो निपातः। अह इत्यवधारणार्थः। आदह वर्षतोरनन्तरमेव। स्वधामनु। इतः परं जनिष्यमाणमन्नमुदकं वा अनुलक्ष्य मरुतो देवाः गर्भत्वम् एरिरे मेघमध्ये जलस्य गर्भाकारं प्रेरितवन्तः। जलस्य कर्तारं पर्जन्यं प्रेरितवन्तः। प्रतिसंवत्सरमेवं कुर्वन्तीति दर्शयितुं पुनः-शब्दः प्रयुक्तः। कीदृशा मरुतः। यज्ञियं यज्ञार्हं नाम दधानाः धारयन्तः। सप्तसु गणेषु मरुताम् 'ईदृङ्चान्यादृङ्च' इत्यादीनि यज्ञयोग्यानि नामानि अन्यत्राम्नातानि। 'अन्धः' इत्यादिषु अष्टाविंशतिसंख्याकेष्वन्ननामसु (निघ० २।७) 'ऊर्क् रसः स्वधा' इति पठितम्। 'अर्णः' इत्यादिषु एकशतसंख्याकेषु उदकनामसु (निघ० १।१२) 'तेजः स्वधा अक्षरम्' इति पठितम्। स्वधाम्। स्वं लोकं दधाति पुष्णातीति स्वधा। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० ३।२।३)। गर्भस्य भावो गर्भत्वम्। एरिरे। अन्तर्भावितण्यर्थात् 'ईर गतौ' (धा० चु० २७८) इत्यस्मात् अनुदात्तेतः परस्य लिटो झस्य इरेच् (पा० ३।४।८१)। चित्त्वाद-न्तोदात्तः। 'सह सुपा' (पा० २।१।४) इत्यत्र सुपेति योगविभागात् आङा सह तिङः समासेऽपि 'समासस्य' (पा० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (पा० ३।१।३६) इति आम् न भवति मन्त्रत्वात्। यज्ञमर्हति यज्ञियम्। 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' (पा० ५।१।७१) इति घप्रत्ययः। 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (पा० ७।१।२) इति इयादेशः ॥४॥

स्कन्दः—षडादह स्वधामिति मारुत्योऽनन्तरा ऋचः सुरूपकृत्नुमित्यैन्द्रमा-मेधातिथेरिति ऐन्द्रत्वे प्राप्तेऽयमपवादः। आदह स्वधामित्येताः षडनन्तरा मरु-द्देवता वीळु चिदारुजत्नुभिरित्यस्या देवतान्तरोपदेशात् तद्वर्जमन्याः षण्मारुत्यः प्रतीयेरन्। तन्निवृत्त्यर्थमनन्तरवचनम्। आच्छब्दोऽथशब्दपर्याय आनन्तर्ये। अहेति विनिग्रहार्थीय एवशब्दार्थे। स्वधामिति स्वधाशब्द उदकनाम। अन्विति अहेति विनिग्रहार्थीय... पश्चादर्थे। कस्य पश्चात् ? सामर्थ्यात् वृष्टेः। एवं संबन्धयोजनात् वृष्टेः पश्चादे-वोदकं पुनर्गर्भत्वमेरिरे। ईर गतावित्यस्य ण्यन्तस्येदं रूपम्। गमयन्त्यापादयन्ति मरुतः। पुनश्शब्दश्चातीव संवत्सरगर्भत्वापादनापेक्षः। एतदुक्तं भवति—वार्षि-कांश्चतुरो मासान् वर्षित्वा तदनन्तरमष्टौ मासान् तदुदकं रश्मिभिः प्रत्याहृत्य

तदागामि संवत्सरे वर्षितुं पुनर्गर्भमापादयन्ति मरुत इति। अथवा स्वधेत्यन्न-नाम। सस्यलक्षणं चात्रान्नमुच्यते। अनुशब्दश्च पश्चादर्थं एतेन संबध्यते। स्वधामनु सस्यलक्षणस्यान्नस्य पश्चात् सस्यान् निष्पाद्यानन्तरमेव पुनर्गर्भत्वमा-पादयन्ति मरुत इत्यर्थः। किं, सामर्थ्यादुदकम्। किं कुर्वन्तः? उच्यते—दधाना धारयन्तोऽन्तरिक्ष आदित्यमण्डले वा। किं, नाम। तदेवोदकम्। नामेति ह्युदकनामपठितम्। कीदृशम्? यज्ञियं यज्ञसंपादि मरुद्भिर्गृह्यते। अष्टौ मासानन्तरिक्ष आदित्यमण्डले वा धार्यमुदकं गर्भीभवत्यत एवमुच्यते—दधाना नाम यज्ञियं पुनर्गर्भत्वमेरिरे इति। अथवा नामशब्दः संज्ञावचनः। धारयन्तो यज्ञियां संज्ञाम्। कतमाम्? सामर्थ्यान्मरुत इत्येताम्। मरुन्नामानमित्यर्थः। अथवैवमन्यथास्या ऋचोऽर्थयोजना—अनुशब्दः पश्चादर्थः सामर्थ्यात् वृष्ट्यैव संबध्यते। स्वधामित्येतत् तु सस्यलक्षणान्नवचनं गर्भत्वमेरिर इत्येतेन संबध्यते। दधाना इत्यपि दधातिर्दानार्थः। नामशब्दोऽप्युदकनाम। एवमेकवाक्यता। वृष्टेः पश्चादनन्तरमेव सस्यलक्षणमन्नं पुनर्गर्भत्वमेरिरे मरुतो ददतः उदकं यज्ञ-संपादि। एतदुक्तं भवति—वर्षासु ओषधीर्जनयित्वा न तावत्येव कृतार्थीभवन्ति मरुतः। किं तर्हि, ता एव पुनर्गर्भयन्ति उदकदानेनेति ॥ ४ ॥

५५ वी॒ळु चि॑दारु॒ज॒त्नुभि॒र्गुहा॑ चि॒दिन्द्र॒ वह्नि॑भिः ।
अवि॑न्द उ॒स्रिया॒ अनु॑ ॥ ५ ॥

वी॒ळु । चि॒त् । आ॒रु॒ज॒त्नुऽभिः॑ । गुहा॑ । चि॒त् । इ॒न्द्र॒ । वह्नि॑ऽभिः ।
अवि॑न्दः । उ॒स्रियाः॑ । अनु॑ ॥ ५ ॥

Associated with the conveying Maruts, the traversers of places difficult of access, thou Indra, hast discovered the cows hidden in the cave.

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता! (वीळुचित्) दृढ, दुर्गम स्थानों को भी (आरुजत्नुभिः) तोड़ देने वाले तथा (वह्निभिः) दूसरी जगह ले जाने में समर्थ [मरुत-देवताओं] के साथ मिलकर (गुहाचित्) गुप्त स्थानों में भी [पणियों के द्वारा छिपायी गयी] (उस्रियाः) गायों को (अनु अविन्दः) आपने खोज निकाला।

सायणः—अस्ति किंचिदुपाख्यानम्। पणिभिर्देवलोकात् गावोऽपहृता अन्धकारे प्रक्षिप्ताः। ताश्चेन्द्रो मरुद्भिः सहाजयदिति। एतच्चानुक्रमणिकायां सूचितम्—'पाणिभिरसुरैर्निगूळ्हा गा अन्वेष्टुं सरमां देवशुनीमिन्द्रेण प्रहिताम-सुरभिः पणयो मित्रीयन्तः प्रोचुः।' (अनु० ऋ० सं० १०।१०८) इति।

मन्त्रान्तरे च दृष्टान्ततया सूचितम्—'विरुद्धा आपः पणिनेव गावः' (ऋ० सं० १।३२।११) इति। तदेतदुपाख्यानमभिप्रेत्योच्यते। हे इन्द्र वीळुचित् दृढमपि दुर्गमस्थानम् आरुजत्नुभिः भञ्जद्भिः वह्निभिः वोढृभिरन्यत्र नेतुं समर्थैः मरुद्भिः सहितस्त्वं गुहा चित् गुहायामपि स्थापिता उस्रियाः गाः अनु अविन्दः अन्विष्य लब्धवानसि। 'ओजः पाजः' इत्यादिष्वष्टाविंशतिसंख्याकेषु बलनामसु (निघ० २।९) 'दक्षः वीळु च्यौत्नम्' इति पठितम्। नवसंख्याकेषु गोनामसु (निघ० २।११) 'अघ्न्या उस्रा उस्रिया' इति पठितम्। आरुजत्नुभिः। 'रुजो भङ्गे' इति औणादिकः कत्नुच् प्रत्ययः। कित्वाद्गुणाभावः। गुहा। सप्तम्या डादेशः। वह्निभिः। 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' (उ० ४।४९१) इति वहेः निप्रत्ययः। अविन्दः। 'शे मुचादीनाम्' (पा० ७।१।५९) इति नुमागमः। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (पा० ६।४।७१)। वसन्तीति उस्रियाः। वसेः कर्तरि रियक्प्रत्ययः षत्वाभावश्च बाहुलकादूहनीयः। उक्तं हि—'यत्र पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।' (महाभाष्य—३।३।१।२) इति ॥ ५ ॥

स्कन्दः—एका 'वीळुचित्' इन्द्राय मरुद्भिः सह जीयते। न केवलं मरुद्भ्यः। ऐन्द्रमारुतीयं न मारुत्येव केवलेत्यर्थः। वीळयतेः संस्तम्भकर्मणो वीळु दृढम्। चिच्छब्दोऽप्यर्थे। दृढमपि पर्वतादि आरुजत्नुभिः। रुजो भङ्गे। सहयोगलक्षणा चेयं तृतीया। भञ्जद्भिः मरुद्भिः सह। गुहा चित् गुहायामपि स्थिताः। हे इन्द्र! कीदृशैर्मरुद्भिः? उच्यते—वह्निभिः वोढृभिः। अविन्दः लब्धवानसि। काः? उस्रियाः देवानां स्वभूताः गाः। अनु पश्चात्। कस्य? सामर्थ्यात् सरमाप्रत्यागमनस्य। पणिभिरसुरैरपहृताः गाः गुहायां निहिताः सरमाप्रत्यागमनोत्तरकालं मरुद्भिः सह त्वमलब्धा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

५६ देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः।
महामनूषत श्रुतम् ॥ ६ ॥

देवऽयन्तः। यथा। मतिम्। अच्छ। विदत्ऽवसुम्। गिरः।
महाम्। अनूषत। श्रुतम् ॥ ६ ॥

The reciters of praises praise the mighty (troop of Maruts) who are celebrated, and conscious of the power of bestowing wealth, in like manner as they (glorify) the counsellor (Indra).

(देवयन्तः) मरुद्-गण की कामना करनेवाले (गिरः) स्तुतिकर्ता लोग (विदद्वसुं) अपनी महिमा के द्योतक धनों से पूर्ण, (महाम्) प्रौढ तथा (श्रुतम्) विख्यात [मरुद्गण की उसी प्रकार] (अनूषत) स्तुति करते थे, (यथा) जैसे (मतिम्) परामर्शदाता [इन्द्र को]।

सायणः—देवयन्तः मरुत्संज्ञकान् देवानिच्छन्तः गिरः स्तोतारः ऋत्विजः महां प्रौढं मरुद्गणम् अच्छ प्राप्तुम् अनूषत स्तुतवन्तः। कीदृशं मरुद्गणम्। विदद्वसुं वेदयद्भिः स्वमहिमप्रख्यापकैर्वसुभिर्धनैर्युक्तं श्रुतं विख्यातम्। मरुद्गणस्य दृष्टान्तः। यथा मतिम्। मन्तारमिन्द्रं यथा स्तुवन्ति तथेत्यर्थः। देवयन्तः देवानात्मन इच्छन्तः। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० ३।१।८)। 'क्यचि च' (पा० ७।४।३३) इति ईत्वम्, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (पा० ७।४।२५) इति दीर्घत्वं च न भवति; 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० ७।४।३५) इत्यनेन क्यचि यत्प्राप्तम् ईत्वं दीर्घत्वं वा तस्य सर्वस्य प्रतिषेधात्। यद्यपि ईत्वमेव प्रकृतं तथापि व्यवहितस्यापि दीर्घत्वस्य स प्रतिषेध इति विज्ञायते; 'अश्वायन्तः' इत्यादौ 'अश्वाघस्यात्' (पा० ७।४।३७) इति आत्वविधानात् इति ह्युक्तम्। क्यजन्तात् शतृप्रत्ययः। यथा। 'प्रकारवचने थाल्' (पा० ५।३।२३)। मतिम्। मन्त्रे 'वृषेषपचमन०' (पा० ३।३।९६)। इत्यादिना क्तिन्नुदात्तः। मतिशब्दो ज्ञानपरोऽप्युपचारात् ज्ञातरि इन्द्रे वर्तते। अथवा पदान्तरे विशेष्यानुपादानात् इन्द्रस्यैषा संज्ञा। ततश्च 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० ३।३।१७४) इति मन्यतेः कर्तरि क्तिच्। तस्य उपदेशेऽनुदात्तत्वात् इट् प्रतिषेधः (पा० ७।२।१०)। अच्छ। अध्याहृतगच्छत्यर्थयोगात् 'अच्छ गत्यर्थवदेषु' (पा० १।४।६९) इति गतिसंज्ञया सह निपातसंज्ञाया अपि समावेशात् (पा० १।४।६०) 'निपाता आद्युदात्ताः' (फि० सू० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम्। विदद्वसुम्। 'विद ज्ञाने' (धा० अ० ५४) इत्यस्मात् अन्तर्भावितण्यर्थात् शतृप्रत्यये विदन्ति औदार्यातिशयवत्तया ज्ञापयन्ति वसूनि धनानि यं स विदद्वसुः। विदेः शतृप्रत्यये 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक्। गृणन्ति स्तुवन्तीति गिरः। गृणातेः क्विपि-'ॠत इद्धातोः' (पा० ७।१।१००) इति इत्वं रपरत्वम्। धातुस्वरेणोदात्तत्वम्। महां महान्तम्। नकारतकारयोर्लोपश्छान्दसः। प्रातिपदिकस्वरेणोदात्तत्वम्। अनूषत। 'णु स्तुतौ' (धा० अ० २५)। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। लुङि झस्य अदादेशः (पा० ७।१।५)। सिचि कुटादित्वेन ङित्वात् (पा० १।२।१) गुणाभावः। इडभाव-उकारदीर्घत्वं च छान्दसम्। निघातः। श्रुतम्। प्रत्ययस्वरः॥ ६॥

स्कन्दः—देवयन्तः देवशब्दोऽत्र प्रकृतान्मरुत एवाह। तानिच्छन्तो देवयन्तः। यथा मतिम्। मन्यतिरर्चतिकर्मा। मन्यते स्तूयतेऽसाविति मतिरिन्द्रः। ज्ञाता वा मतिर्विद्वान् ब्राह्मणः। यथा सर्वस्तुत्यमिन्द्रं विद्वांसं वा ब्राह्मणं तद्वद्। अच्छ। निपातोऽयमाप्तुमित्यस्यार्थे। आप्तुम्। किम्? विदद्वसुम्। विन्दतेर्लाभार्थस्य विदच्छब्दः, कर्मसाधनश्च द्रष्टव्यः। गुणाभिप्रायं चैतदेकवचनम्। लब्धधनं मरुद्गणम्। गिरः। तृतीयार्थे प्रथमेयम्। गीर्भिः स्तुतिभिः।

महां महान्तम् । अनूषत । नु स्तवने । स्तुवन्ति स्तुवन्तु वा ऋत्विजो मत्पुत्रपौत्रादयो वा । कीदृशम् ? श्रुतं ख्यातम् ॥ ६ ॥

५७ इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संज॒ग्मा॒नो अबि॑भ्युषा ।
म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ ७ ॥

इन्द्रे॑ण । सम् । हि । दृक्ष॑से । स॒म्ऽज॒ग्मा॒नः । अबि॑भ्युषा ।
म॒न्दू इति॑ । स॒मा॒नऽव॑र्चसा ॥ ७ ॥

May you be seen, Maruts, accompanied by the undaunted Indra; (both) rejoicing, and of equal splendour.

[हे मरुद्गण] (अबिभ्युषा) भयरहित, निर्भीक (इन्द्रेण) इन्द्र के साथ (संजग्मानः) मिलकर चलते हुए (संदृक्षसे हि) बहुत अच्छे दिखलाई पड़ते हैं; [और तब आप दोनों] (मन्दू) निरन्तर प्रसन्न एवं (समानवर्चसा) एक ही तरह की दीप्ति से विभूषित लगते हैं ।

सायणः—हे मरुद्गण त्वम् इन्द्रेण संजग्मानः संगच्छमानः संदृक्षसे हि सम्यग्दृश्येथाः खलु । अवश्यमस्माभिर्द्रष्टव्य इत्यर्थः । कीदृशेनेन्द्रेण । अबिभ्युषा भीतिरहितेन । कीदृशाविन्द्रमरुद्गणौ । मन्दू नित्यप्रमुदितौ । समानवर्चसा तुल्यदीप्ती । पुरा कदाचिद् वृत्रवधदशायामिन्द्रस्य सखायः सर्वे देवा वृत्रश्वासेन अपसारिताः । तदानीमिन्द्रस्य वृत्रसंबन्धिसकलसेनाजयार्थं मरुद्भिः संगमोऽभूत् । सोऽयमर्थो 'वृत्रस्य त्वा श्वसथात्' (ऋ० सं० ८।९६।७) इति मन्त्रे संगृहीतः । 'इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।२०) इति ब्राह्मणे प्रपञ्चितश्च । इन्द्रशब्दः परमैश्वर्यवन्तं मरुद्गणं वाभिधत्ते । तदानीमिन्द्रस्य संबोधनं बहिरेवाध्याहर्तव्यम् । तथा चेयमृक् यास्केन व्याख्याता—'इन्द्रेण हि संदृश्यसे संगच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन मन्दू मदिष्णू युवां स्थोऽपि वा मन्दुना तेनेति स्यात् 'समानवर्चसा' इत्येतेन व्याख्यातम्' (नि० ४।१२) इति ॥ सं दृक्षसे संपश्येथाः । 'दृशेश्चेति वक्तव्यम्' (पा० १।३।२९ वा०) इत्यात्मनेपदम् । दृशेः 'लिङर्थे लेट्' (पा० ३।४।७) इति प्रार्थनायां लेट् । 'थासः से' (पा०३।४।८०)। 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इत्यडागमः । 'सिब्बहुलं लेटि' (पा०३।१।३४) इति सिप् । 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (परिभा० ९३।१) इति गुणाभावः । व्रश्चादिना (पा० ८।२।३६) षत्वम् । 'षढोः कः सि' (पा० ८।२।४१) इति कत्वम् । 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० ८।३।५९) इति सिपः षत्वम् । बहुलग्रहणात् सिपः परस्तात् शबपि भवति (पा० २।४।७३) । सिपा व्यवधानात्पश्यादेशो

न भवति (पा० ७।३।७८)। संजग्मानः। गमेः सम्पूर्वात् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति वर्तमाने लट्। 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा० १।३।२९) इति आत्मनेपदविधानात्कानजादेशो लिटः (पा० ३।२।१०६)। द्विर्भावः (पा० ६।१।८)। हलादिशेषः (पा० ७।४।६०)। अभ्यासस्य चुत्वम् (पा० ७।४।६२)। 'गमहन०' (पा० ६।४।९८) इत्युपधालोपः। अबिभ्युषा। 'ञिभी भये' (धा० जु० २)। पूर्ववच्छिट्। 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (पा० १।३।७८) इति परस्मैपदम्। 'क्वसुश्च' (पा० ३।२।१०७) इति लिटः क्वसुरादेशः। तस्य कित्त्वाद् गुणाभावः। द्विर्भावः। अभ्यासस्य ह्रस्वजश्त्वे (पा० ७।४।५९, ८।४।५४)। क्रादिनियमात् (पा० ७।२।१३) प्राप्त इट् 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (पा० ७।२।६७) इति नियमान्निवर्तते। नञ्समासे तृतीयैकवचने भत्वात् 'वसोः संप्रसारणम्' (पा० ६।४।१३१) इति वकारस्य उकारः। 'संप्रसारणाच्च' (पा० ६।१।१०८) इति पूर्वरूपत्वम्। 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।३।६०) इति षत्वम्। इयङादेशं बाधित्वा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (पा० ६।४।८२) इति यणादेशः। पूर्वेण सह संहितायामोकारस्य 'एङः पदान्तादति' (पा० ६।१।१०९) इति पूर्वरूपत्वे प्राप्ते 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः। मन्दू। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' (धा० भ्वा० १३)। 'इदितो नुम् धातोः' (पा० ७।१।५८) इति नुमागमः। 'कुः'इत्यनुवृत्तौ 'खरु शङ्कु पीयु नीलङ्गु लिगु' (उ० १।३६) इत्यत्र अविभक्तिकनिर्देशात् हन्तेः हिगुरितिवत् धात्वन्तरादपि कुः इत्युक्तम्। द्विवचनम् औ (पा० ४।१।२) 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (पा० ६।१।१०२)। तृतीयैकवचने चेत् 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना पूर्वसवर्णदीर्घत्वम्। समानवर्चसा। समानं वर्चो ययोरिति वा यस्येति वा बहुव्रीहिः। 'सुपां सुलुक्०' इत्यादिना आकारादेशः।

स्कन्दः—इन्द्रेणेति सहयोगलक्षणा तृतीया। इन्द्रेण सह त्वं मरुद्गण, सं हि दृक्षसे। हिशब्दः पदपूरणः। सम्यग् दृश्यसे। संजग्मानः संगच्छमानः तत्र तत्र वृत्रवधादौ कार्ये अबिभ्युषा भयवर्जितेन। 'तस्या एकान्तरायास्तु अर्धर्चोऽन्त्यो द्विदेवतः'- या ऐन्द्रमारुत्युक्ता ऋक् एका 'वीळु चित्०' इति। तस्या एकान्तरा या 'इन्द्रेण सं हि' इत्येषा तस्या अर्धर्चोऽन्त्यो द्विदेवतः ऐन्द्रमारुतः। मन्दू। मन्दतेर्मोदनार्थस्यैतद् रूपम्। नित्यप्रमुदितौ। समानवर्चसा तुल्यदीप्ती च इन्द्रमरुद्गणौ ॥ ७ ॥

५८ अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति।
गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ८ ॥

अनवद्यैः । अभिद्युऽभिः । मखः । सहस्वत् । अर्चति ।
गणैः । इन्द्रस्य । काम्यैः ॥ ८ ॥

This right is performed in adoration of the powerful Indra, along with the irreproachable, heavenward-tending, and amiable bands (of the Maruts).

(मखः) यह यज्ञ (अनवद्यैः) दोषों से रहित, (अभिद्युभिः) द्युलोक तक पहुँचे हुए और (काम्यैः) फलदायक होने के कारण कामना करने योग्य (गणैः) मरुद्-गणों के साथ (इन्द्रस्य) इन्द्र की (सहस्वत्) सबल देवता के रूप में (अर्चति) पूजा करता है ॥ ८ ॥

सायणः—मखः प्रवर्तमानोऽयं यज्ञः अनवद्यैः दोषरहितैः अभिद्युभिः द्युलोकमभिगतैः काम्यैः फलप्रदत्वेन कामयितव्यैः गणैः मरुत्समूहैः सहितम् इन्द्रस्य इन्द्रं सहस्वत् बलोपेतं यथा भवति तथा अर्चति पूजयति । अयं यज्ञो मरुत् इन्द्रं चातिशयेन प्रीणयतीत्यर्थः । 'यज्ञः' इत्यादिषु पञ्चदशसु यज्ञनामसु (निघ० ३।१७) 'मखः विष्णुः' इति पठितम् । चतुश्चत्वारिंशत्सु अर्चतिकर्मसु 'अर्चति गायति' (नि० ३।१४) इति पठितम् ॥ न विद्यतेऽवद्यं येषां तेऽनवद्याः । अभिगता द्यौर्यैस्तेऽभिद्यवः । तैरभिद्युभिः । सहो बलमस्मिन्नर्चनकर्मण्यस्तीति सहस्वत् । 'तसौ मत्वर्थे' (पा० १।४।१९) इति भसंज्ञया पदसंज्ञाया बाधितत्वात् सकारस्य रुत्वाभावः । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (पा० ८।२।९) इति मतुपो मस्य वत्वम् । काम्यैः । 'कमेर्णिङ्' (पा० ३।१।३०) । 'अत उपधायाः' (पा० ७।२।११६) इति वृद्धिः । 'जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' (भ्वा० ग० सू०) इति अमन्तत्वेन प्राप्तस्य मित्त्वस्य 'न कम्यमिचमाम्' (भ्वा० ग० सू०) इति प्रतिषेधात् 'मितां ह्रस्वः' (पा० ६।४।९२) इति उपधाह्रस्वत्वं न भवति । ण्यन्तात् 'अचो यत्' (पा० ३।१।९७) । णिलोपः (६।४।५१) ।

स्कन्दः—सर्वाश्चात्र द्वितीयार्थे तृतीयाः । अनवद्यान् अगर्ह्यान् । द्युशब्दो दीप्तिवचनः । अभिगतदीप्तीन् अत्यन्तदीप्तान् । मखो यज्ञः । सहस्वद् बलवत् । सुष्ठु इत्यर्थः । अर्चति स्तौति । यद् यज्ञ ऋत्विजः स्तुवन्ति, तदिदं यज्ञ एव स्तौतीत्युच्यते । अथवा मखं करोति मखयति । तत्करोतीति (पा० ३।१।२६ वा०) णिच् । ण्यन्तादच् । मखः यज्ञकारी संस्तौति । कान् ? गणैः (गणान्) सप्त सप्तकान् । इन्द्रस्य काम्यैः काम्यान् प्रियान् । अथवा अनवद्यैरित्यादिषु तृतीया स्वार्थ एव । तृतीयानिर्देशात्तु युक्त इति च वाक्यशेषः । अर्चतीति व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । अनवद्यादिगुणैर्मरुद्गणैर्युक्तो यज्ञः सुष्ठु अर्च्यते । सुष्ठु अर्च्यन्तेऽत्र मरुतो देवा इन्द्रश्च । अतो यज्ञोऽत्यन्तं पूज्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

५९ अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि ।
समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ९ ॥
अतः । परिऽज्मन् । आ । गहि । दिवः । वा । रोचनात् । अधि ।
सम् । अस्मिन् । ऋञ्जते । गिरः ॥ ९ ॥

Therefore circumambient (troop of Maruts), come hither, whether from the region of the sky or from the solar sphere; for in this rite (the priest) fully recites your praises.

(परिज्मन्) चारों ओर व्याप्त रहने वाले [हे मरुद्गण], (अतः) इस मरुत् के स्थान अन्तरिक्ष से (दिवः वा) या द्युलोक से (रोचनात् अधि वा) अथवा चमकने वाले आदित्यमण्डल से (आ गहि) आइये । [जहाँ भी हों वहीं से इस यज्ञ में आइये ।] (अस्मिन्) इस यज्ञ में [ऋत्विज्] (गिरः) स्तुतियों को (सम् ऋञ्जते) अच्छी तरह सँवार रहा है ॥ ९ ॥

सायणः—हे परिज्मन् परितो व्यापिन् मरुद्गण अतः अस्मात् मरुद्गणस्थानात् अन्तरिक्षात् आ गहि अस्मिन् कर्मण्यागच्छ । दिवो वा द्युलोकाद्वा समागच्छ । रोचनादधि दीप्यमानादादित्यमण्डलाद्वा समागच्छ । अस्मदीयकर्मकाले यत्र यत्र तिष्ठसि ततः सर्वस्मादागच्छ इत्यर्थः । किमर्थमागमनमिति तदुच्यते । अस्मिन् कर्मणि वर्तमान ऋत्विक् गिरः स्तुतीः सम् ऋञ्जते सम्यक् प्रसाधयति । 'ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा' (नि० ६।२१) इति यास्कः । एताः स्तुतीः श्रोतुमागच्छेत्यर्थः ॥ यद्यपि ऋत्विजा मन्त्रस्य प्रयुज्यमानत्वात् ऋञ्जतिधातोः उत्तमपुरुषेण भवितव्यम्, तथापि परोक्षकृतत्वेन निर्देशात् प्रथमपुरुषप्रयोगः । परोक्षकृतलक्षणं च यास्क आह—'तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य' (नि० ७।१) इति । अतः । 'पञ्चम्यास्तसिल्' (पा० ५।३।७) एतदोऽश् (पा० ५।३।५) शित्वात्सर्वादेशः (पा० १।१।५५) । परिज्मन् । 'अज गतिक्षेपणयोः' (धा० भ्वा० २३०) 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति मनिन् । अकारलोपः छान्दसः । आमन्त्रितनिघातः । गहि । गमेः 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुक् । हेर्ङित्वात् (पा० ३।४।८७) 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना मलोपः । 'अतो हेः' (पा० ६।४।१०५) इति हिलोपो न भवति, तस्मिन् कर्तव्ये 'असिद्धवदत्रा भात्' (पा० ६।४।२२) इति मलोपस्य असिद्धत्वेन अनकारान्तत्वात् । रोचनात् । 'रुच दीप्तौ' (धा० भ्वा० ७४६) । 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (पा० ३।२।१४९) इति युच् । 'युवोरनाकौ' (पा० ७।१।१) इति अनादेशः ।

अधि। 'अधिपरी अनर्थकौ' (पा० १।४।९३) इति कर्मप्रवचनीयत्वेन सह निपातसंज्ञायाः समावेशात् 'निपाता आद्युदात्ताः' (फि० सू० ८०) इत्याद्युदात्तः। ऋञ्जते। 'ऋजि भृजी भर्जने' (धा० भ्वा० १७७)। समित्युपसर्गयोगात् प्रसाधने वर्तते। निघातः।

स्कन्दः—अत इति मरुद्गणस्थानस्यान्तरिक्षस्य निर्देशः। अतोऽन्तरिक्षलोकात्। हे परिज्मन्! अज गतिक्षेपणयोरित्यस्यैतद् रूपम्। सर्वतोगामिन् मरुद्गण! आगहि आगच्छ। दिवो वा द्युलोकाद्वा। रोचनाद् दीप्तात्। अधिशब्दस्तु 'आगहि' इत्येतेन संबध्यते धात्वर्थानुवादी च, पादपूरणो वा नार्थान्तरवचनः। 'अधिपरी अनर्थकौ' (पा० १।४।९३) इति। अथवा, अधिशब्दः सामर्थ्याद् वाऽर्थे। रोचनाद्वा आदित्यमण्डलाद्वा इत्यर्थः। किं कारणम् आगच्छति? उच्यते—समस्मिन् ऋञ्जते। ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। आत्मन एवायं परोक्षरूपेण प्रथमपुरुषनिर्देशः। अयं मधुच्छन्दो नाम ऋषिर्ऋत्विग् ब्राह्मणाच्छंस्याख्येऽस्मिन् यज्ञे समृञ्जते सम्यक् प्रसाधयति उपकल्पयति गिरः॥ ९॥

६० इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि।
इन्द्रं महो वा रजसः॥ १०॥

इतः। वा। सातिम्। ईमहे। दिवः। वा। पार्थिवात्। अधि।
इन्द्रम्। महः। वा। रजसः॥ १०॥

We invoke Indra, whether he come from this earthly region, or from the heaven above, or from the vast firmament, that he may give (us) wealth.

(इतः) प्रस्तुत (पार्थिवात्) पृथ्वीलोक से (दिवो वा) या स्वर्गलोक से (महो वा) अथवा सु-विशाल (रजसः) अन्तरिक्षलोक से [लाकर हमलोगों में वितरण करने के लिए] (इन्द्रं) इन्द्र-देवता से (सातिम्) धनदान की (अधि ईमहे) हमलोग याचना कर रहे हैं।

सायणः—इन्द्रं देवं प्रति सातिं धनदानम् अधि ईमहे आधिक्येन याचामहे। कस्माल्लोकादिति तदुच्यते। इयः अस्मादभिदृश्यमानात् पार्थिवात्पृथिवीलोकाद्वा। दिवो वा द्युलोकाद्वा। महः महतः प्रौढात् रजसः पक्ष्यादीनां रञ्जकादन्तरिक्षलोकाद्वा। अयमिन्द्रो यतः कुतश्चिदानीय अस्मभ्यं धनं प्रयच्छत्वित्यर्थः। सप्तदशसु याच्ञाकर्मसु (निघ० ३।१९) 'ईमहे यामि' इति पठितम्॥ इतः। इदंशब्दात् पञ्चम्याः तसिल्। 'इदम इश्' (पा० ५।३।३) इति इश्। शित्वात्सर्वादेशः। सातिम्। 'षणु दाने' (धा० त० २)। 'धात्वादेः षः सः' (पा० ६।१।६४)। भावे क्तिन्। 'जनसनखनां सञ्झलोः'

(पा० ६।४।४२) इति नकारस्य आत्वम्। 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (पा० ७।२।९) इति निषेधात् इण् न भवति। ईमहे। 'ईङ् गतौ' (धा० दि० ३७)। श्यनोऽपि 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति लुक्। पार्थिवात्। 'प्रथ प्रख्याने' (धा० भ्वा० ७६६)। प्रथते इति पृथिवी। 'प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च' (उ० १।१४८) इति षिवन्प्रत्ययः। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० ४।१।४१) इति ङीष्। पृथिव्या विकार इत्यर्थे 'ओरञ्' (पा० ४।३।१३९) इत्यनुवृत्तौ 'अनुदात्तादेश्च' (पा० ४।३।१४०) इति अञ्। 'यस्येति च' (पा० ६।४।१४८) इति ईकारलोपः। 'तद्धितेष्वचामादेः' (पा० ७।२।११७) इति आदिवृद्धिः। रपरत्वम्। महः। महतः इत्यस्य अकारतकारयोर्लोपश्छान्दसः।

स्कन्दः—अतः परं यथाप्राप्तमैन्द्रमेव। 'इतो वा' इत्येतस्य सन्निहितवचनस्य वा पार्थिवादित्यनेन व्यवहितेनापि सामानाधिकरण्यम्। इतो वा पार्थिवाल्लोकात्। सातिम्। षणु दाने, वन षण सम्भक्तौ इत्यस्य वा सातिर्दानं लाभो वा। ताम् ईमहे। याच्ञाकर्मायम्। याचामहे। दिवो वा द्युलोकाद्वा। अधिशब्दस्तु पदपूरणः। कं याचामहे ? इन्द्रम्। न चैताभ्यामेव केवलाभ्याम्। किं तर्हि ? महो वा रजसः। रजश्शब्दो लोकवचनः। महतो लोकाद्वा। कथमस्मात् ? महत्त्वात् पारिशेष्याच्चान्तरिक्षात्। यतः कुतोऽप्यस्मभ्यमिन्द्रो ददात्वित्यर्थः॥ १०॥

(७) सप्तमं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्रीछन्दः । इन्द्रो देवता ।

६१ इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ १ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ।
इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ १ ॥

The chanters (of the Soma) extol Indra with gongs, the reciters of the Ṛc with prayers, the priests of the Yajus, with texts.

(गाथिनः) सामगान करने वालों ने (इन्द्रम् इत्) इन्द्र की ही (बृहत्) बृहत्-नामक साम के द्वारा (अनूषत) स्तुति की थी, (अर्किणः) ऋक् से संबद्ध होताओं ने (अर्केभिः) ऋचाओं के द्वारा (इन्द्रम्) इन्द्र की ही [स्तुति की थी और अन्त में अध्वर्युओं ने भी] (वाणीः) अपने यजुष्-रूप वचनों से (इन्द्रम्) इन्द्र की ही [स्तुति की]।

सायणः—गाथिनः गीयमानसामयुक्ता उद्गातारः इन्द्रमित् इन्द्रमेव बृहत् 'त्वामिद्धि हवामहे' (ऋ० सं० ६।४६।१) इत्यस्यामृचि उत्पन्नेन बृहन्नामकेन साम्ना अनूषत स्तुतवन्तः । अर्किणः अर्चनहेतुमन्त्रोपेता होतारः अर्केभिः ऋग्रूपैर्मन्त्रैः इन्द्रमेव अनूषत । ये त्ववशिष्टा अध्वर्यवस्ते वाणीः वाग्भिर्यजूरूपाभिः इन्द्रमेव अनूषत । अर्कशब्दस्य मन्त्रपरत्वं यास्केनोक्तम्—'अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति' (नि० ५।४) इति । 'श्लोकः' इत्यादिषु सप्तपञ्चाशत्सु वाङ्नामसु (निघ० १।११) 'वाशी वाणी' इति पठितम् ॥ गाथिनः । 'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्'(उ० २।१६१) इति गायतेः थन्प्रत्ययः । गाथा एषां सन्तीति गाथिनः । 'व्रीह्यादिभ्यश्च' (पा० ५।२।११६) इति इनिः । बृहत् बृहता । तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति लुक् । अर्केभिः । 'अर्च पूजायाम्' (धा० भ्वा० २०४)। अर्च्यंते एभिः इति अर्का मन्त्राः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पा० ३।३।११८) इति घः । 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (पा० ७।३।५२) इति कुत्वम् । 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) इति भिस् ऐसादेशो न भवति । अर्काः स्तुतिसाधनभूता मन्त्रा एषां सन्तीति अर्किणः । वाणीः । 'दीर्घाज्जसि च' (पा० ६।१।१०५) इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधस्य 'वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) इति विकल्पितत्वात् दीर्घत्वम् । तृतीयार्थे प्रथमा ।

अनूषत। 'णु स्तुतौ' (धा० अ० २५)। 'णो नः' (पा० ६।१।६५) इति नत्वम्। लुङि व्यत्ययेनात्मनेपदम्। झस्य अदादेशः (पा० ७।१।५)। सिचः इडभावः उकारस्य दीर्घत्वं च छान्दसम्। धातोः कुटादित्वात् सिचो ङित्वेन (पा० १।२।१) गुणाभावः (पा० १।१।५)॥

स्कन्दः—इच्छब्द एवार्थे। इन्द्रमेव। गीयन्ते इति गाथाः सामानि। तद्वन्तो गाथिनः उद्गातारः। तृतीयार्थे द्वितीयेयं बृहन्नाम। महता साम्ना इन्द्रमेव अर्केभिः मन्त्रैः ऋग्लक्षणैः अर्किणो मन्त्रवन्तो होतारः। इन्द्रमेव वाणीः। वाङ्नामैतत्। तृतीयार्थे चात्र द्वितीया यजुर्लक्षणैः अध्वर्यवः अनूषत अस्तुवन्॥ १॥

६२ इन्द्र॒ इद्धर्यो॒ः सचा॒ संमि॑श्ल॒ आ व॑चो॒युजा॑।
इन्द्रो॑ व॒ज्री हि॑र॒ण्ययः॑॥ २॥

इन्द्रः॑। इत्। हर्योः॑। सचा॑। सम्ऽमि॑श्लः। आ। व॒चः॒ऽयुजा॑।
इन्द्रः॑। व॒ज्री। हि॒र॒ण्ययः॑॥ २॥

Indra, the blender of all things, comes verily with his steeds that are harnessed at his word: Indra, the richly-decorated, the wielder of the thunderbolt.

(इन्द्रः इत्) इन्द्र-देवता ही (वचोयुजा) वचनों के प्रभाव से ही रथ में जुत जाने वाले (हर्योः) अपने घोड़ों को (सचा) एक साथ ही (आ संमिश्लः) चारों ओर से ठीक-ठीक मिला देने वाले हैं; वे (इन्द्रः) इन्द्र (वज्री) वज्रधारी तथा (हिरण्ययः) सभी भूषणों से सजे-धजे हैं।

सायणः—इन्द्र इत् इन्द्र एव हर्योः हरिनामकयोरश्वयोः सचा सह युगपत् आ संमिश्लः सर्वतः सम्यगमिश्रयिता। कीदृशोर्हर्योः। वचोयुजा। इन्द्रस्य वचनमात्रेण रथे युज्यमानयोः सुशिक्षितयोरित्यर्थः। अयम् इन्द्रः वज्री वज्रयुक्तः हिरण्ययः हिरण्मयः सर्वाभरणभूषित इत्यर्थः॥ हर्योः। हरतः इति हरी। इन्। 'सचा सह' (नि० ५।५) इत्युक्तम्। संमिश्लः। मिश्रणं मिश्रः मिश्रयतेर्घञ् (पा० ३।३।१८)। सम्यक् मिश्रौ यस्यासौ संमिश्रः। लत्वं छान्दसम्। सम्यक् मिश्रयितेत्यर्थः। वचोयुजा। वचसा युज्येते इति वचोयुजौ। तयोः षष्ठीद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' इत्याकारादेशः। वज्री। वज्रमस्यास्ति। 'अत इनि ठनौ' (पा० ५।२।११५)। प्रत्ययस्वरः। हिरण्ययः। 'ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानिच्छन्दसि' (पा० ६।४।१७५) इति हिरण्मयशब्दस्य मकारलोपो निपात्यते।

स्कन्दः—इन्द्र एव हर्योरश्वयोः सचा सह संमिश्लः आ आभिमुख्येन संमिश्रयिता। केन? सामर्थ्याद् रथे यौगपद्येन नियोक्तेत्यर्थः। कीदृशयोः। वचोयुजा। षष्ठीद्विवचनस्यायमाकारः। युज्येथामिति वचनमात्रेण स्वयमेव यौ युज्येते, तौ वचोयुजौ। तयोस्तु विनीतयोरित्यर्थः। इन्द्र एव वज्री वज्रवान्। हिरण्ययः सादृश्यादेष व्यवहारः। हिरण्मयसदृशः दीप्तवर्णं इत्यर्थः॥ २॥

६३ इन्द्रो॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑स॒ आ सूर्यं॑ रोहयद्दि॒वि।
वि गोभि॒रद्रि॑मैरयत्॥ ३॥

इन्द्रः॑। दी॒र्घाय॑। चक्ष॑से। आ। सूर्य॑म्। रो॒ह॒य॒त्। दि॒वि।
वि। गोभिः॑। अद्रि॑म्। ऐ॒र॒य॒त्॥ ३॥

Indra, to render all thing visible, elevated the sun in the sky, and charged the cloud with (abundant) waiers.

(इन्द्रः) इन्द्र-देवता ने (दीर्घाय) अच्छी तरह सभी वस्तुओं के (चक्षसे) दिखलाई पड़ने के लिए (दिवि) द्युलोक में (सूर्यम्) सूर्य-देवता को (आरोहयत्) स्थापित कर दिया। [उधर उस सूर्य ने] (गोभिः) अपनी किरणों से (अद्रिम्) पर्वतादि समस्त जगत्को (वि ऐरयत्) देखे जाने के लिए विशेषरूप से प्रेरित किया, प्रकाशित किया। या इन्द्र ने ही (गोभिः) जलसे भरकर (अद्रिम्) मेघको प्रेरित किया।

सायणः—अयम् इन्द्रः दीर्घाय प्रौढाय निरन्तराय चक्षसे दर्शनाय दिवि द्युलोके सूर्यम् आरोहयत्। पुरा वृत्रासुरेण जगति यत् आपातितं तमस्तन्निवारणेन प्राणिनां दृष्टिसिद्ध्यर्थम् आदित्यं द्युलोके स्थापितवानित्यर्थः। स च सूर्यः गोभिः स्वकीयरश्मिभिः अद्रिं पर्वतप्रमुखं सर्वं जगत् वि ऐरयत् विशेषेण दर्शनार्थं प्रेरितवान् प्रकाशितवानित्यर्थः। अथवा इन्द्रः एव गोभिः जलैर्निमित्तभूतैः अद्रिं मेघं व्यैरयत् विशेषेण प्रेरितवान्। पञ्चदशसंख्याकेषु रश्मिनामसु (निघ० १।५) 'खेदयः किरणाः गावः' इति पठितम्। त्रिंशत्संख्याकेषु मेघनामसु (निघ० १।१०) 'अद्रिः ग्रावा' इति पठितम्॥ चक्षसे। चष्टेः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।६२८) इति असुन्। बहुलग्रहणात् ख्याञादेशाभावः। सूर्यम्। सुवति प्रेरयतीति सूर्यः। 'षू प्रेरणे' (धा० तु० १२८)। 'धात्वादेः षः सः'। 'राजसूयसूर्य०' (पा० ३।१।११४) इत्यादिना क्यप्प्रत्ययः रुडागमश्च निपात्यते। क्यपः कित्त्वाद् गुणाभावः। पित्त्वादनुदात्तत्वम्। धातुस्वर एव शिष्यते। रोहयत्। रुहेः ण्यन्तात् लङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० ६।४।७५) इत्यडभावो निघातश्च। अद्रिम्। 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' (उ०

४।५०५) इति क्तिन्प्रत्ययः। अदन्ति पशवस्तृणादिकमत्रेति अद्रिः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्। ऐरयत्। 'ईर गतौ' (धा० चु० २७८)। ण्यन्ताल्लङ्। निघातः।

स्कन्दः—अत्रेतिहासमाचक्षते–वृत्रो महत् तमस्ततान। तेन तमसावृतं सर्वमधर्मप्रज्ञानं बभूव। तत इन्द्रो वृत्रं हत्वा तमसोऽपनोदनार्थं सूर्यं दिवि आरोहयाञ्चकारेति। तदेतदुच्यते—इन्द्रो दीर्घाय आप्रलयभाविने चक्षसे दर्शनाय आ सूर्यं रोहयत् सूर्यमारोपितवान् दिवि द्युलोके। किं च—वि गोभिरद्रिमैरयत्। गोशब्दोऽत्र वज्रवचनः। 'अहन् गवा मघवन्' इति यथा। अद्रिरिति मेघनाम। वज्रैर्व्यैरयत् प्राणेभ्यो विगमितवान् हतवान् हन्ति वेत्यर्थः। वधार्थं एव सामर्थ्याद् ईरयतिः। अथवा गोशब्द उदकवचनः। हेतौ च तृतीया। प्रयोजनस्य हेतुत्वविवक्षा। उदकार्थं मेघं हतवान् हन्ति वेत्यर्थः॥ ३॥

६४ इन्द्र॒ वाजे॑षु नोऽव स॒हस्र॑प्रधनेषु च।
उ॒ग्र उ॒ग्राभि॑रू॒तिभि॑ः॥ ४॥

इन्द्र॑। वाजे॑षु। न॒ः। अ॒व। स॒हस्र॑ऽप्रधनेषु। च॒।
उ॒ग्रः। उ॒ग्राभि॑ः। ऊ॒तिभि॑ः॥ ४॥

Invincible Indra, protect us in battles abounding in spoil, with insuperable defences.

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता (उग्रः) आप शत्रुओं से अपराजेय हैं अतः अपनी (उग्राभिः) अजेय (ऊतिभिः) रक्षा-विधियों से (नः) हम लोगों की (सहस्रप्रधनेषु) हजारों का विनाश होने वाले (वाजेषु) महायुद्धों में (अव) रक्षा कीजिये।

सायणः—हे इन्द्र उग्रः शत्रुभिरप्रधृष्यस्त्वम् उग्राभिः अप्रधृष्याभिः ऊतिभिः अस्मद्विषयरक्षाभिः वाजेषु युद्धेषु नः अस्मान् अव रक्ष। तथा सहस्रप्रधनेषु च। सहस्रसंख्याकगजाश्वादिलाभयुक्तेषु महायुद्धेष्वपि रक्ष॥ नोऽव। नसः सकारस्य रुत्वोत्वगुणेषु 'प्रकृत्यान्तःपादम्०' (पा० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावे न भवति 'अव्यपरे' इति निषेधात्। सहस्रप्रधनेषु वाजेषु। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। उग्रः। 'उच समवाये' (धा० दि० ११७)। चस्य गः। 'ऋज्रेन्द्रा०' (उ० २।१८६) इति रन्। व्यत्ययेनान्तोदात्तः। ऊतिभिः। 'ऊतियूति०' इत्यादिना क्तिन्नुदात्तः।

स्कन्दः—हे इन्द्र वाजेषु युद्धेषु नः अस्मान्। अव रक्ष। कीदृशेषु? सहस्रप्रधनेषु। प्रधनशब्दोऽत्र न संग्रामनाम उत्कृष्टवचनः। प्रकृष्टानि धनानि प्रधनानि निमित्तभूतानि येषां ते सहस्रप्रधनाः बह्वत्यन्तधना वेत्यर्थः। चशब्दस्तु

पदपूरणो वा। चश्रुतिसामर्थ्याद्वा अल्पधननिमित्तकेषु चेति शेषः। उग्रः। प्रत्यक्षकृतोऽयं मन्त्रः। न चेदमामन्त्रितम्। अतो यच्छब्दतच्छब्दावध्याहृत्य एकवाक्यतां नेयम्। यस्त्वमुग्रः अन्येन वा प्रसह्यः। क्रूर इत्यर्थः। स अवेति। कीदृशीभिः। उग्राभिः अन्येनाप्रसह्याभिः। ऊतिभिः पालनैः॥ ४॥

६५ इन्द्रं॑ व॒यं म॑हाध॒न इन्द्र॒मर्भे॑ हवामहे।
युजं॑ वृ॒त्रेषु॑। व॒ज्रिण॑म्॥ ५॥

इन्द्र॑म्। व॒यम्। म॒हा॒ऽध॒ने। इन्द्र॑म्। अर्भे॑। ह॒वा॒म॒हे॒।
यु॒ज॑म्। वृ॒त्रेषु॑। व॒ज्रिण॑म्॥ ५॥

We invoke Indra for great affluence, Indra for limited wealth; (our) ally, and wielder of the thunderbolt againet our enemies.

(वयम्) हम लोग (महाधने) प्रचुर धन के लिये (इन्द्रम्) इन्द्र-देवता को, (अर्भे) थोड़े धन के लिए भी (युजं) सहकारी तथा (वृत्रेषु) धनप्राप्ति के विरोधी शत्रुओं के विरुद्ध (वज्रिणम्) वज्र का प्रयोग करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्र को ही (हवामहे) बुलाते हैं॥ ५॥

सायणः—वयमनुष्ठातारः महाधने प्रभूतधननिमित्तमिन्द्रं हवामहे आह्वयामः। अर्भे अर्भके स्वल्पेऽपि धने निमित्तभूते सति इन्द्रं हवामहे। कीदृशमिन्द्रम्। युजं सहकारिणं समाहितं वा। वृत्रेषु शत्रुषु धनलाभविरोधिषु प्राप्तेषु तन्निवारणाय वज्रिणं वज्रोपेतम्। महाधनशब्दो यद्यपि संग्रामनामसु पठितस्तथापि महत् धनमत्र संग्रामे इति बहुव्रीहित्वे सति अन्तोदात्तत्वासिद्धेः नात्र तत् गृहीतम्। महाधने। महच्च तद्धनं चेति 'समासस्य' (पा० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तः। अर्भे। 'अर्तिगृभ्यां भन्' (उ० ३।४३२)। हवामहे। 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (धा० भ्वा० १०३३)। ञित्त्वात् कर्त्रभिप्राये (पा० १।३।७२) आत्मनेपदम्। 'लटः स्थाने महिङ्' (पा० ३।४।७८)। 'टित आत्मनेपदानाम्०' (पा० ३।४।७९) इति टेः एत्वम्। 'कर्तरि शप्' (पा० ३।१।६८)। 'ह्वः संप्रसारणम्' (पा० ६।१।३२) इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति संप्रसारणं वकारस्य उकारः। परपूर्वत्वम्। गुणावादेशौ। 'अतो दीर्घो यञि' (पा० ७।३।१०१) इति दीर्घत्वम्। युजम्। 'युज समाधौ' (धा० दि० ७१) इत्यस्य क्विप्। 'युजेरसमासे' (पा० ७।१।७१) इति नुम् न भवति। 'अनित्यमागमशासनम्' (परिभा० ९३।२) इति वा 'युजिर् योगे' (धा० रु० ७) इत्यस्यापि नुम् न भवति। वृत्रेषु। 'वृतु वर्तने' (धा० भ्वा० ७५९)। प्रतिकूलतया वर्तन्ते इति वृत्राणि शत्रुकुलानि। 'स्फायितञ्चि०'

(उ० २।१७०) इत्यादिना रक्प्रत्ययः। किस्वाद् गुणाभावः। प्रत्ययस्वरः। वज्रिणम्। 'अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५) इति इनिः।

स्कन्दः—महाधने। संग्रामनामैतत्। महति संग्रामे। इन्द्रमेव अर्भे। अल्पनामैतत्। अल्पे। क्व ? पूर्वत्र निर्देशात् संग्राम एव। हवामहे आह्वयामः। युजं, युज्यतेऽसाविति युक् सहायः तम्। वृत्रेषु संग्रामव्यतिरिक्तेषु अपि च शत्रुषु इन्द्रमेव समाह्वयामः वज्रिणम् ॥ ५ ॥

६६ स नो॑ वृषन्न॒मुं च॒रुं सत्रा॑दाव॒न्नपा॑ वृधि।
अ॒स्मभ्य॒मप्र॑तिष्कुतः ॥ ६ ॥

सः। नः॒। वृ॒ष॒न्। अ॒मुम्। च॒रुम्। सत्रा॑ऽदावन्। अप॑।
वृ॒धि॒। अ॒स्मभ्य॑म्। अप्र॑तिऽस्कुतः ॥ ६ ॥

Shedder of rain, granter of all desires, set open this cloud. thou art never uncompliant with our (requests).

(सत्रादावन्) [हमारे सभी अभीष्ट फलों को] एक साथ देने वाले तथा (वृषन्) वृष्टि देने वाले [हे इन्द्र !] (सः) वही आप (नः) हमारे लिये (अमुं) सामने विद्यमान (चरुम्) मेघ-मण्डल को (अपा वृधि) खोल दीजिये [जिससे वर्षा होने लगे]। (अस्मभ्यम्) हमारे कार्यों को आप (अप्रतिष्कुतः) कभी अस्वीकार नहीं करते।

सायणः—हे सत्रादावन्, अस्मदभीष्टानां सर्वेषां फलानां सह प्रदातः ! अतो व्रीह्यादिनिष्पत्त्यर्थं हे वृषन् वृष्टिप्रदेन्द्र ! नः अस्मदर्थम् अमुं दृश्यमानं चरुं मेघम् अपां वृधि उद्घाटय। तथैव अस्मभ्यम् अस्मदर्थम् अप्रतिष्कुतः प्रतिशब्द-रहितः। यद्यत् अस्माभिर्याच्यते तत्र सर्वत्र नेति प्रतिशब्दं नोच्चारयति। अतोऽस्मद्विषये कदाचिदपि अप्रतिस्खलितः। एतदेवाभिप्रेत्य यास्क आह—'अप्रतिष्कुतोऽप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्खलितो वा' (नि० ६।१६) इति ॥ चरुम्। चरतीति चरुः। 'भृमृशीतॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः' (उ० १।७) इति उप्रत्ययः। सत्रादावन्। सत्राशब्दः सहार्थे। अभिमतफलजातं सकलं सह ददातीति सत्रादावा। 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (पा० ३।२।७४) इति वनिप्। अप। 'निपातस्य च' (पा० ६।३।१३६) इति दीर्घः। वृधि। 'वृञ् वरणे' (धा० स्वा० ८)। लोटः सिप्। तस्य 'सेर्ह्यपिच्च' (पा० ३।४।८७) इति हिः। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (पा० ३।१।७३)। तस्य 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति लुक्। 'श्रुश्रृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० ६।४।१०२) इति हेर्धिरादेशः। तस्य ङित्वात्पूर्वस्य गुणाभावः। निघातः। अस्मभ्यम्। अस्मच्छब्दात् 'भ्यसो

भ्यम्' (पा० ७।१।३०) इति भ्यमादेशः। 'शेषे लोपः' (पा० ७।२।९०) इति दकारलोपः। 'बहुवचने झल्येत्' (पा० ७।३।१०३) इति एत्वं न भवति। 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य' (महाभा० ७।१।३०) इत्युक्तम्। प्रातिपदिकस्वरेण स्म इत्यकार उदात्तः। 'भ्यसोऽभ्यम्' इति अभ्यमादेशपक्षे 'शेषे लोपः' इति मपर्यन्तशेषस्य अद्शब्दस्य लोपः। अप्रतिष्कुतः। केनचिदप्रतिशब्दितः। 'कुङ् शब्दे' (धा० भ्वा० ९७६)। 'निष्ठा' (पा० ३।२।१०२) इति कर्मणि क्तप्रत्ययः। प्रतेः प्राक्प्रयोगः। पारस्करादेराकृतिगणत्वात् सुडागमः (पा० ६।१।१५७)। सुषामादेराकृतिगणत्वात् षत्वम् (पा० ८।३।९८)।

स्कन्दः—न इति तादर्थ्ये चतुर्थीयं वृषन्नित्यन्तेन संबध्यते। अस्मदर्थं वर्षितः। यो हि सर्वार्थं वर्षति वर्षत्यसौ मधुच्छन्दोऽर्थम्। तत एवैवमामन्त्रयते नो वृषन्निति। अमुं चरुं मेघम्। चरुरिति मेघनाम। सत्रादावन्। सत्रा इति सत्यनाम सततपर्यायो वा। सत्यसततयोर्दातः ! अपावृधि उद्घाटय। अस्मभ्यमस्मदर्थम्। अप्रतिष्कुतः। 'स्कुञ् आप्रवणे'। आप्रवणमागमनं प्रवतेर्गत्यर्थत्वात् अन्येनाप्रतिगतः अप्रतिष्कुतः। युद्धेऽभियुञ्जानः अन्येनाप्रत्यभियुक्तपूर्वं इत्यर्थः। अत्र च सं नो वृषन्निति तच्छब्दान्मन्त्रस्य चास्य प्रत्यक्षकृतत्वाद् अप्रतिष्कुतः इत्येतस्यानामन्त्रितत्वाद् यच्छब्दोऽध्याहार्यः। यस्त्वमप्रतिष्कुतः सोऽपावृधि॥६॥

६७ तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥ ७॥

तुञ्जेऽतुञ्जे। ये। उत्ऽतरे। स्तोमाः। इन्द्रस्य। वज्रिणः।
न। विन्धे। अस्य। सुऽस्तुतिम्॥ ७॥

Whatever excellent praises are given to other divinities, they are (also the due) of Indra the thunderer: I do not know his fitting praise.

(तुञ्जेतुञ्जे) विभिन्न फल देनेवाले [दूसरे-दूसरे देवताओं की] (ये) जो (स्तोमाः) सामस्तुतियां (उत्तरे) सर्वोत्कृष्ट हैं [उन स्तुतियों से भी] (वज्रिणः) वज्र धारण करनेवाले (अस्य) इन (इन्द्रस्य) इन्द्र-देवता की (सुष्टुतिम्) अच्छी स्तुति [हो सकती है—यह मैं] (न विन्धे) नहीं मान सकता।

सायणः—तुञ्जेतुञ्जे तस्मिंस्तस्मिन् फलदातरि देवान्तरे ये स्तोमाः स्तोत्रविशेषाः उत्तरे उत्कृष्टाः सन्ति तैः स्तोमैः सर्वैरपि वज्रिणः वज्रयुक्तस्य अस्य इन्द्रस्य सुष्टुतिं योग्यां शोभनस्तुतिं न विन्धे न विन्दामि। इन्द्रस्यात्यन्त-

गुणबाहुल्येन देवान्तरेषूत्तमत्वेन प्रसिद्धान्यपि स्तोत्राणि न पर्याप्तानीत्यर्थः। एतामृचं यास्क एवं व्याचष्टे—'तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः। दाने-दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः' (नि० ६।१७-१८) इति॥ तुञ्जेतुञ्जे। तुञ्जतिर्दानकर्मा इत्युक्तम्। ततः कर्तरि पचाद्यच् (पा० ३।१।१३४)। 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८।१।४) इति द्विर्भावः। 'तस्य परमाम्रेडितम्' (पा० ८।१।२) इति द्वितीयस्याम्रेडितसंज्ञा। दातरि दातरीत्यर्थः। निरुक्ते तु 'दाने दाने' इत्यर्थतो व्याख्यानम्। उत्तरे। 'तॄ प्लवनतरणयोः' (धा० भ्वा० ९९४)। भावे 'ऋदोरप्' (पा० ३।३।५७)। उच्छब्द उत्कृष्टवचनः। उत्कृष्टः तरो यस्येति बहुव्रीहिः। स्तोमाः। 'अर्तिस्तुसु०' (उ० १।१३७) इत्यादिना स्तोमशब्दो मन्नन्तो नित्वादाद्युदात्तः। विन्धे। 'विद्लृ लाभे' (धा० तु० १५२)। लट्। स्वरितेत्वादात्मनेपदम्। उत्तमैकवचनमिट्। (पा० ३।४।७८) 'तुदादिभ्यः शः' (पा० ३।१।७७)। 'शे मुचादीनाम्' (पा० ७।१।५९) इति नुम्। दकारस्य व्यत्ययेन धकारः। अस्य। प्रकृतस्येन्द्रस्य परामर्शादन्वादेशे इदमोऽश् (पा० २।४।३२)। शित्वात् सर्वादेशोऽनुदात्तः। सुष्टुतिम्। 'ष्टुञ् स्तुतौ' (धा० अ० ३३)। 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वम्। 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० ३।३।९४) इति भावे क्तिन्। सु इति उदात्तेनोपसर्गेण प्रादिसमासः (पा० २।२।१८)। 'उपसर्गात्सुनोति०' (पा० ८।३।६५) इत्यादिना षत्वम्।···

स्कन्दः—तुञ्ज इति न यज्ञनाम। किं तर्हि? तुञ्जतेर्दानकर्मणः तुञ्जो दानम्। दाने दाने। कस्य? सामर्थ्याद् वृष्टेः धनानां वा। य उत्तरे पूर्वेभ्यः प्रकृष्टतमा मदीयाः स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः। यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तैरपि न विन्धे। विदेर्लाभार्थस्येदं रूपम्। अहमस्येन्द्रस्य सुष्टुतिं सुष्ठु स्तुतिम् अशेषगुणप्रकाशनरूपाम्। तैरपि नाशेषानिन्द्रगुणान् प्रकाशयितुं शक्नोमीत्यर्थः। अथवायं न विन्ध इति स्पर्शनार्थो वा। न विन्धे न स्पृशामि। अस्य सुष्टुतिम् अशेषप्रकाशनरूपाम्। एतदुक्तं भवति—येऽपि दानपरितुष्टस्य मम अत्यन्तमहान्तः स्तोमाः, तेऽपीन्द्रस्य गुणैकदेशवर्तिनः समस्तगुणप्रकाशनमप्राप्ताः। किं पुनरस्येति॥ ७॥

६८ वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः॥ ८॥

वृषा। यूथाऽइव। वंसगः। कृष्टीः। इयर्ति। ओजसा।
ईशानः। अप्रतिऽस्कुतः॥ ८॥

The shedder of rain, the mighty lord, the always compliant, invests men with his strength, as a bull defends a herd of kine.

(यूथा इव) जिस प्रकार गोसमूह की ओर (वंसगः) कोई वृषभ [जाता है, उसे बचाता है—उसी प्रकार] (वृषा) काम्य पदार्थों की वर्षा करनेवाले, (ईशानः) सर्वसमर्थ और (अप्रतिष्कुतः) प्रार्थना अस्वीकार न करनेवाले [इन्द्र] (ओजसा) अपने बल के द्वारा प्रसन्न करने के लिए (कृष्टीः) मनुष्यों के पास (इयर्ति) जाते हैं ।

सायणः—वृषा कामानां वर्षितेन्द्रः स्वकीयबलेनानुग्रहीतुं कृष्टीः मनुष्यान् इयर्ति प्राप्नोति । कीदृश इन्द्रः । ईशानः समर्थः अप्रतिष्कुतः प्रतिशब्दरहितः । याच्यमानं न परिहरतीत्यर्थः । इन्द्रस्य दृष्टान्तः । वंसगः वननीयगतिर्वृषभः यूथेव गोयूथानि यथा प्राप्नोति तद्वत् ॥ वृषा । 'कनिन्युवृषितक्षिधन्विराजिद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५४) इति वर्षतेः कनिन्प्रत्ययः । किस्वाद् गुणाभावः । यूथा इव । युवन्ति मिश्रीभवन्तीति यूथानि । 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (पा० अ० २३) । 'तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः' (उ० २।१६९) इति थक्प्रत्ययान्तो निपातितः । निपातनाद्दीर्घत्वम् । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) इति लुक् । 'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्' (पा० २।१।४ वा०) इति समासेऽपि स एव स्वरः । वंसगः । पृषोदरादित्वात् अभिमत रूपस्वरसिद्धिः (पा० ६।३।१०९) । कर्षन्तीति कृष्टयः । 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० ३।३।१७४) इति क्तिच् । इयर्ति । 'ऋ सृ गतौ' (धा० जु० १६) । तिप् । शपः श्लुः । 'श्लौ' (पा० ६।१।१०) इति द्विर्भावः । अभ्यासस्य उरदत्वहलादिशेषौ (पा० ७।४।६६;६०) । 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (पा० ७।४।७७) इति अकारस्य इकारः । 'अभ्यासस्यासवर्णे' (पा० ६।४।७८) इति इयङादेशः । अङ्गस्य गुणो रपरत्वम् । ओजसा । 'उब्जेर्बलोपश्च' (उ० ४।६३१) इत्यसुन् । तत्संनियोगेन बकारलोपः । लघूपधगुणः (पा० ७।३।८६) । ईशानः । 'ईश ऐश्वर्ये' (धा० अ० १०) । लटः शानच् । 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक् । अप्रतिष्कुतः अप्रतिशब्दितः । 'कु शब्दे' (धा० अ० ३२) कर्मणि क्तः । पारस्करादित्वात्सुडागमः (पा० ६।१।१५७) । सुषामादित्वात् षत्वम् (पा० ८।३।९८) । नञ्समासः ।

स्कन्दः—वृषा वर्षितेन्द्रः यूथेव वंसगः । वंसगो वृषभ उच्यते । वननीयगमनत्वात् । स यथा गोयूथानि प्रति तद्वत् । कृष्टीः यष्टॄन् शत्रून् वा मनुष्यान्प्रति इयर्ति । गतिकर्मायम् । गच्छति ओजसा स्वबलेन ईशानः सर्वस्येश्वरः अप्रतिष्कुतः अप्रत्यागतो युद्धे नियुञ्जानः अन्येनाप्रत्यभियुक्तपूर्वं इत्यर्थः ॥ ८ ॥

६९ य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति ।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ ९ ॥
यः । एकः । चर्षणीनाम् । वसूनाम् । इरज्यति ।
इन्द्रः । पञ्च । क्षितीनाम् ॥ ९ ॥

Indra, who alone rules over men, over riches and over the five (classes) of the dwellers on earth.

(यः) जो (इन्द्रः) इन्द्र-देवता (एकः) अकेले ही (चर्षणीनाम्) मनुष्यों पर, (वसूनाम्) धनों पर तथा (पञ्च) पांच (क्षितीनाम्) निवासयोग्य जातियों पर (इरज्यति) शासन करते हैं ।

सायणः—यः इन्द्रः स्वयम् एकः एव चर्षणीनां मनुष्याणाम् इरज्यति ईष्टे; तथा वसूनां धनानाम् इरज्यति स इन्द्रः पञ्च निषादपञ्चमानां क्षितीनां निवासार्हाणां वर्णानामनुग्रहीतेति शेषः । एकः । 'इण् गतौ' (धा० अ० ३५) । 'इणभीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' (उ० ३।४३) इति कन् । बाहुलकात् कलोपाभावः । वसूनाम् । 'नित्' इत्यनुवृत्तौ 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च' (उ० १।१०) इति उप्रत्ययः । इरज्यति । कण्ड्वादिषु 'इरज् ईर्ष्यायाम्' । अत्र ऐश्वर्यार्थः । 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (पा० ३।१।२७) । पञ्च । 'पचि व्यक्तीकरणे' (धा० भ्वा० १७४) । 'पचेश्च' इति कनिन् ।

स्कन्दः—य एकः एक एव चर्षणीनां मनुष्याणां ब्राह्मणादीनां वसूनां धनानां च इरज्यति । ऐश्वर्यकर्मायम् । ईष्टे इन्द्रः । पञ्च, षष्ठ्यर्थे प्रथमैषा पञ्च क्षितीनां मनुष्यजातीनां, गन्धर्वाः पितरो देवा इत्येतासाम् । यच्छन्दश्श्रुतेस्तच्छन्दमध्याहृत्यैकवाक्यतां नेयम् ॥ ९ ॥

७० इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ १० ॥
इन्द्रम् । वः । विश्वतः । परि । हवामहे । जनेभ्यः ।
अस्माकम् । अस्तु । केवलः ॥ १० ॥

We invoke for you, Indra, who is everywhere among men : May he be exclusively our own.

[हे यजमानो !] (वः) तुम्हारे लिए (विश्वतः) सभी (जनेभ्यः) मनुष्यों के (परि) ऊपर स्थित (इन्द्रम्) इन्द्र को (हवामहे) हम बुलाते हैं; (केवलः) वे इन्द्र केवल (अस्माकम्) हम लोगों के ऊपर [कृपालु] (अस्तु) रहें ।

सायणः—हे ऋत्विग्यजमानाः विश्वतः सर्वेभ्यो जनेभ्यः परि उपरि अवस्थितम् इन्द्रं वः युष्मदर्थं हवामहे आह्वयामः। अतः स इन्द्रः अस्माकं केवलः असाधारणः अस्तु। इतरेभ्योऽप्यधिकमनुग्रहमस्मासु करोत्वित्यर्थः। इन्द्रम्। रन्प्रत्ययान्तो नित्वादाद्युदात्तः। वः। 'अनुदात्तं सर्वम्०' इत्यनुवृत्तौ 'बहुवचनस्य वस्नसौ' (पा० ८।१।२१) इति वस्। विश्वतस्परि। संहितायां 'पञ्चम्याः परावध्यर्थे' (पा० ८।३।५१) इति विसर्जनीयस्य सत्वम्। हवामहे। ह्वेञः शपि 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति संप्रसारणपरपूर्वत्वे। गुणावादेशौ। जनेभ्यः जन्यन्त इति जनाः। जनयतेः कर्मणि घञ्। 'जनिवध्योश्च' (पा० ७।३।३५) इति उपधाया वृद्ध्यभावः।

स्कन्दः—वः इति तादर्थ्ये चतुर्थी। यजमानप्रतिनिर्देशश्च। हे यजमानाः। इन्द्रं युष्मदर्थं विश्वतः सर्वेभ्यः परिहवामहे। परिशब्दो धात्वर्थानुवादी पदपूरणः। आह्वयामः। जनेभ्यः। 'पञ्चजना विवस्वन्तः' (निघ० २।३) इति मनुष्यनामसु पाठान्मनुष्यनामैतत्। अन्येभ्यो मनुष्येभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः। षष्ठ्यर्थे प्रथमैषा। अस्माकं केवलानामस्तु। अन्येषां मा भूत्। कः ? सामर्थ्यात् स्तुत्यो यष्टव्यश्च ॥ १० ॥

(८) अष्टमं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता ।

७१ एन्द्र॑ सान॒सिं र॒यिं स॒जित्वा॑नं सदा॒सह॑म् ।
वर्षि॑ष्ठमू॒तये॑ भर ॥ १ ॥

आ । इ॒न्द्र॒ । सा॒न॒सिम् । र॒यिम् । स॒ऽजित्वा॑नम् । स॒दा॒ऽसह॑म् ।
वर्षि॑ष्ठम् । ऊ॒तये॑ । भ॒र॒ ॥ १ ॥

Indra, bring for our protection riches, most abundant, enjoyable, the source of victory, the humbler of our foes.

(इन्द्र) हे इन्द्रदेव ! (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये [आप] (सानसिं) उपभोग्य, (सजित्वानं) अपने सदृश शत्रुओं पर विजय दिलाने वाला, (सदासहं) निरन्तर शत्रुओं को परास्त करने वाला तथा (वर्षिष्ठं) सबसे अधिक मात्रा में विद्यमान (रयिम्) धन (आ भर) ले आइये ।

सायणः—हे इन्द्र ऊतये अस्मद्रक्षार्थं रयिं धनम् आ भर आहर । कीदृशं रयिम् ? सानसिं संभजनीयम् । सजित्वानं समानशत्रुजयशीलम् । धनेन हि शूरान्भृत्यान् संपाद्य शत्रवो जीयन्ते । सदासहं सर्वदा शत्रूणामभिभवहेतुम् । वर्षिष्ठम् अतिशयेन वृद्धं प्रभूतमित्यर्थः ॥ सानसिम् । 'वन षण संभक्तौ' (धा० भ्वा० ४६५) इत्यस्मादसिप्रत्ययो वृद्धिः अन्तोदात्तत्वं च 'सानसिधर्णसि०' (उ० ४।५४७) इत्यादिना निपात्यते । सजित्वानम् । समानान् अरीन् जेतुं शीलमस्य । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति क्वनिप् । उपपद-समासः । 'समानस्य च्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा० ६।३।८४) इति समानस्य सभावः । वर्षिष्ठम् । वृद्धशब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० ५।३।५५) इति इष्ठन् । 'प्रियस्थिर०' (पा० ६।४।१५७) इत्यादिना वृद्धशब्दस्य वर्षादेशः । ऊतये । 'उदात्तः'इत्यनुवृत्तौ 'ऊतियूतिजूतिसाति०' इत्यादिना क्तिन् उदात्तो निपातितः । भर । 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० ३।१।८४ वा०) इति हकारस्य भकारः । 'ते प्राग्धातोः' (पा० १।४।८०) इति धातोः प्राक् प्रयोक्तव्यस्य आङः 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२) इति छन्दसि व्यवहितप्रयोगः ।

स्कन्दः—आ इत्युपसर्गो भरेत्यनेनाख्यातेन संबध्यते । हे इन्द्र सानसिम् । वन षण संभक्तौ । संभजनीयं रयिं धनम् । सजित्वानं सहभूतानामपि शत्रूणां

जेतारम् । सदासहम् । षह मर्षणे अभिभवे छन्दसि । सर्वदा चाभिभवितृ । वर्षिष्ठं वृद्धतमम् अत्यन्तबहु । ऊतये तर्पणायास्माकम् । आभर आनय । देहीत्यर्थः ॥१॥

७२ नि येन॑ मुष्टिह॒त्यया॒ नि वृ॒त्रा रु॒णधा॑महै ।
त्वोता॑सो॒ न्यर्व॑ता ॥ २ ॥

नि । येन॑ । मु॒ष्टि॒ऽह॒त्यया॑ । नि । वृ॒त्रा । रु॒णधा॑महै ।
त्वाऽऊ॑तासः । नि । अर्व॑ता ॥ २ ॥

By which we may repel our enemies, whether (encountering them) hand to hand, or on horse-back; ever protected by thee.

(येन) जिस धन से [उपार्जित योद्धाओं के द्वारा] (नि मुष्टिहत्यया) खूब मुष्टि-प्रहार करके (वृत्रा) शत्रुओं को [हम] (नि रुणधामहै) रोक दें [हे इन्द्र, ऐसा ही धन दीजिये ।] (त्वा ऊतासः) आपके द्वारा सुरक्षित होकर (अर्वता) घोड़े पर चढ़कर भी (नि-रुणधामहै) हम उसे रोक सकें । [युद्ध चाहे पैदल हो या घोड़े पर, हम सफल रहें ।]

सायणः—येन धनेन संपादितानां भटानां नि मुष्टिहत्यया नितरां मुष्टिप्रहारेण वृत्रा शत्रून् नि रुणधामहै निरुद्धान् करवाम तादृशं धनमाहरेत्यर्थः । त्वोतासः त्वया रक्षिता वयम् अर्वता अस्मदीयेनाश्वेन नि रुणधामहै इत्यनुषङ्गः । पदातियुद्धेनाश्वयुद्धेन च शत्रून् विनाशयाम इत्यर्थः । मुष्टिहत्यया । 'हनस्त च' (पा० ३।१।१०८) इति सुबन्ते उपपदे क्यप् । तत्संनियोगेन नकारस्य तकारः । नि । आख्यातसंबन्धस्यापि नेरुपसर्गस्य 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२) इति व्यवहितप्रयोगः । वृत्रा । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) इति शेर्लोपः । नलोपः । रुणधामहै । आट्संयोगेन पित्त्वात् (पा० ३।४।९२) 'श्नसोरल्लोपः' (पा० ६।४।१११) इति अकारलोपो न भवति ।···त्वया ऊता रक्षिताः त्वोतासः । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (पा० ७।२।९८) इति मपर्यन्तस्य त्वादेशे दकारलोपश्छान्दसः । अवतेः निष्ठायामिडभावश्च । 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (पा० ६।४।२०) इति ऊठ् । 'एत्येधत्यूठ्सु' (पा० ६।१।८९) इति वृद्ध्यभावश्छान्दसः । अर्वता । अर्वति गच्छति इत्यर्वा । 'अर्व गतौ' (धा० भ्वा० ५८५)। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति वनिप् प्रत्ययः । 'नेड्वशिकृति' (पा० ७।२।८) इति इट्प्रतिषेधः । 'लोपो व्योर्वलि' (पा० ६।१।६६) इति वकारलोपः । 'अर्वणस्त्रसावनञः' (पा० ६।४।१२७) इति तकारः । वनिपः पित्त्वाद् धातुस्वर एव ।

स्कन्दः—किं कुरुथ । उच्यते । नि येन । नीत्युपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियापदा-

व्याहारः। नियतेन। येन धनेन। मुष्टिहत्यया। हन्तिर्गत्यर्थः। मुष्टेर्गमनेन उपांशुपरादानेनेत्यर्थः। वृत्रा शत्रून्। निरुणधामहै अपकर्तुं प्रवृत्तानि वारयाम त्वोतासः त्वया पालिताः सन्तः। न्युपसर्गाभ्यासात् तत्संबन्धिनो रुणधामहै इत्याख्यातस्याप्यभ्यासः।···कीदृशेन ? अर्वता। अश्वनामैतत्। सामर्थ्यादन्तर्हितमत्वर्थः। अर्वता अश्वसंसक्तेन। अथवा अर्वतेर्गतिकर्मण एतद् रूपम्। आत्मनि गतेन स्वायत्तेनेत्यर्थः॥ २॥

७३ इन्द्र॒त्वोता॑स॒ आ व॒यं वज्रं॑ घ॒ना द॑दीमहि।
जये॑म॒ सं यु॒धि स्पृधः॑॥ ३॥
इन्द्र॑। त्वाऽऊ॑तासः। आ। व॒यम्। वज्र॑म्। घ॒ना। द॒दी॒म॒हि॒।
जये॑म। सम्। यु॒धि। स्पृधः॑॥ ३॥

Defended by thee, Indra, we possess a ponderous weapon, where with we may entirely conquer our opponents.

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता! (त्वा ऊतासः) आपके द्वारा सुरक्षित होकर (वयं) हम लोग (घना) अत्यन्त दृढ़ (वज्रम्) वज्र-नामक आयुध (आ ददीमहि) स्वीकार करते हैं; [उससे] (युधि) युद्ध में (स्पृधः) स्पर्धा करने वाले शत्रुओं को (संजयेम) हम जीत लें॥ ३॥

सायणः—हे इन्द्र त्वोतासः त्वया पालिताः वयं घना घनं शत्रुप्रहरणायात्यन्तदृढं वज्रम् आयुधम् आ ददीमहि स्वीकुर्मः। तेन च वज्रेण युधि युद्धे स्पृधः स्पर्धमानान् शत्रून् सं जयेम सम्यक् जयेम॥ वज्रम्। 'वज व्रज गतौ' (धा० भ्वा० २५३)। 'ऋज्रेन्द्राग्र०' (उ० २।१८६) इत्यादिना रन्प्रत्ययान्तो निपातः। घना। घनः काठिन्यम्। तदस्यास्तीति अर्शआदित्वात् अच् (पा० ५।२।१२७)। 'सुपां सुलुक्०' इति डादेशः। ददीमहि। 'डुदाञ् दाने' (धा० जु० ९)। प्रार्थनायां लिङ्। क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वात् 'स्वरितञितः०' (पा० १।३।७२) इत्यात्मनेपदोत्तमपुरुषबहुवचनं महिङ्। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः (पा० २।४।७५)। 'श्लौ' (पा० ६।१।१०) इति द्विर्भावः। 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (पा० ७।२।७९) इति सलोपः। 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा० ६।४।११२) इति आकारलोपः। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० १।४।८१) इति समः परः प्रयोगः। युधि। 'युध संप्रहारे' (धा० दि० ६७)। संपदादित्वात् भावे क्विप् (पा० ३।३।१०८ वा०)। स्पर्धन्ते इति स्पृधः। 'स्पर्ध संघर्षे'। 'क्विप् च' (पा० ३।२।७६) इति क्विप्। 'बहुलं छन्दसि' इति रेफस्य संप्रसारणम् ऋकारः। अकारलोपश्च॥

स्कन्दः—इन्द्र त्वोतासः त्वया पालिता वयं त्वद्हस्ताद् वज्रं घना घनं सुवीरं हन्तृ वा शत्रूणाम् आददीमहि गृह्णीयाम। गृहीत्वा जयेम सं सम्यग् जयेम। युधि युद्धे कान्? स्पृधः स्पर्धितॄन्। अथवा स्पृध इति संग्रामनाम। तं करोति स्पृधयति। ण्यन्तात् क्विप्। स्पृधः संग्रामकारिण इत्यर्थः॥ ३॥

७४ वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्।
सासह्याम पृतन्यतः॥ ४॥
वयम्। शूरेभिः। अस्तृऽभिः। इन्द्र। त्वया। युजा।
सासह्याम। पृतन्यतः॥ ४॥

With the for our ally, Indra, and (aided by) missile-hurling heroes, we are able to overcome (our foes) arrayed in hosts.

(वयम्) हम लोग (शूरेभिः) शौर्य से भरे तथा (अस्तृभिः) अस्त्रों के प्रयोक्ता [योद्धाओं के साथ मिल जायँ।] (इन्द्र) हे इन्द्र-देवता! (वयम्) इस प्रकार योद्धाओं से युक्त होकर हम लोग (त्वया) आपसे (युजा) सहायता पाकर (पृतन्यतः) सेनाओं की इच्छा करने वाले शत्रुओं को (सासह्याम) दबा सकें, अभिभूत कर दें।

सायणः—वयं कर्मानुष्ठातारः शूरेभिः शौर्ययुक्तैः अस्तृभिः आयुधानां प्रक्षेप्तृभिर्भटैः संयुज्येमहीति शेषः। हे इन्द्र ताद्दशा भटसहिता वयं युजा सहायभूतेन त्वया पृतन्यतः सेनामिच्छतः शत्रून् सासह्याम अतिशयेनाभिभवेम॥ शूरेभिः। 'शु श्रु गतौ'। 'क्रन्' इत्यनुवृत्तौ 'शुसिचिमीनां दीर्घश्च' (उ० २।१८३) इति क्रन्। कित्वाद्गुणाभावः। 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) इति ऐसो निषिद्धत्वात् 'बहुवचने झल्येत्' (पा० ७।३।१०३) इति एत्वम्। सहयोगे तृतीयाबलात् (पा० २।३।१९) वयमित्यस्मत्पदसमभिव्याहाराच्च वयं संयुज्येमहीति गम्यम्। विनापि सहशब्देन 'वृद्धो यूना०' (पा० १।२।६५) इति निपातनादिति ह्युक्तम्। अस्तृभिः। शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणशीलैः तद्धर्मभिः तत्साधुकारिभिर्वा। 'असुक्षेपणे' (धा० दि० १०३)। 'तृन्' (पा० ३।२।१३५) इति ताच्छील्यादिषु तृन्। 'रधादिभ्यश्च' (पा० ७।२।४५) इति विकल्पविधानाद् अयं पक्षे इडभावः। त्वया। 'युष्यसिभ्यां मदिक्' (उ० १।१३६)। कित्वाद् गुणाभावः। युष्मदः प्रत्ययस्वरेण अकार उदात्तः। तृतीयैकवचनं टा (पा० ४।१।२)। 'त्वमावेकवचने' (पा० ७।२।९७) इति मपर्यन्तस्य त्वादेशः। 'अतो गुणे' (पा० ६।१।९७) इति पररूपत्वम्। युजा। '०अञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' (पा० ३।२।५९) इति क्विन्। सासह्याम। भृशं पुनः पुनः सहेमहि। 'षह-

मर्षणे' (धा० भ्वा० ८७७)। 'धात्वादेः षः सः' (पा० ६।१।६४)। 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (पा० ३।१।२२)। 'यङोऽचि च' (पा० २।४।७४) इति लुक्। 'सन्यङोः' (पा० ६।१।९) इति द्विर्भावः। हलादिशेषः (पा० ७।४।६०)। 'दीर्घोऽकितः' (पा० ७।४।८३) इति दीर्घः। प्रार्थनायां लिङ्। चर्करीतं परस्मैपदम् अदादिवच्च द्रष्टव्यमिति परस्मैपदोत्तमपुरुषबहुवचनं मस्। कर्तरि शप्। अदादिवद्भावाल्लुक्। 'नित्यं ङितः' (पा० ३।४।९९) इति अन्त्यसकारलोपः। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (पा० ३।४।१०३) इति यासुट्। 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (पा० ७।२।७९) इति सकारलोपः। सति शिष्टत्वात् यासुट एव उदात्तत्वं शिष्यते। पादादित्वात् न निघातः। पृतन्यतः। योद्धुं पृतनामात्मन इच्छतः। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० ३।१।८) इति क्यच्। 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा० ३।१।३२) इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (पा० २।४।७१) इति सुपो लुक्। 'क्यचि च' (पा० ७।४।३३) इत्यनुवृत्तौ 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० ७।४।३९) इति आकारलोपः। उपरि लटः शत्रादेशः। कर्तरि शप् ॥ ४ ॥

स्कन्दः—वयं शूरेभिः शूरैरास्मीयैर्मनुष्यैः अस्तृभिः। स्तृणातिः सामर्थ्याद् हिंसार्थः। अहिंसितैः। हे इन्द्र, त्वया च युजा सहायेन वयम्। सहयोगलक्षणतृतीयार्थे व्यत्ययेन प्रथमैषा पृतन्यत इत्यनेन संबध्यते। अस्माभिः सह पृतन्यतः संग्रामं कर्तुमिच्छतः सासह्याम अत्यर्थं पुनः पुनर्वा अभिभवेम ॥ ४ ॥

७५ म॒हाँ इन्द्रः॑ प॒रश्च॒ नु म॑हि॒त्वम॑स्तु व॒ज्रिणे॑।
द्यौर्न प्र॑थि॒ना शवः॑ ॥ ५ ॥

म॒हान्। इन्द्रः॑। प॒रः। च॒। नु। म॒हि॒ऽत्वम्। अ॒स्तु॒।
व॒ज्रिणे॑। द्यौः। न। प्र॒थि॒ना। शवः॑ ॥ ५ ॥

Mighty is Indra, and supreme; may megnitude ever (belong) to the bearer of thunderbolt, may his strong (armies) be ever vast as the heavens.

(इन्द्रः) ये इन्द्र-देव (महान्) शरीर से प्रौढ (परः च) और गुणों से उत्कृष्ट भी हैं; (नु) इसके अतिरिक्त (वज्रिणे) वज्रधारी इन्द्र की (महित्वम्) महिमा (अस्तु) सदा बनी रहे। (द्यौः न) द्युलोक की तरह (शवः) इन्द्र का बल (प्रथिना) महत्ता से [जुड़ा रहे] ॥ ५ ॥

सायणः—अयमिन्द्रः महान् शरीरेण प्रौढः परश्च गुणैरुत्कृष्टोऽपि। नु किंच वज्रिणे वज्रयुक्तायेन्द्राय महित्वं पूर्वोक्तं द्विविधमाधिक्यं सर्वदा अस्तु। स्वभाव-

सिद्धस्यापि भक्त्या प्रार्थनमेतत्। किंच। द्यौर्न द्युलोक इव शवः बलमिन्द्रस्य सेनारूपं प्रथिना प्रथिम्ना पृथुत्वेन युज्यतामिति शेषः। यथा द्युलोकः प्रभूत एवमस्य सेना प्रभूता। नुशब्दो यद्यपि क्षिप्रनामसु 'नु मक्षु' (निघ० २।१५) इति पठितस्तथाप्यत्र तस्यान्वयाभावात् निपातत्वेन अनेकार्थत्वसंभवाच्च समुच्चयार्थोऽत्र गृहीतः। नशब्दो लोके प्रतिषेधार्थं एव। स्वाध्याये तु प्रतिषेधार्थं उपमार्थश्च इति द्विविधः। येन पदेनान्वीयते तस्मात्पूर्वं प्रयुज्यमानः प्रतिषेधार्थः, उपरिष्टात् प्रयुज्यमान उपमार्थः। तथा च यास्क उदाहरति—'उभयमन्वध्यायम्। नेन्द्रं देवममंसतेति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति। दुर्मदासो न सुरायामित्युपमार्थीयः। उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते' (नि० १।४) इति। अत्रोपमेयवाचिनो द्युशब्दस्यपि प्रयुक्तत्वात् उपमार्थः स्वीकृतः। अष्टाविंशतिसंख्याकेषु बलनामसु (निघ० २।९) 'ओजः पाजः शवः' इति पठितम् ॥ महान् इति नकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) इति रुत्वम्। 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० ८।३।३) इति पूर्वस्य आकारस्य अनुनासिकः। 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा० ८।३।१७) इति यकारः। तस्य लोपः (पा० ८।३।१९)। तस्यासिद्धत्वात् (पा० ८।२।१) स्वरसन्धिर्न भवति। महेः इन् (उ० ४।५५७) इति औणादिक इन्। महेर्भावो महित्वम्। त्व इति प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। स एव शिष्यते। द्यौः। द्योशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः। 'गोतो णित्' (पा० ७।१।९०) इति विभक्तेर्णित्वात् 'अचोञ्णिति' (पा० ७।२।११५) इति वृद्धिः आन्तरतम्यात् उदात्तैव भवति। प्रथिना प्रथिम्ना। पृथोर्भाव इत्यर्थे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (पा० ५।१।१२२) इति इमनिच्। 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (पा० ६।४।१६१) इति ऋकारस्य रभावः। 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० ६।४।१५४) इत्यनुवृत्तौ 'टेः' (पा० ६।४।१५५) इति टिलोपः। प्रथिमन्-शब्दः चित्वादन्तोदात्तः। तृतीयैकवचने भत्वात् 'अल्लोपोऽनः' (पा० ६।४।१३४) इति अकारलोपः। छान्दसो मकारलोपः ॥ ५ ॥

स्कन्दः—इन्द्रो महान् शरीरेण परश्च उत्कृष्टश्च सर्वतो गुणैः। नु इति पदपूरणः। महित्वं महत्वं चैतत् सर्वदा अस्तु वज्रिणे इन्द्राय इत्येतद् इन्द्राया-शास्महे। द्यौर्न। नशब्द उपरिष्टादुपचारः सर्वत्रोपमायां, द्युलोक इव च। प्रथिना प्रतिम्ना विस्तीर्णत्वेन। शवः इन्द्रस्य बलं सेनालक्षणं, यथा द्यौर्विस्तीर्णा तद्वद् विस्तीर्णमित्यर्थः ॥ ५ ॥

७६ स॒मो॒हे वा॒ य आश॑त॒ नर॑स्तो॒कस्य॒ सनि॑तौ।

विप्रा॑सो वा धियाय॒वः॑ ॥ ६ ॥

सम्ऽओहे । वा । ये । आशत । नरः । तोकस्य । सनितौ ।
विप्रासः । वा । धियाऽयवः ॥ ६ ॥

Whatever men have recourse to Indra in battle, or for the acquirement of offspring, and the wise who are desirous of understanding, (obtain their desires).

(ये) जो (नरः) मनुष्य [इन्द्र को] (समोहे) संग्राम में (वा) अथवा (तोकस्य) सन्तान की (सनितौ) प्राप्ति के लिए अथवा (धियायवः) प्रज्ञा की कामना से युक्त (विप्रासः) जो मेधावी लोग (आशत) अपनी स्तुतियों से परिपूर्ण कर देते हैं [वे सभी अपने अभीष्ट की प्राप्ति करते हैं ।]

सायणः—ये नरः पुरुषाः समोहे संग्रामे तोकस्य अपत्यस्य सनितौ वा लाभे वा आशत व्याप्तवन्तः । इन्द्रं स्तुत्येति शेषः । वा अथवा विप्रासो मेधाविनः धियायवः प्रज्ञाकामाः सन्तः आशत ते सर्वे लभन्ते इत्यध्याहारः । 'रणः' इत्यादिषु षट्चत्वारिंशत्संग्रामनामसु (निघ० २।१७) 'समोहे समिथे' इति पठितम् । पञ्चदशस्वपत्यनामसु (नि० २।२) 'तुक् तोकम्' इति पठितम् ॥ आशत । 'अशू व्याप्तौ' (धा० स्वा० १८)। छान्दसः च्लेर्लोपः । आडागम उदात्तः (पा० ६।४।७२)। सति शिष्टत्वेन स एव शिष्यते । सनितौ । स्त्रियां क्तिन् । 'तितुत्रेष्वग्रहादीनाम्' (पा० ७।२।९ वा०)। निगृहीतिः निपठितिः इतिवत् इडागमः । विप्रासः । 'ऋज्रेन्द्र०' (उ० २।१८६) इत्यादिना विप्रशब्दो रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । धियायवः । 'धि धारणे' (धा० तु० १२६)। धीयते धार्यतेऽवबुध्यते श्रुतमर्थजातम् अनया इति धिया प्रज्ञा । तामात्मन इच्छन्तीति क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' (पा० ३।२।१७०) इति उप्रत्ययः । अतो लोपः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥ ६ ॥

स्कन्दः—समोहे इति संग्रामनाम । वाशब्दार्थः समुच्चयः । परापेक्षया च समुच्चयः संग्रामेषु च आशत व्याप्नुवन्ति । कम् ? प्रकरणाद् इन्द्रम् । केन सामर्थ्यात् स्तुतिभिः । इन्द्रं स्तुवन्तीत्यर्थः । नरः मनुष्याः । तोकस्य । अपत्यनामैतत् । अपत्यस्य च । सनितौ संभक्तौ लाभे । विप्रासः मेधाविनः । वा धियायवः । वा शब्दः परस्ताद् द्रष्टव्यः । धियायवो वा प्रज्ञाकामाश्चेत्यर्थः । किं तेषामिति साकाङ्क्षत्वाद् वाक्यस्य निराकाङ्क्षीकरणार्थं तेषां यथास्वमभिलषितं लभन्त इति वाक्यशेषः । अथवा समोहे वा य इत्यत्रैव यच्छ्रुतेरेतद्देशयोग्यार्थाध्याहारः, तच्छब्दाध्याहारश्च । संग्रामे ये इन्द्रं स्तुवन्ति, ते आशत व्याप्नुवन्ति मनुष्याः । के ? सामर्थ्यात् तत्र यजन्तः तोकस्य सनितौ धियायवश्च प्रज्ञाः ॥ ६ ॥

७७ यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते ।
उर्वीरापो न काकुदः ॥ ७ ॥
यः । कुक्षिः । सोमऽपातमः । समुद्रःऽइव । पिन्वते ।
उर्वीः । आपः । न । काकुदः ॥ ७ ॥

The belly of Indra, which quaffs the some juice abundantly, swells like the ocean, (and is ever) moist, like the ample fluids of the palate.

[इन्द्र का] (यः कुक्षिः) जो उदर (सोमपातमः) सर्वाधिक सोम पी सकता है, वह (समुद्रः वह) सागर की तरह (पिन्वते) बढ़ता ही जाता है; जिस तरह (काकुदः) मुख मे स्थित या तालु से संबद्ध (उर्वीः) प्रचुर परिमाण में निकलने वाला (आपो न) जल अर्थात् लार [कभी नहीं सूखती, उसी तरह इन्द्र का उदर भी सूखता नहीं] ॥ ७ ॥

सायणः—यः कुक्षिः अस्येन्द्रस्योदरप्रदेशः सोमपातमः अतिशयेन सोमस्य पाता स कुक्षिः समुद्र इव पिन्वते वर्धते । सेचनार्थो धातुः औचित्येन वृद्धिं लक्षयति । काकुदः मुखसंबन्धिन्यः उर्वीः बह्व्यः आपो न जलानीव । जिह्वासंबन्धमास्योदकं यथा कदाचिदपि न शुष्यति तथेन्द्रस्य कुक्षिः सोमपूरितो न शुष्यतीत्यर्थः । यद्यपि 'श्लोकः' इत्यादिषु पञ्चाशत्सु वाङ्नामसु (निघ० १।११) 'काकुत् जिह्वा' इति पठितं तथापि उदकसंबन्धसिद्ध्यर्थमत्र काकुच्छब्देन मुखमुपलक्ष्यते । संबन्धवाचिनस्तद्धितस्यात्र छान्दसो लोपो द्रष्टव्यः ॥ सोमपातमः । सोमं पिबतीति सोमपाः । आकारो धातुस्वरेणोदात्तः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण स एव शिष्यते । तमपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । (समुद्र इव ।) 'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' । पिन्वते । 'पिवि सेचने' । 'इदितो नुम् धातोः' (पा० ७।१।५८) इति नुमागमः । उर्वीः । 'वोतो गुणवचनात्' (पा० ४।१।४४) इति ङीष् । यणादेशः ॥ ७ ॥

स्कन्दः—यः इन्द्रस्यावयवभूतः कुक्षिः आकारैकदेशः । सोमपातमः अतिशयेन सोमानां पाता । यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः । स समुद्र इव पिन्वते । पिविरिह सेचने । कर्मणि चायं व्यत्ययेन । यथा नदीभिः समुद्रस्तद्वत् पिन्वते सिच्यते अस्माभिः । केन ? सामर्थ्यात् सोमेन । उर्वीरापो न । द्वितीयेयमुपमा । तृतीयार्थे चात्र प्रथमा । बह्वीभिरद्भिरिव च । काकुदः । काकुदं तालुइत्याचक्षते । व्यत्ययेन चात्र पुंल्लिङ्गता । यथा तृषितस्य कस्यचिद् बह्वीभिरद्भिस्तालु सिच्यते, तद्वच्चेत्यर्थः । केचित्तु वारुणं काकुदमत्रोपमानमित्याहुः । तद्धि अतिशयेन बह्वीभिः सिच्यते वरुणस्यापामधिदैवतत्वात् ॥ ७ ॥

७८ एवाह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही ।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ८ ॥
एव । हि । अस्य । सूनृता । विऽरप्शी । गोऽमती । मही ।
पक्वा । शाखा । न । दाशुषे ॥ ८ ॥

Verily the words of Indra to his worshipper are true, manifold cow-conferring, and to be held in honour, (they are) like branch (loaded with) ripe (fruit).

(एव हि) उसी प्रकार (अस्य) इन इन्द्रदेवता की (दाशुषे) यजमान के लिए [दी जाने वाली] (सूनृता) प्रिय और सत्य वाणी (विरप्शी) विविध स्पष्ट वाक्यों से युक्त, (गोमती) गायों का प्रदान करनेवाली तथा (मही) सम्मान्य, पूज्य है, जिस प्रकार (पक्वा) पके फलों से भरी-पूरी (शाखान) किसी वृक्ष की शाखा ॥ ८ ॥

सायणः—अस्य इन्द्रस्य सूनृता प्रियसत्यरूपा वाक् दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तदर्थम् एवा हि एवं खलु अनन्तरपदवक्ष्यमाणगुणोपेता भवतीत्यर्थः । कीदृशी । विरप्शी विविधरपणोपेतवाक्ययुक्ता बहुविधोपचारवादिनीत्यर्थः । गोमती बह्वीभिर्गोभिरुपेता गोप्रदेत्यर्थः । अत एव मही महती पूज्या । यथोक्तवाचो दृष्टान्तः । पक्वा शाखा न । यथा बहुभिः पक्वैः फलैरुपेता पनसवृक्षादिशाखा प्रतिहेतुस्तद्वत् । यद्यपि महन्नामसु (निघ० ३।३) 'बाधन् विरप्शी' इति पठितम्, तथाप्यत्र मही इत्यनेन पुनरुक्तिप्रसंगात् अवयवार्थो गृहीतः ॥ एव । 'एवमादीनामन्तः' (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तः । संहितायां 'निपातस्य च' (पा० ६।३।१३६) इति दीर्घः । अस्य । प्रकृतस्येन्द्रस्य परामर्शात् 'इदमोऽन्वादेशे०' (पा० २।४।३२) इत्यादिना अशादेशोऽनुदात्तः इति सर्वानुदात्तः । सूनृता । 'ऊन परिहाणे' (धा० चु० ३५६) । सुतरामूनयति अप्रियमिति सून् । सा चासौ ऋता सत्या चेति सूनृता प्रियसत्या वाक् । 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।२।१९९) इति ऋकार उदात्तः । विरप्शी । विचित्रं रपणं विरप् । 'रप लप व्यक्तायां वाचि' (भ्वा० ४२९) । संपदादित्वात् भावे क्विप् । तदेषामस्तीति विरप्शानि वाक्यानि । तानि यस्यां वाचि सन्ति सा वाक् विरप्शिनी । 'अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५) इति इनिः । 'यस्येति च' (पा० ६।४।१४८) इति अकारलोपः । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० ४।१।५) इति ङीप् । नकारलोपश्छान्दसः । गावोऽस्यां सन्तीति गोमती । मतुब्ङीपौ पित्वादनुदात्तौ । प्रातिपदिकस्वर एव शिष्यते । मही महती । 'उगितश्च' (पा० ४।१।६) इति ङीप् । अच्छब्दलोपश्छान्दसः । पक्वा । 'डुपचष् पाके' (धा० भ्वा० १०२१) ।

'निष्ठा' (पा० ३।२।१०२) इति क्तप्रत्ययः । 'पचोवः' (पा० ८।२।५२) इति वत्वम् । 'चोः कुः' (पा० ८।२।३०) इति कुत्वम् । टापा सह सवर्णदीर्घः । शाखा । 'शाखृ श्लाखृ व्याप्तौ' (धा० भ्वा० १२६) । पचाद्यच् । दाशुषे । 'दाशृ दाने' (धा० भ्वा० ९०७) । 'दाश्वान्सह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० ६।१।१२) इति निपातनात्क्वसौ इडभावो द्विर्वचनाभावश्च । चतुर्थ्येकवचने 'यचि भम्' (पा० १।४।१८) इति भसंज्ञायां 'वसोः संप्रसारणम्' (पा० ६।४।१३१) इति संप्रसारणं वकारस्य उकारः । परपूर्वत्वम् । 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।३।६०) इति षत्वम् ।

स्कन्दः—एवशब्दः एवमित्यस्यार्थे 'पक्वा शाखा न' इत्येतस्माच्च परो द्रष्टव्यः । हिशब्दस्तु पदपूरणः । अस्य इन्द्रस्य सूनृता सर्वकामधुक् । इन्द्रस्य स्वभूता धेनुः सूनृतात्रोच्यते । सा विरप्शी । 'रप लप व्यक्तायां वाचि' इत्यस्य क्रियाशब्दोऽयम् । न महन्नामैतत् । महीत्यन्यस्यात्र महन्नाम्नो विद्यमानत्वात् सूनृतासामानाधिकरण्याच्च अस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाद् विरप्शिने वज्रिणे इत्यादि-प्रयोगदर्शनाच्च इप्रत्ययान्तस्य महन्नामसु पाठात् । विरपणशीला शब्दकारिणी । गोमती । 'अथापि तद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (नि० २।५) इत्येवं पयः अत्र गोशब्देनोच्यते । 'गोभिः श्रीणीत' (ऋ० सं० ९।४६।४; निरुक्ते २।५ उदाहृतम्) इति यथा । पयस्वती । मही महती । पक्वा शाखा न एव । पक्वानि फलानि यस्याः सा शाखैव पक्वेत्युच्यते । नशब्दश्चोपमार्थीयः अन्यत्रोपमानोपमे-यगतधर्मप्रतिनिर्देशार्थयोः 'यथा एवम्' इत्येतयोरप्यर्थे वर्तते । अग्निं न ये यथा······भ्राजसा रुक्मवचस इत्यर्थः । इह त्वेवशब्दस्य श्रुतत्वाद् यथाशब्दो-मात्रार्थे । उपमानोपमेययोश्च सूनृतयोः साधारणधर्मापेक्षत्वात् तत्संबन्धयोग्यप-दाध्याहारः । यथा पक्वा शाखा रसबिन्दुस्त्यैव चरति । किम् । सामर्थ्यात् पयः सर्वकामान् । पयस्वती हि सा सर्वकामधुक् । कस्मै चरति ? दाशुषे षष्ठ्यर्थे एषा चतुर्थी । दाशुषे यजमानस्यार्थस्य । अथवा सूनृता गर्जितलक्षणा वाक् । गोमती माध्यमिका । आपोऽत्र गाव उच्यन्ते । 'यस्य गा अन्तरश्मनः' (ऋ० सं०) इति यथा । तद्वती । सा च पक्वेव शाखा चरति । किम् । सामर्थ्याद् पयः दधते ॥ ८ ॥

७९ ए॒वा हि ते॒ विभू॑तय ऊ॒तय॑ इन्द्र॒ माव॑ते ।
स॒द्यश्चि॒त्सन्ति॑ दा॒शुषे॑ ॥ ९ ॥

ए॒व । हि । ते॒ । वि॒ऽभू॑तयः । ऊ॒तय॑ः । इ॒न्द्र॒ । मा॒ऽव॑ते ।
स॒द्यः । चि॒त् । सन्ति॑ । दा॒शुषे॑ ॥ ९ ॥

Verily, Indra, thy glories are at all times the protectors of every such worshipper as I am.

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते) आपकी (विभूतयः) विभूतियाँ अर्थात् ऐश्वर्यशक्तियाँ (एवा हि) इस प्रकार की हैं कि (मावते) मेरे सदृश (दाशुषे) दानकर्ता यजमान के लिए तो (सद्यः चित्) ठीक उसी समय (ऊतयः सन्ति) रक्षक बन जाती हैं ॥ ९ ॥

सायणः—हे इन्द्र ते तव विभूतयः ऐश्वर्यविशेषाः एवा हि एवंविधाः खलु। किंविधा इति तदुच्यते। मावते मत्सदृशाय दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय ऊतयः त्वदीयरक्षारूपाः सद्यश्चित् सन्ति। यदा कर्म अनुष्ठितं तदैव भवन्ति॥ मावते मत्सदृशाय। 'वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्' (पा० ५।२।३९ वा०) इति अस्मच्छब्दाद् वतुप्। मपर्यन्तस्य 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (पा० ७।२।९८) इति मादेशः। अद्शब्देन सह 'अतो गुणे' (पा० ६।१।९७) इति पररूपत्वम्। 'दृग्दृशवतुषु' (पा० ६।३।८९) इत्यनुवृत्तौ 'आ सर्वनाम्नः' (पा० ६।३।९१) इति दकारस्य आकारः। सवर्णदीर्घत्वम्। सद्यः। समाने द्यवि इत्यर्थे 'सद्यः परुत्परार्यैषमः' (पा० ५।३।२२) इत्यादिना निपातितम्। सन्ति। 'अस भुवि' (धा० अ० ५५)। लटः स्थाने झि। 'झोऽन्तः' (पा० ७।१।३)। 'आदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक्॥ ९ ॥

स्कन्दः—एवेत्येवमर्थे प्रकृते सूनृतापेक्षश्च। हीति पदपूरणः। यथैवं ते तव स्वभूता विभूतयः ऐश्वर्याणि ऊतयः पालनानि च, हे इन्द्र, मावते सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे। माशब्दोऽत्र मच्छब्दे। प्रथाच्छन्द इति छन्दःशब्दसामानाधिकरण्याच्छन्दोविशेषवचनः। तद्वान्, मावान्। मत्सदृशो वा। 'वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्' इति। मावते दाशुषे इति चोभयत्र तादर्थ्ये चतुर्थी। चिच्छब्द एवार्थे। छन्दोविशेषवतो मत्सदृशस्य वा यजमानस्यार्थाय। सन्ति भवन्ति। यदैव मत्सदृशो यजमानः स्वार्थायार्थयते, तदैव सदर्था भवन्ति॥ ९ ॥

८० एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या।
इन्द्राय सोमपीतये॥ १०॥

एवा। हि। अस्य। काम्या। स्तोमः। उक्थम्। च।
शंस्या। इन्द्राय। सोमऽपीतये॥ १०॥

Verily his chanted and recited praises are to be desired and repeated to Indra, that he may drink the Soma-juice.

(एवाहि) इसी प्रकार (अस्य) इन इन्द्र-देवता की (स्तोमः) साम-संबन्धी स्तुतियाँ (उक्थं च) और ऋक्-संबन्धी स्तुतियाँ भी (सोमपीतये) सोमरस पीनेवाले (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (काम्या) अभीष्ट तथा (शंस्या) ऋत्विजों के द्वारा स्तवनीय हैं ॥ १० ॥

सायणः—अस्य इन्द्रस्य स्तोमः सामसाध्यं स्तोत्रम् उक्थं च ऋक्साध्यं शास्त्रमपि एवा हि एते उभे एवंविधे खलु। किंविधे इति तदुच्यते। काम्या कामयितव्ये शंस्या ऋत्विग्भिः शंसनीये। किमर्थं शंसनमिति तदुच्यते। इन्द्राय सोमपीतये इन्द्रस्य सोमपानार्थम् ॥ काम्या। कमेर्णिङन्तात् 'अचो यत्' (पा० ३।१।९७) 'णेरनिटि' (पा० ६।४।५१) इति णिलोपः। सुपो डादेशः। स्तोमः। 'अर्तिस्तुसु०' (उ० १।१३७) इत्यादिना मन्प्रत्ययः। उक्थम्। 'वच परिभाषणे' (धा० अ० ५३)। 'पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्' (उ० २।१६४) इति थक्। किरवात्संप्रसारणम्। परपूर्वत्वगुणाभावौ। शंस्या। 'शंसु स्तुतौ' (धा० भ्वा० ७२९)। ण्यन्तात् 'अचो यत्'। सुपो डादेशः। सोमस्य पीतिः सोमपीतिः। अथवा सोमस्य पीतिर्यस्येन्द्रस्य इति सोमपीतिरिन्द्रः 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ १० ॥

स्कन्दः—......तदैव आत्मीयः स्तोम उक्थं च स्तोत्रं च शस्त्रं च शंस्या आ समाप्तेः शंसनीये। अस्मा एवेन्द्राय सोमपीतये सोमाप्त्युत्तरकालं कथमयमिन्द्रः सोमं पिबेदित्येवमर्थमित्यर्थः ॥ १० ॥

(९) नवमं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता ।

८१ इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ १ ॥

इन्द्र । आ । इहि । मत्सि । अन्धसः । विश्वेभिः । सोमऽ-
पर्वभिः । महान् । अभिष्टिः । ओजसा ॥ १ ॥

Come, Indra, and be glad with all libations of Soma-juice, and then, mighty in strength, be victorious (over thy foes).

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता, (आ इहि) आप आइये तथा (सोमपर्वभिः) सोमरस के रूप में दिये गये (विश्वेभिः) इन सभी (अन्धसः) अन्नों अर्थात् हव्य पदार्थों से (मत्सि) प्रसन्नता प्राप्त कीजिये; (ओजसा) अपने बल के कारण [आप] (महान्) बड़े और (अभिष्टिः) शत्रुओं को पराजित करने वाले भी हैं ॥ १ ॥

सायणः—हे इन्द्र एहि अस्मिन् कर्मण्यागच्छ । आगत्य च विश्वेभिः सर्वैः सोमपर्वभिः सोमरसरूपैः अन्धसः अन्धोभिः अन्नैः मत्सि माद्य हृष्टो भव । तत ऊर्ध्वम् ओजसा बलेन महान् भूत्वा अभिष्टिः शत्रूणामभिभविता भवेति शेषः । अष्टाविंशतिसंख्याकेषु बलनामसु (निघ० २।९) 'ओजः पाजः' इति पठितम् ॥ आ इहि । 'आद्गुणः' (पा० ६।१।८७)। इन्द्र एहि । यो ह्युभयोः स्थाने लभतेऽसावन्यतरव्यपदेशम् इति आङ्आङोः एकादेशस्य आङ्व्यपदेशात् । 'ओमाङोश्च' (पा० ६।१।९५) इति पररूपम् । मत्सि माद्य । 'मदी हर्षग्लेपनयोः' (धा० दि० १०२)। लोटः सिप् । 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' (परिभा० ३५) इति सेर्हिरादेशः (पा० ३।४।८७) न भवति । 'दिवादिभ्यः श्यन्' (पा० ३।१।६९) इति श्यन् । 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति श्यनो लुक् । 'न लुमताङ्गस्य' (पा० १।१।६३) इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' (पा० ७।३।७४) इति उपधादीर्घो न भवति । अन्धसः । 'अदेर्नुम् धश्च' (उ० ४।६४५) इति असुन् । व्यत्ययेन तृतीयाबहुवचनं कर्तव्यम् । 'अशिप्रुषि०' (उ० १।१४९) इत्यादिना क्वन् । ऐसादेशः 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) इति न भवति । सोमपर्वभिः । लतारूपं सोमं पृणन्ति पूरयन्तीति सोमपर्वाणः सोमरसाः । 'पृ पालनपूरणयोः' । 'अन्ये-

भ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति वनिप्। गुणो रपरत्वम्। अभिष्टिः अभिगन्ता। 'इष गतौ' (धा० दि० २१)। 'मन्त्रे वृषेष०' (पा० ३।३।९६) इत्यादिना क्तिन्नुदात्तः। स हि भावपरोऽपि भवितारं लक्षयति। कित्वाद् लघूपधगुणाभावः। 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (पा० ७।२।९) इति इडागमो न भवति। अभिशब्दस्य इकारे 'एमनादिषु पररूपं वाच्यम्' (पा० ६।१।९४ वा०) इति पररूपत्वम्। ओजसा। 'उब्जेर्बलोपश्च' (उ० ४।६३१) इति असुन्। नित्वादाद्युदात्तः ॥ १ ॥

स्कन्दः—हे इन्द्र आ इहि आगच्छ। आगत्य च मत्सि मन्दस्व तृप्य। अन्धसः। अन्ध इत्यन्ननाम। तृतीयार्थे चेयं षष्ठी। अन्नेन। कतमेन। विश्वेभिः सोमपर्वभिः सर्वैः सोमविशेषैः यानि त्वदर्थमभिषुतानि सोमाख्यस्यान्नस्य पर्वाणि, तैः सर्वैरित्यर्थः। अथवा सोममयानि पर्वाणि येषां ते सोमपर्वाणः देवाः। यो हि यदाहारस्तस्य तन्मयानि पर्वाणि भवन्ति। सोमाहाराश्च देवाः। सहयोगलक्षणा चात्र तृतीया। तृप्य सोमलक्षणेनान्नेन सर्वैः सोमाहारैर्देवैः सहेत्यर्थः। किं कारणम्? उच्यते। यस्मान्महाँस्त्वं वीर्येण शरीरेण वा। अभिष्टिः अभिषेणशीलश्च शत्रूणाम्। अभियष्टव्यो वा। केन हेतुना? ओजसा बलेन बलवत्त्वादित्यर्थः। अथवा यस्त्वं महानभिष्टिश्च स 'मत्सि' इत्येवं यच्छब्द-तच्छब्दावध्याहृत्यैकवाक्यता योज्या ॥ १ ॥

८२ एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ २ ॥

आ। ईम्। एनम्। सृजत। सुते। मन्दिम्। इन्द्राय। मन्दिने। चक्रिम्। विश्वानि। चक्रये ॥ २ ॥

The libation being prepared, present the exhilarating and efficacious (draught) to the rejoicing Indra, the accomplisher of all things.—Wilson.

[हे अध्वर्युगण!] (सुते) सोमरस प्रस्तुत कर लेने पर (एनम्) इस (मन्दिम्) आनन्द देने वाले तथा (चक्रिम्) लाभकारक [सोमरस को] (मन्दिने) प्रसन्नता से भरे एवं (विश्वानि) सब प्रकार के कार्यों को (चक्रये) सम्पन्न कर देने वाले (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (आ सृजत) समर्पित कीजिये ॥ २ ॥

सायणः—ईम् इत्यनर्थकः पादपूरणाय प्रयुक्तः। हे अध्वर्यवः सुते अभिषुते चमसस्थे सोमे एनं सोमम् इन्द्राय इन्द्रार्थम् आ सृजत पुनरभ्युन्नयत। शुक्रा-

मन्थिचमसगणे पुनरभ्युन्नयनम् आपस्तम्बेनोक्तम्—'होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः सकृत्सकृद् हुत्वा शुक्रस्याभ्युन्नीयोपावर्तध्वमिति' (आप० श्रौ० १२।२३।४) इति। कीदृशम् एनम्। मन्दि हर्षहेतुं चक्रि साधुकरणशीलम्। कीदृशाय इन्द्राय। मन्दिने हर्षयुक्ताय विश्वानि सर्वाणि कर्माणि चक्रये कृतवते। सर्वकर्मनिष्पादनशीलायेत्यर्थः। ईम् इत्यस्य पादपूरणार्थत्वं यास्क आह—'अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पादपूरणास्ते मिताक्षरेषु, अनर्थकाः, कमीमिद्विति' (नि० १।९) इति। अस्यायमर्थः—अन्यैरेव पदैर्विवक्षितेऽर्थे समासे सति ये शब्दा ईमित्यादयः प्रयुक्तास्ते शब्दा अमिताक्षरेषु छन्दोराहित्येन परिमिताक्षररहितेषु ब्राह्मणादिवाक्येषु वाक्यपूरणार्था द्रष्टव्याः। मिताक्षरेषु छन्दोयुक्तेषु ग्रन्थेषु पादपूरणार्थाः। ते च कमीमित्यादय इति। ईमित्यस्य शब्दस्यानर्थक्याय एतामृचमुदाजहार—'एमेनं सृजता सुते। आसृजत एनं श्रुते' (नि० १।१०) इति ॥ एनम्। इदमो द्वितीयायां 'द्वितीयाटौःस्वेनः' (पा० २।४।३४) इति एनादेशः। सृजत। संहितायां 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति दीर्घः। मन्दि प्रमोदहेतुम्। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' (धा० भ्वा० १३)। 'इदितो नुम् धातोः' (पा० ७।१।५८) इति नुम्। मन्दमानं प्रयुङ्क्ते इत्यर्थे 'हेतुमति च' (पा० ३।१।२६) इति णिच्। ण्यन्तस्य अजन्तत्वात् 'इच इः' (पा० ४।५७८) इति इकारप्रत्ययः। 'णेरनिटि' (पा० ६।४।५१) इति णिलोपः। मन्दिने। मन्देः पूर्ववत्। चतुर्थ्येकवचनेऽनपुंसकस्यापि व्यत्ययेन नुमागमः (पा० ७।१।७३)। चक्रिम्। 'डुकृञ् करणे' (धा० त० १०)। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० ३।२।१७१) इति तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु कर्तृषु किन्प्रत्ययः। तस्य कित्त्वाद् गुणाभावः। यणादेशः। लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनम्। 'द्विर्वचनेऽचि' (पा० १।१।५९) इति यणादेशस्य स्थानिवद्भावात् कृशब्दो द्विरुच्यते। अभ्यासस्य उरत्व-रपरत्व-चुत्व-हलादिशेषाः। किनो नित्वादाद्युदात्तः। विश्वानि। विशेः क्वन्। अस्य चक्रये इति कृदन्तेन योगेऽपि 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० २।३।६५) इति षष्ठी न भवति। '०किकिनौ लिट् च' इति किनो लिड्वद्भावेन 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पा० २।३।६९) इति निषेधात् ॥ २ ॥

स्कन्दः—आ इत्युपसर्गः सृजतेत्याख्यातेन सम्बन्धयितव्यः। ईमिति पदपूरणः एनं सोमम् आसृजत। सृजतिरत्र दानार्थः। केवलोऽपि विसृजतीत्युच्यते। अध्वर्यूणां चायं प्रैषः। दत्त यूयमध्वर्यवः। सुते। द्वितीयार्थे सप्तमीयम्। अभिषुतम्। अथवा सुत इति स्वार्थे एव सप्तमी। सृजतिस्तु प्रक्षेपणार्थः। प्रक्षिपतैनं सोममन्यस्मिन् ग्रहचमसस्थे पुनरभ्युन्नयतेत्यर्थः। कीदृशम्। मन्दि तर्पयितारम्। कस्मै ? इन्द्राय। सम्प्रदाने तादर्थ्ये चतुर्थीयम्। इन्द्राय दत्त इन्द्राय वाभ्युन्न-

यत। कीदृशाय? मन्दिने तर्पयित्रे तर्पयितव्याय वा। कीदृशम्? चक्रिम्। ताच्छील्येऽयं किन्। स्वकार्यकरणशीलम्। कीदृशाय? विश्वानि चक्रये सर्व-वृष्टयादिकर्मकरणशीलाय ॥ २ ॥

८३ मत्स्वा॑ सुशिप्र म॒न्दिभि॒ः स्तोमे॑भिर्विश्वचर्षणे।
सचै॒षु सव॑ने॒ष्वा ॥ ३ ॥

मत्स्व॑। सु॒ऽशि॒प्र॒। म॒न्दिऽभिः॑। स्तोमे॑भिः। वि॒श्व॒ऽच॒र्ष॒णे॒। सचा॑। ए॒षु। सव॑नेषु। आ ॥ ३ ॥

Indra with the handsome chin, be pleased with these animating praises; do thou, who art to be reverenced by all mankind, (come) to these rites (with the gods).

सुशिप्र) हे सुन्दर ठुड्डी या नाक वाले [इन्द्र-देवता! आप] (मन्दिभिः) आनन्दप्रद (स्तोमेभिः) स्तोमों, स्तोत्रों से (मत्स्व) प्रसन्न हो जायँ तथा (विश्वचर्षणे) सभी मनुष्यों से युक्त = पूज्य [हे इन्द्र!] (एषु) इन (सवनेषु) प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के तीनों सवनों में (सचा) देवताओं के साथ ('आ-गच्छ') आप आवें ॥ ३ ॥

सायणः—हे सुशिप्र हे शोभनहनो शोभननासिक वा। 'शिप्रे हनू नासिके वा' (नि० ६।१७) इति यास्केनोक्तत्वात्। तादृश हे इन्द्र मन्दिभिः हर्षहेतुभिः स्तोमेभिः स्तोत्रैः मत्स्व हृष्टो भव। हे विश्वचर्षणे सर्वमनुष्ययुक्त सर्वैर्यजमानैः पूज्य इत्यर्थः। तादृशेन्द्र त्वम् एषु यागगतेषु त्रिषु सवनेषु सचा देवैरन्यैः सह आ गच्छेति शेषः। 'मदि स्तुति०' (धा० भ्वा० १३) इत्यस्य लोटि 'अनित्य-मागमशासनम्' (परिभा० ९३।२) इति कृत्वा 'इदितो नुम् धातोः' (पा० ७।१।५८) इति नुम् न भवति। संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति दीर्घत्वम्। स्तोमेभिः। 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०) इति भिस ऐसादेशो न भवति ॥ ३ ॥

स्कन्दः—मत्स्व मोदस्व स्तूयस्व वेत्यर्थः। हे सुशिप्र। 'शिप्रे हनू नासिके वा'। सुहनो, सुनस वा। कीदृशैः? मन्दिभिः मोदयितृभिः स्तावकैर्वा। कैः? स्तोमेभिः स्तवनैः। हे विश्वचर्षणे! पश्यतिकर्मायम्। सर्वस्यापि द्रष्टः! सचा सह। केन? सामर्थ्यात् स्वश्वैर्मरुद्भिः। क्व? एषु सवनेषु। सवन इति यज्ञ-नाम। एतेषु यज्ञेषु प्रातस्सवनमाध्यन्दिनतृतीयसवनेषु वा। आकारः पद-पूरणः ॥ ३ ॥

८४ असृ॑ग्रमिन्द्र ते॒ गिरः॒ प्रति॒ त्वामुद॑हासत ।
अजो॑षा वृष॒भं पति॑म् ॥ ४ ॥

असृ॑ग्रम् । इन्द्र॒ । ते॒ । गिरः॑ । प्रति॑ । त्वाम् । उत् ।
अ॒हा॒स॒त । अजो॑षाः । वृष॒भम् । पति॑म् ॥ ४ ॥

I have addressed to thee, Indra, the showerer (of blessings), the protector (of thy worshippers), praises which have reached thee, of which thou hast approved. – (W.)

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (ते गिरः) आपकी स्तुतियाँ (असृग्रम्) मैंने कर ली हैं [और वे] (वृषभं) कामनाओं की वृष्टि करने वाले, (पतिं) अपने यजमानों का पालन करने वाले (त्वां प्रति) आपके पास (उदहासत) पहुँच भी चुकी हैं; [, यही नहीं], (अजोषाः) आपने उन्हें स्वीकार भी कर लिया है ॥ ४ ॥

सायणः—हे इन्द्र ते गिरः त्वदीयाः स्तुतीः असृग्रं सृष्टवान् अस्मि । ताश्च गिरः स्वर्गेऽवस्थितं त्वां प्रति उदहासत उद्गत्य प्राप्नुवन् । तादृशीर्गिरः त्वम् अजोषाः सेवितवानसि । कीदृशं त्वाम् । वृषभं कामानां वर्षितारं पतिं सोमस्य पातारं यजमानानां पालयितारं वा । 'पाता वा पालयिता वा' (नि० ४।२६) यास्केनोक्तत्वात् । असृग्रम् असृजम् । 'सृज विसर्गे' (धा० तु० १३४)। लङो मिप् । 'तुदादिभ्यः शः' (पा० ३।१।७७)। 'बहुलं छन्दसि' (७।१।८) इत्यत्र विकरणस्य रुडागमः । जकारस्य गकारः । 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (पा० ६।४।७१) इत्यडागम उदात्तः । सति शिष्टत्वात् स एव शिष्यते । अहासत । 'ओहाङ् गतौ' (धा० जु० ७)। लुङ् । झस्य अदादेशः (पा० ७।१।५)। 'च्लेः सिच्' (पा० ३।१।४४) अडागमो निघातश्च । अजोषाः । 'जुषी प्रीति-सेवनयोः' (धा० तु० ८)। लङस्थास् । 'तुदादिभ्यः शः' (पा० ३।१।७७)। तस्य 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इत्यार्धधातुकत्वेन ङित्वाभावात् लघू-पधगुणः । थासः थकारलोपश्छान्दसः । सवर्णदीर्घः । अडागमः । वृषभम् । 'वृषु वृषु मृषु सेचने' (धा० भ्वा० ७०७)। 'ॠषभच्' (उ० ३।४०२) इत्यनु-वृत्तौ 'ऋषिवृषिभ्यां कित्' (उ० ३।४०३) इति अभच्प्रत्ययः । कित्वाद्गुणा-भावः । पतिम् । 'पा रक्षणे' (धा० अ० ४६)। 'पातेर्डतिः' (उ० ४।४९७)। डित्वात् टिलोपः ॥ ४ ॥

स्कन्दः—असृग्रं सृष्टवानहम् । हे इन्द्र, ते तव गिरः स्तुतीः । ताश्च सृष्टाः सत्यः प्रति त्वामुदहासत । 'ओहाङ् गतौ' । स्वर्ग्येऽवस्थितं त्वां प्रतीतो

लोकादूर्ध्वं गताः। अजोषाः। सेवितवानसि। कीदृशं त्वामुदहासत, वृषभं वर्षितारं पतिं स्वामिनं सर्वस्य ॥ ४ ॥

८५ सं चो॑दय चि॒त्रम॒र्वाग्राध॑ इन्द्र॒ वरे॑ण्यम्।
अस॒दित्ते॑ वि॒भु प्र॒भु ॥ ५ ॥

सम्। चो॒द॒य॒। चि॒त्रम्। अ॒र्वाक्। राधः॑। इ॒न्द्र॒। वरे॑ण्यम्।
अस॑त्। इत्। ते॒। वि॒ऽभु। प्र॒ऽभु ॥ ५ ॥

Place before us, Indra, precious and multiform riches, for enough and more then enough are assuredly thine. – (*W.*)

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (चित्रम्) मणि, मुक्ता आदि के रूप में अनेक प्रकार का तथा (वरेण्यम्) श्रेष्ठ (राधः) धन (अर्वाक्) इधर = हम लोगों की ओर (सञ्चोदय) भेजिये, हमें दीजिये। (विभु) प्रचुर परिमाण में (विभु) तथा उससे भी अधिक परिमाण में [धन देने का काम] (ते) आपका ही (असत् इत) तो है ॥ ५ ॥

सायणः—हे इन्द्र वरेण्यं श्रेष्ठं राधः धनं चित्रं मणिमुक्तादिरूपेण बहुविधम् अर्वाक् अस्मदभिमुखं यथा भवति तथा सं चोदय सम्यक् प्रेरय। भोगाय यावत् पर्याप्तं तावत् विभुशब्देनोच्यते। ततोऽप्यधिकं प्रभुशब्देन। तादृशं धनं ते तवैव असदित् अस्त्येव। तस्मादस्मभ्यं प्रयच्छेत्यर्थः। 'मघम्' इत्यादिष्वष्टाविंशतिधननामसु (निघ० २।१०) 'रायः राधः' इति पठितम् ॥ चोदय। 'चुद प्रेरणे' (धा० चु० ५९)। ण्यन्तात् लोट्। 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८।१।२८) इति निघातः। राधः। राध्नुवन्ति अनेनेति राधो धनम्। 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।६२८)। नित्वादाद्युदात्तः। वरेण्यम्। वृञः एण्यः। वृषादित्वादाद्युदात्तः। असत्। 'अस भुवि' (धा० अ० ५५)। लेट्। तिप्। 'इतश्च लोपः' (पा० ३।४।९७) इति इकारलोपः। 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इति अडागमः। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक्। 'आगमा अनुदात्ताः' (महाभा० ३।१।३) इति अटोऽनुदात्तत्वात् धातुस्वर एव। विभु विभवतीति विभु। 'भुवः०' (पा० ३।२।१७९) इत्यनुवृत्तौ 'विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्' (पा० ३।२।१८०) इति डुप्रत्ययः। डित्वात् टिलोपः। प्रत्ययस्वरेण उकार उदात्तः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण स एव शिष्यते। एवं प्रभु ॥ ५ ॥

स्कन्दः—संचोदय प्रेरय चित्रम् अर्वागस्मान् प्रति अस्मभ्यं देहीत्यर्थः। किम्? राधः धनम्। हे इन्द्र, कीदृशम्? वरेण्यं वरणीयम् अत्यन्तोत्कृष्टम्।

किं कारणम् ? उच्यते—असदित्। लडर्थेऽयं पञ्चमो लकारः। इच्छब्दोऽपि यस्मादर्थे। अस्ति यस्मात्। ते तव विभु प्रभु विभूतं च प्रभूतं च धनम्। यावता कार्यं साध्यते, तद् विभु। ततोऽतिरिक्तं प्रभु। यस्मादत्यन्तप्रभूतधनोऽसीत्यर्थः ॥ ५ ॥

८६ अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र रायेरभस्वतः।
तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ ६ ॥

अस्मान्। सु। तत्र। चोदय। इन्द्र। राये। रभस्वतः।
तुविऽद्युम्न। यशस्वतः ॥ ६ ॥

Opulent Indra, encourage us in this rite for the acquirement of wealth, for we are deligent and renowned.

(तुविद्युम्न) बहुत धनवाले (इन्द्र) हे इन्द्रदेवता! (राये) धन की प्राप्ति के लिए (रभस्वतः) उद्योग करने वाले तथा (यशस्वतः) कीर्ति संपन्न, अन्न देनेवाले (अस्मान्) हम यजमानों या अनुष्ठानकर्ताओं को (तत्र) उन धनावाप्ति-कर्मों की ओर (सु) अच्छी तरह (चोदय) प्रेरित कीजिये ॥ ६ ॥

सायणः—हे तुविद्युम्न प्रभूतधन इन्द्र राये धनसिद्ध्यर्थमस्मान् अनुष्ठातॄन् तत्र कर्मणि सुचोदय सुष्ठु प्रेरय। कीदृशानस्मान्। रभस्वतः उद्योगवतः यशस्वतः कीर्तिमतः। तत्र तच्छब्दात् 'सप्तम्यास्त्रल्' (५।३।१०)। 'लिति' (पा० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम्। इन्द्र। आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम्। पादादित्वाच्च निघातः। रभस्वतः। 'रभ राभस्ये' (धा० भ्वा० ९९९)। राभस्यं कार्योपक्रमः। 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।६२८)। 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (पा० १।४।१७) इति न पदत्वं 'तसौ मत्वर्थे' (पा० १।४।१९) इति भसंज्ञया बाधितत्वात्; 'आकडारादेका संज्ञा' (पा० १।४।१) इति नियमात्। तुविद्युम्न। तुवि बहुद्युम्नं धनं यस्य। षाष्ठिकमामन्त्रिताद्युदात्तत्वम्। यशस्वतः। यशोऽस्यास्तीति मतुप्। 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पा० ५।२।१२१) इति विनिना न बाध्यते, मतुपः सर्वत्र समुच्चयात् ॥ ६ ॥

स्कन्दः—अस्मान् सुष्ठु तत्र चोदय हे इन्द्र! राये धनार्थम्। क्व ? सामर्थ्याद् यत्र गते धनं लभ्यते। कीदृशान् ? रभस्वतः। क्षिप्रमित्यर्थः। तुविद्युम्न। 'तुवि' इति बहुनाम। द्युम्नं धनं वा यशो वा अन्नं वा। बहुयशः। बह्वन्नं वा। यशस्वतः यश इत्यन्ननाम। हविर्लक्षणेन अन्नेन अन्नवतः। यष्टॄन् इत्यर्थः ॥ ६ ॥

८७ सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत् ।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ ७ ॥
सम् । गोऽमत् । इन्द्र । वाजऽवत् । अस्मे । पृथु । श्रवः । बृहत् ।
विश्वऽआयुः । धेहि । अक्षितम् ॥ ७ ॥

Grant us, Indra, wealth beyond measure or calculation, inexhaustible, the source of cattle, of food, of all life.

(इन्द्र) हे इन्द्र देवता ! (गोमत्) अनेक गायों से युक्त, (वाजवत्) अन्नराशि से पूर्ण, (पृथु) सुविस्तीर्ण, (बृहत्) प्रचुर, (विश्वायुः) पूरी आयु तक काम देनेवाला तथा (अक्षितम्) अविनाशी (श्रवः) धन (अस्मे) हमलोगों को (संधेहि) प्रदान कीजिये ॥ ७ ॥

सायणः—हे इन्द्र श्रवः धनमस्मे संधेहि अस्मभ्यं सम्यक् प्रयच्छ । कीदृशं श्रवः । गोमत् बह्वीभिर्गोभिरुपेतं वाजवत् प्रभूतेनान्नेनोपेतं पृथु परिमाणेनाधिकं बृहत् गुणैरधिकं विश्वायुः कृत्स्नायुष्यकारणम् अक्षितं विनाशरहितम् ॥ अस्मे । अस्मच्छब्दात् चतुर्थीबहुवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' इत्यादिना शे आदेशः । शित्वात् सर्वादेशः । पृथु । 'प्रथ प्रख्याने' (धा० चु० २०) । 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां संप्रसारणं सलोपश्च' (उ० १।२८) इति कुप्रत्ययः । रेफस्य संप्रसारणम् ऋकारः । परपूर्वत्वम् । कोः कित्वात् न लघूपधगुणः । श्रूयते इति श्रवो धनम् । असुन्प्रत्ययः । विश्वायुः । विश्वमायुर्यस्मिन्धने । विश्वशब्दः क्वन्प्रत्ययान्तः । अक्षितम् । 'क्षि क्षये' (धा० भ्वा० २३६) इत्यस्मात् अन्तर्णीतण्यर्थात् कर्मणि निष्ठा । तेन ण्यदर्थत्वात् 'निष्ठायामण्यदर्थे' (पा० ६।४।६०) इति न दीर्घत्वम् । अत एव 'क्षियो दीर्घात्' (पा० ८।२।४६) इति न निष्ठानत्वम् ॥ ७ ॥

स्कन्दः—समित्युपसर्गो धेहीत्याख्यातेन संबन्धयितव्यः । गोमत् । गावो यस्मिन् सन्ति तत् गोमत् । गोभिः सहितम् । हे इन्द्र ! वाजवत् अन्नेन च सहितम् । अस्मे अस्मभ्यम् । पृथु विस्तीर्णं प्रभूतं श्रवः । धननामैतत् । धनम् । बृहत् महत् सारवत् । विश्वायुः । आयुर्जीवितम् । तेन च सर्वेण सहितं संधेहि सम्यग् देहि । अक्षितमहिंसितम् । केनचिदपि हिंसितुमशक्यम् ॥ ७ ॥

८८ अस्मे धेहि श्रवो बृहद्द्युम्नं सहस्रसातमम् ।
इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ ८ ॥
अस्मे इति । धेहि । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् । सहस्रऽसातमम् ।
इन्द्र । ताः । रथिनीः इषः ॥ ८ ॥

Indra, grant us great renown and wealth acquired in a thousand ways, and those (articles) of food (which are brought from the field) in carts.

(इन्द्र) हे इन्द्र, (अस्मे) हमलोगों को (बृहत्) प्रचुर (श्रवः) कीर्ति (धेहि) दीजिये, (सहस्रसातमं) हजारों संख्या में प्राप्त होने वाला (द्युम्नम्) धन तथा (ताः) उन (रथिनीः) अनेक रथों में पूर्ण (इषः) अन्नराशि [भी हमें दीजिये] ॥ ८ ॥

सायणः—हे इन्द्र बृहत् श्रवः महतीं कीर्तिम् अस्मे धेहि अस्मभ्यं प्रयच्छ। तथा सहस्रसातमम् अतिशयेन सहस्रसंख्यादानोपेतं द्युम्नं धनमस्मे धेहि। तथा ताः व्रीहियवादिरूपेण प्रसिद्धाः रथिनीः बहुरथोपेताः इषः अन्नानि अस्मे धेहि॥ अस्मे। 'सुपां सुलुक्०' इत्यादिना शे आदेशः। धेहि। 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (पा० ६।४।११९) इति एत्वाभ्यासलोपौ। श्रूयते इति श्रवः। असुनो नित्वा-दाद्युदात्तत्वम्। सहस्रं सनुते ददातीति सहस्रसाः। 'षणु दाने' (धा० त० २)। 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (पा० ३।२।६७)। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० ६।४।४१) इति आकारादेशः। रथा आसां सन्तीति रथिन्य इति प्रत्ययस्याद्युदात्तत्वम्। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० ४।१।५)। स च पित्वादनुदात्तः। इषः। यौगिकत्वे धातुस्वरः। रूढत्वे प्रातिपदिकस्वरः।

स्कन्दः—अस्मभ्यं देहि। किं, श्रवो बृहत्। श्रवोऽत्र कीर्तिरुच्यते। कीर्तिं महतीम्। द्युम्नं धननामात्र। द्युम्नं धनं च। कियत्, सहस्रसातमम्। सहस्र-संख्यानामतिशयेन संभक्तृ, बहुसहस्रसंख्यातमित्यर्थः। न च केवले कीर्तिधने। किं तर्हि? हे इन्द्र, ता रथिनीरिषः। तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसंबन्धो यच्छब्दोऽत्रा-ध्याहर्तव्यः। या वयमर्थयामहे या अन्येभ्योऽपि स्तोतृभ्यो धत्से ता रथिनीः रथसहिताः इषः अन्नानि ॥ ८ ॥

८९ वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्।
होम गन्तारमूतये ॥ ९ ॥

वसोः। इन्द्रम्। वसुऽपतिम्। गीःऽभिः। गृणन्तः। ऋग्मियम्।
होम। गन्तारम्। ऊतये ॥ ९ ॥

We invoke, for the preservation of our property, Indra, the lord of wealth, the object of sacred verses, the repairer (to the place of sacrifice), praising him with our praises.

(गीर्भिः) स्तुतियों के द्वारा (गृणन्तः) स्तवन करते हुए [हमलोग] (वसुपतिम्) धन के अधिकारी, (ऋग्मियम्) ऋचाओं को ग्रहण करनेवाले

तथा (गन्तारम्) यज्ञभूमि में जानेवाले (इन्द्रम्) इन्द्र-देवता को (वसोः) अपने धन की (ऊतये) रक्षा के लिए (होम) बुलाते हैं ॥ ९ ॥

सायणः—वसोः वसुनोऽस्मदीयस्य धनस्य ऊतये रक्षार्थम् इन्द्रं होम वयमाह्वयामः। किं कुर्वन्तः। गीर्भिः स्तुतिभिः गृणन्तः स्तुवन्तः। कीदृश-मिन्द्रम्। वसुपतिं धनपालकम् ऋग्मियम् ऋचां मातारं यागदेशे गमनशीलम्। वसोः। 'वस निवासे' (धा० भ्वा० १०३०)। 'शृस्वृस्निहि०' (उ० १।१०) इत्यादिना उप्रत्ययः। गृणन्तः। 'गॄ शब्दे' (धा० क्र्या० २६)। लटः शतृ। 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (पा० ३।१।८१)। शतुः 'सार्वधातुकमपित्' (पा० १।२।४) इति ङित्वात् 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा० ६।४।११२) इति आकारलोपः। ऋग्मियम्। ऋचां मिमीते इति ऋग्मीः, तमृग्मियम्। 'माङ् माने शब्दे च' (धा० जु० ६)। 'क्विप् च' (पा० ३।२।७६) इति क्विप्। 'घुमास्था०' (पा० ६।४।६६) इत्यादिना ईत्वम्। चकारस्य 'चोः कुः' (पा० ८।२।३०)। 'झलां जशोऽन्ते' (पा० ८।२।३९) इति जश्त्वं, गकारः। द्वितीयैकवचने 'अचि श्नुधातु०' (पा० ६।४।७७। इत्यादिना इयङादेशः। 'एरनेकाचः०' (पा० ६।४।८२) इति यणादेशः 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' (परिभा० ३५) इति न भवति। होम आह्वयामः। 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (धा० भ्वा० १०३३)। लट्। तस्य अस्मदो बहुत्वेऽपि व्यत्ययेन मिप्। इकारस्य व्यत्ययेन अकारः। शपः 'बहुलं छन्दसि' इति लुक्। 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति ह्वः संप्रसारणं परपूर्वत्वं गुणः। गन्तारम्। 'गम्लृ सृप्लृ गतौ' (धा० भ्वा० १००७)। ताच्छील्ये तृन्। नित्वादाद्युदात्तः। ऊतये। 'ऊतियूति०' (पा० ३।३।९७) इत्यादिना क्तिन् उदात्तो निपातितः ॥ ९ ॥

स्कन्दः—वसोरिति षष्ठीनिर्देशादर्थायेति शेषः। धनस्यार्थाय इन्द्रं वसुपतिं धनानां स्वामिनं गीर्भिः स्तुतिभिः गृणन्तः स्तुवन्तः। ऋग्मियम्। 'ऋच स्तुतौ' (धा० तु० २२)। अर्चना ऋक्। संपदादित्वात् क्विप्। तद्वन्तं, स्तुतियोग्यमित्यर्थः। होम आह्वयाम स्वयज्ञे। गन्तारं यज्ञं प्रति ऊतये सोमेन तर्पणाय। अथवा वसोरिति वसुपतीत्येतदपेक्षयैव। वसुपतिशब्दस्तु यद्यपि वसूनां पतिर्वसुपतिरित्येवं व्युत्पद्यते, तथाप्यत्र स्वामिनमाह। धनस्यैव स्वामिनम्। तद् यथा—प्रवीणशब्दः प्रकृष्टो वीणायामित्येवं व्युत्पद्यते। अथ च प्रवीणो व्याकरणे प्रवीणो वीणायामिति च प्रयोगदर्शनात् प्रकृष्टमात्रमाह। वीणायां वीणायामेव प्रकृष्टम्। वसोर्वसुपतिं धनस्य स्वामिनम् इन्द्रमाह्वयाम। ऊतये पालनायात्मनः ॥ ९ ॥

१० सुतेसु॑ते॒ न्यो॑कसे बृ॒हद्बृ॑ह॒त एदृ॒रिः।
इन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चति ॥ १० ॥

सुतेऽसुते । निऽओकसे । बृहत् । बृहते । आ । इत् । अरिः ।
इन्द्राय । शूषम् । अर्चति ॥ १० ॥

With libations repeatedly, effused, the sacrificer glorifies the vast prowess of Indra, the mighty, the dweller in (an eternal mansion).

(आ इत्) सबके सब (अरिः) अनुष्ठानकर्ता, यजमान (सुते सुते) सोमरस के प्रत्येक सवन के समय (न्योकसे) निश्चित स्थान में रहनेवाले तथा (बृहते) प्रौढ (इन्द्राय) इन्द्र-देवता के (बृहत्) दृढ (शूषम्) बल की (अर्चति) स्तुति करते हैं ।

सायणः—आकार इच्छब्दश्च पादपूरणौ । यद्वा व्याप्तिवचन आकारः । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' (अमर० ३।२३८) इत्यभिधानात् । इच्छब्दोऽपिश-ब्दार्थः । इयर्ति गच्छति अनुष्ठेयं कर्म प्राप्नोति इति अरिर्यजमानः । एवंदरिः सर्वोऽपि यजमानः इन्द्राय सुतेसुते इन्द्रार्थमभिषुते तत्तत्सोमे शूषं बलमर्चति स्तौति । इन्द्रस्य पराक्रमं प्रशंसतीत्यर्थः । कीदृशं शूषम् । बृहत्प्रौढम् । कीदृ-शाय इन्द्राय । न्योकसे नियतस्थानाय । बृहते प्रौढाय ॥ सुतेसुते । 'षुञ् अभिषवे' (धा० स्वा० १) । क्तप्रत्ययः प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८।१।४) इति वीप्सायां द्विर्भावः । 'तस्य परमाम्रेडितम्' (पा० ८।१।२) इति द्वितीयस्य आम्रेडितत्वेन 'अनुदात्तं च' (पा० ८।१।३) इत्यनुदात्तत्वम् । न्योकसे । नियतमोको यस्य तस्मै । अरिः । 'ऋ गतौ' (धा० भ्वा० ९६१) । 'अच इः' (उ० ४।५७८) इति इकारप्रत्ययः । गुणो रपरत्वम् । इन्द्राय । 'ऋज्रेन्द्र०' (उ० २।१८६) इत्यादिना रन्प्रत्यय इकार उदात्तः । शूषम् । प्रातिपदिकस्वरः । अर्चति । निघातस्वरः ॥ १० ॥

स्कन्दः—अभिषुते सोमे । न्योकसे । ओको निवासस्थानम् । एतन्नियतं यस्य । सोम एव नान्यत् स न्योकाः । सर्वत्र चात्र बलविशेषणत्वात् षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । न्योकसः नियतसोमाख्यस्थाननिवासस्य स्वभूतं बृहद् महत् । बृहते महते महतः शरीरेण वीर्येण वा । आ इदिति पदपूरणौ । अरिः ईश्वरः । स्तु-त्युच्चारणे समर्थ इत्यर्थः । इन्द्राय इन्द्रस्य । शूषं बलम् । अर्चति स्तौति । सर्वस्तोता आत्मानमेवापरोक्षरूपेण प्रथमपुरुषेण प्रतिनिर्दिशति । अहं स्तौमी-त्यर्थः । अथवा न्योकसे बृहते इन्द्रायेति स्वार्थ एव तादर्थ्ये चतुर्थी । सुतेसुते इति च संबध्यते । इन्द्रार्थमभिषुते सोमे महद् बलं स्तौति । कस्य ? साम-र्थ्यात् संनिधेश्चेन्द्रस्य ॥ १० ॥

(१०) दशमं सूक्तम्

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ।

९१ गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

गायन्ति । त्वा । गायत्रिणः । अर्चन्ति । अर्कम् । अर्किणः ।
ब्रह्माणः । त्वा । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ।
उत् । वंशम्ऽइव । येमिरे ॥ १ ॥

The chanters (of the Sāma) *hymn thee,* Shatakratu; *the reciters of the* Rc. *praise thee, who art worthy of praise; the Brāhmans raise thee aloft, like a bamboo pole.*

(शतक्रतो) अनेक कर्मों या बुद्धियोंवाले हे इन्द्र ! (त्वा) आपकी (गायत्रिण:) उद्गाता लोग (गायन्ति) स्तुति करते हैं, (अर्किण:) अर्चन-मन्त्रवाले होता लोग । (अर्कम्) अर्चनीय इन्द्र की (अर्चन्ति) प्रशंसा करते हैं। (त्वा) आपको (ब्रह्माण:) ब्रह्मा आदि पुरोहित (वंशमिव) बाँस या सत्कुल की तरह (उद्येमिरे) ऊपर उठाते हैं, समुन्नत करते हैं ।

सायणः—हे शतक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा इन्द्र त्वां गायत्रिणः उद्गातारः गायन्ति स्तुवन्ति । अर्किणः अर्चनहेतुमन्त्रयुक्ता होतारः अर्कम् अर्चनीयमिन्द्रम् अर्चन्ति शस्त्रगतैर्मन्त्रैः प्रशंसन्ति । ब्रह्माणः ब्रह्मप्रभृतयः इतरे ब्राह्मणाः त्वाम् उद्येमिरे उन्नतिं प्रापयन्ति । तत्र दृष्टान्तः । वंशमिव । यथा वंशाग्रे नृत्यन्तः शिल्पिनः प्रौढं वंशमुन्नतं कुर्वन्ति । यथा वा सन्मार्गवर्तिनः स्वकीयं कुलमुन्नतं कुर्वन्ति । तद्वत् । एतामृचं यास्क एवं व्याचष्ट—'गायन्ति त्वा गायत्रिणः प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव । वंशो वनशयो भवति वननाच्छ्रूयते इति वा (नि० ५।५) इति । अर्कशब्दं च बहुधा व्याचष्टे—'अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति अर्को मन्त्रो भवति यदेनेनार्चन्ति, अर्कमन्नं भवति अर्चति भूतानि-अर्को वृक्षो भवति स वृतः कटुकिम्ना' (नि० ५।४) इति ॥ गायत्रिणः । गायत्रं साम येषामुद्गातॄणामस्ति ते । 'अत इनिठनौ' । अर्चन्ति । 'अर्च पूजायाम्' भौवादिकः । शप्तिङौ अनुदात्तौ । धातुस्वर एव । पादादित्वात् न निघातः । अर्कम् । अर्चन्त्येभिरिति अर्को

मन्त्राः । तैरर्चनीयतया तदात्मक इन्द्रोऽपि लक्षणया अर्कः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पा० ३।३।११८) इति करणे घः । 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (पा० ७।३।५२) इति चकारस्य कुत्वं ककारः । अर्काः मन्त्राः एषां सन्तीत्यर्किणो होतारः । 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' (महाभा० ५।२। ११५।१) इति कृदन्तात् इनिठनौ यद्यपि प्रतिषिद्धौ तथाप्यत्र व्यत्ययात् इनिः । शतक्रतो । निघातः । संहितायामवादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति वकारलोपः । वंशशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । 'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति स एव शिष्यते । येमिरे । 'यम उपरमे' । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः ।

स्कन्दः—गायतिरर्चतिकर्मा । स्तुवन्ति त्वा गायत्रिणः । गायत्रं साम, तद्वन्त उद्गातारः । न च त एव केवलाः । किं तर्हि ? अर्चन्ति स्तुवन्ति अर्कं नवं त्वाम् अर्किणः । मन्त्रोऽत्रार्क उच्यते । तद्वन्तः होतारोऽपि । ब्रह्माणः । ब्रह्मैकर्त्विक् । तत्पुरुषाँस्तु ब्राह्मणाच्छंस्यादीन् अपेक्ष्येदं बहुवचनम् । ब्रह्माणोऽपि त्वा हे शतक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा । उद्वंशमिव येमिरे । यथा कश्चिद्वंशमुद्यच्छेद्, एवमुद्यच्छन्ति उत्क्षिपन्ति, उच्छ्रयन्ति इत्यर्थः । वीर्यवृद्धिश्चात्रोच्छ्रायोऽभिप्रेतः । स्तूयमाना हि देवता वीर्येण वर्द्धन्ते सर्वे ऋत्विजः स्वैः स्वैः स्तोत्रैस्त्वां स्तुवन्तीति समस्तार्थः ॥ १ ॥

९२ यत्सानोः सानुमारुहद्भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥ २ ॥

यत् । सानोः सानुम् । आ । अरुहत् । भूरि । अस्पष्ट । कर्त्वम् ।
तत् । इन्द्रः । अर्थम् । चेतति । यूथेन । वृष्णिः । एजति ॥

Indra, the showerer (of blessings), knows the object (of his worshipper), who has performed many acts of worship (with the Soma *plant gathered) on the ridges of the mountain, and (therefore) comes with the troop (of* Maruts).

(यत्) जब [यजमान सोमलता, समिधा आदि लाने के लिए] (सानोः) एक पर्वतखण्ड से (सानुम्) दूसरे पर्वतखण्ड पर (आरुहत्) आरोहण करता है [और] (भूरि) प्रचुर रूप से (कर्त्वम्) सोमयाग रूपी कर्म को (अस्पष्ट) आरम्भ करने की योजना बनाता है; (तत्) तब (इन्द्रः) इन्द्र-देवता (अर्थं) यजमान के प्रयोजनों को (चेतति) जान जाते हैं तथा (वृष्णिः) कामनाओं के पूरक बनकर (यूथेन) मरुद्-

गण के साथ-साथ (एजति) अपने स्थान से यज्ञ में आने के लिए उद्यत होते हैं, चल पड़ते हैं ।

सायणः—यत् यदा सानोः सानुमारुहत् यजमानः सोमवल्लीसमिदाद्याहरणाय एकस्मात् पर्वतभागात् अपरं पर्वतभागम् आरूढवान् तथा भूरि प्रभूतं कर्त्वं कर्म सोमयागरूपम् अस्पष्ट स्पृष्टवान् । उपक्रान्तवानित्यर्थः । तत् तदानीम् इन्द्रः अर्थं यजमानस्य प्रयोजनं चेतति जानाति । ज्ञात्वा च वृष्णिः कामानां वर्षिता सन् यूथेन मरुद्गणेन सह एजति कम्पते । स्वस्थानात् यज्ञभूमिमागन्तुमुद्युङ्क्ते इत्यर्थः । सानोः । 'षणु दाने' । सनोति ददाति निवसतामवकाशमिति सानुः । 'दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्' (उ० १।३) । णित्वात् उपधाया वृद्धिः । अरुहत् । रुहेर्लङि तिपि शपि 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (परिभा० ९३।१) इति लघूपधगुणो न भवति । भूरि । 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' (उ० ४।५०५) । किस्वाद् गुणाभावः । अस्पष्ट । 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' (धा० भ्वा० ९१२) । 'स्वरितञितः०' (पा० १।३।७२) इत्यात्मनेपदम् । लङः प्रथमपुरुषैकवचनं त । 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक् । व्रश्चादिषत्वष्टुत्वे (पा० ८।२।३६; ८।४।४१) । 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अडागम उदात्तः । स एव शिष्यते । अनुषङ्गेण यच्छब्दयोगात निघाताभावः । कर्त्वम् । 'डुकृञ् करणे' । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति विच् । गुणो रपरत्वम् । विचः सर्वापहारी लोपः । करो भावः कर्त्वम् । अर्थम् । अर्तेः 'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्' (उ० २।१६१) । नित्वादाद्युदात्तः । यूथेन । 'तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः' (उ० २।१६९) इति थक्प्रत्ययान्तो निपातितः । वृष्णिः । 'निः' इत्यनुवृत्तौ 'सृवृषिभ्यां कित्' (उ० ४।४८९) इति निप्रत्ययान्तः । किस्वाद् गुणाभावः । एजति । 'एजृ कम्पने' (धा० भ्वा० १७९) । निघातः ।

स्कन्दः—यदभ्रं सानोः सानुं सारसमुच्छ्रितम् उच्चाद् गिरिशिखरादन्यदुच्चतरं गिरिशिखरम् आरुहद् आरोहति । आरुह्य च भूरि बहु अस्पष्ट । 'स्पश बन्धने' । शुद्धोऽपि च सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः । प्रतिबध्नाति । कर्त्वं कर्म । वृष्टिं ह्यभ्रं निरुद्धं तदायत्तानि सर्वकर्माणि प्रतिबध्नाति । तदिन्द्रः अर्थम् । अर्तेर्गतिकर्मण एतद् रूपम् । गमनशीलं न परमपि चेतति जानाति । ज्ञात्वा च यूथेन । समुदायसामान्यान्मरुद्गणोऽत्र यूथमुच्यते । सहयोगलक्षणा चात्र तृतीया । मरुद्गणेन सह । वृष्णिः वर्षिता । एजति गतिकर्मायम् । वधार्थं गच्छति । अथवा 'एजृ कम्पने' इत्येतस्यान्तर्णीतण्यर्थस्यैतद् रूपम् । एजयति कम्पयति । उदकशोधनार्थं धूनयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

मन्त्राः। तैरर्चनीयतया तदात्मक इन्द्रोऽपि लक्षणया अर्कः। 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पा० ३।३।११८) इति करणे घः। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (पा० ७।३।५२) इति चकारस्य कुत्वं ककारः। अर्काः मन्त्राः एषां सन्तीत्यर्किणो होतारः। 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' (महाभा० ५।२। ११५।१) इति कृदन्तात् इनिठनौ यद्यपि प्रतिषिद्धौ तथाप्यत्र व्यत्ययात् इनिः। शतक्रतो। निघातः। संहितायामवादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति वकारलोपः। वंशशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः। 'इवेन विभक्त्य-लोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति स एव शिष्यते। येमिरे। 'यम उपरमे'। 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः।

स्कन्दः—गायतिरर्चतिकर्मा। स्तुवन्ति त्वा गायत्रिणः। गायत्रं साम, तद्वन्त उद्गातारः। न च त एव केवलाः। किं तर्हि? अर्चन्ति स्तुवन्ति अर्कं नवं त्वाम् अर्किणः। मन्त्रोऽत्रार्क उच्यते। तद्वन्तः होतारोऽपि। ब्रह्माणः। ब्रह्मैकर्त्विक्। तत्पुरुषाँस्तु ब्राह्मणाच्छंस्यादीन् अपेक्ष्येदं बहुवचनम्। ब्रह्माणोऽपि त्वा हे शतक्रतो बहुकर्मन् बहुप्रज्ञ वा। उद्वंशमिव येमिरे। यथा कश्चिद्वंश-मुद्यच्छेद्, एवमुद्यच्छन्ति उत्क्षिपन्ति, उच्छ्रयन्ति इत्यर्थः। वीर्यवृद्धिश्चात्रो-च्छ्रायोऽभिप्रेतः। स्तूयमाना हि देवता वीर्येण वर्द्धन्ते सर्वे ऋत्विजः स्वैः स्वैः स्तोत्रैस्त्वां स्तुवन्तीति समस्तार्थः॥ १॥

९२ यत्सानोः सानुमारुहद्भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति॥ २॥

यत्। सानोः सानुम्। आ। अरुहत्। भूरि। अस्पष्ट। कर्त्वम्।
तत्। इन्द्रः। अर्थम्। चेतति। यूथेन। वृष्णिः। एजति॥

Indra, the showerer (of blessings), knows the object (of his worshipper), who has performed many acts of worship (with the Soma *plant gathered) on the ridges of the mountain, and (therefore) comes with the troop (of* Maruts *).*

(यत्) जब [यजमान सोमलता, समिधा आदि लाने के लिए] (सानोः) एक पर्वतखण्ड से (सानुम्) दूसरे पर्वतखण्ड पर (आरुहत्) आरोहण करता है [और] (भूरि) प्रचुर रूप से (कर्त्वम्) सोमयाग रूपी कर्म को (अस्पष्ट) आरम्भ करने की योजना बनाता है; (तत्) तब (इन्द्रः) इन्द्र-देवता (अर्थं) यजमान के प्रयोजनों को (चेतति) जान जाते हैं तथा (वृष्णिः) कामनाओं के पूरक बनकर (यूथेन) मरुद्-

गण के साथ-साथ (एजति) अपने स्थान से यज्ञ में आने के लिए उद्यत होते हैं, चल पड़ते हैं ।

सायणः—यत् यदा सानोः सानुमारुहत् यजमानः सोमवल्लीसमिदाद्याहरणाय एकस्मात् पर्वतभागात् अपरं पर्वतभागम् आरूढवान् तथा भूरि प्रभूतं कर्त्वं कर्म सोमयागरूपम् अस्पष्ट स्पृष्टवान् । उपक्रान्तवानित्यर्थः । तत् तदानीम् इन्द्रः अर्थं यजमानस्य प्रयोजनं चेतति जानाति । ज्ञात्वा च वृष्णिः कामानां वर्षिता सन् यूथेन मरुद्गणेन सह एजति कम्पते । स्वस्थानात् यज्ञभूमिमागन्तुमुद्युङ्क्ते इत्यर्थः । सानोः । 'षणु दाने'। सनोति ददाति निवसतामवकाशमिति सानुः । 'दृसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्' (उ० १।३)। णित्वात् उपधाया वृद्धिः । अरुहत् । रुहेर्लङि तिपि शपि 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (परिभा० ९३।१) इति लघूपधगुणो न भवति । भूरि । 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' (उ० ४।५०५)। किरवाद् गुणाभावः । अस्पष्ट । 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' (धा० भ्वा० ९१२)। 'स्वरितञितः०' (पा० १।३।७२) इत्यात्मनेपदम् । लङः प्रथमपुरुषैकवचनं त । 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक् । व्रश्चादिषत्वष्टुत्वे (पा० ८।२।३६; ८।४।४१)। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अडागम उदात्तः। स एव शिष्यते । अनुषङ्गेण यच्छब्दयोगात् निघाताभावः । कर्त्वम् । 'डुकृञ् करणे'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति विच् । गुणो रपरत्वम् । विचः सर्वापहारी लोपः । करो भावः कर्त्वम् । अर्थम् । अर्तेः 'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्' (उ० २।१६१)। नित्वादाद्युदात्तः। यूथेन । 'तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः' (उ० २।१६९) इति थक्प्रत्ययान्तो निपातितः। वृष्णिः । 'निः' इत्यनुवृत्तौ 'सृवृषिभ्यां कित्' (उ० ४।४८९) इति निप्रत्ययान्तः । किरवाद् गुणाभावः । एजति । 'एजृ कम्पने' (धा० भ्वा० १७९)। निघातः ।

स्कन्दः—यदभ्रं सानोः सानुं सारसमुच्छ्रितम् उच्चाद् गिरिशिखरादन्यदुच्चतरं गिरिशिखरम् आरुहद् आरोहति । आरुह्य च भूरि बहु अस्पष्ट । 'स्पश बन्धने'। शुद्धोऽपि च सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः । प्रतिबध्नाति । कर्त्वं कर्म । वृष्टिं ह्यभ्रं निरुद्धं तदायत्तानि सर्वकर्माणि प्रतिबध्नाति । तदिन्द्रः अर्थम् । अर्तेर्गतिकर्मण एतद् रूपम् । गमनशीलं न परमपि चेतति जानाति । ज्ञात्वा च यूथेन । समुदायसामान्यान्मरुद्गणोऽत्र यूथमुच्यते । सहयोगलक्षणा चात्र तृतीया । मरुद्गणेन सह । वृष्णिः वर्षिता । एजति गतिकर्मायम् । वधार्थं गच्छति । अथवा 'एजृ कम्पने' इत्येतस्यान्तर्णीतण्यर्थस्यैतद् रूपम् । एजयति कम्पयति । उदकशोधनार्थं धूनयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

९३ युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥ ३ ॥
युक्ष्व । हि । केशिना । हरी इति । वृषणा । कक्ष्यऽप्रा ।
अथ । नः । इन्द्र । सोमऽपाः । गिराम् । उपऽश्रुतिम् चर ॥

Indra, drinker of the Soma, *having put to thy long-maned, vigorous, and well-conditioned steeds, come nigh to hear our praises.*

(सोमपाः) सोमपान करनेवाले (इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (केशिना) लम्बे केशोंवाले (वृषणा) पूर्णतः प्रौढ तथा (कक्ष्यप्रा) लगाम को भर देने योग्य पुष्ट शरीरवाले (हरी) दोनों घोड़ों को तो (युक्ष्वा हि) जोत ही लीजिये; (अथ) उसके बाद (नः) हमारी (गिराम्) स्तुतियों के (उपश्रुतिं) श्रवण के उद्देश्य से (चर) इधर ही चल पड़िये ।

सायणः—हे सोमपाः सोमपानयुक्त इन्द्र हरी त्वदीयावश्वौ युक्ष्वा हि सर्वथा संयोजय । अथ अनन्तरं नः अस्मदीयानां गिरां स्तुतीनाम् उपश्रुतिं समीपे श्रवणमुद्दिश्य चर तत्प्रदेशं गच्छ । कीदृशौ हरी । केशिना स्कन्धप्रदेशे लम्बमानकेशयुक्तौ वृषणा सेचनसमर्थौ युवानौ । कक्ष्यप्रा । अश्वस्योदरबन्धनरज्जुः कक्ष्या तस्याः पूरकौ पुष्टाङ्गावित्यर्थः । युक्ष्व । श्नमो लोपश्छान्दसः । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घत्वम् । केशिना । प्रशस्ताः केशा अनयोः सन्तीति मत्वर्थीय इनिः । प्रत्ययस्वरः । 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना द्विवचनस्य आकारादेशः । वृषणा । 'वृषु वृषु मृषु सेचने' । 'कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५४) इति कनिन् । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तः । 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० ६।४।९) इति उपधायाः पक्षे दीर्घाभावः । पूर्ववत् आकारः । कक्ष्यप्रा । कक्षयोर्भवं कक्ष्यं सूत्रम् । तत् प्रातः पूरयतः पुष्टत्वादिति कक्ष्यप्रौ । 'प्रा पूरणे' (धा० अ० ५१) । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० ३।२।३) इति कप्रत्ययः । आकारः पूर्ववत् । अथ । 'निपातस्य०' (पा० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः । इन्द्र सोमपाः । उभौ 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९) इति सर्वानुदात्तौ ॥ ३ ॥

स्कन्दः—युक्ष्वा हि नियुङ्क्ष्व स्वरथे केशिना केशवन्तौ प्रलम्बकेसरौ हरी आत्मीयावश्वौ । वृषणा । 'वृषु मृषु सेचने' । रेतस्सेचनसमर्थौ, तरुणावित्यर्थः । कक्ष्यप्रा । कक्ष्या रज्जुरश्वस्य, यया पर्याणमुरसि बध्यते । 'प्रा पूरणे' । कक्ष्यायाः पूरयितारौ, मांसपूर्णशरीरावित्यर्थः । अथ अनन्तरं च नः अस्माकं स्वभूतानां

हे इन्द्र सोमपाः सोमानां पातः गिरां स्तुतीनाम् उपश्रुतिं श्रुतेः समीपं चर गच्छ। यत्रास्मदीयाः स्तुतीः शृणोषि तत्रागच्छेत्यर्थः॥ ३॥

९४ एहि स्तोमाँ अभि स्वराभि गृणीह्या रुव।
ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय॥ ४॥

आ। इहि। स्तोमान्। अभि। स्वर। अभि। गृणीहि। आ। रुव।
ब्रह्म। च। नः। वसो इति। सचा। इन्द्र। यज्ञम्। च वर्धय॥

Come, Vasu, (to this our rite); reply to our hymns, answer (to our praises), respond to (our. prayers); be propitious, Indra, to our sacrifice, and (bestow upon us abundant) food.

(वसो) सबों को आवास देनेवाले, धनयुक्त (इन्द्र) हे इन्द्रदेवता! [आप हमारे] (स्तोमान्) उद्गाता के स्तोत्रों की (अभिस्वर) प्रशंसा करो, (अभिगृणीहि) अध्वर्यु की स्तुतियों का उत्तर दें, (आरुव) होता के स्तवनों को देखकर भी बोलें [= सभी ऋत्विजों की प्रशंसा करें] !(नः) हमारे (ब्रह्म) अन्न तथा (यज्ञं च) अनुष्ठित कर्म को भी (सचा) साथ-ही-साथ (वर्धय) बढावें, सम्पन्न करें।

सायणः—हे वसो निवासकारणभूत इन्द्र एहि अस्मिन्कर्मण्यागच्छ। आगत्य च स्तोमान् उद्गातृप्रयुक्तानि स्तोत्राणि अभि स्वर अभिलक्ष्य प्रशंसारूपं शब्दं कुरु। तथा आध्वर्यवमभिलक्ष्य गृणीहि शब्दं कुरु। तथा होतृप्रयुक्तानि शस्त्राण्यालक्ष्य रुव शब्दं कुरु। परितोषेण सर्वानृत्विजः प्रशंसेत्यर्थः। तत ऊर्ध्वं नः अस्माकं ब्रह्म च अन्नं च यज्ञं च अनुष्ठीयमानं कर्म च सचा सह वर्धय। साङ्गत्वसंपादनेन यज्ञं वर्धयित्वा तत्फलमन्नं च प्रवृद्धं कुरु। 'अन्धः' इत्यादिष्वष्टाविंशत्यन्ननामसु (निघ० २।७) 'ब्रह्म वर्चः' इति पठितम्॥ इहि। 'इण् गतौ'। सेर्हिः। हेरपित्त्वेन ङित्त्वाद् गुणाभावः। आङा सह गुणः। स्तोमान्। 'अर्तिस्तुसु०' (उ० १।१३७) इत्यादिना मन्। उत्तरपदेन संहितायां नकारस्य 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) इति रुत्वम्। 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० ८।३।३) इति आकारस्यानुनासिकः। 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा० ८।३।१७) इति यत्वम्। तस्य 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति लोपः। तस्यासिद्धत्वात् स्वरसन्धिर्न भवति। स्वर। 'स्वृ शब्दोपतापयोः' (धा० भ्वा० ९५७)। गृणीहि। 'गॄ शब्दे' (धा० क्र्या० २९)। 'सेर्ह्यपिच्च' (पा० ३।४।८७) इति हिः। 'क्र्यादिभ्यः श्ना'। 'ई हल्यघोः' (पा० ६।४।११३) इति ईत्वम्। 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० ७।३।८०) इति

ऋकारस्य ऋकारः। 'ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्' (पा० ८।४।१ वा०) इति णत्वम्। निघातः। रुव। 'रु शब्दे' (धा० अ० २४)। सेर्ह्यपिच्च। शपि प्राप्ते व्यत्ययेन शः। तस्य ङित्वेन गुणाभावात् उवङादेशः। 'अतो हेः' (पा० ६।४।१०५) इति हेर्लुक्। निघातः। ब्रह्म। 'तृहि बृहि वृद्धौ' (धा० रु० १८)। 'मनिन्' इत्यनुवृत्तौ 'बृहेरम् नलोपश्च' (उ० ४।५८५ ?) इति मनिन्। तत्संनियोगेन नलोपः अमागमश्च। 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (पा० १।१।४७) इति ऋकारात्परः। यणादेशः। यज्ञम्। 'यजयाच०' (पा० ३।३। ३०) इत्यादिना नङ् ॥ ४ ॥

स्कन्दः—एहि आगच्छ। आगत्य च स्तोमान् अभिस्वर। अन्यत्र 'स्वृ शब्दोपतापयोः'। इह तु सामर्थ्यात् गत्यर्थः। अस्मदीयाः स्तुतीरभिगच्छ। अथवा स्वरतिः शब्दार्थ एव। स्तोमानित्येतच्च एहीत्यनेन सम्बध्यते। एह्यस्मदीयान् स्तोमान् प्रति। आगत्य चाभिस्वर। अभिशब्दयास्मान् आगच्छतः। स्तोतारः, आगतोऽहं, स्तुत, किमतः परमाध्वे इति। अभिस्वृत्य च अभिगृणीहि। 'अभि' इत्ययं प्रतीत्यस्य स्थाने। प्रतिगृणीहि। आरुव च शब्दय च। किं, सामर्थ्याच्छस्त्रं चोच्चारयेत्यर्थः। हेतुकर्तृतया चोभयत्रापि इन्द्रस्य कर्तृत्वम्। प्रतिगृणन्तमध्वर्युं शंसन्तं च मां प्रयुङ्क्ष्वेत्यर्थः। एतत्कुर्वन् ब्रह्म च स्तुतिलक्षणं नः अस्माकं स्वभूतम्। वसो। शतपथे वसिष्ठ इति वसुशब्दस्यातिशयितप्रत्ययान्तस्य 'यद्वै नः श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः' इति प्रशस्यतमवचनेन श्रेष्ठशब्देनार्थविवरणदर्शनाद् वसुशब्दः प्रशस्यनाम। प्रशस्य ! अथवा वस्विति धननाम। सामर्थ्यात् च अन्तर्णीतमत्वर्थम्। धनयुक्त ! सचा सह। हे इन्द्र ! यज्ञं च वर्धय समापय। स्तुतियज्ञयोर्हि समाप्तिरेव वृद्धिः ॥ ४ ॥

९५ उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे ।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत्सख्येषु च ॥ ५ ॥

उक्थम् । इन्द्राय । शंस्यम् । वर्धनम् । पुरुनिःऽसिधे ।
शक्रः । यथा । सुतेषु । नः । रारणत् । सख्येषु । च ॥

The hymn, the cause of increase, is to be repeated to Indra, the repeller of many foes, that Śakra *may speak (with kindness) to our sons and to our friends.*

(पुरुनिष्षिधे) बहुत-से शत्रुओं को रोकनेवाले (इन्द्राय) इन्द्र के लिए [हम लोगों को] (वर्धनम्) निरन्तर बढ़नेवाला (उक्थं) उक्थ या शस्त्र नामक स्तोत्र (शंस्यम्) समर्पित करना चाहिए (यथा) जिससे

(शक्रः) इन्द्र-देवता (नः) हमारे (सुतेषु) पुत्र-पौत्रों पर (सख्येषु च) और मित्रों पर भी (रारणत्) प्रशंसा-शब्दों का आधान करें।

सायण:—इन्द्राय इन्द्रार्थं वर्धनं वृद्धिसाधनम् उक्थं शस्त्रं शंस्यम् अस्माभिः शंसनीयम्। कीदृशाय इन्द्राय। पुरुनिष्षिधे बहूनां शत्रूणां निषेधकारिणे। शक्रः इन्द्रः नः अस्मदीयेषु सुतेषु पुत्रेषु सख्येषु च सखित्वेष्वपि यथा येन प्रकारेण रारणत् अतिशयेन शब्दं कुर्यात् तथा शंस्यमिति पूर्वत्रान्वयः। अस्मदीयेन शस्त्रेण परितुष्टः इन्द्रोऽस्माकं पुत्रान् अस्मत्सख्यानि च बहुधा प्रशंसत्वित्यर्थः। उक्थम्। वचेस्थक्प्रत्ययः (उ० २।१६४)। शंस्यम्। 'शंसु स्तुतौ' (धा० भ्वा० ७२९)। ण्यन्तात् 'अचो यत्'। 'णेरनिटि' (पा० ६।४।५१) इति णिलोपः। तित्स्वरिते प्राप्ते 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्। 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११७) इति करणे ल्युट्। पुरुनिष्षिधे बहूनां शत्रूणां निषेधकाय। 'षिध गत्याम्' (धा० भ्वा० ४७)। 'धात्वादेः षः सः'। अत्र निरित्युपसर्गस्य निशब्दसमानार्थस्य प्राक्प्रयोगः। 'क्विप् च' इति क्विप्। क्विपः सर्वापहारी लोपः। 'कुगतिप्रादयः' (पा० २।२।१८) इति समासः। निसः सकारेण इणो व्यवधानं छान्दसत्वादनादृत्य 'उपसर्गात्सुनोति०' (पा० ८।३।६५) इत्यादिना धातुसकारस्य षत्वम्। निसः सकारस्य 'ष्टुना ष्टुः' (पा० ८।४।४१) इति षत्वम्। पुरुशब्देन कर्मणि षष्ठ्यन्तेन समासः। शक्नोतीति शक्रः। 'स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०' (उ० २।१७०) इत्यादिना रक्। यथा। 'प्रकारवचने थाल्' (पा० ५।३।२३)। सुतेषु। क्तः प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। नसो नकारस्य 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० ८।४।२७) इति संहितायां णत्वम्। रारणत्। 'रण शब्दार्थः'। 'धातोरेकाचः०' (पा० ३।१।२२) इति यङ्। 'यङोऽचि च' (पा० २।४।७४) इति लुक्। प्रत्ययलक्षणेन द्विर्भावः (पा० ६।१।९)। हलादिशेषः। 'दीर्घोऽकितः' (पा० ७।४।८३) इति दीर्घः। प्रत्ययलक्षणेन 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा० ३।१।३२) इति धातुसंज्ञायां 'लिङर्थे लेट्' (पा० ३।४।७) इति हेतुहेतुमद्भावलक्षणे लिङर्थे (पा० ३।३।१५६) लेट्। अत्र हि इन्द्रकर्तृकं रारणनम् उक्थशंसनस्य कर्तव्यत्वे हेतुः। लेटस्तिप्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० ३।४।९७) इति इकारलोपः। 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इति अडागमः। कर्तरि शप्। तस्य चर्करीतं परस्मैपदम् अदादिवच्च द्रष्टव्यमिति अदादिवद्भावात् 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति प्राप्तो लुक् 'बहुलं छन्दसि' इति निषिध्यते। सख्येषु। सख्युः कर्माणि सख्यानि तेषु। 'कर्मणि च' (पा० ५।१।१२४) इत्यनुवृत्तौ 'सख्युर्यः' (पा० ५।१।१२६) इति सखिशब्दात् यप्रत्ययः। तत्र भसंज्ञायां 'यस्येति च' (पा० ६।४।१४८) इति इकारलोपः।

स्कन्दः—उक्थमिन्द्रस्यार्थाय शंसनीयम्। कीदृशं, वर्धनीयम्। कस्य, सामर्थ्यात् इन्द्रस्य। स्तूयमाना हि देवता वर्धते वीर्येण। कीदृशायेन्द्राय, पुरुनिष्विधे। निरित्येष नीत्येतस्य स्थाने। बहूनां शत्रूणां निषिधे निवारकाय, निष्कृत्य वा साधयित्रे स्ववशीकर्त्रे। कथं च पुनः शंसनीयः शक्रः शक्त इन्द्रः यथा सुतेषु नः अस्माकं रारणत्। रमेरिदं छान्दसं णत्वम्। रणिर्वा रमेरर्थे। अत्यन्तं रमते। सख्येषु च सखित्वेषु चास्माभिः सहावैगुण्यमनेन प्रकारेणोच्यते। अविगुणशंसिनो हि सुतेषु सख्येषु च देवता रमते ॥ ५ ॥

९६ तमित्सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।

स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः ॥ ६ ॥

तम्। इत्। सखिऽत्वे। ईमहे। तम्। राये। तम्। सुऽवीर्ये।

सः। शक्रः। उत। नः। शकत्। इन्द्रः। वसु। दयमानः ॥

We have recourse to Indra for his friendship, for wealth, for perfect might; for he, the powerful Indra, conferring wealth, is able (to protect us).

(सखित्वे) मित्रता के लिए (तम् इत्) उन्हीं के पास (राये) धन प्राप्ति के लिए (तम्) उन्हीं के पास तथा (सुवीर्ये) उत्तम बल की प्राप्ति के लिए भी (तम्) उन्हीं के पास (ईमहे) हम पहुँचते हैं; (वसु) धन का (दयमानः) वितरण करते हुए (सः) वे (शक्रः) सामर्थ्यवान् (इन्द्रः) इन्द्र देवता (नः) हमारी [रक्षा करने में] (शकत्) बिलकुल समर्थ हैं ॥६॥

सायणः—सखित्वे निमित्तभूते सति तमित् तमेवेन्द्रम् ईमहे प्राप्नुमः। तथा राये धनार्थं तम् ईमहे। तथा सुवीर्ये शोभनसामर्थ्यनिमित्तं तम् ईमहे। उत अपि च शक्रः शक्तिमान् सः इन्द्रः नः अस्मभ्यं वसु धनं दयमानः प्रयच्छन् शकत् अस्मदीयरक्षणे शक्तोऽभूत्। सप्तदशयाच्ञाकर्मसु (निघ० ३।१९) 'ईमहे यामि' इति पठितम्। तदनुसारेण इन्द्रं याचामहे इति व्याख्येयम् ॥ सख्युर्भावः सखित्वम्। 'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा० ५।१।११९) इति त्वः। ईमहे। 'ईङ् गतौ' (धा० दि० ३७)। ङित्वादात्मनेपदम् (पा० १।३।१२)। 'दिवादिभ्यः श्यन्'। 'बहुलं छन्दसि' इति श्यनो लुक्। 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः। सुवीर्ये। शोभनं वीर्यं यस्यासौ सुवीर्यः। भवितृवाचिनानेन भावो लक्ष्यते। सुवीर्यत्वे इत्यर्थः। शक्नोतीति शक्रः। 'स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०' (उ० २।१७०) इत्यादिना रक्। प्रत्ययस्वरः। शकत्। 'शक्लृ शक्तौ' (धा० स्वा० १५)। धातुसम्बन्धाधिकारे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति लुङ्। यतः शक्नोति अतस्तमीमहे इति धातुसम्बन्धः। लुङस्तिप्। 'पुषादिद्युताद्यॢदितः

परस्मैपदेषु' (पा० ३।१।५५) इति च्लेरङादेशः। 'बहुलं छन्दसि०' (पा० ६।४।७५) इत्यडागमाभावः। वसु। 'नित्' इत्यनुवृत्तौ (उ० १।९) वसेः उप्रत्ययः (उ० १।१०)। दयमानः। 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' (धा० भ्वा० ४८२)। अनुदात्तेत्वात् आत्मनेपदम्। लटः शानजादेशः (पा० ३।२।१२४)॥ ६॥

स्कन्दः—य उक्तगुण इन्द्रः तम्। इदिति पदपूरणः। सखित्वे। द्वितीयार्थे सप्तमी। ईमहे। याच्ञाकर्मायम्। याचामहे। सखा अस्माकं भवेत्येतत्प्रार्थयामहे इत्यर्थः। तमेव राये। इयमपि चतुर्थी द्वितीयार्थे। धनम्। सुवीर्ये इत्ययमपि द्वितीयार्थे। शोभनं वीर्यम्। स शक्रः। उतशब्दोऽप्यर्थे। सशब्दाच्च परो द्रष्टव्यः। सोऽपि शक्रः शक्तः नः अस्मभ्यं शकत्। शिक्षति धनं शकिर्दानकर्मा पठितः। अयं तु शुद्धोऽपि सामर्थ्याद् दानकर्मा। ददात्वित्यर्थः। अथवा शकिः स्वार्थ एव। उतशब्दस्तु यस्मादर्थे। शकेश्च कर्मभूतेन धात्वन्तरेण नित्यसम्बन्धाद् योग्यस्य तस्याध्याहारः। स शक्रो यस्मादस्मभ्यं शक्नोति दातुं तस्माद् याचामहे। यस्माद् दानसमर्थ इत्यर्थः। कः सः। उच्यते—इन्द्रः। कदा कदा ददातु शक्नोति वा दातुम्? उच्यते। वसु दयमानः। दयतिर्विभागकर्मा। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पा० ३।२।१२६) इति। एवं चायं लक्षणे शानच्। स्तोतृभ्यो धनं विभजन्। यदा स्तोतृभ्यो धनविभागः तदा तस्मादस्मभ्यमेतद् ददाति इत्यर्थः॥ ६॥

९७ सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥ ७॥

सुऽविवृतम्। सुनिःऽअजम्। इन्द्र। त्वाऽदातम्। इत्। यशः।
गवाम्। अप। व्रजम्। वृधि। कृणुष्व। राधः। अद्रिऽवः॥

Indra, by thee is food (rendered) everywhere abundant, easy of attainment, and assuredly perfect : wielder of the thunderbolt, set open the cow-pastures, and provide (ample) wealth.

(इन्द्र) हे इन्द्र देव ! (त्वादातम् इत्) आपके द्वारा शोधित या सम्पन्न किया गया (यशः) अन्न (सुविवृतं) सर्वत्र व्याप्त तथा (सुनिरजम्) आसानी से मिल सकता है; (गवां) गौओं का (व्रजम्) निवासस्थान (अप वृधि) खोल दीजिये तथा (अद्रिवः) हे वज्रधर ! (राधः) धन राशि भी (कृणुष्व) उत्पन्न कीजिये, हमें दीजिये॥ ७॥

सायणः—हे इन्द्र यशः अन्नं कर्मफलभूतं सुविवृतं सुष्ठु सर्वत्र प्रसृतं

सुनिरजं सुखेन निःशेषं प्राप्तुं शक्यं त्वादातमिव् त्वया शोधितं च सम्पन्नमिति शेषः। इतः परं क्षीरादिरसलाभार्थं गवां व्रजं निवासस्थानम् ,अप वृधि अपवृत-मुद्घाटितद्वारं कुरु। हे अद्रिवः पर्वतोपलक्षितवज्रयुक्तेन्द्र! राधः धनं कृणुष्व सम्पादय ॥ सुविवृतम्। 'वृञ् वरणे' (धा० स्वा० १३३४)। कर्मणि क्तप्रत्ययः। विशब्देन प्रादिसमासः। विवृतमित्यत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरं बाधित्वा कर्म-वाचिनि क्तान्ते परतः 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।२।१९९) इति ऋकार उदात्तः। पुनः सुशब्देन समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण स एव ऋकार उदात्तः।' ' त्वादातम्। त्वया शोधनेन विशदीकृतम्। 'दैप् शोधने' (धा० भ्वा० ९४९)। 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० ६।१।४५) इति आत्वम्। सत्यपि हि पकारे 'नानुबन्ध-कृतमनेजन्तत्वम्' (परिभा० ७) इति एजन्त एवायम्। 'निष्ठा' (पा० ३।२।१०२) इति कर्मणि क्तः। 'दाधा घ्वदाप्' (पा० १।१।२०, इत्यत्र अदाप् इति प्रतिषेधेन घुसंज्ञाया अभावात् 'दो दद् घोः' (पा० ७।४।४६) इति ददादेशो न भवति। ननु 'दाप् लवने' (धा० अ० ४९) इति प्रतिपदोक्तस्यैव दापः तत्र 'अदाप्' इति निषेधः; न पुनर्लाक्षणिकस्य दैपः। लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लाक्षणिकस्य (परिभा० १०५) इति नियमात् इति चेत्, न। 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' (परिभा० १०६) इति प्रतिप्रसवात्। युष्मच्छब्दात् तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति डादेशः। 'त्वमावेकवचने' (पा० ७।२।९७) इति मपर्यन्तस्य त्वादेशः। 'अतो गुणे' (पा० ६।१।९७) इति पररूपत्वम्। भसंज्ञायां 'टेः' (पा० ६।४।१४३) इति अद्शब्दस्य लोपः। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (पा० २।१।३२) इति तृतीया-समासः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० ६।३।१४) इति तृतीयाया अपि अलुक्। यशः। 'अशू व्याप्तौ' (धा० स्वा० १८)। 'अशेर्युट् च' (उ० ४।६३०) इति असुन्। तत्संनियोगेन धातोर्युडागमः। वृधि। 'वृञ् वरणे'। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० ३।४।१०२) इति हेर्धिरादेशः। 'बहुलं छन्दसि' इति श्नोरपि लुक्। कृणुष्व। 'कृवि हिंसाकरणयोः' (धा० भ्वा० ५९९)। इदितो नुम्। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। लोटस्थास्। (पा० ३।४।७८)। 'थासः से' (पा० ३।४।८०)। 'सवाभ्यां वामौ' (पा० ३।४।९१)। कर्तरि शपि (पा० ३।१।६८) प्राप्ते 'धिन्विकृण्व्योर च' (पा० ३।१।८०) इति उप्रत्ययः। तत्संनियोगेन वकारस्य च अकारः। तस्य 'अतो लोपः' (पा० ६।४।४८) इति लोपः। 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (पा० १।१।५७) इति अकारलोपस्य स्थानि-वद्भावात् लघूपधगुणो न भवति। अद्रिवः। अद्रिर्वज्रम्। तदस्यास्तीति मतुप्। 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति वत्वम्। संबुद्धौ 'उगिदचाम्०' (पा०

७।१।७०) इति नुम् । हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ (पा० ६।१।६८; ८।२।२३) । 'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि' (पा० ८।३।१) इति रुत्वम् । विसर्जनीयः ॥ ७ ॥

स्कन्दः—सुविवृतं सुष्ठु लोके प्रकाशम् । निरिस्येप नीत्येनस्य स्थाने । 'अज गतिक्षेपणयोः' । सुनिक्षेपम् । यत्र यत्र विनियोक्तुमिष्यते, तत्र तत्र प्रभूतत्वात् सुविनियोजम् इत्यर्थः । हे इन्द्र, त्वादातं त्वयादत्तम् । कस्मै ? सामर्थ्यादस्मभ्यम् । इद् यशः । इच्छब्दः पदपूरणः । यशः अन्नम् । इदानीं तु गवाम् अप व्रजं वृधि । व्रजं गोष्ठमुच्यते । गवामास्मीयं गोष्ठम् अपवृधि अपावृणु उत्पाटय । आत्मीयाद् गोष्ठाद् गा आनीयास्मभ्यं देहीत्यर्थः । अथवा आपोऽत्र गाव उच्यन्ते । व्रजशब्दोऽपि मेघनाम । वृष्टिलक्षणानामपां सम्बन्धिनं मेघमुद्धाटय वर्षयेत्यर्थः । कृणुष्व राधः धनं च कुरु, धनं च देहीत्यर्थः । हे अद्रिवः । अद्रिरिति पर्वतनाम । 'अथापि तद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (नि० २।) इत्येतेन न्यायेन पर्वतविकारो वज्रोऽप्यद्रिरुच्यते । आदरणाद्वा मेघानामसुराणां च । वज्रिन् ! ॥ ७ ॥

९८ नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः ।
जेपः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि । धूनुहि ॥ ८ ॥

नहि । त्वा । रोदसी इति । उभे । इति ऋघाय मानम् । इन्वतः ।
जेपः । स्वः॒ऽवतीः । अपः । सम् । गाः । अस्मभ्यम् धूनुहि ॥

Heaven and earth are unable to sustain thee when destroying thire enemies; thou mayest command the waters of heaven : Send us liberally kine.

[हे इन्द्र-देवता] (ऋघायमाणं) शत्रुओं का वध करते समय (रोदसी) स्वर्ग और पृथ्वी (उभे) दोनों मिलकर भी (त्वा) आपको, आपकी महिमा को (नहि इन्वतः) व्याप्त नहीं कर सकती हैं; [तो आप] (स्वर्वतीः) स्वर्गलोक से सम्बद्ध (अपः) वृष्टि-रूपी जल को (जेपः) जीत लें, प्रेरित करें [और अन्त में] (अस्मभ्यं) हमलोगों को (गाः) गायें (संधूनुहि) अच्छी तरह प्रदान कीजिये ।

सायणः—हे इन्द्र ! ऋघायमाणं शत्रुवधं कुर्वाणं त्वां रोदसी उभे द्यावापृथिव्यावपि त्वदीयं महिमानं नहि इन्वतः व्याप्तुं न समर्थे इत्यर्थः । तादृशस्त्वं स्वर्वतीः स्वर्लोकयुक्ता अपः वृष्टिरूपाः जेपः जयेः प्रेरय इत्यर्थः । अपां स्वर्गसम्बन्धश्चान्यत्र 'दिवो वृष्टिं च्यावयति' (तै० सं० ३।३।४।१) इति श्रुतम् । किं च वृष्टिप्रदानात् अन्नसंपत्तेरूर्ध्वम् अस्मभ्यं क्षीरादिप्रदाः गाः सं धूनुहि सम्यक् प्रेरय ॥ नहि । नञो हिशब्देन 'सह सुपा' (पा० २।१।४) इति

समासः। समासत्वादन्तोदात्तत्वम्। रोदसी। रुदेः असुन्। 'उगितश्च' (पा० ४।१।६) इति ङीप्। ऋघायमाणम्। नॄन् हन्तीति ऋघा। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति विच्। दृशिग्रहणस्य विध्यन्तरोपसंग्रहार्थत्वाम् नकारलोपो हकारस्य च घकारः। अनृघा ऋघा भवतीत्यभूततद्भावे लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्। पा० ३।१३। इति क्यष्प्रत्ययो भवति। स ह्याकृतिगणः। लोपश्च हलः। (पा० ३।१।१२) इत्यनुवृत्तेर्नकारलोपश्च। वा क्यषः। (पा० १।३।९०) इत्यात्मनेपदं। लटः शानच्। शपोऽदुपदेशात्पराच्छानचो लसार्वधातुकानुदात्तत्वं। शपः पित्वादनुदात्तत्वं। क्यषः प्रत्ययस्वरः। एकादेशस्योदात्तत्वं। इन्वतः। इति व्याप्तौ। इदितो नुम् धातोरिति नुम्। शपः पित्वादनुदात्तत्वं। लडादेशस्य तसश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वर एव शिष्यते। हि चेति निषेधात्तिङ्ङतिङ इति निघातो न भवति। जेष जे प्रार्थनायां लिङर्थे लेट्। तस्य मध्यमपुरुषैकवचनं सिप्। इतश्च लोपः परस्मैपदेष्वितीकारलोपः। कर्तरि शपि प्राप्ते तदपवादः सिब्बहुलं लेटीति सिप्। अडागमस्यानुदात्तत्वाद्धातुस्वर एव शिष्यते। स्वरासामस्तीति स्वर्वत्यः। न्यङ्स्वरौ स्वरितौ। फि० ४६। इति स्वरशब्दः स्वरितः। मतुब्ङीपौ पित्वादनुदात्तौ। संहितायां स्वरितात्संहितायामनुदात्तानां। (पा० १।२।३२) इत्येकश्रुतिः। स्वरित एव शिष्यते। अपः। ऊडिदमित्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वं धूनुहि। धूञ् कम्पने। लोट्। सेर्ह्यपिच्च स्वादिभ्यः श्नुः। उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (पा० ६।४।१०६) इति प्राप्तस्य लुकश्छांदसत्वादभावः। अभिप्लवषडहस्योक्थ्येषु तृतीयसवनेऽच्छावाकस्य षट्स्तोत्रियानुरूपयुगलेषु द्वितीयस्मिन्युगले आश्रुत्कर्णेति तृचोऽनुरूपः। एह्यू ष्विति खडे श्रुधीहवं तिरश्च्या आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं (आ० ७।८) इति सूत्रितम्॥ ८॥

स्कन्दः—नहि इति निपातो नेत्यनेन समानार्थः। न त्वाम् रोदसी द्यावापृथिवी उभे अपि ऋघायमाणम् 'ऋघायतो अभियुजो भयन्ते (ऋ० ४।३८।८) इत्यादिप्रयोगदर्शनाद् ऋघायतिर्वधार्थः। घ्नन्तं शत्रून्। इन्वतः व्याप्तिकर्माऽयम्। व्याप्नुतः। शत्रून् घ्नन् द्यावापृथिव्योः सकाशाच्छरीरेण वीर्येण वा त्वं महत्तरो भवसीत्यर्थः। किञ्च जेषः जयसि त्वम् अपः। कीदृशः। स्वर्वतीः स्वरादित्यः स्वरश्मिभिरादायासामन्तिकानयनात् स्वर्वत्यः। अथवा स्वर्शब्दः सर्वपर्यायः। सर्वं साध्यं यासामस्ति ताः स्वर्वत्यः। ताः स्वर्वतीः। आदित्यरश्म्याहृताः सर्वस्य वा साधिका इत्यर्थः॥ ८॥

९९ आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥ ९॥

आश्रुत्ऽकर्ण । श्रुधि । हवम् । नु । चित् । दधिष्व । मे । गिरः ।
इन्द्र । स्तोमम् । इमम् । मम । कृष्व । युजः । चित् । अन्तरम् ॥

Oh ! thou whose ears hear all things, listen quickly to my invocation; hold in thy heart my praises; Keep near thee this hymn of mine, as it were (the words of) a friend.

(आश्रुत्कर्ण) सब कुछ सुन सकनेवाले कानों से युक्त (इन्द्र) हे इन्द्रदेव ! (हवं) हमारे आह्वानों को (नु) शीघ्र (श्रुधि) सुनिये; (मे) मेरी (गिरः चित्) स्तुतियों को भी (दधिष्व) अपने मन में धारण कीजिये । (मम) मेरे (इमं स्तोमं) इस स्तोत्ररूपी वाक्य-समूह को (युजश्चित्) अपने मित्र के भी (अन्तरं) निकट (कृष्व) ले जाइये ।

सायण :—हे आश्रुत्कर्ण सर्वतः श्रोतारौ कर्णौ यस्य तादृक् इन्द्र हवम् अस्मदीयमाह्वानं नु क्षिप्रं श्रुधि शृणु । मे मम होतुः गिरः-चित् स्तुतीरपि दधिष्व चित्ते धारय । किं च मम मदीयम् इमं स्तोमं स्तोत्ररूपं वाक्समूहं युजश्चित् स्वकीयसख्युरपि अन्तरं कृष्व आसन्नं कुरु । यथा वचनं तस्य प्रियं मन्यसे तद्वदस्मदीयस्तुतिष्वपि प्रीतिं कुरु इत्यर्थः ॥ आश्रुत्कर्ण । आ समन्तात् शृणुत इति आश्रुत् । क्विप् । ह्रस्वस्य तुक् (पा० ६।१।७१) । तादृशौ कर्णौ यस्य । श्रुधी । 'श्रु श्रवणे' (धा० भ्वा० ९६७) । लोटो हिः । 'श्रुवः शृ च' (पा० ३।१।७४) इति विहितश्नोः 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति लुक् । तत्संनियोगशिष्टत्वात् शृभावोऽपि निवर्तते । 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० ६।४।१०२) इति हेर्धिरादेशः । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६। ३।१३७) इति दीर्घः । हवम् । 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (धा० भ्वा० १०३३) । 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति अनैमित्तिके संप्रसारणे कृते पश्चात् उकारान्तत्वेन 'ऋदोरप्' (पा० ३।३।५७) इति अप् प्रत्ययः । नु । संहितायाम् 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० ६।३।१३३) इति दीर्घः । दधिष्व । दधातेर्लोट् । 'थासः से' । 'सवाभ्यां वामौ' (पा० ३।४।९१) । शपः श्लुः । अभ्यासस्य ह्रस्वत्वादि । 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति आर्धधातुकस्यपि स्वीकारात् इडागमः । आकारलोपः । निघातः । मम । 'तवममौ ङसि' (पा० ७।२।९६) इत्यनेन मपर्यन्तस्य ममादेशः । कृष्व । 'डुकृञ् करणे' । लोट् । 'थासः से' । 'सवाभ्यां वामौ' । शपो 'बहुलं छन्दसि' इति लुक् ॥ ९ ॥

स्कन्दः—हे आश्रुत्कर्ण ! श्रुधी हवम् आह्वानम् । श्रुत्वा च नु चिद् दधिष्व । नु इति क्षिप्रनाम । चिच्छब्दः- पदपूरणः । क्षिप्रं धारय मनसि स्थापय शृण्वित्यर्थः । श्रवणार्थ एव वा सामर्थ्याद् दधातिः । किम् । गिरः स्तुतीः

लौकिकीर्याज्यानुवाक्यालक्षणा वा। न च गिर एव केवलाः। किं तर्हि। हे इन्द्र स्तोममिमं ममैव स्वभूतं शस्त्रलक्षणम्। श्रुत्वा च कृष्व कुरुष्व। युजश्चित् सद्मनः सन्निकृष्टतमः। कः पुनरिन्द्रस्य सहायः। सखित्वात् सख्युश्च सहायताया अवश्यम्भावित्वाद्विष्णुर्वा। तस्यापि 'सखे विष्णो वितरम्' इति इन्द्रस्य सखित्वदर्शनात् मरुद्गणो वा ॥ ९ ॥

१०० विद्मा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम्।
वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्रसातमाम् ॥ १० ॥

विद्म। हि। त्वा। वृषन्ऽतमम्। वाजेषु। हवनऽश्रुतम्।
वृषन्ऽतमस्य। हूमहे। ऊतिम्। सहस्रऽसातमाम् ॥ १० ॥

We know thee, liberal rainer (of blessings), the hearer of our call in battles; we invoke the thousand-fold profitable protection of thee, the showerer (of bounties).

[हे इन्द्र-देवता !] (वृषन्तमं) हमारी कामनाओं की सर्वाधिक पूर्ति करनेवाले तथा (वाजेषु) संग्राम के समय (हवनश्रुतं) हमारे आह्वानों को सुननेवाले (त्वा) आप को (विद्म हि) हम जानते हैं; (वृषन्तमस्य) हमारी कामनाओं के सर्वाधिक पूरक [आप जैसे देवता की], (सहस्रसातमाम) हजारों तरह के धनों का सर्वाधिक दान करने वाली (ऊतिं) रक्षा-विधि का (हूमहे) हम आह्वान करते हैं।

सायणः—हे इन्द्र त्वां विद्मः जानीमः। कीदृशं त्वाम्। वृषन्तमं कामानामतिशयेन वर्षितारं वाजेषु संग्रामेषु हवनश्रुतम् अस्मदीयस्याह्वानस्य श्रोतारम्। वृषन्तमस्य अतिशयेन कामादीनां वर्षितुस्तव ऊतिं रक्षामस्मद्विषयामुद्दिश्य हूमहे त्वामाह्वयामः। कीदृशीमूतिम्। सहस्रसातमाम् अतिशयेन धनसहस्राणां दात्रीम्। विद्म। 'विदो लटो वा' (पा० ३।४।८३) इति मसो मादेशः। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। वृषन्तमम्। 'वृषु वृषु मृषु सेचने' (धा० भ्वा० ७०७) 'कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५४) इति कनिन्। नित्वादाद्युदात्तः। तमपः पित्वात् स एव शिष्यते। 'अयस्मयादीनि छन्दसि' (पा० १।४।२०) इति भत्वेन पदत्वाभावात् नलोपाभावः (पा० ८।२।७)। हवनश्रुतम्। 'ह्वः' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति ल्युटि संप्रसारणम्। हवनं शृणोतीति क्विप्। तुगागमः। हूमहे। 'बहुलं छन्दसि' इति संप्रसारणम्। 'शपः' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुक्। सहस्रसातमाम्। सहस्रं सनोतीति सहस्रसाः। 'षणु दाने' (धा० त० २)। 'जनसनखनक्रमगमो

विट्' (पा० ३।२।६७)। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० ६।४।४१) इति आकारादेशः ॥ १० ॥

स्कन्दः—हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्माद् विद्मः जानीमः त्वा वृषन्तमम् अतिशयेन वर्षितारम्। वाजेषु संग्रामेषु हवनश्रुतम् आर्तानामाह्वानस्य श्रोतारम्। प्रार्थना लक्ष्यते। यस्माच्छब्दश्रुतेस्तस्माच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। तस्माद् वृषन्तमस्य अतिशयेन वर्षितुः तव स्वभूता हूमहे। आह्वानस्याहूयमानप्रार्थनाविनाभावित्वात् आह्वानेनात्र प्रार्थना लक्ष्यते। प्रार्थनार्थं एव वा सामर्थ्याद् ह्वयतिः। प्रार्थयामहे। ऊतिं पालनं सहस्रसातमां स्तोत्रसहस्राणामतिशयेन सहेति। यथा बहूनि स्तोत्रसहस्राणि पठितानीत्यर्थः ॥ १० ॥

१०१ आ तू न॑ इन्द्र कौशिक मन्दसा॒नः सु॒तं पि॑ब।

न॒व्यमायु॑ः प्र सू ति॑र कृ॒धी स॑हस्र॒सामृषि॑म् ॥ ११ ॥

आ। तु। नः॒। इ॒न्द्र॒। कौ॒शि॒क॒। म॒न्द॒सा॒नः। सु॒तम्। पि॒ब॒।

नव्य॑म्।आयु॑ः।प्र।सु।ति॒र॒।कृ॒धि। स॒ह॒स्र॒ऽसाम्।ऋषि॑म् ॥

Come quickly, Indra, son of Kuśika, delighted drink the libation, prolong the life that merits commendation; make me, who am a Rishi (seer) abundantly endowed (with possessions).

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता, (तु) शीघ्र (नः) हमारे पास (आगच्छ) आइये; (कौशिक) हे कुशिकपुत्र इन्द्र ! (मन्दसानः) प्रसन्न होकर (सुतं) प्रस्तुत किये गये सोमरस का (पिब)पान कीजिये। (नव्यम्) सभी देवताओं के द्वारा प्रशंसनीय (आयुः) जीवन भी (प्र सू तिर) अच्छी तरह बढ़ा दें [और मुझे] (सहस्रसाम्) हजारों की संख्या में लाभ उठाने वाला (ऋषिं) ऋषि, परोक्षदर्शी (कृधि) बना दें।

सायणः—हे इन्द्र तु क्षिप्रं नः अस्मान् प्रति आ गच्छेति शेषः। हे कौशिक कुशिकस्य पुत्र इन्द्र मन्दसानः हृष्टो भूत्वा सुतम् अभिषुतं सोमं पिब। यद्यपि विश्वामित्रः कुशिकस्य पुत्रस्तथापि तद्रूपेणेन्द्रस्यैवोत्पन्नत्वात् कुशिकपुत्रत्वमविरुद्धम्। अयं वृत्तान्तोऽनुक्रमणिकायामुक्तः—'कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार। तस्येन्द्र एव गाथी पुत्रो जज्ञे' (अनु० ऋ० सं० ३।१) इति। हे इन्द्र, नव्यं सर्वैर्देवैः स्तुत्यं कर्मानुष्ठानपरम् आयुः जीवितं प्र सू तिर प्रकर्षेण सुष्ठु वर्धय। ततो मां सहस्रसां सहस्रसंख्याकलाभोपेतम् ऋषिम् अतीन्द्रियद्रष्टारं कृधि कुरु ॥ तु। संहितायाम् 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० ६।३।१३३) इति दीर्घः। मन्दसानः हृष्यन्। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' (धा० भ्वा० १२)। 'असानच्' (उ० २।२४३)

इत्यनुवृत्तौ 'ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः कित्' (उ० २।२४४) इति असानच् प्रत्ययः। नव्यम्। 'णु स्तुतौ' (धा० अ० २५)। 'अचो यत्' (पा० ३।१। ९७)। गुणः। 'वान्तो यि प्रत्यये' (पा० ६।१।७९) इति अवादेशः। आयुः। 'उसि, नित्' इत्यनुवृत्तौ 'एतेर्णिच्च' (उ० २।२७५) इति उसिप्रत्ययः। णित्वात् वृद्ध्यायादेशौ। सु। 'निपातस्य च' इति संहितायां दीर्घत्वम्। तिर। तरतेर्व्यत्ययेन शः। 'ऋत इद्धातोः' (पा० ७।१।१००) इति इत्वम्। 'अतो हेः' (पा० ६।४।१०५) इति हेर्लुक्। कृधि। 'डुकृञ् करणे' (धा० त० १०)। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि' इति हेर्धिरादेशः। ऋषिम्। 'ऋषी गतौ' (धा० तु० ७)। 'इन्' इत्यनुवृत्तौ 'इगुपधात्किच्च' (उ० ४।५५९)। कित्वाद् गुणाभावः॥ ११॥

स्कन्दः—आ इत्युपसर्गः पिबेत्याख्यातेन संबन्धयितव्यः। तु इति पदपूरणः क्षिप्रार्थो वा। क्षिप्रं नः अस्माकं स्वभूतम्। हे इन्द्र कौशिक कुशिकस्य पुत्र। अत्र चेतिहासमाचक्षते— इषीरथपुत्रः कुशिको नाम राजा पुत्रमिन्द्रतुल्यं कामयमानो ब्रह्मचर्यं चचार। तस्य गाथी नामेन्द्र एव स्वयं पुत्रो जात इति। तदुक्तं— 'पुत्रमिन्द्रसमं कुशिको ब्रह्मचर्यं चचार इच्छन्। तस्य स्वैषीरथेर्गाथी पुत्र इन्द्रः स्वयं जज्ञे' इति। अथवा कुशिभिर्बद्धः स्वयं दृष्टो दुग्धो वा कौशिकः। तथाहि चरकाध्वर्यवं इतिहासमधीयते—'चत्वारः पृश्नेस्तनया आसन्। त्रिभिर्देवेभ्योऽदुह कुशिभिः। एकोऽन्नाजुबद्धः आसीत्। तं वा इन्द्र इवापश्यत्। तेनेन्द्र आह—दुहेत वा अस्य कौशिकत्वम्' इति।[1] तस्य संबोधनम्। हे कौशिक! मन्दसानः। मन्दति स्तुत्यर्थो वा मोदनार्थो वा। स्तूयमानो मोदमानो वा सुतं सोमं पिब। आपीय च नव्यं स्तुत्यमत्रोत्कृष्टम् आयुः अन्नम्। अथवा नवं नव्यम्। स्वार्थिको यत्प्रत्ययः। आयुरपि जीवितमुच्यते। अचिरप्रवृत्तमिदमस्माकं जीवितम्। प्र सु तिर। प्रसुपूर्वस्तिरतिः सर्वत्र वृद्ध्यर्थः। सुष्ठु प्रवर्धय। कृधि कुरु च मां सहस्रसां धनसहस्राणां संभक्तारम् ऋषिं मधुच्छन्दोनामानम्॥ ११॥

१०२ परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ इ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑।
वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु॒ जुष्ट॑यः॥ १२॥

परि॑। त्वा॒। गि॒र्व॒णः॒। गिरः॑। इ॒माः। भ॒व॒न्तु॒। विश्वतः॑।
वृ॒द्धऽआ॑युम्। अनु॑। वृद्ध॑यः। जुष्टाः॑। भ॒व॒न्तु॒। जुष्ट॑यः॥

१. स सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत्। सास्य कौशिकतेति वा ब्राह्मणम्। (वे० प्रा०)

May these our paises be on all occasions around thee, deserver of praise; may they augment thy power, who art long-lived, and being agreeable to thee, may they yield delight (to us).

(गिर्वणः) हमारी स्तुतियों के विषयरूप इन्द्र ! (विश्वतः) सभी कार्यों में प्रयुक्त होनेवाली (इमाः गिरः) हमारी ये स्तुतियाँ (त्वा) आपको (परि भवन्तु) चारों ओर से प्राप्त हों। [ये स्तुतियाँ] (वृद्धायुम्) प्रौढ आयुवाले आपको (अनु) लक्षित करके (वर्धमानाः) स्वयं बढ़ती हैं, सम्पन्न होती हैं तथा वे (जुष्टाः) आपके द्वारा सेवित-स्वीकृत होने पर (जुष्टयः) हमारी प्रीति बढ़ानेवाली (भवन्तु) हो जायँ।

सायणः—हे गिर्वणः अस्मदीयस्तुतिभागिन्द्र, विश्वतः सर्वेषु कर्मसु प्रयुज्यमानाः इमाः गिरः अस्मदीयाः स्तुतयः त्वा त्वां परि भवन्तु सर्वतः प्राप्नुवन्तुः। कीदृश्यो गिरः ? वृद्धायुमनु प्रवृद्धेनायुष्येणोपेतं त्वामनुसृत्य वृद्धयः वर्धमानाः। किं च एताः गिरः जुष्टाः त्वया सेविताः सत्यः जुष्टयः अस्माकं प्रीतिहेतवः भवन्तु ॥ गिर्वणः। गीर्भिर्वन्यत इति गिर्वणाः। 'वन षण संभक्तौ' (धा० भ्वा० ४६४)। 'सर्वधातुभ्योऽसुन्'। गिरः। उपधाया दीर्घाभावश्छान्दसः। वृद्धायुम्। 'वृधु वृद्धौ'। क्तप्रत्ययः। 'उदितो वा' (पा० ७। २।५६) इति इटः क्त्वाप्रत्यये विकल्पितत्वात् 'अस्य विभाषा' (पा० ७।२। १५) इति निष्ठायाम् इडभावः। प्रत्ययस्वरः। 'इण् गतौ' (धा० अ० ३५)। 'छन्दसीणः' (उ० १।२) इति उण्। णित्त्वाद् वृद्धिः आयादेशश्च। वृद्धमायुर्यस्य। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। वृद्धयः। वृधेः क्तिनि 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (पा० ७।२।९) इति इडभावः। जुष्टाः। 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (पा० ७।२।१४) इति इडभावः। जुष्टयः। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' (धा० तु० ८)। क्तिन्। 'तितुत्र०' इति इडभावः ॥ १२ ॥

स्कन्दः—परीत्युपसर्गो भवत्याख्यातेन संबन्धयितव्यः।, हे गिर्वणः, स्तुतिभिः संभजनीय ! स्तुतिभिर्वा संभक्त ! गिरः इमा अस्मदीयाः परिभवन्तु। परिपूर्णो भवतिः सर्वत्र परिग्रहे। परिगृह्णन्तु। विश्वतः सर्वतः। कीदृशं, वृद्धायुम्। एतिर्गत्यर्थः। वृद्धान् शत्रून् मधाय प्रतिगन्तारम्। कीदृशः ? अनुवृद्धयः। अनु इत्येप पदपूरणः। 'सुशब्दस्य वार्थे। सुष्ठु वृद्धाः। ताश्च जुष्टाः प्रियाः भवन्तु। जुष्टयः प्रीणयित्र्यः ॥ १२ ॥

(११) एकादशं सूक्तम्

१०३ इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ १ ॥

इन्द्रम् । विश्वाः । अवीवृधन् । समुद्रऽव्यचसम् गिरः ।
रथिऽतमम् । रथीनाम् । वाजानाम् । सत्ऽपतिम् । पतिम् ॥

All our parises magnify Indra, expansive as the ocean, the most valiant of warriors who fight in chariots, the lord of food, the protector of the virtuous.

जेता माधुच्छन्दस ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । इन्द्रो देवता ।

(समुद्रव्यचसं) समुद्र के समान विस्तार वाले, (रथीनां) रथ पर चढ़कर युद्ध करने वालों में (रथीतमं) सर्वाधिक योद्धा, (वाजानां) अन्नों के (पतिं) स्वामी तथा (सत्पतिम्) सज्जनों के रक्षक (इन्द्रं) इन्द्र-देव को (विश्वा गिरः) हमारी सारी स्तुतियों ने (अवीवृधन्) समृद्ध किया है ।

सायणः—विश्वाः सर्वा गिरः अस्मदीयाः स्तुतयः इन्द्रम् अवीवृधन् वर्धितवत्यः । कीदृशमिन्द्रम् । समुद्रव्यचसं समुद्रवत् व्याप्तवन्तं रथीनां रथयुक्तानां योद्धृणां मध्ये रथीतमम् अतिशयेन रथयुक्तम् । वाजानाम् अन्नानां पतिं स्वामिनं सत्पतिं सतां सन्मार्गवर्तिनां पालकम् ॥ विश्वा । विशेः क्वन् । निस्स्वरः । अवीवृधन् । वृधेर्णिचि चङि 'उर्ऋत्' (पा० ७।४।७) इत्यनुवृत्तौ 'नित्यं छन्दसि' (पा० ७।४।८) इति ऋकारस्य ऋकारविधानात् लघूपधगुणाभावः । समुद्रव्यचसम् । व्यचेः असुन् । 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (पा० १।२।१) इति ङित्वस्य प्राप्तस्य 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' (पा० १।२।१ वा०) इति अनसि निषेधात् 'ग्रहिज्या०' (पा० ६।१।१६) इत्यादिना ङिति विधीयमानं सम्प्रसारणं न भवति । समुद्रस्येव व्यचो यस्य । रथीतमं रथीनाम् । रथशब्दादुत्पन्नस्य इनः छान्दसं दीर्घत्वम् ॥ १ ॥

स्कन्दः—इन्द्रं विश्वाः सर्वा अवीवृधन् वर्धितवत्यः । वर्धयन्तु वा । समुद्रव्यचसम् । व्यचो व्याप्तिरुच्यते । 'न ते विव्यक्' 'समीविव्याच' इत्यादौ सर्वत्र व्याप्त्यर्थः । समुद्रस्येव व्याप्तिर्यस्य स समुद्रव्यचाः । तं समुद्रव्यचसं सर्वव्यापिनमित्यर्थः । गिरः स्तुतयः । कीदृशं, रथीतमम् । रथं यो नयति, तत्रस्थो वा युध्यते, स रथी । अन्येषां रथिनां सकाशादतिशयेन रथिनम् ।

वाजानामिति षष्ठी पतिमित्येतेन संबध्यते । अन्नानां स्वामिनं, सतां च पालयितारम् ॥ १ ॥

१०४ सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥ २ ॥

सख्ये । ते । इन्द्र । वाजिनः । मा । भेम । शवसः पते ।
त्वाम् । अभि । प्र । नोनुमः । जेतारम् । अपराऽजितम् ॥२॥

Supported by thy friehdship Indra, cherisher of strength, we have no fear, but glorify thee, the conqueror, the unconqured.

(शवसस्पते) बल के रक्षक (इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (ते) आपकी (सख्ये) मित्रता में रहते हुए (वाजिनः) अन्नयुक्त होकर [हम लोग] (मा भेम) नहीं डरें । [इसलिए अभय देनेवाले] (त्वामभि) आपको लक्षित करके (प्र णोनुमः) अच्छी तरह नमस्कार करते हैं [क्योंकि आप] (जेतारम) शत्रुओं के विजेता तथा (अपराजितम) किसी से पराजित होने वाले नहीं हैं ।

सायणः—हे शवसस्पते बलस्य पालक इन्द्र ते तव सख्येऽनुग्रहप्रयुक्ते सखित्वे वर्तमाना वयं वाजिनः अन्नवन्तो भूत्वा मा भेम शत्रुभ्यो भीतिं प्राप्ता मा भूम । अतः त्वाम् अभयहेतुम् अभि प्र णोनुमः सर्वतः प्रकर्षेण स्तुमः । कीदृशं त्वाम् । जेतारं युद्धेषु जयशीलम् अपराजितं क्वापि पराजयरहितम् ॥ सख्ये । सख्युः कर्म सख्यम् । 'सख्युर्यः' (पा० ५।१।१२६) । प्रत्ययस्वरः । वाजिनः । वाजोऽन्नमेषामस्तीति वाजिनः । प्रत्ययस्वरः । भेम । 'ञिभी भये' (धा० जु० २) । लुङुत्तमबहुवचनं मस् । 'नित्यं ङितः' (पा० ३।४।९९) इति सलोपः । 'बहुलं छन्दसि' इति च्लेर्लुक् । 'छन्दस्युभयथा'(पा० ३।४।११७) इति तिङः आर्धधातुकत्वेन ङित्त्वाभावाद् गुणः । 'न माङ्योगे' (पा० ६।४।७४) इति अडागमप्रतिषेधः । शवसस्पते । शवसः 'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' (पा० ८।३।५३) इति विसर्जनीयस्य संहितायां सत्वम् । सुबामन्त्रितपराङ्गवद्भावेन (पा० २।१।२) पदद्वयनिघातः । नोनुमः । 'णु स्तुतौ' । 'णो नः' (पा० ६।१।६५) इति नत्वम् । यङो लुक् । प्रत्ययलक्षणेन 'सन्यङोः' (पा० ६।१।९) इति द्विर्भावः । 'गुणो यङ्लुकोः' (पा० ७।४।८२) इत्यभ्यासस्य गुणः । प्रत्ययलक्षणेन धातुसंज्ञायां लटो मस् । अदादित्वद्भावात् शपो लुक् । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (पा० ८।४।१४) इति संहितायां णत्वम् । जेतारम् । 'जि जये' । ताच्छील्यादिषु तृन् । 'इन्नन्तस्यादिर्नित्यम्' (पा०

६।१।१९७) इति आद्युदात्तत्वम् । अपराजितम् । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन नञ उदात्तत्वम् ॥ २ ॥

स्कन्दः—सख्य इति सप्तमीनिर्देशात् वर्तमाना इति वाक्यशेषः । सख्ये तव वर्तमाना वयं हे इन्द्र ! वाजिनः हविर्लक्षणेनान्नेन स्तुवन्तः त्वा हविषा यजन्त इत्यर्थः । मा भेम त्वत्प्रसादात् कुतश्चिदपि मा भैष्म । हे शवसस्पते ! बलस्य स्वामी पालयिता वा । न च मुधैवाभयं प्रार्थयामहे । किं तर्हि । त्वामभि प्र णोनुमः । 'णु स्तुतौ' । पौनःपुन्ये चात्र यङो लुक् । प्रशब्दः प्रकर्षे । प्रकर्षेण पुनः पुनरभिष्टुमः । कीदृशं, जेतारं शत्रूणाम् अपराजितं च शत्रुभिः ॥२॥

१०५ पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः ।
यदी वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥ ३ ॥
पूर्वीः । इन्द्रस्य । रातयः । न । वि । दस्यन्ति । ऊतयः ।
यदि । वाजस्य । गोमतः । स्तोतृभ्यः । मंहते । मघम् ॥३॥

The ancient liberalities of Indra, his protections, will not be wanting to to him who presents to the reciters of the hymns, wealth of food and cattle.

(इन्द्रस्य) इन्द्र की (रातयः) धनदान-विधियाँ (पूर्वीः) चिरन्तन हैं (यदि) आज भी यदि कोई (स्तोतृभ्यः) ऋत्विजों को (गोमतः) गौओं के साथ (वाजस्य) अन्न का (मघं) धन दान (मंहते) दक्षिणा में देता है तो [इन्द्र की] (ऊतयः) रक्षा-विधियाँ (न वि दस्यन्ति) उससे कभी अलग नहीं हो सकतीं, क्षीण नहीं होंगी ।

सायणः—इन्द्रस्य सम्बन्धिन्यः रातयः धनदानानि पूर्वीः अनादिकालसिद्धाः प्रभूता वा । अस्येन्द्रस्य सर्वदा यष्टृभ्यो धनदानमेव स्वभाव इत्यर्थः । एवं सति तदानींतनोऽपि यजमानः स्तोतृभ्यः ऋत्विग्भ्यः गोमतः गोसहितस्य वाजस्य अन्नस्य पर्याप्तं मघं धनं यदि मंहते दक्षिणारूपेण ददाति तदानीम् ऊतयः बहुधनदानपूर्वकाणि इन्द्रस्य अस्मद्विषयाणि रक्षणानि न वि दस्यन्ति विशेषेण नोपक्षीयन्ते । 'मघं रेक्णः' इत्यादिष्वष्टाविंशतिसंख्याकेषु धननामसु (निघ० २।१०) मघशब्दः पठितः । 'दानि दाशति' इत्यादिषु दशसु दानकर्मसु (निघ० ३।२०) 'मंहते' इति पठितम् ॥ पूर्वीः । पुरुशब्दस्य 'वोतो गुणवचनात्' (पा० ४।१।४४) इति ङीप् । आद्यस्य उकारस्य दीर्घश्छान्दसः । जसि 'दीर्घाज्जसि च' (पा० ६।१।१०५) इति निषेधं बाधित्वा 'वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । रातयः । 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः' इति

क्तिन उदात्तत्वम् । दस्यन्ति । 'दसु उपक्षये' (धा० दि० १०७) । 'दिवादिभ्यः श्यन्' । यदि । संहितायां 'निपातस्य च' (पा० ६।३।१३६) इति दीर्घत्वम् । स्तोतृभ्यः । 'ष्टुञ् स्तुतौ' । 'धात्वादेः षः सः' (पा० ६।१।६४) । तृचश्चित्वादन्तोदात्तत्वम् ॥ ३ ॥

स्कन्द—पूर्वीरिन्द्रस्य कालप्रवृत्ताश्चिरन्तन्यः । इन्द्रस्य रातयः दानानि न वि दस्यन्ति । वीत्ययमुपेत्यस्य स्थाने । दस्यतिः क्षयार्थः । नोपक्षीयन्ते । ऊतयः पालनानि च । यदि । शुद्धोऽप्ययं यदिरपिसहितस्यार्थे द्रष्टव्यः । यद्यपि वाजस्य गोमतः । द्वितीयार्थे षष्ठी । वाजं गोमद् अन्नं गोभिः सहितम् । स्तोतृभ्यो मंहते । दानकर्मायं मंहतिः । ददाति । मघं धनं च । एतदुक्तं भवति—यद्यप्यन्येभ्योऽपि स्तोतृभ्योऽन्नं गां धनं चेन्द्रो ददाति । तथापि प्रभूतधनत्वान्नैवास्य पूर्वदानानि पालनानि च क्षीयन्ते । तान्यपि तज्ज्योतिः अत्यन्तप्रभूतधन इत्यर्थः ॥ ३ ॥

१०६ पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ ४ ॥

पुराम् । भिन्दुः । युवा । कविः । अमितऽओजाः । अजायत ।
इन्द्रः । विश्वस्य । कर्मणः धर्ता । वज्री । पुरुऽस्तुतः ॥४॥

Indra was born the distroyer of cities, ever young, ever wise of unbounded strength, the sustainer, of all pious acts, the wielder of the thunderbolt, the many-praised.

(इन्द्रः) इन्द्र-देवता (पुरां) असुरपुरों को (भिन्दुः) छिन्न-भिन्न करने वाले, (युवा) तरुण, (कविः) मेधावी तथा (अमितौजाः) अतुल बलशाली [—इस रूप में] (अजायत) उत्पन्न हुए थे; वे (विश्वस्य कर्मणः) सभी कार्यों के (धर्ता) पोषक, सम्पादक (वज्री) वज्रधारी तथा (पुरुष्टुतः) अनेक कर्मों में स्तुति प्राप्त करते हैं ।

सायणः—अयमिन्द्रः उच्यमानगुणयुक्तः अजायत संपन्नः । कीदृग्गुणक इति तदुच्यते । पुराम् असुरपुराणां भिन्दुःभेत्ता. युवा कदाचिदपि वलीपलितादिवार्धकरहितः कविः मेधावी अमितौजाः प्रभूतबलः विश्वस्य कर्मणः कृत्स्नस्य ज्योतिष्टोमादेः धर्ता पोषकः वज्री यजमानरक्षणार्थं सर्वदा वज्रयुक्तः पुरुष्टुतः बहुविधे तत्तत्कर्मणि स्तुतः ॥ भिन्दुः । 'भिदिर् विदारणे' (धा० रु० २) । 'कुः' इत्यनुवृत्तौ 'पृभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः' (उ० १।२३) इति कुप्रत्ययः । तस्य 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'श्नसोरल्लोपः'

श्नम्' (पा० ३।१।७८)। मित्वात् अन्त्यात् अचः परो भवति (पा० १।१।४७)। 'श्नसोरल्लोपः'। अनुस्वारपरसवर्णौ (पा० ८।३।२४; ८।४।५८)। 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (पा० १।१।५७) इति प्राप्तस्य स्थानिवत्त्वात्तस्य 'न पदान्त०' (पा० १।१।५८) इत्यादिना निषेधः। युवा। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (धा० अ० २३)। 'कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५४) इति कनिन्। कविः। 'कु शब्दे' (धा० अ० ३२)। 'अच इः' (उ० ४।५७८) इति इः। प्रत्ययस्वरः। अमितौजाः। अमितशब्दस्य अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन तदेव शिष्यते। विश्वस्य। 'अशिप्रुषि०' (उ० ११४९) इत्यादिना क्वन्। कर्मणः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति मनिन्। धर्ता। तृच्। वज्री। मत्वर्थीय इनिः। पुरुष्टुतः। 'स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि' (पा० ८।३।१०५) इति षत्वम्। बहुषु प्रदेशेषु स्तुतः॥

स्कन्दः—पुरां भिन्दुः असुरपुराणां भेत्ता। युवा तरुणः। कविर्मेधावी। अमितौजाः अपरिमितबलः। अजायत जन्मन एव प्रभृतीदृश इत्यर्थः। कः। इन्द्रः। कीदृशः। विश्वस्य कर्मणः धर्ता, सर्वस्य कर्मणो धारयिता यावद्धि किञ्चित् कर्मास्य वृष्ट्यायत्तं वृष्टिश्चेन्द्रायत्ता। अतो वृष्टिद्वारेण सर्वस्य कर्मणो धारयितेन्द्रः। पुरुष्टुतः बहुभिः स्तुतः॥ ४॥

१०७ त्वं व॒लस्य॒ गोम॒तोऽपा॑वरद्रिवो॒ बिल॑म्।

त्वां दे॒वा अबि॑भ्युषस्तु॒ज्यमा॑नास आविषुः॥ ५॥

त्वम्। व॒लस्य॑। गोऽम॑तः। अप॑। अ॒वः॒। अ॒द्रि॒ऽवः॒। बिल॑म्।

त्वाम्। दे॒वाः। अबि॑भ्युषः। तु॒ज्यमा॑नासः। आ॒वि॒षुः॥५॥

Thou, Wielder of the thunderbolt, didst open the cave of vala, who had there concealed the cattle; and the gods, whom he had oppressed, no longer feared when they had obtained thee (for their ally).

(अद्रिवः) हे वज्रधारी इन्द्र, (त्वं) आपने (गोमतः) गायें छिपाने वाले (वलस्य) वलनामक असुर के (बिलम्) छिद्र को, गुफाद्वार को (अप अवः) [अपने सैन्य के द्वारा] ढँक दिया, तब (तुज्यमानासः) [वलासुर से] कष्ट पाने वाले (देवाः) देवगण (अबिभ्युषः) निर्भय होकर (त्वाम्) आपके पास (आविषुः) पहुँचे।

सायणः—वलनामकः कश्चिदसुरो देवसम्बन्धिनीर्गा अपहृत्य कस्मिंश्चिद् बिले गोपितवान्। तदानीमिन्द्रः तद्बिलं स्वसैन्येन समावृत्य तस्माद्बिलात् गाः निःसारयामास। तदिदमुपाख्यानम् 'इन्द्रो वलस्य बिलमपौर्णोत्' (त० सं०

२।१।५।१) इत्यादिब्राह्मणेषु मन्त्रान्तरेषु च प्रसिद्धम् । तदेतत् हृदि निधाय अयं मन्त्रः प्रवर्तते । हे अद्रिवः वज्रयुक्तेन्द्र, त्वं गोमतः वलस्य गोभिर्युक्तस्य वलनामकस्यासुरस्य संबन्धि बिलम् अपावः स्वसैन्यमुखेन अपावृतवानसि । तदानीं तुज्यमानासः वलेन हिंस्यमानाः देवाः अबिभ्युषः त्वदीयरक्षया वलाद् भीताः सन्तः त्वाम् आविषुः प्राप्तवन्तः । अप । अवः । 'वृञ् वरणे' (धा० स्वा० ८)। लङ् । सिप् । 'इतश्च लोपः०' (पा० ३।४।९७)। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (पा० ३।१।७३)। तस्य 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति लुक् । गुणो रपरत्वं हल्ङ्यादिलोपः । विसर्जनीयः । अडागमः । अद्रिवः । अद्रिरस्यास्तीति मतुप् । 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति वत्वम् । संबोधने 'उगिदचां०' (पा० ७।१।७०) इति नुम् । हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । 'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि' (पा० ८।३।१) इति रुत्वम् । अबिभ्युषः । 'ञिभी भये' (धा० जु० २)। लिट् । द्विर्भावः । अभ्यासस्य ह्रस्वजश्त्वे । 'क्वसुश्च' (पा० ३।२।१०७) इति लिटः क्वसुरादेशः । क्रादिनियमात् प्राप्त इट् 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (पा० ७।२।६७) इति नियमात् निवर्तते । जसि सर्वनामस्थानेऽपि व्यत्ययेन भत्वात् वसोः संप्रसारणम् । परपूर्वत्वम् । 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।३।६०) इति षत्वम् । 'अचि श्नुधातु०' (पा० ६।४।७७) इत्यादिना प्राप्तम् इयङादेशं बाधित्वा 'एरनेकाचः०' (पा० ६।४।८२) इति यणादेशः । तुज्यमानासः । तुज्यमानाः । तुजिर्हिंसार्थात् परस्य कर्मणि लटः स्थाने शानच् । 'सार्वधातुके यक्' (पा० ३।१।६७) इति यक् । आविषुः । अव रक्षणादिषु । अस्मादत्र्यर्थात् लुङि च्लिः । तस्य 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (पा० ३।४।१०९) इति जुस् । सिच इडागमः । 'आडजादीनाम्' (पा० ६।४।७२) इति आडागमः । 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० ८।३।५९) इति षत्वम् ॥ ५ ॥

स्कन्दः—वल इति मेघनाम । त्वं मेघस्य गोमत उदकवतः । अपावः अपावृतवान् अपावृणोऽपि वा । हे इन्द्र, अद्रिवः, वज्रिन्, बिलमुदकनिर्गमनच्छिद्रम् । किं च त्वां देवा अबिभ्युषः । अत्रैतरेयिण इतिहासमाचक्षते—'इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन् सर्वा देवता अब्रवीदनु सोपतिष्ठध्वमुप मां ह्वयध्वमिति । तथेति तं हनिष्यन्त आद्रवन् । सोऽवेन्मान् भीषया इति तानभि प्राश्वसीत् । तस्य श्वसथादीषमाणा विश्वेदेवा अद्रवन् । मरुतो हैनं नाजहुः । प्रहर भगवो० जहि । वीरयस्वेत्येवैनमेतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त' इति । एतदुच्यते—त्वा देवा मरुतः । अबिभ्युषः । प्रथमार्थे द्वितीयैषा । अबिभ्यतः वृत्रश्वासादभीताः । तुज्यमानासः । क्षिप्रनामैतत् । त्वरमाणाः । आविषुः । अवतिरत्र गत्यर्थः । शुद्धोऽपि सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः । अनुगतवन्त ॥ ५ ॥

१०८ तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन्।
उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः ॥ ६ ॥
तव। अहम्। शूर। रातिऽभिः। प्रति। आयम्। सिन्धुम्।
आऽवदन्। उप। अतिष्ठन्त। गिर्वणः। विदुः। ते।
तस्य। कारवः ॥ ६ ॥

(Attracted) by they bounties, I again come, Hero to thee, celebrating (thy liberality) while affering this libation; the performers of the rite approach thee, who art worthy of praise, far they have known they (munificence).

(शूर) युद्ध में वीरता दिखलाने वाले हे इन्द्र (तव) आपकी (रातिभिः) दान-विधियों के कारण (अहं) मैं (सिन्धुम्) बहने वाले सोमरस के विषय में (आवदन्) चारों ओर से वर्णन करते हुए = सोमयाग में आपकी कीर्ति प्रकट करते हुए (प्रति आयम्) आपके पास पुनः आया हूँ। (गिर्वणः) स्तुतियों के द्वारा सेवनीय हे इन्द्र, (कारवः) यज्ञकर्ता लोग, ऋत्विक् और यजमान (तस्य) उन उदार देवता (ते) इन्द्र की [दानशक्ति] (विदुः) जानते हैं, [इसीलिए वे] (उपातिष्ठन्त) आपके पास उपस्थित हुए हैं।

सायणः—हे शूर संग्रामे शौर्ययुक्तेन्द्र तव रातिभिः कर्मसु त्वदीयैर्धनदानैर्निमित्तभूतैः अहं होता प्रत्यायं त्वां पुनरागतोऽस्मि। पुरा बहुषु कर्मसु त्वत्तो धनस्य लब्धत्वादस्मिन् कर्मणि प्रत्यागमनमित्युच्यते। किं कुर्वन्। सिन्धुं स्यन्दमानं सोमम् आवदन् सर्वतः कथयन्। अस्मिन्सोमयागे त्वदीयां धनदानकीर्तिं प्रकटयन्नित्यर्थः। हे गिर्वणः गीर्भिर्वननीयेन्द्र, कारवः कर्तारः ऋत्विग्यजमानाः उपातिष्ठन्त पुरा धनलाभार्थं त्वामुपस्थितवन्तः। उपस्थाय च तस्य तादृशस्यौदार्योपेतस्य ते तव धनदानं विदुः जानन्ति। गिर्वणस्-शब्दं यास्क इत्थं निर्ब्रूते—'गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति' (नि० ६।१४) इति। 'रेभो जरिता' इत्यादिषु त्रयोदशसु स्तोतृनामसु कारुशब्दः (निघ० ३।१६।३) पठितः ॥ आयम्। इणो लङ्। 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (पा० ३।४।१०१) इति अमादेशः। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक्। आडागमः। वृद्धयायादेशौ। सिन्धुम्। 'स्यन्दू प्रस्रवणे' (धा० भ्वा० ७६२)। 'नित्' (उ० १।९) इत्यनुवृत्तौ 'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च' (उ० १।११) इति उप्रत्ययो धकारश्च अन्तादेशः। आवदन्। 'वद व्यक्तायां वाचि' (धा० भ्वा० ५१)। लटः शतृ। आङा सह 'कुगतिप्रादयः' (पा० २।२।१८) इति

समासः। अतिष्ठन्त। 'उपान्मन्त्रकरणे' (पा० १।३।२५) इत्यात्मनेपदम्। गिर्वणः। 'वन षण संभक्तौ'। असुन्। विदुः। 'विद ज्ञाने'। लट्। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक्। 'विदो लटो वा' (पा० ३।४।८३) इति झेः उस्। संहितायां 'युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्' (पा० ८।३।१०३) इति षत्वम्। 'ष्टुना ष्टुः' (पा० ८।४।४१) इत्युत्तरस्य तकारस्य ष्टुत्वम्। कारवः। 'कृवापाजि०' (उ० १।१) इत्यादिना उण्। प्रत्ययस्वरः॥ ६॥

स्कन्दः—तवाहं शूर, रातिभिः। हेताविय़ं तृतीया। स्तोतृभ्यो यानि महान्ति दानानि तैर्हेतुभूतैः। तैस्सहित इत्यर्थः। अथवा प्रयोजनस्यात्र हेतुत्वेन विवक्षा। तव सोमदानैर्हेतुभूतैस्तुभ्यं सोमं दातुमित्यर्थः। प्रत्यायं प्रत्यागमं सिन्धुम्। 'स्यन्दू प्रस्रवणे' इत्यस्यैतद्रूपम्। स्यन्दितारम्। सोमयज्ञोत्तरसमाप्तौ यद्गमनं तदपेक्षोऽत्र प्रत्यागमनव्यपदेशः। धात्वर्थानुवादी वा प्रतिशब्दः आगममित्यर्थः। आवदन् आभिमुख्येन वदन्। किम्। सामर्थ्यात् स्तुतीः। न च केवलोऽहं, किन्तर्हि। अन्येऽप्यृत्विज ऋषयो वा। उपातिष्ठन्त उपस्थितवन्तः त्वां स्तुतिभिः। गिर्वणः। स्तुतिभिः संभजनीय! स्तुतीनां वा संभक्त! किं च। विदुष्टे तस्य कारवः। ते तस्येत्युभयत्र द्वितीयार्थे षष्ठी। तच्छब्दश्रुतेश्च योग्यार्थसंबद्धो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। य उक्तगुणः। विदुः जानन्ति त्वां तं कारवः स्तोतृनामैतत्। अन्येऽपि स्तोतारः॥ ६॥

१०९ मा॒याभि॑रिन्द्र मा॒यिनं॒ त्वं शुष्ण॒मवा॑तिरः।
वि॒दुष्टे॒ तस्य॒ मेधि॑रा॒स्तेषां॒ श्रवां॒स्युत्ति॑र॥ ७॥
मा॒याभिः॑। इ॒न्द्र॒। मा॒यिन॑म्। त्वम्। शुष्ण॑म्। अव॑ अ॒ति॒रः॒।
वि॒दुः। ते॒। तस्य॑। मेधि॑राः। तेषा॑म्। श्रवां॑सि उत्। ति॒र॒॥

Thou slewest, Indra, by stratagems, the wily shushna: the wise have known of this thy (greatness); bestow upon them (abundant) food.

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता, (त्वं) आप (मायाभिः) कपट से, बुद्धिविशेष का प्रयोग करके (मायिनं) नाना प्रकार का कपट दिखलाने वाले (शुष्णम्) सभी जीवों के शोषक, शुष्ण नामक असुर को (अवातिरः) मार चुके हैं। (मेधिराः) मेधायुक्त अनुष्ठाता लोग (तस्य) उपर्युक्त गुण वाले (ते) आपकी [महिमा] (विदुः) जानते हैं, (तेषां) उन अनुष्ठाताओं की (श्रवांसि) अन्न-राशि की (वर्धय) समृद्धि कीजिये॥ ७॥

सायणः—हे इन्द्र त्वं मायिनं नानाविधकपटोपेतं शुष्णं भूतानां शोषण-

हेतुम् एतन्नामकमसुरं मायाभिः तत्प्रतिकूलैः कपटविशेषैः । यद्वा । तद्वधोपाय-गोचरप्रज्ञाभिः अवातिरः हिंसितवानसि । एतच्च यास्केनोक्तम्—'इन्द्रः शुष्णं जघान' (नि० ३।११) इति । 'शुष्णं पिप्रुम्' (ऋ० सं० १।१०३।८) इत्यादिमन्त्रे चायमर्थो विस्पष्टः । मेधिराः मेधावन्तोऽनुष्ठातारः तस्य तादृशस्य ते तव महिमानं विदुः जानन्ति । तेषां जानतामनुष्ठातॄणां श्रवांस्यन्नानि उत्तिर वर्धय । 'केतः केतुः' इत्यादिष्वेकादशसु प्रज्ञानामसु (निघ० ३।९) 'माया वयुनम्' इति पठितम् । श्रवःशब्दं यास्को निर्वक्ति—'श्रव इत्यन्ननाम श्रूयत इति सतः' (नि० १०।३) इति ॥ मायाभिः । 'माङ् माने' (धा० जु० ६) । 'माच्छाससिसूभ्यो यः' (उ० ४।५४९) इति यप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । मायिनम् । मायास्यास्तीति मायी । व्रीह्यादित्वात् इनिप्रत्ययः (पा०५।२।११६)। प्रत्ययस्वरः । शुष्णम् । 'शुष शोषणे' (धा० दि० ७७) । अस्मादन्तर्भावित-ण्यर्थात् 'नित्' इत्यनुवृत्तौ 'तृषिशुषिरसिभ्यः कित्' (उ० ३।२९२) इति नप्रत्ययः । अतिरः । तरतेर्लङि व्यत्ययेन शः । तस्य ङित्वेन गुणाभावात् 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वम् । रपरत्वम् । मेधिराः । 'मिधृ मेधृ मेधाहिंसनयोः' (धा० भ्वा० ८९४) । औणादिक इरन् । नित्वादाद्युदात्तः ।

स्कन्दः—मायेति प्रज्ञानाम प्रज्ञाभिः । हे इन्द्र, मायिनम् अतिसन्धान-प्रज्ञायुक्तम् । शुष्णं शुष्णनामानमसुरम् । अवातिरः । अवतिरतिर्वधकर्मा । हत-वान् यश्चेन्द्रः विदुष्टे तस्य जानन्ति त्वाम् । मेधिराः यज्ञवन्तः यज्ञकारिणः । कतमे । सामर्थ्यादस्मदीया ऋत्विजः पुत्रपौत्रादिका वा । एतज्ज्ञात्वा भक्ततया त्वन्माहात्म्यज्ञानाभियुक्तानां तेषाम् । श्रवांसि अन्नानि उत्तिर । तिरतिर्वृद्ध्यर्थः । ऊर्ध्वं वर्धय उत्तरोत्तरवृद्ध्या वर्धयेत्यर्थः ॥ ७ ॥

११० इन्द्रमीशा॒नमोज॑सा॒भि स्तोमा॑ अनूषत ।

सह॒स्रं॑ यस्य॑ रा॒तय॑ उ॒त वा॒ सन्ति॒ भूय॑सीः ॥ ८ ॥

इन्द्र॑म् । ईशा॑नम् । ओज॑सा । अ॒भि । स्तोमा॑ः । अ॒नू॒ष॒त ।

स॒हस्र॑म् । यस्य॑ । रा॒तय॑ः । उ॒त । वा॒ । सन्ति॑ । भूय॑सीः ॥

The reciters of sacred hymns praise with all their might, Indra the ruler of the world, whose bounties are (computed by) thousands, or even more.

(स्तोमाः) स्तुति करने वाले ऋत्विजों ने (ओजसा) अपनी पूरी शक्ति से, (ईशानम्) जगत् का नियन्त्रण करने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र की (अभि) सभी स्थानों में (अनूषत) स्तुतियाँ की हैं; (यस्य) जिन इन्द्र

की (रातयः) दान-विधियाँ (सहस्रम्) एक हजार (उत वा) अथवा (भूयसीः) उससे भी अधिक संख्या की (सन्ति) हैं ॥ ८ ॥

सायणः—स्तोमाः स्तोतार ऋत्विजः ओजसा बलेन ईशानं जगतो नियामकम् इन्द्रम् अभि अनूषत सर्वत्र स्तुतवन्तः । यस्य इन्द्रस्य रातयः धनदानानि सहस्रं सहस्रसंख्योपेतानि सन्ति । उत वा अथवा भूयसीः सहस्रसंख्याया अप्यधिकाः सन्ति । तमिन्द्रमिति पूर्वत्रान्वयः । इन्द्रम् । 'ऋज्रेन्द्र०' (उ० २।१८६) इत्यादिना रन् । ईशानम् । लटः शानच् । 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक् । स्तोमाः । 'अर्तिस्तुसु०' (उ० १।१३७) इत्यादिना मन्-प्रत्ययः । अनूषत । 'णु स्तुतौ' । 'णो नः' । लुङ् । व्यत्ययेन झः । तस्य अदादेशः (पा० ७।१।५) । च्लेः सिच् । अस्य धातोः कुटादित्वेन सिचो ङित्वाद् गुणाभावः । इडभावश्छान्दसः । दीर्घत्वं च । अडागमः । भूयसीः । सहस्रादतिशयेन बह्व्यो भूयस्यः । अत्र विभक्तव्यस्य सहस्रस्य संविधिबलादुपपदत्वप्रतीतेः 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (पा० ५।३।५७) इति बहुशब्दात् ईयसुन् । 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६।४।१५८) इति ईकारलोपः प्रकृतेः भू इति आदेशश्च । 'उगितश्च' इति ङीप् ॥ ८ ॥

स्कन्दः—इन्द्रमीशानं सर्वस्य प्रभवन्तम् । केन हेतुना ? ओजसा बलेन हेतुना । अभिस्तोमा अनूषत अस्मदीयाः स्तोमाः अभिष्टुतवन्तः यस्येन्द्रस्य । किम् । उच्यते । सहस्रं यस्य रातयः स्तोतृभ्यो दानानि । उत वा । उतेत्यप्यर्थे । अपि वा सन्ति भूयसीः सहस्रादपि बहुतराः । यः स्तोतृभ्यो बहूनि दानानि ददातीत्यर्थः ॥ ८ ॥

---

(१२) द्वादशं सूक्तम्

१११ अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम् ।
अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म् ॥ १ ॥

अ॒ग्निम् । दू॒तम् । वृ॒णी॒म॒हे॒ । होता॑रम् । वि॒श्वऽवे॑दसम् ।
अ॒स्य । य॒ज्ञस्य॑ । सु॒ऽक्रतु॑म् ॥ १ ॥

We select Agni, the messenger of the gods, their invoker, the possessor of all riches, the perfector of this rite.

काण्वो मेधातिथिः ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता ।

[हमलोग] (दूतं) देवताओं के सन्देशवाहक, (होतारं) उन्हें बुलाने वाले (विश्ववेदसम्) सभी धनों से युक्त तथा (अस्य) इस प्रस्तुत (यज्ञस्य) यज्ञ के (सुक्रतुम्) निष्पादक, अच्छा कर्म करने वाले (अग्निं) अग्निदेव का (वृणीमहे) वरण, चयन करते हैं ॥ १ ॥

सायणः—अग्नेर्दूतत्वम् एतन्मन्त्रव्याख्याने तैत्तिरीयब्राह्मणे समाम्नायते—'अग्निर्देवानां दूत आसीदुशनाः काव्योऽसुराणाम्' (तै० सं० २।५।८।५) इति । तादृशं देवदूतम् अग्निम् अस्मिन् कर्मणि वृणीमहे संभजामः । कीदृशम् । होतारं देवानामाह्वातरं विश्ववेदसं सर्वधनोपेतम् .अस्य प्रवर्तमानस्य यज्ञस्य निष्पादकत्वेन सुक्रतुं शोभनकर्माणं शोभनप्रज्ञं वा । 'मघम्' इत्यादिष्वष्टाविंशतिसंख्याकेषु धननामसु (निघ० २।१०) वेदस्शब्दः पठितः । होतारम् । 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (धा० भ्वा० १०३२)। ताच्छील्यादिषु तृन् । 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति संप्रसारणे परपूर्वत्वे गुणः । विश्ववेदसम् । 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (पा० ६।२।१०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥ १ ॥

स्कन्दः—सन्देशेन यः प्रेष्यते स दूत उच्यते । अग्निं दूतं देवान्प्रति सन्देशे अनुगन्तारम् । वृणीमहे वयमभ्यर्थयामहे । न केवलं दूतमेव । किं तर्हि होतारं च तेन ह्यधिष्ठितो मानुषो होता हौत्रं कर्तुं शक्नोति नानाधिष्ठितः । क्रियाशब्दो वा होतृशब्दः । होतारं च देवानाम् । कीदृशम् ? विश्ववेदसम् । वेद इति धननाम । सर्वधनं सर्वप्रज्ञं वा । कम् । होतारम् । अस्य प्रकृतस्य यज्ञस्य सुकृतुं सुप्रज्ञं वा ॥ १ ॥

११२ अ॒ग्निम॑ग्निं॒ हवी॑मभिः॒ सदा॑ हवन्त वि॒श्पति॑म् ।
ह॒व्य॒वाहं॑ पुरुप्रि॒यम् ॥ २ ॥

अग्निम्ऽअग्निम् । हवीमऽभिः । सदा । हवन्त । विश्पतिम् ।
हव्यऽवाहम् । पुरुऽप्रियम् ॥ २ ॥

(The offerers of oblations) invoke with their invocations, Agni, Agni, the lord of men, the bearer of offerings, the beloved of many.

[अनुष्ठान करने वाले] (अग्निम् अग्निम्) प्रत्येक बार अग्निदेव को (हवीमभिः) आह्वान-मन्त्रों से (सदा) सर्वदा (हवन्त) बुलाते हैं [जो अग्नि देवता] (विश्पतिं) मनुष्यादि प्रजाओं के पालक, (हव्यवाहं) देवताओं को समर्पित हव्य को पहुँचा देने वाले अतएव (पुरुप्रियम्) बहुत-से लोगों के प्रेमपात्र हैं ॥ २ ॥

सायणः—यद्यप्यग्निः स्वरूपेणैक एव तथापि प्रयोगभेदात् आहवनीयादि-स्थानभेदात् पावकादिविशेषणभेदाद्वा बहुविधत्वमभिप्रेत्य 'अग्निमग्निम्' इति वीप्सा । तं हवीमभिः आह्वानकरणैर्मन्त्रैः सदा हवन्त निरन्तरमनुष्ठातार आह्वयन्ति । कीदृशम् । विश्पतिं विशां प्रजानां होत्रादीनां पालकं हव्यवाहं यजमानसमर्पितस्य हविषो देवान् प्रति वोढारम् । अतएव पुरुप्रियं बहूनां प्रीत्यास्पदम् ॥ अग्निमग्निम् । 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८।१।४) इति वीप्सायां द्विर्भावः । 'तस्य परमाम्रेडितम्' (पा० ८।१।२) इत्युत्तरस्याम्रेडितसंज्ञायाम् 'अनुदात्तं च' (पा० ८।१।३) इत्यनुदात्तत्वम् । हवीमभिः । 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च ।' आह्वानकरणभूतेषु मन्त्रेषु स्वव्यापारस्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वविवक्षया 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति कर्तरि मनिन् । तस्य छान्दस । ईडागमः । 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति धातोः संप्रसारणं परपूर्वत्वं गुणावादेशौ । सदा । 'सर्वैकान्य०' (पा० ५।३।१५) इत्यादिना सर्वशब्दात् दाप्रत्ययः । 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि' (पा० ५।३।६) इति सभावः । व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । हवन्त । ह्वेञो लट् । झस्य अन्तादेशः । टेः एत्वाभावश्छान्दसः । शपि 'बहुलं छन्दसि' इति संप्रसारणम् । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः । हव्यवाहम् । 'वह प्रापणे' । 'वहश्च' (पा० ३।२।६४) इति ण्वि-प्रत्ययः । पुरुप्रियम् । पुरूणां प्रियम् । समासान्तोदात्तत्वम् ॥ २ ॥

स्कन्दः—अग्निमग्निं यावान् कश्चिदग्निः सर्वं हवीमभिः आह्वानकरणैर्मन्त्रैः सदा सर्वदा हवन्त आह्वयन्ति यष्टारः । विश्पतिं मनुष्याणां स्वामिनं हव्यवाहं हविषां वोढारं पुरुप्रियं बहूनामिष्टम् ॥ २ ॥

११३ अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।
असि होता न ईड्यः ॥ ३ ॥

अग्ने । देवान् । इह । आ । वह । जज्ञानः । वृक्तऽबर्हिषे ।
असि । होता । नः । ईड्यः ॥ ३ ॥

Agni, generated (by attrition), bring hither the gods to the clipped sacred grass; thou art their invoker for us, art to be adored.

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (जज्ञानः) अरणियों से उत्पन्न होकर आप (वृक्तबर्हिषे) [बिछाने के लिए] छिन्न किये गये कुशों से युक्त [यजमान [पर दया दिखाने] के लिए (इह) प्रस्तुत यज्ञ में [देवताओं को] (आवह) ले आवें, (नः) हमारे लिए (होता) देवताओं को बुलाने वाले तथा (ईड्यः) स्तवनीय (असि) आप ही तो हैं ॥ ३ ॥

सायणः—हे अग्ने जज्ञानः अरण्योरुत्पन्नस्त्वं वृक्तबर्हिषे आस्तरणार्थं छिन्नेन बर्हिषा युक्ताय तं यजमानमनुग्रहीतुम् इह कर्मणि हविर्भुजः देवान् आवह । नः अस्मदर्थं होता देवानामाह्वाता त्वम् ईड्यः स्तुत्यः असि ॥ देवान् इत्यत्र संहितायां 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) इति रुत्वम् । 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० ८।३।३) इत्यनुनासिकभावः । जज्ञानः । 'जनी प्रादुर्भावे' । लिटः कानच् । 'गमहन०' (पा० ६।४।९८) इत्युपधालोपः । 'द्विर्वचनेऽचि' (पा० १।१।५९) इति तस्य स्थानिवद्भावात् द्विर्वचनम् । वृक्तबर्हिषे । 'ओव्रश्चू छेदने' 'निष्ठा' (पा० ३।२।१०२) इति क्तप्रत्ययः । 'यस्य विभाषा' (पा० ७।२।१५) इति इट्प्रतिषेधः । वृक्तं बर्हिर्यस्मै यजमानाय येन वा ऋत्विजा । असि । अस्तेः सिप् । 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक् । 'तासस्त्योर्लोपः' (पा० ७।४।५०) इति सकारस्य लोपः । पादादित्वात् न निघातः । होता । ह्वयतेस्ताच्छील्यादिषु तृन् । 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६।१।३४) इति संप्रसारणम् । ईड्यः । 'ईड स्तुतौ' । 'ऋहलो-र्ण्यत्' (पा० ३।१।१२४) ॥ ३ ॥

स्कन्दः—अग्ने देवान् इह यज्ञे आवह आनय जज्ञानः । जनेर्जानातेर्वा रूपमेतत् । जायमान जन्मान्तर एवेत्यर्थः । जानानः सामर्थ्यात् अस्मद्भक्तताम् । वृक्तबर्हिषे । तादर्थ्ये एषा चतुर्थी । वृक्तमास्तीर्णं बर्हिर्येन यजमानेन तस्यार्थाय । किं कारणम् ? उच्यते—असि होता, यस्माद्धोता त्वमसि । नः अस्माकम् ईड्यः ॥

११४ ताँ उशतो वि बोधय यदग्ने यासि दूत्यम् ।
देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥ ४ ॥

तान् । उशतः । वि । बोधय । यत् । अग्ने । यासि । दूत्यम् ।
देवैः । आ । सत्सि बर्हिषि ॥ ४ ॥

As thou dischargest the duty of messenger. arouse them desirous of the oblation; sit down with them on the sacred grass.

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (यत्) चूँकि (दूत्यं यासि) आप दूत का कार्य सम्पन्न करते हैं [इसलिये] (उशतः) हवि की कामना करने वाले (तान्) उन देवताओं को (वि बोधय) [हवि स्वीकार करने के लिये] जगा दें, प्रेरित करें। [तदनन्तर] (देवैः) उन देवताओं के साथ (बर्हिषि) कुश पर (आसत्सि) आकर बैठ जायें ॥ ४ ॥

सायणः—हे अग्ने यत् यस्मात् कारणात् दूत्यं यासि देवानां दूतकर्म प्राप्तोऽपि तस्मात्कारणात् उशतः हविः कामयमानान् तान् देवान् हविःस्वीकारार्थं विबोधय। विबोध्य च बर्हिषि अस्मिन्कर्मणि तैः देवैः सह आ सत्सि आसीद आगत्योपविश ॥ तान्। 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) इति संहितायां रुत्वम्। 'आतोऽटि नित्यम्' इत्यनुनासिकभावः। उशतः। 'वश कान्तौ' लटः शतृ। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक्। 'ग्रहिज्या०' (पा० ६।१।१६) इत्यादिना संप्रसारणम्। दूतस्य भागः कर्म वा दूत्यम्। 'दूतस्य भागकर्मणी' (पा० ४।४।१२०) इति यत्। सत्सि सीदसि। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'। लटः सिपि शपो 'बहुलं छन्दसि' इति लुक्। 'न लुमताङ्गस्य' (पा० १।१।६३) इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् 'पाघ्रा०' (पा० ७।३।७८) इति सीदादेशो न भवति। बर्हिषि। 'बृह बृहि वृद्धौ'। 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ० २।२६६) इति इसिप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण हकार उदात्तः ॥ ४ ॥

स्कन्दः—तान् उशतः यज्ञगमनं कामयमानान् विबोधय अस्य यजमानस्य यज्ञे गन्तव्यमित्येतच्चेतया। कांस्तान्। उच्यते। यत्। षष्ठ्या द्वितीयाया वा अत्र लुक्। येषां यान् वा प्रति। हे अग्ने, यासि प्रतिपद्यसे। दूत्यं दूतकर्म। देवानित्यर्थः। आगतैर्देवैः सह आसत्सि आसीद उपविश बर्हिषि अस्मिन् ॥ ४ ॥

११५ घृताहवन दीदिवः प्रति ष्म रिषतो दह।
　　अग्ने त्वं रक्षस्विनः ॥ ५ ॥

घृतऽआहवन। दीदिऽवः। प्रति। स्म। रिषतः। दह।
　　अग्ने। त्वम्। रक्षस्विनः ॥ ५ ॥

Resplendent Agni, invoked by oblations of clarified butter, consume our adversaries, who are defended by evil spirits.

(घृताह्वन) घृत के द्वारा बुलाये जाने वाले (दीदिवः) प्रकाशयुक्त, चमकने वाले (अग्ने) हे अग्नि देवता, (रक्षस्विनः) राक्षसों के साथ

वर्तमान (रिषतः) हिंसक शत्रुओं को (प्रति) जो हमारे प्रतिकूल या विरोधी हैं उन्हें, (दह स्म) सभी तरह से भस्मीभूत कर दें ॥ ५ ॥

सायणः—हे घृताहवन घृतेनाहूयमान दीदिवः दीप्यमान अग्ने त्वं रक्षस्विनः रक्षोयुक्तान् रिषतः हिंसकान् शत्रून् प्रति अस्माकं प्रतिकूलान् दह स्म सर्वथा भस्मीकुरु ॥ घृतेनाहूयतेऽस्मिन्निति 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११७) इत्यधिकरणे ल्युट्। अत्र जुहोतेः अविवक्षितकर्मत्वेन अकर्मकत्वात् घृतस्य करणत्वमेव न तु कर्मत्वम्। अतो नैषा 'तृतीया च होश्छन्दसि' (पा० २।३।३) इति कर्मणि तृतीया। किन्तु 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (पा० २।३।१८) इति करणवाचिन्येव। अतः 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (पा० २।१।३२) इति समासः। दीदिवः। दीव्यतेर्लिटः क्वसुः। तस्य 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (पा० ७।२।६७) इति नियमात् इडभावः। द्विर्वचनम्। हलादिशेषः। उत्तरवकारस्य 'लोपो व्योर्वलि' (पा० ६।१।६६) इति लोपः। क्वसुः। कित्वाद् गुणाभावः। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० ६।१।७) इति दीर्घत्वमभ्यासस्य। संबुद्धौ 'उगिदचाम्०' (पा० ७।१।७०) इति नुम्। 'संयोगान्तस्य लोपः' (पा० ८।२।२३) इति सकारलोपे नकारस्य 'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि' (पा० ८।३।१) इति रुत्वम्। विसर्गः। रिषतः। 'रुष रिष हिंसार्थाः' इति भौवादिकस्य लटः शत्रादेशे शपि छान्दसो गुणाभावः। तौदादिकस्य वा 'रुश रिश हिंसायाम्' इत्यस्य छान्दसं षत्वम्। विकरणस्य शस्य ङित्वाद् गुणाभावः। रक्षस्शब्दात् 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पा० ५।२।१२१) इति मत्वर्थीयो विनिः। तस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् ॥ ५ ॥

स्कन्दः—आहुतिलक्षणं घृतमाहूयते यस्मिन् स घृताहवनः हे घृताहवन ! दीदिवः दीप्तिमन् ! प्रति ष्म रिषतो दह। स्मेति पदपूरणः। प्रतिदह। कान्। रिषतो हिंसतो मां हे अग्ने ! त्वम्। कीदृशान्। रक्षस्विनः। रक्षःशब्देनात्र रक्षःसम्बन्धि क्रौर्यं लक्ष्यते। तद्वतः रक्षोभवान् अत्यन्तक्रूरानित्यर्थः ॥ ५ ॥

११६ अ॒ग्निना॒ग्निः समि॑ध्यते क॒विर्गृ॒हप॑तिर्यु॒वा॑।
ह॒व्य॒वाड् जु॒ह्वा॑स्यः ॥ ६ ॥

अ॒ग्निना॑। अ॒ग्निः। सम्। इ॒ध्य॒ते॒। क॒विः। गृ॒हऽप॑तिः। युवा॑।
ह॒व्य॒ऽवाट्। जु॒हुऽआ॑स्यः ॥ ६ ॥

Agni, the ever young and wise, the guardian of the dwelling (of the sacrificer), the bearer of offerings, whose mouth is (the vehicle) of oblations, is kindled by Agni.

(अग्निना) निर्मथ्य अग्नि के द्वारा (कविः) मेधावी, (गृहपतिः) यजमान के घर के पालक, (युवा) निरन्तर तरुण बने रहने वाले, (हव्यवाट्) हवि के वाहक तथा (जुह्वास्यः) जुहू अर्थात् आहुति देने के लिये स्रुवा-पात्र रूपी मुख वाले (अग्निः) अग्निदेव (समिध्यते) प्रज्वलित किये जाते हैं ॥६॥

सायणः—अग्निः आहवनीयाख्यः तस्मिन्प्रक्षिप्यमाणेन अग्निना निर्मथ्येन प्रणीतेन वा सह समिध्यते सम्यक् दीप्यते। कीदृशोऽग्निः। कविः मेधावी गृहपतिः यजमानगृहस्य पालकः युवा नित्यतरुणः हव्यवाट् हविषो वोढा जुह्वास्यः जुहूरूपेण मुखेन युक्तः॥ गृहपतिः। 'पत्यावैश्वर्ये' (पा० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। युवा। 'यु मिश्रणे'। 'कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५४) इति कनिन्। हव्यं वहतीति हव्यवाट्। 'वहश्च' (पा० ३।२।६४) इति ण्विप्रत्ययः। णित्वादुपधावृद्धिः। जुह्वास्यः। हूयतेऽनेनेति जुहूः। 'हुवः श्लुवच्च' (उ० २।२१८) इति क्विप्। तत्संनियोगात् दीर्घः। श्लुवद्भावात् द्विर्भावः। चुत्वजश्त्वे। जुहूः आस्यं यस्येति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव शिष्यते। शेषनिघातः। यणादेशे 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८।२।४) इति आकारः स्वरितः॥६॥

स्कन्दः—पादस्त्वत्र द्विदेवतः। निर्मथ्याहवनीयार्थोऽग्निनाग्निः समिध्यते। अत्र सूक्ते पाद एको द्विदेवतः निर्मथ्यार्थः आहवनीयार्थश्च। कतमः। 'अग्निनाग्निः समिध्यते' इत्ययम्। अग्निना निर्मथ्येन अग्निराहवनीयः दीप्यते कविर्मेधावी गृहपतिर्यजमानस्य यज्ञगृहस्य वा स्वामी युवा तरुणः। अग्निरुपशान्तोऽपीन्धनं प्राप्य पुनस्तरुणीभवति। तेनास्योपपन्नं सदा तरुणत्वम्। हव्यवाट् हविषां वोढा जुह्वास्यः जुहूरास्यस्थानीया यस्य स जुह्वास्यः। यथा हि मनुष्या आस्येनान्नमदन्ति तद्वद् जुह्वा अग्निः॥ ६ ॥

११७ कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम्॥ ७ ॥

कविम्। अग्निम्। उप। स्तुहि। सत्यऽधर्माणम्। अध्वरे।
देवम्। अमीवऽचातनम्॥ ७ ॥

Praise in the sacrifice, Agni, the wise, the observer of truth, the radiant, the remover of disease.

(अध्वरे) यज्ञस्थान में (कविं) मेधावी, (सत्यधर्माणं) सत्य वचन रूपी धर्म से संपन्न, (देवम्) दिव्य शक्तिमान् और (अमीवचातनम्) हिंसक शत्रुओं या रोगों के विनाशक (अग्निम) अग्नि देवता की (उपस्तुहि) स्तुतिं, समीप जाकर, कीजिये॥ ७ ॥

सायणः—हे स्तोतृसंघ, अध्वरे क्रतौ अग्निम् उप स्तुहि उपेत्य स्तुतिं कुरु। कीदृशम्। कविं मेधाविनं सत्यधर्माणं सत्यवदनरूपेण धर्मेणोपेतं देवं द्योतमानम् अमीवचातनम् अमीवानां हिंसकानां शत्रूणां रोगाणां वा घातकम्। सत्यं धर्मो यस्येति सत्यधर्मा। 'धर्मादनिच् केवलात्' (पा० ५।४।१२४) इति अनिच् समासान्तः। अमीवशब्दः 'अम रोगे' इत्यस्मात् 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः' (उ० १।१५२) इति वन्प्रत्यये ईडागमे च निपातितः। 'चते चदे याचने च' इत्यस्मात् हिंसार्थात् णिजन्तात् नन्द्यादित्वात् ल्युः (पा० ३।१।१३४)। योरनादेशः (पा० ७।१।१)। 'णेरनिटि' (पा० ६।४।५१) इति णेर्लोपः। अमीवानां चातनः इति समासे कृदुत्तरप्रकृतिस्वरेण स एव शिष्यते ॥ ७ ॥

स्कन्दः—कविमग्निमुपस्तुहि। आत्मन एवायमन्तरात्मनः प्रैषः। सत्यधर्माणम्। अध्वरे यज्ञे। देवम्। अमीवचातनम्। अमीवो हिंसिता तस्य चातनं नाशनम्। स्तोतृहिंसितॄणां नाशयितारमित्यर्थः ॥ ७ ॥

११८ यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति।
तस्य स्म प्राविता भव ॥ ८ ॥

यः। त्वाम्। अग्ने। हविःऽपतिः। दूतम्। देव। सपर्यति।
तस्य। स्म। प्रऽअविता। भव ॥ ८ ॥

Resplendent Agni, be the protector of that offerer of oblations who worships thee, the messenger of the gods.

(देव) हे प्रकाश युक्त (अग्ने) अग्नि-देवता ! (यः) जो (हविष्पतिः) हवि का स्वामी यजमान (दूतं) देवताओं के दूत स्वरूप (त्वां) आप की (सपर्यति) परिचर्या, पूजा करता है, (तस्य) उस यजमान के (प्राविता) प्रकृष्ट रक्षक (भव स्म) आप अवश्य बनें।

सायणः—हे अग्नेदेव यः हविष्पतिः यजमानः देवदूतं त्वां सपर्यति परिचरति तस्य यजमानस्य प्राविता भव स्म अवश्यं रक्षको भव। हूयते इति हविः। 'अर्चिशुचि०' (उ० २।२६५) इत्यादिना इसिः। हविषः पतिः हविष्पतिः। 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' (पा० ८।३।४५) इति षत्वम्। सपरशब्दात् 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (पा० ३।१।२७) इति यक्। धातुप्रकरणात् गुणप्रतिषेधाद्यर्थात् यकः कित्वाच्च सपरशब्दस्य धातुत्वात् ततो विहितस्य यकः आर्धधातुकत्वे सति 'अतो लोपः' (पा० ६।४।४८) इति लोपः 'सनाद्यन्ता

धातवः' (पा० ३।१।३२) इति धातुसंज्ञायां तिप्। कर्तरि शप्। तस्मिन्पूर्वस्य 'अतो गुणे' (पा० ६।१।९७) इति परपूर्वत्वम् ॥ ८ ॥

स्कन्दः—यस्त्वाम्। हे अग्ने, हविष्पतिः हविषः स्वामी अस्मदादिर्यजमानः। दूतं हे देव सपर्यति। तस्य स्म। प्राविता प्रकर्षेण रक्षिता भव ॥ ८ ॥

११९ यो अ॒ग्निं दे॒ववी॑तये ह॒विष्माँ॑ आ॒विवा॑सति ।

तस्मै॑ पावक मृळय ॥ ९ ॥

यः। अ॒ग्निम्। दे॒वऽवी॑तये। ह॒विष्मा॑न्। आ॒ऽविवा॑सति।

तस्मै॑। पा॒व॒क॒। मृ॒ळ॒य॒ ॥ ९ ॥

Be propitious, Pavaka to him who, presenting oblations for the gratification of the gods approaches Agni.

(पावक) हे पवित्र करने वाले अग्निदेव ! (यः) जो (हविष्मान्) हविर्दाता यजमान (देववीतये) देवताओं के हविर्भोजन अर्थात् यज्ञ के लिए (आविवासति) आपकी परिचर्या करता है, (तस्मै) उसे (मृळय) सुखी कीजिये ॥ ९ ॥

सायणः—हविष्मान् हविर्युक्तः यः यजमानः देववीतये देवानां हविर्भक्षणहेतुयागार्थम् अग्निं आविवासति अग्नेः समीपे विशेषेणागत्य परिचर्यां करोति। हे पावक अग्ने तस्मै मृळय तं यजमानं सुखय। देववीतये। 'वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु' इत्यस्मात् अशनार्थात् क्तिन्। देवानां पीतिर्यस्मिन्यागे स देववीतिः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। आविवासति। 'वा गतिगन्धनयोः'। अस्मात् अन्तर्भावितण्यर्थात् आगमयितुमिच्छतीत्यर्थे सन्। आह्वानेच्छा परिचर्यायां पर्यवस्यतीति विवासतिशब्दः परिचर्यार्थे निघण्टौ (निघ० ३।५।१०) पठितः। द्विर्भावः। अभ्यासस्य ह्रस्वः। 'सन्यतः' (पा० ७।४।७९) इति इत्वम्। तस्मै। 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' (महाभा० १।४।३२।१) इति संप्रदाने चतुर्थी ॥ ९ ॥

स्कन्दः—यो भवन्तमग्निं देववीतये। वीतिर्गत्यर्थः। अशनार्थो वा। देवान्प्रति गमनाय देवानां वा हविर्भक्षणाय। हविष्मान् हविःसंयुक्तो यजमानः। आविवासति परिचर्यायाम्। आभिमुख्येन परिचरति। तस्मै। द्वितीयार्थे चतुर्थी एषा। तं हि पावक शोधयितः ! मृळय सुखय ॥ ९ ॥

१२० स नः॑ पावक दीदि॒वोऽग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह ।

उप॑ य॒ज्ञं ह॒विश्च॑ नः ॥ १० ॥

सः । नः । पावक । दीदिऽवः । अग्ने । देवान् । इह । आ ।
वह । उप । यज्ञम् । हविः । च । नः ॥ १० ॥

Agni, the bright, the purifier, bring hither the gods to our sacrifice, to our oblations.

(सः) वही आप (पावक) हे पवित्र करने वाले, (दीदिवः) चमकने वाले (अग्ने) अग्नि देवता ! (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ तथा (नः हविः) वहाँ पर स्थित हवि के (उप) निकट (देवान्) देवताओं को (इह) यहाँ (आवह) ले आइये ॥ १० ॥

सायणः—हे दीदिवः दीप्यमान पावक शोधक अग्ने सः त्वं नः अस्मदर्थम् इह देवयजनदेशे देवान् आ वह । ततः नः अस्मदीयं यज्ञं तत्रत्यं हविश्च उप देवसमीपे प्रापयेति शेषः । दीदिवः । 'दिवु क्रीडादौ' । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति वर्तमाने लिट् । क्वसुः । द्विर्भावो हलादिशेषः । 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० ६।१।७) इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम् । 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (पा० ७।२।६७) इति नियमात् वसोः इट्प्रतिषेधः । 'लोपो व्योर्वलि' (पा० ६।१।६६) इति वकारलोपः । संबुद्धौ 'उगिदचाम्' (पा० ७।१।७०) इत्यादिना नुम् । हल्ङ्यादिलोपः संयोगान्तलोपश्च । 'मतुवसोः' इति रुत्वम् । विसर्गः । देवाँ इहेत्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) इति रुत्वम् । 'आतोऽटि नित्यम्' इति आकारस्यानुनासिकः । 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा० ८।३।१७) इति रोर्यकारः । 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति यकारलोपः । तस्यासिद्धत्वात् आद्गुणो न भवति । इह । 'इदमो हः' (पा० ५।३।११) इति सप्तम्यन्तात् ह प्रत्ययः । 'इदम इश्' (पा० ५।३।३) । तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (पा० २।४।७१) इति सप्तम्या लुक् । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (पा० १।१।३८) इत्यव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' (पा० २।४।८२) इत्युत्तरस्याः सप्तम्या लुक् ॥ १० ॥

स्कन्दः—स नः तादर्थ्ये एषा चतुर्थी । अस्माकमर्थे । हे पावक, दीदिवः दीप्तिमन् ! अग्ने, देवान् इहावह । क्वेह । उच्यते । उप यज्ञं हविश्च यज्ञस्य हविषश्च समीपे नः अस्माकं स्वभूतस्य ॥ १० ॥

१२१ स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा ।
रयिं वीरवतीमिषम् ॥ ११ ॥

सः । नः । स्तवानः । आ । भर । गायत्रेण । नवीयसा ।
रयिम् । वीरऽवतीम् । इषम् ॥ ११ ॥

Praised with our newest hymn, bestow upon us riches and food, the source of progeny.

[हे अग्निदेव !] (नवीयसा) बिल्कुल नये (गायत्रेण) गायत्री छन्द वाले प्रस्तुत सूक्त के द्वारा (स्तवानः) अपनी स्तुति होने पर (सः) आप (नः) हमारे लिए (रयिं) धन तथा (वीरवतीम्) वीर सन्तति से युक्त, या देनेवाला (इषम्) अन्न भी (आ भर) ले आवें ॥ ११ ॥

सायणः—हे अग्ने नवीयसा नवतरेण पूर्वैरप्यसंपादितेन गायत्रेण गायत्रीच्छन्दस्केनानेन सूक्तेन स्तवानः स्तूयमानः सः त्वं नः अस्मदर्थं रयिं धनं वीरवतीं शूरपुत्रप्रभृत्यपत्ययुक्ताम् इषम् अन्नं च आ भर संपादय। स्तवानः। 'ष्टुञ् स्तुतौ'। 'धात्वादेः षः सः'। 'स्वरितञितः०' (पा० १।३।७२) इत्यात्मनेपदम् । लटः शानच्। कर्तरि शप्। 'बहुलं छन्दसि' इति लुगभावः। गुणावादेशौ। 'आने मुक्' (पा० ७।२।८२) इति मुक् न भवति, 'अनित्यमागमशासनम्' (परिभा० ९६) इत्यागमानुशासनस्य अनित्यत्वात्। भर। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० ८।२।३२ वा०) इति भत्वम्। गायत्रेण। गायत्र्याः संबन्धि गायत्रम्। 'तस्येदम्' (पा० ४।३।१२०) इति अण्प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः। नवीयसा। नवशब्दात् आतिशायनिकः ईयसुन्प्रत्ययः। आद्युदात्तः ॥ ११ ॥

स्कन्दः—स नः अस्मदर्थं स्तवानः स्तूयमानः अस्माभिः आभर आहर आनय। केन स्तवानः। गायत्रेण। गायतेरर्चतिकर्मणः एतद्रूपम्। स्तवेन नवीयसा नवतरेण अन्यैरकृतपूर्वेण किमाहराणि। उच्यते। रयिं धनं वीरवतीं पुत्रसंयुक्ताम् इषम् अन्नं च ॥ ११ ॥

१२२ अग्ने॑ शु॒क्रेण॑ शो॒चिषा॒ विश्वा॑भिर्दे॒वहू॑तिभिः ।
इ॒मं स्तोमं॑ जुषस्व नः ॥ १२ ॥

अग्ने॑ । शु॒क्रेण॑ । शो॒चिषा॑ । विश्वा॑भिः । दे॒वहू॑तिऽभिः ।
इ॒मम् । स्तोम॑म् । जु॒षस्व॑ । न॒ः ॥ १२ ॥

Agni, shining with pure radiance, and charged with all the invocations of the gods, be pleased by this our praise.

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (शुक्रेण) शुक्लवर्ण की (शोचिषा) अपनी दीप्ति से तथा (विश्वाभिः) सभी प्रकार की (देवहूतिभिः) देवताओं के बुलाने के साधन स्तोत्रों से [युक्त होकर] (नः) हमारे (इमं) प्रस्तुत (स्तोमं) स्तोत्र को (जुषस्व) ग्रहण कीजिये ।

सायणः—हे अग्ने शुक्रेण शोचिषा त्वदीयश्वेतवर्णदीप्त्या विश्वाभिः देवहूतिभिः त्वत्कृतसर्वदेवताह्वानसाधनस्तोत्रैश्च युक्तस्त्वं नः अस्मदीयम् इमं स्तोमं स्तोत्रविशेषं जुषस्व सेवस्व ! विश्वशब्दो विशेः क्वनन्तो नित्स्वादाद्युदात्तः। देवहूतिभिः। देवशब्दः पचाद्यजन्तः। चित्स्वादन्तोदात्तः। देवानां हूतय आह्वानान्यासु स्तुतिष्विति देवहूतयः स्तुतयः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। स्तूयतेऽनेनेति स्तोमः। 'अर्तिस्तुसु०' (उ० १।१३७) इत्यादिना मन् नित्स्वादाद्युदात्तः॥ १२॥

स्कन्दः—अग्ने शुक्रेण शुक्लवर्णेन शोचिषा। ज्वलन्नामैतत्। ज्वलता। केन। सामर्थ्यादात्मना। विश्वाभिः सर्वाभिश्च देवहूतिभिः देवाह्वानैः इमं स्तोमं जुषस्व सेवस्व नः अस्माकं स्वभूतम्। स्वयं च शृणु। देवाँश्च सर्वान् श्रावकानाह्वय इत्यर्थः॥ १२॥

---

(१३) त्रयोदशं सूक्तम्

१२३ सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते ।
होतः पावक यक्षि च ॥ १ ॥

सुऽसमिद्धः । नः । आ । वह । देवान् । अग्ने । हविष्मते ।
होतरिति । पावक । यक्षि । च ॥ १ ॥

Agni, who art Susamiddha (well-kindled), invoker, purifier, bring hither the gods to the offerers of our oblation, and do thou sacrifice.

काण्वो मेधातिथिः ऋषिः । गायत्री छन्दः । देवता—(१–५) अग्ने-रूपाणि यथा इध्मः, तनूनपात्, नराशंसः, इळः, बर्हिश्च, (६) द्वारः, (७) उषासानक्ता, (८) दैव्यौ होतारौ, (९) इळा, सरस्वती, भारती, (१०) त्वष्टा, (११) वनस्पतिः, (१२) स्वाहा च ।

(अग्ने) हे अग्निदेव, (सुसमिद्धः) सुसमिद्ध या इध्म नामक अग्नि के रूप में आप (नः) हमारे पत्त के (हविष्मते) यजमान के लिए, (देवान्) देवताओं को (आवह) ले आइये । (पावक) हे शोधक तथा (होतः) होम के सम्पादक अग्निदेव, (यक्षि च) आप ही यज्ञ भी कीजिये [यज्ञ की समाप्ति तक स्थिर होकर कार्य सम्पादन कराइये] ।

सायणः—हे अग्ने सुसमिद्धनामकस्त्वं नः अस्मदीयाय हविष्मते यजमानाय तदनुग्रहार्थं देवान् आ वह । हे पावक शोधक होतः होमनिष्पादक अग्ने यक्षि च यज च । सुसमिद्धः । समः क्रियाविशेषणत्वेन गतिसंज्ञकत्वात् प्रादिसमासः । शोभनवाचिनः सुशब्दस्य तु 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (पा० २।१।५७) इति समिद्धपदेन कर्मधारयसमासः । देवाँ अग्ने । पूर्ववत् रुत्वानुनासिके । हविष्मते । हविरस्यास्तीति मतुप् । 'तसौ मत्वर्थे' (पा० १।४।१९) इति भत्वेन पदत्वस्य बाधितत्वात् न रुत्वम् । यक्षि । यजेर्लोटः सिपि 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक् । व्रश्चादिना षत्वम् । 'षढोः कः सि' (पा० ८।२।४१) इति कत्वम् । सेर्हिरादेशः छान्दसत्वात् न भवति ॥ १ ॥

स्कन्दः—सुसमिद्धो द्वादशर्चमाप्रीसूक्तम् । सर्वत्र चाप्रीसूक्ते यथाक्रममेकैकस्यामृचि आसां देवतानामेकैका देवता—इध्मः, तनूनपात्, नराशंसः, इळः, बर्हिः, देवीर्द्वारः, उषासानक्ता, दैव्या होतारा, तिस्रोदेवीः, त्वष्टा, वनस्पतिः,

स्वाहाकृतय इति । इध्यतेऽसाविति इध्मः समिन्धनसंबद्धोऽग्निरुच्यते । सुसमिद्धः सुष्ठु दीप्तः, नः अस्माकं स्वभूताय आवह देवान् हे अग्ने! हविष्मते यजमानाय । मा च वाग्मीरेव केवलं, हे होतः, पावक, यक्षि च यज च ॥ १ ॥

१२४ मधुमन्तं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे ।
अद्या कृणुहि वीतये ॥ २ ॥
मधुऽमन्तम् । तनूऽनपात् । यज्ञम् । देवेषु । नः । कवे ।
अद्य । कृणुहि । वीतये ॥ २ ॥

Wise (Agni), who art Tanūnapāt, present this day our well-flavoured sacrifice to the gods for their food.

(कवे) हे मेधावी अग्नि! (तनूनपात्) तनूनपात् के नाम से आप (अद्य) आज (नः) हमारे (मधुमन्तं) रस से परिपूर्ण (यज्ञं) हव्य पदार्थ को (वीतये) भोजन के लिये (देवेषु) देवताओं के पास (कृणुहि) पहुँचा दीजिये ॥ २ ॥

सायणः—हे कवे मेधाविन् अग्ने तनूनपात् एतन्नामकस्त्वम् अद्य अस्मिन् दिने नः अस्मदीयं मधुमन्तं रसवन्तं यज्ञं हविः वीतये भक्षणार्थं देवेषु कृणुहि कुरु प्रापयेत्यर्थः । मधुमन्तम् । 'फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च' (उ० १।१८) इति मन्यतेः उप्रत्ययो धकारश्चान्तादेशः । अद्य । 'सद्यःपरुत्०' (पा० ५।३।२२) इत्यादिना अस्मिन्काले इत्यर्थे द्यप्रत्ययो निपातितः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (पा० १।१।३८) इति अव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' (पा० २।४।८२) इत्युपरि सप्तम्या लुक् । संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति दीर्घत्वम् । कृणुहि । 'कृवि हिंसाकरणयोश्च' । 'इदितो नुम् धातोः' (पा० ७।१।५८) इति नुम् । लोटः सेर्हिरादेशः । 'धिन्विकृण्व्योर च' (पा० ३।१।८०) इति शपोऽपवादो विकरण उप्रत्ययः । तत्संनियोगेन वकारस्य अकारः । तस्य 'अतो लोपः' (पा० ६।४।४८) इति लोपः । तस्य स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणो न भवति । 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (पा० ६।४।१०६) इति हेर्लुक् न भवति, 'उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वावचनम्' (पा० ६।४।१०६ वा०) इति वचनात् । वीतये । 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः' (पा० ३।३।९६) इति क्तिन् उदात्तः ॥ २ ॥

स्कन्दः—मधुमन्तं मधुरस्वादैर्मृष्टैर्हविर्भिः तद्वन्तं हे तनूनपात्! आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते । अन्तरिक्षे ततत्वात् । तासां नपात् पौत्रः । कोऽसौ ? अग्निः । कथम् । अद्भ्यः ओषधिवनस्पतयो जायन्ते । ओषधिवनस्पतिभ्यः एप जायत

इति । तस्य संबोधनम् । हे तनूनपात् यज्ञं देवेषु । सामीपिकमिदमधिकरणम् । 'गङ्गायां गावः' इति यथा । देवसमीपे अस्माकं स्वभूतम् । कवे मेधाविन् अद्य कृणुहि कुरु देवसमीपं नयेत्यर्थः । किमर्थम् । वीतये कामाय भक्षणाय वा । यज्ञं कथं देवाः कामयेरन् हवींषि वा भक्षयेयुरित्येवमर्थम् ॥ २ ॥

१२५ नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उप ह्वये ।
मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥ ३ ॥

नराशंसम् । इह । प्रियम् । अस्मिन् । यज्ञे । उप । ह्वये ।
मधुऽजिह्वम् । हविःऽकृतम् ॥ ३ ॥

I invoke the beloved Narāśaṃsa, the sweet-tongued, the offerer of oblations, to this sacrifice.

(इह) यहाँ (अस्मिन् इस प्रस्तुत (यज्ञे) यज्ञ में (प्रियं) देव-मनुष्यों के प्रिय, (मधुजिह्वं) मधुर जिह्वा वाले तथा (हविष्कृतं) हवि को निष्पन्न करने वाले (नराशंसम्) नराशंस नामक अग्नि को (उप ह्वये) बुलाता हूँ ॥ ३ ॥

सायणः—इह देवयजनदेशे अस्मिन्प्रवर्तमाने यज्ञे नराशंसम् एतन्नामकमग्निम् उप ह्वये आह्वयामि । कीदृशम् । प्रियं देवानां प्रीतिहेतुं मधुजिह्वं मधुरभाषिजिह्वोपेतं माधुर्यरसास्वादकजिह्वोपेतं वा । हविष्कृतं हविषो निष्पादकम् ॥ नरशब्दो 'नॄ नये' इत्यस्मात् अबन्तः । शंसन्त्यस्मिन्निति शंसः । 'हलश्च' (पा० ३।३।१२१) इत्यधिकरणे घञ् । नराणां शंसः इति समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' (पा० ६।२।१४०) इति पूर्वोत्तरपदे प्रकृतिस्वरे भवतः । अत एव वनस्पत्यादिषु पाठात् नरशब्दस्य दीर्घत्वम् । इह । 'इदमो हः' (पा० ५।३।११) इति हप्रत्ययः । 'इदम इश्' (पा० ५।३।३) इति इशादेशः । प्रियम् । प्रीणातीति प्रियः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० ३।१।१३५) इति कः । मधुजिह्वम् । मधुशब्दस्य आद्युदात्तत्वम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण स एव शिष्यते । हविष्कृतम् । हविष्करोतीति हविष्कृत् । क्विपि ह्रस्वस्य तुक् । 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' (पा० ८।३।४५) इति षत्वम् ॥ ३ ॥

स्कन्दः—नराशंसं शंसिः स्तुत्यर्थः । नरैः प्रशस्यत इति नराशंसोऽग्निः तं नराशंसम् । इह मनुष्यलोके प्रियम् इष्टम् । मनुष्याणां प्रियमित्यर्थः । अस्मिन् यज्ञे उपह्वये । मधुजिह्वम् । मधुस्वादेषु हविःषु जिह्वा यस्य स मधुजिह्वः । नित्यमृष्टानां हविषां भक्षयितेत्यर्थः । अथवा जिह्वेति वाङ्नाम मध्वी जिह्वा यस्य स

मधुजिह्वः। होतृत्वाद्धयग्नेर्देवतानां स्तावकत्वादस्ति मधुवाक्त्वम्। सुभगवचनमित्यर्थः। हविष्कृतं हविषां कर्तारम् ॥ ३ ॥

१२६ अग्ने॑ सु॒खत॑मे॒ रथे॑ दे॒वाँ ई॑ळि॒त आ व॑ह।
असि॒ होता॒ मनु॑र्हितः ॥ ४ ॥
अग्ने॑। सु॒खऽत॑मे। रथे॑। दे॒वान्। ई॒ळि॒तः। आ। व॒ह।
असि॑। होता॑। मनुः॑ऽहितः ॥ ४ ॥

Agni, (who art) Iḷita, bring hither the gods in an easy-moving chariot, for thou art the invoker instituted by men.

(अग्ने) इट्शब्द के द्वारा अभिधेय हे अग्निदेव, (ईळितः) हमारे द्वारा स्तुति किये जाने पर (सुखतमे) सर्वाधिक सुख देने वाले (रथे) रथ पर (देवान्) देवताओं को (आवह) ले आइये, [क्योंकि आप] (मनुर्हितः) मन्त्र या मनुष्य के द्वारा यजमानादि के रूप में स्थापित हैं तथा (होता) देवताओं को बुला लाने वाले (असि) है ॥ ४ ॥

सायणः—इट्शब्दाभिधेय हे अग्ने ईळितः अस्माभिः स्तुतः सन् सुखतमे अतिशयेन सुखहेतौ कस्मिंश्चित् रथे देवान् स्थापयित्वा कर्मभूमौ आ वह। इट्शब्दाभिधेयत्वमत्र सूचयितुम् ईळित इति विशेषणम्। मनुर्हितः मनुना मन्त्रेण मनुष्येण वा यजमानादिरूपेण हितोऽत्र स्थापितस्त्वं होता देवानामाह्वाता असि॥ सुखतमे। सुखमस्मिन्नस्तीति मतुप्। तस्य 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः' (पा० ५।२।९४ वा०) इति लुक्। अतिशयेन सुखः सुखतमः। रथे। 'रमु क्रीडायाम्'। रमन्तेऽस्मिन्निति रथः। 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' (उ० २।१५९) इति क्थन्। 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (पा० ७।२।१०) इति इट्प्रतिषेधः। 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना मकारलोपः। ईळितः। 'ईड स्तुतौ')। 'निष्ठा' (पा० ३।२।१०२) इति क्तः। इडागमः। तस्य 'आगमा अनुदात्ताः' (महाभा० ३।१।३।७) इत्यनुदात्तः। प्रत्ययस्वरः। देवान् इति नकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) इति रुत्वम्। 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० ८।३।३) इति आकारस्य अनुनासिकभावः। 'भोभगो०' (पा० ८।३।१७) इत्यादिना रोर्यत्वम्। तस्य 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति लोपः। तस्यासिद्धत्वात् 'आद्गुणः' न भवति। असि। 'अस भुवि'। लटः सिप्। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक्। 'तासस्त्योर्लोपः' (पा० ७।४।५०) इति सकारस्य लोपः। होता। ताच्छील्ये तृन्। सौ 'ऋदुशन०' (पा० ७।१।९४) इत्यादिना

अनङ्। ङित्वादन्तादेशः। 'अप्तृन्॰' (पा॰ ६।४।११) इत्यादिना उपधादीर्घः। हल्ङ्याब्दिलोपनलोपौ। मनुर्हितः। मन्यते इति मनुः। 'मन ज्ञाने'। 'शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च' (उ॰ १।१०) इति उप्रत्ययः। हितः। दधातेः 'निष्ठा' इति कर्मणि क्तः। 'दधातेर्हिः' (पा॰ ७।४।४२) इति हिरादेशः। मनुना हितः इति समासे तृतीयायाः स्थाने 'सुपां सुलुक्॰' (पा॰ ७।१।३९) इत्यादिना सु इति आदेशः। तस्य रुत्वम्। लुगभावश्छान्दसः। 'तृतीया कर्मणि' (पा॰ ६।२।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

स्कन्दः—ईडेः स्तुतिकर्मण एतद् रूपम्। धातूपात्तस्तुतिसंबन्धोऽग्निः। हे अग्ने सुखतमे रथे। 'सुखै रथेभिरूतये हविष्मैरश्वैः सुवृता रथेन' (ऋ॰सं॰) इति तुल्यार्थेऽन्यत्र तृतीयानिदर्शनात् तृतीयार्थे सप्तम्येषा। सुखतमे रथे सुखतमेन रथेन देवम्। ईळितः स्तुतः अस्माभिः। आवह किं कारणम्। असि होता मनुर्हितः मनुना प्रजापतिना निहितः स्थापितः। मनुष्यपर्यायो वा मनुशब्दः मनुष्येषु निहितः उपकारक इत्यर्थः॥ ४॥

१२७ स्तृणीत बर्हिरानुषग्घृतपृष्ठं मनीषिणः।
यत्रामृतस्य चक्षणम्॥ ५॥

स्तृणीत। बर्हिः। आनुषक्। घृतऽपृष्ठम्। मनीषिणः।
यत्र। अमृतस्य। चक्षणम्॥ ५॥

Strew, learned priests, the sacred grass, well bound together (in bundles), and sprinkled with clarified butter, the semblance of ambrosia.

(मनीषिणः) हे बुद्धिमान् ऋत्विजो! (आनुषक्) निश्चित क्रम से बँधे हुए (घृतपृष्ठं) जिसके ऊपर घृत है अर्थात् घी से भरी स्रुवाएँ रखी हैं उस (बर्हिः) कुश-समूह को (स्तृणीत) यज्ञवेदिका पर बिछा दें। (यत्र) जिस कुश पर (अमृतस्य) घृत के, अग्नि के (चक्षणम्) दर्शन होते हैं॥

सायणः—हे मनीषिणः बुद्धिमन्तः ऋत्विजः बर्हिः दर्भं स्तृणीत वेदेरुपरि आच्छादयत। अत्रापि बर्हिर्नामकोऽग्निः सूच्यते। कीदृशं बर्हिरास्तरणीयम्। आनुषक् अनुक्रमेण सक्तं परस्परं संबद्धं घृतपृष्ठं घृतपूर्णानां स्रुचां बर्हिषि आसादितत्वात् घृतं पृष्ठे उपरिभागे यस्य बर्हिषः तत् घृतपृष्ठम्। यत्र यस्मिन् बर्हिषि अमृतस्य अमृतसमानस्य घृतस्य चक्षणं दर्शनं भवति। यद्वा। मरणरहितस्य देवस्य बर्हिर्नामकस्य अग्नेर्दर्शनं भवति तद्बर्हिः स्तृणीत इति पूर्वत्रान्वयः॥ स्तृणीत। 'स्तृञ् आच्छादने'। लोण्मध्यमपुरुषस्य बहुवचनम्। 'लोटो लङ्वत्'।

(पा० ३।४।८५)।' तस्थस्थमिपाम्०' (पा० ३ । ४ । १०१) इति थस्य तादेशः । 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (पा० ३ । १ । ८१) । 'ई हल्यघोः' (पा० ६।४।११३) इति ईत्वम् । 'ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्' (पा० ८।४।१ वा०) इति णत्वम् । 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० ७।३।८०) इति धातोर्ह्रस्वत्वम् । बर्हिः । 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ० २।२६६) इति इस्प्रत्ययनलोपौ । आनुषक् । आ समन्तात् अनुषजति इति आनुषक् । 'षञ्ज सङ्गे' । 'धात्वादेः षः सः' । 'क्विप् च' (पा० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । 'अनिदिताम्०' (पा० ६ । ४ । २४) इति लोपः । आङ्नोरुपसर्गयोः प्राक्प्रयोगः । गतिसमासः । 'उपसर्गात्सुनोति०' इत्यादिना षत्वम् । घृतपृष्ठम् । 'घृ क्षरणदीप्त्योः' । 'निष्ठा' (पा० ३।२।१०२) इति क्तः । घृतयुक्तं पृष्ठमस्येति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अमृतस्य । न विद्यते मृतं मरणम् अस्मिन्निति अमृतम् । चक्षणम् । 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' । वागभिव्यक्तिवाची धातुरिह अभिव्यक्तिमात्रं लक्षयति । 'ल्युट् च' (पा० ३।३।११५) इति भावे ल्युट् । योरनादेशः । तस्य आर्धधातुकत्वात् 'चक्षिङः ख्याञ्' (पा० २।४।५४) ख्याञादेशे प्राप्ते 'असनयोश्च' (पा० २।४।५४ वा०) इति प्रतिषेधः ॥ ५ ॥

स्कन्दः—स्तृणीतेति भूते काले व्यत्ययेनायं लोट् । स्तृतवन्तः स्थ । बर्हिः दर्भान् आनुषक् । आनुषगिति नामानुपूर्वस्य । आनुपूर्व्येण । घृतपृष्ठम् । घृतं पृष्ठे यस्य सः घृतपृष्ठः । बर्हिषो ह्युपरि हविर्लक्षणं घृतं साद्यते । अथवा घृतमित्युदकनाम । तेन स्पृष्टं घृतपृष्ठं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षितमित्यर्थः । हे मनीषिणः मेधाविनोऽध्वर्यवः । यत्र बर्हिषि अमृतस्य अमृतसदृशस्यान्तमृष्टस्य हविषः चक्षणं दर्शनं सादितस्य सतः । यत्र सादितं हविर्दृश्यत इत्यर्थः । अग्निर्वा अमरणधर्मत्वादमृतः तस्य यत्र दर्शनम् । सामीपिकं त्विदमधिकरणं समीपेऽग्निर्दृश्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

१२८ वि श्र॑यन्तामृता॒वृधो॒ द्वारो॑ दे॒वीर॑स॒श्चतः॑ ।
अ॒द्या नू॒नं च॒ यष्ट॑वे ॥ ६ ॥

वि । श्र॒य॒न्ता॒म् । ऋ॒त॒ऽवृधः॑ । द्वारः॑ । दे॒वीः । अ॒स॒श्चतः॑ ।
अ॒द्य । नू॒नम् । च॒ । यष्ट॑वे ॥ ६ ॥

Let the bright doors, the augmenters of sacrifice, (hither to) unentered, be set open, for certainly today is the sacrifice to be made.

(अद्य) आज के दिन (नूनं च) अवश्य ही (यष्टवे) यज्ञ-सम्पादन के लिए (ऋताऽवृधः) सत्य या यज्ञ की वृद्धि करने वाले, (देवीः) चमकीले

और (असश्चतः) अभी तक अप्रवेश्य (द्वारः) यज्ञशाला के द्वार (वि श्रयन्ताम्) खोल दिये जायँ ॥ ६ ॥

सायणः—द्वारः यज्ञशालाद्वाराणि वि श्रयन्तां कपाटोद्घाटनेन विव्रियन्ताम्। कीदृश्यः। ऋतावृधः ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा वर्धयित्र्यः देवीः द्योतमानाः असश्चतः असश्चन्त्यः उद्घाटनेन प्रवेष्टृपुरुषसङ्गरहिताः। यद्वा। असश्चतः प्रवेष्टृपुरुषरहितान् यज्ञगृहान् तत्पुरुषप्रवेशाय द्वाराभिमानिन्य एतत्संज्ञिका अग्निविशेषमूर्तयः वि श्रयन्तां विशेषेण सेवन्ताम्। द्वारसेवया तत्र पुरुषप्रवेशेन वा किं प्रयोजनमिति तदुच्यते। अद्य अस्मिन्दिने नूनम् अवश्यं यष्टवे यष्टुम् ॥ चकारात् दिनान्तरेष्वपि इति द्रष्टव्यम् ॥ ऋतावृधः। ऋतं वर्धयन्तीत्यर्थे वृधेः अन्तर्भावितण्यर्थात् 'क्विप् च' इति क्विप्। उपपदसमासः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। देवीः। 'वा छन्दसि' (पा० ३।४।८८) इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम्। देवशब्दात् पचाद्यजन्तात् 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० ४।१।४८) इति ङीष्। असश्चतः। 'सस्जु गतौ'। जकारस्य व्यत्ययेन चकारः। लटः शत्रादेशः। द्वाराभावे न विद्यन्ते सश्चन्तो गच्छन्तो येषु प्राग्वंशादिषु तान् असश्चतः। अद्य। 'सद्यःपरुत्०' (पा० ५।३।२२) इत्यादिना अप्रत्ययान्तो निपातितः। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (पा० १।१।३८) इति अव्ययसंज्ञकत्वात् परस्या विभक्तेर्लुक्। संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घत्वम्। यष्टवे। यजेः 'तुमर्थे सेसेन्०' (पा० ३।४।९) इत्यादिना तवेन्प्रत्ययः। व्रश्चादिना षत्वम्। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥ ६ ॥

स्कन्दः—वि श्रयन्तां विवृता भवन्तु ऋतावृधः यज्ञस्य वर्धयित्र्यः। द्वारः यज्ञगृहद्वारो वा ज्वाला वा अग्नेः। ता हि तस्य द्वारभूताः। देवीर्दीप्ता वा असश्चतः। सश्चतिः सङ्गार्थः। असज्यमानाः। अद्या नूनं च। नूनशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः। चशब्दश्रुतेः अद्य इत्येतेन च समाहारार्थस्य समुच्चयार्थस्य योग्यत्वात् पुराशब्दार्थे। अद्य च पुरा च इदानीं पूर्वस्मिंश्च काल इत्यर्थः। यष्टवे यष्टुं यागार्थमित्यर्थः ॥ ६ ॥

१२९ नक्तोषासा सुपेशसास्मिन्यज्ञ उप ह्वये ।
इदं नो बर्हिरासदे ॥ ७ ॥

नक्तोषसा। सुऽपेशसा। अस्मिन्। यज्ञे। उप। ह्वये।
इदम्। नः। बर्हिः आऽसदे ॥ ७ ॥

I invoke the lovely night and down to sit upon the sacred grass, at this our sacrifice.

(अस्मिन् यज्ञे) इस प्रस्तुत यज्ञ में (नः) हमारे (इदं बर्हिः) प्रस्तुत वेदिका पर बिछाये गये कुशों तक (आसदे) पहुँचने के लिए (सुपेशसा) सुन्दर रूप वाले तथा (नक्तोषसा) रात्रि तथा ऊषा का [रूप धारण करने वाले अग्निदेव का] (उप ह्वये) आह्वान करता हूँ ॥ ७ ॥

सायणः—नक्तशब्द उषःशब्दश्च लोके कालविशेषवाचिनौ । इह तु तत्कालाभिमानिवह्निमूर्तिद्वये प्रयुज्येते । नक्तोषासा नक्तोषोनामिके वह्निमूर्ती अस्मिन्प्रवर्तमाने यज्ञकर्मणि उप ह्वये आह्वयामि । किमर्थम् । नः अस्मदीयम् इदं वेद्यामास्तीर्णं बर्हिः दर्भम् आसदे आसत्तुं प्राप्तुम् । कीदृश्यौ । सुपेशसा शोभनरूपयुक्ते ॥ नक्तं च उषा च नक्तोषसा । द्वितीयाद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति आकारः । मलोप उपधादीर्घश्छान्दसौ । 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६।२।१४१) इति पूर्वोत्तरपदयोः युगपत् प्रकृतिस्वरत्वम् । शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते । पूर्ववत् आकारः । अस्मिन् । 'ऊडिदम्०' (पा० ६।१।१७१) इत्यादिना विभक्तिरुदात्ता । आसदे । 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' 'धात्वादेः षः सः' । आङ्पूर्वात् अस्मात् सम्पदादिभ्यो भावे क्विप् (पा० ३ । ३ । १०८ वा०) । प्रादिसमासः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ७ ॥

स्कन्दः—नक्त इति रात्रिनाम, उषा अपररात्रिकं ज्योतिः । नक्ता चोषाश्च नक्तोषसा । सुपेशसा, पेश इति रूपनाम । सुरूपे । अस्मिन्यज्ञ उपह्वये । किमर्थम् । इदं नो बर्हिः । इदं बर्हिरिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया । अस्य अस्माकं स्वभूतस्य च बर्हिषः आसदनाय । अत्र बर्हिष्युपवेष्टुमित्यर्थः ॥ ७ ॥

१२९ ता सुजिह्वा उप ह्वये होतारा दैव्या कवी ।
यज्ञं नो यक्षतामिमम् ॥ ८ ॥

ता । सुऽजिह्वौ उप ह्वये । होतारा । दैव्या । कवी इति ।
यज्ञम् । नः । यक्षताम् । इमम् ॥ ८ ॥

I call the two eloquent divine and sage invokers (of the gods), that they may celebrate this our sacrifice.

(ता) उन दोनों सुप्रसिद्ध (सुजिह्वौ) सुन्दर जिह्वा अर्थात् वाणी या ज्वाला से युक्त, (कवी) मेधावी और (दैव्या) देवों से संबद्ध (होतारा) होम निष्पन्न करने वाले [अग्नि के रूपों] का (उप ह्वये) आह्वान कर रहा हूँ । [वे दोनों] (नः) हमारे (इमं) प्रस्तुत (यज्ञं) यज्ञ का (यक्षताम्) अनुष्ठान, कार्य-सम्पादन करें ॥ ८ ॥

सायणः—तच्छब्दोऽत्र सर्वनामत्वात् प्रसिद्धार्थवाची । ता तौ याज्ञिकानां

प्रसिद्धौ ह्वावग्नी उप ह्वये आह्वयामि । नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं यक्षतां तौ उभौ यजताम् अनुतिष्ठताम् । कीदृशौ । सुजिह्वौ शोभनजिह्वोपेतौ प्रियवचनौ शोभनज्वालौ वेत्यर्थः । होतारा होमनिष्पादकौ दैव्या दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ । अत एव इमौ अग्नी दैव्यहोतृनामकौ कवी मेधाविनौ ॥ ता तौ । द्वितीयाद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' इति आकारः । सुजिह्वौ शोभना जिह्वा ययोस्तौ । संहितायाम् आवादेशः । वस्य 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति लोपः । होतारा । जुहोतेस्तृन् । द्विवचने 'ऋतो ङि०' (पा० ७।३।११०) इति गुणः । 'अप्तृन्०' इति उपधादीर्घः । पूर्ववदाकारः । नित्वादाद्युदात्तः । दैव्या । देवानामिमौ । 'देवाद्यञञौ' (पा० ४।१।८५ वा०) इति यञ् । 'यस्येति च' (पा० ६।४।१४८) इति अकारलोपः । पूर्ववदाकारः । यक्षतां यजताम् । लेटि शपि परतः 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० ३।१।३४) इति बहुलग्रहणात् सिप् । कुत्वचर्त्वषत्वानि ॥८॥

स्कन्दः—तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धोऽन्नाध्याहर्त्तव्यः । यौ सर्वमनुष्यैः नित्यमाहूयेते तौ सुजिह्वौ । जिह्वेति वाङ्नाम । सुवाचौ शोभनजिह्वाख्यावयवौ वा उपह्वये । होतारा दैव्या देवानां स्वभूतौ । कतमौ । इमं चाग्निममुं च मध्यमम् । कीदृशौ । कवी मेधाविनौ । तौ चाहूतौ सन्तावागत्य यज्ञं नो यक्षताम् । होतृत्वेनावस्थाय यजतामिमम् ॥ ८ ॥

१३१ इळा सर॑स्वती म॒ही ति॒स्रो दे॒वीर्म॑यो॒भुवः॑ ।
ब॒र्हिः सी॑द॒न्त्व॒स्रिधः॑ ॥ ९ ॥

इळा॑ । सर॑स्वती । म॒ही । ति॒स्रः । दे॒वीः । म॒यः॒ऽभुवः॑ ।
ब॒र्हिः । सी॒द॒न्तु॒ । अ॒स्रिधः॑ ॥ ९ ॥

May the three undecaying goddesses, givers of delight, Ila, Sarasvati and Mahi (Bhārati), Sit down upon the sacred grass.

(इळा सरस्वती मही) इडा, सरस्वती तथा पूज्य भारती—(तिस्रो देवीः) ये तीनों देवियाँ, जो (मयोभुवः) सुख देने वाली तथा (अस्रिधः) कभी न क्षीण होने वाली हैं, (बर्हिः) कुश पर (सीदन्तु) उपविष्ट हो जायँ ।

सायणः—अत्र महीशब्दो महत्त्वगुणयुक्तां भारतीमाचष्टे । अन्येषु आप्रीसूक्तेषु सहशेषु 'इळा सरस्वती भारती' इति आम्नातत्वात् । इळादिशब्दाभिधेया वह्निमूर्तयः तिस्रः देवीः दीप्यमानाः बर्हिः वेद्यामास्तीर्णे सीदन्तु प्राप्नुवन्ति । कीदृश्यः । मयोभुवः सुखोत्पादिकाः अस्रिधः शोषेण क्षयेण वा रहिताः ॥ इळा । 'ईड स्तुतौ' । छान्दसं ह्रस्वत्वम् । क्विप् । 'टापं चापि हलन्तानां यथा वाचा दिशा निशा' (कौ० २।४।८२) इति टाप् । सरस्वती । सरः असुनन्तो नित्वादाद्यु-

दात्तः। तदस्यास्तीति मतुप्। अदुपधत्वात् वत्वम्। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० १।४।१९) इति भत्वेन पदत्वस्य बाधितत्वात् रुत्वाद्यभावः। 'उगितश्च' (पा० ४।१।६) इति ङीप्। मतुब्ङीपौ पित्वादनुदात्तौ। मही। महतीशब्दे तकारलोपश्छान्दसः। 'यस्येति च' (पा० ६।४।१४८) इति अकारलोपः। तिस्रः। त्रिशब्दात् जसि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' (पा० ७।२।९९) इति तिस्रादेशः। 'अचि र ऋतः' (पा० ७।२।१००) इति रेफादेशः। 'तिसृभ्यो जसः' (पा० ६।१।६६) इति जस उदात्तत्वम्। देवीः। देवानां पत्न्यो देव्यः। 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० ४।१।४८) इति ङीष्। 'यस्येति च' इति अकारलोपः। जसि 'दीर्घाज्जसि च' (पा० ६।१।१०५) इति निषिद्धं दीर्घत्वं 'वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) इति पक्षेऽभ्यनुज्ञायते। मयोभुवः। 'मीञ् हिंसायाम्'। हिनस्ति दुःखमिति सुखं मयः। तद्भावयन्तीति मयोभुवः। अन्तर्भावितण्यर्थात् भुवः क्विप्। बर्हिः। 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ० २।२६६) इति इसिप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः। सीदन्तु। 'षदॢ विशरणादौ'। 'पाघ्रा०' (पा० ७।३।७८) इत्यादिना सीदादेशः। अस्रिधः। स्रिधेः हिंसार्थस्य शोषणार्थस्य वा संपदादिभ्यो भावे क्विपि नञो बहुव्रीहिः ॥ ९ ॥

स्कन्दः—महीशब्दोऽत्र महत्त्वगुणयोगाद् भारत्यां वर्तते। इळा सरस्वती मही च भारती एतास्तिस्रो देवीर्मयोभुवः। मय इति सुखनाम। भुविश्च सामर्थ्यादन्तर्णीतण्यर्थः। सुखस्य भावयित्र्यः। बर्हिः अस्मदीयं सीदन्तु अस्रिधः। सेधनिः क्षयार्थः। क्षयवर्जिताः ॥ ९ ॥

१३२ इ॒ह त्वष्टा॑रमग्रि॒यं वि॒श्वरू॑प॒मुप॑ ह्वये।
अ॒स्माक॑मस्तु॒ केव॑लः ॥ १० ॥
इ॒ह। त्वष्टा॑रम् अ॒ग्रि॒यम्। वि॒श्वऽरू॑पम्। उप॑। ह्व॒ये।
अ॒स्माक॑म्। अ॒स्तु॒। केव॑लः ॥ १० ॥

I invoke the chief and multiform Tvaṣṭṛ; may he be solely ours.

(इह) इस यज्ञ [मैं] (अग्रियं) प्रधान, श्रेष्ठ, (विश्वरूपं) अनेक रूपों वाले (त्वष्टारम्) त्वष्टा नामक अग्निदेव का (उप ह्वये) आह्वान करता हूँ, (केवल) वह केवल (अस्माकम्) हमारे लाभ के लिए ही (अस्तु) रहें ॥ १० ॥

सायणः—त्वष्टारं त्वष्टृनामकमग्निम् इह कर्मणि उप ह्वये। कीदृशम्। अग्रियं श्रेष्ठं विश्वरूपं बहुविधरूपोपेतम्। सः अस्माकं केवलः असाधारणः अस्तु। इतरयजमानेभ्योऽप्यधिकमनुग्रहं करोत्वित्यर्थः ॥ त्वष्टारम्। 'तक्षू

त्वक्षू तनूकरणे'। तृन्। 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' (पा० ७।२।४४) इति इडभावपक्षे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (पा० ८।२।२९) इति ककारलोपः। ष्टुत्वम्। द्वितीयैकवचने 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (पा० ७।३।११०) इति गुणे 'अप्तृन्०' (पा० ६।४।११) इत्यादिना उपधाया दीर्घः। अग्रियम्। 'अग्रात्०' (पा० ४।४।११६) इत्यनुवृत्तौ 'घच्छौ च' (पा० ४।४।११७) इति घच्। 'आयनेयी०' (पा० ७।१।२) इत्यादिना घकारस्य इयादेशः। 'यस्येति च' इति लोपः। विश्वरूपम्। विश्वानि रूपाणि त्वष्टृत्पन्नत्वेन यस्य। 'त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत्' (तै० सं० ६।१। ८।५) इति श्रुतेः। अस्माकम्। 'असु क्षेपणे'। 'युष्यसिभ्यां मदिक्' (उ० १।१३६) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। षष्ठीबहुवचनम् आम्। अत्र परमपि 'योऽचि' (पा० ७।२।८९) इति यत्वं बाधित्वा नित्यत्वात् प्रतिपदविधित्वाच्च आम आकमादेशे (पा० ७।१।३३) कृते 'अनादेशे' (पा० ७।२।८६) इति निषेधेन यत्वाभावात्। 'शेषे लोपः' (पा० ७।२।९०) इति दकारलोपे अकारान्तत्वेन पश्चात् प्राप्तस्यापि सुटः (पा० ७।१।५२) साम इति निर्देशे स्थानिन्यन्तर्भावेन निवृत्तिः। एवमर्थ एव हि साम इति ससुट्कनिर्देशः। केवलः। वृषादेराकृतिगणत्वात् आद्युदात्तः ॥ १० ॥

स्कन्दः—त्वष्टा नाम देवानां तक्षा, अग्निर्वा। त्विषेर्देवतायाम्। अकारश्चोपधाया अनिट्त्वञ्चेति। इह यज्ञे त्वष्टारम् अग्रियम्। अग्रशब्दः प्राधान्यवचनः। अस्मिन् भवमग्रियं प्रधानभूतमित्यर्थः। विश्वरूपम्। विश्वमिति बहुनाम। बहुरूपम्। अतिशयवन्महाभाग्ययोगादस्ति देवतानां बहुरूपत्वम्। उपह्वये। उपहूतश्च सन् केवलमस्तु। कः। सामर्थ्यात् स्तुत्यो यष्टव्यश्च ॥१०॥

१३३ अव॑ सृजा वनस्पते॒ देव॑ दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः।
प्र दा॒तुर॑स्तु॒ चेत॑नम् ॥ ११ ॥

अव॑। सृ॒ज। व॒न॒स्प॒ते॒। देव॑। दे॒वेभ्यः॑। ह॒विः।
प्र। दा॒तुः। अ॒स्तु॒। चेत॑नम् ॥ ११ ॥

Present, divine Vanaspati, our oblation to the gods, and may true knowledge be (the reward) of the giver.

(देव) हे दिव्य, चमकीले (वनस्पते) वनस्पति देव ! (देवेभ्यः) देवताओं के पास (हविः) हवि का पदार्थ (अवसृज) दे दें, पहुँचा दें। (प्र दातुः) यजमान को [आपकी कृपा से] (चेतनम्) परलोक विषयक ज्ञान, शुद्ध ज्ञान (अस्तु) मिले ॥ ११ ॥

सायणः—हे वनस्पते एतन्नामकाग्ने देव हविर्भुग्भ्यः अस्मदीयं हविः अव सृज । समर्पय इत्यर्थः । प्र दातुः यजमानस्य चेतनं परलोकविषयं विज्ञानं स्वत्प्रसादात् अस्तु ॥ देव । पादादित्वात् न निघातः । षाष्ठिकम् आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । हविः । इसः प्रत्ययस्वरः । दातुः । ददातेः तृच् । ङसि 'ऋत उत्' (पा० ६।१।१११) इति उत्वम् एकादेशो रपरत्वं च । 'रात्सस्य' (पा० ८।२।२४) इति सलोपः । चेतनम् । 'चिती संज्ञाने' । करणे ल्युट् । योरनादेशः लघूपधगुणः ॥ ११ ॥

स्कन्दः—वनान्युदकानि वृक्षा वा तेषां पाता वनस्पतिः अग्निः । कथमुदकानां वृक्षाणां वा पाताऽग्निः । सति सामर्थ्ये तेषामदाहकत्वात् । हविर्नयति । नयजन्यवृष्टिद्वारेण वा यूपो वा वनस्पतिविकारत्वात् । अवसृज । अवपूर्वः सृजतिर्दाने । हे वनस्पते देव, देवेभ्यो हविरिदमस्मदीयम् । प्रदातुरस्तु प्रकर्षेणास्तु दातुर्यजमानस्य चेतनं ज्ञानम् ॥ ११ ॥

१३४ स्वाहा॑ य॒ज्ञं कृ॑णोत॒नेन्द्रा॑य॒ यज्व॑नो गृ॒हे ।
तत्र॑ दे॒वाँ उप॑ ह्वये ॥ १२ ॥

स्वाहा॑ । य॒ज्ञम् । कृ॒णो॒त॒न॒ । इन्द्रा॑य । यज्व॑नः । गृ॒हे ।
तत्र॑ । दे॒वान् । उप॑ । ह्व॒ये ॥ १२ ॥

Perform the sacrifice conveyed through Svāhā to Indra, in the house of the worshipper : therefore I call the gods hither.

(स्वाहा) 'स्वाहा' नामक अग्नि के द्वारा संपादित (यज्ञं) यज्ञ को, (इन्द्राय) इन्द्रके संतोष के लिए, (यज्वनः) विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले यजमान के (गृहे) घर पर, (कृणोतन) संपन्न कीजिये, क्योंकि (तत्र) वहीं पर (देवान्) देवताओं को (उपह्वये) मैं बुला रहा हूँ ॥ १२ ॥

सायणः—स्वाहाशब्दो हविष्प्रदानवाची सन् एतन्नामकमग्निविशेषं लक्षयति । तदग्निसंपादितं यज्ञम् इन्द्राय इन्द्रतुष्ट्यर्थं यज्वनः यजमानस्य गृहे ऋत्विजः कृणोतन कुरुत । तत्र यज्ञे देवान् उप ह्वये ॥ कृणोतन । 'कृवि हिंसाकरणयोश्च' । इदित्वान्नुम् । लोण्मध्यमबहुवचनस्य 'तस्थस्थमिपाम्०' (पा० ३।४।१०१) इति तादेशः । 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० ७।१।४५) इति तनबादेशः । शपि प्राप्ते 'धिन्विकृण्व्योर च' (पा० ३।१।८०) इति उप्रत्ययः । तत्संनियोगेन वकारस्य च अकारः । तस्य 'अतो लोपः' (पा० ६।४।४८) इति लोपः । तस्य 'अचः परस्मिन्०' (पा० १।१।५७) ति स्थानिवद्भावात् ऋकारस्य लघूपधगुणो न भवति । तनपः पित्वेन अङि-

त्वात् उकारस्य गुणः। इन्द्राय। 'ऋजेन्द्र०' (उ० २।१८६) इत्यादिना रन्। यज्वनः। 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'। 'सुयजोर्ङ्वनिप्' (पा० ३।२।१०३)। ङसि भसंज्ञायाम् अल्लोपे प्राप्ते 'न संयोगाद्वमन्तात्' (पा० ६।४।१३७) इति निषेधः। गृहे। 'ग्रह उपादाने' (धा० क्र्या०)। 'गेहे कः' (पा० ३।१।१४४) इति कप्रत्ययः। 'ग्रहिज्या०' (पा० ६।१।१६) इत्यादिना संप्रसारणम्। परपूर्वत्वम्। 'देवाँ उप' इत्यत्र संहितायां 'दीर्घादटि०' (पा० ८।३।९) इति नकारस्य रुत्वम्। 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० ८।३।३) इति आकारस्य अनुनासिकादेशः। 'भोभगो०' (पा० ८।३।१७) इति यत्वम्। तस्य 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) इति लोपः॥ १२॥

स्कन्दः—स्वाहाकारसंबन्धादुत्तमप्रयाजदेवताः स्वाहाकृतय उच्यन्ते। याश्च यत्र यक्ष्यन्ते तास्तत्रोक्तप्रयाजस्य देवताः। स्वाहाशब्दो होमप्रदाने वर्तते, सुहुतशब्दपर्यायो वा। यज्ञमिति सप्तम्यर्थे द्वितीया। यक्ष्यमाणाभ्यो देवताभ्यो हविःप्रदानं सुहुतं वा हविरुत्तमप्रयाजाख्ये यज्ञे कृणोतन कुरुत अध्वर्यवः! क्व। इन्द्राय यज्वनो गृहे यक्ष्यमाणदेवतानां संस्कारार्थं त्वदुक्तमस्य प्रयाजस्यानैन्द्रे च पशाविन्द्रस्य यक्ष्यमाणत्वात्। इन्द्राय इत्येष तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तपरो यज्वनो गृह इत्येतेन संबध्यते न पूर्वेण। इन्द्रार्थं यष्टुः स्वभूते यज्ञगृहे। तत्र अहमपि यष्टव्यान् देवान् उपह्वये॥ १२॥

(१४) चतुर्दशं सूक्तम्

काण्वो मेधातिथिः ऋषिः । गायत्री छन्दः। अग्निप्रभृतयो विश्वेदेवाश्च देवताः ।

१३५ एभिरग्ने दुवो गिरो विश्वेभिः सोमपीतये ।
देवेभिर्याहि यक्षि च ॥ १ ॥

आ । एभिः । अग्ने । दुवः । गिरः । विश्वेभिः । सोमऽपीतये ।
देवेभिः । याहि । यक्षि । च ॥ १ ॥

Come, Agni, to our adoration, and to our praises with all these gods, to drink the Soma juice: and (do thou) affer sacrifice.

(अग्ने) हे अग्निदेव, [इस यज्ञ में संमानित] (एभिः) इन (विश्वेभिः) समस्त (देवेभिः) देवताओं के साथ (सोमपीतये) सोमरस का पान करने के लिए (दुवः) हमारी परिचर्या, सेवा तथा (गिर) स्तुतियों की ओर (आयाहि) आवें तथा (यक्षि च) यज्ञ भी करें ॥ १ ॥

सायणः—हे अग्ने एभिः अस्मिन्यज्ञे संभावितैः विश्वेभिः देवेभिः सर्वैर्देवैः सह सोमपीतये सोमपानोपेतयागार्थं दुवः अस्मदीयां परिचर्यां गिरः अस्मदीयाः स्तुतीश्च प्रति आ याहि आगच्छ । यक्षि च आगत्य यज च ॥ एभिः । पूर्वनिर्दिष्टानां देवानाम् इदमा परामर्शात् 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' इति अश् अनुदात्तः । शित्वात् सर्वादेशः । 'नेदमदसोरकोः' (पा० ७।१।११) इति भिस ऐसादेशाभावः । दुवः । 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) इत्याद्युदात्तत्वम् । विश्वेभिः । विश्वशब्दो विशेः क्वनन्तो नित्वादाद्युदात्तः । 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) इति भिस ऐस् न भवति । 'बहुवचने झल्येत्' (पा० ७।३।१०३) इति एत्वम् । सोमपीतये । सोमशब्दः 'अर्तिस्तुसु०' (उ० १।१३७) इत्यादिना मनन्तो नित्वादाद्युदात्तः । सोमस्य पीतिर्यस्मिन्यागे स सोमपीतिः । तस्मै । तादर्थ्ये चतुर्थी । देवेभिः । 'बहुलं छन्दसि' इति भिस ऐसादेशाभावः । 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वम् । यक्षि । यजेर्लोटः सिप् । 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुक् । व्रश्चादिना षत्वम् । 'षढोः कः सि' (पा० ८।२।४१) इति कत्वम् । सेर्हिरादेशश्छान्दसत्वात् न भवति । सिपः पित्वेनानुदात्तत्वात् धातुस्वर एव ॥ १ ॥

स्कन्दः—एभिरग्ने बहुदेवतम् । एभिरित्येतद् बहुदेवतं सूक्तम् । आ इत्युपसर्गो याहीत्याख्यातेन संबन्धयितव्यः । एभिर्विश्वेभिर्देवेभिरिति सहयोगलक्षणा तृतीया । तानि समानाधिकरणानि । एतैः सर्वैर्देवैः सह, अग्ने ! दुवो गिरः, परिचर्यां स्तुतीश्च प्रति सोमपीतये सोमपानार्थम् आयाहि यक्षि च यज चागतान् देवान् ॥ १ ॥

१३६ आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः ।
देवेभिरग्न आ गहि ॥ २ ॥

आ । त्वा । कण्वाः । अहूषत । गृणन्ति । विप्र । ते । धियः ।
देवेभिः । अग्ने । आ । गहि ॥ २ ॥

The Kanvas invoke thee, sapient Agni, and extol thy deeds : Come, Agni, with the gods.

(विप्र) हे मेधावी अग्निदेव, (कण्वाः) बुद्धिमान् ऋत्विजगण, कण्व परिवार वाले (त्वा) आपको (आ अहूषत) बुलाते हैं तथा (ते) आपके (धियः) कर्मों की (गृणन्ति) स्तुति करते हैं । (अग्ने) हे अग्निदेवता, आप (देवेभिः) देवताओं के साथ (आ गहि) आइये ॥ २ ॥

सायणः—हे विप्र मेधाविन् अग्ने कण्वाः मेधाविन ऋत्विजः त्वा यज्ञनिष्पादकं त्वाम् आ अहूषत आह्वयन्ति । तथा ते धियः त्वदीयानि कर्माणि गृणन्ति कथयन्ति । ततो हे अग्ने देवेभिः देवैः सह आ गहि आगच्छ । 'विप्रः' इत्यादिषु चतुर्विंशतिसंख्याकेषु मेधाविनामसु 'कण्वः ऋभुः' (निघ० ३।१५।७) इति पठितम् ॥ कण्वाः । कण शब्दार्थः । 'अशिप्रुषिलटिकणिखटि०' (उ० १।१४९) इत्यादिना क्वन् । अहूषत । 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति वर्तमाने लुङ् । ञित्वादात्मनेपदं झः । 'आत्मनेपदेष्वनतः' (पा० ७।१।५) इति अदादेशः । च्लेः सिच् । 'एकाचः०' (वा० ७।२।१०) इति इट्प्रतिषेधः 'बहुलं छन्दसि' इति संप्रसारणं परपूर्वत्वम् । 'हलः' (पा० ६ । ४ । २) इति दीर्घत्वम् । 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० ८।३।५९) इति षत्वम् । छान्दसत्वात् ऊकारस्य न गुणः । अडागमः । गृणन्ति । 'गॄ शब्दे' । लट् । झि । 'झोऽन्तः' । 'क्र्यादिभ्यः श्ना' । 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० ७ । ३ । ८०) इति धातोर्ह्रस्वत्वम् । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा० ६ । ४ । ११२) इति आकारलोपः । 'ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्' (पा० ८।४।१ वा०) इति णत्वम् । ते । 'अनुदात्तम्' इत्यनुवृत्तौ 'तेमयावेकवचनस्य' (पा० ८।१।२२) इति षष्ठ्याः ते इति आदेशः । देवेभिः । छान्दस ऐसभावः । गहि । 'गम्लृ सृप्लृ गतौ'

लोटः सिप्। 'सेह्यपिच्च'। 'कर्तरि शप्'। तस्य 'बहुलं छन्दसि' इति लुक्। 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना मकारलोपः। तस्य 'असिद्धवदत्राभात्' (पा० ६।४।२२) इति असिद्धत्वात् 'अतो हेः' (पा० ६।४।१०५) इति हेर्लुक् न भवति ॥ २ ॥

स्कन्दः—आ त्वा कण्वा अहूषत आह्वयन्ति त्वां कण्वाः। कण्व इति मेधाविनाम। मेधाविनः ऋत्विजः। अथवा 'कण्वाः' इति मेधातिथिरात्मानं प्रति संबन्धेनाह। एतस्मिन्नेव चात्मनीदं बहुवचनं पुत्रपौत्रापेक्षया वा। मत्प्रभृतयः कण्वपुत्रा इत्यर्थः। गृणन्ति च। हे विप्र मेधाविन्! ते तव धियः कर्माणि प्रतिज्ञा वा। एतज्ज्ञात्वा देवेभिः देवैः सह अग्ने आगहि आगच्छ ॥ २ ॥

१३७ इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्।
आदित्यान्मारुतं गणम् ॥ ३ ॥

इन्द्रवायू इति। बृहस्पतिम्। मित्रा। अग्निम्। पूषणम्। भगम्।
आदित्यान् मारुतम्। गणम् ॥ ३ ॥

Sacrifice, (Agni), to Indra, Vāyu Brhaspati, Mitra, Agni, Pūṣan and Bhaga, the Ādityās and the troop of Maruts.

[हे अग्निदेव], (इन्द्रवायू) इन्द्र और वायु, (बृहस्पतिं) बृहस्पति, (मित्रा) मित्र, (अग्निं) अग्नि, (पूषणं) पूषा, (भगम्) भग, (आदित्यान्) आदित्यों तथा (मारुतं) मरुतों के (गणम्) समूह को [यज्ञ का भागी बनाइये] ॥ ३ ॥

सायणः—इन्द्रादिदेवान् मारुतं मरुतां वायूनां सम्बन्धिनं गणं च हे अग्ने यक्षि इति पदद्वयमनुवर्तते ॥ इन्द्रश्च वायुश्च इन्द्रवायू। 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६।३।२६) इति प्राप्तस्य आनङः 'उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः' (पा० ६।३।२६ वा०) इति प्रतिषेधः। बृहस्पतिम्। 'तद्बृहतोः करपत्योश्चौरदेवतयोरभिधेययोः सुट् तलोपो वक्तव्यः' (महाभा० ६।१।१५७) इति तल्लोपः सुडागमश्च। बृहच्छब्दमाद्युदात्तं केचिद्वर्णयन्तीति वामनः। 'पा रक्षणे'। पातीति पतिः। 'पातेर्डतिः' (उ० ४।४९७)। समासे 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' (पा० ६।२।१४०) इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम्। मित्रा। द्वितीयायाः 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना विभक्तेः आजादेशः। आदित्यान्। अदितेरपत्यानि आदित्याः। 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' (पा० ४।१।८५)। प्रत्ययस्वरः। मारुतम्। मरुतां विकारः। 'अनुदात्तादेश्च' (पा० ४।३।१४०) इति अञ्। ञित्वादाद्युदात्तः ॥ ३ ॥

स्कन्दः—द्वितीयानिर्देशादत्र सोमपानार्थमाह्वयामि स्तौमि चेति वाक्यशेषः। इन्द्रवायू सोमपानार्थमाह्वयामि स्तौमि वा। बृहस्पतिम्। मित्रा। एकवचनस्यायमाकारः द्विवचननिर्देशो वा। अन्यतरवचनेनापि मित्रशब्देन साहचर्यात्। इदं मित्रावरुणयोर्द्वयोरप्यभिधानम्। मित्रावरुणौ अग्निं पूषणं भगम् आदित्यान् मारुतं च गणम्। अथवा तृतीयार्थेऽत्र द्वितीया। पूर्वेणचैकवाक्यता। देवेभिरग्न आगहि इन्द्रवाय्वाद्यैरिति ॥ ३ ॥

२३८ प्र वो॑ भ्रियन्त॒ इन्द॑वो मत्स॒रा मा॑दयि॒ष्णवः॑।
द्र॒प्सा मध्वः॑ चमू॒षदः॑ ॥ ४ ॥

प्र। व॒ः। भ्रि॒य॒न्ते॒। इन्द॑वः। म॒त्स॒राः। मा॒द॒यि॒ष्णवः॑।
द्र॒प्साः। मध्वः॑। च॒मू॒ऽसदः॑ ॥ ४ ॥

For all you are poured out these juices, satisfying, exhilarating, sweet, falling in drops, or gathered in ladles.

[हे इन्द्रादि देवगण !] (वः) आपके लिये (मत्सराः) तृप्ति देने वाले, (मादयिष्णवः) आनन्दप्रद, और (मध्वः) मधुर (इन्दवः) सोमरस, जो (द्रप्साः) रसभरे, बिन्दु के रूप में अथवा (चमूषदः) कटोरों में रखे हैं, (प्रभ्रियन्ते) अच्छी तरह से तैयार किये गये हैं ॥ ४ ॥

सायणः—हे इन्द्रादिदेवाः! वः युष्मदर्थम् इन्दवः सोमाः प्र भ्रियन्ते प्रकर्षेण संपाद्यन्ते। कीदृशाः। मत्सराः तृप्तिकराः। 'मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः' (नि० २।५) इति यास्कः। मादयिष्णवः हर्षहेतवः द्रप्साः बिन्दुरूपाः मध्वः मधुराः चमूषदः चमूषु चमसादिपात्रेष्ववस्थिताः ॥ प्र। 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२) इति व्यवहितप्रयोगः। भ्रियन्ते। भृञो यकि 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' (पा० ७।४।२८) इति रिङादेशः। हृञो वा। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति हकारस्य भकारः। इन्दवः। 'उन्दी क्लेदने'। उन्दन्ति पात्राणि इति। 'नित्' इत्यनुवृत्तौ 'उन्देरिच्चादेः' (उ० १।१२) इति उप्रत्ययः आदेः इकारश्च। मत्सराः। 'मद तृप्तियोगे'। 'चित्' इत्यनुवृत्तौ 'कृधूमदिभ्यः कित्' (उ० ३।३५३) इति सरप्रत्ययः। 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (पा० ७।२।९) इति इट्प्रतिषेधः। चित्वादन्तोदात्तः। मादयिष्णवः। 'मदी हर्षग्लेपनयोः'। मदेर्ण्यन्तात् 'णेश्छन्दसि' (पा० ३।२।१३७) इति इष्णुच्। 'णेरनिटि' (पा० ६।४।५१) इति णिलोपे प्राप्ते 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' (पा० ६।४।५५) इति अयादेशः। चित्वादन्तोदात्तः। मध्वः। मधुशब्दस्य व्यत्ययेन पुंल्लिङ्गत्वम्। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति 'जसि च' (पा० ७।३।१०९) इति गुणो न

भवति। चमूषदः। 'चमु छमु जमु झमु अदने'। चम्यते भक्ष्यते येषु चमसेषु ते चम्वः। 'कृषिचमि०' (उ० १।८१) इत्यादिना ऊः। तत्र सीदन्ति चमूषदः। 'सत्सूद्विष०' (पा० ३।२।६१) इत्यादिना क्विप्। सुषामादेः आकृतिगणत्वात षत्वम् ॥ ४ ॥

स्कन्दः—व इति तादर्थ्ये चतुर्थी। प्रकृतानां चेन्द्रवाय्वादीनां प्रतिनिर्देशः। युष्माकमर्थाय प्रभ्रियन्ते। प्रेत्येप समित्येतस्य स्थाने। संभ्रियन्ते उपकल्प्यन्ते इत्यर्थः। अथवा प्रशब्दः स्वार्थं एव। भ्रियन्त इति हरतेर्भत्वम्। प्रभ्रियन्ते आहवनीयं प्रति प्राप्यन्त इत्यर्थः। के इन्दवः। कीदृशाः। मत्सराः। मन्दतेस्तृप्तिकर्मण एतद्रूपम् तृप्तिकराः। मादयिष्णवः। 'मदी हर्षग्लेपनयोः'। हर्षयितारः। द्रप्साः। रसोऽत्र द्रप्सा उच्यते। रसरूपाः। अन्तर्णीतमत्वर्थो वा सामर्थ्याद् द्रप्सशब्दः। रसवन्त इत्यर्थः। अथवा यद्द्रवं नातिकठिनं तद् द्रप्स उच्यते। नात्यच्छाः बहला इत्यर्थः। मध्वः मधुस्वादाः मृष्टाः। चमूषदः। चर्मं चमूरुच्यते तत्सादिनः ॥ ४ ॥

१३९ ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।

हविष्मन्तो अरंकृतः ॥ ५ ॥

ईळते। त्वाम्। अवस्यवः। कण्वासः। वृक्तऽबर्हिषः।

हविष्मन्तः। अरम्ऽकृतः ॥ ५ ॥

The wise priests desirous of the protection (of the gods), having spread the grass, presenting oblations, and affering ornaments praise thee.

[हे अग्निदेव] (अवस्यवः) रक्षा करनेवाले देवताओं की कामना करते हुए, (वृक्तबर्हिषः) कुशों को बिछा देनेवाले, (हविष्मन्तः) हवि प्रदान करनेवाले तथा (अरंकृतः) [यज्ञभूमि को] सुन्दर सँवारने वाले (कण्वाः) मेधावी ऋत्विग्पुत्र (त्वाम्) आपकी (ईळते) स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

सायणः—हे अग्ने त्वाम् ईळते ऋत्विजः स्तुवन्ति। कीदृशाः। अवस्यवः। अवनं रक्षणं तद्धेतून् देवानिच्छन्तः। कण्वासः मेधाविनः वृक्तबर्हिषः आस्तरणार्थं छिन्नदर्भाः हविष्मन्तः हविर्युक्ताः अरंकृतः अलंकर्तारः॥ ईळते। 'ईड स्तुतौ'। अनुदात्तेत्वात् लटो झः। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक्। झस्य अदादेशः। डः एत्वम्। अवस्यवः। अवन्तीत्यवा देवाः। तानतिशयेनेच्छन्ति। 'सुप आत्मनः क्यच्'। 'क्यचि च' (पा० ७।४।३३) इति ईत्वं न भवति। 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० ७।४।३५) इति निषेधात्। 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो

लालसायां सुग्वक्तव्यः' (महाभा० ७।१।५१।२) इति सुक्। 'क्याच्छन्दसि' (पा० ३।२।१७०) इति उप्रत्ययः। अतो लोपः। कण्वासः। कण शब्दार्थः। कणन्ति ध्वनन्ति स्तोत्रादिपाठेनेति कण्वा ऋत्विजः। 'अशिप्रुषि०' (उ० १।१४९) इत्यादिना क्वन्। 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।५०) इति असुक्। हविष्मन्तः। हविरेषामस्तीति हविष्मन्तः। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० १।४।१९) इति भत्वेन अपदत्वात् न रुत्वम्। अरंकृतः। अलंकुर्वन्तीत्यरंकृतः। 'क्विप् च' इति क्विप्। ह्रस्वस्य तुक्। 'कपिलकादीनां संज्ञाच्छन्दसोर्वा लो रत्वमापद्यते' (महाभा० ८।२।१८) इति लकारस्य रेफादेशः॥ ५॥

स्कन्दः—ईळते स्तुवन्ति त्वाम् अग्निमवस्यवः। अवनमात्मनः तर्पणं वा सोमेन अग्नेस्तत्कामाः। कण्वासः मेधाविनः ऋत्विजः कण्वपुत्रा वा मत्प्रभृतयो वृक्तबर्हिषः स्तीर्णबर्हिषः हविष्मन्तः उपकल्पितहविष्काः अरंकृतः पर्याप्तकारिणः॥ ५॥

१४० घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः।
आ देवान्त्सोमपीतये॥ ६॥
घृतऽपृष्ठाः। मनःऽयुजः। ये। त्वा। वहन्ति। वह्नयः।
आ। देवान्। सोमऽपीतये॥ ६॥

Let the coursers who convey thee, glossy-backed, and harnessed at will, bring the gods to drink the Soma juice.

[हे अग्निदेव !] (ये) जो (घृतपृष्ठाः) चमकीली पीठ वाले, (मनोयुजः) मन में संकल्प उठते ही रथ में जुत जाने वाले तथा (वह्नयः) वहन करने की सामर्थ्य वाले [घोड़े] (त्वा) आपको (वहन्ति) खींचते हैं, [उन्हीं के द्वारा] (देवान्) देवताओं को (सोमपीतये) सोमपान के लिए (आ-वह) ले आइये॥ ६॥

सायणः—हे अग्ने त्वा त्वा त्वां ये अश्वाः रथेन वहन्ति। कीदृशाः। घृतपृष्ठाः पुष्टाङ्गत्वेन दीप्तपृष्ठाः मनोयुजः मनःसंकल्पमात्रेण रथे युज्यमानाः वह्नयः वोढारः तैरश्वैः सोमपीतये सोमपानहेतुयागार्थं देवान् आ वह इति शेषः। घृतपृष्ठाः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। घृतं दीप्तं पृष्ठं येषां ते घृतपृष्ठाः। मनसा युञ्जते इति मनोयुजः। 'ऋत्विग्दधृक्०' (पा० ३।२।५९) इत्यादिना क्विन्। वहन्ति। शप्तिपोरनुदात्तत्वात धातुस्वरः। यद्वृत्तयोगात् निघाताभावः। वह्नयः। 'निः' इत्यनुवृत्तौ 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' (उ० ४।४९१) इति निप्रत्ययः। तस्य नित्वादाद्युदात्तत्वम्। सोमपीतये। उक्तम्। सकारे परतो नकारस्य

संहितायां 'नश्च' (पा० ८।३।३०) इति धुडागमः। 'खरि च' (पा० ८।४।५५) इति चर्त्वम्। 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः' (पा० ८।४।४८ वा०) इति द्वितीयस्थकारः ॥ ६ ॥

स्कन्दः—घृतपृष्ठाः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। घृतं दीप्तं पृष्ठं येषां ते घृतपृष्ठाः। बलवतो ह्यश्वस्य दीप्तिमत्पृष्ठं भवति। मनोयुजः मनसा ध्यातमात्राः ये स्वयमेव युज्यन्ते ते मनोयुजः ये त्वा वहन्ति वह्नयः अश्वाः। वह्निरित्यश्वनाम। आ देवान्। यच्छब्दश्रुतेः तच्छब्दोऽत्राध्याहर्त्तव्यः। आ देवानिति चोपसर्गात् कर्मश्रुतेश्च क्रियायोग्यं क्रियापदमध्याहर्त्तव्यम्। तैरावह देवान् सोमपीतये ॥६॥

१४१ तान्यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि।
मध्वः सुजिह्व पायय ॥ ७ ॥

तान्। यजत्रान्। ऋतऽवृधः। अग्ने। पत्नीऽवतः। कृधि।
मध्वः। सुऽजिह्व। पायय ॥ ७ ॥

Agni, make those objects of veneration, augmenters of pious acts, (participant of the offering), together with their wives; give them, bright-tongued, to drink of the Soma juice.

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (तान्) उन इन्द्रादि देवताओं को (यजत्रान्) यज्ञ के योग्य, पूज्य, (ऋतावृधः) सत्य या यज्ञ को समृद्ध करने वाला तथा (पत्नीवतः) सपत्नीक (कृधि) कर दीजिये। (सुजिह्व) हे सुन्दर जिह्वा अर्थात् ज्वाला वाले देवता, [उन्हें] (मध्वः) मधुर सोमरस का कुछ अंश (पायय) पिलाइये ॥ ७ ॥

सायणः—हे अग्ने तान् इन्द्रादीन् देवान् यजत्रान् यजनीयान् ऋतावृधः सत्यस्य यज्ञस्य वा वर्धकान् पत्नीवतः पत्नीयुक्तान् कृधि कुरु। हे सुजिह्व शोभनजिह्वोपेत मध्वः मधुरस्य सोमस्य भागं देवान् पायय ॥ यजत्रान्। 'अमिनक्षियजिवन्धिपतिभ्योऽत्रन्' (उ० ३।३८५) इति यजेः अत्रन्प्रत्ययः। ऋतावृधः। 'वृधु वृद्धौ'। अन्तर्भावितण्यर्थात् 'क्विप् च' (पा० ३।२।७६) इति क्विप्। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। पत्नीवतः। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा० ४।१।३३) इति ङीप्; इकारस्य च नकारः। ता एषां सन्तीति मतुप्। 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति वत्वम्। पतिशब्दो डति-प्रत्ययान्तत्वात् आद्युदात्तः। ङीम्मतुपोरनुदात्तत्वात् स एव शिष्यते। कृधि। कृञो लोटः सिः। 'सेर्ह्यपिच्च' (पा० ३।४।८७) इति हिः। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणलुक्। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० ६।४।१०२)

इति हेर्धिरादेशः। ङित्वाद् गुणाभावः। पायय। 'पा पाने'। पिबन्तं प्रयुङ्क्ते इति 'हेतुमति च' (पा० ३।१।२६) इति णिच्। 'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्' (पा० ७।३।३७) इति युक्॥ ७॥

स्कन्दः—तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसम्बन्धो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। ये देवा आवाहिता अस्माभिस्तान्। यजत्रान् यष्टव्यान् ऋतावृधः यज्ञस्योदकस्य सत्यस्य वा वर्धयितॄन्। हविषा हि स्तुत्या च देवता वर्धन्ते। हे अग्ने पत्नीवतस्कृधि पत्नीसंयुक्तान् कुरु। पत्नीरप्येषामावह इत्यर्थः। ओह्य च। मध्वः। षष्ठीनिर्देशादत्रैकदेशमिति शेषः। द्वितीयार्थे वा षष्ठी। मधुस्वादो मधु तस्यैकदेशं स्वांशलक्षणं मधुस्वादं वा सोमं हे सुजिह्व सुवाक्! शोभनजिह्वाख्यावयवो वा पायय॥ ७॥

१४२ ये य॒जत्रा॒ य ईड्या॒स्ते ते॑ पिबन्तु जि॒ह्वया॑।
मधो॑रग्ने॒ वष॑ट्कृति॥ ८॥

ये। य॒जत्राः॑। ये। ईड्याः॑। ते। ते॒। पि॒बन्तु॒। जि॒ह्वया॑।
मधोः॑। अ॒ग्ने॒। वष॑ट्ऽकृति॥ ८॥

Let those objects of veneration and of praise, drink with they tongue, of the Soma juice, at the moment of libation.

(अग्ने) हे अग्नि देवता! (ये) जो देवता (यष्टव्याः) यज्ञ के विषय तथा (ईड्याः) वन्दनीय हैं (ते) वे सभी (वषट्कृति) 'वषट्' के उच्चारण से युक्त यज्ञ के समय (ते) आपकी ही (जिह्वया) जिह्वा के द्वारा (मधोः) अपने भाग के मधुर सोमरस का (पिबन्तु) पान करें॥ ८॥

सायणः—ये देवाः यजत्राः यष्टव्याः तथा ये देवा ईड्याः स्तुत्याः ते सर्वेऽपि वषट्कृति वषट्कारकाले यागे वा हे अग्ने ते त्वदीयया जिह्वया मधोः मधुरस्य सोमस्य भागं पिबन्तु॥ ईड्यः। 'ईड स्तुतौ'। 'ऋहलोर्ण्यत्'। तित्स्वरिते प्राप्ते 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (पा० ६।१।२१४) इत्याद्युदात्तत्वम्। द्वितीयस्य तेशब्दस्य युष्मदादेशस्य सर्वानुदात्तत्वम्। मधोः। उप्रत्ययस्य नित्वादाद्युदात्तत्वमुक्तम्। वषट्कृति। करोतेः सम्पदादिभ्ये भावे क्विप्। वषट् इत्यस्य करणं यस्मिन् यागे इति बहुव्रीहिः। वषट् इत्यस्य निपातत्वादाद्युदात्तत्वम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥ ८॥

स्कन्दः—ये यष्टव्या ये च ईड्याः स्तुत्या देवास्ते ते तव स्वभूतया जिह्वया पिबन्तु। अग्निमुखा हि देवाः। तेऽग्नेरेव जिह्वया पिबन्ति, न स्वया। वाङ्नाम वा जिह्वाशब्दः, हेतौ च तृतीया। तव वाचा हेतुना त्वयोच्यमाना

इत्यर्थः। किं पिबन्तु। उच्यते। मधोः सोमस्यैकदेशं, स्वांशलक्षणं मधु वा, सोमं वा हे अग्ने वषट्कृति वषट्कारकाले ॥ ८ ॥

१४३ आकीं सूर्यस्य रोचनाद्विश्वान्देवाँ उषर्बुधः।
विप्रो होतेह वक्षति ॥ ९ ॥

आकीम् सूर्यस्य। रोचनात्। विश्वान्। देवान्। उषःऽबुधः।
विप्रः। होता। इह। वक्षति ॥ ९ ॥

Let the wise invoker (of the gods) bring hither from the shining (sphere) of the sun, all the divinities awaking with the dawn.

(विप्रः) मेधावी (होता) होम-सम्पादक अग्निदेव (उषर्बुधः) प्रातःकाल जाग जाने वाले (विश्वान्) सभी (देवान्) देवताओं को (सूर्यस्य) सूर्य के (रोचनात्) चमकने वाले [स्थान से] (इह) इस यज्ञ में (आकीं वक्षति) बुला लावें ॥ ९ ॥

सायणः—विप्रः मेधावी होता होमनिष्पादकोऽग्निः उषर्बुधः उषःकाले यागगमनाय प्रबुध्यमानान् विश्वान् देवान् सूर्यस्य सम्बन्धिनः रोचनात् स्वर्गलोकात् इह कर्मणि आकीं वक्षति आवहतु ॥ आकीम्। निपात आद्युदात्तः। सूर्यस्य। सूर्यशब्दो 'राजसूयसूर्य०' (पा० ३।१।११४) इत्यादिना क्यप्प्रत्ययान्तो निपातितः। क्यपः पित्वात् धातुस्वरेणाद्युदात्तः। रोचनात् रोचमानात्। 'रुच दीप्तौ'। 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (पा० ३।२।१४९) इति कर्तरि युच्। 'चितः' इति अन्तोदात्तत्वम्। विश्वान्। विशेः क्वन्। उषर्बुधः। उषर्बुध्यन्ते इत्युषर्बुधः। 'क्विप् च' (पा० ३।२।७६) इति क्विप्। विप्रः। 'ऋज्रेन्द्र०' (उ० २।१८६) इत्यादिना रन्। होता। ह्वयतेस्ताच्छील्ये तृन्। 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणम्। परपूर्वत्वम्। गुणः। 'आद्युदात्तः। इह। 'इदमो हः' (पा० ५।३।११) इति हप्रत्ययः। 'इदम इश्' (पा० ५।३।३) इति इश्। शित्वात्सर्वादेशः। प्रत्ययस्वरः। वक्षति। वहेः प्रार्थनायां लिङर्थे लेट्। तस्य तिप् कर्तरि शप्। शपि परतः 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० ३।१।३४) इति सिप्। ढत्वकत्वषत्वानि। 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः ॥ ९ ॥

स्कन्दः—आकीमिति निपात आङर्थे वक्षतीत्येतेनाख्यातेन सम्बन्धयितव्यः। सूर्यसम्बन्धिनो रोचनात् दीप्तात् द्युलोकादादित्यमण्डलाद्वा विश्वान् देवान् उषर्बुधः उषःकाले यागगमनार्थं ये बुध्यन्ते त उषर्बुधः तान्। विप्रो

मेधावी होता वा अग्निः इह यज्ञे आवक्षति। लोडर्थेऽयं पञ्चमो लकारः। आवहतु ॥ ९ ॥

१४४ विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना।
पिबा मित्रस्य धामभिः ॥ १० ॥

विश्वेभिः। सोम्यम्। मधु। अग्ने। इन्द्रेण। वायुना।
पिब। मित्रस्य धामऽभिः ॥ १० ॥

With all the gods, with Indra, Vāyu and the glories of Mitra, drink, Agni, the sweet Soma juice.

(अग्ने) हे अग्निदेव, [आप] (विश्वेभिः) सभी देवताओं के साथ, जैसे—(इन्द्रेण) इन्द्र के साथ, (वायुना) वायु के साथ, (मित्रस्य) मित्र-देवता के (धामभिः) तेजों या विभिन्न रूपों के साथ [मिलकर] (सोम्यं) सोमरस के (मधु) मधुर अंश का (पिब) पान करें ॥ १० ॥

सायणः—हे अग्ने त्वं विश्वेभिः सर्वैः पूषभगादिभिर्देवैः इन्द्रेण वायुना मित्रस्य सम्बन्धिभिः धामभिः तेजोभिः मूर्तिविशेषरूपैश्च सह सोम्यं सोमसम्बन्धि मधु मधुरं भागं पिब ॥ विश्वेभिः। 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०) इति भिस ऐसादेशाभावः। सोम्यम्। 'सोममर्हति यः' (पा० ४।४।१३७) इत्यनुवृत्तौ 'मये च' (पा० ४।४।१३८) इति यप्रत्ययः सोमस्य विकारः इत्यर्थे। 'यस्येति च' (पा० ६।४।१४८) इति अकारलोपः। मधु। 'फलिपाटिनमिमनि०' (उ० १।१८) इत्यादिना उप्रत्ययः। 'नित्' इत्यनुवृत्तेः नित्वादाद्युदात्तः। वायुना। 'कृवापाजि०' (उ० १।१) इत्यादिना उण्प्रत्ययः। 'आतो युक् चिण्कृतोः' (पा० ७।३।३३) इति युक्। प्रत्ययस्वरः। पिब। 'पा पाने'। लोटः सेर्हिरादेशः। शपि 'पाघ्रा०' (पा० ७।३।७८) इत्यादिना पिबादेशः। 'अतो हेः' (पा० ६।४।१०५) इति हेर्लुक्। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। धामभिः। धाञ्। 'आतो मनिन्०' (पा० ३।२।७४) इति मनिन्। नित्स्वरः ॥ १० ॥

स्कन्दः—विश्वेभिः सर्वैः सह सोम्यं सोममयं मधु हे अग्ने, पिब। रसोऽत्र द्रवत्वसामान्यान्मृष्टत्वसामान्याच्च मधूच्यते। इन्द्रेण वायुना मित्रस्य च धामभिः। धामशब्दस्तेजोवचनो वा। अथवा धामानि त्रीणि भवन्ति—स्थानानि नामानि जन्मानीति। धामभिश्चात्र तत्सम्बन्धो मित्र एव लक्ष्यते। मित्रस्य यानि तेजांसि स्थानानि नामानि जन्मानि वा तैः। सम्बन्धेनैव मित्रेणैव सहेत्यर्थः ॥ १० ॥

१४५ त्वं होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदसि।
सेमं नो अध्वरं यज ॥ ११ ॥

त्वम्। होता। मनुःऽहितः। अग्ने। यज्ञेषु। सीदसि।
सः। इमम्। नः। अध्वरम्। यज ॥ ११ ॥

Thou, Agni, appointed by man as the invoker (of the gods), art present at sacrifices; do thou present this our oblation.

(अग्ने) हे अग्निदेव, (मनुर्हितः) मनुष्यों के द्वारा होत्रादिरूप में स्थापित किये जाने वाले तथा (होता) देवों के आवाहनकर्ता के रूप में, जो (त्वं) आप (यज्ञेषु) यज्ञों में (सीदसि) उपस्थित होते हैं, (सः) वही [आप अब] (नः) हमारे (इमं) इस प्रस्तुत (यज्ञं) यज्ञ का (यज) सम्पादन करें ॥ ११ ॥

सायणः—हे अग्ने मनुर्हितः मनुषा होत्रादिरूपेण मनुष्येण हितः सम्पादितः होता होमनिष्पादको यः त्वं यज्ञेषु सीदसि तिष्ठसि स त्वं नः अस्मदीयम् इमम् अध्वरं यज्ञं यज निष्पादय ॥ मनुर्हितः। मन्यते इति मनुः। 'निष्व' (उ० २।२७४) इत्यनुवृत्तौ 'बहुलमन्यत्रापि' (उ० २।२७८) उस्। नित्वादाद्युदात्तः। हितः। धाञो धातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्ययः। 'दधातेर्हिः' (पा० ७।४। ४२) इति हिरादेशः। मनुषा हितो मनुर्हितः। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (पा० २।१।३२) इति समासः। कृत्स्वरापवादेन 'तृतीया कर्मणि' (पा० ६। २।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। सीदसि। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' लटः सिप्। शपि 'पाघ्राध्मा०' (पा० ७।३।७८) इत्यादिना सीदादेशः। निघातः। सेममित्यत्र संहितायां 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' (पा० ६।१।१३४) इति सोर्लोपे गुणः। अध्वरम्। न विद्यते ध्वरो हिंसा यस्मिन्सोऽध्वरः। 'नो अध्वरम्' इत्यत्र संहितायां 'एङः पदान्तादति' (पा० ६।१।१०९) इति पूर्वरूपं प्राप्तं 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावात् निवर्तते ॥ ११ ॥

स्कन्दः—सेममिति तच्छब्ददात् यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। यस्त्वं होता मनुर्हितः मनुना प्रजापतिना निहितः, मनुष्येषु वा निहितः, मनुष्येभ्यो वा निहितः। हे अग्ने! यज्ञेषु सीदसि यो होतृत्वं कर्तुं यज्ञेषु सीदसीत्यर्थः। सः इमं नः अध्वरं यज्ञं होतृत्वेन निषद्य यज ॥ ११ ॥

१४६ युक्ष्वा ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः।
ताभिर्देवाँ इहा वह ॥ १२ ॥

युक्ष्व । हि । अरुषीः । रथे । हरितः । देव । रोहितः ।
ताभिः । देवान् । इह । आ । वह ॥ १२ ॥

Yoke, divine Agni, thy fleet and powerful mares, Rohits, *to the chariot, and by them hither bring the gods.*

(देव) हे अग्निदेवता ! (अरुषीः) गति से भरी तथा (हरितः) वहन करने में समर्थ (रोहितः) रोहित नामक घोड़ियों को (रथे) अपने रथ में (युक्ष्व) जोत लो और (ताभिः) उन घोड़ियों के द्वारा (देवान्) देवताओं को (इह) इस यज्ञ में (आवह) ले आइये ॥ १२ ॥

सायणः—हे देव अग्ने रोहितः रोहिच्छब्दाभिधेयास्त्वदीया वडवाः रथे युक्ष्व योजय । हिशब्दः पादपूरणार्थः । कीदृशीः । अरुषीः गतिमतीः हरितः हर्तुं रथारूढान् पुरुषान् नेतुं समर्थाः । ताभिः वडवाभिः इह अस्मिन् कर्मणि देवान् आ वह ॥ युक्ष्व । 'युजिर् योगे' लोट् । स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् । 'थासः से' । 'सवाभ्यां वामौ' । 'रुधादिभ्यः श्नम्' । तस्य बाहुलकात् लुक् । कुत्वषत्वे । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति दीर्घः । अरुषीः । 'ऋ० गतौ' रन्ति (?इयृति) गच्छन्तीत्यरुष्यो वडवाः । 'ऋहतिभ्यामुषन्' (उ० ४।५१३) । धातोर्गुणो रपरत्वम् । तस्मात् स्त्रियां छान्दसो ङीप् । शसि 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (पा० ६।१।१०२) इति दीर्घः रथे । रमेः औणादिकः क्थन्प्रत्ययः । हरितः । 'हृसृरुहियुषिभ्य० इतिः' (उ० १।९७) इति हरतेः इति प्रत्ययः । इकारः प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । रोहितः । रुहेरपि तेनैव सूत्रेण इतिः । प्रत्ययस्वरः । देवान् इत्यत्र पूर्ववत् रुत्वानुनासिकौ ॥ १२ ॥

स्कन्दः—हीति पदपूरणः । युक्ष्व अरुषीः ।···अरुषशब्दो दीप्तवचनः । बलवत्त्वाद् दीप्ताः । अथवा अरुषेति गतिकर्मसु पाठात् अरुषशब्दो गन्तृवचनः । गन्त्रीः । क्व युञ्जानाः ? उच्यते । स्वे रथे । हरितः हरिवर्णाः । हे देव अग्ने, रोहितः । आदिष्टोपयोजनमेतदग्नेः अश्वानां नामधेयम् । आत्मीया वडवाः युक्त्वा च ताभिः देवान् इहावह ॥ १२ ॥

(१५) पञ्चदशं सूक्तम्

काण्वो मेधातिथिः ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रादिमिलित ऋतुर्देवता ।

१४७ इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्त्विन्दवः ।

मत्सरासस्तदोकसः ॥ १ ॥

इन्द्र सोमम् । पिब । ऋतुना । आ । त्वा । विशन्तु इन्दवः ।

मत्सरासः । तत्ऽओकसः ॥ १ ॥

Indra, drink with Ṛtu the Soma juice; let the satisfying drops enter into thee, and there abide.

(इन्द्र) हे इन्द्रदेवता, (ऋतुना) ऋतु-देव के साथ (सोमं) सोमरस का (पिब) पान कीजिये; [पी लिये जाने पर] (मत्सरासः) तृप्ति प्रदान करने वाले तथा (तदोकसः) सर्वदा वहीं उदर में निवास करने वाले, ये (इन्दवः) सोमरस के बिन्दु (त्वा) आप में (आविशन्तु) प्रवेश करें ॥१॥

सायणः—हे इन्द्र ऋतुना सह सोमं पिब । इन्दवः पीयमानाः सोमाः त्वा त्वाम् आविशन्तु । कीदृशाः । मत्सरासः तृप्तिकराः । तदोकसाः । तन्निवासाः । सर्वदा त्वदुदरस्थायिन इत्यर्थः ॥ सोमम् । 'अर्तिस्तुसु०' (उ० १। १३७) इत्यादिना मन् । नित्त्वादाद्युदात्तः । पिब । 'पिबा मित्रस्य' (ऋ० सं० १।१४।१०) इत्यत्रोक्तम् । अस्य 'आ त्वा विशन्तु' इत्युत्तरवाक्यगताख्यातार्थेन सह समुच्चयार्थश्चशब्दो लुप्तः : अतः 'चादिलोपे विभाषा' (पा० ८।१।६३) इतीयं प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते । विशन्त्विति चलोपसाम्येऽपि द्वितीयत्वात् निहन्यते एव । संहितायाम् 'आद्गुणः' इति प्राप्तस्य गुणस्य 'ऋत्यकः' (पा० ६।१।१२८) इति शाकल्यमते प्रकृतिभावादभावः । इन्दवः । 'प्र वो भ्रियन्त' (ऋ० १।१४।४) इत्यत्रोक्तम् । मत्सरासः । तत्रैवोक्तम् । 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।५०) इति असुक् । तदोकसः । तदेव ओकः स्थानं येषां ते तथोक्ताः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ १ ॥

स्कन्दः—ऋतुदेवता । सर्वत्र चतुर्देवता । वक्ष्यमाणाः ऋतुसहिता देवताः । देवताः न केवलाः । तत्राद्या तावदैन्द्री । हे इन्द्र ! सोमं पिब ऋतुना । पीयमानाश्च आ त्वा विशन्तु त्वामाविशन्तु त्वदुदरं प्रविशन्त्वित्यर्थः । के । इन्दवः सोमाः । कीदृशाः । मत्सरासः तृप्तिकाराः तदोकसस्तन्निवासाः सर्वदा त्वदुदरस्थायिन इत्यर्थः ॥ १ ॥

१४८ मरु॑तः पिब॑त ऋ॒तुना॑ पो॒त्राद्य॒ज्ञं पु॑नीतन ।
यू॒यं हि ष्ठा सु॑दानवः ॥ २ ॥

मरु॑तः । पिब॑त । ऋ॒तुना॑ । पो॒त्रात् । य॒ज्ञम् । पु॒नी॒त॒न ।
यू॒यम् । हि । स्थ । सु॒ऽदा॒न॒वः ॥ २ ॥

Maruts, drink with Ṛtu from the sacrificial vase; consecrate the rite, for you are bountiful.

(मरुतः) हे मरुद्-गण ! (पोत्रात्) पोतृ-नामक ऋत्विज् के पात्र से लेकर [सोमरस] (ऋतुना) ऋतु-देव के साथ (पिब) पीजिये । (यज्ञं) यज्ञ को (पुनीतन) पवित्र कीजिये, शुद्ध कीजिये, (हि) क्योंकि (सुदानवः) हे सर्वश्रेष्ठ दानी ! (यूयं) आप लोग (स्थ) वैसे ही हैं, [यज्ञ के शोधक हैं] ॥ २ ॥

सायणः—हे मरुतः ऋतुना सह पोत्रात् पोतृनामकस्य ऋत्विजः पात्रात् सोमं पिबत । ततोऽस्मदीयं यज्ञं पुनीतन शोधयत । हे सुदानवः शोभनदातारो मरुतः हि यस्मात् यूयं स्थ युष्माकं शोधयितृत्वं प्रसिद्धं तस्मात् शोधयतेत्यर्थः ॥ पिबत । अत्र तिङोऽदुपदेशात् शपः परत्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् । धातुस्वरः । पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वेन पदादपरत्वात् निघाताभावः । पूर्ववत् प्रकृतिभावः । पोत्रात् । पोतुः सम्बन्धि पात्रं पोत्रम् । 'तस्येदम्' (पा० ४।३। १२०) इति अण् । 'तद्धितेष्वचामादेः' (पा० ७।२।११७) इति प्राप्ता वृद्धिः 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' (परिभा० ३५) इति न भवति । ननु एवमन्त्यस्य ऋकारस्य 'अचो ञ्णिति' (पा० ७।२।११५) इति वृद्धिः प्राप्नोति । स्वाष्ट्रो जागत इत्यत्र हि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (पा० १।४।२) इति परया आदिवृद्ध्याऽन्त्योपधालक्षणा वृद्धिर्बाध्यते इत्युक्तम् । इह तु परस्या आदिवृद्धेश्छान्दसत्वेन निवृत्तत्वात् अन्त्यवृद्धिः प्राप्नोत्येवेति । एवं तर्हि अत्रापि आदि वृद्धिः औकारः क्रियताम् । तस्य तु छान्दस ओकारो भविष्यति । पुनीतन । 'पूञ् पवने' लोट् । 'लोटो लङ्वत्' (पा० ३।४।८५) इति लङ्वद्भावात् तस्य 'तस्थस्थमिपाम्०' (पा० ३।४।१०१) इति तादेशः । 'क्र्यादिभ्यः श्ना' । 'ई हल्यघोः' (पा० ६।४।११३) इति ईकारः । 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० ७।१। ४५) इति तनादेशः । 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० ७।३।८०) इति ह्रस्वः । प्रत्ययद्वयस्यापि 'सार्वधातुकमपित्' (पा० १।२।४) इति ङित्त्वात् स्वस्वपूर्वयोः इकोर्गुणाभावः । यूयम् । युष्मदः परस्य जसः 'ङेप्रथमयोरम्' (पा० ७।१।२८) इति अमादेशः । 'न विभक्तौ तुस्माः' (पा० १।३।४) इति मकारस्य इत्संज्ञा-

प्रतिषेधः। 'यूयवयौ जसि' (पा० ७।२।९३) इति मपर्यन्तस्य यूयादेशः। 'शेषे लोपः'। अत्र यूयादेशात् प्रागेव अन्तरङ्गत्वात् प्रातिपदिकस्यान्तोदात्तत्वम्। शेषनिघातः। ततो यूयादेशः 'स्थानेऽन्तरतमः' (पा० १।१।५०) इति सर्वानुदात्तः। तत्र 'शेषे लोपः' (पा० ७।२।९०) अन्त्यलोपः इति पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घत्वं बाधित्वा योऽयम् 'अमि पूर्वः' (पा० ६।१।१०७) इति प्रातिपदिकान्तेनोदात्तेन सह अनुदात्तस्य सुप एकादेशः सः 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इत्युदात्तः। टिलोपपक्षे तु उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम्। स्थ। 'अस भुवि'। लटो मध्यमबहुवचनं थ। 'आदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक्। 'श्नसोरल्लोपः' इति अकारलोपः। व्यत्ययेन षत्वम्। 'हि च' इति निषेधात् 'तिङ्ङतिङः' इति निघातो न भवति। संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घत्वम्। अत्र हे सुदानवो यूयं हि स्थ इति विवक्षितम्। सुदानवः। 'दाभाभ्यां नुः' (उ० ३।३१२)। सोः प्रादिसमासः। आमन्त्रितनिघातः। अत्र यूयमित्युद्दिश्य सुदानवः स्थ इति न विधीयते येन अनामन्त्रितत्वात् निघातो न स्यात्। किन्तु सुदानव इति सिद्धवद्दातृत्वेन सम्बोध्य तेषु तेषु मारुतसूक्तेषु मरुतां प्रसिद्धात् प्रभावातिशयात् यूयं स्थ इति युष्मच्छब्देन प्रतिनिर्दिश्य पुनीतन इति प्रार्थने पवने तेषां हेतुत्वं हिशब्देनोच्यते ॥ २ ॥

स्कन्दः—ऋद्मारुती। ऋग् द्वितीया मरुद्देवता। हे मरुतः पिबत ऋतुना सह। किम्। सामर्थ्यात् सोमम्। कुतः पोत्रात् पोतुः स्वभूतात्पात्रात्। पीत्वा यज्ञमस्मदीयं पुनीतन शोधयत व्यपगतदोषं कुरुतेत्यर्थः। कस्मात्। यूयं हि ष्ठा सुदानवः। हि शब्दो यस्मादर्थे। सुदानुशब्दो दानवचनो दातृवचनो वा। यस्माद् यूयं शोभनदानाः शोभना वा दातारः। तत्र च सम्बोधनासम्भवात् सुदानव इत्यतिरिक्त एव प्रातिपदिकार्थे प्रत्ययेनामन्त्रितप्रथमा। कथम्। प्रतिपाद्यार्थप्रत्यभिमुखीकरणं हि सम्बोधनमुच्यते। तद् यत्र तदर्थः प्रसिद्धोऽर्थान्तरं प्रतिपाद्यं तत्र सम्भवति। यथात्र ह्येव मरुतां मरुत्त्वं, यथा वा लोके राजन्! इदं च कुर्विति। यत्र तु तदर्थ एव स्वार्थं वा प्रतिपाद्यते राजा भव यस्माद् राजासि अतो बुध्यस्व त्वं हि रत्नधा असीति। न तत्र सम्बोधनस्य सम्भवः। आमन्त्रितविभक्तिश्रुतिसामर्थ्यात् यूयं हि ष्ठेत्यनेन सुदानवः इति सम्बन्धासम्भवात् सोमस्य पातारो यज्ञस्य पवितारः इति वाक्यशेषः। यस्माद् यूयं सोमस्य पातारो यज्ञस्य पवितारः स्थ हे सुदानवः! तस्मात् पिबत सोमं यज्ञं च पुनीतनेति ॥ २ ॥

१४९ अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना।
त्वं हि रत्नधा असि ॥ ३ ॥

अभि । यज्ञम् । गृणीहि । नः । ग्नावः । नेष्टरिति । पिब ।
ऋतुना । त्वम् । हि । रत्नऽधाः । असि ॥ ३ ॥

Neṣṭṛ (a name of Tvaṣṭṛ), with thy spouse, commend our sacrifice to the gods; drink with Ṛtu, for thou art possessed of riches.

(ग्नावः) हे पत्नीयुक्त (नेष्टः) त्वष्टृ-देवता ! (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ की (अभिगृणीहि) सभी तरह से [देवताओं के पास] स्तुति करें । (ऋतुना) ऋतु-देव के साथ [सोम रस का] (पिब) पान करें (हि) क्योंकि (त्वं) आप (रत्नधाः) धन-दाता (असि) हैं ॥ ३ ॥

सायणः—ग्नाशब्दः स्त्रीवाची । तथा च यास्क आह—'मेना ग्ना इति स्त्रीणां मेना मानयन्त्येना ग्ना गच्छन्त्येनाः' (नि० ३।२१) इति । ग्ना अस्य सन्तीति ग्नावान् । नेष्टृशब्दोऽत्र त्वष्टारं देवमाह; कस्मिंश्चिद् देवसत्रे नेष्टृत्वेन त्वष्टुर्वृत्तत्वात् । हे ग्नावः पत्नीयुक्त नेष्टः त्वष्टः नः अस्मदीयं यज्ञम् अभिगृणीहि अभितः देवानां समीपे स्तुहि । ऋतुना सह त्वं सोमं पिब । हि यस्मात् त्वं रत्नधाः असि रत्नानां दातासि दाता भवसि तस्मात् सोमं पातुमर्हसीत्यर्थः ॥ अभि । 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१) इति पर्युदासात् अभेः अन्तोदात्तत्वम् । गृणीहि । 'गॄ शब्दे' । लोटि सिपो हिः । 'क्र्यादिभ्यः श्ना' । हेर्ङित्वात् 'ई हल्यघोः' इति ईत्वम् । श्नाप्रत्ययस्य ङित्वाद् गुणाभावः । 'प्वादीनां ह्रस्वः' । ग्ना अस्य सन्तीति मतुप् । व्यत्ययेन वत्वम् । सम्बुद्धौ 'मतुवसो रुः' इति रुत्वम् । विसर्गः । रत्नानि दधातीति रत्नधाः । 'क्विप् च' इति क्विप् । धातुस्वरः । समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव शिष्यते । असि । सिपः पित्वाद् धातुस्वरः । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातो न भवति 'हि च' इति प्रतिषेधात् ॥३॥

स्कन्दः—तथा त्वाष्ट्री । तृतीया ऋक् त्वष्टृदेवता । अभिगृणीहि अहो शोभन इत्येवमभिष्टुहि । कम् । यज्ञमस्माकम् । अथवा यज्ञ इति सप्तम्यर्थे द्वितीया । ···तु कर्तृत्वेन अभिष्टुहि यज्ञे अस्माकम् अस्मान् स्तुवतो यज्ञे प्रयुङ्क्ष्वेति । हे ग्नावः । ग्ना इति स्त्रीनाम । पत्नीभिः स्त्रीभिः तद्वन् ! नेष्टः ! देवसत्रे किल त्वष्टा नेष्टासीत् । तदपेक्षमिदं नेष्टरिति त्वष्टुः सम्बोधनम् । पिब च ऋतुना सह सोमम् । कस्मात् । त्वं हि रत्नधाः धनानां दातासि यस्मात् । पीत्वा च धनमस्मभ्यं दातासीत्यर्थः ॥ ३ ॥

१५० अग्ने देवाँ इहा वह सादया योनिषु त्रिषु ।
परि भूष पिब ऋतुना ॥ ४ ॥

अग्ने । देवान् । इह । आ । वह । सादय । योनिषु । त्रिषु ।
परि । भूष । पिब ऋतुना ॥ ४ ॥

Agni, bring the gods hither, arrange them in three places, decorate them; drink with Ṛtu.

(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (इह) इस यज्ञ में (देवान्) देवताओं को (आवह) ले आइये, (त्रिषु) तीन (योनिषु) स्थानों में [उन्हें] (सादय) बैठा दें; [उन्हें] (परिभूष) चारों ओर से अलंकृत करें [और अन्त में आप] (ऋतुना) ऋतु-देव के साथ [सोमरस] (पिब) पीलें ॥४॥

सायणः—हे अग्ने देवान् इह अस्मिन् कर्मणि आ वह । ततः योनिषु स्थानेषु त्रिषु सवनेषु सादय देवानुपवेशय । ततस्तान् परिभूष अलंकुरु । ऋतुना सह त्वं सोमं पिब ॥ 'अग्ने देवान्' इत्ययं पादो गतः । योनिषु 'यु मिश्रणे' 'वहिश्रि०' (उ० ४।४९१) इत्यादिना निप्रत्ययः । त्रिषु । 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (पा० ६।१।१७९) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । 'भूष अलंकारे' । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः । पिब ऋतुना । गतौ ॥ ४ ॥

स्कन्दः—आग्नेयी । चतुर्थी ऋगग्निर्देवता । हे अग्ने, देवान् इहावह, आहूय च सादय उपवेशय योनिषु स्थानेषु त्रिषु सवनाख्येषु । सादयित्वा च परिभूष परिपूर्वो भवतिः परिग्रहे । यथा यागार्थं परिग्रहीतव्यं तथा परिगृहाण यजेत्यर्थः । अथवा भूष । अलङ्कार इत्यस्यैतद्रूपम् । परिभूष स्वमण्डलदेवान् । स्वयमपि च पिब ऋतुना सह सोमम् ॥ ४ ॥

१५२ ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु ।
तवेद्धि सख्यमस्तृतम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणात् । इन्द्र । राधसः । पिब । सोमम् । ऋतून् । अनु ।
तव । इत् । हि । सख्यम् । अस्तृतम् ॥ ५ ॥

Drink the Soma juice, Indra, from the precious vase of the Brāhmaṇa, after Ṛtu, far whom thy friendship is uninterrupted.

(इन्द्र) हे इन्द्रदेवता ! (ऋतून्) ऋतु-देवों के [पी लेने के] (अनु) बाद (ब्राह्मणात्) ब्राह्मणाच्छंसी नामक पुरोहित के (राधसः) धन-स्वरूप [पात्र] से (सोमं) सोमरस का (पिब) पान कीजिये (हि) क्योंकि (तव इत्) आपकी ही (अस्तृतं) अहिंसित, अविच्छिन्न (सख्यम्) मित्रता [इन ऋतु-देवों के साथ है] ॥ ५ ॥

सायणः—हे इन्द्र ब्राह्मणात् ब्राह्मणाच्छंसिसम्बद्धात् राधसः धनभूतात् पात्रात् सोमं पिब । किं कृत्वा । ऋतून् अनु ऋतुदेवान् अनुसृत्य । ऋतवोऽपि पिबन्त्वित्यर्थः । हि यस्मात् तवेत् तव सख्यम् अस्तृतम् ऋतूनामविच्छिन्नं तस्मात् ऋतुभिः सह पानं युक्तम् ॥ ब्राह्मणात् । ब्रह्मशब्देनात्र ब्रह्मवर्गो द्वितीयो ब्राह्मणाच्छंसी कथ्यते । स च पुंल्लिङ्गे शेपनिघातेन अनुदात्तादिः । तस्य सम्बन्ध्युत्तष्ठश्चमसः । स च तस्यैव अवयववत् नियत इत्यवयवविवक्षायाम् 'अनुदात्तादेरञ्' (पा० ४।२।४४) । तेन ञित्वादाद्युदात्तः चमसपरोऽत्र ब्राह्मणशब्दः । राधसः । 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' । पिब । पादादित्वादाद्युदात्तत्वम् । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इति दीर्घत्वम् । ऋतूँरनु इत्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे' इति नकारस्य रुत्वम् । 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (पा० ८।३।२) इति ऊकारस्य अनुनासिकत्वम् । तव । 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (पा० ७।१।२७) । शित्वात्सर्वादेशः । 'तवममौ ङसि' इति तवादेशः । 'युष्मदस्मदोर्ङसि' इत्याद्युदात्तम् । सख्यम् । सख्युः कर्म सख्यम । 'सख्युर्यः' । 'यस्य०' इति लोपो । प्रत्ययस्वरः । अस्तृतम् । स्तृणातेः हिंसार्थस्य क्तः । नञ्समासः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ५ ॥

स्कन्दः—ऐन्द्रयेव पञ्चमी । पञ्चमी ऋगिन्द्रदेवता । ब्रह्मन्शब्दोऽत्र ब्राह्मणाच्छंसिनि वर्तते । तस्य स्वभूतात् ब्राह्मणात् हे इन्द्र, राधसः धनात् पात्राख्यात् पिब सोमम् ऋतून् अनु ऋतूनां पश्चात् ऋतुभिः पीत इत्यर्थः । तस्मात् तवेद्धि । इच्छब्दः पादपूरणः । यस्मात् तव सख्यम् अस्तृतम् अहिंसितम् । न कश्चिद्धिंसितुं शक्नोति । स्थिरसख्योऽसीत्यर्थः ॥ ५ ॥

१५२ युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरुण दूळभम् ।
ऋतुना यज्ञमाशाथे ॥ ६ ॥

युवम् । दक्षम् । धृतऽव्रता । मित्रावरुणा । दुःऽदभम् ।
ऋतुना । यज्ञम् । आशाथे इति ॥ ६ ॥

Mitra and Varuṇa, propitious to pious acts, be present with Rtu at our sacrifice, efficacious and undisturbed (by foes).

(धृतव्रता) कर्मों को स्वीकृत करने वाले (मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण देवता ! (युवम्) आप दोनों (ऋतुना) ऋतु-देव के साथ [हमारे] (दक्षं) सभी तरह से सम्पन्न तथा (दूळभं) शत्रुओं के द्वारा अविनाश्य (यज्ञम्) यज्ञ को (आशाथे) व्याप्त करते हैं ॥ ६ ॥

सायणः—हे धृतव्रता स्वीकृतकर्माणौ मित्रावरुणा हे मित्रनामकवरुणनामकौ देवौ युवम् उभौ युवाम् ऋतुना सहास्मदीयं यज्ञम् आशाथे व्याप्नुथः ।

कीदृशं यज्ञम् । दक्षं प्रवृद्धं दूळभं दुर्दहं शत्रुभिर्दग्धुं विनाशयितुमशक्यमित्यर्थः ॥ युवम् । प्रथमाद्विवचनस्य 'ङेप्रथमयोरम्' (पा० ७।१।२८) इति अमादेशः । 'युवावौ द्विवचने' (पा० ७।२।९२) इति मपर्यन्तस्य युवादेशः । 'शेषे लोपः' इति टिलोपः अन्त्यलोपो वा । अमि पूर्वत्वम् । भाषायामेव हि आत्वम् । टिलोपपक्षे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण अम उदात्तत्वम्-अन्त्यलोपपक्षे एकादेश उदात्तः । दक्षम् । 'दक्ष वृद्धौ' । दक्षन्त्यनेनेति करणे घञ् । एवं हि पुँल्लिङ्गत्वनियमः अन्त्यस्यानियम इति नपुंसकत्वम् । धृतव्रता मित्रावरुणा । धृतानि व्रतानि याभ्यां तौ धृतव्रतौ । मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ । उभयत्र 'सुपां सुलुक्०' इत्यादिना विभक्तेः आकारः । मित्रशब्दस्य 'देवताद्वन्द्वे च' इति आनङादेशः । प्रथमस्य आमन्त्रित-निघातः । द्वितीयस्य पादादित्वादाद्युदात्तत्वम् । संहितायां छान्दसं ह्रस्वत्वम् । दूळभम् । 'दह भस्मीकरणे' । दुःखेन दह्यते इति दुर्दहम् । 'ईषद्दुःसुषु०' (पा० ३।३।१२६) इत्यादिना दुर्युपपदे दग्धेः । खल् । 'व्यत्ययो बहुलम्' इति उकारस्य ऊकारो रेफस्य लोपो दकारस्य डकारो हकारस्य च भकारः । आशाथे । 'अशू व्याप्तौ' । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति वर्तमाने लट् । मध्यम-द्विवचनम् आथाम् । हैः एत्वम् । 'अत आदेः' (पा० ७।४।७०) इत्यभ्यासस्य दीर्घः । 'अश्नोतेश्च' (पा० ७।४।७२) इति प्राप्तो नुडागमः 'अनित्यमागम-शासनम्' इति निवर्तते ॥ ६ ॥

स्कन्दः—मित्रावरुणयोः षष्ठी । षष्ठी ऋङ्मित्रावरुणदेवता । युवमिति षष्ठ्यर्थे प्रथमा । युवयोः दक्षं बलं धृतव्रत, मित्रावरुण । उभयत्र द्विवचनादेशा-कारस्य छान्दसं सांहितं ह्रस्वत्वम् । व्रतमिति कर्मनाम । धृतानि सर्वकर्माणि स्वकर्माणि वा याभ्यां तौ धृतव्रतौ सर्वकर्मणां हेतुभूतौ, स्वकर्मणां वा नित्यमनु-प्रदातारौ इत्यर्थः । मित्रावरुण दूळभम् । दभ्नोतेर्वधकर्मण एतद्रूपम् (धा० स्वा० २८ दभ घातने)। दुर्हणम् । युवयोर्बलं न कश्चिदपि जेतुं शक्नोति इत्यर्थः । यावीदृशौ स्थः तावृतुना सह यज्ञमाशाथे । लोडर्थेऽयं लट् । अश्नुवाथां व्याप्नु-तम् । यज्ञे सोमं पिबतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

१५२ द्र॒वि॒णो॒दा द्रवि॑णसो॒ ग्राव॑हस्तासो अध्व॒रे ।
यज्ञेषु॑ दे॒वमी॑ळते ॥ ७ ॥

द्र॒वि॒णः॒ऽदाः । द्रवि॑णसः । ग्राव॑ऽहस्तासः । अ॒ध्व॒रे ।
य॒ज्ञेषु॑ । दे॒वम् । ई॒ळ॒ते॒ ॥ ७ ॥

(The priests) desirous of wealth holding stones in their hands, praise the divine (Agni) Draviṇodas (= giver of wealth), both in the primary and subsidiary sacrifices.

(द्रविणसः) धन की कामना करने वाले, (ग्रावहस्तासः) अभिषवण के लिए हाथ में पाषाण धारण किये हुए [ऋत्विज] (अध्वरे) प्रकृति-रूप या मौलिक यज्ञ में तथा (यज्ञेषु) विकृति-रूप यज्ञों में भी (द्रविणोदाः) धन के दाता (देवम्) अग्नि-देव की (ईळते) स्तुति करते हैं ॥ ७ ॥

सायणः—अध्वरे अग्निष्टोमे प्रकृतिरूपे यज्ञेषु विकृतिरूपेषु उक्थ्यादिषु च देवम् अग्निम् ईळते ऋत्विजः स्तुवन्ति । कीदृशा ऋत्विजः । द्रविणसः धनार्थिनः ग्रावहस्तासः अभिषवसाधनपाषाणधारिणः । कीदृशं देवम् । द्रविणोदाः धनप्रदम् । यद्वा । धनप्रदोऽग्निः सोमं पिबत्विति शेषः । तमेतं मन्त्रं यास्क एवं निर्वक्ति—'द्रविणोदाः कस्मात् । धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति । बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदाः । तस्यैषा भवति—द्रविणोदा द्रविणसः' (नि० ८।१२) इत्यादि । सोऽयं यास्कोक्तो निर्वचनप्रपञ्चस्तस्मिन्नेव ग्रन्थेऽवगन्तव्यः ॥ द्रविणोदाः । 'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ० २।२०८) । नित्त्वादाद्युदात्तो द्रविणशब्दः । तद्ददातीति द्रविणोदाः । 'क्विप् च' इति क्विप् । पूर्वपदस्य सकारोपजनश्छान्दसः । ह्रस्वोत्वे । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । देवविशेषणत्वेन एकवाक्यतापक्षे द्वितीयायाः स्वादेशः । अथवा द्रविणमात्मन इच्छन्ति द्रविणस्यन्ति । 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः' (महाभा० ७।१।५१।२) इति क्यचि परतः सुगागमः । द्रविणस्यतेः सम्पदादित्वात् भावे क्विप् । 'अतो लोपः' । 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवद्भवति' (महाभा० १।१।५८।२) इति तस्य स्थानिवत्त्वप्रतिषेधात् यलोपः । एवं द्रविणस्शब्दो धनेच्छावचनः । द्रविणेच्छां दस्यति यथेष्टधनप्रदानेन उपक्षपयतीत्यर्थे 'दसु उपक्षये' इत्यस्मात् अन्तर्भावितण्यर्थात् । 'क्विप् च' इति क्विप् । एवं द्रविणोदःशब्दः सकारान्तो भवति । तथा 'द्रविणोदसः प्रवादा भवन्ति' (नि० ८।२) इति नैरुक्तो व्यवहार उपपद्यते । अतो द्रविणोदस्शब्दो भिन्नवाक्यत्वे स्वार्थे प्रथमा । एकवाक्यत्वे तु व्यत्ययेन द्वितीयार्थो भवति । द्रविणसः इत्यत्रापि वाक्यभेदपक्षे द्रविणसः सोमस्य इत्यर्थे सकारोपजनश्छान्दसः । आद्युदात्तत्वं तु नियमेन स्थितम् । ऋत्विग्विशेषणत्वेन एकवाक्यत्वपक्षे तु क्यजन्तात् क्विप् । अतो लोपादि पूर्ववत् । अत्र तु पक्षे क्यचः चित्त्वेन अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । ग्रावयुक्ता हस्ता येषां ते ग्रावहस्तासः । 'आजसेरसुक्' । अध्वरे न विद्यते ध्वरो हिंसा यस्मिन् । 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । ईळते । अनुदात्तेत्वात् आत्मनेपदम् । 'अदिप्रभृतिभ्यः०' इति शपो लुक् । झस्य अदादेशः ॥ ७ ॥

स्कन्दः—चतस्रो द्रविणोदसः । सप्तम्याद्याश्चतस्रः ऋचः द्रविणोदसः । ईळत इत्यस्य स्तुत्यपेक्षत्वाद् देवतानां च स्तुत्यत्वात् द्रविणोदःशब्दस्य च

देवतावचनत्वात् । द्रविणोदाः द्वितीयार्थे प्रथमा । द्रविणोदसम् । द्रविणसः । द्रविणमिति धननाम, एतदिच्छन्ति द्रविणस्यन्तीति क्यचि सुगागमः । द्रविणस्युर्विपर्यय इति यथा । द्रविणस्यतेः छान्दसत्वात् क्विप् क्विपि चाद्युदात्तत्वम् । द्रविणसाधनकामा इत्यर्थः । ग्रावहस्तासः गृहीताभिषवग्रावाण ऋत्विजः । अध्वरे यज्ञेषु । अध्वरशब्दोऽत्र ध्वरतेर्हिंसाकर्मणः क्रियाशब्दः, न यज्ञनाम । व्यत्ययेन चैकवचनम् । सादूगुण्याद रक्षआदिभिरहिंसितेषु यज्ञेषु । अथवा अध्वरशब्दः समस्तज्योतिष्टोमादिवचनः । यज्ञशब्दस्तदवयवभूताभ्यासविशेषवचनः । ज्योतिष्टोमादावध्वरे येऽभ्यासविशेषाख्या यज्ञास्तेषु । देवं दातारं दीप्तं वा । ईळते स्तुवन्ति ॥ ७ ॥

१५४ द्रविणोदा ददातु नो वसूनि यानि शृण्विरे ।
देवेषु ता वनामहे ॥ ८ ॥

द्रविणःऽदाः । ददातु । नः । वसूनि । यानि । शृण्विरे ।
देवेषु । ता । वनामहे ॥ ८ ॥

May Draviṇodas give us riches that may be heard of: we ask them for the gods.

(यानि) जो [धन हवि के उपयुक्त] (शृण्विरे) सुने जाते हैं (द्रविणोदाः) द्रविणोदस् अर्थात् धनदाता देवता (नः) हमें (वसूनि) उन धनों को (ददातु) दे दें। (ता) उन सभी धनों को (देवेषु) देवताओं के लिए (वनामहे) हमलोग स्वीकार करते हैं, माँगते हैं ॥ ८ ॥

सायणः—द्रविणोदाः देवः नः अस्मभ्यं वसूनि धनानि ददातु यानि धनानि शृण्विरे हविरुपयुक्तत्वेन श्रूयन्ते । ता तानि च सर्वाणि धनानि देवेषु निमित्तभूतेषु वनामहे सम्भजामः । धनैर्देवान् यष्टुं तानि स्वीकुर्म इत्यर्थः ॥ द्रविणोदाः । गतम् । वसूनि । 'शृस्वृस्निहि०' (उ० १।१०) इत्यादिना उप्रत्ययः । 'नित्' इत्यनुवृत्तेः आद्युदात्तः । शृण्विरे । 'श्रु श्रवणे' । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति वर्तमाने लिट् । झ इरेच् (पा० ३।४।८१) । 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वे व्यत्ययेन श्नुः; तत्संनियोगेन शृभावश्च । उवङि प्राप्ते 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' (पा० ६।४।८७) इति यणादेशः । 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति निघातप्रतिषेधः । ता । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० ८।२।७) इति नलोपः । वनामहे । 'वन-षण सम्भक्तौ । व्यत्ययेनात्मनेपदम् ॥ ८ ॥

स्कन्दः—द्रविणोदा ददातु अस्मभ्यं वसूनि यानि शृण्विरे । लडर्थेऽयं लिट् कर्मणि च । श्रूयन्ते । उत्कृष्टत्वात् प्रभूतत्वाच्च सर्वलोकप्रकाशानि भवन्तीत्यर्थः ।

वयमपि देवेषु। सम्प्रदानस्येयमधिकरणत्वेन विवक्षा 'सममब्राह्मणे दानम्' (?) इति यथा। देवेभ्यः। तानि हवीरूपाणि कृत्वा वनामहे। वनतिरत्र सामर्थ्याद् दानार्थः। 'वंस्वानो वार्यापुः०' इति यथा। दद्म इत्यर्थः। अथवा वनिर्हि सम्भक्त्यर्थ एव। देवेष्विति 'निमित्तात्कर्मसंयोगे' (पा० २।३।३६ वा०) इत्येवं सप्तमी 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इति यथा। देवार्थं सम्भजामहे देवान् यष्टुं परिगृह्णीम इत्यर्थः ॥ ८ ॥

१५५ द्र॒वि॒णो॒दाः पि॑पीषति जु॒होत॒ प्र च॑ तिष्ठत।
नेष्ट्रा॑दृ॒तुभि॑रिष्यत ॥ ९ ॥

द्र॒वि॒णः॒ऽदाः। पि॒पी॒ष॒ति॒। जु॒होत॑। प्र। च॒। ति॒ष्ठ॒त॒।
नेष्ट्रा॑त्। ऋ॒तुऽभिः॑। इ॒ष्य॒त॒ ॥ ९ ॥

Draviṇodas desires to drink with the Ṛtus from the cup of Neṣṭṛ: hasten, (priests, to the hall of offering); present the oblation, and depart.

(द्रविणोदाः) धनदाता द्रविणोदस्-नामक देवता (ऋतुभिः) ऋतु-देवों के साथ (नेष्ट्रात्) नेष्टृ-नामक पुरोहित के पात्र से [सोमरस] (पिपीषति) पीना चाहते हैं। [हे ऋत्विजो, होम के स्थान पर] (इष्यत) आपलोग जायें; वहाँ (जुहोत) हवन करें, तब कहीं (प्र तिष्ठत) प्रस्थान करें ॥ ९ ॥

सायणः—द्रविणोदाः देवः ऋतुभिः सह नेष्ट्रात् नेष्टृसम्बन्धिपात्रात् पिपीषति सोमं पातुमिच्छति। ततो हे ऋत्विजः! इष्यत होमस्थाने गच्छत। गत्वा च जुहोत होमं कुरुत। हुत्वा प्रतिष्ठत च होमस्थानात् स्थानान्तरं प्रति प्रस्थानमपि कुरुत ॥ द्रविणोदाः। गतम्। पिपीषति। 'पा पाने'। पातुमिच्छतीति सन्। छान्दस ईकारः। जुहोत। लोण्मध्यमबहुवचनम्। तस्य लङ्वद्भावात् तादेशः। तस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च' इति तबादेशः। तस्य पित्त्वाद् गुणः। तिष्ठत। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (धा० भ्वा० ९५२)। लोण्मध्यमबहुवचनस्य तस्य लङ्वद्भावात् तादेशः। शपि 'पाघ्राध्मा०' इत्यादिना तिष्ठादेशः। 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा० १।३।२२) इति आत्मनेपदं न भवति; तत्रानुवृत्तस्य निर्दिष्टग्रहणस्य आनन्तर्यार्थत्वात् अत्र चशब्देन व्यवधानात्। 'ते प्राग्धातोः' (पा० १।४।८०) इत्युपसर्गत्वेन प्राक्प्रयोक्तव्यस्यापि प्रशब्दस्य 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२) इति छन्दसि व्यवहितप्रयोगः। अत्र चशब्दो जुहोत इति पूर्वेण सह समुच्चयार्थः, न पुनः इष्यत इत्युत्तरेण। तेन अप्रथमत्वात् 'चवायोगे प्रथमा' (पा० ८।१।५९) इति निषेधाभावात् 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः।

नेष्ट्रात् । 'पोत्राध्यज्ञं पुनीतन' (ऋ० सं० १।१५।२) इत्यत्र पोत्रशब्दे यदुक्तं तदत्र द्रष्टव्यम् । इष्यत । 'इष गतौ' लोण्मध्यमबहुवचनम् ॥ ९ ॥

स्कन्दः—द्रविणोदाः पिपीषति । पिबतेश्छान्दसत्वादीत्वम् । पिपासति पातुमिच्छति सोमम् । एतद् ज्ञात्वा जुहोत अध्वर्यवः । प्र च तिष्ठत प्रतिष्ठध्वं च । सोमं हुत्वा चाहवनीयदेशात् सदः प्रतिगच्छतेत्यर्थः । कुतः पिपासति । उच्यते । नेष्ट्रात् नेष्टुः स्वभूतात् पात्रात् न च केवलः । किं तर्हि । ऋतुभिः, ऋतुभिः सह । इष्यत । इषु गतौ । गच्छत । मा विलम्बध्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

१५६ यत्त्वा॑ तु॒रीय॑मृ॒तुभि॒र्द्रवि॑णोदो॒ यजा॑महे ।
अध॑ स्मा नो द॒दिर्भ॑व ॥ १० ॥

यत् । त्वा॒ । तु॒रीय॑म् । ऋ॒तुऽभिः॑ द्रवि॑णःऽदः । यजा॑महे ।
अध॑ । स्म॒ । नः॒ । द॒दिः । भ॒व॒ ॥ १० ॥

Since Draviṇodas we adore thee for the fourth time along with the Ṛtus; therefore be a benefactor unto us.

(द्रविणोदः) हे द्रविणोदस् देवता (यत्) चूँकि (ऋतुभिः) ऋतु-देवों के साथ (त्वाम्) आपकी (तुरीयं) चौथी बार (यजामहे) पूजा कर रहे हैं (अध) इसलिए (नः) हमारे लिए (ददिः) दाता (भव स्म) आप अवश्य बनें ॥ १० ॥

सायणः—हे द्रविणोदः देव यत् यस्मात् कारणात् ऋतुभिः सह त्वां यजामहे । अध इत्ययं निपातस्तच्छब्दार्थः । तस्मात् कारणात् नः अस्मभ्यं ददिः धनस्य दाता भव स्म अवश्यं भव । तुरीयं चतुर्णां पूरणम् । तुरीयम् । 'तुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' (पा० ५।२।५१ वा०) इति छप्रत्ययः । तस्य प्रत्ययस्वरेणोदात्तत्वात् प्रागेव 'आयनेयी०' (पा० ७।१।२) इत्यादिना ईयादेशः । द्रविणोदः । उक्तम् । पादादित्वात् आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । अध । छान्दसो धकारः । स्म । चादिरनुदात्तः । संहितायां 'निपातस्य च' (पा० ६।३।१३६) इति दीर्घः । ददिः । 'डुदाञ् दाने' । 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० ३।२।१७१) इति किप्रत्ययः । लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनादि । 'आतो लोप इटि च' (पा० ६।४।६४) इति आकारलोपः । प्रत्ययस्वरः ॥ १० ॥

स्कन्दः—यदिति निपातो यस्मादर्थे । यस्मात् त्वाम् । तुरीयम्–'यजामहे' इत्येतत्क्रियाविशेषणमेतत् । पूर्वद्रविणोदोदेवतात्रयापेक्षः चात्र तुरीयव्यपदेशः । चतुर्थमिदमृतुभिः सह हे द्रविणोदः ! यजामहे । अध स्म । अधेति तस्मादर्थे । स्मशब्दस्तु पदपूरणः । तस्मान्नः अस्मभ्यं ददिर्दाता धनानि भव त्वम् ॥ १० ॥

१५७ अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता ।
ऋतुना यज्ञवाहसा ॥ ११ ॥

अश्विना । पिबतम् । मधु । दीद्यग्नी इति दीदिऽअग्नी । शुचिऽव्रता । ऋतुना । यज्ञऽवाहसा ॥ ११ ॥

Aśvins, performers of pious acts, bright with sacrificial fires, accepters, with the Ṛtus, of the sacrifice, drink the sweet draught.

(दीद्यग्नी) आहवनीयादि दीप्त अग्निओं से युक्त, (शुचिव्रता) शुद्ध कर्म करनेवाले और (यज्ञवाहसा) यज्ञ को पूर्णतः संचालित करनेवाले (अश्विना) हे अश्विन् युगल ! (ऋतुना) ऋतु-देव के साथ (मधु) मधुर सोमरस (पिबतम्) आप दोनों पी लें ॥ ११ ॥

सायणः—हे अश्विनौ मधु माधुर्योपेतं सोमं पिबतम् । कीदृशौ । दीद्यग्नी द्योतमानाहवनीयाद्यग्नियुक्तौ शुचिव्रता शुद्धकर्माणौ ऋतुना ऋतुदेवतया सह यज्ञवाहसा यज्ञस्य निर्वाहकौ ॥ अश्विना । सम्बोधनद्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' इति आकारः । मधु । 'फलिपाटि०' (उ० १।१८) इत्यादिना उप्रत्ययो नित् । आद्युदात्तः । दीद्यग्नी । 'दिवु क्रीडादौ' 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति विच् । वेरपृक्तलोपात् वलि लोपो बलीयानिति प्रथमवकारस्य लोपः (पा० ६।१।६६–६७) । प्रथमं प्रत्ययलोपे हि 'वर्णाश्रयविधौ प्रत्ययलक्षणं नास्ति' (परिभा० २१) इति निषेधात् वलि लोपो न स्यात् । छान्दसं द्विर्वचनम् । तुजादित्वात् अभ्यासस्य दीर्घत्वम् । यङ्लुगन्ताद्वा 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (परिभा० ९।३१) इत्यभ्यासस्य गुणाभावः । दीदिरग्निर्ययोस्तौ दीद्यग्नी । शुचिव्रता । शुचि व्रतं ययोस्तौ । 'सुपां सुलुक्०' इति आकारः । यज्ञवाहसा । 'वह प्रापणे' यज्ञं वहतः इति यज्ञवाहसौ । 'वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि' (उ० ४।६६०) इति असुन् । तत्र हि 'गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' (उ० ४।६६६) इति वचनात् सोपपदानामपि भवति इत्युक्तम् । 'णित्' इत्यनुवृत्तेः उपधावृद्धिः । 'सुपां सुलुक्०' इत्यादिना विभक्तेः आकारः । आमन्त्रितविघातः । असामर्थ्यात् पूर्वस्य न पराङ्गवद्भावः ॥ ११ ॥

स्कन्दः—अश्विन्येकादशी ज्ञेया । एकादशी ऋगश्विनीदेवता ज्ञातव्या । अश्विना पिबतं मधु सोद्राख्यम् । दीद्यग्नी, दीव्यतेर्द्योतनार्थस्य दीदिः अत्यर्थं-दीप्तः । दीदिरग्निः ययोः सम्बन्धी तौ दीद्यग्नी । केन सम्बन्धेन सम्बन्धी । जन्यतया । कुत एतत् । युवं शक्रा मायाविनावित्यश्विनोः अरणिमन्थनदर्शनात् दीप्तस्याग्नेः जनयितारौ । पितरावित्यर्थः । शुचिव्रता शुद्धकर्माणौ । मा च

केवलावेव पिबतम् । किं तर्हि । ऋतुना सह । हे यज्ञवाहसा अन्तं यज्ञस्य प्रापयितारौ समर्पयितारावित्यर्थः ॥ ११ ॥

१५८ गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि ।
देवान्देवयते यज ॥ १२ ॥

गार्हऽपत्येन । सन्त्य । ऋतुना । यज्ञऽनीः । असि ।
देवान् । देवऽयते यज ॥ १२ ॥

Giver of rewards (Agni), being identified with the household fire, and partaker with Ṛtu of the sacrifice, worship the gods on behalf of their adorer.

(सन्त्य) फल दान करनेवाले [हे अग्निदेव] ! (गार्हपत्येन) गृहपति से सम्बद्ध अग्नि के रूप में रहकर [आप] (ऋतुना) ऋतु-देव के साथ (यज्ञनीः) यज्ञ के निर्वाहक (असि) हैं, अतएव (देवयते) देवताओं की कामना करनेवाले यजमान के लिए (देवान्) देवताओं की (यज) पूजा कीजिये ॥ १२ ॥

सायणः—हे सन्त्य फलप्रदाग्निदेव गृहपतिसम्बन्धिना रूपेण युक्तः सन् ऋतुना ऋतुदेवेन सह यज्ञनीः यज्ञस्य निर्वाहकः असि । तस्मात् त्वं देवयते देवविषयकामनायुक्ताय यजमानाय देवान् यज ॥ गार्हपत्येन । 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० ४।४।९०) । 'यस्य०' इति लोपः । ञित्वादादिवृद्धिः आद्युदात्तत्वं च । गृहपतित्वमित्यर्थे 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः०' (पा० ५।१।१२८) इति यकि तु अन्तोदात्तत्वं स्यात् । सन्त्य सनने भव । 'षणु दाने' । 'क्विप् च' इति क्विप् । 'न क्विचि दीर्घश्च' (पा० ६।४।३९) इति दीर्घनलोपाभावः । 'भवे छन्दसि' (पा० ४।४।११०) इति यत् । 'तत्र साधुः' (पा० ४।४।९८) इति वा । निघातः । यज्ञं नयतीति यज्ञनीः । 'सत्सूद्विष०' इत्यादिना क्विप् । देवयते । देवानात्मन इच्छतीति देवयन्, तस्मै । 'क्यचि च' इति ईत्वं न भवति, 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' इति निषेधात् । 'अश्वाघस्य०' (पा० ७।४।३७) इति आत्वविधानात् ईत्वनिषेधे प्राप्तस्य दीर्घस्याप्येष निषेध इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

स्कन्दः—आग्नेयी द्वादशी । द्वादशी ऋगग्निदेवता । गार्हपत्येनेति हेतौ तृतीया । गृहपतित्वेन हेतुना । हे सन्त्य ! 'षणु दाने' इत्यस्यैतद् रूपम् । दातरग्ने ! ऋतुना सह । यज्ञनीः । यज्ञस्य देवान्प्रति प्रापयितासि । अतो ब्रवीमि, देवान् देवयते । देवान् कामयमानस्य ममार्थाय व्रज ॥ १२ ॥

(१६) षोडशं सूक्तम्

कण्वो मेधातिथिः ऋषिः । गायत्री छन्दः इन्द्रो देवता ।

१५९ आ त्वा वहन्तु हर॑यो॒ वृष॑णं॒ सोम॑पीतये ।
इन्द्र॑ त्वा सूर॑चक्षसः ॥ १ ॥

आ । त्वा॒ व॒ह॒न्तु॒ । हर॑यः । वृष॑णम् । सोम॑ऽपीतये ।
इन्द्र॑ । त्वा॒ । सूर॑ऽचक्षसः ॥ १ ॥

Indra, Let thy coursers hither bring thee, bestower of desires, to drink the Soma juice; may (the priests), radiant as the Sun, (make thee manifest).

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (वृषणं) काम्य वस्तुओं की वर्षा करनेवाले (त्वा) आपको (सोमपीतये) सोमरस पीने के लिए (हरयः) घोड़े (आवहन्तु) ले आवें; (त्वा) आपको (सूरचक्षसः) सूर्य के समान प्रकाशवाले ऋत्विज [मन्त्रों से प्रकाशित करें; अथवा सूर्य की तरह कान्ति वाले घोड़े आपको ले आवें ।] ॥ १ ॥

सायणः—हे इन्द्र वृषणं कामानां वर्षितारं त्वां सोमपीतये सोमपानार्थं हरयः त्वदीयाः अश्वाः आ वहन्तु अस्मिन् कर्मण्यानयन्तु । तथा सूरचक्षसः सूर्यसमानप्रकाशयुक्ता ऋत्विजः त्वां मन्त्रैः प्रकाशयन्त्विति शेषः ॥ हरन्तीति हरयः । 'इन् सर्वधातुभ्यः' (उ० ४।५५७) इति इन् । वृषणम् । 'कनिन्यु-वृषितक्षि०' (उ० १।१५४) इत्यादिना कनिन् । कित्वाद् लघूपधगुणाभावः । 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० ६।४।९) इति विकल्पितमुपधादीर्घत्वम् । सोम-पीतये । 'ऐभिरग्ने' (ऋ० सं० १।१४।१) इत्यत्रोक्तम् । सूरचक्षसः । 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' । 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' । 'चक्षिङः ख्याञ्' (पा० २।४।५४) इति न भवति । 'असनयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः' (पा० २।४।५४ वा०) इति निषेधात् । 'षू प्रेरणे' सुवतीति सूरः । 'सुसूधाग्गृधिभ्यः क्रन्' (उ० २।१८२) इति क्रन् । कित्वाद्गुणाभावः । आद्युदात्तः । सूरवत् ख्यानं प्रकाशो येषाम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ १ ॥

स्कन्दः—ऐन्द्रं त्वनन्तरं सूक्तम् । आ वहन्तु त्वां हरयः अश्वाः । कीदृशम् । वृषणं वर्षितारम् । किमर्थम् । सोमपीतये । हे इन्द्र त्वा । षष्ठ्यर्थे द्वितीया । तव स्वभूताः । कीदृशः । सूरचक्षसः । सूर आदित्यः, चक्षो दर्शनम् । सूरस्येव

चक्षो येषां ते सूरचक्षसः बलवत्त्वात् आदित्यवद् दीप्तिमन्तः इत्यर्थः । सूर्यदर्शिनो वा सूरचक्षसः ॥ १ ॥

१६० इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षतः ।
इन्द्रं सुखतमे रथे ॥ २ ॥

इमाः । धानाः । घृतऽस्नुवः । हरी इति । इह । उप । वक्षतः ।
इन्द्रम् । सुखऽतमे । रथे ॥ २ ॥

Let his coursers convey Indra in an easy-moving chariot hither, where these grains (of parched barley), steeped in clarified butter, are strewn (upon the altar).

(घृतस्नुवः) घी टपकानेवाले (इमाः) इन प्रस्तुत (धानाः) जौ या चावल के दानों के [उद्देश्य से] (सुखतमे) सर्वाधिक सुखद (रथे) रथ पर (इन्द्रं)इन्द्र देवता को (हरी) उनके दोनों घोड़े (इह) यहाँ यज्ञ में (उपवक्षतः) यज्ञवेदिका के पास ले आवें ॥ २ ॥

सायणः—हरिशब्द इन्द्ररथस्य वोढारौ अश्वौ आचष्टे । तथा च श्रुत्यन्तरं 'हर्योः स्थाता' इति; 'हरिभ्यां स्वेन्द्रो देवतां गमयतु' (तै० सं० १।४।२८।१; १।६।४।३) इति च । एतदेवाभिप्रेत्य निघण्टुकार आह—'हरी इन्द्रस्य' (निघ० १।१५।१) इति । तादृशौ हरी इमाः यागार्थं वेद्याम् आसादितत्वेन पुरोवर्तिनीः धानाः भ्रष्टयवतण्डुलान् उद्दिश्य सुखतमे रथे इन्द्रम् अवस्थाप्य इह अस्मिन्कर्मणि उपवक्षतः वेदसमीपे वहताम् । कीदृशीर्धानाः । घृतस्नुवः अलङ्करणोपस्तरणाभिधारणेन घृतस्राविणीः ॥ धीयन्ते इति धानाः । 'धापॄवस्यजतिभ्यो नः' (उ० ३।२८६) इति नः । प्रत्ययस्वरः । घृतस्नुवः । घृतं स्नुवन्ति इति घृतस्नुवः । क्विपि तुगभावश्छान्दसः । स्नोः संयोगपूर्वत्वेन यणभावात् उवङादेशः । हरी । 'हृञ् हरणे' । 'सर्वधातुभ्य इन्' । प्रगृह्यत्वात् संहितायां प्रकृतिभावः । वक्षतः । प्रार्थनायां लिङर्थे लेट् । तस्य प्रथमपुरुषद्विवचनं तस् । 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इति अडागमः । शपि प्राप्ते 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० ३।१।३४) इति सिप् । ढत्वकत्वषत्वानि । निघातः । सुखतमे । गतम् ॥ २ ॥

स्कन्दः—द्वितीयाश्रुतेरत्र तद्योग्यः कर्मप्रवचनीयः प्रतिशब्दोऽध्याहार्यः । इमा धाना घृतस्नुवः । 'ष्णु प्रस्रवणे' । अलङ्करणोपस्तरणाभिधारणघृतस्राविणीः प्रति । यज्ञे हि हर्योः ऋजीषं भागो धानाश्च । अत इदं तद्भागेन धनादिभिः हर्योः प्रोत्साहनार्थं न देशोपलक्षणम् । हरी इन्द्राश्वौ । इह कर्मणि उपवक्षतः । उतेति आ इत्येतस्य स्थाने । लोडर्थे च पञ्चमो लकारः । आवहताम् इन्द्रम् ।

सुखतमे रथे। सप्तमीनिर्देशात् स्थितमिति वाक्यशेषः। तृतीयार्थे वा सप्तमी, सुखतमेन रथेन ॥ २ ॥

१६१ इन्द्रं॑ प्रातर्ह॑वामह॒ इन्द्रं॑ प्रय॒त्य॑ध्व॒रे ।
इन्द्रं॒ सोम॑स्य पी॒तये॑ ॥ ३ ॥

इन्द्र॑म् । प्रा॒तः । ह॒वा॒म॒हे॒ । इन्द्र॑म् । प्र॒ऽय॒ति । अ॒ध्व॒रे ।
इन्द्र॑म् । सोम॑स्य । पी॒तये॑ ॥ ३ ॥

We invoke Indra at the morning rite, we invoke him at the succeeding sacrifice, we invoke Indra to drink the Soma juice.

(प्रातः) प्रभात काल के सवन में (इन्द्रं) इन्द्र देवता को (हवामहे) हम बुलाते हैं ? (अध्वरे) सोमयाग के (प्रयति) प्रक्रान्त होने अर्थात् माध्यंदिन सवन में (इन्द्रम्) इन्द्र को [बुला रहे हैं]; (इन्द्रं) इन्द्र को [सर्वत्र] (सोमस्य पीतये) सोमरस के पान के लिए [बुलाते हैं] ॥ ३ ॥

सायणः—प्रातः कर्मारम्भे प्रातःसवने इन्द्रं हवामहे आह्वयामः। तथैव अध्वरे सोमयागे प्रयति प्रगच्छति प्रारभ्य वर्तमाने सति माध्यन्दिने सवने तम् इन्द्रं हवामहे। तथा यज्ञसमाप्त्यवसरे तृतीयसवने सोमस्य पीतये सोमपानार्थं हवामहे ॥ प्रातः। स्वरादिषु अन्तोदात्तो निपातितः। हवामहे। ह्वेञो लटि शपि परतो 'ह्वः सम्प्रसारणम्' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणं परपूर्वत्वं गुणावादेशौ। प्रयति। 'इण् गतौ'। लटः शतृ। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति लुक्। शतुर्ङित्त्वाद् गुणाभावः। प्रादिसमासः। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (परिभा० २८) इति वचनात् 'प्रत्ययग्रहणे०' इति नियमाभावात् 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा० ६।१।१७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। अध्वरे। उक्तम्। संहितायाम् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८।२।४) इति अकारस्य स्वरितत्वम्। पीतये। 'पा पाने' क्तिनि छान्दसमन्तोदात्तत्वम् ॥

स्कन्दः—प्रातः प्रक्रमकाले हवामहे इन्द्रमेव प्रयति प्रवृत्ते। अध्वरे यज्ञे। कीदृशमिन्द्रम्। 'इदि परमैश्वर्ये', सुष्ठु ईश्वरम्। पुनरिन्द्रशब्दश्रुतिसामर्थ्यात् समाप्यमान इति वाक्यशेषः। इन्द्रमेव समाप्यमाने यज्ञे। किमर्थं, सोमस्य पीतये ॥ ३ ॥

१६२ उप॑ नः सु॒तमा ग॑हि॒ हरि॑भिरिन्द्र के॒शिभिः॑ ।
सु॒ते हि त्वा॒ हवा॑महे ॥ ४ ॥

उप॑ । नः॒ । सु॒तम् । आ । ग॒हि॒ । हरि॑ऽभिः । इ॒न्द्र॒ । के॒शिऽभिः॑ ।
सु॒ते । हि । त्वा॒ । हवा॑महे ॥ ४ ॥

Come, Indra, to our libation, with thy long-maned steeds; the libation being poured out, we invoke thee.

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (केशिभिः) केशयुक्त (हरिभिः) घोड़ों के द्वारा (नः) हमारे द्वारा (सुतम्) चुलाये गये सोमरस के (उप) समीप (आ गहि) आ जाइये; (हि) क्योंकि (सुते) सोमरस चुलाते ही (त्वा) आपको (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ ४ ॥

सायणः—हे इन्द्र केशिभिः केसरयुक्तैः हरिभिः अश्वैः त्वं नः अस्मदीयं सुतम् अभिषुतं सोमं प्रति उप समीपे आ गहि आगच्छ । सुते अभिषुते सोमे निमित्त-भूते सति यस्माद् कारणात् त्वा हवामहे त्वामाह्वयामः तस्मादागच्छेति पूर्वत्रा-न्वयः ॥ गहि । गमेर्लोटः सेर्हिः । 'शपः' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक् । 'इषुगमियमां छः' (पा० ७।३।७७) इति छत्वं न भवति; 'न लुमता-ङ्गस्य' इति प्रतिषेधात् । 'अनुदात्तोपदेश०' (वा० ६।४।३७) इत्यादिना अनुनासिकलोपः । 'असिद्धवदत्राभात्' (पा० ६।४।२२) इत्यसिद्धत्वात् 'अतो हेः' इति हेर्लुक् न भवति । केशिभिः 'क्लिशेरन् लो लोपश्च' (उ० ५।७।११) इति अन् । मत्वर्थीय इनिः । प्रत्ययस्वरः । हवामहे । 'ह्वः' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणम् । शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । लिङश्च लसार्वधातुक-स्वरेण धातुस्वर एव । 'तिङ्ङतिङः' इति न निघातः; 'हि च' इति प्रतिषेधात् ॥

स्कन्दः—नः अस्माकं स्वभूतं सुतं सोमम् उपागहि उपागच्छ हरिभिः । हे इन्द्र, केशिभिः केशवद्भिः प्रलम्बकेसरैः । कस्मात् । सुते हि यस्माद् अभिषुते सोमे त्वां वयं हवामहे यन्तारमाह्वयामः ॥ ४ ॥

१६३ सेमं नः स्तोममा गह्युपेदं सवनं सुतम् ।
गौरो न तृषितः पिब ॥ ५ ॥

सः । इमम् । नः । स्तोमम् । आ । गहि । उप । इदम् ।
सवनम् । सुतम् । गौरः । नः । तृषितः । पिब ॥ ५ ॥

Do thou accept this our praise, and come to this our sacrifice, for which the libation is prepared; drink like a thirsty stag.

[हे इन्द्र,] (सः) वही आप (नः) हमारे (इमं) प्रस्तुत (स्तोमं) स्तवन के पास (आ गहि) आ जाइये; (उप) देवयज्ञ के निकट (सुतम्) चुलाये गये सोम से युक्त (इदम्) यह अनुष्ठित, होनेवाले (सवनम्) प्रातः सवनादि कार्य [पड़ा हुआ है]; (तृषितः) प्यासे (गौरः न) गौरमृग, जंगली हरिणी की तरह [यह सोमरस] (पिब) पीजिये ॥ ५ ॥

सायणः—हे इन्द्र स त्वं नः अस्मदीयम् इमं स्तोमं स्तुतिं प्रति आ गहि

आगच्छ । आगमने हेतुरुच्यते । उप देवयजनसमीपे सुतम् अभिषुतसोमयुक्तम् इदम् इदानीमनुष्ठीयमानं सवनं प्रातःसवनादिरूपं कर्म वर्तते । तस्मात् गौरो न गौरमृगः इव तृषितः सन् इमं सोमं पिब ॥ सः इमम् इत्यत्र संहितायां 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' (पा० ६।१।१३४) इति सुलोपः । गहि । गतम् । सवनम् । सूयतेऽस्मिन् सोम इत्यधिकरणे ल्युट् । ल्युडन्तात् सप्तम्याः 'सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्' (महाभा० ७।१।३९) इति वचनात् द्वितीया । अभिषुतसोमयुक्तमिदं सवनमिति कर्मण्येव वा द्वितीया । तदा सुतशब्दात् अर्शआदित्वात् अच् (पा० ५।२।१२७) । तृषितः । 'ञितृष पिपासायाम्' 'निष्ठा' इति क्तः । प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । पश्चात् इटः 'आगमा अनुदात्ताः' इत्यनुदात्तत्वम् ॥५॥

स्कन्दः—सः इमं नः अस्माकं स्वभूतं स्तोमम् आ गहि उपागच्छ इदं सवनम् । सवनमिति यज्ञनाम, इमं च यज्ञम् । सुतमभिषुतं च सोमम् । अथवेदं सवनमिति सप्तम्यर्थे प्रथमा । अस्मिन्यज्ञे स्तोमं सुतं च सोममुपागच्छ । उपागत्य च गौरो न तृषितः । गौर इत्युत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः भीमसेनो भीम इति यथा । गौरखर इव, यथा गौरः खरस्तृषितः उदकं पिबेत् तद्वत् पिब सोमम् ॥ ५ ॥

१६४ इमे सोमा॑स॒ इन्द॑वः सु॒तासो॒ अधि॑ ब॒र्हिषि॑ ।
ताँ इ॑न्द्र॒ सह॑से पिब ॥ ६ ॥

इ॒मे । सोमा॑सः । इन्द॑वः । सु॒तासः॑ । अधि॑ । ब॒र्हिषि॑ ।
तान् । इ॒न्द्र॒ । सह॑से । पि॒ब॒ ॥ ६ ॥

These dripping Soma juices are effused upon the sacred grass : drink them, Indra, (to recruit thy) vigour.

(इमे) ये (इन्दवः) परिपूर्ण करनेवाले, शुष्कता दूर करनेवाले (सोमासः) सोमरस (बर्हिषि) कुश के (अधि) ऊपर (सुतासः) चुलाते गये हैं । (इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (तान्) उन्हें (सहसे) अपने बल का प्रदर्शन करने के लिए (पिब) पीजिये ॥ ६ ॥

सायणः—इन्दुशब्दः 'उन्दी क्लेदने' इति धातोरुत्पन्नः । इन्दवः क्लेदनयुक्ताः इमे वेद्यामवस्थिताः सोमासः तत्तत्पात्रगता सोमाः बर्हिषि यज्ञे अधि आंधिक्येन सुतासः अभिषुताः । हे इन्द्र सहसे बलार्थं तान् सोमान् पिब ॥ सोमासः । 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।५०) इति जसोऽसुगागमः । इन्दवः । उक्तम् । सुतासः । पूर्ववत् असुक् । संहितायां 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' इति प्रकृतिभावात् परपूर्वत्वं न भवति । बर्हिषि । 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ० २।२६६)

इति इस्। प्रत्ययस्वरः। ताँ इन्द्र इत्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे' इति रुत्वम्। यत्वयलोपौ। अनुनासिकः। सहसे। 'षह मर्षणे'। असुनन्तो नित्वादाद्युदात्तः॥

स्कन्द:—इमे सोमासः। इन्दवः इन्धेर्दीप्तिकर्मणः एतद् रूपम्। स्वया दीप्त्या दीप्ताः सुतासः अधि बर्हिषि बर्हिषः उपरि। तान् हे इन्द्र, सहसे, बलनामैतत्। तादर्थ्ये चतुर्थी, आत्मनो बलार्थं पिब॥ ६॥

१६५ अ॒यं ते॒ स्तोमो॑ अग्रि॒यो हृ॑दि॒स्पृग॑स्तु॒ शंत॑मः।
अथा॒ सोमं॑ सु॒तं पि॑ब॥ ७॥

अ॒यम्। ते॒। स्तोमः॑। अ॒ग्रि॒यः। हृ॒दि॒ऽस्पृक्। अ॒स्तु॒।
शम्ऽत॑मः। अथ॑। सोम॑म्। सु॒तम्। पि॒ब॥ ७॥

May this our excellent hymn, touching thy heart, be grateful to thee, and thence drink the effused libation.

[हे इन्द्र,] (अयं) यह प्रस्तुत (स्तोमः) स्तोत्र, प्रार्थनामन्त्र (अग्रियः) जो श्रेष्ठ है, (ते) आपके (हृदिस्पृक्) हृदय का स्पर्श करनेवाला तथा (शंतमः) सर्वाधिक सुखद (अस्तु) हो जाय। [आप] (अथ) उसके बाद, स्तुति के बाद (सुतं) चुलाये गये (सोमं) सोमरस का (पिब) पान करें॥ ७॥

सायणः—हे इन्द्र अयम् अस्माभिः क्रियमाणः स्तोमः स्तोत्रविशेषः अग्रियः श्रेष्ठः सन् ते तव हृदिस्पृक् मनस्यङ्गीकृतः शंतमः सुखतमः अस्तु। अथ स्तुतेरनन्तरं सुतम् अभिषुतं सोमं पिब॥ अग्रियः। 'अग्राद्' इत्यनुवृत्तौ 'घच्छौ च' (पा० ४।४।११७) इति घच्। चित्वादन्तोदात्तः। हृदि स्पृशतीति हृदिस्पृक्। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (पा० ३।२।५८)। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० ६।३।१४) इति अलुक्। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (पा० ८।२।६२) इति शकारस्य कुत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। शंतमः। सुखकरद्रव्यवचनोऽत्र शंशब्दः। ततस्तमप्। अत्र सुखप्रकर्षस्य गुणद्वारा गुणनिष्ठद्रव्ये संक्रान्तत्वात् 'अद्रव्यप्रकर्षे' इति निषेधात्। 'किमेत्तिङव्यय०' (पा० ५।४।११) इत्यादिना आम् न भवति, द्रव्यस्य स्वतः प्रकर्षाभावात्। ईदृगर्थ एव हि सः निषेधः। अथा सोमम्। संहितायां 'निपातस्य०' इति दीर्घः॥ ७॥

स्कन्द:—अयं तवास्मत्कृतः स्तोमः अग्रियः प्रधानभूतः हृदिस्पृगस्तु हृदयस्य स्प्रष्टास्तु तुभ्यं रोचतामित्यर्थः। लोकेऽपि हि यद् रोचते तद् हृदयं स्पृशतीत्युच्यते। अथवा हृदयस्पर्शेन वात्रावधारणमुच्यते। चित्तेन त्वयावधार्यतामित्यर्थः। कीदृशः। शंतमः। सुखतमः। अथानन्तरं च सुतं सोमं पिब॥

१६६ विश्वमित्सवनं सुतमिन्द्रो मदाय गच्छति ।
वृत्रहा सोमपीतये ॥ ८ ॥

विश्वम् । इत् । सवनम् । सुतम् । इन्द्रः । मदाय । गच्छति ।
वृत्रऽहा । सोमऽपीतये ॥ ८ ॥

Indra, the destroyer of enemies, repairs assuredly to every ceremony where the libation is poured out, to drink the Soma juice for (his) exhilaration.

(वृत्रहा) शत्रुओं के संहारक (इन्द्रः) इन्द्र-देवता (सोमपीतये) सोमरस पति के लिये [तथा उससे उत्पन्न] (मदाय) आनन्द-प्राप्ति के लिए (विश्वम् इत्) सभी (सुतं) अभिषुत सोम से संपन्न (सवनं) प्रातः सवनादि कार्यों में (गच्छति) जाते हैं ॥ ८ ॥

सायणः—वृत्रहा शत्रुघातक इन्द्रः सोमपीतये सोमपानाय मदाय तत्पानजन्यहर्षाय च विश्वमित् सर्वमपि सुतम् अभिषुतसोमयुक्तं सवनं प्रातःसवनादिरूपं कर्म गच्छति ॥ विश्वम् । 'अशिप्रुषि०' इत्यादिना क्वन् । नित्त्वादाद्युदात्तः । सवनं सुतम् । पूर्ववत् । मदाय । 'मदोऽनुपसर्गे' (पा० ३।३।६७) इति अप्प्रत्ययः । पित्वात् धातुस्वरः । गच्छति । 'इषुगमियमां छः' (पा० ७।३।७७) । वृत्रहा । वृत्रं हतवान् । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (पा० ३।२।८७) । 'इन्हन्०' इत्यादिना निवृत्तं दीर्घत्वं 'सौ च' (पा० ६।४।१२–१३) इति प्रतिप्रसवात् भवति । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । सोमपीतये व्यधिकरणबहुव्रीहिः इत्युक्तम् । तत्पुरुषे वा दासीभारादित्वात् (पा० ६।२।४२) पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ८ ॥

स्कन्दः—सवनमिति यज्ञनाम । विश्वं सवनमिति चोभयत्र सप्तम्यर्थे प्रथमा । इच्छब्दः पदपूरणः । सर्वस्मिन्यज्ञे सुतं सोमं प्रतीन्द्रो गच्छति वृत्रहा । किमर्थम् । मदाच्च सोमपीतये मदार्थं यत् सोमपानं तदर्थम् । अथवा मदायेत्येतत् सुतमित्यनेन सम्बध्यते । मदार्थमभिषुतोऽयं सोमस्तस्यार्थ इति ॥ ८ ॥

१६७ सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो ।
स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥ ९ ॥

सः । इमम् । नः । कामम् । आ । पृण । गोभिः । अश्वैः ।
शतक्रतो इति शतऽक्रतो । स्तवाम त्वा । सुऽआध्यः ॥९॥

Do thou Śatakrato, accomplish our desire with (the gift of) cattle and horses : profoundly mediating, we praise thee.

(शतक्रतो) अनेक कर्मों या प्रचुर बुद्धि से भरे [हे इन्द्र], (सः) वही आप (नः) हमारे (इमं) प्रस्तुत (कामं) काम्य फलकी (गोभिः) गोधन से तथा (अश्वैः) अश्वों से (आ) अच्छी तरह (पृण) पूर्ति कीजिये। [हमलोग] (सुऽआध्यः) अच्छी तरह ध्यान लगाकर ही (त्वा) आपकी (स्तवाम) स्तुति करते हैं ॥ ९ ॥

सायणः—हे शतक्रतो सः त्वं नः अस्मदीयम् इमं कामं काम्यमानं फलं गोभिरश्वैः च सह आ पृण सर्वतः पूरय। वयमपि स्वाध्यः सुष्ठु सर्वतो ध्यान-युक्ताः सन्तः त्वा त्वां स्तवाम॥ सेमम्। संहितायां 'सोऽचि लोपे चेत्पाद-पूरणम्' इति सुलोपः। कमेर्घञि 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (पा० ६।१। १५९) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादिषु पाठादाद्युदात्तत्वम्। पृण। 'पृण प्रीणने'। लोटः सेर्हिः। 'तुदादिभ्यः शः'। तस्य ङित्वाद् गुणाभावः। 'अतो हेः' इति हेर्लुक्। स्तवाम। 'ष्टुञ् स्तुतौ'। 'धात्वादेः षः सः'। लोडुत्तमबहुवचनस्य 'लोटो लङ्वत्' इति लङ्वद्भावात् 'नित्यं ङितः' (पा० ३।४।९९) इति सकारस्य लोपः। 'आडुत्तमस्य पिच्च' (पा० ३।४।९२) इति आडागमः। स्वाध्यः। 'ध्यै चिन्तायाम्' स्वाङोरुपसर्गयोः प्राक्प्रयोगः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० ३।२।१७८) इति क्विप्। दृशिग्रहणस्य विध्यन्तरोपसंग्रहणार्थत्वात् अत्र सम्प्रसारणे सति परपूर्वत्वम्। 'हलः' (पा० ६।४।२) इति दीर्घः। जसि 'एरनेकाचः०' (पा० ६।४।८२) इति यणादेशः। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (पा० ६।१।१७४) इति जस उदात्तत्वं न भवति, तत्र 'असर्वनामस्थानम्' इत्यनुवृत्तेः। अतः 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८।२।४) इति स्वरितत्वमेव भवति ॥ ९ ॥

स्कन्दः—स त्वम् इमं नः कामम् इच्छाम् आ पृण। 'पृण प्रीणने'। आप्रीणय तर्पय पूरयेत्यर्थः। केन। गोभिरश्वैश्च। हे शतक्रतो, बहुकर्मन्, बहुप्रज्ञ वा स्तवाम त्वा। सेमं न इति तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः। यं त्वां स्तुतवन्तो वयं स्वाध्यः। आध्यानं आधीः प्रार्थना। शोभनप्रार्थनाः ॥ ९ ॥

(१७) सप्तदशं सूक्तम्

कण्वः मेधातिथिः ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रावरुणौ देवता ।

१६८ इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे ।
ता नो मृळात ईदृशे ॥ १ ॥

इन्द्रावरुणयोः । अहम् । सम्ऽराजोः । अवः । आ । वृणे ।
ता । नः मृळातः । ईदृशे ॥ १ ॥

I seek the protection of the sovereign rulers, Indra and Varuna; may they both favour us accordingly.

(अहं) मैं अनुष्ठान करनेवाला (सम्राजोः) दोनों बड़े राजाओं, (मित्रावरुणयोः) मित्र और वरुण देवों की (अवः) रक्षा-विधि (आ वृणे) सभी तरह से माँगता हूँ; (ता) वे दोनों (ईदृशे) इस प्रकार की [याचना के कारण] (नः) हम लोगों को (मृळातः) सुखी बनावें ॥ १ ॥

सायणः—अहम् अनुष्ठाता सम्राजोः समीचीनराज्योपेतयोः सम्यग्दीप्यमानयोर्वा इन्द्रावरुणयोः देवयोः सम्बन्धि अवः रक्षणम् आ वृणे सर्वतः प्रार्थये । ता तौ देवौ ईदृशे एवंविधे अस्मदीयवरणे निमित्तभूते सति मृळातः अस्मान् सुखयतः ॥ इन्द्रशब्दो रन्प्रत्ययान्तः । वरुणशब्द उनन्प्रत्ययान्तः । उभौ नित्वादाद्युदात्तौ । समासे 'देवताद्वन्द्वे च' इति पूर्वपदस्य आनङादेशः । 'उभे युगपत्' इति अनुवृत्तौ 'देवताद्वन्द्वे च' इति युगपत् उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । सम्राजोः । 'राजृ दीप्तौ' । 'सत्सूद्विष०' (पा० ३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । समो 'मोऽनुस्वारः' (पा० ८।३।२३) इत्यनुस्वारे प्राप्ते 'मो राजि समः क्वौ' (पा० ८।३।२५) इति मकारादेशः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० २।३।६५) इति कर्तरि षष्ठी । अवः । अव रक्षणादिषु । भावेऽसुन् । ता । 'सुपां सुलुक्०' इत्यादिना द्विवचनस्य डादेशः । टिलोपे विभक्तेरुदात्तनिवृत्तिस्वरः । मृळातः । 'मृड सुखने' । प्रार्थनायां लिङर्थे लेट् । द्विवचनं तस् । 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इति आडागमः । 'तुदादिभ्यः शः' । ङित्वात् लघूपधगुणाभावः । ईदृशे । 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' (पा० ३।२।६०) इति इदंशब्दे उपपदे दृशेः कञ् । उपपदसमासे 'इदंकिमोरीश्की' (पा० ६।३।९०) इति इदम ईश् । शित्वात् सर्वादेशः । कञः कित्वाद् गुणाभावः ॥ १ ॥

स्कन्दः—ऐन्द्रावरुणमुत्तरम् । उत्तरं सूक्तमैन्द्रावरुणम् । इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोः सम्यग्दीप्तयोः स्वभूतम् अवः । अवः पालनम् । आवृणे प्रार्थये । एतद् ज्ञात्वा ता तौ नः अस्मान् मृळातः । 'मृड सुखने' । लोडर्थे पञ्चमो लकारः । अवस्सम्पादनेन सुखयतः । ईदृशे प्रार्थनाविशेषे । वर्तमानान् इति शेषः ॥ १ ॥

१६९ गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः ।
धर्तारा चर्षणीनाम् ॥ २ ॥

गन्तारा । हि । स्थः । अवसे । हवम् । विप्रस्य । माऽवतः ।
धर्तारा । चर्षणीनाम् ॥ २ ॥

For you are ever ready, guardians of mankind, to grant protection on the appeal of a minister such as I am.

[हे इन्द्र और वरुण-देवता ! आप दोनों] (चर्षणीनां) मानवों के (धर्तारौ) संरक्षक हैं, [अतः अनुष्ठान करनेवाले की] (अवसे) रक्षा के लिए (मावतः) मेरे सदृश (विप्रस्य) ब्राह्मण ऋत्विज के (हवं) आह्वान पर (गन्तारा) जाने को प्रस्तुत (स्थः हि) रहते ही हैं ॥ २ ॥

सायणः—हे इन्द्रावरुणौ अवसे अवितुमनुष्ठातारं रक्षितुं मावतः मद्विधस्य विप्रस्य ब्राह्मणर्त्विजः हवम् आह्वानं गन्तारौ स्थः हि प्राप्तिशीलौ भवथः खलु । कीदृशौ । चर्षणीनां मनुष्याणां धर्तारौ । योगक्षेमसम्पादनेन धारयितारौ ॥ गन्तारा । गमेस्ताच्छील्ये तृन् । द्विवचनस्य 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिना आकारादेशः । 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० ७।४।१६) 'अप्तृन्०' (पा० ६।४।११) इत्यादिना उपधादीर्घत्वम् । आद्युदात्तत्वम् । स्थः । 'अस भुवि' । लट्मध्यमपुरुषद्विवचनं थस् । 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक् । 'हि च' इति निघातप्रतिषेधः । अवसे; 'अव रक्षणे' । 'तुमर्थे सेसेन्०' (पा० ३।४।९) इति असेन् । हवम् । ह्वेञो 'बहुलं छन्दसि' इत्यनैमित्तिके सम्प्रसारणे परपूर्वत्वे च 'ऋदोरप्' इति अप् । गुणावादेशौ । विप्रस्य । 'डुवप् बीजसन्ताने' 'वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्' (पा० ५।२।३९ वा.)। वतुप् । प्रत्ययोत्तरपदयोः अस्मदो मपर्यन्तस्य मादेशः (पा० ७।२।९८)। 'आ सर्वनाम्नः' (पा० ६।३।९१) इति दकारस्य आकारः । सवर्णदीर्घः । धर्तारा । 'धृञ् धारणे' । 'ण्वुल्तृचौ' (पा० ३।१।१३३) इति तृच् । 'एकाच उपदेशे०' इति इट्प्रतिषेधः । गुणो रपरत्वम् । 'अप्तृन्०' इत्यादिना उपधादीर्घः । 'सुपां सुलुक्०' इति आकारः । चर्षणीनाम् । 'कृषेरादेश्च चः' (उ० २। २६१) इति अनिप्रत्ययः । तत्सन्नियोगेन ककारस्य चकारः । प्रत्ययाद्युदात्तत्वं बाधित्वा छान्दसमन्तोदात्तत्वम् । अत एव 'नामन्यतरस्याम्' इति विभक्तेरु-

दात्तत्वम् । तत्र हि मतुपि यो ह्रस्वान्तः तत उत्तरस्य नाम उदात्तत्वमिति व्याख्यातम् ॥ २ ॥

स्कन्दः—हीति पदपूरणः । गन्तारा गमनशीलौ युवां स्थः अवसे पालनाय हवम् आह्वानं विप्रस्य मेधाविनः मावतः मत्सदृशस्य । धर्तारौ धारयितारौ च तैस्तैरुपकारैश्चर्षणीनां मनुष्याणाम् ॥ २ ॥

१७० अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ ।
ता वां नेदिष्ठमीमहे ॥ ३ ॥

अनुऽकामम् । तर्पयेथाम् । इन्द्रावरुणा । रायः । आ ।
ता । वाम् । नेदिष्ठम् । ईमहे ॥ ३ ॥

Satisfy us with wealth, Indra and Varuṇa, according to our desires : we desire you ever near us.

(इन्द्रावरुण) हे इन्द्र और वरुण देवता ! (अनुकामं) हमारी इच्छा उत्पन्न होते ही [समय-समय पर हमें] (रायः) धन देकर (आतर्पयेथाम्) सब तरह से तृप्त करते रहें । (ता) उपर्युक्त रूप में (वां) आप दोनों (नेदिष्ठम्) निकटतम रहें—(ईमहे) हम यही माँगते हैं ॥ ३ ॥

सायणः—इन्द्रावरुणा हे इन्द्रावरुणौ अनुकामम् अस्मदीयाभिलापमनु रायः धनस्य प्रदानेन आ तर्पयेथां सर्वतोऽस्मांस्तृप्तान् कुरुतम् । वयं यदा यदा धनं कामयामहे तदा तदा प्रयच्छतमित्यर्थः । ता वां तादृशौ युवां नेदिष्ठम् अतिशयेन सामीप्यं यथा भवति तथा ईमहे याचामहे । कालविलम्बमन्तरेण धनं दातव्यमित्यर्थः । सप्तदशसु याच्ञाकर्मसु (निघ० ३।१९) 'ईमहे' इति पठितम् । अनुकामम् । कामस्य पश्चात् अनुकामम् । अथवा कामे कामे अनुकामम् । अनुः इह पश्चादर्थे अथवा वीप्सालक्षणे यथार्थे । योग्यता वीप्सा पदार्थानतिवृत्तिः सादृश्यं चेति चत्वारो हि यथार्था गृहीताः । 'अव्ययं विभक्ति०' (पा० २।१।६) इत्यादिना अव्ययीभावसमासः । 'अव्ययीभावश्च' (पा० १।१।४१) इति अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' (पा० २।४।८२) इति प्राप्तस्य लुकोऽपवादो 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः' (पा० २।४।८३) इति विभक्तेः अमादेशः । तर्पयेथाम् । तृपेर्ण्यन्तात् लोटो 'णिचश्च' (पा० १।३।७४) इत्यात्मनेपदम् । मध्यमद्विवचनम् आथाम् । टेः एत्वे 'आमेतः' (पा० ३।४।९०) इति आमादेशः । शपि सति 'अतो येयः' (पा० ७।२।८०) इति आकारस्य इयादेशः [वस्तुतस्तु 'आतो ङितः' (पा० ७।२।८१) इत्यनेनैव इयादेशो भवति]। आद्गुणो यलोपश्च । इन्द्रावरुणा । 'सुपां सुलुक्०' इति द्विवचनस्य आकारः । संहितायां आकारस्य ह्रस्वत्वम् । रायः । 'ऊडिदम्०' इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् । ता ।

'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेः आकारः। पदात्परत्वात् युवामित्यस्य वामादेशोऽनुदात्तः। नेदिष्ठम्। अतिशयेन अन्तिकम्। अतिशायने इष्ठन्। 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' (पा० ५।३।६३) इति नेदादेशः। 'यस्य०' इति लोपः। ईमहे। 'ईङ् गतौ'। ङित्वादात्मनेपदम्। 'बहुलं छन्दसि' इति श्यनो लुक्। निघातः ॥३॥

स्कन्दः—अन्विति पश्चादर्थे। सोमस्य च पश्चादनुकामं कामयित्वा तत्पानानन्तरमित्यर्थः। अथवा अनुशब्दो वीप्सायां कर्मप्रवचनीयः। कामं काममनु अनुकामं, यदा यदा वयं कामयामहे तदा तदेत्यर्थः। तर्पयेथामस्मान्। हे इन्द्रावरुण, द्विवचनादेशाकारस्येदं सांहितं ह्रस्वत्वम्। इन्द्रावरुणौ। केन। रायः। तृतीयार्थे वा षष्ठीयम्। षष्ठीश्रुतेर्वा एकदेशेनेति शेषः। धनेन, धनस्य वात्मीयस्यैकदेशेन। आकारस्तु पदपूरणः। ता रायो = धनेन तर्पणं प्रार्थितवन्तो वयं तौ वां युवां नेदिष्ठम् इष्टत्वात् यत् सन्निकृष्टं युवयोर्धनं तत् ईमहे याचामहे न यत् किञ्चित् ॥ ३ ॥

१७१ युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्।
भूयाम वाजदाव्नाम् ॥ ४ ॥

युवाकु। हि। शचीनाम्। युवाकु। सुऽमतीनाम्।
भूयाम। वाजऽदाव्नाम् ॥ ४ ॥

The mingled (libations) of our pious rites, the mingled (laudations) of our right-minded (priests, are prepared); may we be (included) among the givers of food.

(हि) चूँकि (शुचीनां) हमारे यागकर्मों से संबद्ध [हवि] (युवाकु) जल या द्रव्यान्तर से मिश्रित है, (सुमतीनां) सुन्दर बुद्धिवाले स्तोत्रपाठकों का [वचन भी] (युवाकु) विभिन्न स्तुत्यगुणों से मिश्रित है [अतः आप दोनों—इन्द्र-वरुण—के प्रसाद से हमलोग] (वाजदाव्नां) अन्न देनेवाले पुरुषों में [मुख्य] (भूयाम) हो जायँ ॥ ४ ॥

सायणः—हि यस्मात् कारणात् शचीनाम् अस्मदीयकर्मणां सम्बन्धि सोमरूपं हविः युवाकु वसतीवर्यैकधनात्मकैरुदकैः पयःसक्त्वादिद्रव्यान्तरैश्च मिश्रितम्। तथा सुमतीनां शोभनबुद्धियुक्तानामृत्विजां स्तोत्ररूपं वचनमपि युवाकु नानाविधैः स्तुत्यगुणैर्मिश्रितम्। तस्मात् कारणात् हे इन्द्रावरुणौ तथाविधं हविः स्वीकुर्वतोर्युवयोः प्रसादात् वयं वाजदाव्नाम् अन्नप्रदानां पुरुषाणां मध्ये मुख्या भूयाम भवेम। 'अपः अप्नः' इत्यादिषु षड्विंशतिसंख्याकेषु कर्मनामसु 'शची शमी' (निघ० २।१।१२) इति पठितम् ॥ युवाकु। 'यु मिश्रणे'। 'कटिकुषिभ्यां काकुः' (उ० ३।३५७) इत्यत्र बाहुलकात् यौतेरपि काकुः

प्रत्ययः। कित्वेन गुणाभावात् उकारस्य उवङादेशः। 'शची'शब्दः केषांचिन्मते शार्ङ्गरवादिः। ङीनन्तो (पा० ४।१।७३) नित्वात् 'आद्युदात्तः' इति 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' इत्यत्र वृत्तिकृतोक्तम् (काशि० ६।२।१४०)। सुमतीनाम्। 'विद्याम सुमतीनाम्' (ऋ० सं० १।४।३) इत्यत्रोक्तम्। भूयाम। प्रार्थनायां लिङ्। उत्तमबहुवचने 'नित्यं ङितः' इति सकारलोपः। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (पा० ३।४।१०३) इति उदात्तो यासुडागमः। 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (पा० ७।२।७९) इति सकारलोपः। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्। वाजदाव्नाम्। वाजं ददतीति वाजदावानः। 'आतो मनिन्०' (पा० ३।२।७४) इत्यादिना वनिप्। आमि 'अल्लोपोऽनः' (पा० ६।४।१३४) इति अकारलोपः। तस्य 'अचः परस्मिन्०' (पा० १।१।५७) इति स्थानिवद्भावात् 'लोपो व्योर्वलि' (पा० ६।१।६६) इति वकारलोपो न भवति ॥ ४ ॥

स्कन्दः—हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्माद् युवाकु। युवां कामयत इति युवाकु, युष्मत्पानकाममित्यर्थः। अथवा 'यु मिश्रणे'। मिश्रितं वसतीवर्यैकधनाभिरद्भिः श्रयणैर्वा। किं पुनस्तत्। सामर्थ्यात् सोमलक्षणं हविः। कस्य। शचीनाम्। शचीति कर्मनाम। सामर्थ्याद् वात्रान्तर्णीतमत्वर्थम्। यागकर्मवतामस्माकं स्वभूतम्। न च सोमलक्षणमेव हविः केवलम्। किं तर्हि। युवाकु युष्मत्कामं युष्मद्गुणमिश्रं वा युष्मत्सर्वगुणसंकीर्तनरूपमित्यर्थः। किं तत्। सामर्थ्यात् स्तुतिलक्षणं वचनम्। सुमतीनां, मतिः स्तुतिः मन्यतेरर्चतिकर्मत्वात् सुस्तुतीनामस्माकं स्वभूतम्। अथवा द्वावपि युवाकुशब्दौ सोमविषयावेव। मिश्रणार्थ एकः, युष्मत्पानकाममित्येवमर्थोऽपरः। अथवा एवमन्यथा अस्यार्धर्चस्य अर्थयोजना—'युवाकु' इति बहुवचनस्य स्थाने एकवचनम्। शचीनां सुमतीनामित्यपि तृतीयार्थे षष्ठी। यस्माद् युष्मत्कामाः कर्मभिः शोभनाभिश्च स्तुतिभिः वयम्। यस्मादिति वचनात् तस्माच्छब्दोऽध्याहार्यः। भूयाम वाजदाव्नाम्। भावेऽयं वनिर्द्रष्टव्यः। अन्नदानानाम्। षष्ठीश्रुतेर्लब्धारः कर्तारो वेति वाक्यशेषः ॥ ४ ॥

१७२ इन्द्रः॑ सहस्र॒दाव्नां॒ वरु॑णः॒ शंस्या॑नाम्।
क्रतु॑र्भवत्यु॒क्थ्यः॑ ॥ ५ ॥

इन्द्रः॑। स॒ह॒स्र॒ऽदाव्ना॑म्। वरु॑णः। शंस्या॑नाम्।
क्रतुः॑। भ॒व॒ति॒। उ॒क्थ्यः॑ ॥ ५ ॥

Indra is a giver among the givers of thousands; Varuna is to be praised among those who deserve laudation.

(इन्द्रः) इन्द्र-देवता (सहस्रदाव्नां) हजारों-हजार देनेवाले लोगों में भी (क्रतुः) दाता, दानकर्ता [के रूप में प्रसिद्ध]; (वरुणः) वरुण-देवता (शंस्यानां) प्रशंस्य लोगों में भी (उक्थ्यः) प्रशंसा के पात्र हैं। [इन्द्र सर्वाधिक दाता और वरुण सर्वाधिक स्तुत्य हैं।] ॥ ५ ॥

सायणः—अयम् इन्द्रः सहस्रदाव्नां सहस्रसंख्याकधनप्रदानां मध्ये क्रतुः धनदानस्य कर्ता भवति प्रभूतं ददातीत्यर्थः। तथा वरुणः शंस्यानां मध्ये उक्थ्यः स्तुत्यो भवति अतिशयेन स्तुत्य इत्यर्थः ॥ वरुणः। उनन्प्रत्ययो नित्त्वादाद्युदात्तः। शंस्यानाम्। 'शंसु स्तुतौ'। 'ऋहलोर्ण्यत्'। क्रतुः। 'कृञः कतुः' (उ० १।७७) इति कतुः। कित्त्वाद् गुणाभावे यणादेशः। उक्थ्यः। उक्थं शस्त्रम्। तेन स्तुत्यत्वेन तत्र भवः उक्थ्यः। 'भवे छन्दसि' (पा० ४।४।११०) इति यत्। 'यस्य' इति लोपः। 'तित्स्वरितम्' ।······॥ ५ ॥

स्कन्दः—इन्द्रः सहस्रदाव्नां सहस्रसंख्याकदानानां वरुणः शंस्यानां स्तुत्यानामत्यन्तोत्कृष्टानां क्रतुः कर्ता भवति। स्तोतृभ्यः प्रभूतानि धनानि ददातीत्यर्थः। कीदृशः। उक्थ्यः। प्रशस्यनामैतद् वक्तव्यम्। प्रशस्यः ॥ ५ ॥

१७३ तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि।
स्यादुत प्ररेचनम् ॥ ६ ॥

तयोः। इत्। अवसा। वयम्। सनेम। नि च। धीमहि।
स्यात्। उत। प्रऽरेचनम् ॥ ६ ॥

Through their protection, we enjoy (riches) and heep them up, and still there is abundance.

(तयोः इत्) उन दोनों इन्द्र और वरुण की ही (अवसा) रक्षा-विधि से (वयं) हमलोग [धन-राशि का] (सनेम) उपभोग करें (निधीमहि च) और निधि के रूप में बचा भी लें; (उत) फिर भी (प्ररेचनं) बहुत धन अवशिष्ट (स्यात्) रहे ॥ ६ ॥

सायणः—तयोरित् पूर्वोक्तयोरिन्द्रावरुणयोरेव अवसा रक्षणेन वयम् अनुष्ठातारः सनेम संभजेम धनमिति शेषः। नि धीमहि च। प्राप्ते धने यावदपेक्षितं तावद् भुक्त्वा ततोऽवशिष्टं धनं क्वचिन्निधिरूपेण स्थापयामश्च। उत अपि च प्ररेचनं भुक्ताद्विहिताच्च प्रकर्षेणाधिकं धनं स्यात् संपद्यताम् ॥ अवसा। असुन्नाद्युदात्तः। वयम्। 'यूयं हि ष्ठा' (ऋ० सं० १।१५।२) इत्यत्र यदुक्तं तदत्र द्रष्टव्यम्। सनेम। आशिषि लिङ्। तस्य मस्। 'नित्यं ङितः' इति सकारलोपः। 'किदाशिषि' (पा० ३।४।१०४) इति यासुट्। 'छन्दस्यु-

भयथा' इति सार्वधातुकत्वमप्यस्तीति 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (पा० ७।२।७९) इति सकारलोपः। 'अतो येयः' (पा० ७।२।८०) इति इयादेशः। 'लोपो व्योर्वलि' (पा० ६।१।६६) इति यलोपः। 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० ३।१।८६) इति अङ्। 'आद्गुणः'। धीमहि। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' आशिषि लिङो महिङ्। तस्य 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकार्धधातुकसंज्ञे। तत्र सार्वधातुकत्वेन 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सकारलोपः। 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वं शप् च। 'बहुलं छन्दसि' इति जुहोत्यादेरपि शपो लुक्। आर्धधातुकत्वात् 'आतो लोप इटि च' (पा० ६।४।६४) इति आकारलोपः। निघातः। सनेम इत्यपेक्षया द्वितीयत्वादत्र 'चवायोगे प्रथमा' इति न निषेधः। स्यात्। अस्तेः प्रार्थनायां लिङ्। तिप्। 'इतश्च' (पा० ३।४।१००) इति इकारलोपः। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (पा० ३।४।१०३) इति यासुड्ङित्वे। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक्। 'श्नसोरल्लोपः' इति अकारलोपः। पादादित्वात् अनिघातः। प्ररेचनम्। 'रिचिर् विरेचने'। भावे ल्युट्। योरनादेशः। प्रादिसमासः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ६ ॥

स्कन्दः—इदिति पदपूरणः। तयोरिन्द्रावरुणयोः। अवसा। 'हेतौ' (पा० २।३।२३) इति तृतीया। तर्पणेन पालनेन वा हेतुना ताभ्यां तर्प्यमाणाः पाल्यमाना वेत्यर्थः। सनेम संभजेमहि। किम्। सामर्थ्याद् धनम्। निधीमहि च उपभोगातिरिक्तं च निखाय स्थापयेमेत्यर्थः। स्यादुत प्ररेचनम्। उतेत्यप्यर्थे। प्रकर्षेण यदतिरिच्यते तत्प्ररेचनम्। उपभोगानिधानाच्चातिरिक्तमपि स्यादित्यर्थः ॥ ६ ॥

१७४ इन्द्रा॑वरुण वा॒मह॒ं हु॑वे चि॒त्राय॑ राध॑से ।
अ॒स्मान्त्सु जि॒ग्युष॑स्कृतम् ॥ ७ ॥
इन्द्रा॑वरुणा । वा॒म् । अ॒ह॒म् । हु॒वे । चि॒त्राय॑ । राध॑से ।
अ॒स्मान् । सु । जि॒ग्युष॑ः । कृ॒तम् ॥ ७ ॥

I invoke you both, Indra and Varuna, for manifold opulence : moke us victorious (over our enemies).

(इन्द्रावरुणा) हे इन्द्र और वरुण ! (चित्राय) विभिन्न प्रकार के (राधसे) धन के लिए (अहं) मैं (वां) आप दोनों को (हुवे) पुकारता हूँ; (अस्मान्) हम लोगों को (सुजिग्युषः) शत्रुओं पर अच्छी तरह विजय प्राप्त करनेवाली (कृतम्) बना दीजिये ॥ ७ ॥

सायणः—इन्द्रावरुणा हे इन्द्रावरुणौ वां युवामुभौ अहं हुवे आह्वयामि।

किमर्थम् । चित्राय मणिमुक्तादिरूपेण विविधाय राधसे धनाय । तत आहुतौ युवाम् अस्मान् अनुष्ठातॄन् सु जिग्युषः शत्रुविषये सुष्ठु जययुक्तान् कृतं कुरुतम् ॥ इन्द्रावरुणा । 'सुपां सुलुक्०' इत्यादिना संबोधनस्य आकारः । 'देवताद्वन्द्वे च' इति पूर्वपदस्य आनङ् । संहितायां छान्दसं ह्रस्वत्वम् । हुवे । ह्वयतेः लडुत्तमैकवचनम् इट् । 'शपः' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' इति लुक् । 'ह्वः' इत्यनुवृत्तौ 'बहुलं छन्दसि' इति संप्रसारणं परपूर्वत्वम् । 'अचि श्नुधातु०' (पा० ६।४।७७) इत्यादिना उवङ् । न च 'हुश्नुवोः०' (पा० ६।४।८७) इत्यादिना यणादेशः । जुहोतेरेव हि प्रतिपदोक्तस्य तत्, न पुनरस्य लाक्षणिकत्वात् । राधसे । असुन् । अस्मान् । शसि 'द्वितीयायां च' (पा० ७।२।८७) इति आत्वम् । 'शसो न' (पा० ७।१।२९) इति नत्वम् । जिग्युषः । 'जि जये' । लिटः 'क्वसुश्च' (पा० ३।२।१०७) इति क्वसुः । द्विर्भावः । 'सन्लिटोर्जेः' (पा० ७।३।५७) इति द्वितीयस्य कुत्वम् । क्वसोः कित्वाद् गुणाभावः । क्रादिनियमात् प्राप्तस्य इटः 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति नियमेन निवृत्तिः । द्वितीयाबहुवचनं शस् । भसंज्ञायां 'वसोः संप्रसारणाम्' इति संप्रसारणम् । परपूर्वत्वम् । 'एरनेकाचः०' इति यणादेशः । 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् । कृतम् । 'डुकृञ् करणे' । लोण्मध्यमद्विवचनस्य लङ्वद्भावात् तमादेशः । शपः 'बहुलं छन्दसि' इति लुक् । निघातः ॥ ७ ॥

स्कन्दः—हे इन्द्रावरुणौ वामहं हुवे । किमर्थम् । चित्राय राधसे चित्रस्य धनस्य अर्थाय । चित्रं धनं मह्यं दत्तमित्यर्थः । किंच अस्मान् सुजिग्युषः सुष्ठु जितवतः शत्रून् कृतं कुरुतम् । अस्मच्छत्रूनप्यस्माभिर्जापयतमित्यर्थः ॥ ७ ॥

१७५ इन्द्रा॑वरुण॒ नू नु वां॒ सिषा॑सन्तीषु धी॒ष्वा ।
अ॒स्मभ्यं॒ शर्म॑ यच्छतम् ॥ ८ ॥

इन्द्रा॑वरुणा । नु । नु । वाम् । सिसा॑सन्तीषु । धी॒षु । आ ।
अ॒स्मभ्य॑म् । शर्म॑ । य॒च्छ॒तम् ॥ ८ ॥

Indra and Varuna, quickly bestow happiness upon us, for our minds are devoted to you both.

(इन्द्रावरुणा) हे इन्द्र और वरुण, (धीषु) हमारी बुद्धियाँ (वां) आप दोनों की (सिसासन्तीषु) अच्छी तरह सेवा करने की कामना करती हैं, अतः (आ) सभी तरह (अस्मभ्यं) हम लोगों को (नु नु) अत्यन्त शीघ्रता से (शर्म) सुख, सुखद पदार्थ (यच्छतम्) दीजिये ॥ ८ ॥

सायणः—इन्द्रावरुणा हे इन्द्रावरुणौ धीषु अस्मदीयबुद्धिषु वां युवां

सिषासन्तीषु सनितुं संभक्तुं सम्यक् सेवितुमिच्छन्तीषु तदानीम् आ समन्तात् अस्मभ्यं शर्म सुखं नू नु अतिशयेन क्षिप्रं यच्छतं दत्तम् । षड्विंशतिसंख्याकेषु क्षिप्रनामसु (निघ० २।१५) 'नु मक्षु' इति पठितम् । तस्य द्विरावृत्तिबलाद्-तिशयो लभ्यते । इन्द्रावरुणा । उक्तम् । नु । 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' इति पूर्वस्य दीर्घत्वम् । सिषासन्तीषु । 'वन षण संभक्तौ' । 'धात्वादेः षः सः' । इच्छायां सन् । द्विर्भावो हलादिशेषः । 'सन्यतः' इति इत्वम् । 'आदेशप्रत्ययोः' इति षत्वम् । 'सनीवन्त०' (पा० ७।२।४९) इत्यादिना विकल्पात् इडभावः । 'जनसनखनां सञ्झलोः' (पा० ६।४।४२) इति नकारस्य आकारः । उपरि लटः शतृ । कर्तरि शप् । 'उगितश्च' (पा० ४।१।६) इति ङीप् । 'शप्श्यनोर्नित्यम्' (पा० ७।१।८१) इति नुम् । ङीपः शपश्च पित्वात् शतुश्च लसार्वधातुकत्वेनानुदात्तत्वम् । सनो नित्वात् आद्युदात्तत्वम् । तदेव शिष्यते । अस्मभ्यम् । 'अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः' (ऋ० सं० १।७।६) इत्यत्रोक्तम् । यच्छतम् । 'दाण् दाने' । शपि 'पाघ्रा०' इत्यादिना यच्छादेशः ॥

स्कन्दः—नुशब्दयोर्द्वयोरेकः क्षिप्रनाम, पदपूरणोऽपरः । हे इन्द्रावरुणौ ! क्षिप्रं वां युवां सिसासन्तीषु संभक्तुकामासु धीष्वा । आकारः पदपूरणः । कर्मसु । सप्तमीनिर्देशात् 'वर्तमानेभ्यः' इति वाक्यशेषः । युष्मद्देवत्यानि कर्माण्यनुतिष्ठद्भ्यः इत्यर्थः । केभ्यः । अस्मभ्यम् । शर्म गृहं सुखं वा यच्छतं दत्तम् ॥ ८ ॥

१७६ प्र वामश्नोतु सुष्टुतिरिन्द्रावरुण यां हुवे ।
यामृधाथे सधस्तुतिम् ॥ ९ ॥

प्र । वाम् । अश्नोतु । सुऽस्तुतिः इन्द्रावरुण । याम् । हुवे ।
याम् । ऋधाथे इति । सधऽस्तुतिम् ॥ ९ ॥

May the earnest praise which I offer to Indra and Varuna reach you both,—that conjoint praise which you (accepting), dignify.

(इन्द्रावरुण) हे इन्द्र और वरुण देवता ! (यां) जिस स्तुति की ओर (हुवे) आप दोनों को मैं बुलाता हूँ, तथा (सधस्तुतिं) आपकी साथ-साथ स्तुति होने वाली (याम्) जिस (सुस्तुति) को पाकर (ऋधाथे). आप दोनों बढ़ते हैं, (सुष्टुतिः) वही सुन्दर स्तुति, ऋक्समूह (वाम्) आप दोनों को (प्र अश्नोतु) पूर्णतया व्याप्त कर ले ॥ ९ ॥

सायण :—इन्द्रावरुणा हे इन्द्रावरुणौ याम् अस्मत्कर्तृकां शोभनस्तुतिं

प्रति हुवे युवामुभौ आह्वयामि। किं च सधस्तुतिं युवयोरुभयोः साहित्येन क्रियमाणायाः स्तवक्रियायाः सुष्टुतिं प्रतिलभ्य ऋधाथे युवां वर्धाथे तादृशी सुष्टुतिः शोभनस्तुतिहेतुभूतः ऋक्समूहः वामश्नोतु युवां व्याप्नोतु ॥ अश्नोतु, 'अशू व्याप्तौ'। लोटो व्यत्ययेन तिप्। 'स्वादिभ्यः श्नुः'। सुष्टुतिः। 'न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्' (ऋ० सं० १।७।७) इत्यत्रोक्तम्। इन्द्रावरुणा हुवे। उक्ते। अत्र तु यद्वृत्तयोगात् अनिघातः। ऋधाथे। 'ऋधु वृद्धौ'। लट्। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। मध्यमद्विवचने श्नोः 'बहुलं छन्दसि'। इति लुक्। प्रत्ययस्वरेण आकार उदात्तः। यच्छब्दयोगात् न निघातः सधस्तुतिम्। सह स्तुतिर्यस्यां सुष्टुतौ सा सधस्तुतिः। अत्र सुष्टुतिरित्यन्यपदार्थे स्तुतिशब्दस्य स्तूयतेऽनयेति करणसाधनत्वेन ऋक्परत्वेऽयं स्तुतिशब्दो भावसाधनतया स्तवनक्रियापरः। तस्मिन् भावसाधनत्वेन क्रियापरे अयं करणसाधनतया ऋक्पर इति समस्यमानपदार्थान्वयः। सहेत्यत्र हकारस्य व्यत्ययेन धकारः। 'सहशब्दः एवमादित्वादन्तोदात्तः। बहुव्रीहित्वेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ९ ॥

स्कन्द :—प्र वामश्नोतु प्रकर्षेण युवां व्याप्नोतु सुष्टुतिः शोभना स्तुतिः। हे इन्द्रावरुणौ ! यां हुवे। यामिति द्वितीयानिर्देशात् प्रतीति वाक्यशेषः। तृतीयार्थे वा द्वितीया। यां प्रति यया वा युवामाह्वयामि। यां च ऋधाथे वर्धयथः यो यो निजस्तुतेः फलं साधयति स तां पुनः पुनः कारयति वर्धयति। कीदृशम्। सधस्तुतिं, सह हूतयोर्युवयोः स्तुतिम्। अथवा सधस्तुतिमिति तृतीयार्थे द्वितीया। यया सहस्तुत्या वर्धेथे इत्यर्थः। स्तूयमाना हि देवता वीर्येण वर्धन्ते ॥ ९ ॥

(१८) अष्टादशं सूक्तम्

काण्वो मेधातिथिः ऋषिः। गायत्री छन्दः। ब्रह्मणस्पतिः (१–५), सदसस्पतिः (६–८), नराशंसो वा (९) देवताः।

१७७ सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ १ ॥

सोमानम्। स्वरणम्। कृणुहि। ब्रह्मणः। पते।
कक्षीवन्ताम्। यः। औशिजः ॥ १ ॥

Brahmaṇaspati, make the offerer of the libation illustrious among the gods, like Kakṣivat, the son of Uśij.

(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मणस्पति-देवता ! (सोमानं) अभिषवन करनेवाले को (स्वरणं) देवताओं में चमकने वाला अर्थात् प्रथम (कृणुहि) बना दीजिये, (कक्षीवन्तम्–इव) उस कक्षीवान् नामक ऋषि की तरह, (यः) जो (औशिजः) उशिज् के पुत्र हैं।

सायणः—हे ब्रह्मणस्पते एतन्नामकदेव सोमानम् अभिषवस्य कर्तारं स्वरणं देवेषु प्रकाशनवन्तं कृणुहि कुरु। अत्र दृष्टान्तः। कक्षीवन्तम् एतन्नामकमृषिम्। इवशब्दोऽत्राध्याहर्तव्यः। कक्षीवान् यथा देवेषु प्रसिद्धस्तद्वत् इत्यर्थः। यः कक्षीवानृषिः औशिजः उशिजः पुत्रः। तमिवेति पूर्वत्र योजना। कक्षीवतोऽनुष्ठातृषु मुनिषु प्रसिद्धस्तैत्तिरीयैराम्नायते—'एतं वै पर आट्णार कक्षीवाँ औशिजो वीतहव्यः श्रायसस्त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः प्रजाकामा अचिन्वत' (तै०सं०५।६।५।३) इति। ऋगन्तरेऽपि ऋषित्वकथनेन अनुष्ठातृत्वप्रसिद्धिः सूच्यते—'अहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः' (ऋ० सं० ४।२६।१) इति। तस्मात् अस्यानुष्ठातारं प्रति दृष्टान्तत्वं युक्तम्। सोऽयं मन्त्रो यास्केनैवं व्याख्यातः—'सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिजः उशिजः पुत्रः। उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः। अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात। तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते' (नि० ६।१०) इति। अस्मिन्मन्त्रे सोमानमिति पादेन कृणुहि ब्रह्मण इति पादेन च सूचितं तात्पर्यं तैत्तिरीया आमनन्ति—सोमानं स्वरणमित्याह सोमपीथमेवाव रुन्धे। कृणुहि ब्रह्मणस्पत इत्याह ब्रह्मवर्चसमेवाव रुन्धे' (तै० सं० १।५।८।४) इति ॥ सोमानम्। 'षुञ् अभिषवे' (धा० स्वा०)। सुनोतीति। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते'

इति मनिन्। दृशिग्रहणस्य विध्यन्तरोपसंग्रहार्थत्वात् नित्वेऽपि नाद्युदात्तत्वं किंतु प्रत्ययस्वर एव। उञ्छादिषु (पा० ६।१।१६०) वा सोमन्शब्दो द्रष्टव्यः। बहुलग्रहणात् औणादिको वा मनिन्द्रष्टव्यः। स्वरणं प्रख्यातम्। 'स्वृ शब्दोपतापयोः'। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० ३।३।११३) इति कर्मणि ल्युट्। कृणुहि। 'कृवि हिंसाकरणयोश्च'। 'इदितो नुम् धातोः' (पा०७।१।५८) इति नुम्। लोटः सिपो हिः। शपि प्राप्ते 'धिन्विकृण्वोर च' इति उप्रत्ययः, तत्संनियोगेन वकारस्य च अकारः। तस्य 'अतो लोपः' इति लोपः। तस्य स्थानिवद्भावात् न पूर्वस्य लघूपधगुणः। हेर्ङित्वात् उकारस्य न गुणः। 'उतश्च प्रत्ययाच्छन्दोवावचनम्' (पा० ६।४।१०६ वा०) इति हेर्लुक् न। ब्रह्मणः। 'षष्ठ्याः पतिपुत्र०' (पा० ८।३।५३) इत्यादिना विसर्जनीयस्य सकारः। कक्षीवन्तम्। कक्षे भवा कक्ष्या अश्वोदरसंबन्धिनी रज्जुः। 'भवे छन्दसि' (पा० ४।४।११०) इति यप्रत्ययः। सा अस्यास्तीत्यर्थे 'आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवत्०' (पा० ८।२।१२) इति ऋषिविशेषनाम कक्षीवच्छब्दो निपातितः। 'छन्दसीरः' (पा० ८।२।१५) इति वत्वम्। औशिजः। 'वश कान्तौ'। 'इजि' (उ० २।२२८) इत्यनुवृत्तौ 'वशेः किच्च' (उ० २।२२९) इति इजिप्रत्ययः। तस्य कित्वात् 'ग्रहिज्या०' (पा० ६।१।१६) इत्यादिना संप्रसारणं, परपूर्वत्वे गुणाभावः। 'तस्यापत्यम्' (पा० ४।१।९२) इति 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (पा० ४।१।८३)। आदिवृद्धिः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

स्कन्दः—सोमानमिति चाद्या याः पञ्च ता ब्रह्मणस्पतेः। सोमानं 'षुञ् अभिषवे' अभिषोतारम्। कस्य। सामर्थ्यात् सोमस्य नः। स्वरणं 'स्वृ शब्दोपतापयोः' शब्दयितारम् अर्चयितारं च। कस्य। सामर्थ्यात् स्तुतीनाम्। यष्टारं स्तोतारं चेत्यर्थः। कृणुहि कुरु मां धनप्रदानेन। अथवा सर्वत्र यः शब्द्यते स स्वरणः प्रकाश इत्यर्थः। अभिषोतारं मां स्वरणं देवमनुष्येषु प्रकाशं कुरु। हे ब्रह्मणस्पते। कमिव। उच्यते कक्षीवन्तं, लुप्तोपममेतद् द्रष्टव्यम् कक्षीवन्तमिव ऋषिम्। कतमोऽयं कक्षीवान्। उच्यते। य औशिज उशिक्पुत्रः॥ १॥

१७८ यो रे॒वान्यो अ॑मीव॒हा व॑सु॒वित्पु॑ष्टि॒वर्ध॑नः।
स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः॥ २॥

यः। रे॒वान्। यः। अ॒मी॒व॒ऽहा। व॒सु॒ऽवित्। पु॒ष्टि॒ऽवर्ध॑नः।
सः। न॒ः। सि॒ष॒क्तु॒। यः। तु॒रः॥ २॥

May he who is opulent, the healer of disease, the acquirer of riches, the augmenter of nourishment, the prompt (bestower of rewards), be favourable to us.

(यः) जो ब्रह्मणस्पति (रेवान्) धनवान् हैं, (यः) जो (अमीवहा) रोगों के विनाशक, (वसुवित्) संपत्ति प्राप्त करनेवाले तथा (पुष्टिवर्धनः) पोषण की वृद्धि करनेवाले हैं; (सः) जो (तुरः) शीघ्र फल देनेवाले है, (सः) वे (नः) हमारी (सिषक्तु) सेवा करें ॥ १२ ॥

सायणः— यः ब्रह्मणस्पतिः रेवान् धनवान् यः च अमीवहा रोगाणां हन्ता वसुवित् धनलब्धा पुष्टिवर्धनः पुष्टेर्वर्धयिता यः चतुरः त्वरोपेतः शीघ्रफलदः सः ब्रह्मणस्पतिः नः अस्मान् सिषक्तु सेवताम्। परिगृह्णात्वनुगृह्णात्वित्यर्थः। अत्र सिषक्तुशब्दस्य सेवार्थत्वं यास्क आह—'सिषक्तु सचत' इति सेवमानस्य' (नि० ३।२१) प्रत्यायकौ शब्दाविति शेषः॥ रेवान्। रयिरस्यास्तीति मतुप्। 'रयेर्मतौ बहुलम्' (पा० ६।१।३७ वा०) इति यकारस्य संप्रसारणं परपूर्वत्वम्। 'छन्दसीरः' इति वत्वम्। 'आद्गुणः' ननु वत्वस्य असिद्धत्वात् बहिरङ्गत्वाच्च प्रागेव गुणे कृते इवर्णाभावान्न वत्वम्। न च 'अन्तादिवच्च' (पा० ६।१।८५) इति आदिवद्भावेन इवर्णसंपादनं, वर्णाश्रयविधौ तत्प्रतिषेधात्। अन्यथा खट्वाभिः इत्यत्र सवर्णदीर्घस्य अन्तवद्भावेन अकारत्वात् 'अतो भिस ऐस्' (पा० ७।१।९) इति ऐसादेशः स्यात्। न च निरवकाशत्वेन वत्वस्य अनवकाशत्वम्। 'अग्निवान्वै दर्भस्तम्बः' (तै० ब्रा० २।२।१।५), 'उप ब्रह्माणि हरिवः' (ऋ० १०।१०४।६) इत्यादौ अवकाशलाभात्। सत्यम्। अत्र गुणप्रवृत्तेः प्राक् इकारात्परो मतुप्। कदाचित् इवर्णात्परस्य मतुपः पश्चात् एकारादेशेन इवर्णाभावेऽपि भवति वत्वम् इति 'छन्दसीरः' इति सूत्रकृता विवक्षितम्। अमुनैवाभिप्रायेण 'हरिवः' इत्यादिकमुदाहृत्यापि अन्ते वृत्तिकृता 'आरेवान्' (काशि० ८।२।१५) इत्यप्युदाहृतम्। अमीवहा। 'अम रोगे' इत्येतस्मात् वन्प्रत्ययेन अमीवशब्दो निपातितः। तं हन्तीति 'बहुलं छन्दसि' (पा० ३।२।८८) इति क्विप्। वसुवित्। वसु विन्दतीति वसुवित्। 'क्विप् च' इति क्विप्। पुष्टिवर्धनः। वर्धयतेः नन्द्यादित्वात् (पा० ३।१।१३४) ल्युः। पुष्टेर्वर्धनः इति कर्मणि षष्ठ्या समासः। सिषक्तु। 'षच समवाये' लोटि 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७६) इति शपः श्लुः। 'श्लौ' इति द्वित्वे हलादिशेषे 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७८). इत्यभ्यासस्य अकारस्य इकारः। तुरः। 'तुर त्वरणे'। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'। प्रत्ययस्वरः।

स्कन्दः— यो ब्रह्मणस्पती रेवान् धनवान् यश्च अमीवहा हिंसितॄणां हन्ता वसुवित्। 'विदिर्लाभे'। अपूर्वाणामपि धनानां लब्धा। अथवा विन्दतिरत्र सामर्थ्यादन्तर्णीतण्यर्थः। धनानां लम्भयिता स्तोतृभ्यो दातेत्यर्थः। पुष्टिवर्धनः सर्वप्रकारायाः पुष्टेर्वर्धयिता। सः नः सिषक्तु सेवतां, यस्तुरः त्वरिता क्षिप्रकारीत्यर्थः। अथवा यो रेवान् इत्यादिभिः पुत्रं प्रति निर्दिश्यते। ब्रह्मणस्पतिप्रसादाद् धनवत्त्वादिगुणः पुत्रोऽस्मान् सचताम्, अस्माकं जायतामित्यर्थः ॥ २ ॥

१७९ मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य ।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३ ॥

मा । नः । शंसः । अररुषः । धूर्तिः । प्रणक् । मर्त्यस्य ।
रक्ष । नः । ब्रह्मणः । पते ॥ ३ ॥

Protect us Brahmaṇaspati, so that no calumnious censure of a malevolent man may reach us.

(अररुषः) उपद्रव मचाने के लिए हमारे पास आनेवाले (मर्त्यस्य) मानव शत्रु के (धूर्तिः) हिंसक, कष्टप्रद (शंसः) निन्दावाक्य (नः) हमारे पास (मा) न (प्रणक्) पहुँच सकें, (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मणस्पति देव ! (नः) हमारी [आप इस तरह ही] (रक्ष) रक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणः—अररुषः मर्त्यस्य उपद्रवं कर्तुमस्मत्समीपं प्राप्तस्य शत्रुरूपस्य मनुष्यस्य धूर्तिः हिंसकः शंसः शंसनम् । अधिक्षेप इत्यर्थः । तादृशो वाग्विशेषः नः अस्मान्मा प्रणक् मा संपृणक्तु । शत्रुणा प्रयुक्तोऽधिक्षेपः कदाचिदस्मान्मा प्राप्नोत्वित्यर्थः । तदर्थं हे ब्रह्मणस्पते नः अस्मान् रक्ष पालय । मा । निपातः । शंसनं शंसः । भावे घञ् । ञित्वादाद्युदात्तः । अररुषः । 'अर्तेररुः' (उ० ४।५१९) इति अन्तर्भावितण्यर्थात् 'ऋ गतौ' इत्यस्मात् अरुस् । गुणो रपरत्वम् । धूर्तिः । धुर्वी हिंसार्थः । 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इति क्तिच् । 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (पा० ७।२।९) इति इट्प्रतिषेधः । 'उपधायाश्च' (पा० ७।१।१०१) इति उपधादीर्घत्वम् । वलिलोपं बाधित्वा ऊठि प्राप्ते (पा० ६।४।१९) 'राल्लोपः' (पा० ६।४।२१) इति वकारलोपः । प्रणक् 'पृची संपर्के' । लङस्तिप् । 'इतश्च' इति इकारलोपः । हल्ङ्यादिलोपः । कुत्वम् । 'रुधादिभ्यः श्नम्' । तस्य 'व्यत्ययो बहुलम्' इति अडागमः । यणादेशः । अकारस्य आगमानुदात्तत्वं बाधित्वा व्यत्ययेनोदात्तत्वम् । 'चादिलोपे विभाषा' (पा० ८।१।६३) इति निघाताभावः । मर्त्यस्य । 'मृङ् प्राणत्यागे' । 'असिहसिमृ०' (उ० ३।३६६) इत्यादिना औणादिकः तन्प्रत्ययः । मर्तेषु भव इत्यर्थे 'भवे छन्दसि' (पा० ४।४।११०) इति यत् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । रक्ष । 'रक्ष पालने' । रक्षा णः । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० ६।३।१३५) इति दीर्घः । 'उपसर्गाद्बहुलम्' (पा० ८।४।२८) इति बहुलग्रहणात् अनुपसर्गादपि नसो णत्वम् । ब्रह्मणस्पते । 'षष्ठ्याः पतिपुत्र०' (पा० ८।३।५३) इति संहितायां विसर्गस्य सकारः ॥ ३ ॥

स्कन्दः—माशब्दः प्रणगित्येतेन सम्बन्धयितव्यः । नः अस्माकं शंसः

शंसनम् आशंसा विनाशाद्यभिलाषः। अररुषः देवेभ्यो हविषामदातुरयष्टुः स्वभूतः। यो हि न यजते स यष्टॄन् 'विनश्यन्तु' इत्येवमाशंसति। सोऽस्य शंसः। धुर्वतेर्वधकर्मणः धूर्तिर्हिंसा हिंसिता या। स च मा प्रणक्। प्रपूर्वस्य नशेर्व्याप्तिकर्मण एतद् रूपम्। मा प्रणशत् मा प्रापत् इत्यर्थः। अथवाऽनवग्रहैकपदत्वात् पृचेः संपर्कार्थस्येदं रूपम्। न प्रपूर्वस्य नशेः। न इति च तृतीयार्थे द्वितीया। मास्माभिः प्रणक् सम्पर्चीत् मास्मान् प्रापदित्यर्थः। कः। शंसः अररुषो धूर्तिश्च। कस्याररुषः। मर्त्यस्य मनुष्यस्य। रक्ष त्वं नः हे ब्रह्मणस्पते ॥ ३ ॥

१८० स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।
सोमो हिनोति मर्त्यम् ॥ ४ ॥

सः। घ। वीरः। न रिष्यति। यम्। इन्द्रः। ब्रह्मणः। पतिः।
सोमः। हिनोति। मर्त्यम् ॥ ४ ॥

The liberal man, whom Indra, Brahmaṇaspati, and some protect, never perishes.

(इन्द्रः) इन्द्रदेव, (यं मर्त्यम्) जिस याग करने वाले मनुष्य को (हिनोति) प्राप्त होता है अथवा वृद्धि करता है (ब्रह्मणस्पतिः) देव, (सः घः) वही यजमान (वीरः) वीर्ययुक्त होकर (न रिष्यति) नष्ट नहीं होता है।

सायणः—इन्द्रः देवः यं मर्त्यं यक्ष्यमाणं हिनोति प्राप्नोति वर्धयति वा। तथा ब्रह्मणस्पतिः देवो हिनोति। तथा सोमः हिनोति। सः घ स एव यजमानः वीरः वीर्ययुक्तः सन् न रिष्यति न विनश्यति ॥ घ। चादिरनुदात्तः। संहितायाम् 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' इति दीर्घः। ब्रह्मणस्पतिः। उक्तम्। हिनोति। 'हि गतौ वृद्धौ च'। 'स्वादिभ्यः श्नुः'। तिपः पित्वात् श्नुप्रत्ययस्वर एव शिष्यते ॥ ४ ॥

स्कन्दः—चतुर्थ्यां सोम इन्द्रश्च। चतुर्थ्यामस्यामृचि सोम इन्द्रश्च देवता न केवलो ब्रह्मणस्पतिः। घ इति पदपूरणः एवार्थे वा। स एव वीरः विक्रान्तः न रिष्यति न हिंस्यते केनचित्। यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च हिनोति। 'हि गतौ वृद्धौ च'। गच्छति वर्धयति वा मर्त्यं मनुष्यम् ॥ ४ ॥

१८१ त्वं तं ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यम्।
दक्षिणा पात्वंहसः ॥ ५ ॥

त्वम् । तम् । ब्रह्मणः । पते । सोमः । इन्द्रः । च । मर्त्यम् ।
दक्षिणा पातु । अंहसः ॥ ५ ॥

Do thou Brahmaṇaspatī, and do you, Soma, Indra, and Dakṣiṇā, protect that man from sin.

(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मणस्पति-देवता ! (तं) उस अनुष्ठानकर्ता (मर्त्यं) मनुष्य को (त्वं) आप, (सोमः) सोम देवता, (इन्द्रः) इन्द्रदेवता (दक्षिणा च) और दक्षिणा देवता [—ये सभी मिलकर] (अंहसः) पाप से (पातु) रक्षा करें ॥ ५ ॥

सायणः—हे ब्रह्मणस्पते त्वं तं मर्त्यम् अनुष्ठातारं मनुष्यम् अंहसः पापात् पाहीति शेषः । तथा सोमः पातु इन्द्रश्च पातु दक्षिणाख्या देवता च पातु । दक्षिणा । 'दक्ष वृद्धौ' । 'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ० २।२०८) । नित्वादाद्युदात्तः । अंहसः । 'नब्विषयस्य०' इत्यादिनाद्युदात्तः ॥ ५ ॥

स्कन्दः—पञ्चम्यां दक्षिणाधिका । पञ्चम्यामस्यामृचि पूर्वाभ्यः तिसृभ्यो दक्षिणाधिका । तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसंबन्धो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । यः स्तौति यजते च त्वं तं हे ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यं मनुष्यं दक्षिणा च पातु रक्षतु अंहसः पापात् ॥ ५ ॥

१८२ सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥ ६ ॥
सदसः । पतिम् । अद्भुतम् । प्रियम् । इन्द्रस्य । काम्यम् ।
सनिम् । मेधाम् । अयासिषम् ॥ ६ ॥

I solicit understanding from Sadasaspati, the wonderful, the friend of Indra, the desirable, the bountiful.

(मेधाम्) बुद्धि [पाने के लिए, मैं] (अद्भुतम्) आश्चर्य उत्पन्न करने वाले, (इन्द्रस्य) इन्द्र के (प्रियं) प्रिय मित्र, (काम्यं) सबके अभीष्ट तथा (सनिं , धन दाता (सदसस्पतिम्) सदसस्पति देवता, यज्ञ-गृह के स्वामी अग्नि के निकट (अयासिषम्) पहुँच गया हूँ ॥ ६ ॥

सायणः—मेधां लब्धुं सदसस्पतिम् एतन्नामकं देवम् अयासिषं प्राप्तवानस्मि । कीदृशम् । अद्भुतम् आश्चर्यकरम् इन्द्रस्य प्रियं सोमपाने सहचारित्वात् काम्यं कमनीयं सनिं धनस्य दातारम् ॥ सदसः । 'षद्लृ विशरणादौ' । 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' । नित्वादाद्युदात्तः । पतिम् । पातेर्डतिः (उ० ४।४९७) ।

टिलोपः। प्रत्ययस्वरः। प्रियम्। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'। इयङादेशः। प्रत्ययस्वरः। काम्यम्। कामयतेः 'अचो यत्'। 'णेरनिटि' इति णिलोपः। 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्। सनिम्। 'षणु दाने'। 'धात्वादेः षः सः'। 'अच इः' (उ० ४।५७८) इत्यनुवृत्तौ 'खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनिध्वनि-ग्रन्थिचरिभ्यश्च' (उ० ४।५७९) इति इप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः। अयासिषम्। 'या प्रापणे'। लुङ्। मिपोऽमादेशः। 'यमरमनमातां सक् च' (पा० ७।२।७३) इति सिच इडागमः; धातोः सगागमः। निघातः॥ ६॥

स्कन्दः—चतस्रः सादसस्पत्याः। सदः प्रसिद्धं यज्ञगृहं तस्याधिपतिः सदसस्पतिः। कोऽसौ। अग्निः। कुत एतत्। अग्नेः सर्वयज्ञाधिपतित्वात्। आसु चर्क्षु यज्ञसाधनहविष्कृतिसमर्थनाद्यग्निकर्मदर्शनात्। तद्देवत्याश्चतस्र-श्चर्चः॥ सदसस्पतिमग्निम्। अद्भुतम्। महन्नामैतत्। महान्तम्। प्रिय-मिन्द्रस्य। तदायत्तत्वाद्धि यज्ञानां सोमपानार्थिनः इन्द्रस्य प्रियः सदसस्पतिः। काम्यं प्रार्थयितव्यं सर्वस्तोत्राणाम्। सनिं, 'षणु दाने', धनदानम्। मेधां प्रज्ञां च। अयासिषम्। 'ईमहे यामि' इति याच्ञाकर्मसु पाठाद् यातिर्याच्ञा-कर्मा। याचे॥ ६॥

१८३ यस्माद्दृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥ ७॥

यस्मात्। ऋते। न। सिध्यति। यज्ञः। विपःऽचितः। चन।
सः। धीनाम्। योगम्। इन्वति॥ ७॥

Without whose aid the sacrifice even of the wise is not perfected : he pervades the association of our thoughts.

(यस्मात्) जिन सदसस्पति देव के (ऋते) विना (विपश्चितः) विद्वान् यजमान का (चन) भी (यज्ञः) यज्ञ (न सिध्यति) पूर्ण नहीं होता है, (सः) वे देवता (धीनां) हमारी बुद्धियों के, कर्मों के (योगम्) संबन्ध को (इन्वति) व्याप्त कर देते हैं॥ ७॥

सायणः—यज्ञः अयमनुष्ठातव्यः विपश्चितश्चन विदुषोऽपि यजमानस्य यस्मात् सदसस्पतिदेवात् ऋते न सिध्यति सः अयं सदसस्पतिर्देवः धीनां मनोऽनुष्ठानविषयाणामस्मद्बुद्धीनामनुष्ठेयकर्मणां वा योगं संबन्धम् इन्वति व्याप्नोति। यजमानमनुगृह्य तदीयं यज्ञं निष्पादयतीत्यर्थः॥ यस्मात्। 'अन्या-रात्०' (पा० २।३।२९) इत्यादिना ऋतेयोगे पञ्चमी। सिध्यति। 'षिधु संराद्धौ'। श्यन्। योगम्। 'युजिर् योगे'। घञो ञित्वादाद्युदात्तत्वम्।

त्वम् । तम् । ब्रह्मणः । पते । सोमः । इन्द्रः । च । मर्त्यम् ।
दक्षिणा पातु । अंहसः ॥ ५ ॥

Do thou Brahmaṇaspatī, and do you, Soma, Indra, and Dakṣiṇā, protect that man from sin.

(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मणस्पति-देवता ! (तं) उस अनुष्ठानकर्ता (मर्त्यं) मनुष्य को (त्वं) आप, (सोमः) सोम देवता, (इन्द्रः) इन्द्रदेवता (दक्षिणा च) और दक्षिणा देवता [—ये सभी मिलकर] (अंहसः) पाप से (पातु) रक्षा करें ॥ ५ ॥

सायणः—हे ब्रह्मणस्पते त्वं तं मर्त्यम् अनुष्ठातारं मनुष्यम् अंहसः पापात् पाहीति शेषः । तथा सोमः पातु इन्द्रश्च पातु दक्षिणाख्या देवता च पातु । दक्षिणा । 'दक्ष वृद्धौ' । 'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ० २।२०८)। नित्वादाद्युदात्तः । अंहसः । 'नन्विषयस्य०' इत्यादिनाद्युदात्तः ॥ ५ ॥

स्कन्दः—पञ्चम्यां दक्षिणाधिका । पञ्चम्यामस्यामृचि पूर्वाभ्यः तिसृभ्यो दक्षिणाधिका । तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसंबन्धो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । यः स्तौति यजते च त्वं तं हे ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यं मनुष्यं दक्षिणा च पातु रक्षतु अंहसः पापात् ॥ ५ ॥

१८२ सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥ ६ ॥
सदसः । पतिम् । अद्भुतम् । प्रियम् । इन्द्रस्य । काम्यम् ।
सनिम् । मेधाम् । अयासिषम् ॥ ६ ॥

I solicit understanding from Sadasaspati, the wonderful, the friend of Indra, the desirable, the bountiful.

(मेधाम्) बुद्धि [पाने के लिए, मैं] (अद्भुतम्) आश्चर्य उत्पन्न करने वाले, (इन्द्रस्य) इन्द्र के (प्रियं) प्रिय मित्र, (काम्यं) सबके अभीष्ट तथा (सनिं , धन दाता (सदसस्पतिम्) सदसस्पति देवता, यज्ञ-गृह के स्वामी अग्नि के निकट (अयासिषम्) पहुँच गया हूँ ॥ ६ ॥

सायणः—मेधां लब्धुं सदसस्पतिम् एतन्नामकं देवम् अयासिषं प्राप्तवानस्मि । कीदृशम् । अद्भुतम् आश्चर्यकरम् इन्द्रस्य प्रियं सोमपाने सहचारित्वात् काम्यं कमनीयं सनिं धनस्य दातारं ॥ सदसः । 'षद्लृ विशरणादौ' । 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' । नित्वादाद्युदात्तः । पतिम् । पातेर्डतिः (उ० ४।४९७)।

टिलोपः । प्रत्ययस्वरः । प्रियम् । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' । इयङादेशः । प्रत्ययस्वरः । काम्यम् । कामयतेः 'अचो यत्' । 'णेरनिटि' इति णिलोपः । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । सनिम् । 'षणु दाने' । 'धात्वादेः षः सः' । 'अच इः' (उ० ४।५७८) इत्यनुवृत्तौ 'खनिकष्यज्यसिवसिवनिसनिध्वनिग्रन्थिचरिभ्यश्च' (उ० ४।५७९) इति इप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । अयासिषम् । 'या प्रापणे' । लुङ् । मिपोऽमादेशः । 'यमरमनमातां सक् च' (पा० ७।२।७३) इति सिच इडागमः; धातोः सगागमः । निघातः ॥ ६ ॥

स्कन्दः—चतस्रः सादसस्पत्याः । सदः प्रसिद्धं यज्ञगृहं तस्याधिपतिः सदसस्पतिः । कोऽसौ । अग्निः । कुत एतत् । अग्नेः सर्वयज्ञाधिपतित्वात् । आसु चर्क्षु यज्ञसाधनहविष्कृतिसमर्थनाद्यग्निकर्मदर्शनात् । तद्देवत्याश्चतस्रश्चर्चः ॥ सदसस्पतिमग्निम् । अद्भुतम् । महन्नामैतत् । महान्तम् । प्रियमिन्द्रस्य । तदायत्तत्वाद्धि यज्ञानां सोमपानार्थिनः इन्द्रस्य प्रियः सदसस्पतिः । काम्यं प्रार्थयितव्यं सर्वस्तोत्राणाम् । सनिं, 'षणु दाने', धनदानम् । मेधां प्रज्ञां च । अयासिषम् । 'ईमहे यामि' इति याच्ञाकर्मसु पाठाद् यातिर्याच्ञाकर्मा । याचे ॥ ६ ॥

१८३ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥ ७ ॥

यस्मात् । ऋते । न । सिध्यति । यज्ञः । विपःऽचितः । चन ।
सः । धीनाम् । योगम् । इन्वति ॥ ७ ॥

Without whose aid the sacrifice even of the wise is not perfected : he pervades the association of our thoughts.

(यस्मात्) जिन सदसस्पति देव के (ऋते) विना (विपश्चितः) विद्वान् यजमान का (चन) भी (यज्ञः) यज्ञ (न सिध्यति) पूर्ण नहीं होता है, (सः) वे देवता (धीनां) हमारी बुद्धियों के, कर्मों के (योगम्) संबन्ध को (इन्वति) व्याप्त कर देते हैं ॥ ७ ॥

सायणः—यज्ञः अयमनुष्ठातव्यः विपश्चितश्चन विदुषोऽपि यजमानस्य यस्मात् सदसस्पतिदेवात् ऋते न सिध्यति सः अयं सदसस्पतिर्देवः धीनां मनोऽनुष्ठानविषयाणामस्मद्बुद्धीनामनुष्ठेयकर्मणां वा योगं संबन्धम् इन्वति व्याप्नोति । यजमानमनुगृह्य तदीयं यज्ञं निष्पादयतीत्यर्थः ॥ यस्मात् । 'अन्यारात्०' (पा० २।३।२९) इत्यादिना ऋतेयोगे पञ्चमी । सिध्यति । 'षिधु संराद्धौ' । श्यन् । योगम् । 'युजिर् योगे' । घञो जित्वादाद्युदात्तत्वम् ।

इन्वति । 'इवि व्याप्तौ' । शप् । 'इदितो नुम् धातोः' इति नुम् । निघातः ॥७॥

स्कन्द:—यस्मादृते येन सदसस्पतिना विना न सिध्यति यज्ञः । कस्य । विपश्चितश्चन । विपश्चिदिति मेधाविनाम । चनशब्दोऽप्यर्थे । मेधाविनोऽपि यजमानस्य । सः धीनाम् । धीरिति कर्मनाम । सहयोगलक्षणतृतीयार्थे षष्ठी । यागकर्मभिः सह । योगं संबन्धम् । इन्वति व्याप्तिकर्मायं प्राप्नोति, यागकर्मभिः संबध्यते । सर्वयागकर्माणि करोतीत्यर्थे ॥ ७ ॥

१८४ आदृध्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम् ।
होत्रा देवेषु गच्छति ॥ ८ ॥

आत् । ऋध्नोति । हविःऽकृतिम् । प्राञ्चम् । कृणोति । अध्वरम् ।
होत्रा । देवेषु । गच्छति ॥ ८ ॥

He rewards the presenter of the oblation; he brings the sacrifice to its conclusion; (through him) our invocation reaches the gods.

[वे सदसस्पति] (हविष्कृतिम्) हवि देनेवाले यजमान को (आत्) तुरत (ऋध्नोति) समृद्ध करते हैं, (अध्वरं) यज्ञ को (प्राञ्चं) निर्विघ्न पार (कृणोति) करते हैं; [उन्हींके द्वारा, हमारी] (होत्रा) वाणी (देवेषु) देवताओं तक (गच्छति) जाती है ॥ ८ ॥

सायणः—आत् अनन्तरमेव हविष्कृतिं हविःसंपादनयुक्तं यजमानम् ऋध्नोति सदसस्पतिर्देवो वर्धयति । हविर्दानानन्तरमेव फलं प्रयच्छतीत्यर्थः । तथाविधफलसिद्धये अध्वरं यजमानेनानुष्ठीयमानं यज्ञं प्राञ्चं प्रकर्षेण गच्छन्तमविघ्नेन परिसमाप्तियुक्तं कृणोति करोति । होत्रा हूयमाना देवता तुष्टा सती यजमानं प्रख्यापयितुं देवेषु गच्छति । यद्वा होत्रा अस्मदीयस्तुतिरूपा वाक् देवान् परितोषयितुं देवेषु गच्छति । 'श्लोकः धारा' इत्यादिषु सप्तपञ्चाशत्सु वाङ्नामसु (निघ० १।११) 'होत्रा गीः' इति पठितम् ॥ हविष्कृतिम् । हविषः कृतिः संपादनं यस्य यजमानस्य सोऽयं हविष्कृतिः । प्राञ्चम् । एकादेशस्वरः । अध्वरम् । न विद्यते ध्वरो हिंसा यस्मिन् । हूयतेऽस्यामिति होत्रा देवता । 'हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन्' (उ० ४।६०७) इति त्रन् ॥ ८ ॥

स्कन्द:—आदिति निपातोऽयशब्दपर्याय आनन्तर्ये । कर्मभिः संयुज्यानन्तरम् । ऋध्नोति । 'ऋधु वृद्धौ' । सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थः । वर्धयति । हविष्कृतिं हविष्क्रियाम । हवींषि मारनो वृद्धानि करोतीत्यर्थः । प्राञ्चं कृणोति प्रकर्षगामिनं देवान् प्रति करोति अध्वरम् । होत्रेति वाङ्नाम ।

तृतीयार्थे चात्र प्रथमा। होत्रया च स्तुतिलक्षणया च वाचा। देवेषु देवान् प्रति गच्छति देवाँश्च स्तौतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

१८५ नरा॒शंसं॑ सु॒धृष्ट॑म॒मप॑श्यं स॒प्रथ॑स्तमम्।
दि॒वो न सद्म॑मखसम् ॥ ९ ॥
नरा॒शंस॑म्। सु॒ऽधृष्ट॑मम्। अप॑श्यम्। स॒प्रथः॑ऽतमम्।
दि॒वः। न। सद्म॑ऽमखसम् ॥ ९ ॥

- have beheld Narāśaṃsa, the most resolute, the most renowned, and radiant as the heavens.

(सुधृष्टमं) सर्वाधिक स्थिरतायुक्त, (सप्रथस्तमं) सर्वाधिक यशस्वी तथा (दिवः न) द्युलोकों की तरह (सद्ममखसं) तेजस्वी (नराशंसम्) नराशंस नामक देवता को (अपश्यम्) [मैंने शास्त्र की आँखों से] देखा है ॥ ९ ॥

सायणः—नराशंसम् एतन्नामकं देवविशेषम्। यद्वा। अवयवार्थव्युत्पत्त्या सदसस्पतिर्देवतापरोऽयं शब्दः। व्युत्पत्तिं च यास्को दर्शयति—'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति' (नि० ८।६) इति। अत्र अग्निवत् सदसस्पतेरपि नरैः शस्यमानत्वात् नराशंसत्वम्। एतमेवाभिप्रायं हृदि निधाय ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'प्रजा वै नरो वाक् शंसः' (ऐ० ब्रा० ६।२७) इति। अतो मनुष्यैः शस्यमानो यः सदसस्पतिरग्निर्वा नराशंसनामको देवः तम् अपश्यम् शास्त्रदृष्ट्या दृष्टवानस्मि। कीदृशम्। सुधृष्टमम् अत्याधिक्येन धार्ष्ट्ययुक्तं सप्रथस्तमम् अतिशयेन प्रख्यातं सद्ममखसं प्राप्ततेजस्कम्। तत्र दृष्टान्तः। दिवो न द्युलोकानिव। आदित्यचन्द्रादिभिरधिष्ठिता द्युलोकविशेषा यथा तेजस्विनः तद्वदयं नराशंसस्तेजस्वीत्यर्थः। सुधृष्टमम्। शोभनं धृष्णोतीति सुधृक्। 'क्विप् च' इति क्विप्। आतिशायनिकस्तमप्। पकारस्य जश्त्वाभावश्छान्दसः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन ऋकार उदात्तः। अपश्यम्। 'पाघ्राध्मा०' इत्यादिना पश्यादेशः। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इति अट उदात्तत्वम्। पादादित्वात् न निघातः। सप्रथस्तमम्। 'प्रथ प्रख्याने'। प्रथनं प्रथः। 'सर्वधातुभ्योऽसुन्'। नित्त्वात् आद्युदात्तत्वम्। सह प्रथसा वर्तते इति 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (पा० २।२।२८) इति बहुव्रीहिसमासः। 'वोपसर्जनस्य' (पा० ६।३।८२) इति सादेशः। पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। दिवः। 'ऊडिदम्०' इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम्। सद्ममखसम्। सीदति

इति सद्म। षद्लृ विशरणादौ। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति मनिन्। नित्स्वादाद्युदात्तः। सद्म महो यस्येति बहुव्रीहौ हकारस्य व्यत्ययेन खकारः॥ ९॥

स्कन्दः—नराशंसम्। 'शंस स्तुतौ'। नरैः शस्यत इति नराशंसः प्रकृतः सदसस्पतिरेव। देवतान्तरं वा। तथा ह्याह—

उक्ता याः सादसस्पत्याश्चतस्रः सदसस्पतिः।
तासामन्त्या ऋगेका सा नाराशंसी नराशंसः॥

इति। तं नराशंसं सुधृष्टमं सुष्ठु प्रगल्भतममहमपश्यम्। सप्रथस्तमम्। सप्रथः पृथु। अतिशयेन सप्रथसं सप्रथस्तमम्। कमिव। दिवो न द्युलोकस्येव संबन्धिनं सद्ममखसम्। सद्म सदनमादित्यमण्डलं, तन्मखः महद् यस्य स सद्ममखाः आदित्यः। मखशब्दो हि 'रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अपठितमपि महन्नाम। सकारस्तु छान्दस उपजनः। पर्यायान्तरं वा सकारान्तं तं सद्ममखसम्। आदित्यमिवेत्यर्थः॥ ९॥

(१९) एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः । छन्दः—गायत्री । अग्निमारुतम् ।

१८६ प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ १ ॥

प्रति । त्यम् । चारुम् । अध्वरम् । गोऽपीथाय । प्र । हूयसे ।
मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥ १ ॥

To may pleasant sacrifice I call you for a draught of milk (or soma). Come, Agni, with the Maruts.

(त्यम्) इस (चारुम्) सुन्दर या पूर्ण (अध्वरं प्रति) यज्ञ में [आप] (गोपीथाय) गोदुग्ध या सोम पीने के लिए (प्रहूयसे) सादर बुलाये जा रहे हैं । (अग्ने) हे अग्निदेव । (मरुद्भिः) मरुद्-गण के साथ (आ गहि) आइये ॥ १ ।

सायणः—त्यच्छब्दः सर्वनामतच्छब्दपर्यायः । हे अग्ने ! यो यज्ञश्चारुः अङ्गवैकल्यरहितः त्यं तथाविधं चारुमध्वरं प्रतिलभ्य गोपीथाय सोमपानाय प्र हूयसे प्रकर्षेण त्वं हूयसे । तस्मादस्मिन्नध्वरे त्वं मरुद्भिः देवविशेषैः सह । आ गहि आगच्छ । सेयमृग्यास्केनैवं व्याख्याता—'तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छ' (नि० १०।३६) इति ॥ प्रति । निपात आद्युदात्तः । त्यं 'त्यदादीनामः' (पा० ७।२।१०२) । प्रातिपदिकस्वरः । चारुम् । दृसनिजनिचरीत्यादिना (उ० १।३) ञुण् । 'अत उपधायाः' (पा० ७।२।११६) इति वृद्धिः । ञित्वादाद्युदात्तः । गोपीथाय । निशीथगोपीथावगथाः (उ० २।९) इति थक्प्रत्ययान्तो निपातितः । प्र—निपातस्वरः ॥ १ ॥

स्कन्दः—प्रतिशब्दो लक्षणे कर्मप्रवचनीयः । त्यच्छब्दस्तच्छब्दपर्यायः । तच्छब्दश्रुतेर्योग्यार्थसंबन्धो यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । योऽयमस्माभिः प्रकल्पितः तं प्रति । कीदृशम् ? चारुं शोभनम् । अध्वरं यज्ञम् । गोपीथाय । सोमोऽत्र गौरुच्यते, सोमपानाय । प्रहूयसे प्रकर्षेणाहूयसे । एतज्ज्ञात्वा मरुद्भिः सहाग्ने ! आगहि ॥ १ ॥

१८७ नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः ।

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ २ ॥

नहि । देवः । न । मर्त्यः । महः । तव । क्रतुम् । परः ।

मरुत्ऽभिः अग्ने । आ । गहि ॥ २ ॥

No god, mortal is stronger then thee, o mighty one. Come, Agni, with the Maruts (Peterson).

(नहि) न तो (देवः) कोई देवता [और] (न) न ही (मर्त्यः) कोई मनुष्य (महः तव) आप के सदृश महान् देवता की (क्रतुं परः) शक्ति से बढ़ सकता है । हे अग्निदेव, मरुद्-गण के साथ आइये ॥ २ ॥

सायणः—हे अग्ने ! महो महतस्तव संबन्धिनं क्रतुं कर्मविशेषमुल्लङ्घ्य परो नहि उत्कृष्टो देवो न भवति खलु । तथा मर्त्यो मनुष्यश्च परो न भवति । ये मनुष्यास्त्वदीयं क्रतुमनुतिष्ठन्ति ये च देवास्त्वदीये क्रताविज्यन्ते त एवोत्कृष्टा इत्यर्थः । मरुद्भिरित्यादि पूर्ववत् ॥ महः । महतस्तलोपश्छान्दसः । क्रतुम् । कृञः कतुः (उ० १।७८) । गहि । गम्लृ गतौ (धा० भ्वा० १००७) । लोटः सेर्हिः । बहुलं छन्दसि (पा० २।४।७३) इति शपो लुक् । 'अनुदात्तोपदेश०' (पा० ६।४।३७) इत्यादिना अनुनासिकलोपः । तस्य 'असिद्धवदत्राभात्' (पा० ६।४।२२) इत्यसिद्धत्वात् 'अतो हेः' (पा० ६।४।१०५) इति लुक् न भवति । निघातः ॥ २ ॥

स्कन्दः—न देवो नापि मर्त्यः महः महत् तव सकाशात् । टार्थेऽम् । कर्मणा प्रज्ञया वोत्कृष्टः त्वत्तः श्रेष्ठो देवमनुष्येष्वपि न कश्चित् । तस्मान्मरुद्भिः अग्ने ! आगहि ॥ २ ॥

१८८ ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः ।

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ३ ॥

ये । महः । रजसः । विदुः । विश्वे । देवासः । अद्रुहः ।

मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥ ३ ॥

Those who know of the great sky (or the procedure of rains, i.e, waters), the host of gods doing no harm (beneficent to all). Come, Agni, with the Maruts.

(ये) जो (अद्रुहः) द्रोहशून्य, सबका कल्याण करनेवाले (विश्वे देवासः) सभी देवता हैं, (महः) विशाल (रजः) जलवर्षा की विधि या

अन्तरिक्ष को (विदुः) जानते हैं, या उसमें निवास करते हैं, उन्हीं मरुद्-गण के साथ, हे अग्निदेव, आइये ॥ ३ ॥

सायणः—हे अग्ने ! ये मरुतो महो रजसो महत उदकस्य वर्षणप्रकारं विदुः, तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः । कीदृशा मरुतः । विश्वे सर्वे सप्तविधगणोपेताः । 'सप्तगणा वै मरुतः' (तै० सं० २।२।११ (१) इति श्रुतेः । देवासो द्योतमानाः अद्रुहो द्रोहरहिता वर्षणेन सर्वभूतोपकारित्वात् । तथा चोपरिष्टादाम्नायते । 'उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः' (ऋग्वेद० ५।५५।५) इति । शाखान्तरेऽपि मन्त्रान्तरस्य ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'मरुतां पृषतयः स्थेत्याह, मरुतो वै वृष्ट्या ईशते (तै० ब्रा० ३।३।९।४) इति रजःशब्दो यास्केन बहुधा व्याख्यातः—'रजो रजतेः । ज्योती रज उच्यते । उदकं रज उच्यते । लोका रजांस्युच्यन्ते । असृगहनी रजसी उच्येते' (नि० ४।१९) इति ॥ विदुः । 'विद ज्ञाने' (धा० अ० ५४) । 'विदो लटो वा' (पा० ३।४।८३) इति झेरुसादेशः । प्रत्ययस्वरः । यद्वृत्तयोगान्निघाताभावः । विश्वे । विशेः क्वन्नन्तस्य नित्वादाद्युदात्तत्वम् । देवासः 'आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।५०) । देवशब्दः पचाद्यजन्तः । चित्वादन्तोदात्तः । अद्रुहः । संपदादित्वाद् भावे क्विपि बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्०' (पा० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । कर्तरि वा क्विप् ॥ ३ ॥

स्कन्दः—रजःशब्दो लोकवचनः उदकवचनो वा । महो रजस इति चोभयत्र द्वितीयार्थे षष्ठी । महद् रजसः लोकमन्तरिक्षाख्यम् उदकं वा मेघं विदुर्जानन्ति विश्वे सर्वे देवासः दीप्ता दातारो वा । अद्रुहः अद्रोग्धव्या अद्रोग्धारो वा स्तोतॄणां यष्टॄणां च । यच्छब्द श्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । तैर्मरुद्भिरग्ने ! आगहि ॥ ३ ॥

१८९ य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ४ ॥

ये । उग्राः । अर्कम् । आनृचुः । अनाधृष्टासः । ओजसा ।
मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥ ४ ॥

Those fierce (gods) who turn water into rains (who sing their thunder song) irresistible in their might. Come, Agni, with the Maruts.

(ये) जो मरुतः (उग्राः) भयंकर हैं, [जिन्होंने] (अर्कम्) जल की (आनृचुः) अर्चना, वर्षा की है और (ओजसा) अपने बल के कारण (अनाधृष्टासः) अजेय हैं; हे अग्निदेव, उन मरुद्-गण के साथ आइये ॥ ४ ॥

सायणः—ये मरुतः उग्रास्तीव्राः सन्तोऽर्कमुदकमानृचुः अर्चितवन्तः। वर्षणेन संपादितवन्त इत्यर्थः। तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः। कीदृशा मरुतः। ओजसा बलेन अनाधृष्टासः अतिरस्कृताः। सर्वेभ्योऽपि प्रबला इत्यर्थः। अर्कशब्दस्योदकवाचित्वं वाजसनेयिन आमनन्ति। 'आपो वा अर्कः' (शत० ब्रा० १०।६।५।२) इति। तन्निर्वचनं च त एवामनन्ति। 'सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्त, अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्'(शत० ब्रा० १०।६।५।१) इति। जगत्स्रष्टा हिरण्यगर्भः उदकं स्रष्टुमुद्युक्तोऽर्चन् उदकसत्यसंकल्पमहिमप्रख्यापनेन स्वात्मानं पूजयन्नचरत्। तथा पूजयतो हिरण्यगर्भस्य सकाशादुदकमुत्पन्नम्। तदानीमर्चतो मत्तः कमभूदित्यवोचत्। तेनोदकस्य अर्कनाम निष्पन्नमित्यर्थः॥ आनृचुः। 'अपस्पृधेथाम्०' (पा० ६।१।३६) इत्यादिना निपातितः। प्रत्ययस्वरः। यद्वृत्तयोगान्न निघातः। अनाधृष्टासः। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। ओजसा। 'उब्जेर्बलोपश्च' (उ० ४।१९१) इत्यसुन्। नित्वादाद्युदात्तः॥ ४॥

स्कन्दः—ये उग्राः अन्येनाप्रसह्याः क्रूराः अर्कं देवम्। कतमम्? इन्द्रम्। कुत एतत्। 'आर्चन्नत्र मरुतस्तस्मिन्नाजौ' इतीन्द्रस्य मरुत्स्तुतिसंबन्धदर्शनात्। आनृचुः। अर्चतेः स्तुतिकर्मण एतद् रूपम्। 'वृत्रघ्नं तं प्रहर भगवो जहि वीरयस्व' इत्येवमादिभिर्वचनैः स्तुतयन्तः। अत्र चेतिहासः 'त्वां देवा अबिभ्युषः' इत्यत्र निदर्शितः। अथवा संवादसूक्तेषु कयाशुभीयादिषु या स्तुतिस्तामभिप्रेत्यैतदुच्यते—'य उग्रा अर्कमिन्द्रं स्तुवन्ति' इति। कीदृशाः। अनाधृष्टासः अनाधर्षिताः। अनभिभूतपूर्वाः ओजसा परबलेन। तैर्मरुद्भिः॥ ४॥

१९० ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः।
मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ५॥

ये। शुभ्राः। घोरऽवर्पसः। सुऽक्षत्रासः। रिशादसः।
मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि॥ ५॥

Those who are bright but fearful in appearance, mighty rulers (or possessing shining wealth) and devourer their foes; come, Agni, with the Maruts.

(ये) जो मरुत् (शुभ्राः) शोभनीय तथा (घोरवर्पसः) उग्र रूप धारण करने वाले हैं, (सुक्षत्रासः) उत्तम राज्य या धन से युक्त हैं तथा (रिशादसः) हिंसा करने वालों के भक्षक हैं; हे अग्निदेव, उन मरुद्-गण के साथ आइये॥ ५॥

सायणः—ये मरुतः शुभ्रत्वादिगुणोपेतास्तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः । शुभ्राः शोभनाः घोरवर्पसः उग्ररूपधराः सुक्षत्रासः शोभनधनोपेता रिशादसो हिंसकानां भक्षकाः । मघमित्यादिष्वष्टाविंशतिसंख्याकेषु धननामसु (निघ० २।१०) क्षत्रं भग इति पठितम् ॥ शुभ्राः । 'स्फायितञ्चि' (उ० २।१३) इत्यादिना शुभेरौणादिको रक्प्रत्यः । प्रत्ययस्वरः । घोरवर्पसः । घोरं वर्पो येषां बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । सुक्षत्रासः । बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । 'आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि' (पा० ६।२।११९) इत्येव तु न भवति क्षत्रशब्दस्यान्तोदात्तत्वात् । रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः । तान् दन्तीति रिशादसः । सर्वधातुभ्योऽसुन्प्रत्ययः । निरस्वरेणोत्तरपदमाद्युदात्तम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण स एव शिष्यते ॥ ५ ॥

स्कन्दः—ये शुभ्राः शोभनाः घोरवर्पसः, वर्पं इति रूपनाम, घोररूपाश्च । द्वयोश्चानयोः परस्परविरोधित्वात् कालभेदेन योजना । शोभनाः क्रीडाकाले । घोररूपाः संग्रामकाले । सुक्षत्रासः । सुधन्वानः सुबला वा । रिशादसः क्षेप्तारो हिंसितॄणां प्रतिहिंसितार इत्यर्थः । तैर्मरुद्भिः ॥ ५ ॥

१९१ ये नाक॒स्याधि॑ रोच॒ने दि॒वि दे॒वास॒ आस॑ते ।
मरुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥ ६ ॥

ये । नाक॑स्य । अधि॑ । रो॒च॒ने । दि॒वि । दे॒वासः॑ । आस॑ते ।
म॒रुत्ऽभिः॑ । अ॒ग्ने॒ । आ । ग॒हि॒ ॥ ६ ॥

Those who sit as gods above the region of sky (or the sun) on the bright vaultt of heaven; Come, Agni, with the Maruts.

(ये) जो (देवासः) देवगण (नाकस्य) अन्तरिक्ष लोक के, सूर्य के (अधि) ऊपर (रोचने) देदीप्यमान (दिवि) द्युलोक अर्थात् स्वर्ग में (आसते) रहते हैं, हे अग्निदेव, उन मरुद्-गण के साथ आइये ॥ ६ ॥

सायणः—ये मरुतो नाकस्याधि दुःखरहितस्य सूर्यस्योपरि दिवि द्युलोके रोचने दीप्यमाने ये देवासः स्वयमपि दीप्यमाना आसते। तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः ॥ नाकस्य । कं सुखम् । तद्यस्मिन्नास्त्यसावक इति बहुव्रीहिं कृत्वा पश्चान्नञ् । न अको नाक इति नञ्तत्पुरुषः । 'नलोपो नञः' (पा० ६।३।७३) इति लोपो न भवति । 'नभ्राण्नपात्०' (पा० ६।३।७५) इत्यादिना प्रकृतिभावात् । अधिशब्द उपर्यर्थे । उपसर्गप्रतिरूपको निपातः । रोचने । 'रुच दीप्तौ' (धा० भ्वा० ७४६) । 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (पा० ३।२।१४९) इति युच् । 'चितः' (पा० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् । दिवि । 'ऊडिदम्०' (पा० ६।१।१७१) इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् । देवासः । 'आज्जसेरसुक्' (पा०

७।१।५०) इत्यलुक्। आस उपवेशने (धा० अ० ११) अनुदात्तेत्वादात्मनेपदम्। झस्यादादेशः। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० २।४।७२) इति शपो लुक्॥ ६ ॥

स्कन्दः—नाक इत्यादित्यनाम। ये नाकस्याधि उपरि रोचने दीप्ते दिवि। 'अथापि तद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' इत्येवं दिवोऽवयवो द्युशब्देनोच्यते। दिवि दिव एकदेशे स्थाने सप्तमे वायुस्कन्धे देवास आसते तैः॥ ६ ॥

१९२ य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्।
मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ७ ॥
ये। ईङ्खयन्ति। पर्वतान्। तिरः। समुद्रम्। अर्णवम्।
मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि॥ ७ ॥

Those who move the clouds across the surging sea (or wha produce waves in the constant sea); Come, Agni, with the Maruts.

(ये) जो मरुत् (पर्वतान्) मेघों को (ईङ्खयन्ति) संचालित करते हैं, (अर्णवम्) उदकयुक्त (समुद्रम्) समुद्र को (तिरः) तिरस्कृत करते हैं, शान्त जल में तरंगें उत्पन्न करते हैं; हे अग्निदेव, उन मरुद्-गण के साथ आइये। [(अर्णवं) फेनिल या उछलते हुए (समुद्रं) समुद्र के (तिरः) आरपार (ये) जो मरुत् (पर्वतान्) तरंगों के पहाड़ (ईङ्खयन्ति) उत्पन्न करते हैं, संचालित करते हैं]॥ ७ ॥

सायणः—ये मरुतः पर्वतान्मेघान् ईङ्खयन्ति चालयन्ति। तथार्णवमुदकयुक्तं समुद्रं तिरः 'कुर्वन्ति' इति शेषः। निश्चलस्य जलस्य तरङ्गाद्युत्पत्तये चालनं तिरस्कारः। तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः। ईङ्खयन्ति। उख उखीत्यादौ ईखिर्गत्यर्थः। हेतुमति चेति णिच्। 'इदितो नुम् धातोः' (पा० ७।१।५८) इति नुम्। णिजन्तधातोः 'चितः' (पा० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् (द्रष्टव्यं पा० ३।१।४)। तिङश्च लसार्वधातुस्वरेण धातुस्वर एव शिष्यते। पर्वतान्। पूर्व पर्व मर्व पूरणे (धा० भ्वा० ५७८)। औणादिकोऽतन्। प्रत्ययस्वरः॥ ७ ॥

स्कन्दः—ये ईङ्खयन्ति गमयन्ति क्षिपन्तीत्यर्थः। किम्। पर्वतान् शैलान्। तिरः सतः इति प्राप्तस्य नामनी। प्राप्ताः सन्तः। कं प्रति क्षिपन्ति। समुद्रम्। द्वितीयाश्रुतेः कर्मप्रवचनीयप्रतिशब्दाध्याहारः। पार्थिवं समुद्रं प्रति। कीदृशम्। अर्णवम् उदकवन्तम्। पर्वतक्षेपणेन चात्र बलवत्ता प्रतिपाद्यते। एतदुक्तं भवति—ये महाबलाः प्राप्ताः सन्तः पर्वतानपि समुद्रे क्षेप्तुं समर्था इति। अथवा

पर्वतशब्दो मेघनाम। पार्थिवेन च समुद्रेण पृथिव्येव लक्ष्यते। ये गमयन्ति मेघान् वर्षार्थं पृथिवीं वर्षयन्तीत्यर्थः। मेघान् प्रति प्राप्ताः सन्तः। तैः ॥ ७ ॥

१९३ आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ८ ॥

आ। ये। तन्वन्ति। रश्मिभिः। तिरः। समुद्रम्। ओजसा।
मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि ॥ ८ ॥

Those who cover (the sky) with the rays (of the sun) and with their strength they set in motion the see as will (who stretch mightily across the sea with their rays (Peterson); Come, Agni, with the Maruts.

(ये) जो मरुत् [अपनी या सूर्यकी] (रश्मिभिः) किरणों से [आकाश को] (आ तन्वन्ति) भर देते हैं तथा (ओजसा) अपने बल से (समुद्रम्) समुद्र को भी (तिरः) संचालित कर देते हैं [जो अपने बल के कारण समुद्र के आरपार अपनी किरणों से पहुंच जाते हैं।]; हे अग्निदेव, उन मरुद्-गण के साथ आइये ॥ ८ ॥

सायणः—ये मरुतो रश्मिभिः सूर्यकिरणैः सह आ तन्वन्ति आप्नुवन्ति। आकाशमिति शेषः। किं च ओजसा स्वकीयबलेन समुद्रं तिरस्कुर्वन्ति। तैर्मरुद्भिरित्यन्वयः॥ तन्वति। तनु विस्तारे। (धा० त० १)। लटो 'झोऽन्तः' (पा० ७।१।३)। 'तनादिकृञ्भ्य उः' (पा० ३।१।७९)। सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः इति तिङ एवाद्युदात्तत्वम्। समुद्रम्। उन्दी क्लेदने (धा० रु० २०)। 'स्फायितञ्चि०' (उ० २।१३) इति रक्। समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ ८ ॥

स्कन्द—आतानो नाम व्याप्तिः। ये आतन्वन्ति व्याप्नुवन्ति स्वतेजोभिः रश्मिभिः। रश्मिभिः तिरः प्राप्ताः। पार्थिवमन्तरिक्षं वा। समुद्रशब्दो ह्यन्तरिक्षनामापि। न च केवलैः स्वतेजोभिः। किं तर्हि? ओजसा बलेन च। तैः ॥ ८ ॥

१९४ अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ९ ॥

अभि। त्वा। पूर्वऽपीतये। सृजामि। सोम्यम्। मधु।
मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि ॥ ९ ॥

Lo, I pour out for thee the soma, drink thou it first: Come, Agni, with the Maruts. (Peterson).

(पूर्वपीतये) आपके प्रथम पान के लिये (त्वा) आपके निकट [मैं] (सोम्यम्) सोम से युक्त (मधु) मधुर रस (अभि सृजामि) प्रस्तुत करता हूं, हे अग्निदेव, आप मरुद्-गण के साथ आइये ॥ ९ ॥

सायण:—हे अग्ने ! पूर्वपीतये पूर्वकाले प्रवृत्ताय पानाय त्वां प्रति सोम्यं मधु सोमसम्बन्धिनं मधुररसमभि सृजामि। सर्वतः संपादयामि। अतस्त्वं मरुद्भिः सहात्रागच्छ ॥ अभि। एवमादीनामन्तः (फिट्० ८२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पा० ८।१।२३) इति त्वादेशः सर्वानुदात्तः। पूर्वपीतये। पूर्वा चासौ पीतिश्च। 'पुंवत्कर्मधारय०' (पा० ६।३।४२) इत्यादिना पुंवद्भावः। सृजामि। सृज विसर्गे। मिपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। विकरणस्वरः। सोम्यम्। सोममर्हति यः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। मधु। 'फलिपाटिनमि०' (उ० १।१९) इत्यादिना उप्रत्ययः। निदित्यनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम्। अन्यद्गतम् ॥ ९ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपाल-
साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये
वेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्ये प्रथमाष्टके
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

स्कन्द:—अभिशब्दोऽत्र 'अभिरभागे' (पा० १ । ४ । ९१) इति लक्षणे कर्मप्रवचनीयः। त्वां प्रति। पूर्वपीतये पूर्वकालप्रवृत्ताय पानाय सृजामि। शुद्धोऽप्यत्र सृजतिः सोपसर्गार्थे द्रष्टव्यः। उत्सृजामि। अनादिकालप्रवृत्तं यत्पानं तदर्थं तुभ्यं ददामीत्यर्थः। किम्। सोम्यं सोममयं मधु। द्रवत्वसामान्यान्मृष्टत्वसामान्याच्च सोमरसोऽत्र मधूच्यते। एतज्ज्ञात्वा मरुद्भिरग्न आगहि ॥ ९ ॥

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम्।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति ॥

इति भर्तृध्रुवसुतस्य स्कन्दस्वामिनः कृतौ ऋग्वेदभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

ऋक्-संहिता-प्रकाशः

(मन्त्रार्थ तथा स्वरविवेचन)

यथाशास्त्रं यथौचित्यं यथाबुद्धि यथास्मृति ।
मन्त्रार्थं वक्तुकामस्य प्रयासोऽयं भवेन्मम ॥

सूक्त—१

प्रथम सूक्त अग्नि देवता का है जो ऋग्वेद के देवताओं में इन्द्र की तरह ही प्रमुख स्थान रखते हैं तथा ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र उन्हें सम्बोधित हैं। वैसे अलग-अलग व्याख्याताओं ने अग्नि के अर्थ विभिन्न प्रकार से किये हैं किन्तु वैदिक वेदशास्त्र की सर्वमान्य स्थिति के अनुसार पार्थिव अग्नि का देवीकरण ही इनमें हुआ है। अग्नि को गृहपति, घर के सभी कामों का संचालक, यज्ञपति आदि रूप में देखने के प्रयास हुए हैं। प्रस्तुत सूक्त में मुख्यतः उनके यज्ञस्वरूप तथा यज्ञ से सम्बद्ध होने का ही वर्णन है। उनपर अन्य सूक्तों की तरह मानवीय उपादानों का आरोपण नहीं है।

'अग्नि' का निर्वचन करते हुए यास्क अपने निरुक्त में (७।१४) कहते हैं कि (१) अग्रणीः अर्थात् आगे ले जाने वाले, नेता होने के कारण (अग्र + √नी) इन्हें अग्नि कहते हैं। स्पष्ट है कि इस निर्वचन में यास्क की दृष्टि इन वैदिक पंक्तियों पर अवश्य रही, होगी—अग्निर्देवानां सेनानी; अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम् (तै० ब्रा० २।४।३।३); अग्निर्वै देवानामवमः (ऐ० ब्रा० १।१)। (२) अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते—सभी यज्ञों में अग्नि का प्रणयन भी अग्र भाग में अर्थात् पूर्व दिशा में, स्थित आहवनीय-देश में होता है (अग्र + प्र√नी), इसलिए भी इन्हें अग्नि कहते हैं। (३) अङ्गं नयति संनममानः—दुर्गाचार्य ने इसके दो अर्थ दिये हैं, एक तो यह कि साधने के रूप में वैदिक या लौकिक किसी कार्य में आने पर अपने को प्रधान तथा दूसरे सभी पदार्थों को अपना अंग या सहकारी बना देते हैं; दूसरा अर्थ यह है कि जिस किसी पदार्थ पर आश्रित (संनत) होते हैं उसे अपना अङ्ग बना लेते हैं, आत्मसात् कर लेते हैं, फिर वह पदार्थ भी अग्नि ही हो जाता है। यह दूसरा अर्थ ही अधिक प्रसिद्ध है। दोनों ही स्थितियों में अङ्ग + √नी से निर्वचन हो रहा है। (४) अक्नोपनो भवति—स्थौलाष्ठीवि के नाम पर यह निर्वचन रखा गया है। यास्क का आर्जव प्रशंसनीय है। इसका अर्थ है

कि अग्नि किसी पदार्थ को आर्द्र नहीं करते (न क्नोपयति, अ + √क्नु + णिच्), किसी को शुष्क या विरूक्ष ही कर देते हैं। (५) इतात् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्—शाकपूणि नामक आचार्य के द्वारा प्रतिपादित इस विचित्र मत का भी निर्देश यास्क करते हैं। 'अग्नि' शब्द में स्थित तीन वर्णों (अ, ग्, नि) की पृथक्-पृथक् व्याख्या के लिए एक ही साथ (युगपत्) तीन आख्यानों से अग्नि का निर्वचन किया गया है और अभी भी द्वितीय वर्ग की व्याख्या करने वाले आख्यात का सन्देह ही है कि वह √अञ्ज् (प्रकाशित करना) है या √दह् (जला देना)। अतएव √इण् (जाना, जैसे—आययति) से अ क्योंकि अग्नि गमनशील हैं जलाते-जलाते बढ़ते जाते है; √अञ्ज् (अनक्ति—क्>ग्) से या दह् (दग्ध—ग्) से ग की व्याख्या इसलिए होती है कि अग्नि वस्तुओं को प्रकाशित करते तथा जला भी देते हैं, और अन्त में √नी (ले जाना) से नि-वर्ण की व्याख्या यह अर्थ रखती है कि अग्नि देवताओं के पास हव्य वस्तु पहुँचा देते हैं। वर्ण में ह्रस्व-दीर्घ का अन्तर यास्क या उनके साथियों के लिए विशेष महत्व नहीं रखता।

व्याकरण की दृष्टि से 'अग्नि' अगि-धातु (√अग्) से उणादि (४।४९०) की नि प्रत्यय करने से बनता है जिसका अर्थ है, जाने वाला। सायणाचार्य की निरुक्ति के अनुसार 'अङ्गति स्वर्गे गच्छति हविर्नेतुमित्यग्निः' अर्थात् हव्य पदार्थ लाने-पहुँचाने के लिये जो स्वर्ग में जायँ। [तुलनीय—लैटिन ignis, स्लावोनिक ogni, √अग् = खींचना, लै० ago, ग्री० अगो, सं०-अजामि]।

नौ मंत्रों का प्रस्तुतसूक्त विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा के द्वारा दृष्ट हुआ है, इसके वे ऋषि हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार (७।१७-१८) विश्वामित्र के अनेक पुत्रों में मधुच्छन्दा भी एक थे—जिन्हें कुशिक तथा गाथिन् दोनों रूपों में सम्बोधित किया गया है। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार (३।२३७-८) विश्वामित्र गाथिन् के पुत्र थे तथा ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में गाथिन् कुशिक के पुत्र माने गये हैं; कुशिक स्वयं इषीरथ के पुत्र थे। पंचविंश ब्राह्मण में (२१।१२।२) विश्वामित्र को क्षत्रिय तथा राजा जह्नु का वंशज माना गया है। इस विवरण से मधुच्छन्दा की वंश-परम्परा का सूत्र मिल सकता है। पूरे सूक्त में गायत्री छन्द है जिसमें ८-८ अक्षरों के तीन पाद होते हैं—प्रथम दो पाद संहितापाठ में एक इकाई बनाते हैं, तीसरा पृथक् रहता है। आश्वलायन श्रौत सूत्र के अनुसार (४।१३) इस सूक्त का सामान्य विनियोग अग्निष्टोम याग के प्रातरनुवाक (प्रातः काल में पढ़ने) के लिए है। अष्टक

प्रणाली के अनुसार इसमें दो वर्ग हैं :—१-५ मन्त्रों का प्रथम वर्ग और ६-९ का दूसरा वर्ग।

मन्त्र—१

सायण ने इस मंत्र की अत्यन्त विशद व्याख्या की है। यद्यपि मंत्र का अर्थांश बहुत ही कम है तथापि निरुक्त के उद्धरणों तथा उनकी व्याख्या, स्वरसंचार का पूर्ण विचार, व्याकरण की प्रक्रियाओं का पूर्ण प्रतिपादन आदि से भाष्यांश विशाल हो गया है अतः उन्हें अन्त में कहना पड़ा है—

वेदावतार आद्याया ऋचोऽर्थश्च प्रपञ्चितः।
विज्ञातं वेदगाम्भीर्यमथ संक्षिप्य वर्ण्यते॥

प्रथम मंत्र में अग्नि की वन्दना करने के लिए उनके कतिपय विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—पुरोहित, देव, ऋत्विज्, होतृ तथा रत्नधातम। इन शब्दों के अग्नि के विशेषण बनने में कोई संदेह नहीं क्योंकि इसकी पुष्टि दूसरे समान मंत्रों से हो जाती है। उदाहरणार्थ—

ऋ० सं० १।४४।११—नि त्वा यज्ञस्य साधनमग्ने होतारमृत्विजम्।
,, १।४५।७—नि त्वा होतारमृत्विजम्।
,, ३।१०।२—त्वां यज्ञेष्वृत्विजमग्ने होतारमीलते।
,, ५।२२।२—न्यग्निं जातवेदसं दधाता देवमृत्विजम्।
,, ८।४४।६—मन्द्रं होतारमृत्विजम्।

उपर्युक्त द्विवचनान्त विशेषणों के साथ ही एक षष्ठ्यन्त 'यज्ञस्य' शब्द है जिसके सम्बन्ध के विषय में विभिन्न कल्पनायें भाष्यकारों की रही हैं। सायण इसे 'यज्ञस्य पुरोहितम्' कहकर ग्रहण करते हैं। लेकिन उपर्युक्त उदाहरणों की तुलना करने पर यह कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा कि 'पुरोहित' को पृथक् विशेषण मानकर 'यज्ञस्य' के साथ 'देव' होतृ और ऋत्विज—इन तीनों को ही विशेषण रखकर अर्थ किया जाय। तदनुसार—'यज्ञ के देदीप्यमान (देव) तथा होतृनामक ऋत्विज् अग्निदेव को ......' यह अर्थ ठीक हो सकता है। गेल्डनर ने पुरोहित, और होतृ को पृथक् विशेषणों के रूप में तथा 'यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्' को एक साथ लेते हुए अनुवाद किया है। रत्नधातम को होतृ का विशेषण लिया गया है। किन्तु इससे अधिक अच्छी प्रणाली से शब्द-संस्थापन करके हम कह सकते हैं—"मैं उन अग्निदेव की वन्दना करता हूँ जो पुरोहित (चुने गये यज्ञाध्यक्ष) हैं, यज्ञ के देदीप्यमान, होतृनामक ऋत्विज् (यज्ञ संपादक) हैं तथा सर्वाधिक धनप्रदाता भी हैं।"

पुरोहित—का शाब्दिक अर्थ है 'आगे या सामने में स्थापित किया गया'। वे यज्ञ के अध्यक्ष होते थे तथा यज्ञ करानेवाले (यजमान) के प्रतिनिधि के रूप में यज्ञ संपन्न करते थे। यज्ञों में यजमान के ठीक सामने रहने के कारण संभवतः 'पुरोहित' शब्द अन्वर्थ था। यह शब्द आज भी यज्ञ-याग और पूजा-व्रतों में खूब प्रचलित है।

देव—शब्द √दिव् (चमकना) से निष्पन्न होने के कारण, देदीप्यमान, चमकनेवाला, दिव्य, देवसम्बन्धी, ईश्वरीय, स्वर्गीय, स्वर्गोपम आदि अर्थों में स्वीकार्य है। सायण का √दिव् (देना) से निष्पन्न 'देव' का देनेवाला, उदार, दयालु अर्थ करना भाषाविज्ञान की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता यद्यपि इसके पीछे यास्क की (देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा नि० ७।१५) समृद्ध परम्परा है।

ऋत्विज्—का अर्थ है जो उचित समय पर यज्ञ कराये (ऋतौ यजति)। इसका सामान्य अर्थ 'यज्ञ का अधिकारी' हैं। होतृ या होता भी एक प्रकार का ऋत्विज् ही है। ऋत्विजों के वेदों के अनुसार भेद हैं तथा उनके सहायक भी होते हैं। ऋग्वेद के ऋत्विज होता कहे जाते हैं क्योंकि ये देवताओं का आह्वान विभिन्न मंत्रों से करते हैं। अतः होता बुलाने-पुकारने वाला ऋत्विज् है। वेदों के अनुसार ऋत्विजों के नाम इस तालिका से लें। प्रथम नाम प्रधान ऋत्विज के हैं, अन्य सहायक मात्र हैं।

(१) ऋग्वेद के ऋत्विज्—होता; मैत्रावरुण (प्रशास्ता), अच्छावाक, ग्रावस्तुत्।

(२) यजुर्वेद ,, —अध्वर्यु; प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता।

(३) सामवेद ,, —उद्गाता; प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य।

(४) सर्ववेदविद् ,, —ब्रह्मा; ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, पोता।

इस प्रकार कुल १६ ऋत्विजों से यज्ञकार्य संपन्न होता है।

रत्नधातम—में तीन खण्ड हैं रत्न-धा-तम। रत्न का अर्थ है धन। यद्यपि सायण कहते हैं कि यज्ञ का फल यजमान को रत्न-मणि-माणिक्य के रूप में मिलता है, वही रत्न है, किन्तु दूसरे भाष्यकार तथा भाषाविज्ञानवेत्ता रत्न को सामान्य धन के अर्थ में ही लेते हैं। गेल्डनर इसे पुरस्कार, विजय पुरस्कार के ही अर्थ में रखते। रत्न का संस्कृत भाषा वाला अर्थ (Jewel) ऋग्वेद में कहीं नहीं है—यह मैकडोनेल की घोषणा है। रत्न को धारण करने वाला, देनेवाला—रत्नधाः; उनमें सर्वाधिक—रत्नधातम। विल्सन का 'विपुल धन देनेवाला' अर्थ गलत है; अर्थ तो धन देनेवालों में सर्वोच्च, सर्वाधिक। 'तमप्' प्रत्यय का सीधा सम्बन्ध √धा के साथ है, न कि रत्न के साथ।

ईळे √ईड् (स्तुति करना) से लट् उत्तमपुरुष का एकवचन रूप है। दो स्वरों के बीच आने पर ड का ळ रूप हो जाता है। ईडे में ड् के एक ओर ई है, दूसरी ओर ए; अतः ईळे रूप हो गया है। किसी एक तरफ व्यंजनवर्ण आ जाय तो यह परिवर्तन नहीं होता—ईड्यः। ढ का परिवर्तन भी इसी तरह ळ्ह होता है।

स्वरविचार—(१) अग्निम्—'अग्नि' शब्द दो पक्षों से सिद्ध हो सकता है। एक तो व्युत्पत्तिपक्ष जिसमें इसे √अग् + नि इस प्रकार व्युत्पन्न मान सकते हैं, दूसरे अव्युत्पत्ति-पक्ष से इसे अव्युत्पन्न मान सकते हैं। व्युत्पत्ति-पक्ष में 'धातोः' (पा० ६।१।१६२) से √अग् के अकार को उदात्त माना जायगा (क्योंकि धातु अन्तोदात्त होता है और एक स्वरवर्ण वाले अग् धातु में आदि-अन्त का क्या विचार ?) उधर 'नि' प्रत्यय भी 'आद्युदात्तश्च' (पा० ३।१।३) के अनुसार प्रत्ययस्थ इकार को उदात्त कर रहा है। परन्तु नियम है कि पूरे पद में एक ही उदात्त रहे (अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ६।१।१५८) अतः दोनों उदात्तों में किसी एक को अपनी सत्ता का लोभ संवरण करता ही है। कात्यायन ने ऐसी स्थिति के संघर्ष से बचने के लिए कहा है कि पहले स्थित स्वर से अधिक बलवान् बाद में लगने वाला स्वर होता है। दूसरे शब्दों में, धातुस्वर से अधिक बलवान् प्रत्ययस्वर है। हाँ, विकरण (श्नु, श्ना आदि) इस नियम के अपवाद हैं। (सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः ६।१।१५८ वा०)। परिणामतः 'अग्नि' में इ उदात्त हुआ। अव्युत्पत्तिपक्ष में भी निष्कर्ष यही आता है, प्रातिपदिक (फिट्) सामान्य रूप से अन्तोदात्त होते हैं (फिषोन्त उदात्तः, फि० सू० १)। अग्नि + अम् = अग्निम्। 'अमि पूर्वः' (पा० ६।१।१०७) के अनुसार पूर्वरूप एकादेश हुआ। अम् प्रत्यय (विभक्ति) सुप् के अन्तर्गत है अतः 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३।१।४) के अनुसार वह अनुदात्त है। दोनों के मिलने पर (उदात्त + अनुदात्त) यदि एकादेश हो तो उदात्त ही रहेगा—वास्तव में, उदात्त स्वर के साथ किसी स्वर की संधि हो और एकादेश हो तो उदात्त स्वर बचता है (एकादेश उदात्तेनोदात्तः, ८।२।५)। अतः अग्निम् अन्तोदात्त है। (२) ईळे—यह तिङन्त रूप है जो किसी तिङन्त हि, यत् आदि निपातों के बाद रहने से उदात्त स्वर रखता है अन्यथा पूरा-का-पूरा अनुदात्त हो जाता है। इसे शास्त्रीय दृष्टि से 'निघात' कहते हैं (तिङ्ङतिङः ८।१।२८)। जब उपर्युक्त दोनों पदों की संहिता का रूप बनाया जाय तो 'नि (इ)' के उदात्त के बाद रहने से 'ई' (जो अग्निमीळे में 'मी' हो जायगा) का अनुदात्त स्वरित हो जायगा (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, ८।४।६६) तथा उसके अनन्तर आनेवाले

वर्ण 'ले (ए)' को 'प्रचय' नाम पड़ता है जिसे अंकित नहीं किया जाता (स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्, १।२।३९)। स्मरणीय है कि यह प्रचय उन सभी वर्णों को होते जाता है जो स्वरित के बाद आते हैं; जब तक विराम (अवसान) न आ जाय या किसी उदात्त का द्योतक अनुदात्त न आवे। (३) पुरःऽहि॑तम्—पुरः अन्तोदात्त है क्योंकि पूर्व + अस् (पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्, ५।३।३९) करके बनता है पूर्व के स्थान पुर् आदेश भी होता है। प्रत्यय का स्वर अर्थात् आद्युदात्तः (पा० ३।१।३) अस् रहा जिससे पुरस् में अ उदात्त है। उधर उत्तर पद में √धा (हि) + क्त करके प्रत्यय स्वर की सबलता से 'हित' शब्द अन्तोदात्त बना। समास बनाने पर 'समासस्य' (पा० ६।१।२२३) के अनुसार पूरे 'पुरोहित' शब्द को अन्तोदात्त होना चाहिये पर उसके अपवाद के रूप में पूर्वपद में अव्यय रहने से पूर्वपद की ही प्रकृति का स्वर रहेगा, दूसरे उदात्त को अपनी सत्ता मिटानी पड़ेगी (तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः, ६।२।२)। फलतः ओ उदात्त, इ स्वरित, और अ प्रचय हुए, पुरः शब्द के प्रकृति स्वर की रक्षा का एक और उपाय भी संभव है। पुरःशब्द 'गति' संज्ञक है (पुरोऽव्ययम्, १।४।६७) अतः 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर रहेगा। सूत्र का अर्थ है कि कर्मवाच्य के अर्थ में क्त प्रत्यय से बना हुआ शब्द यदि पर में हो तो अव्यवहित गतिसंज्ञक शब्द प्रकृतिस्वर में रहता है। संहिता होने पर पुरोहित के उकार को प्रचय हो रहा था किन्तु नियम यह है कि उदात्त या जात्यस्वरित (independent svarita) के पूर्व में प्रचय अथवा स्वरित से भी अधिक बलवान् अनुदात्त होता है (उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः, १।२।४०)।

(४) यज्ञस्य॑—√यज् + नङ् ('यजयाच०', ३।३।९०) से बनने वाला यज्ञ शब्द अन्तोदात्त है, सुप् प्रत्यय (ङस्—स्य) चूँकि अनुदात्त होता है (अनुदात्तौ सुप्पितौ, ३।१।४) अतः स्य का अ स्वरित हो गया। ज्ञ का अ उदात्त और य का अ पद-संहिता दोनों ही पाठों में अनुदात्त है क्योंकि उदात्त के अव्यवहित पूर्व है। (५) देवम्—√दिव् + अच् (नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४)। यह शब्द अन्तोदात्त है, चाहे फिट् (प्रातिपादिक) का स्वर लें—फिषोऽन्तः (फि० १।१), या प्रत्यय का स्वर रखें—आद्युदात्तश्च (३।१।३), अथवा 'चितः' (६।१।१६३) सूत्र से चित् होने के कारण (अच् में च् की इत्संज्ञा है) वह अन्तोदात्त स्वर रखें। द्वितीया एकवचन की अम्-विभक्ति लगाने पर 'अग्निम्' शब्द की तरह समझें। (६) ऋत्विजम्—ऋतु + √यज् + क्विन् (ऋत्विग्दधृक्० ३।२।५९ से

निपातन)। संप्रसारण होने पर ऋतु + इज्—ऋत्विज्। 'इज्' यह शब्द-स्वरूप चूँकि कृत्प्रत्ययान्त है जिसके पूर्व में कारक 'ऋतु (ऋतौ)' है अतः 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) के अनुसार कृदन्त उत्तरपद वाले शब्द को समास में प्रकृतिस्वर होगा, पूर्वपद में स्वर का निघात हो जायगा—इ उदात्त। विभक्ति का स्वर तो पूर्व के जैसा ('अग्निम्' की तरह) रहेगा। (७) होतारम्—√हु + तृन् (३।२।१३५)। नित् प्रत्यय होने के कारण (ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७) होतृ शब्द आद्युदात्त है। ओ के उदात्त होने से आ स्वरित और अ प्रचय हो गया। (८) रत्नऽधातमम्—'रत्न' शब्द आद्युदात्त है क्योंकि इसन्त (जैसे—सर्पिः) को छोड़कर, नित्यरूप से नपुंसक लिङ्ग (नप्) में रहने वाले शब्द आद्युदात्त होते हैं (नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० २६)। रत्नं दधातीति रत्नधाः (उपपद समास)। समास होने के कारण (समासस्य ६।१।२२३) अथवा कृदन्त शब्द शब्द उत्तरपद में होने के कारण उसके प्रकृतिस्वर की रक्षा करने पर—जैसे भी चाहें, 'रत्नधा' अन्तोदात्त हो जायगा। अब यदि तमप् प्रत्यय (पा० ५।३।५५) लगावें तो पित् के कारण वह अनुदात्त हो जायगा, अम् लगने पर भी सुप् के कारण अनुदात्त—परिणामतः धा का आकार ही एकमात्र उदात्त रहेगा, अन्य वर्ण यथायोग्य स्वर रखेंगे।

मन्त्र—२

मंत्र में स्थित पूर्व ऋषियों का तात्पर्य है भृगु, अङ्गिरा आदि प्राचीन ऋषि जो मधुच्छन्दा से पहले के थे। उनके द्वारा भी अग्नि की स्तुति होती थी। उन परिवारों के कितने ही लोग मधुच्छन्दा से पूर्व थे, कितने नये भी थे। डा० सीताराम प्रधान के अनुसार कुछ प्राचीन ऋषियों के नाम दिये जा सकते हैं :—च्यवन, अप्नवान, उशनस्, कवि, उरु, ऋचीक, जमदग्नि आदि भृगु के परिवार में; बृहस्पति १ तथा २, अयास्य १ तथा २, अथर्वन्, दध्यञ्च्, वृषन्, संवर्त, उशिज, उचथ्य, भरद्वाज, दीर्घतमस्, सुधन्वन्, ऋभु, विभ्वन्, वाज, कवन्ध १, विचार आदि अङ्गिरस् परिवार में, वसिष्ठ तथा अत्रि के परिवार में कुछ लोग एवं उनके अपने परिवार में भी कुशिक, गाथिन् तथा विश्वामित्र आदि निश्चित रूप से मधुच्छन्दस् के पूर्ववर्ती थे। इनमें कुछ के तो मंत्र मिलते हैं तथा कुछ केवल ऋषिरूप में वेदों में प्रसिद्ध हैं, उनके मंत्र प्राप्त नहीं हैं।

तिलक ने पूर्व ऋषि का अर्थ किया है कि जो ऋषि आर्यों के मूल वास-स्थान उत्तर मेरु (ध्रुव) के निकट निवास करते थे; वहीं से भरत में आर्यों

के आने का सिद्धान्त तिलक मानते थे। कुछ भी हो इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि प्राचीन मंत्रों की ही सत्ता थी अथवा मंत्रों-स्तुतियों का पूर्वापर क्रम भी था। 'इह' का तात्पर्य अग्निष्टोम यज्ञ में लाने से हैं क्योंकि सामान्य विनियोग इसका सूचक है। अग्निष्टोम में प्रयोग के लिए ही संभवतः मधुच्छन्दा ने इसकी रचना की हो।

स्वरविचार—(१) अग्नि :—पूर्ववत् अन्तोदात्त, विभक्ति आदि। (२) पूर्वेभि :—√पूर्व (पूरा करना) + अन्। नित् प्रत्यय के कारण आद्युदात्त। सुप् विभक्ति तो अनुदात्त होने के कारण प्रचय हो जायगी। (३) ऋषिऽभिः—√ऋषी (गतौ) + इन् (कित्—उ० ४।५५९)। निन् होने से आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६।१।१९७)। सुप् की भिस् विभक्ति अनुदात्त है (अनुदात्तौ सुप्पितौ ३।१।४)। उसका प्रचय स्वर क्योंकि स्वरित के बाद है।

(४) ईड्यः—√ईड् + ण्यत्। यद्यपि प्रत्यय के तित् रहने के कारण 'तित्स्वरितम्' (६।१।१८५) के अनुसार अकार को स्वरित तथा अवशिष्ट ई को अनुदात्त हो जाना चाहिए किन्तु उस सूत्र के अपवाद के रूप में 'ईडवन्द-वृशंसदुहां ण्यतः' (६।१।२१४) से शब्द ही आद्युदात्त हो गया है। (५) नूतनैः—'नव' शब्द के स्थान नू आदेश ('नवस्य नू त्नप्तनप्खाश्च' वा० ५।४।३०) तथा महावार्तिक के अनुसार तनन् प्रत्यय होने पर नित् के कारण आद्युदात्त स्वर हो गया। (६) उत—यह अन्तोदात्त है जिसकी सिद्धि के दो विधान सायण ने दिये हैं। 'निपाता आद्युदात्ताः' (फि० ८०) के कारण यह आद्युदात्त नहीं हो सकता क्योंकि निपात होने पर भी 'उत' शब्द भी, 'प्रातः' शब्द की तरह जो स्वरादि-गण में (पा० १।१।३७) अन्तोदात्त पढ़ा गया है, अन्तोदात्त माना जायगा। कारण यह है कि स्वरादि निश्चित संख्या का गण नहीं, आकृति गण है—दूसरे शब्द भी इस गण में अन्तर्भुक्त हो सकते हैं। दूसरी तरह से भी 'एवादीनामन्तः' (फि० ८२)[1] से यह अन्तोदात्त हो सकता है।

(७) स :—इसमें फिट्स्वर अर्थात् 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि० १) से अन्तोदात्त होगा। एक ही वर्ण है अतः उदात्त ही कहेंगे। (८) देवान्—पूर्वमंत्र में देव शब्द आ चुका है। (९) आ—निपात के कारण आद्युदात्त। (१०) इह—इदम् + ह। प्रत्यय का स्वर रहना अर्थात् प्रत्यय है ह, उसीका आदि (अ) उदात्त होगा। (११) वक्षति—इस क्रियापद (तिङन्त) के स्वर का निघात हो गया है, सभी स्वर अनुदात्त रूप में हैं क्योंकि तिङन्त पद यदि तिङन्त के बाद न हो तो उसका निघात हो जाता (तिङ्ङतिङः ८।१।२८)।

१. पाठान्तर—एवमादीनामन्तः।

मन्त्र—३

सायण ने 'अग्निना रयिमश्नवत्' का अर्थ किया है कि कोई भी यजमान अग्नि से, उनके कारण, धन पाता है जब कि गेल्डनर आदि विद्वान् 'अश्नवत्' में इच्छा की गन्ध पाकर 'प्राप्त करे' ऐसा अर्थ करते हैं। सायण ने स्वयं भी ऋ० सं० १।९३।३, १।११३।१८, ८।१८।१४ आदि में 'अश्नवत्' का इच्छार्थ में रूपान्तर किया है। दूसरे, प्रस्तुत प्रसंग में भी व्याकरण प्रक्रिया दिखलाते हुए वे लेट् लकार ही मानते हैं जो उसी अर्थ का सूचक है। किसी भी स्थिति में वर्तमानकालिक अर्थ की कल्पना असंगत है। 'रयिम्' का अर्थ धन है जिसका सहकारी शब्द है 'पोषम्'। अग्नि के कारण कोई धन और पोष दोनों ही पाये। 'पोष' की व्युत्पत्ति √पुष् से होने से इसका अर्थ 'वृद्धि, प्राचुर्य, समृद्धि आदि' है। ऋग्वेद में ऐसे सहचर शब्दों का प्रयोग 'च' के बिना ही होता है। प्रायः 'रायस्' शब्द के साथ समास में 'पोष' का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है—रायस्पोषम्। इसका अर्थ निश्चय ही धनवृद्धि है। सायण ही केवल ऐसे टीकाकार हैं जो रयि के विशेषण के रूप में 'पोष' का ग्रहण करते हैं—पोषं (वर्धमान) रयिम् (धन को)। दूसरे सभी लोग स्कन्दस्वामी, वे० मा०, गेल्डनर, मैकडोनेल आदि दोनों को पृथक्-शब्दों के रूप में रखते हैं। सायण का यह आग्रह संभवतः 'एव' को लेकर है जो 'पोष' (दिनोंदिन बढ़ने वाला) से भिन्न विशेषणों के (=स्थिर रहनेवाला, घटनेवाला) निवारणार्थ है। इसके अतिरिक्त भी, बाद के दोनों 'यशसं वीरवत्तमम्' भी विशेषण ही हैं अतः 'पोषम्' को इस रूप में रखने के लिए सायण विवश हो सकते हैं।

किन्तु ऋग्वेद की ही कुछ ऋचाओं के उद्धरण 'पोष' को विशेष्य (संज्ञा) सिद्ध करते हैं जैसे—

ऋ० सं० ८।२३।२१—भूरि पोषं स धत्ते वीरवद् यशः।

ऋ० सं० ९।६६।२१—दधद् रयिं मयि पोषम्।

„ २।२१।६—पोषं रयीनामरिष्टिं तनूनाम् (धेहि अस्मे)।

'दिवेदिवे' द्विरुक्ति से बनने वाला समास (Iterative Compound) है जो ऋग्वेद में निरन्तर प्रथम शब्द पर ही उदात्त लेता है। उसका अवग्रह भी पदपाठ में अन्य समासों की तरह होता है। अर्थ है 'प्रतिदिन'। 'यशसम्' विशेषण है। ऐसे असन्त शब्द ऋग्वेद में अधिक मिलते हैं जो संज्ञा और विशेषण दोनों हैं; अन्तर यही रहता है कि संज्ञा होने पर आदिवर्ण उदात्त होता है—यशः (कीर्ति), विशेषण होने पर द्वितीय वर्ण पर उदात्त पड़ता है—यशः (कीर्तियुक्त) अंग्रेजी में यह प्रवृत्ति देखने में अभी भी आती है।

'वीरवत्तमम्' का अर्थ है 'वीर संतानों से अत्यधिक परिपूर्ण'। सामान्यतः वत् (मतुप्-प्रत्यय) तथा तथा तम (प्) दोनों को ही समास के उत्तरपद के रूप में देखने का नियम है। किन्तु एक स्थान में तो कोई एक ही उत्तर पद हो सकता है; अतः वीरवत् को एक पद तथा तम को दूसरे पद में करके अवग्रह किया गया है। यही बात 'रत्नधातम' में भी हुई थी। यहाँ 'यशसम्' तथा 'वीरवत्तमम्' दोनों सहकारी हैं, विशेषण हैं किन्तु 'च' का प्रयोग नहीं हुआ है। अग्नि देवता की सहायता से कोई भी यजमान प्रतिदिन धन प्राप्त करे; यही नहीं, वह कीर्तिप्रद तथा वीर संतानों से अत्यधिक परिपूर्ण समृद्धि भी पाये—यही हमारी कामना है।

स्वरविचार—(१) अग्निना—अग्नि शब्द अन्तोदात्त है जिसमें अनुदात्त टा (सुप्) लगा है, वह स्वरित हो गया—उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६६)। (२) रयिम्—फिट् का स्वर अर्थात् अन्तोदात्त। शेष कार्य पूर्ववत्। (३) अश्नवत्—√अश् + लेट् (तिप्)। अतिङन्त के बाद तिङ् होने से पद के स्वर का निघात हो गया (८।१।२८), पूरा ही अनुदात्त हो गया है। (४) पोषम्—√पुष् + घञ्। ञित् प्रत्यय के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त। (५) एव—यद्यपि निपात आद्युदात्त होते हैं परंतु 'एवादीनामन्तः' (फि० ८२) के अनुसार प्रस्तुत निपात अन्तोदात्त है। (६) दिवेऽदिवे—दिव् + ङि (सप्तमी एकवचन)। 'सुपां सुलुक्'० से शे—आदेश = दिवे। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) के कारण अथवा 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) से शे को उदात्त हुआ है। प्रथम सूत्र का अर्थ है कि सप्तमी बहुवचन (सु) की विभक्ति लगने के समय जो शब्द एकाच् रहता है (जैसे वाक्, दिव् आदि; राजन् आदि नहीं,) उसमें लगायी जाने तृतीया आदि विभक्ति उदात्त होती है। अतः शे (ए) उदात्त है। दूसरे सूत्र का अर्थ है कि ऊठ् (प्रष्ठौहः आदि में), इदम्, पद्-आदि (पत्, दत्, नस्, मास्० ६।१।६३), अप्, पुम्, रै और दिव् इन शब्दों के बाद सर्वनामस्थान से भिन्न कोई भी विभक्ति उदात्त होती है। इस विधि से भी 'दिवे' अन्तोदात्त है। 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) सूत्र से द्विरुक्ति (वीप्सा = व्याप्त करने की इच्छा अर्थ में) होने पर द्वितीय शब्द को आम्रेडित-संज्ञा और अनुदात्त (तस्य परमाम्रेडितम्, अनुदात्तं च ८।१।२-३)।

(७) यशसम्—यशःअस्यास्तीति, यशस् + अच् (अर्शआदिभ्योऽच् ५।२।१२७)। चित् स्वर के कारण (६।१।१६३) अन्तोदात्त होगा किन्तु स्वरव्यत्यय से मध्योदात्त। (८) वीरवत्ऽतमम्—वीर शब्द फिट्स्वर से अन्तोदात्त है, दो प्रत्यय जो मतुप् और तमप् लगे वे पित् होने से अनुदात्त

हैं अतः र का अकार उदात्त रूप में बचा है अन्य सभी अनुदात्त हैं जो नियमानुसार अनुदात्त, स्वरित, प्रचय के रूप में बदल गये हैं।

मन्त्र—४

प्रस्तुत मंत्र में अग्नि की यज्ञव्यापकता का उल्लेख हो रहा है। चार रूपों में अग्नि की स्थापना वेदिका के चारों ओर होती है—आहवनीयाग्नि पूर्व में, मार्जालीय अग्नि पश्चिम में, गार्हपत्याग्नि दक्षिण में और आग्नीध्रीय अग्नि उत्तर में प्रतिष्ठित होते हैं। विश्वतः अर्थात् चारों ओर से परिभू (घेरा डालनेवाले) का यही रहस्य है।

'अध्वरम्' शब्द विशेष महत्त्व का है। सायण तो √ध्वृ = हिंसा करना, बाधा—अर्थ में लेकर इसे 'अबाधित, राक्षसादि के उपद्रवों से रहित' अर्थ में मानकर परंपरा की रक्षा करते हैं, किन्तु भारत में भी यह शब्द 'यज्ञ' अर्थ में ही रूढ हो गया है। गेल्डनर ने इसे पूजा-स्तुति के अर्थ में लिखा है जो ऋ० ५।५१।२ देखते हुए अशुद्ध सिद्ध होता है। मैकडोनल का मत भिन्न क्यों होने लगे? यज्ञ-पूजा (Worship) तथा अध्वर=यज्ञीय कार्य (Sacrificial act)। स्पष्ट है कि इन्होंने यज्ञ और अध्वर को दो अर्थों में लेकर सहकारी शब्दों की कल्पना की है जब कि दूसरे लोग दो विशेष्य न मानकर एक ही विशेष्य मानते हैं। ऋग्वेद-संहिता के निम्न उदाहरण—

२।२।५ स होता विश्वं परि भूत्वध्वरम्।
४।९।७ अस्माकं जोष्यध्वरमस्माकं यज्ञमङ्गिरः।

यह सिद्ध करते हैं अध्वर और यज्ञ का साहचर्य अन्यत्र भी है और यह 'अध्वर' शब्द यज्ञ के अर्थ में व्यापक है। अध्वर से अध्वर्यु की निरुक्ति भी यही तथ्य प्रकट करती है। अतएव अच्छा यही है कि इसे भी यज्ञ अर्थ में लेकर पुनरुक्ति के परिहार के लिए यह कहें कि बल (emphasis) देने के लिए ऐसा प्रयोग हुआ है।

स्वरविचार—(१) अग्ने—'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) सूत्र से आमंत्रित अर्थात् संबोधन होने के कारण आद्युदात्त हुआ है। अष्टमाध्याय के इसी सूत्र से इसका निघात (उदात्त का अनुदात्तीकरण) नहीं होगा क्योंकि यह पादादि में है। (२) यम्—एकस्वरीय सर्वनाम है अतः उदात्त तो रहना ही है। (३) यज्ञम्—पूर्ववत् (ऋ० १।१।१)। (४) अध्वरम्—न विद्यते ध्वरो यस्य (बहुव्रीहि)। 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से अन्तोदात्त; बहुव्रीहि में यदि पूर्वपद में नञ् (न>अ, अन्) अथवा सु रहे तो शब्द अन्तोदात्त होता है।

(५) विश्वतः—विश्व + तसिल्। यहाँ प्रत्ययस्वर (प्रत्यय को आद्युदात्त) होना चाहिए किन्तु वह लित् है जिसके फलस्वरूप उसके पूर्व का वर्ण उदात्त हुआ—'लिति' (६।१।१९३)। तस् के पूर्व वकार का अ उदात्त हुआ। (६) परिऽभू—परि + भूः + क्विप्। यहाँ पूर्वपद में अव्यय है अतः 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (६।२।२) इस सूत्र से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होना चाहिए परन्तु उसके अपवाद के रूप में 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) जिसमें यह कहा गया है कि गति, कारक या उपपद के बाद यदि कृदन्त शब्द हो तो उत्तरपद का प्रकृतिस्वर होता है)—इस सूत्र से उत्तरपद (= भूः) का प्रकृतिस्वर अर्थात् उदात्त हो गया है। (७) असि—क्रियापद है किन्तु इसका निघात इसलिए नहीं हुआ कि यह 'यत्' (यम्) के बाद आया है—'यद्वृत्तान्नित्यम्' (८।१।६६)। मैकडोनल कहते हैं कि अस्वतंत्र वाक्यखंडों (Subordinate clause) में क्रियापद का निघात नहीं होता : उसी तथ्य की प्रकारान्तर से व्याख्या है।

(८) सः—सर्वनाम उदात्त। (९) इत्—निपात उदात्त है। (१०) देवेषु—पूर्ववत् (ऋ० १।१।१)। (११) गच्छति—क्रियापद है अतः 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात।

मन्त्र—५

इसमें अग्निदेव से प्रार्थना की जाती है कि वे सभी देवताओं के साथ यज्ञशाला में आवें (आ गमत्)। अवशिष्ट शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं। ये चार हैं—होता, कविक्रतुः, सत्यः तथा चित्रश्रवस्तमः। प्रथम मंत्र में भी अग्नि को होता कहा गया है।

'कविक्रतुः' शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि न केवल यह ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त हुआ है, प्रत्युत समानान्तर भाष ाों में भी इसकी प्राप्ति होती है। सायण स्पष्टरूप से कवि का अर्थ मेधावी न मानकर 'क्रान्त' (प्राप्त किये हुए, संपन्न किये हुए) लेते हैं तथा 'क्रतु' का अर्थ प्रज्ञा या कर्म (यज्ञ) मानते हैं। तदनुसार 'क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा' लिखते हैं जिनके अर्थ हैं कि अग्निदेव प्रज्ञा प्राप्त किये हुए, या यज्ञ-कर्म में कुशलता पाये हुए हैं। गेल्डनर का अर्थ है कि अग्नि 'ऋषि के भाव या शक्ति प्राप्त किये हुए' हैं। ग्रीक में क्रतोस् शब्द मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का पर्याय है। अवेस्ता में ख्रतुस् का अर्थ है शारीरिक शक्ति। वहाँ कवि का अर्थ राजा है। वेदों में ऋषि या कवि की सामान्य धारणा यह है कि वह आन्तर नेत्र से दिव्य वस्तुओं को देख सकता है। क्रतु के अर्थ भी प्रायः प्रज्ञा या अनुभव ही हैं। क्रतु का अर्थ

'यज्ञ' होने का कारण यह है कि ऋग्वेद के कवियों की प्रज्ञा विशिष्ट थी, यज्ञ से ही सम्बद्ध थी। अतः बाद में अर्थादेश होकर यज्ञ अर्थ में क्रतु का प्रयोग होने लगा। कहीं-कहीं (जैसे ऋ० ४।१०।१) क्रतु का अर्थ यज्ञकर्ता भी है। अच्छा अर्थ है 'कवि या प्रज्ञ की प्रतिभा से संपन्न' अग्निदेव......।

'सत्यः' शब्द उन अनेक देवताओं के विशेषण के रूप में आया है जो अपने नियम के पालन में पक्के (Punctual) हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण या दूसरे देवताओं को सत्य या नियमपालक कहा गया है। सायण यहां 'अवश्य फल देनेवाला' तात्पर्य रखते हैं। अन्तिम विशेषण 'चित्रश्रवस्तमः' है। चित्र विभिन्न प्रकार के, अत्यन्त तेजस्वी आदि। 'श्रवः' का अर्थ कहीं अन्त भी हुआ है परन्तु यहां सभी लोग 'कीर्ति' ही ग्रहण करते हैं। 'चित्रश्रवः' का अर्थ इस प्रकार 'तेजोमय कीर्तिवाला' है। उनमें सर्वाधिकता दिखाने के लिए अतिशायन-वाचक (Superlative) तमप् प्रत्यय लगा है जिससे अर्थ होता है—सबसे अधिक तेजःपूर्ण कीर्ति से भरे अग्निदेव......। [तुल० ग्रीक—लुतोस् = कीर्ति; प्रा० स्ला०—स्लोवो = शब्द।]

'देवेभिः' वैदिक भाषा के अनुसार निष्पन्न होता है। अकारान्त शब्दों में भिस् प्रत्यय लगने पर लोक-भाषा में ऐसादेश होता है किन्तु वेद में इसकी अनिवार्यता नहीं है। अतः 'बहुवचने झल्येत्' से एकारादेश होता है। 'गमत्' लेट् लकार का रूप है—√गम् + अट् + तिप् (त्)। अर्थ है 'आवें' (आगमत्)।

स्वरविचार—(१) अग्निः—पूर्ववत् (ऋ० १।१।१) अन्तोदात्त। (२) होता—पूर्ववत् (ऋ० १।१।१) आद्युदात्त—√हु + तृन्। नित् प्रत्यय के कारण आद्यक्षर उदात्त। (३) कविऽक्रतुः—कवेः क्रतुरिव क्रतुर्यस्य (बहुव्रीहिः)। अतः पूर्वपद के प्रकृतिस्वर की रक्षा हुई है—'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१)। पूर्वपद कवि अन्तोदात्त है उसी के इकार से उदात्त की रक्षा हुई। अन्य स्वर यथास्थान लगे।

(४) सत्यः—'तत्र साधुः' (४।४।९८) 'सत्सु साधुः' के अर्थ में सत् + यत्। हरदत्त ने पदमञ्जरी (५।४।६६) इसे निपातन से अन्तोदात्त माना है। (५) चित्रश्रवःऽतमः—बहुव्रीहि समास (चित्रं श्रवो यस्य) होने से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। तमप् प्रत्यय लगने पर 'रत्नधाऽतम' की तरह अवग्रह-चिह्न 'तम' के पूर्व हुआ है। (६–७) देवः, देवेभिः—पूर्ववत् (ऋ० १।१।१) देव-शब्द अन्तोदात्त है। (८) आ—निपात आद्युदात्त है। (९) गमत्—क्रियापद का निघात।

प्रथमवर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

अग्निदेव को अपनी ओर अभिमुख करते हुए कहा जा रहा है कि आप हवि देने वाले यजमान को धन, गृह, प्रजा, पशु आदि देकर कल्याण करते हैं यह बिलकुल सच है। इस सम्बन्ध में अग्नि के दो सम्बोधन हैं, अङ्ग तथा अङ्गिरः। बीच में 'अग्ने' तो है ही। तीनों की व्युत्पत्ति √अग् से हुई प्रतीत होती है। 'अङ्ग' निपात है, केवल ध्यान आकृष्ट करना इसका कार्य है। सबसे महत्त्व का शब्द है अङ्गिरस्।

अङ्गिरा एक ऋषि थे जो अग्नि की स्थापना करनेवाले थे। अग्नि को प्रथम उत्पन्न करने का श्रेय इन्हीं को था। उत्पादक के नाम पर उत्पन्न वस्तु का नाम पड़ गया, अतः अग्नि को अङ्गिरा कहा गया है। वैसे निरुक्त (३।१७—देहेऽङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (३।३४—येऽङ्गारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्) की प्रामाणिकता पर 'अङ्गिराः' जलते अग्निपिण्ड को कहते हैं।

ऋग्वेद के कई मन्त्रों में (१।३१। १७, १।४५।३, १।३९।९ आदि तथा अथर्व० ४।२९।३) अङ्गिरा के निर्देश प्राप्त हैं। यहाँ पूर्वज ऋषि के रूप में ये निर्दिष्ट हैं। ऋग्वेद तथा अनुवर्ती वैदिक पौराणिक साहित्य के उल्लेखों के अनुसार उनके वंशज अथर्वन् ने पुष्कर से अग्नि उत्पन्न की थी। अथर्वन के तीन पुत्र हुए—बृहस्पति १, गोतम और वृषन्। वेदों में वृषन् का नाम प्रायः पाध्यवृषन् के रूप में आया है। वृषन् के पुत्र सुधन्वन् आङ्गिरस, असुरपति विरोचन (प्रह्लाद-पुत्र) के समकालिक थे। केशिनी नामक स्त्री से विवाह करने के लिए प्रह्लादि विरोचन तथा सुधन्वन् आङ्गिरस में परस्पर कलह हो गया था। इन सुधन्वन् के पुत्र ऋभुगण थे जो ऋग्वेद में देवरूप पाकर तृतीयसवन में हव्य के अधिकारी बन गये थे। अपने कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध त्वष्टा के ये शिष्य थे।

आंगिरस वंश के बृहस्पति (१) ने पणियों के राजा वल को मारकर गायों को छुड़ाया था। उन्होंने अंशुमती के तटपर १० हजार आंगिरसों की सहायता से दासराज कृष्ण को परास्त किया था। ये बृहस्पति (१) भी देवरूप पा चुके थे। बृहस्पति (२) आंगिरस राजा पुरूरवा के समकालिक थे। इन पुरूरवा की ख्याति अप्सरा-जाति की कन्या उर्वशी के पति के रूप में है। तीसरे बृहस्पति इक्ष्वाकुवंशीय मान्धाता यौवनाश्व के समसामयिक थे। इन्हीं के पुत्र भरद्वाज थे जो दिवोदास के पुरोहित हुए। इस प्रकार आङ्गिरस गोत्र की बड़ी समृद्ध परम्परा थी।

'तव इत् तत् सत्यम्' का विश्लेषण सायण ने दूसरे ढंग से किया है। अग्निदेव यजमान का कल्याण करेंगे, वह (तत्) कल्याण अग्नि के ही (तव इत्) सुख का साधन है। इसमें कोई संदेह नहीं, यह सच है (सत्यम्)। इस पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि यजमान को धनादि की प्राप्ति होने पर यजमान बाद में यज्ञानुष्ठान करता है, इससे अग्नि को ही तो सुख मिलता है। 'यत्' का सम्बन्ध 'भद्रम्' से है जिसके बाद 'तत्' दिया गया है।

स्वरविचार—(१) यत्—सर्वनाम उदात्त। (२) अङ्ग—निपात होने पर भी (आद्युदात्त की स्थिति) 'आभि' आदि (फिट्० ८१) के अन्तर्गत रहने से इसे अन्तोदात्त हुआ है। (३) दाशुषे—दाश्ट (दाने)+ क्वसु (निपातन-सिद्धि) + चतुर्थी ए० व० (ङे)। सम्प्रसारण। प्रत्ययस्वर रहना क्योंकि धातु के बाद है (सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम्) और ङे सुप् होने के कारण अनुदात्त है। अतः वस् से निष्पन्न उस् का स्वर उदात्त हुआ है। (४) त्वम्—सर्वनाम उदात्त। छन्द के निर्वाह के लिए इसे तुअम् पढ़ना पड़ेगा।

(५) अग्ने—आमन्त्रित (सम्बोधन) होने पर भी निघात (८।१।१९) नहीं होगा क्योंकि पादादि में है। अतः षष्ठाध्याय के 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) सूत्र के अनुसार आद्युदात्त हुआ। (६) भद्रम—भदि (कल्याणे) + रक् (निपातन) होने के कारण प्रत्ययस्वर होकर अन्तोदात्त। (७) करिष्यसि—√कृ + इट् + स्य + सिप् (लृट्)। क्रियापद होने के कारण 'तिङ्ङतिङः' से निघात (८।१।२८) का प्रसंग है परन्तु यह 'यत्' के बाद उससे सम्बद्ध है अतः 'निपातैर्यद्यदिहन्त०' (८।१।३०) से निघात का निषेध हो गया। अब स्वर तो लगना ही है। शिष्ट-स्वर के नियम से अन्तिम स्वर स्य प्रत्यय का है; सिप् तो पित् होने के कारण अनुदात्त है अतः स्य (अ) उदात्त होगा। अन्य स्वर यथानियम लगेंगे।

(८) तव—'युष्मदस्मदोर्ङसि' (६।१।२११) से आद्युदात्त। (९) इत्—निपात उदात्त। (१०) तत्—'यत्' की तरह सर्वनाम उदात्त। (११) सत्यम्—पूर्ववत् (ऋ० १।१।५) अन्तोदात्त। (१२) अङ्गिरः—आमन्त्रित होने के कारण निघात।

मन्त्र—७

यहाँ से आरम्भ करके तीन ऋचाओं का पाठ अग्नीषोम-प्रणयन में किया जाता है (ऐ० ब्रा० १।३०)। प्रस्तुत मंत्र में अग्निदेव को सम्बोधित करके

कहा जा रहा है कि हमलोग प्रतिदिन आपके पास भक्तिभाव से नमस्कार करते हुए आ रहे हैं। 'दिवेदिवे' द्विरुक्त समास है (Iterative Compound) जिसका अर्थ 'प्रतिदिन' है। 'उप' का सम्बन्ध 'एमसि' के साथ है उप + आ + इमः=निकट आते हैं)। सायण के दो शब्दार्थों पर यूरोपीय विद्वान् आपत्ति करते हैं—'दोषावस्तः' तथा 'धिया'।

'दोषावस्तः' में दोषा (रात्रि) तथा वस्तः (सायण—दिन) ये दो शब्द हैं जिनसे सायण अर्थ लेते हैं दिन-रात (रात्रावहनि च)। इस प्रकार यह शब्द क्रियाविशेषण बन जाता है। गेल्डनर इसका अर्थ 'अन्धकार-प्रकाशक' करते हुए 'अग्ने' का विशेषण बना देते हैं। √वस् का अर्थ 'प्रकाश करना' है। वस्तृ=प्रकाशक। सायण ने स्वयं भी ऋग्वेद (७।१५।१५) की व्याख्या में ऐसे ही संदर्भ का अर्थ 'रात्रि के अन्धकार का निवारक' लिया है। दूसरी बात यह है कि 'दिवेदिवे' के बाद 'दोषावस्तः' की आवश्यकता (सायणीय अर्थ में) नहीं रहती, अतः इसका अर्थ 'रात्रि को प्रकाशित करने वाले, हे अग्निदेव,……' करना चाहिए।

मैकडोनल कुछ और टिप्पणियाँ देते हैं—'दोषावस्तः' का अर्थ 'रातदिन' नहीं हो सकता क्योंकि 'वस्तः' क्रियाविशेषण के रूप में कहीं नहीं आया है। दूसरे 'दोषा' का स्वर भी बदला हुआ है (=दोषाऽवस्तः) ऐसे समासों में स्वर बदलता नहीं है जैसे—सायम् से सायंप्रातः। अतः संबोधन (अन्धकार के प्रकाशक) मान लेने पर आद्युदात्त की व्याख्या भी आसान हो जाती है (आमन्त्रितस्य च ६।१।१९८)। इन्द्र के एक ऐसे ही विशेषण से तुलना की जा सकती है—

क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य (ऋ० ३।४९।४)

'धिया' का अर्थ सायण 'बुद्धि से' करते हैं। मैकडोनल 'मानसिक प्रार्थना' का अर्थ करते हैं। दूसरे स्थानों में सायण ने इसका अर्थ 'भक्त्या' (भक्ति से) किया है वही उपयुक्त अर्थ लगता है क्योंकि 'नमो भरन्तः' के साथ दूसरे अर्थ ठीक नहीं जँचते। अपनी भक्ति से नमस्कार करते हुए हम आपके पास आते हैं। 'इमः' के स्थान में 'इमसि' का प्रयोग हुआ है (इदन्तो मसिः ७।१।४६)। उत्तमपुरुष बहुवचन में 'मस्' की अपेक्षा 'मसि' प्रत्यय ऋग्वेद में पाँच गुना अधिक प्रयुक्त है (मैकडोनल, वे० री० पृ० ८)।

स्वरविचार—(१) उप—'निपाता आद्युदात्ताः' (फि० ८०) से आद्युदात्त। (२) त्वा—'त्वामौ द्वितीयायाः' (८।१।२३) के अनुसार युष्मत् शब्द का त्वा आदेश अनुदात्त होता है (३) अवते—आमन्त्रित होने के कारण निघात (८।१।१९)। (४) दिवेऽदिवे—पूर्ववत् (ऋ० १।१।३)।

(५) दोषाऽवस्तः—सायण के अनुसार 'कार्त-कौजपादयश्च' (६।२।३७) से आद्युदात्त (?) हुआ है किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। इस सूत्र का अर्थ है कि 'कार्तकौजपो' आदि शब्दों में द्वन्द्व समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर में रहता है, आदि स्वर को उदात्त करने का विधान इसमें नहीं है। 'दोषा' शब्द अन्तोदात्त है, आद्युदात्त नहीं अतः पूर्वपद का प्रकृतिस्वर करने पर (इस सूत्र से) इसके स्वर की व्याख्या नहीं हो पाती। अन्ततः नयी व्याख्या के अनुसार आमंत्रित मानकर इसे आद्युदात्त करने की विधि ही सर्वाधिक सुरक्षित है (६।१।१९८)। (६) धिया—धी + तृतीया एकवचन (टा)। इयङ् आदेश। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) से विभक्ति का उदात्त होना। (७) वयम्—युष्मद् और अस्मद् शब्दों के रूप ङस् औ ङे को छोड़कर (६।१।२११-२) अन्य स्थानों में अन्तोदात्त होते हैं।

(८) नमः—निपात होने के कारण आद्युदात्त है। (९) भरन्तः—√भृ + शप् + शतृ + जस् (पुं० प्रथमा बहु०)। शप् पित है, अनुदात्त होगा। शतृ प्रत्यय ल सार्वधातुक (लकार के स्थान में होनेवाला सार्वधातुक प्रत्यय) होने के कारण (६।१।१८६) अनुदात्तस्वर है अतः धातु का स्वर ही बच रहता है। भर् में अ उदात्त हुआ। (१०) आ—'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१)। आद्युदात्त = उदात्त। (११) इमसि—क्रियापद है अतः 'तिङ्ङतिङः' से निघात।

मन्त्र—८

इस मंत्र में अग्नि के द्वितीयान्त विशेषण मात्र हैं, कोई क्रिया नहीं है अतः पूर्वमंत्र के 'त्वा' से संबद्ध करके इसका अर्थ किया जाता है। '......गुणों से विशिष्ट' आपके पास हम आते हैं। प्रथम दो चरणों में तीन विशेषण हैं—राजन्तम् (शासन करनेवाले; चमकनेवाले-सायण), गोपाम् (रक्षक), तथा दीदिविम् (प्रकाशक, चमकीले)। इनके बीच में क्रमशः अध्वराणाम् (अध्वरों का) तथा ऋतस्य (नियति-क्रम का) ये दो शब्द आये हैं। इनके साथ ऊपर के शब्दों के संबन्ध मानने में मतान्तर हैं। सायण तीन खंड करके षष्ठ्यन्त का संबन्ध अपने बाद वाले शब्द के साथ करते हैं—राजन्तम्, अध्वराणां गोपाम्, ऋतस्य दिदिविम्। परन्तु ऋग्वेद के १।२७।१, १।४५।४ आदि मंत्रों का पर्यवेक्षण बतलाता है कि वैश्वामित्र मधुच्छन्दस् का यह आशय नहीं है। अभिप्राय है—अध्वरों पर शासन करने वाले, ऋत या उचित कार्यक्रम के रक्षक तथा विशेषरूप से बार-बार चमकनेवाले। मैक्डोनल ने यही अर्थ रखते हुए 'दीदिविम्' को 'गोपाम्' का विशेषण बना दिया है।

'क्रम के चमकीले रक्षक' (the shining guardian of order) इस अग्नि का निर्देश किया गया गया है।

'ऋत' का अर्थ है प्रकृति का नियमित कार्यक्रम जैसे सूर्य, चन्द्र, ऋतु इत्यादि का क्रमशः होना। तदनन्तर इसका अर्थ यज्ञ का नियमित कार्यक्रम भी हुआ। इस अर्थ में अग्नि को ऋत का पालक बहुधा कहा गया है। ऋत का एक तीसरा अर्थ नैतिक कार्यक्रम (moral order) या औचित्य भी था जिसे संस्कृत में 'धर्म' कहा गया है। इस अर्थ में वरुण (ऋ० ७।८६) ऋत के रक्षक कहे गये हैं।

तीसरे चरण में अग्नि को अपने घर या यज्ञशाला में बढ़नेवाला कहा गया है। हविर्दान से अग्नि की वृद्धि होती है। 'दमः' का अर्थ घर है जो प्राचीन भारोपीय में भी रहा होगा क्योंकि लैतिन में समानान्तर रूप (domu-s) मिलता है। अंग्रेजी का domestic (घरेलू) शब्द इसी से निकला है। ऋग्वेद में प्रचलित होने पर भी संस्कृत में यह शब्द लुप्त हो गया।

स्वरविचार—(१) राजेन्तम्—√राज + शप् + शतृ। 'भरन्तः' (ऋ० १।१।७) की तरह धातुस्वर का अवशिष्ट रहना। (२) अध्वराणाम्—'नम्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से अध्वर शब्द अन्तोदात्त है। सुप् की विभक्ति आम् लगी पर यह अनुदात्त है। यथानियम स्वर लगे।

(३) गोपाम्—गो + √पा + क्विप्। समास के कारण अन्तोदात्त समासस्य' (६।१।२२३)। वास्तविक अर्थ 'गोरक्षक'। रूढि से 'रक्षक'। (४) ऋतस्य—ऋ + क्त। प्रत्ययस्वर का बचा रहना, इसलिए अन्तोदात्त (सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम्)। स्य प्रत्यय (सुप् होने से) अनुदात्त ही है। (५) दीदिविम्—√दिव् + क्विन् (लिट्)। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (६।१।७) से अभ्यासदीर्घ। 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१।१८९) से आद्युदात्त।

(६) वर्धमानम्—√वृध् + शप् + शानच्। शप् (पित् के कारण) और शानच् (ल सार्वधातुक होने से) के अनुदात्त होने के कारण धातु का स्वर ही रहेगा। अतः आद्युदात्त। (७) स्वे—सर्वनाम उदात्त। (८) दमे—वृषादि-गण में (६।१।२०३) रहने से आद्युदात्त।

मन्त्र—६

अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वे हमारे लिये सुगम बनें, हम सरलता से उन्हें पा सकें। एक उपमा दी गई है। जिस प्रकार पुत्र के लिए पिता सुगम रहता है उसी प्रकार वे ह॰ ॰रे लिए बनें। 'सूपायन' = आसानी से प्राप्त

होने वाला। 'पिता इव' एक ही समस्त पद माना गया है। 'इव' के साथ यह नियम है कि वह पद-पाठ में पूर्वपद के साथ समास का अंगीभूत पद माना जाता है। संहिता-पाठ में सूनवे + अग्ने की संधि हो जाती है पर पाठ अलग करके होता है क्योंकि छन्द की यही माँग है।

'सचस्व' का अर्थ है 'साथ रहें'। इसका प्रयोग केवल वेदों में ही होता है। संहिता-पाठ में छान्दस दीर्घ हो गया है। 'स्वस्ति'=कल्याण, शोभनस्थिति। यद्यपि यह सु + अस्ति के योग से बना है पर पद-पाठ में इसे इसलिए पृथक् नहीं करते कि 'अस्ति' स्वतंत्र संज्ञापद के रूप में कभी प्रयुक्त नहीं होता।

स्वरविचार—(१) सः—सर्वनाम उदात्त। (२ तथा ९) नः—अस्मद् का आदेश है अतः 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) से अनुदात्त। (३) पिताऽइव=पितेव—'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ८४) से इव अनुदात्त है, पिता अन्तोदात्त। दोनों का नित्य समास होने से शब्द मध्योदात्त हो जाता है। (४) सूनवे—अन्तोदात्त सूनु शब्द। नु प्रत्यय का स्वर।

(५) अग्ने—आमन्त्रित, पादादि में आद्युदात्त (६।१।१९८)। (६) सुऽउपायनः—शोभनमुपायनं यस्य (बहु०)। 'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्त। (७) भव—तिङ् का निघात।

(८) सचस्व—पादादि में विघाताभाव। 'भरन्तः' (ऋ० १।१।७) की तरह धातुस्वर। (१०) स्वस्तये—समासान्तोदात्त स्वस्ति शब्द।

द्वितीयवर्ग समाप्त।

सूक्त—२

नौ मंत्रों के प्रस्तुत सूक्त में तीन तृच (तीन ऋचाओं का समूह triplet) हैं। ये क्रमशः वायव्य (वायु को संबोधित), ऐन्द्रवायव (इन्द्र और वायु को सम्मिलित रूप से संबोधित) तथा मैत्रावरुण (मित्र और वरुण को साथ-साथ संबोधित)। इनका विनियोग अग्निष्टोमयाग में प्रउगशस्त्र में होता है। प्रथम सूक्त का पाठ उसी दिन प्रातरनुवाक में हो जाता है तब उद्गाता और होता के द्वारा स्तोत्र तथा शस्त्र का पाठ होता है। होता के द्वारा पढ़े गये शस्त्रों में प्रउगशस्त्र का द्वितीय स्थान है। सात देवताओं या देवता-युग्मों को संबोधित सात तृच इसमें पढ़े जाते हैं। इन विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन तृतीय सूक्त के आरंभ में किया जायगा।

प्रत्येक तृच में भिन्न देवता हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो गया है। ऋषि वही वैश्वामित्र मधुच्छन्दस् हैं तथा छन्द गायत्री ही है।

सूक्त के आरंभ में सायणाचार्य ने अपनी भाष्यभूमिका की शैली में ही एक प्रश्न उठाकर उसका समाधान जैमिनीय मीमांसासूत्रों के आधार पर किया है। प्रउगशस्त्र का नाम लेने से ही प्रश्न का स्मरण हो आया है। प्रश्न यह है कि यह शस्त्र है क्या ? इसका स्वरूप क्या है ? क्या देवता के स्मरण के रूप में यह संस्कार-कर्म है ? (२) अथवा अदृष्ट फल देनेवाला प्रधानकर्म है ? इनमें प्रथम पूर्वपक्ष है और दूसरा उत्तरपक्ष। स्पष्ट है कि शस्त्र अदृष्टफल देनेवाला प्रधान कर्म ही है।

आठ सूत्रों के द्वारा (मी० सू० २।१।१३–१६ तथा १८–२१) पूर्वपक्ष की स्थापना की गयी है। इनमें भी पूर्व और उत्तरपक्ष मिल गये हैं क्योंकि एक सूत्र का उत्तर उसके बादवाले सूत्र में दे दिया गया है। पुनः छह सूत्रों में (मी० सू० २।१।२४–२९) उत्तरपक्ष की स्थापना की गयी है और ऐसे स्थानों में अपने नियय के अनुसार जैमिनीयन्यायमाला से संग्रहश्लोक भी दिये गये हैं। हमारे प्रस्तुत अध्ययन में आवश्यक न होने से इस अप्राकरणिक प्रश्न को हम छोड़ देते हैं।

मन्त्र—१

यहाँ वायु-देवता को सोम पीने के लिए बुलाया जा रहा है। वायु अन्तरिक्ष के देवता हैं तथा निरुक्त (१०।१) में प्रथमागामी (प्रथम निर्दिष्ट) कहे गये हैं। प्रस्तुत मंत्र का उद्धरण भी वहाँ दिया गया है (१०।२)। निर्वचन करते हुए यास्क ने 'वायु' को √वा (जाना), वी (जाना) अथवा स्थौलाष्ठीवि के मत से √इ (जाना) से, जिसमें वकार निरर्थक जोड़ा गया है, निष्पन्न माना है। सबों में 'गमनशील' अर्थ है। पाणिनि-प्रक्रिया में √वा + उण् (कर्तृवाचक) से यह बनता है 'वातीति वायुः'।

विल्सन का कहना है कि यहाँ का मानवीकरण संभवतः काव्यात्मक है। फिर भी वायुदेव का महत्त्व ऋग्वेद में बहुत अधिक है। इनका वर्णन सौम्य देवता के रूप में हुआ है जब कि इन्हीं के प्राकृतिक तत्त्व को प्रकट करनेवाले मरुतों का वर्णन रौद्र देवता के रूप में हुआ है। इनका एक पर्याय 'पवन' यूनानी देवशास्त्र के Pan (पैन) से तुलनीय है जो वायु का ही देवता है। [लैटिन–Favonius]। कुछ लोगों का कथन है कि मातरिश्वा वायु ही यूनानी देवशास्त्र में प्रोमेथिउस् (Prometheus) हुआ है क्योंकि ऋ० १। १२८।२ में उल्लिखित तथ्य के अनुसार ये प्रोमेथिउस् की तरह ही दूर से अग्नि लाये थे।

वायु का एक विशेषण इस मंत्र में 'दर्शत' आया है जो दर्शनीय का बोधक

है। ऋग्वेद में कृत्यार्थक अद्च् प्रत्यय कई स्थानों में दृष्टिगोचर होता है जैसे—१।३५।४ हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् । यह विशेषण भी वायु-देव की सौम्यता का समर्थक है। अरंकृताः = अलंकृताः (साफ किये गये हैं, प्रस्तुत हैं)। लकार के रकारीकरण (rhotacism) का यह उदाहरण है। 'तेषाम्' में 'शेषलक्षण' षष्ठी है।

'सोम' का उल्लेख इस मंत्र में हुआ है। ऋग्वेद में ही नहीं, वैदिक वाङ्मय मात्र में सोम-पान बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रौतयागों का संपादन मुख्यतयः सोमरस की प्रस्तुति पर निर्भर करता था। धीरे-धीरे सोम-रस प्रस्तुत करनेवाली बूटी दुर्लभ हो गयी और आज यह एक समस्या है कि सोम क्या है? पिछले यज्ञसंबंधी ग्रंथों में सोम के स्थान पर काम में लाने योग्य वनस्पतियों का निर्देश बतलाता है कि इसकी प्राप्ति धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे सोमबूटी पहाड़ों पर, ठंडे स्थानों में मिलती थी। आर्यों का आगे बढ़ना, मैदानों में बसना ही इस दुर्लभता का कारण था।

वेदों के वर्णन के अनुसार सोम को अद्रि (पत्थरों) से पीसकर, हाथों में लेकर दसों अंगुलियों से निचोड़ा जाता था। पुनः उलूखल में कूटते थे जिससे भूरे रंग का रस निकलता है था। ऋग्वेद के वर्णन के अनुसार इसके लाल, गुलाबी, हरा, शोण और शुक्ल वर्ण भी होते थे। इसकी गंध उत्तम और स्वाद मीठा था क्योंकि इसे स्वादु, मधु और मधुमत् विशेषण दिये गये हैं। बाद के शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में सोम को खट्टा, दुर्गन्ध, रोगकारक और वामक कहा है। संभव है कि कुछ दिन बीत जाने पर सोमबूटी में ये दुर्गुण आ जाते हों। ताजे पौधों में स्वाद आदि रहे होंगे।

अवेस्ता में होम और हओम नामक दो पौधों का उल्लेख है जो पेयों में प्रयुक्त होते थे। पारसी लोग हूम रस देकर एक पेय का प्रयोग करते हैं। हाउतुम शिंदलर (Houtum-Schindler.) को १८७९ ई० में बन्दर अब्बास और कर्मान के बीच की यात्रा में ७००० फीट की ऊँचाई पर ये पौधे दिखाये गये थे।[1] उक्त यात्री के अनुसार ४—५ फीट ऊँचे ये पौधे गूदेदार तथा मोटाई में १ अंगुल थे। इनके पत्ते और फूल छोटे-छोटे, सफेद तथा झड़ जानेवाले थे। इनका रस दूधिया, हरा और सफेद तथा स्वाद में मीठा था।

---

१. डा० ऐचिनसन के अनुसार हरीरूद घाटी में हुम, हऊम नामक ये पौधे मिलते हैं। डा० बॉर्नम्यूलर (वनस्पतिविद् तथा कर्मान में प्रवासी) इसे Ephedra distachya कहते हैं। यह साइबेरिया से आइबेरिया प्रायद्वीप तक मिलता है।

उनके साथी कहते थे कि तोड़ लेने पर पौधे के रस में खट्टापन और रंग में भूरापन आ जाता था। पारसियों के द्वारा प्रस्तुत पेय नीरेंगी में हूम की मात्रा अधिक हो जाने पर वमन हो जाता है।

सोम के अच्छे पौधे पर्वतों पर ही प्राप्त होते थे। यह बात वेदों तथा अवेस्ता (यस्न १०।४) से भी सिद्ध होती है। ऋग्वेद के अनुसार सोम शर्यणावत् झील के तटों पर, आर्जिक देश में, पस्त्या देश में, पंचजन देश में तथा सुषोमा नदी की घाटी में भी मिलता था। वैसे पंजाब में इसकी प्राप्ति थी परन्तु इसकी मात्रा कम थी। इसलिए ऐसे सोमों को पानी में फुलाते थे। पीसते समय भी सोम में पानी देते जाते थे जिसे 'आप्यायन' कहते थे। भेड़ के ऊन से, चाहे वह बुना हो या जमाया हुआ, छानकर सोम पवित्र किया जाता था। किसी पानी भरे बर्तन के ऊपर यह वस्त्र रखकर लोग इसे छानते थे। बर्तन के भीतर मधु का लेप किया रहता था। बड़े कोशों में इसका संग्रह किया जाता था जो गोचर्म से ढँका रहता था।

पुनः उस रस में दूध, दही या यव फेंटते थे जिससे सोमरस का नाम गवाशिर् दध्याशिर् या यवाशिर् पड़ता था। चमू (कटोरों) से निकालकर चमस में देवताओं को सोम अर्पित करते थे। कलश में सोम का मिश्रण होता था। प्रत्येक सोमयाग में सोमरस की तैयारी चलती थी। दिन में तीन बार सोम चुलाया जाता था जिसे सवन कहते थे।

स्वरविचार—(१) वायो इति—ध्यान देने योग्य तथ्य है कि पदपाठ में ओकारान्त सम्बोधन-पद के बाद भी आद्युदात्त 'इति' का प्रयोग होता है। यहाँ 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) से 'वायो' में, पादादि में होने के कारण आद्युदात्त है। (२) आ—उपसर्ग उदात्त। (३) याहि—तिङ् का अतिङ् के बाद होने से निघात—तिङ्ङतिङः (८।१।२८)। (४) दर्शत—अष्टमाध्याय के 'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) से सम्बोधन होने के साथ अपादादि में होने से निघात। निघात नहीं होने से 'दृश् + अतच्' से निष्पन्न होने वाले इस शब्द में 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त होता। (५) इमे—इदम् + जस्। अन्तोदात्त सर्वनाम (सामान्यरूप से) अनुदात्त विभक्ति लगने पर उदात्त = अनुदात्त + उदात्त। (६) सोमाः—√सु + मन्। नित् प्रत्यय लगने के कारण शब्द आद्युदात्त—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७)। (७) अरंऽकृताः—समास के कारण अन्तोदात्त की प्राप्ति थी (६।१।२२३)। किन्तु इसे रोककर पूर्वपद में अव्यय होने कारण पूर्वपद का प्रकृतिस्वर (६।२।२) होना चाहिए था, पर यहाँ भी 'भूषणेऽलम्' (१।४।६४) से अलम् की गतिसंज्ञा मानकर 'गतिकारकोपपदात्कृत्'

(६।२।१३९) से कृत् के उत्तरपद का प्रकृतिस्वर होने जा रहा था। पर 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) सूत्र से यह सूत्र भी बाधित होकर पूर्वपद के प्रकृतिस्वर के लिए मार्ग छोड़ गया। 'अलम्' शब्द के स्वर की विजय हुई। यह शब्द निपात होने के कारण आद्युदात्त है। वही उदात्त रहा। अन्य स्वर स्वरित और प्रचय (एकश्रुति) यथास्थान लगे।

(८) तेषाम्—तत्+(सुट्) आम्। सर्वनाम का प्रातिपादिक स्वर (उदात्त)। (९) पाहि—तिङ् का निघात। (१०) श्रुधि—यह तिङन्त के बाद है अतः निघात नहीं होगा। तब √श्रु + हि ('सेर्ह्यपिच्च')—'श्रुश्रृणु०' (६।४।१०२) से धि आदेश। छान्दस दीर्घ—केवल संहिता-पाठ में। हि चूँकि अपित् आदेश है अतः अनुदात्त नहीं होगा। फलतः अन्तिम प्रत्ययस्वर रहेगा (सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम्)। (११) हवम्—√ह्वे+अप्। प्रत्यय पित् है अतः धातुस्वर ही रहा।

मन्त्र—२

इसमें वायुदेव को सम्बोधित करके कहा जा रहा है कि आपकी स्तुति उक्थों से स्तोता लोग कर रहे हैं। उक्थ उन मन्त्रों का संग्रह है जिनका गान नहीं होता, केवल पाठ होता है। इस तरह यह 'शस्त्र' का पर्यायवाची शब्द है। 'अच्छ' एक अव्यय-पद है जो प्रायः पदपूरणार्थक होता है; यहाँ यह 'सम्मुख,' 'ओर' के अर्थ में है। इसका छान्दस दीर्घ हो गया है।

जरितारः जरन्ते = स्तुतिकर्ता स्तुति करते हैं। वैदिक पुनरुक्ति है किन्तु संस्कृतकाव्यशास्त्र के अनुसार समाधान हो सकता है कि 'जरितारः' के दो विशेषण 'सुतसोमाः' तथा 'अहर्विदः' भी तो हैं। विशेष्य का प्रयोग किये बिना काम नहीं बन सकता। उक्त दोनों शब्द √जॄ—(जरते) से निष्पन्न हैं जिसे निघण्टु में अर्चना या गाना के अर्थ में पढ़ा गया है। यास्क ने (नि० १।७) 'जरिता' का निर्वचन 'गरिता' से किया है। मूल भारोपीय भाषा में एक धातु ग्वेर (guera) था जो कंठोष्ठ्य (labio-velar) से आरंभ होता था। किन्तु संस्कृत में तालव्यीकरण के नियमानुसार ग्व् के बाद तालव्य वर्ण ए रहने से उसका रूपान्तर संस्कृत तालव्य ज् (<ग्व्) में हुआ। पुनः मू० भा० यू० तथा ग्रीक ह्रस्व अ एँ ओं का परिवर्तन 'अ' में हुआ है अतः √जर् पर हम पहुंच पाते हैं। ग्वेर का अर्थ 'ऊँची आवाज से बोलना' था जो वैदिक 'जरते' में भी है। अर्थ है—स्तोता उच्च स्वर से पढ़ते हैं।

'जरितारः' के विशेषणों में 'अहर्विदः' आया है। यहाँ 'अहः' उपलक्षण है। वैदिक व्यवहार से यह सिद्ध है कि अहः एकदिन में होनेवाले अग्निष्टोम आदि

यज्ञों के अर्थ में होता है। अर्थादेश का यह अच्छा उदाहरण है। अहः से पुनः सामान्य क्रतु का अर्थ लिया जाता है। इसलिए यहाँ अर्थ हुआ—क्रतुओं के ज्ञाता।

स्वरविचार—(१) वायो इति। (२) उक्थेभिः—उक्थ (अन्तोदात्त, प्रत्ययस्वर, वच्+थक्)+भिस् (अनुदात्त)। (३) जरन्ते—निघात। (४) त्वाम्—सर्वनाम उदात्त। (५) अच्छ—निपात आद्युदात्त। (६) जरितारः—जारितृ (तार्) का प्रत्ययस्वर (अन्तोदात्त)+जस् (अनुदात्त)। सुतऽसोमाः—सुताः सोमाः यैस्ते (बहुव्रीहिसमास)। पूर्वपद प्रकृतिस्वर। सुत=√सु+क्त। अतः प्रत्ययस्वर (सति शिष्टस्वर०)। (८) अहःऽविदः—इसमें समासान्तोदात्त (६।१।२२३) प्राप्त था, पर उसे रोककर 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (६।२।२) से पूर्वपद में द्वितीयान्त शब्द होने के कारण पूर्वपद प्रकृति स्वर हो रहा था; पर इसका भी अपवाद हुआ—गतिकारकोपपदात्कृत् (६।२।१३९) जिससे उत्तरपद का प्रकृतिस्वर हो गया। अन्त में लगने वाला जस् प्रत्यय तो सुप् होने के कारण अनुदात्त ही है।

मन्त्र—३

यहां वायुदेव की वाणी (धेना) का वर्णन किया गया है। यह सोमपान के लिए सबों के पास जाती है और सोम के साथ संपर्क स्थापित करती है। वाणी का यजमानों के पास जाने और सोम से संपर्क स्थापित करने का अर्थ है कि यजमान से वायु कहते हैं कि तुम्हारे दिये गये सोम का पान मैं करूँगा।

वाणी के अर्थ में आया हुआ 'धेना' शब्द यूरोपीय विद्वानों में अनेक मत बनाये हुए है। इस मंत्र में इसके दो विशेषण भी हैं—प्रपृञ्चती (सोम को स्वीकार करने वाली) तथा उरूची (विस्तृत, अनेक यजमानों के पास जाने वाली)। इनके अर्थ भी तदनुसार बदलते हैं। स्वयं गेल्डनर ने ही अपने दो ग्रन्थों में विभिन्न मत दिये हैं। १९०१ में प्रकाशित 'वेदिशे स्तूदियन' (वैदिक अध्ययन) नामक ग्रन्थ में (खंड ३, पृ० ३५) अनेक अनुसंधानों के बाद उसने धेना का अर्थ 'जिह्वा' और यहाँ पर आलंकारिक अर्थ 'वाणी' माना है। [तुलनीय English tongue = English Language] पूरी ऋचा का अर्थ उन्होंने यह दिया है—'हे वायुदेव, मेरी जिह्वा (वाणी या सूक्त) जो सोमपान में अभ्यस्त (प्रपृञ्चती) तथा सर्वतोगामिनी है, यजमान के लिए आपके (नव) पास जाती है।' अतः 'आपकी वाणी' का अर्थ न मानकर वे 'मेरी वाणी' का अर्थ लेते हैं। किन्तु १९२३ में प्रकाशित ऋग्वेद के अपने

जर्मन अनुवाद में उन्होंने अपनी स्थिति बदल दी है। धेना का अर्थ वहाँ, धेनु के साहचर्य से, गाय का स्तन (udder, German Euter) है। इस ग्रन्थ में अनुवाद का प्रकार यह है—

हे वायुदेव, आपका गोस्तन, यजमान को पुरस्कार देते हुए तथा सोमपान के समय (आपके निकट) मोटी धार में बहते हुए, आता है। इस प्रकार प्रपृञ्चती = पुरस्कार देनेवाली, धेना = गोस्तन।

मैक्सम्यूलर (SBE, vol. 32, p. 442) के अनुसार 'धेना' का अर्थ दूध या किसी अन्य द्रव पदार्थ का प्रवाह है। रॉथ का विश्वास है कि इस शब्द का अर्थ दूध देनेवाली गाय (धेनु>धेना<√धे) है; बहुवचन में, दूध का घूँट या दूध का पेय हो सकता है। एगेलिंग (श० ब्रा० ७।५।२।११) ने भी इसे स्वीकार किया है।

वैदिक वाङ्मय में धेना कई अर्थों में प्रयुक्त है जैसे—

(१) प्रिय नारी (प्रीणयित्री) के अर्थ में,

अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने (ऋ० ५।३०।९)।

सेनेन्द्रस्य धेना (आप० श्रौ० ११।३।१४)।

(२) भगिनी के अर्थ में,

आविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम् (ऋ० ३।३४।३), अथ० (२०।११।६) तथा वा० सं० (३३।२६)

स्वद् वावक्रे रथ्यो न धेना (ऋ० ७।२१।३)।

(३) स्त्रीपशु (विशेषतः गाय) के अर्थ में,

√धे = दूध पीना, चूसना। धेना = जिसका दूध पिया जाय।

विश्वाः पिन्वथः स्वसरस्य धेना (ऋ० ५।६२।२)।

नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सबर्दुघाम् (साम० २।५।१।४।७)।

(४) जिह्वा के अर्थ में,

√धे = चूसना। जिससे चूसा जाय।

विसृष्टधेना भरते सुवृक्तिः (ऋ० ७।२४।२)।

विष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने (ऋ० १।१०१।१०)।

दुर्गाचार्य ने भी यह अर्थ रखा है। संस्कृत में अभी भी 'स्तनन्धय' (√धे) का प्रयोग होता है जिसका अर्थ है 'माता के स्तन से दूध चूसने वाला बालक'।

(५) स्वर, वाणी या प्रार्थना के अर्थ में,

श्यस्य धारा असृजद् वि धेनाः (ऋ० ३।१।९)।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाः (ऋ० ४।५८।६)।

वाजसनेयिसंहिता (१३।२८, १७।९४) में भी यह आया है जिसकी व्याख्या महीधर ने ठीक-ठीक की है।

ऋतस्य धेना अनयन्त सश्रुतः (ऋ० १।१४१।१)।

सुवृक्तमेरयामहे धिया धेना अवस्यवः (ऋ० ७।९४।४)।

धेना इन्द्रावचाकशत् (ऋ० ८।३२।२२)।

जनानां धेनावचाकशद् वृषा (ऋ० १०।४३।६)।

इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व (ऋ० १०।१०४।३)। इत्यादि।

ब्लूमफील्ड ने 'धेना' (बहुवचन धेनाः) की तुलना लिथुआनियन daina, (बहु० dainos) से की है। अवेस्ता का daena वैदिक धेना का ही एक उपभाषात्मक रूप है। ओलिफैंट (JAOS, vol. 32, p. 394) ने धेना की व्युत्पत्ति √धी से मानकर इसे धी और धीति का पर्याय माना है। उनके अनुसार, मनुष्यों के लिए यह धीति देव-प्रार्थना या आनन्द का स्तवगान है। देवताओं के लिए यही उनके आशीर्वाद-स्वर हैं जो यजमानों को दिये जाते हैं। ध्वनि की दृष्टि से उन्होंने उक्त लिथुआनियन और अवेस्तन रूपों को ठीक समरूप माना है। अवेस्ता में 'दएना' का अर्थ है—(१) धर्म, विशेषतः अहुर-धर्म, और (२) मानव की धार्मिक और मानसिक शक्तियों की पूर्णता का दार्शनिक प्रत्यय, मनोविद्या, मानव का अमर पक्ष आदि। लिथुआनियन शब्द का अर्थ लोकगीत है। लिथुआनियन जीवन का पूरा दर्शन उसी में निहित है।

ब्लूमफील्ड और उनके शिष्य ओलिफैंट दोनों ने मिलकर ऋग्वेदस्थ 'धेना' शब्द का एकमात्र अर्थ 'वाणी' ही माना हैं क्योंकि समान भाषाओं में वही अर्थ रखा गया है। अतः वर्तमान स्थिति में धेना का अर्थ 'जिह्वा' लेना ही ठीक है।

यहाँ वायु की जिह्वा का आशय है कि यजमान के पास जाकर स्पर्श करती है तथा लम्बी होती है (उरूची)। 'उरूची' विशेषण अन्यत्र भी (ऋ० ३।५७।५) जिह्वा का विशेषण है। अग्नि की जिह्वा से इन्द्र के सोमपान का उल्लेख है (ऋ० ३।३५।९–१०)। अग्नि की तीन जिह्वायें हैं जिनसे दूसरे देवताओं के उदर वे सोम से भर देते हैं। अग्नि की ज्वालायें ही जिह्वायें हैं जो सोमपान के लिए दूसरे देवताओं की लंबी जिह्वाओं के रूप में वर्णित हैं। [उरूची = उरु + √अञ्च = खूब फैला जाना।]

'प्रपृञ्चती' का अर्थ है स्पर्श करने वाली। वायु की जिह्वा (जो अग्निशिखा है) के ऊपर जब सोमरस दिया जाता है तब लगता है कि हवि देनेवाले व्यक्ति के ललाट का ही वायुदेव अपनी जिह्वा से स्पर्श करते हैं।

वैदिक पुराणशास्त्र (mythology) में बृहस्पति की पत्नी को धेना तथा वायु की पत्नी को वाक् कहा गया है। बृहस्पति वाणी के अधिकारी हैं, यह हम जानते हैं। बृहस्पति की पत्नी को जुहू भी कहते हैं। [तुल० जुहू = जुह्वा = जिह्वा = (अवे०) हिज्वा = जीभ।] अतः, बृहस्पति कि पत्नी = धेना = जुहू = जुह्वा = जिह्वा = हिज्वा = सिग् हुआ (Sig hua) = Zunge (जर्मन)= tongue (अंग्रेजी)।

कथा यह है कि बृहस्पति अपनी पत्नी धेना (जीभ) के साथ क्रीडा करते थे जिससे वाक् की उत्पत्ति हुई। बाद में माता ही पुत्री के रूप में अर्थान्तरित हो गयी। [अर्थ—हे वायुदेव, स्पर्श करने वाली आपकी जिह्वा, जो सोमपान के लिए चारों ओर से पहुँचती है, यजमान के पास जा रही है।]

स्वरविचार—(१) वायो इति—आमंत्रित आद्युदात्त। (२) तव—'युष्मदस्मदोर्ङसि' (६।१।२११) से आद्युदात्त। (३) प्रऽपृञ्चती—प्र + √पृच् + शतृ + ङीप्। 'शतुरनुमो नद्यजादी'. (६।१।१७३) से ङीप को उदात्त होना।

(४) धेना—√धेट् + नक् (धेट इच्च–उ० ३।२९१) + टाप्। धातु-स्वर। (५) जिगाति—तिङ् का निघात। (६) दाशुषे—√दाश्व + क्वसु (निपातन) + ङे। सुप् प्रत्यय अनुदात्त है। प्रत्यय का स्वर (वस >उस्)।

(७) उरूची—उरु ÷ √अञ्च् + क्विन् + ङीष् (गौरादिगण–४।१।४१)। प्रत्ययस्वर। (८) सोमऽपीतये—बहुव्रीहि समास न होने पर भी व्यत्यय से पूर्वपदप्रकृतिस्वर।

मन्त्र—४

यहाँ से आरंभ करके तीन ऋचायें वायु और इन्द्र दोनों को संबोधित हैं। इसमें कहा जा रहा है कि दोनों के उद्देश्य से सोम प्रस्तुत हो चुका है; आप दोनों हमें जो अन्नराशि देना चाह रहे हैं उसे लेकर झट आइये क्योंकि सोमरस आपकी प्रतीक्षा में है, आपकी कामना कर रहा है। 'प्रयः' जिसका अर्थ सायण 'अन्न' करते हैं वास्तव में √प्री + णिच् (अन्तर्भावित) से बना है—जो प्रसन्न करे, आनन्द दे। किन्तु इस सामान्य अर्थ में इसे न लेकर वे 'प्रीणयन्ति भोक्तॄन् इति प्रयांस्यन्नानि' करके वे अन्न के अर्थ में रूढ मानते हैं। किन्तु यूरोपीय विद्वानों का मत है कि इसे सामान्य अर्थ में ही लिया जाय। गेल्डनर इसका अर्थ 'आनन्दप्रद पदार्थ' और मैकडोनल 'स्वादिष्ठ पदार्थ' लेते हैं। स्वयं सायण ने भी ऋ० २।१९।२ में इसका अर्थ 'प्रसन्न करनेवाला' लिया है।

अतः व्युत्पत्तिजन्य अर्थ की रमणीयता के कारण वही अर्थ अच्छा लगता है। हे इन्द्र और वायु, आप सुखद पदार्थ लिये हुए आवें।

अन्य शब्द निर्विवाद हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्रवायू इति—प्रगृह्य-संज्ञा होने से इतिकरण हुआ है। आमंत्रित (संबोधन) होने के कारण षष्ठाध्याय के सूत्र से आद्युदात्त। (२) इमे—पूर्ववत् (ऋ० १।२।१)। (३) सुताः—√षुञ् + क्त। प्रत्ययस्वर। (४) उप—निपात होने से आद्युदात्त। (५) प्रयःऽभिः—ध्यातव्य है कि 'भिस्' विभक्ति को भी समास का उत्तरपद मानकर इसके पूर्वपद से अवग्रह कर देते हैं। किन्तु यदि पूर्वपद का स्वरवर्ण बदल गया हो तो नहीं किया जाय। 'कर्णेभिः' का अवग्रह नहीं होगा। 'मुनिऽभिः' में हो गया। प्रस्तुत उदाहरण में विसर्ग की स्थिति है अतः अवग्रह हुआ है। व्युत्पत्ति—√प्रीञ् (+ णिच्) + असुन्। नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) के द्वारा नित्य आद्युदात्त। (६) आ—उपसर्ग उदात्त। (७) गतम्—तिङ् का निघात।

(८) इन्दवः—√उन्दी (क्लेदने) + उन् (उन्देरिच्चादेः, उ० १।१२)। नित् के कारण आद्युदात्त। (९) वाम्—युष्मद् का आदेश है। 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) से अनुदात्त। (१०) उशन्ति—निघात की स्थिति होने पर भी 'हि च' (८।१।३४) से हि निपात होने के कारण (subordinate clause) निघात का अभाव। प्रत्यय का स्वर = √वश् (संप्रसारण) + शप् + झि (अन्ति)। अ का स्वर उदात्त। (११) हि—निपात होने से उदात्त।

मन्त्र—५

यहाँ वायु और इन्द्र 'वाजिनीवसू' अर्थात् यज्ञों में निवास करने वाले कहे गये हैं। सोम-सवन के समय का ये दोनों ज्ञान रखते हैं। इनसे द्रुतगति से आने की प्रार्थना की जा रही है

'वाजिनीवसू' विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखता है। वाज = अन्न, भोजन। जिसमें प्रचुर मात्रा में अन्न रहे, वह वाजिनी = यज्ञशाला। वसु = निवास करनेवाला (√वस्)। यह व्याख्या सायण की है। वेदार्थयत्न में अर्थ है—तेज घोड़ियों की संपत्ति से युक्त। गेल्डनर संदिग्ध रूप से 'लाभ में समृद्ध' (Gewinnreichen = rich in gain) अर्थ करते हैं। ग्रासमान का अर्थ है—दान करने में समृद्ध या पटु। उन्होंने 'वाजिन्' का ही अर्थ बहुमूल्य दान किया है। सायण भी निघंटु के प्रामाण्य का तिरस्कार करते हैं जहाँ

वाजिनी शब्द 'उषस्' के पर्याय के रूप में पढ़ा गया है। सायण ने 'वाजिनी' के चार अर्थ किये हैं—

(१) अन्न—(ऋ० २।३७।५; ३।४२।५ आदि)।

(२) यागक्रिया—(ऋ० १।१२२।८, ३।४२।५ इत्यादि)।

(३) अन्नवती—(ऋ० ३।६१।१; ६।६१।६ इत्यादि)।

(४) बलवती—(ऋ० ६।६१।६, आदि)।

'वसु' के अर्थ उन्होंने इस प्रकार किये हैं—

(१) वसु = निवास करनेवाला (जैसे यहाँ)।

(२) वसु = निवास करानेवाला, वासयिता, वासक (ऋ० २।३७।५, ३।४२।५)।

(३) वसु = धन, संपत्ति (ऋ० ३।४२।५, ८।५।३ इत्यादि)।

स्पष्ट है कि सायण अपनी व्याख्या में दोनों शब्दों के अर्थों में अस्थिर हैं। अब हम उत्तरपद के रूप में आये हुए वसु शब्द के उदाहरण लें, जहां इसका अर्थ 'धन' है—

(१) शचीवसु—(ऋ० १।१३९।५, ७।७४।१, ८।६०।१२)।

(२) सूर्यावसु—(ऋ० ७।६८।३)।

(३) विभावसु—(ऋ० १।४४।१०, ३।२।२, ५।२५।२ इत्यादि)

(४) विश्वावसु—(ऋ० १०।८५।२१-२२, १०।१३९।४-५)।

(५) मनावसु—(ऋ० ५।७४।१)।

(६) विश्पलावसु—(ऋ० १।१८२।१)।

(७) स्वावसु—(ऋ० ५।४४।७)।

(८) त्वावसु—(ऋ० ७।३२।१४)।

(९) ऋतावसु—(ऋ० ८।१०१।५)।

(१०) जेन्यावसु—(ऋ० ७।७४।३, ८।३८।७ इत्यादि)।

(११) धियावसु—(ऋ० १।३।१०, १।५८।९, १।६०।५, १।६३।९ इत्यादि)।

(१२) वृषण्वसु—(ऋ० १।११२।१, २।४१।८ इत्यादि)।

(१३) पुरुवसु—(ऋ० १।४७।१०, २।१।५ इत्यादि)।

इसी प्रकार प्रभूवसु, विभूवसु, महावसु, पुनर्वसु (ऋ० १०।१९।१), आघृणिवसु, आभरद्वसु, अर्चितवसु, क्रतद्वसु, गूर्तावसु, प्रतद्वसु, रदावसु, विदद्वसु, शतद्वसु आदि भी वसूत्तरपद शब्द हैं जहाँ वसु का अर्थ धन ही है।

शतपथ ब्राह्मण में अमावसु (१।६।४२) तथा चित्रावसु (२।३।४।२२) शब्दों की निरुक्ति '√वस् = रहना' से की गयी है। संभव है, सायण इसी

निरुक्ति से प्रभावित हों। वस्तुस्थिति यह है कि सभी लोग अपने धन के साथ ही रहना पसंद करते हैं। देवराज यज्वा निघण्टु में स्थित इस शब्द की व्याख्या में कहते हैं कि 'वसु' (धन) उसे कहते हैं जो दरिद्रता को आच्छन्न करे (√वस्) रोक दे। अतः, प्रस्तुत शब्द में 'वसु' का अर्थ धन लेना अधिक अच्छा है।

अब रहा 'वाजिनी' शब्द। उषा को ऋग्वेद में कई स्थानों पर 'वाजिनी-वती' कहा गया है। निरुक्त (१२।६) में एक ऐसे ही शब्द की व्याख्या में 'वाजिनीवती = अन्नवती' दिया गया है जिससे वाजिनी का अर्थ अन्न होता है। निरुक्त (११।२६) में भी ठीक यही बात कही गई है। यास्क का इसलिए यह विश्वास लगता है कि वाजिनी का अर्थ अन्न है।

प्रो० राजवाड़े (भा० रि० इ० पत्रिका ख० ९, पृ० २१० और आगे) का मत है कि यहाँ वाजिनी संपत्ति के अर्थ में है। सायण 'हविःसन्तति', स्कन्दस्वामी 'यागसन्तति अथवा सेना' तथा वेंकटमाधव 'अन्नेन वासयितारौ' (अन्न से बसानेवाले) अर्थ करते हैं। वैसे वाज के अन्न, बल तथा वेग तीन अर्थ हैं। ओल्डनबर्ग ने सिद्ध किया है कि इसके तीन अर्थ हैं—घोड़े की शक्ति, दौड़ तथा दौड़ में विजय। इस विचार-शैली से वाजिनी वह है जिसमें अन्न, बल, वेग या विजय रहे।

राथ अपने शब्दकोश में वाजिनीवसू का अर्थ 'तेज घोड़े रखनेवाला तथा उनपर चलनेवाला' किया है। अश्विन्–युगल के विशेषण के रूप में यह कई स्थानों पर (जैसे—ऋ० २।३७।५, ५।७४।६) आया है। इन्द्र के विशेषण के रूप में भी यह आया है—

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान्दधिष्वं शतक्रतो।
जठरे वाजिनीवसो। (ऋ० ३।४२।५)

यहाँ वाजिनी सोम-याग की व्यवस्था के अर्थ में है जिसमें वाज या अन्न सोम के रूप में होता है। इसी तरह १०।९६।८ में भी इन्द्र का विशेषण है—

अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुः।

यहाँ भी वाजिनी सोमयाग-संतति के अर्थ में है। 'प्रवाहित होनेवाले (अर्वद्भिः) हरितवर्ण के सोम से (हरिभिः) सोमयाग की व्यवस्था वाला'। यहाँ सायण भी 'वाजाय = सोमलक्षणाय अन्नाय' कहते हैं। अश्विनों को भी 'सोमं पिबतं वाजिनीवसू' (ऋ० २।३७।५) कहा है। सोमयाग से यहाँ भी संबंध है। अतः 'वाजिनी' का अर्थ होगा—सोमयाग की वह व्यवस्था जिसमें सोम के रूप में भोजन की सुविधा हो। ऋ० ८।५।३ की व्याख्या में सायण कहते हैं—'वाजो हविर्लक्षणमन्नं तद्युक्ता यागक्रिया वाजिनी'।

निष्कर्ष यह निकलता है कि वाजिनीवसू को हम इस अर्थ में लें—यज्ञ की व्यवस्था के रूप में जिसकी संपत्ति हो, अथवा, यागक्रिया में निवास करने वाले (शत० ब्रा०)।

प्रस्तुत मंत्र में 'द्रवत्' क्रिया विशेषण के रूप में है—झटपट, शीघ्रता से। किन्तु 'द्रवत्पाणी शुभस्पती' (ऋ० १।३।१) में यह विशेषण है।

उक्त व्याख्याविधि से अर्थ होगा—यागक्रिया में समृद्ध, हे वायु और इन्द्र ! आप दोनों इन सोमसवनों को जानते हैं, आप शीघ्र आवें।

स्वरविचार—(१) वायो इति। (२) इन्द्रः—√इदी + रन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (३) च—चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४) (४) चेतथः—तिङ् निघात। (५) सुतानाम्—सु + क्त = सुत—प्रत्ययस्वर। आम् (ष० बहु०) अनुदात्त है। (६) वाजिनीवसू इति वाजिनीऽवसू—प्रगृह्य के कारण इतिकरण। समस्त पद होने से द्विरुक्तिः, उत्तरपद में अवग्रह। आमंत्रित-निघात (८।१।१९)।

(७) तौ—सर्वनाम उदात्त। (८) आ—उपसर्ग उदात्त। (९) यातम्—तिङ् निघात। (१०) उप—निपात आद्युदात्त। (११) द्रवत्—फिट् स्वर = फिषोऽन्त उदात्तः (फि० १)।

तृतीयवर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

इस मंत्र की व्याख्या में सायण को अध्याहार करना पड़ा है। सोम का सवन करनेवाले यजमान के द्वारा निकाले गये, प्रस्तुत किये गये सोम के निकट आप आवें। हे पौरुषपूर्ण देवताओ (वायु और इन्द्र) ! इस कर्म से शीघ्र ही (संस्कार उत्पन्न होता है)। किन्तु जब आप दोनों आवेंगे तभी ऐसा होगा।

'निष्कृतम्' सायण के अनुसार 'संस्कृत या पवित्र किया गया' अर्थ धारण करता है—जो सोम का विशेषण है। गोल्डनर ने इसका अर्थ व्यवस्था या प्रबन्ध रखा है। ग्रासमान के अनुसार इसका अर्थ 'नियुक्त स्थान, मिलने का स्थान (rendezvous)' है। इस शब्द का मूल अर्थ 'समाप्त किया हुआ काम' (निश्शेषेण संपादितं कार्यम्) है किन्तु लक्षणा से 'जिस स्थान पर काम सम्पन्न हुआ हो वह स्थान' भी हो सकता है (द्र० ऋ० ३।५८।९, ८।८०।७ आदि)। सामान्यतः यह उन नियुक्त स्थानों के अर्थ में आता है जहां यज्ञ सम्पन्न होता है। अतएव 'सुन्वतः निष्कृतम्' का अर्थ होना चाहिए—'सोम सवन करनेवाले के निश्चित स्थान पर'।

'इत्था' की सायणीय व्याख्या (=सत्यम्) निघण्टु से प्रभावित है। स्कन्दस्वामी इसे 'वहाँ से' (अर्थात् अपने स्थान अन्तरिक्ष से) के अर्थ में और माधव 'इत्थम्' के अर्थ में ग्रहण करते हैं। यही अर्थ कुछ तुलनाओं के आधार पर ग्राह्य है—कथा और कथम् दोनों थाल् से बने हैं, इसी रूप में इत्था और इत्थम् भी हैं। (तुल० पा० सू० ५।३।२६)।

'धिया' की व्याख्या में सायण का कथन है—इस कर्म के द्वारा। निघण्टु में 'धी' शब्द कर्म (२।१।२१) तथा प्रज्ञा (३।९।७) दोनों का पर्यायवाचक है किन्तु पिछला अर्थ यहाँ अप्राकरणिक है। इसीलिए सायण ने कर्म अर्थ लिया है। यही अर्थ स्कन्द और माधव को भी मान्य है। वैदिक ऋषि इन मन्त्रों में अग्निष्टोम-याग के प्रातःसवन में लगे हैं जिसमें वायु और इन्द्र को सोमरस अर्पित किया जा रहा है। 'धिया' के द्वारा इसी कर्म का निर्देश हो रहा है। अतएव इसका उचित अर्थ होगा, 'इस यागकर्म से या इसके संपादन के लिए'।

निष्कर्षार्थ—हे वायु और इन्द्र ! सोम सवन करने वाले के नियुक्त स्थान पर आइये। हे मनुष्यों ! इस यागकर्म के उद्देश्य से शीघ्र [आइये]।

स्वरविचार—(१-२) वायो इति। इन्द्रः। च—पूर्व मंत्र की तरह। यद्यपि सायण भी पूर्ववत् कहकर काम चला सकते थे किन्तु यहाँ से उन्होंने नये सिरे से स्वरों का विचार करना आरम्भ कर दिया है। यह संभावना की जा सकती है कि यहाँ से किसी दूसरे व्याख्याकार (सायणाचार्य के सहायक) ने व्याख्या आरम्भ की हो। आश्चर्य तो यह है कि इन्द्र शब्द पहले भी आया है पर उसकी प्रक्रिया के विषय में यहीं पर कुछ कहा गया है। 'ऋजेन्द्र०' आदि उणादिसूत्र से रन प्रत्ययान्त इन्द्र शब्द का निपातन होता है जिससे यह आद्युदात्त होता है। 'वायो' पादादि में आमन्त्रित शब्द है जिससे उसे आद्युदात्त हुआ। ओकारान्त आमन्त्रित को भी इति लगता है। 'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ८४) से च अनुदात्त है। इन्द्र शब्द का सांगोपांग विवेचन सायण ने १।३।४ मंत्र की व्याख्या में किया है। (४) सुन्वतः—√सु + (श्नु-विकरण) + शतृ + षष्ठी ए० (ङस्)। 'शतुरनुमो नद्यजादी' (६।१।१७३) से विभक्ति का उदात्त होना।

(५) आ—उपसर्ग उदात्त। (६) यातम्—तिङ् निघात। (७) उप—'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१) से आद्युदात्त। (८) निःऽकृतम्—'कुगतिप्रादयः' से प्रादिसमास। पूर्वपद में अव्यय होने के कारण पूर्वपदप्रकृति-स्वर (६।२।२) होता लेकिन 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६।२।१४४) सूत्र से अन्तोदात्त हो गया। 'गतिरनन्तरः' सूत्र से विहित होनेवाला निस् को

उदात्त नहीं हुआ क्योंकि यह तभी संभव था जब क्त प्रत्यय कर्मवाच्य में रहता किन्तु यहाँ क्त कर्तृवाच्य में (३।४।७१) है। यदि हम निष्कृतम् की व्याख्या करें 'निष्करोतीति निष्कृत् तम्' तो उसका प्रभाव स्वर पर भी पड़ेगा—'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से ऋकार ही उदात्त होता, पर वह है कहाँ ?

(९) मक्षु—निघण्टु में (२।१५) 'नु चिप्रं मक्षु द्रवत्' पर्याय पढ़े गये हैं जिनमें फिट् स्वर अर्थात् अन्तोदात्त होता है। (१०) इत्था—इदम् + थाल्। प्रत्ययस्वर। अथवा 'सत्यम्' का पर्याय मानें तो फिट्स्वर से अन्तोदात्त मक्षु + इत्था की सन्धि करने पर संहितापाठ में 'मचित्था' हो जायगा, यहाँ बीच का इकार जात्यस्वरित (उदात्त + स्वरित) है। उ का उदात्त तथा इ का स्वरित मिल रहा है। यण् विकार होने से जात्य स्वरित हो रहा है। इस जात्य के बाद तुरत उदात्त 'आ' है इसलिए 'कम्प' होगा जिसके निर्देश के लिए अनुदात्त तथा स्वरित दोनों के चिह्न से अंकित १ लिखा गया है। कम्प के पूर्व में ह्रस्व स्वर रहने पर १, दीर्घस्वर रहने पर ३ लिखने की प्रणाली है—मक्षि१त्था। दीर्घस्वर का उदाहरण १।५।१० में देखें। (११) धिया—धी + टा (इयङादेश)। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) से विभक्ति का उदात्त होना। (१२) नरा—आमन्त्रित होने के कारण, पद के पर होने से आष्टमिक निघात (=आठवें अध्याय के 'आमन्त्रितस्य च' ८।१।१९ से सभी स्वरों का अनुदात्त हो जाना)।

मन्त्र—७

यहाँ से आरंभ करके तीन ऋचायें मित्रावरुण को संबोधित हैं। उपर्युक्त सामान्य विनियोग के अतिरिक्त इनका विशेष विनियोग भी सायण ने बतलाया है। गवामयन नामक यज्ञ के चौबीसवें दिन, जिस दिन आरम्भण (बलिदान) भी होता है, प्रातःसवन में यह तृच गाया जाता है। वहीं अभिप्लव नामक षडह (छह दिनों में संपाद्य यज्ञ) में भी इसका विनियोग होता है। (आश्व० श्रौ० ७।२,५)।

प्रस्तुत ऋचा में मित्र को 'पूतदक्ष' (पवित्र बल से युक्त) तथा वरुण को 'रिशादस्' (हिंसकों का विनाशक) कहा गया है। अंत में दोनों को पृथ्वी पर जलदान (घृताची) के कार्य (धियं) की सिद्धि करनेवाला कहा गया है। उपर्युक्त शब्दों के विषय में वेदव्याख्याकारों में अनेक मत हैं जिमसे मन्त्रार्थ पर भी प्रभाव पड़ना आवश्यक है।

'दक्ष'—के अर्थ 'बल' (सायण), 'उद्देश्य' (गेल्डनर), बल (निघण्टु

तथा दयानन्द) आदि हुए हैं। सायण ने ऋग्वेद में आगत 'पूतदक्षः' (१।२३।४, २।४।७, ३।११।३ आदि) शब्द की व्याख्या में सर्वत्र एक ही अर्थ लिया है। भट्ट भास्कर मिश्र ने (१५०० ई०) तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।७।३७) की व्याख्या में 'पूतदक्षः' का अर्थ 'पवित्र और निपुण' किया है। शुक्ल यजुर्वेद में (१८।२) दक्ष और बल भिन्न हैं = 'दक्षश्च मे बलं च मे'। यहाँ महीधर ने दक्ष का अर्थ 'ज्ञानेन्द्रिय-कौशल' लिया है। उनके अनुसार बल कर्मेन्द्रियकौशल है। संज्ञा के अर्थ में इस प्रकार दक्ष के कई अर्थ हैं—(१) शक्ति, (जैसे ऋ० १।२।९)। (२) बुद्धि-शक्ति (जैसे ऋ० १।९१।७, ६।४४।९, ७।३२।१२)। (३) इच्छाशक्ति या अभिप्राय। स्मरणीय है कि क्रतु का अर्थ प्रज्ञा है जो दक्ष के इस अर्थ के साथ मिलकर मन के दो कार्यों—इच्छा और प्रज्ञा—का निर्देश करता है। दोनों का उद्देश ऋग्वेद के कई मंत्रों में है—

(१) भद्रं नो अपि वाताय मनो दक्षमुत क्रतुम् (१०।२५।१)।

(२) आ त एतु मनः पुमः क्रत्वे दक्षाय जीवसे (ऋ० १०।५७।४)।

(३) त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः (१।९१।२)

हमारा तात्पर्य यह है कि गेल्डनर के अर्थ का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। दक्ष का अर्थ इच्छा या अभिप्राय लेकर 'पूतदक्षः = शोभनाभिप्रायः' रखा जाय तो अच्छा है।

'रिशादस्' के अर्थ में भी मतान्तर हैं। (१) यास्क ने 'रिशादसः' का पर्याय रेशयदासिनः (पाठान्तर—रेशयदारिणः) दिया है जिसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य कहते हैं—यो हि रेशयति हिंसावान् भवति तस्मै त आयुधान्यस्यन्ति (√रिश् + √अस्)। पाठान्तर की भी व्याख्या उन्होंने की है—रेशयन्तं हिंसन्तं दारयन्तीत्यर्थः (नि० ६।१४)। इस प्रकार 'हिंसकों पर शस्त्र का प्रयोग करने वाले या उन्हें विदीर्ण करनेवाले' अर्थ हुआ है। (२) दूसरी ओर निघण्टु (४।३।५३) में आये इस शब्द की व्याख्या करते हुए देवराज यज्वा कहते हैं—रिश हिंसायाम्। रिशतां शत्रूणां वा असितारः क्षेप्तारो नाशयितारः। इस तरह 'रिशत् + √अस्' से 'शत्रुओं को फेंकनेवाला' अर्थ हुआ है।

(३) महीधर ने (वा० सं० ३।४४) इस शब्द की व्याख्या में तीन कल्पनायें की हैं—(क) रिशतिर्हिंसार्थः। रिशां वैरिकृतां हिंसां दस्यन्ति उपक्षयन्ति। (ख) यद्वा रिशान् हिंसकान्दस्यन्ति। (ग) यद्वा रिशतोऽस्यन्ति क्षिपन्ति। अर्थात् हिंसा के नाशक, हिंसकों के नाशक या हिंसकों को फेंकनेवाले—ये तीन अर्थ हुए। उक्त स्थल पर यह विशेषण मरुतों के लिए है। वायु और सविता के विशेषण के रूप में आये हुए 'रिशादसा' (त्रा०

सं० ३३।७२) का पर्याय उन्होंने 'शत्रुओं के विनाशक' (शत्रूपक्षयितारौ) दिया है।

(४) सायण भी इस शब्द की व्याख्या में कई पक्ष लेते हैं—रिशानां हिंसकानामदसम् अत्तारम् (हिंसकों को खा जानेवाले–ऋ० १।२।७)। ऋ० १।६४।५ की व्याख्या में, जहाँ यह शब्द मरुतों का विशेषण है, इस व्याख्या के अतिरिक्त उन्होंने 'यद्वा रिशानां हिंसतामसितारो निरसितारः' कहा है जिससे अर्थ होता है रिश + √अस् (= हिंसकों को निर्मूलन करने वाले)। इसी प्रकार ऋ० ६।५१।४ में भी असिता और अत्ता दोनों वैकल्पिक अर्थ किये गये हैं (= फेंकनेवाले, खानेवाले)।

(५) स्कन्दस्वामी √रिश् = हिंसा, √असु = फेंकना मानकर 'दुष्टों को फेंकनेवाले' ऐसा अर्थ करते हैं। यही अर्थ वेंकटमाधव का भी है—दुष्ट हिंसकों को फेंकनेवाले। स्कन्दस्वामी निरुक्त (६।१४) की व्याख्या में इसे 'द्विधातुज रूप' मानकर √रेशि (रिश् का प्रेरणार्थक) + √अस् से निष्पन्न कहते हैं।

यूरोपीय विद्वानों में मैक्समूलर, बेनफी तथा एगेलिंग सायण का ही अनुसरण करते हैं। ग्रासमान ने 'विद्रोहियों को खानेवाला' अर्थ किया है। लुडविग ने परंपरागत अर्थ को निस्सार समझते हुए 'थोड़ा खानेवाला' अर्थ किया है। पिशेल ने रिशादस् को श्येन के विशेषण के रूप में स्वीकार्य मानकर इसका अर्थ 'तेज, क्षिप्र चलने या उड़नेवाला' किया है। इस संबन्ध में उन्होंने √रिश् की तुलना जर्मन क्रिया reissen से की है जिसका अर्थ फाड़ना, चीरना, खींचना, तेजी से बहना आदि है। इनके अनुसार 'रिश हिंसायाम् = लिश गतौ' है। उन्होंने यह भी कहा है कि 'रिश्य' (ऋश्य = हरिण, तेज दौड़नेवाला) में भी रिश् धातु ही है। अन्त में पिशेल इसे जिगीवस् (विजय-शील) के अर्थ में स्वीकार करते हैं। इस अर्थ को गेल्डनर का भी समर्थन प्राप्त है। वैसे गेल्डनर ने अपना अर्थ 'उत्कृष्ट, प्रधान या अधिकारी' रखा है। प्रायः यही अर्थ प्राचीन टीकाओं में हैं 'शत्रुओं को फेंकनेवाला, उनपर अधिकार करनेवाला'।

ऐतरेय ब्राह्मण (६।२७) में कथा है कि मित्र और वरुण ने देवताओं का पक्ष लेकर, प्रातःसवन में, यज्ञ के शत्रु असुरों और राक्षसों का संहार किया था उन्हें, भगाया था। रिश = दुष्ट शत्रु, अद = भगानेवाला। शत्रुओं को भगानेवाला। वह अर्थ सबों को मान्य है।

'धियम्' (धी से द्वितीया एकवचन) का अर्थ गेल्डर ने 'काव्य' रखा है किन्तु भारतीय टीकाकारों ने एक स्वर से वृष्टिकर्म अर्थ में इसे लिया है। यह बिल्कुल सुसंगत अर्थ है क्योंकि वैदिक युग में यज्ञों का उद्देश्य वृष्टि

कराना ही था। अतः धी सामान्य कर्म के अर्थ में न होकर यहाँ विशेष रूप से वर्षणकर्म के अर्थ में है। देवावि ने अपने भाई शन्तनु के लिए यज्ञ करा कर वर्षा करायी थी (निरुक्त २।)।

'घृताची' का शाब्दिक अर्थ 'घृत में समाहित, घृताक्त' है। गेल्डनर ने सामान्यरूप से 'सिक्त' अर्थ लिया है। किन्तु अपने अनुवाद की पादटिप्पणी में उन्होंने कहा है कि कविरूप ऋषि की कविता घृतार्पण के साथ-साथ निकलती है। अतः घृताची=घृत की तरह ही घृत के साथ प्रवाहित होते हुए।

भारतीय टीकाकार एकस्वर से 'पृथ्वी की ओर जल की वर्षा करते हुए' यही अर्थ करते हैं। माधव तो बतलाते हैं कि मित्र और वरुण ये दोनों वृष्टि के देवता हैं और अन्तरिक्ष से पृथ्वी पर वर्षा लाने के उद्देश्य से किये गये यज्ञ तभी पूरे होते हैं जब इन देवताओं की कृपा या सद्भावना होती है। स्कन्द-स्वामी भी इससे सहमत हैं क्योंकि 'साधन्ता' का अर्थ 'साधयन्तौ वृष्टिं कुर्वन्तौ' करते हैं। माधव एक ब्राह्मणग्रन्थ का उद्धरण देते हैं जिसमें यह उल्लेख है कि मित्रावरुण अहोरात्र हैं जिनके निर्देश से पर्जन्य वर्षा करते हैं। ऋ० ५।६३।३-४ से यह तथ्य समर्थित भी है।

निघण्टु (१।१२।१०) में तो घृत जल के पर्यायवाची शब्दों में है ही, यास्क और देवराज-यज्वा की व्याख्यायें भी इसे जल ही मानती हैं। गेल्डनर तरह वेदों को सर्वत्र यज्ञार्थ में लेना ठीक नहीं है। स्कन्दस्वामी के अनुसार अञ्चति=गमयति (प्रेरित करता है) अतः घृताची का निष्कृष्टार्थ होगा 'वर्षा के जल को प्रेरित करनेवाली'।

अर्थ = शुद्ध संकल्पशक्ति वाले मित्रदेव को तथा शत्रुओं को भगानेवाले वरुणदेव को मैं बुलाता हूँ—वे दोनों जो वृष्टिजल को प्रेरित करनेवाले कार्य (वृष्टिकार्य) के संपादक हैं।

स्वरविचार—पिछले मंत्र से ही सायण विस्तारपूर्वक स्वरविचार करने लगते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ से उनकी लेखनमुद्रा बदलती है। परन्तु सच तो यह है कि उक्त मंत्र से व्याख्या करने का काम दूसरे विद्वान् को सौंपा गया होगा। यह स्थिति बहुत दूर तक चली है। पूर्वागत शब्दों की समीक्षा भी होती है।

(१) मित्रम्—प्रातिपदिक स्वर (फि० १) के कारण अन्तोदात्त। यह पुँल्लिङ्ग है। द्वितीया एकवचन में अम् लगने पर उसका पूर्वरूप एकादेश हो गया है. उदात्त + अनुदात्त (अम्)=उदात्त। (२) हुवे—तिङ् का निघात (८।१।२८)। (३) पूतऽदक्षम्—'पूत' शब्द प्रत्ययस्वर के कारण अन्तोदात्त है। बहुव्रीहिसमास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर रहा। (४)

वरुणम्— √वृ + उनन् । नित् प्रत्यय के कारण आद्युदात्त (६।१।१९७) । (५) च—'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ८४) । (६) रिशादसम्— √रिश् + क=रिशः । प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त । रिश + √अद् + असुन्= रिशादाः । नित् के कारण आद्युदात्त उत्तरपद । 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३९) से कृदन्त होने के कारण उत्तरपद का प्रकृतिस्वर होकर आ को उदात्त हुआ ।

(७) धियम्—धी = अम् (इयङादेश) । प्रातिपदिकस्वर से 'धी' को अन्तोदात्त, अम् का सुप् होने के कारण अनुदात्त । अतः, 'धिय् + अम्' में इ का उदात्त । (८) घृताचीम्—घृत + √अञ्च् + क्विन् + ङीप् । 'घृत' शब्द विशेष सूत्र (घृतादीनां च–फि० २१) से अन्तोदात्त है । 'गतिकारको-पपदात्कृत्' सूत्र से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर होना चाहिए अर्थात् अञ्च् के अकार को नित् स्वर के कारण उदात्त होना चाहिए । किन्तु 'अचः' (६।४।१३८) से उक्त अकार का लोप हो जाता है । उक्त उदात्त अ का लोप हो जाने पर 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६।१।१६१) इस सूत्र से ङीप् को ही उदात्त हो गया । परन्तु इसे रोककर 'चौ' (६।१।२२२) सूत्र से, जिसका अर्थ है कि अकार लुप्त करनेवाला 'अञ्च्' धातु यदि पर में हो तो पूर्वशब्द को अन्तोदात्त होता है, घृत शब्द को अन्तोदात्त तो है ही, वही रहा । घृत + च् + ई='चौ' (६।३।१३८) से अ को दीर्घ होकर घृताची मध्योदात्त शब्द बना । (९) साधन्ता—√साध् + शप् + शतृ + औ (डा) । शतृ को ल सार्वधातुक (६।१।१८६) अनुदात्त होने से 'सति शिष्टस्वर०' नहीं हो सका । अतः धातु का ही स्वर (धातोः ६।१।१६२) रहा ।

मन्त्र—८

प्रस्तुत ऋचा में भी मित्रावरुण को संबोधित किया जा रहा है । ऋषि कहते हैं कि आप दोनों जल (या सत्य) की वृद्धि करने वाले, उसका संपादन करने वाले हैं; आप इस पूर्णकल्प (प्रायः समाप्त हो चुके) यज्ञ में सत्य के साथ आवें । मित्र और वरुण के स्वरूप को समझना यहाँ अपेक्षित है । विस्तार-भय से पूर्व मंत्र में यह नहीं दिया जा सका ।

द्यावापृथिवी के बाद देवता-युग्मों में मित्रावरुण का ही स्थान है । दोनों की सम्मिलित स्तुतिवाले सूक्तों की संख्या ऋग्वेद में बहुत अधिक हैं । अकेले मित्र की स्तुति केवल एक सूक्त (ऋ० ३।५९) में और अकेले वरुण की प्रायः १ दर्जन सूक्तों में मिलती है, नहीं तो दोनों साथ-साथ ही आये हैं । वरुण की जो विशेषताएँ हैं उनसे युग्म की विशेषताएँ भिन्न नहीं हैं । ये नित्य

युवा कहे गये हैं। सूर्य इनकी आँखें हैं, किरणें भुजायें हैं। ये चमकीले वस्त्र पहनते हैं। ये सर्वोच्च आकाश (परमे व्योमन्) में अपने रथ पर आरूढ़ होते हैं। इनका वासस्थान स्वर्णिम, सुदृढ़, विस्तृत और हजारों द्वारों का बना है। इनके गुप्तचर परम चतुर हैं जिन्हें कोई ठग नहीं सकता। ये संसार के राजा कहे जाते हैं। इन्हें असुर भी कहा है जो अपनी माया (जादू) से राज्यप्राप्ति करते हैं। उसी मायाशक्ति से ये उषा को भेजते हैं, सूर्य से आकाश पार करवाते हैं तथा मेघ और वर्षा के द्वारा आकाश को ढँक लेते हैं। ये सम्पूर्ण विश्व के शासक और रक्षक भी कहे गये हैं।

नदियों के अधिकारी के रूप में होने के अतिरिक्त ये वर्षा करने का भी अधिकार रखते हैं। मेघयुक्त आकाश तथा धारावाहिनी नदियों पर इन्हीं का नियंत्रण है। ये गोचर भूमि को घृत (वर्षा) से भर देते हैं तथा आकाश में मधु की वर्षा करते हैं। एक पूरे सूक्त में इनके वृष्टिकर्म का वर्णन किया गया है।

इनके नियम (अध्यादेश) इतने पक्के हैं कि देवताओं में भी उनके अतिक्रमण का साहस नहीं है। नियतिक्रम अर्थात् ऋत के संचालक और उसे आगे बढ़ाने वाले भी ये ही हैं। ये मिथ्या के निरोधक ही नहीं, उसे दूर भगानेवाले, उससे घृणा करनेवाले और दण्ड भी देनेवाले हैं। अपनी पूजा न करनेवाले को रोगी बनाने में भी ये किसी से पीछे नहीं। ऐतरेयब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान में वरुण हरिश्चन्द्र को पुत्र देते हुए तथा यज्ञ न करने पर जलोदर रोग देते हुए भी देखे जाते हैं।[1]

ये दोनों अवेस्ता में युगल-रूप से आये हुए अहुर तथा मिथ्र से तुलनीय हैं। ग्रीक में वरुण से मिलता-जुलता Ouranos (= आकाश) शब्द मिलता है जो यूनानी देवता यूरेनस् (uranus) की भी व्युत्पत्ति बतलाता है। ये देवता आकाश में स्थित थे। ये बृहस्पति (Zeus) के पितामह तथा शनि (Cronos) के पिता थे। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक शब्द 'यूरेनियम' (जिससे परमाणु-अस्त्र बने) भी उक्त ग्रीक शब्द से ही निर्मित है।

अस्तु, प्रस्तुत मंत्र में 'मित्रावरुणा' के दो विशेषण 'ऋतावृधौ' और 'ऋतस्पृशा' हैं। इनमें स्वरसाधन पर सायण ने बहुत प्रयास किया है।

'ऋतावृधौ' (ऋत की वृद्धि करनेवाले) में ऋत शब्द का अर्थ सायण ने जल और गेल्डनर ने सत्य लिया है। माधव ने भी सत्य अर्थ ही रखा है। स्कन्दस्वामी इसके तीन अर्थ रखते हैं—यज्ञ, सत्य और जल। किन्तु ऋत

१. स्वामी दयानन्द ने मित्र का अर्थ प्राण और वरुण का अपान लिया है।

का सामान्य अर्थ वेद में सत्य या नियतिक्रम (Cosmic order) ही है जो यहाँ भी ग्राह्य है। दूसरे मित्र और वरुण को इसका संरक्षक भी साधारणतः माना जाता है।

यही अर्थ 'ऋतस्पृशौ' का भी करना चाहिए। सायण का अर्थ तो 'जल देनेवाले' है ही। माधव और गेल्डनर 'सत्य का स्पर्श करनेवाले या पुष्ट करनेवाले' अर्थ करते हैं। यही अच्छा है।

'आशाथे' = आनशाथे = व्याप्त किया है। सायण—उपस्थित होते हैं। गेल्डनर—(आप दोनों) पहुँचे हैं, प्राप्त कर चुके हैं ।√अश् = पहुँचना, व्याप्त करना, प्राप्त करना। अतः सभी अर्थ प्रायः एक दिशा में ही है। 'बृहन्तं क्रतुम्' में 'बृहन्तम्' का अर्थ दूसरे टीकाकार 'महान्, ऊँचा' अर्थ करते हैं जब कि सायण का अर्थ है—अपने अंगों-उपांगों से जो यज्ञ अति प्रौढ अर्थात् प्रायः पूर्ण हो चला है। 'क्रतु' का सायणीय अर्थ ही ठीक लगता है क्योंकि यज्ञ में (सोमयाग) आने का प्रकरण भी है। गेल्डनर ने वैसे इसका अर्थ 'बुद्धि' 'अन्तर्दृष्टि' के रूप में किया है। 'कविक्रतु' (ऋ० १।१।५) में भले ही क्रतु शब्द प्रज्ञार्थक है किन्तु इस प्रसंग में जहाँ सोमयाग संपन्न हो रहा है, यह निश्चित रूप से यज्ञार्थक ही है।

अर्थ—सत्य के वर्धक तथा सत्यपोषक हे मित्र और वरुण सत्य के द्वारा आप इस प्रौढ यज्ञ में पहुँचते हैं।

स्वरविचार—(१) ऋतेन—√ऋ + क्त। ऋत—प्रत्ययस्वर। अथवा घृतादिगण में होने के कारण (फि० २१) अन्तोदात्त। (२) मित्रावरुणौ—'देवताद्वन्द्वे च' (६।३।२६) से पूर्वपद को आनङ् आदेश। 'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) से निघात।

(३) ऋतऽवृधौ—ऋत + √वृध् + क्विप्। प्रथमा द्विवचन (संबोधन)। छान्दस दीर्घ—केवल संहितापाठ में। आष्टमिक निघात पूर्ववत्। (४) ऋतऽस्पृशा—ऋत + √स्पृश् + क्विन्। निघात। औ के स्थान में डा-आदेश। ऋतावृधौ में स्वरसिद्धि पर शास्त्रार्थ की संभावना है। पूर्वपक्षी कह सकता है कि 'ऋतेन मित्रावरुणौ' में प्रथम शब्द दूसरे आमंत्रित शब्द का कम-से-कम स्वर के विषय में तो अंग बन सकता है जिससे आमंत्रित का कार्य उसमें भी होने लगे (सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे २।१।२)। उक्त 'ऋतेन' शब्द में इसलिए पादादि होने के कारण अथवा किसी पद के पर में न होने के कारण आष्टमिक निघात भले ही न हो किन्तु षष्ठाध्याय के 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) के अनुसार आद्युदात्त होने से कौन रोक सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि पराङ्गवद्भाव पद की विधि होने के कारण 'समर्थः

पदविधिः' (२।१।१) से सामर्थ्य पर निर्भर है । यहाँ 'ऋतेन' और 'मित्रावरुणौ' दोनों का अन्वय 'आशाथे' इस क्रियापद से होता है, परस्पर अन्वय नहीं होगा इसलिए 'ऋतेन' में असामर्थ्य के कारण पराङ्गवद्भाव हो ही नहीं सकता । जहाँ अन्वय-सामर्थ्य है वहाँ पूर्व शब्द पराङ्ग बनता ही है— 'मरुतां पितस्तदहं गृणामि' में स्वभावतः अन्तोदात्त रहनेवाला मरुत् शब्द इसी 'सुबामन्त्रिते०' से आद्युदात्त में समर्थित है । मरुताम् और पितः परस्पर अन्वित हैं । 'ऋतेन' के साथ वैसी बात नहीं है ।

अब 'ऋतावृधौ' का विचार करें । प्रस्तुत मंत्र में 'मित्रावरुणौ' के बाद आनेवाला यह दूसरा आमन्त्रित-पद है । निघात होने के समय 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (८।१।७२) के अनुसार प्रथम आमंत्रित शब्द अविद्यमान की तरह हो गया अर्थात् उसका होना न होने के बराबर है । इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता । 'ऋतेन' के बाद सीधे 'ऋतावृधौ' को ही समझकर स्वर-प्रक्रिया चलेगी जिससे इसका निघात हो जायगा । जैसे—'इमं मे गङ्गे यमुने' में 'गङ्गे' का अविद्यमान मानकर भी 'मे' के आधार पर 'यमुने' का निघात होता है ।

इसके अतिरिक्त भी एक विधि है । 'मित्रावरुणौ' सामान्य (विशेष्य) पद हैं । 'ऋतावृधौ' उसी का विशेषण है । 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्य-वचनम्' (८।१।७३) सूत्र के अनुसार यदि आमंत्रित समानाधिकरण पद बाद में हो तो पूर्व में रहनेवाले सामान्यवाचक पद को अविद्यमानवत् नहीं माना जाता । इसलिए 'आमन्त्रितस्य च' से निघात हो ही जायगा; मित्रावरुणौ विद्यमान रहे या अविद्यमानवत् रहे, निघात तो 'ऋतावृधौ' में होगा ही ।

अभी समस्या पूरी तरह सुलझी नहीं है । उक्त आमंत्रित-निघात पादादि में नहीं होता क्योंकि 'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) में पूर्वसूत्र से 'अपादादौ' की भी अनुवृत्ति होती है । यही कारण है कि 'इमं मे गङ्गे' वाले उदाहरण में द्वितीयपाद के आरंभिक शब्द 'शुतुद्रि' को निघात न होकर षाष्ठिक आद्युदात्त हो गया है । (द्र० ऋ० १०।७५।५) । उसी प्रकार यहाँ भी द्वितीयपाद के आरंभिक ऋतावृधौ को आद्युदात्त मानें या निघात के समर्थन में कुछ विशेष बात कहें ।

उत्तरपक्षी का उत्तर है कि मित्रावरुणौ पद 'सुबामन्त्रिते०' के अनुसार पराङ्गवत् हो गया है, ऋतावृधौ इसीलिए पादादि नहीं कहा जा सकता ।' 'शुतुद्रि' के साथ यह न्याय लागू नहीं हो सकता क्योंकि 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति, शुतुद्रि स्तोमं सचत' में 'सरस्वति' के साथ 'शुतुद्रि' का परस्परान्वय नहीं होता, दोनों 'सचत' से भले हीं अन्वित हों । इसलिए वहाँ पराङ्गवद्भाव का प्रश्न ही नहीं । प्रस्तुत मंत्र में सामानाधिकरण्य के कारण परस्पर अन्वय

हो सकता है इसलिए सामर्थ्य होने से पराङ्गवद्भाव होता है। जैसे उक्त 'मरुतां पितः' वाले उदाहरण में।

पुनः प्रश्न होता है कि जब मित्रावरुण-पद को पराङ्गवत् मान लिया गया तब उसे ही पादादि मानकर निघाताभाव क्यों न लावें? ऐसी बात नहीं होती। पूर्व में सुबन्त और पर में आमन्त्रित को आधार मानकर जो स्वर लगाया जाय वहीं पराङ्गवद्भाव होता है। इस विधि से ऋतावृधौ पद का निघात ही संभव है क्योंकि पूर्वपद परपद के अङ्ग जैसा हो जाता है जिससे परपद में हम अपादादि कहकर निघात-स्वर लगा सकें। मित्रावरुणौ का निघात तो पूर्वपद (ऋतेन) के आधार पर ही हो जाता है, पर-पद के आमन्त्रित के आधार पर उसका निघात नहीं होता कि पराङ्गवद्भाव हो सके।

अन्तिम प्रश्न है कि पराङ्गवद्भाव की तरह निघात भी पदविधि है इसलिए 'ऋतेन' के साथ सामर्थ्य होने न होने से उसके आधार पर 'मित्रावरुणौ' का निघात नहीं होना चाहिए। उत्तर में एक वार्तिक है—समानवाक्ये निघात-युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः (२।१।१ पर) जिससे सिद्ध होता है कि निघात होने के लिए (पदविधि होने पर भी) समान वाक्य में रहने भर की आवश्यकता है, पराङ्गवद्भाव की तरह परस्पर अन्वय भी होना जरूरी नहीं। यह पूरा प्रकरण सायण के किसी घनघोर शास्त्रार्थी सहयोगी के मस्तिष्क की देन है। इससे सायणभाष्य की गंभीरता का अनुमान लगाया जा सकता है।]

(५) क्रतुम्—√कृ + कतु। प्रत्ययस्वर० = अतु का अ उदात्त। (६) बृहन्तम्—बृहत् का प्रातिपदिकस्वर = अन्तोदात्त। (७) आशाथे इति—'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१।१।११) से प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण इति-करण। तिङ् निघात।

मन्त्र—६

सायण के अनुसार इस मंत्र में मेधावी मित्रावरुण से ऋषि अपने बल (दक्षम्) तथा कार्य (अपसम्) की वृद्धि की प्रार्थना कर रहा है। देवता-युग्म के दो विशेषण भी दिये गये हैं—तुविजातौ तथा उरुक्षया (–यौ)।

सायण 'तुविजात' का अर्थ 'अनेक लोगों के लाभ के लिए उत्पन्न' किया। वेदार्थयत्न में 'जन्म से ही दृढ (वीर के रूप में उत्पन्न)' अर्थ है; गेल्डनर 'वीर जाति के' अर्थ रखते हैं। 'तुवि' वस्तुतः दृढ या वीर के अर्थ में आता है। निघण्टु में बहु का पर्याय दिये जाने के कारण ही सर्वत्र भ्रम हो गया है। 'वीर रूप में उत्पन्न' अर्थ ठीक है।

उरुक्षया का अर्थ सायण ने 'बहुत लोगों का निवासस्थान (शरण)'

किया है किन्तु ऋग्वेद में 'उरु' का अर्थ है विस्तृत; क्षय = निवास, वासस्थान आदि √क्षि = रहना। अतः अर्थ ठीक होगा—विस्तृत आवासवाले।

'दक्ष' का बल अर्थ ठीक नहीं है। ऊपर (१।२-७) के मंत्र की विवेचना से हम महीधर का अर्थ (ज्ञानेन्द्रियकौशल-मनशक्ति) देख चुके हैं। सामान्यतया इसे कुशलता या निपुणता (शारीरिक या मानसिक) के अर्थ में रखा जा सकता है। सायण 'अपसम्' का अर्थ 'कार्य' करते हैं। आद्युदात्त न होने से यह विशेषण के रूप में ग्राह्य है। कार्य के अर्थ में यह आद्युदात्त होता है—अपस्। किन्तु विशेषण होने पर अन्तोदात्त हो जाता है—अपस्। अर्थ होगा, कार्यशील या सफल।

अर्थ—वीर जाति तथा विस्तृत आवास वाले हे मेधावी मित्रा वरुण! हमें फलप्रद कौशल प्रदान करें (दधाते)।

स्वरविचार—(१) कवि इति—प्रातिपदिकस्वर (अन्तोदात्त)। प्रगृह्य के कारण इति-करण। (२) नः—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) से अनुदात्त। (३) मित्रावरुण—मित्र में प्रातिपदिकस्वर (अन्तोदात्त)। वरुण—√वृ + उनन् (आद्युदात्त—नित् के कारण)। 'देवताद्वन्द्वे च' (६।२।१४१) से दोनों का बचा रहना। (४) तुविऽजातौ—'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त (षष्ठी तत्पु०)। चतुर्थीसमास में 'क्ते च' (६।२।४५) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर हो जाता। (५) उरुऽक्षया—उरु + √क्षि + अच् (३।३।५६ एरच्)। 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त प्राप्त होने पर 'क्षयो निवासे' (६।१।२०१) से आद्युदात्त। समास के अन्तोदात्त को रोककर 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) उत्तरपद का आद्युदात्त। (६) दक्षम्—√दक्ष + घञ्। ञित्—आद्युदात्त। (७) दधाते इति—एकार द्विवचनकी प्रगृह्य संज्ञा होने से इति-करण। तिङ्निघात। (८) अपसम्—√आप् + असुन्। आद्युदात्त होने पर भी व्यत्यय से प्रत्ययस्वर।

चतुर्थवर्ग समाप्त।

सूक्त—३

प्रस्तुत सूक्त में १२ मंत्र हैं जो चार देवताओं को संबोधित हैं। प्रत्येक देवता के लिए ३–३ मंत्र हैं—अश्विना (अश्विन्-युगल १-३), इन्द्र (४-६), विश्वेदेवासः (७–९) और सरस्वती (१०-१२)। पूर्वसूक्त की तरह ही इसमें ऋषि मधुच्छन्दा और छन्द गायत्री है। अष्टक प्रणाली के अनुसार इस सूक्त में छठे मन्त्र तक ५ वाँ वर्ग है और ६–१२ तक ६ ठा वर्ग है। इस सूक्त का सामान्य विनियोग अग्निष्टोम याग में सुत्या-दिन (pressing-day) को

सूर्योदय के पूर्व में होता है। अध्वर्यु नामक ऋत्विज होता को उस समय प्रातरनुवाक के बाद प्रातः सवन में प्रउगशस्त्र का पाठ करने का आदेश देता है। यह सूक्त उसी प्रउगशस्त्र का एक अंश है।

अग्निष्टोम-याग सोमयाग का सरलतम तथा सुप्रसिद्ध रूप है। इसमें केवल एक पशु की बलि दी जाती है—अग्नि के लिए एक बकरे की। इसमें उद्गाता के द्वारा स्तोत्रों का गान होता है, प्रत्येक स्तोत्र के बाद होता एक शस्त्र पाठ करता है। यह शस्त्र-पाठ होता के सहकारी (=मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, अच्छावाक) पुरोहितों के द्वारा भी किया जाता है। तीनों सवनों में स्तोत्रों तथा शस्त्रों का यही रूप है—

१. प्रातःसवन

१. बहिष्पवमान स्तोत्र	१. आज्याशस्त्र (होता)
२. आज्या स्तोत्र	२. प्रउग शस्त्र („)
३. „ „	३.
४. „ „	४. } आज्या शस्त्र (होत्रक)
५. „	५.

२. माध्यन्दिन सवन

६. माध्यन्दिन पवमान	६. मरुत्वतीय शस्त्र (होता)
७. पृष्ठ स्तोत्र	७, निष्केवल्य शस्त्र („)
८. „ „	८.
९. „ „	९. } होत्रक
१०. „ „	१०.

३. तृतीय सवन

११. आर्भव (तृतीय) पवमान	११. वैश्वदेव शस्त्र (होता)
१२. अग्निष्टोम साम (यज्ञायज्ञीय)	१२. आग्निमारुत शस्त्र („)

अग्नि स्तोत्र के कारण ही इस याग का नाम अग्निष्टोम पड़ा है। यही कारण है कि इसे 'अग्निष्टोमसंस्थाः क्रतुः' कहते हैं।

सुत्या दिन उस दिन का नाम है जिसमें सोम का सवन किया जाता है। तीनों सवनों में (पीस कर रस निकालने में) सोमरस के कुछ पात्र भरे जाते हैं जिन्हें उद्दिष्ट देवता पर चढ़ा कर अन्त में पुरोहित तथा यजमान पी जाते हैं।

प्रातरनुवाक वह स्तुति है जिसे होता अपररात्र (रात्रि के उत्तरार्ध) में उच्चारित करता है। पक्षियों के स्वर आदि सुने जाने के पूर्व ही इसे आरम्भ

कर देना पड़ता है। यहां तक कि आधी रात के बाद ही इसे आरम्भ किया जा सकता है और सूर्योदय तक यह कार्य चल सकता है। जब अध्वर्यु होता को प्रातरनुवाक पढ़ने का आदेश देता है तब होता आग्नीध्र अग्नि में घृत की एक आहुति तथा आहवनीय अग्नि में उपर्युक्त मंत्रों से दो आहुतियाँ देता है। इसके अनन्तर होता पूर्वद्वार से हविर्धान (cart-shed) में प्रवेश करके मंत्रों का पाठ करते हुए सामने की माला (रराट) तथा द्वारयूपों का स्पर्श करता है और सोमलता लानेवाली गाड़ियों को जोतने वाले खंडों के बीच पद्मासन (पालथी) लगाकर बैठ जाता है।

इसके बाद ही उसका मन्त्रपाठ ऋग्वेद १०।३०।१२ से आरम्भ होता है। अग्नि, उषस् तथा अश्विन् युगल ये ही तीन देवता क्रमशः स्तुति के विषय बनते हैं। इस प्रकार स्तुति के तीन खंड हो जाते हैं जिन्हे 'क्रतु' कहते हैं—अग्नि क्रतु आदि। इन खण्डों का निर्माण विभिन्न सूक्तों तथा मन्त्रों से होता है जिनमें सात छन्दों का क्रम रखा जाता है—गायत्री, अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ्, बृहती, उष्णिक्, जगती तथा पङ्क्ति। इस प्रकार क्रतुओं के सात भेद हो जाते हैं। आधीरात से सूर्योदय के बीच जितने भी मंत्र पढ़े जा सकें उतने की स्तुति हो सकती है। किन्तु यह ध्यान में रखना है कि प्रत्येक देवता की प्रत्येक छन्द से स्तुति होनी चाहिए तथा १०० मंत्र से कम भी न हों। [विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—Sacred Books of the Fact, vol. XXVI पृ० २२३-३०]।

प्रातः सवन प्रातकाल में सम्पन्न होने वाले सोमरस का प्रस्तुतीकरण है। इसी के अन्तर्गत प्रउगशस्त्र आता है। ऊपर की सूची से स्पष्ट है कि अग्निष्टोम में १२ स्तोत्र (उद्गाता के द्वारा गाये जानें वाले साममंत्र) तथा १२ ही शस्त्र (होता के द्वारा पढ़े गये ऋग्-मंत्र) प्रयुक्त होते हैं। इनमें पाँच स्तोत्र और पाँच शस्त्र प्रातःसवन में ही काम में आ जाते हैं। उद्गाता के प्रत्येक स्तोत्र-गान के पश्चात् होता का शस्त्र-पाठ होता है। वैसे होता को तो पूरे दिन में केवल छह (प्रातःसवन २, मा० स० २ सा० स० २) शस्त्र ही पढ़ने पड़ते हैं, शेष तो उसके सहायक करते हैं जो होत्रक कहलाते हैं। तो, इन छह शस्त्रों में ही दूसरा 'प्रउगशस्त्र' कहलाता है। प्रउगशस्त्र में सात 'तृच' (तीन ऋचाओं का समूह, triplets) होते हैं।

ऋग्वेद संहिता—१।२।१-३; १।२।४-६; १।२।७-९।

१।३।१-३; १।३।४-६; १।३।७-९ तथा १।३।१०-१२।

तात्पर्य यह है कि प्रथम मण्डल के द्वितीय और तृतीय सूक्त पूरे आ जाते

हैं। ये तृच क्रमशः वायु, इन्द्र + वायु, मित्र + वरुण, अश्विन्-युगल, इन्द्र, विश्वदेव, तथा सरस्वती को सम्बोधित हैं।

आश्वलायन (४।१५) के अनुसार प्रस्तुत आश्विन तृच का विशेष विनियोग प्रातरनुवाक में 'आश्विन क्रतु' में होता है।

मन्त्र—१

मंत्र में अश्विन-युगल की स्तुति है। इनके अनेक संबोधन-विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—द्रवत्पाणी, शुभस्पती, और पुरुभुजा। इनमें 'शुभस्पती' वस्तुतः शुभ् की षष्ठी का रूप शुभः तथा पति के समास से निष्पन्न हुआ है अतएव सायण ने परम्परा से आनेवाला 'शोभन कर्मों का पालक' ऐसा अर्थ किया है। स्कन्द और वेंकटमाधव इसे 'जल के स्वामी' के अर्थ में लेते हैं। ग्रासमान के अनुसार इसका अर्थ 'शोभाधिकारी' या 'रत्नाभूषण का अधिकारी' है। इनमें प्रथम अर्थ लुडविग, गेल्डनर, मोनियरविलियम्स तथा ग्रिफिथ ने भी रखा है। स्थिति ऐसी है कि 'शुभस्पती' शब्द केवल द्विवचन में ही तथा अश्विनों के विशेषण के रूप में ही सर्वत्र आया है। इन स्थलों में सायण की विविध व्याख्याओं के कारण विद्वानों के मतभेद को अवकाश मिला है। फिर भी व्युत्पत्ति से 'शुभ = शोभा' अर्थ लेकर (जो अन्यत्र सायण द्वारा भी मान्य है)—'शोभाधिकारी' अर्थ करना ही कदाचित् संगत हो।

यही संदेह 'पुरुभुजा' की व्याख्या में है। पुरु का अर्थ तो 'बहुत या अधिक' है किन्तु '०भुजा' की व्युत्पत्ति भुजा (हाथ), √भुज् (खाना, भोग करना) आदि से भी हो सकती है। अतः सायण के दो विकल्प—'लम्बी बाँहोंवाले' 'बहुभोजी' तथा वेंकटमाधव का 'बहुभोजनौ' (अधिक खाने या खिलानेवाले) संभव हुआ है। ग्रासमान का अर्थ 'अधिक धारण करनेवाला' (viel lesitzend) है। लुडविग ने 'उपभोगसमर्थ' अर्थ किया है। यह आनन्दोपभोग वाले अर्थ का समर्थन गेल्डनर तथा मोनियर विलियम्स ने भी किया है। ये सभी अर्थ सायण के द्वारा भी विभिन्न स्थानों में दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त भी, सायण 'बहूनां पालकौ' अर्थ कई स्थानों पर (ऋ० १।११६।१३, ५।७३।१ आदि) दिया है। अश्विनों का विशेषण 'अनेक की रक्षा करनेवाले' के रूप में देना बहुत अच्छा लगता है क्योंकि देवता के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यही अर्थ उपयुक्त लगता है।

'द्रवत्पाणी' सायण के अनुसार 'हविर्ग्रहण के लिए फैलाये गये हाथोंवाले' अर्थ रखता है जब कि स्कन्दस्वामी और वेंकटमाधव के अर्थ हैं 'तेज हाथोंवाले, तेजी से चलनेवाले हाथों से युक्त'। यूरोपीय विद्वानों में विल्सन तो सायणा-

नुसारी हैं ही, गेल्डनर और ग्रिफिथ स्कन्दीय अर्थ लेते हैं। मोनियर विलियम्स 'तेज घोड़ेवाले' अर्थ रखते हैं। ग्रासमान का भी अर्थ सम्बद्ध ही है—'क्षिप्र खुरों से युक्त घोड़ों वाले'। सबसे अधिक स्पष्ट अर्थ है—'क्षिप्र हस्तवाले' जो स्कन्दस्वामी का है। वैसे पाणि का अर्थ पैर तथा खुर भी कुछ प्राचीन टीकाकारों ने किया है किन्तु तेजचरणवाले, तेज खुरवाले अर्थ करने से यह विशेषण अश्विनों के घोड़ों के लिए भले ही उपयुक्त हो, अश्विनों के लिए तो नहीं। अतः लक्ष्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ—'तेज हाथों वाले' अश्विन्-युगल का अर्थ सबसे अच्छा है।

'यज्वरीः' (यज्ञ में उपयुक्त) 'इषः' (अन्न)—ये दोनों स्त्रीलिंग द्वितीया बहुवचन के रूप हैं। 'चनस्यतम्' नामधातु है। चनस् (= अन्न) के बाद क्यच् (आत्मेच्छा के अर्थ में) लगाकर लोट् मध्यमपुरुष द्विवचन में यह रूप हुआ है। अर्थ होगा 'आप दोनों अपने लिए अन्न की इच्छा करें'। इस अर्थ में भी अन्न का अर्थ है और अलग से 'इषः' का प्रयोग भी है अतः पुनरुक्ति-दोष (tautolgy) की संभावना हो जाती है। अतः उसके परिहार के लिए कतिपय सदृश उदाहरण सायणादि ने दिये हैं। सायण ने 'वक्तव्यमुवाच' तथा 'समूलकाषं कषति' ये दो लौकिक उदाहरण दिये हैं। वेंकटमाधव कहते हैं—धातुनोक्तार्थस्य कर्मणः पदान्तरेण पृथग्वक्तुं निर्देशः समानशब्दैरनेकत्र भवति। तत्समानार्थेनेषश्चनस्यतम्। ऐसी स्थितियाँ ऋग्वेद में ही अनेक स्थानों पर हैं—गवां गोपतिः (ऋ० १।१०१।४), सोमं सोमपातमा (१।२१।१), द्रविणोदा द्रविणसः (१।९६।८)। इसी प्रकार 'गोषु गोतमः, मासानां मासोत्तमः, गृहे गृहस्थः, मृगं मृगयति' आदि प्रयोग हैं। वास्तव में इनके दूसरे शब्द अपना अर्थ बदलकर विशेषार्थ में रूढ़ हो गये हैं, गोपतिः = पतिः, गोतमः = श्रेष्ठः।

मंत्र का स्वीकार्य अर्थ इस प्रकार लगता है—हे अश्विन्-युगल, आप के हाथ बहुत तेज हैं (दान करने या शत्रुओं के विनाश में समर्थ हैं), शोभा के आप अधिकारी हैं। (पुराणों में च्यवन के यौवनदान की सामर्थ्य इन्हीं में है), अनेक लोगों की रक्षा करने में आप समर्थ हैं। यज्ञ में प्रयुक्त किये गये प्रस्तुत अन्न का ग्रहण आप कृपया करें।

अश्विन्-युगल—यास्क अपने निरुक्त (१२।१) अश्विनों के विषय में लिखते हैं कि द्युस्थानीय देवताओं में अश्विनों का नाम पहले दिया गया है। ये 'अश्विनौ' हैं कौन? कुछ लगों के अनुसार 'स्वर्ग और पृथ्वी' हैं, कुछ लोग 'दिन और रात' अर्थ लेते हैं, दूसरे 'सूर्य और चन्द्रमा' के नाम लेते हैं। ऐतिह्यविदों के अनुसार पवित्र कर्म संपादक दो राजाओं के रूप में ये हैं। यास्क के इस

सन्देहात्मक विवेचन से अश्विनों का स्वरूप–निर्धारण प्राचीन काल में समस्या थी, पता लगता है। रॉथ, संदेह होते हुए भी, इन्हें प्रकाश से संबद्ध वैदिक देवताओं में अन्यतम मानते हैं। प्रातःकाल के आकाश में सर्व प्रथम प्रकाश लाने वाले अश्विन् ही हैं। ये उषा के आगमन के भी पूर्व अपने रथ में तेजी से बढ़ते हैं तथा उसके लिए मार्ग प्रस्तुत करते हैं। (J, Muir, Old Sanskrit Texts, V. 234)।

मैकडोनल का कहना है कि इन्द्र, अग्नि और सोम के बाद ये दोनों अश्विन् ही प्रमुख देवता हैं। ५० से अधिक सूक्तों में पूर्णतः तथा कई अन्य सूक्तों में अंशतः ये संबोधित हैं। प्रकाश के देवताओं में होने पर भी, ये प्रकृति के किस रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह जानना कठिन है। ये दोनों परस्पर अविभाज्य हैं यद्यपि कुछ स्थानों पर ऐसी ध्वनि निकलती है कि कभी ये पृथक् भी माने जाते थे। युवक और प्राचीन दोनों विशेषण इनपर लगते हैं। इन्हें देदीप्यमान, शोभा-समर्थ, स्वर्णिम, सुन्दर तथा कमल-मालालंकृत भी कहा गया है। हिरण्यवर्तनि अर्थात् स्वर्णिम पथ पर चलने वाले केवल अश्विन् ही हैं। ये दृढ तथा मन की तरह वेगवान् हैं। दृष्टिशक्ति तथा बुद्धि की ये अक्षय निधि हैं। इनके दो मुख्य विशेषण 'दस्र' (नाशक, आश्चर्यंकर) तथा 'नासत्य' (सत्यपालक) हैं (जो तीसरे मंत्र में आये हैं)। अश्विनों का मधु से सर्वाधिक सम्बन्ध है। वैसे उषस् तथा सूर्य के साथ सोमपान करने के लिए भी इनका आवाहन किया जाता है। इनका स्वर्णिम रथ तीन चक्रों का है तथा मनके वेग से चलता है। इसे ऋभुओं ने बनाया तथा इसे घोड़े तथा बहुधा पक्षी या पंखवाले घोड़े खींचते हैं। ये स्वर्ग, अन्तरिक्ष या पृथ्वी से भी आते हैं। कभी-कभी इनकी स्थिति अज्ञात ही रहती है। उषा और सूर्योदय के मध्य इनका आगमनकाल है। अपने रथ में ये उषा का अनुसरण करते हैं। (रॉथ के विचार यहाँ खण्डित होते हैं)। तीनों कालों में अर्थात् प्रातः मध्याह्न तथा सायं में भी ये आते हैं। अन्धकार को दूर भगाना तथा दुष्ट तत्वों को नष्ट करना इनके काम हैं।

ये स्वर्ग के पुत्र हैं किन्तु एक स्थान पर विवस्वान् और सरण्यू (त्वष्टा की पुत्री) से उत्पन्न युग्म-भ्राता भी कहे गये हैं। पूषन् इनके पुत्र और उषा बहन है। सूर्य की पुत्री अथवा सूर्य का ही स्त्री रूप—सूर्या के ये दोनों पति हैं। इनका वरण करके वह इनके रथ पर चढ़ती है। दुःख से छुड़ाने में ये सबसे तेज हैं। देववैद्य होना इनका सर्वप्रधान लक्षण है। अपने औषधों से ये रोगियों की रक्षा करते हैं, दृष्टिशक्ति देते हैं। यौवन देना, शारीरिक दोषों को दूर करना आदि की इनकी अनेक कथायें हैं। विशेषतः समुद्र में डूबते

हुए भुज्यु की रक्षा इन्होंने की थी, यह प्रसिद्ध है। प्रभात के आधे प्रकाश और आधे अन्धकार के रूप में, या प्रातः-सायंकालीन तारों के रूप में ये माने जाते हैं—ये दो सिद्धान्त हैं। यूनानी पुराणशास्त्र के जिऊस-पुत्रों से ये तुलनीय हैं जो हेलेन के भाई थे। ये भी अश्वारोही ही थे। लेटिक कथाओं में भी ईश्वर के दो पुत्रों का आख्यान है जो सूर्य की पुत्री का परिणय करने को घोड़े पर आते हैं।

स्वर-विचार—(१) अश्विना—संबोधन का पद है तथा पादादि में है अतएव 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) के अनुसार आद्युदात्त हो गया, अन्यथा अष्टमाध्याय का यही सूत्र निघात कर देता। अवशिष्ट वर्ण स्वरित तथा प्रचय नियमानुसार हो गये हैं। (२) यज्वरीः—√यज् + ङ्वनिप् (सुयजोर्ङ्वनिप् ३।२।१०३)। प्रातिपादिक रूप-यज्वन्। प्रस्तुत प्रत्यय कर्तृवाच्य में होता हैं जबकि यह शब्द अन्न का विशेषण है जो यज्ञ (√यज् धातु) का करण है, कर्ता नहीं। अतः समाधान के लिए सायण को लिखना पड़ा कि 'असिश्छिनत्ति' (असि अर्थात् तलवार से मारता है) वाक्य में करण होने पर भी असि कर्तृ-रूप में है, उसी प्रकार यहाँ भी अपने व्यापार में कर्ता के रूप में अन्न देखा गया है। अतः, प्रत्यय लगा। अब स्त्रीलिंग में 'वनो र च' (४।१।७) से ङीप् तथा न् का र् भी साथ-साथ हो गये। पित् होने के कारण (अनुदात्तौ सुप्पितौ ३।१।४) दोनों प्रत्यय अनुदात्त हैं इसलिए धातु का स्वर बच रहने से शब्द आद्युदात्त हुआ। (३) इषः—इसमें (प्रातिपदिक) इष्+(सुप्–प्रत्यय) शस् है। सुप् तो अनुदात्त होता है अतः प्रातिपादिक का स्वर, इ में उदात्त रहेगा। नियमतः एक को तो उदात्त रहना ही है—अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५८)।

(४) द्रवत्पाणी इति द्रवत्ऽपाणी—द्रवन्तौ पाणी ययोस्तौ। बहुव्रीहि-समास में पूर्वपद का ही स्वर बचा रहता है। उसके अतिरिक्त भी, छठे अध्याय के 'आमन्त्रितस्य च' से आद्युदात्त हो गया। पादादि में होने से अष्टमाध्याय वाला निघात नहीं हो सका। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जिस प्रकार ऊपर के मंत्र 'मित्रावरुणावृतावृधौ' (ऋ० १।२।८) में 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' (२।१।२) सूत्र के कारण पराङ्गवत् (दूसरे पद के अंग-जैसा) मानकर पादादि का नियम नहीं लगने दिया गया और निघात कर दिया गया, उसी प्रकार 'इषः' पूर्वपद को 'द्रवत्पाणी' के अंग-जैसा मानकर निघात क्यों नहीं कर देते? इसका उत्तर देते हुए सायण कहते है कि 'द्रवत्पाणी' में निघात नहीं हो सकता। ऊपर वाले उदाहरण में समानाधिकरण के नियम से परस्पर अन्वय हो सकता है परन्तु 'इषः' और 'द्रवत्पाणी' में सामर्थ्य ही नहीं है कि

परस्पर अन्वय हो सके। पराङ्ग-जैसा होने का अभिप्राय यह नहीं कि कोई शब्द किसी का अङ्ग बन जाय। इस सूत्र के पहले ही सूत्र है—समर्थः पदविधिः। पराङ्गवत्ता की स्थिति सामर्थ्य पर ही निर्भर करती है। (५) शुभः—√शुभ्+क्विप्+षष्ठी ए० व० (ङस्)। बाद में 'पती' शब्द आमन्त्रित (संबोधन) है। इसलिए 'सुबामन्त्रिते०' से पराङ्गवद्भाव होकर प्रस्तुत शब्द में अष्टाध्यायवाले 'आमन्त्रितस्य च'-सूत्र से आद्युदात्त हो गया है। अष्टमाध्याय वाले सूत्र से होनेवाला (आष्टमिक) निघात नहीं होगा क्योंकि उसके निषेध का नियम तो बना ही हुआ है। 'द्रवत्पाणी' पूर्व में आमंत्रित पद ही है जो 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (८।१।७२) के अनुसार अविद्यमान–जैसा हो जायगा। वस्तुस्थिति यह है कि आमन्त्रित के पूर्व में कोई आमन्त्रित शब्द हो तो उसका रहना-न रहना बराबर है, अविद्यमान–जैसा ही वह रहना है—वस्तुतः दूसरे आमंत्रित को भी पादादि में ही समझना चाहिए। जैसे, अग्न इन्द्र। यहाँ 'इन्द्र' (संबोधन) के पूर्व 'अग्ने' (संबोधन) है अतः इन्द्र को पादादि मानकर आद्युदात्त कर देंगे। पादादि में रहने पर किसी का निघात नहीं होता। अतः 'शुभः' को भी पादादि मानकर निघाताभाव होगा। [फिर भी शंका की जा सकती है—उक्त अविद्यमानवत्त्व का निषेध करनेवाला भी सूत्र है—'नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्' (८।१।७३) अर्थात् यदि आमंत्रित समानाधिकरण-पद बाद में हो तो विशेष्य के वाचक आमंत्रित-पद को अविद्यमानवत् नहीं समझना चाहिए। 'मित्रावरुणावृतावृधौ' में यह बात हुई है। इसी प्रकार यहाँ भी क्यों नहीं होगी? उत्तर यह है कि 'मित्रावरुणौ' शब्द विशेष्य (सामान्यवचन) है इसलिए अविद्यमानवत्त्व का निषेध हो गया है। 'द्रवत्पाणी' पद तो विशेष्य है नहीं, विशेषण ही है—अतः यहाँ कैसे निषेध होगा? फलस्वरूप निघाताभाव ही होगा।] (६) पति इति—संबोधन के कारण निघात है। प्रगृह्य संज्ञक (ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११) होने से आद्युदात्त-पद 'इति' का प्रयोग पद-पाठ में हुआ है। 'द्रवत्पाणी' में भी यही बात है किन्तु समस्त-पद होने के बाद पद की द्विरुक्ति कर दी गयी है। ऐसे स्थानों में अवग्रह-चिह्न द्वितीय शब्द अर्थात् इति के बाद आनेवाले के साथ दिया जाता है।

(७) पुरुभुजा—पुरू विस्तीर्णौ भुजौ ययोस्तौ—पुरुभुजौ। आमंत्रित होने के कारण षष्ठाध्याय के सूत्र से आद्युदात्त। (८) चनस्यतम्—चनस्+क्यच्+लोट् म० द्वि० (थस्>तम्)। क्यच् का प्रत्यय-स्वर अर्थात् यकारस्थित अ की उदात्तता रही। शप् के साथ, जो अनुदात्त है, एकादेश करने पर उदात्त ही रहा क्योंकि नियम है—'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।

२१५)। इस क्रिया-पद का 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से होनेवाला निघात नहीं हुआ क्योंकि पूर्व में आमंत्रित पद है जो अविद्यमानवत् ही हो जायगा और पादादि में निघात होता ही नहीं।

मन्त्र—२

यहाँ अश्विनों से अनुरोध किया जा रहा है कि ये हमारी प्रार्थनायें स्वीकार करें। इस प्रसंग में अश्विनों के तीन विशेषण लगाये गये हैं—पुरुदंससा, नरा और धिष्ण्या। अश्विना की ही तरह ये तीनों शब्द संबोधन (प्रथमा विभक्ति) के द्विवचन में हैं। औ के स्थान पर बहुधा आकारान्त देखा जाता है, वही यहाँ भी है।

'पुरुदंससा' सायण और स्कन्दस्वामी के अनुसार 'अनेक कर्मवाले' इस अर्थ में है क्योंकि इसका समर्थन निघण्टु के 'दंस = कर्म' इस पर्याय से होता है। वेंकटमाधव इसमें थोड़ा परिवर्तन करके इसे 'आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले विविध कर्मों से युक्त' कहते हैं। यूरोपीय विद्वान इसी अर्थ को प्रकारान्तर से दुहराते हैं—महान् कार्यों से भरे हुए (विल्सन); कार्यों से समृद्ध अथवा आश्चर्यंकर कार्यों से भरे (ग्रासमैन); कौशल या कला से सम्पन्न (गेल्डनर)। अश्विनों के आश्चर्यंकर कर्म प्रसिद्ध हैं, अपनी सहायता चाहने वालों की रक्षा तथा लाभ के लिए ये बहुत काम करते हैं। अतः वेंकटमाधव का ही अर्थ अच्छा प्रतीत होता है।

'नरा' के लिए स्कन्दस्वामी 'मनुष्याकृती' (मानव के आकार वाले) अर्थ देते हैं जब कि सायण और वेंकट इसका अर्थ नेता अर्थात् मार्गदर्शक लेते हैं। विल्सन ने 'भक्ति के मार्गदर्शक' अर्थ में इसे रखा है। गेल्डनर इसे मानव (mann), नायक (held), नेता अथवा स्वामी (herr) के अर्थ में मानते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति √नृ = ले जाना, राह दिखाना, इस धातु से होने के कारण 'नेता या मार्गदर्शक' अर्थ उपयुक्त है।

'धिष्ण्या' = धार्ष्ट्य अर्थात् साहस से भरे हुए, बुद्धिमान् (सायण)। स्कन्दस्वामी की दो व्याख्यायें हैं—(१) धिषणा (वाणी) के पुत्र (अपत्यार्थक यत्प्रत्यय)। (२) धी = बुद्धि, √ष्णै = वेष्टन करना, घेरना; बुद्धि (धी) जिसकी स्ना (= वेष्टन, घेरनेवाली चीज) हो वह 'धिष्ण' अर्थात् सभी वस्तुओं का ग्रहण कर सकने वाली बुद्धि से संपन्न। स्वार्थ में यत्प्रत्यय होकर 'धिष्ण्यौ' बना है जिसमें अर्थ हुआ 'अत्यन्त बुद्धिमान्'। वेंकटमाधव ने 'धिषणार्हौ' (प्रशंसनीय) कहा है। ग्रासमैन ने अर्थ किया है—स्वतन्त्र रूप से देने वाले, इच्छादानी स्वेच्छः से सहायता करने वाले। गेल्डनर इस

विषय में विश्वासपूर्वक कुछ न कह सकने पर भी सायण के अर्थ की ओर झुकते हैं। बेनफी ने 'प्रशंसनीय' अर्थ रखा। निरुक्तकार का कथन है—धिष्ण्यो धिषण्यः। धिषणाभवः। धिषणा वाक्। धिषेर्दधात्यर्थे। धीसादिनीति वा। धीसानिनीति वा (नि० ८।३)। इसमें धिष्ण्य को 'धिषणा (बुद्धि) से उत्पन्न' माना गया है। स्वयं धिषणा की निरुक्ति धी + √सद् (स्थिर करना) या धी√सन् (बाँटना) या√धिष् (धारण करना) से की गयी है। ऋ० ३।२२।३ की व्याख्या में सायण इसे धी + √उष्ण् (नामधातु) से व्युत्पन्न मानकर 'विचारोत्तेजक' अर्थ रखते हैं। शतपथ ब्राह्मण (७।१।१।२७) में इसे धी + √इष् (बढ़ाना, प्रेरणा, उत्तेजना) से निष्पन्न माना गया है। इन विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है कि धिषणा (= बुद्धि, प्रार्थना) के योग्य (य प्रत्यय) अर्थ में इसे लिया जाय—'प्रार्थनीय'।[1]

अश्विनों से यह कहा जाता है कि आप हमारी स्तुति अपनी 'शवीरया धिया' (अप्रतिहत बुद्धि से—सायण) स्वीकार करें। 'शवीर' की व्युत्पत्ति सायण√शु (जाना) से करते हैं जिससे इसका अर्थ 'गतिशील या अप्रतिहत गति वाली' हो जाता है। तदनुसार यह 'धिया' का विशेषण है। इसके विपरीत स्कन्दस्वामी इसे 'अश्विना' का विशेषण रखते हुए सम्बोधन मानते हैं। उन्होंने चार व्युत्पत्तियाँ दी हैं—(१) शु = क्षिप्र (निघण्टु २।१५)। ईर = गति (√ईर् = जाना)। शवीर = क्षिप्र गति। शवीर + √या (जाना)—क्षिप्रगति से जाने वाले अश्विनो!। (२) शवस् = बल (निघ० २।९)। ईर = अपसारण (√ईर्)। शवीर = दूसरों की शक्ति का अपसारण। शवीरया = दूसरों की शक्ति का अपसारण करके जानेवाले! (३) किन्तु 'या' की पृथक् कल्पना ठीक नहीं, वैसा होने पर अवग्रह तो दिया जाता। अतः शु + ईर = तेज चलने वाला। 'या' विभक्ति का आदेश है। अर्थ होगा—तेज जाने वाले या दूसरों के बल का अपसारण करने वाले। (४) शव् = जाना। ईर प्रत्यय। शवीर = जानेवाला। शवीरया = यज्ञ या शत्रुओं के प्रति जानेवाले! यह क्लिष्टकल्पना किसी भी तरह समर्थनीय नहीं है। वेंकटमाधव सायण की ही विधि रखते हुए इसे शु + √ईर (तेजजाना) से निष्पन्न बहुव्रीहि समास

---

१. म० म० सीतारामशास्त्री ने धिष्ण्य का अर्थ गृह बतलाते हुए इसे√धिष् (धारण) या√धृष् (प्रगल्भ होना) से व्युत्पन्न होने का कारण दिया है कि गृह-धारण सभी करते हैं तथा गृह में सभी प्रगल्भ (साहसी) बने रहते हैं। अश्विनों के विशेषण के रूप में इसका अर्थ गृहार्ह, गृहगत है। (इ० रि० इ०, ऋ० सं०)।

मानते हैं—(दलितों की ओर) तेजी से जानेवाली क्रिया से। पाश्चात्य विद्वान् 'महान्, दृढ, शक्ति शाली आदि' अर्थों में इसे रखते हैं। प्रभातकुमारशास्त्री (I. R. I. Calcutta, 1933) एक नयी व्युत्पत्ति का सुझाव देते हैं। शम् = सुख। वीर = देनेवाला (वि + √ईर)। शम् को निघण्टु (३।६) में सुख का पर्याय माना गया है। शवीर = सुखद। इस अर्थ में कई शब्द अश्विनों के मन्त्रों में आये हैं—शंभुवा, शंभविष्ठा, शन्ताती, मयोभुवा आदि। 'शवीरया' की तरह निम्नांकित मंत्रों में ये शब्द विशेषण हैं—शन्तमा गीः (ऋ० ५।४२।१), शन्तमा शर्माणि (३।१३।४), शन्तमा मतिः (ऋ० ८।७४।८)। अतः 'शवीरया=सुखप्रदया' अर्थ करना ठीक है।

'धिया'=बुद्धि से (सायण), चित्त से (स्कन्द), क्रिया से (वे० मा०), मन, विचार, ध्यान से (पाश्चात्य विद्वान्)। वेंकटमाधव के अतिरिक्त (जिन्होंने इसे धिष्ण्या से अन्वित माना है) सभी लोग इसका अन्वय 'वनतम्' (स्वीकार करें) के साथ मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से अर्थ हुआ—आश्चर्यकर्मों से भरे हुए (पुरुदंससा), मार्गदर्शक तथा प्रशंसा के योग्य, हे अश्विनो! सुखद मन से हमारी स्तुतियाँ स्वीकार करें।

स्वरविचार—(१) अश्विना—आमंत्रित होने के कारण षाष्ठिक (६।१।१९८) आद्युदात्त। (२) पुरुऽदंससा—अश्विना की तरह यह शब्द भी पदादि ही माना जायगा क्योंकि इसके पूर्व में आमन्त्रित-शब्द है जो अविद्यमान-जैसा हो जाता है—आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (८।१।७२)। पादादि होने से ही निघातभाव। षाष्ठिक आद्युदात्त—आमन्त्रितस्य च। [यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अश्विना सामान्यवाचक अर्थात् विशेष्य पद है जबकि 'पुरुदंससा' उसी का विशेषण है। ऐसी स्थिति में तो सामान्यवाचक पद अविद्यमानवत् नहीं होता—'नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्' (८।१।७३)। किन्तु, ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार अश्विन्-शब्द रूढि-शक्ति से अश्विनों का बोधक है, उसी तरह 'पुरुदंसस्' भी। दोनों ही सामान्यवाचक शब्द हैं। जब उक्त सूत्र का अर्थ करते हैं कि सामान्यवचन शब्द अविद्यमानवत् नहीं होता तो अपने आप अनुमान करना पड़ता है कि 'यदि पर में विशेषवाचक पद हो'। यहाँ तो विशेषवाचक पद नहीं हैं, अतः पूर्वपद नहीं है, अतः पूर्वपद (आमंत्रित) अविद्यमानवत् होगा ही।

यदि कोई पुनः पूछे कि दोनों पर्याय हैं सामान्यवाचक हैं, तो पुनरुक्ति होगी। एक ही साथ दोनों का प्रयोग कैसे हो सकता है। सायण उत्तर देते हैं कि पुनरुक्ति-दोष वहाँ होता है जहां बिना प्रयोजन के एक ही अर्थ का

शब्दान्तर से उल्लेख हो (निष्प्रयोजनपुनर्वचनस्यैव पुनरुक्तत्वात्)। किसी की स्तुति करने के समय जिस प्रकार उसके विभिन्न गुणों के साथ सम्बन्ध होने का उल्लेख किया जाता है उसी प्रकार उसके अनेक नामों के साथ (जैसे विष्णुसहस्रनाम में) भी उल्लेख करने का उपयोग है, यही यहां प्रयोजन है। प्रयोजन के साथ पुनर्वचन पुनरुक्ति नहीं।

इस विवेचन से और भी रास्ता साफ हो गया। अश्विन् और पुरुदंसस् शब्दों की वृत्ति (व्यापार, क्रिया) एक ही अर्थ में होने पर भी ये दोनों पर्याय-शब्द हैं। इसलिए प्रवृत्तिनिमित्त (व्यवहार-कारण) का भेद भी नहीं होगा—जहां एक का प्रयोग होगा वहाँ विकल्प से दूसरा भी आ सकेगा (जैसे—चन्द्रः और इन्दुः)। तदनुसार दोनों को समानाधिकरण नहीं कह सकते। फलतः अविद्यमानवत् होने का निषेधक सूत्र भी इसपर लागू नहीं होगा। अविद्यमानवत् तो अश्विना रहेगा ही।

इसी प्रसंग में सायण सामानाधिकरण्य का लक्षण दे डालते हैं—भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानामेव ह्येकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। जब भिन्न स्थानों में व्यवहार करने योग्य शब्दों (पर्यायवाचक का नहीं) का व्यापार एक ही अर्थ में हो (जैसे सुन्दरं फलम्) तो उसे सामानाधिकरण्य कहते हैं। न तो रामः और पुस्तकम् समानाधिकरण हैं (भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होते हुए भी एक अर्थ में वृत्ति न होने से), न चन्द्रः और इन्दुः हो (एकार्थ में वृत्ति होने पर भी प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न न होने से)। हाँ, 'पुरुषः सिंहः' को समानाधिकरण कहेंगे क्योंकि भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त भी है, एक ही अर्थ 'पुरुष' में वृत्ति भी है—पुरुष ही सिंह है।

पूर्वपक्षी का मुँह अभी भी खुला है। वह कहेगा—आप लोग कैसे कहते हैं कि अश्विन् और पुरुदंसस् में प्रवृत्तिनिमित्त का भेद नहीं है? 'अश्विन्' का निमित्त है अश्व से सम्बन्ध और 'पुरुदंसस्' का निमित्त है अनेक कर्मों से सम्बन्ध। अतः प्रवृत्तिनिमित्त का भेद तो है ही। सायण का उत्तर है कि जिस चीज को आप पूर्वपक्षी लोग प्रवृत्तिनिमित्त कह रहे हैं वस्तुतः वह व्युत्पत्तिनिमित्त है—दोनों में अन्तर है। यदि व्युत्पत्तिनिमित्त के भेद पर ही सामानाधिकरण्य होने लगे तो वृक्ष और महीरुह, चन्द्र और इन्दु आदि को भी समानाधिकरण मानना पड़ेगा क्योंकि सभी पर्यायवाचक शब्दों की व्युत्पत्तियाँ अलग-अलग होंगी। पर हमें तो व्यवहार (लौकिक प्रयोग) देखना है, व्युत्पत्ति नहीं। तैत्तिरीय संहिता के एक अवतरण (७।१।६।८) का निर्देश किया जाता है—'इडे रन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्नये नामानि।' इसमें सहस्रतमी की प्रशंसा में उपयोगी इडादि

शब्दों का प्रयोग है जो इसी संदर्भ से पर्याय वाचक सिद्ध हैं। तथापि अनेक नामों से सम्बन्ध दिखाना अभीष्ट है। इसलिए स्तुति में उपयोग होने के कारण साथ-साथ प्रयोग हुआ है। तदनुसार व्युत्पत्तिनिमित्त में भेद होने पर भी पर्याय होने से ये समानाधिकरण नहीं है। तब तो बिल्कुल सीधी बात है—आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्। इनमें प्रत्येक पूर्व संबोधन अविद्यमानवत् होते जाता है और सबों को आद्युदात्त करा देता है। वही बात तो प्रस्तुत शब्द के साथ भी है।]

(३) नरा—उपर्युक्त शब्द की तरह ही पूर्व के आमन्त्रित पदों को अविद्यमान जैसा मानकर आद्युदात्त। (४) शवीरया—√शॄ + ईरन्। नित् के कारण आद्युदात्त (ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६।१।१९७)। (५) धिया—'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) से विभक्ति—टा उदात्त है।

(६) धिष्ण्या—पादादि में होने से निघाताभाव। आमन्त्रित को पाष्ठिक आद्युदात्त। (७) वनतम्—√वन् + शप् + थस् (तम्)। लोट् मध्यम-पुरुष द्विव०। शप् को पित् के कारण अनुदात्त, थस् लसार्वधातुक होने से अनुदात्त है, अतः बचा धातु का स्वर। इसलिए आद्युदात्त। तिङ् निघात नहीं होगा क्योंकि पूर्व में अविद्यमानवत् आमंत्रित है। 'वनतम्' को पादादिवत् ही मानना है। (८) गिरः—सुप् अनुदात्त होता है इसलिये प्रातिपदिक स्वर।

मन्त्र—३

आश्विन तृच का यह अन्तिम मंत्र है जिसमें अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है। अश्विनों का नाम तो नहीं लिया गया है लेकिन उनके विशेषण के रूप में 'दस्रा', 'नासत्या' और 'रुद्रवर्तनी' शब्दों का प्रयोग है। उनसे आने की प्रार्थना की जा रही है क्योंकि सोमरस प्रस्तुत है। सोम के विशेषण के रूप में आये हुए 'युवाकवः' (युवाकु, बहुवचन)' तथा 'वृक्तबर्हिषः' शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं।

'दस्र' = शत्रुओं या रोगों के विनाशक (सायण), √दस् = विनाश, क्षय करना। अश्विनों की रोगनाशकशक्ति ऐतरेय ब्राह्मण (१।१८) से सिद्ध है। पुराणों में भी अश्विनीकुमारों को देववैद्य कहा गया है। स्कन्दस्वामी अश्विनों के दो नाम—एक का दस्रा, दूसरे का नासत्या—होने की बात कहते हैं। अथवा दिवादि √दस् + णिच् (अन्तर्भावित) से बना हो—शत्रुओं के नाशक। चुरादि √दस् (देखना) से भी संभव है—नम्र, कम्र की तुलना में दस्र=दर्शनीय (सुन्दर)। यह अन्तिम अर्थ वे० मा० ने भी रखा है। उव्वट तथा महीधर ने

वा० सं० (३३।५८) में इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यही अर्थ लिया है। ग्रासमैन 'दंस' शब्द के साथ इसका साम्य रखकर इसे 'अद्भुत कार्य करानेवाले' के अर्थ में रखते हैं। गेल्डनर 'स्वामी' अर्थ में और लुड्विग इसे 'आश्चर्यंकर, अर्थ में मानते हैं। सहायक (लैंगलोइस), अद्भुत कार्यों के सम्पादक या अच्छी सहायता देनेवाले (मोनियर विलियम्स)। सायण ने दूसरे स्थानों में स्कन्दस्वामी के अर्थों को मान लिया है। इन विभिन्न अर्थों में तीन भाषाविज्ञान की युक्तियों से स्वीकार्य हैं—(१) दंसस् (आश्चर्य के कार्य) से सम्बन्ध होने से 'अद्भुत कार्य करने वाले' (२) √दस्=नाश करना, समाप्त करना—इससे 'दासयति' के अर्थ में 'नाशक'। (३) √दस्=देखना (प्राकृत में, √दंस= देखना) से निष्पन्न 'दर्शनीय (सुन्दर)'। अश्विनों के विषय में सुन्दरता का अर्थ परम्परागत और सर्वोत्तम है यहाँ सभी प्रायः सहमत हैं='सुन्दर' (दस्र)।

'नासत्या'=असत्य या मिथ्याभाषण से रहित (सायण), यास्क का समर्थन भी इन्हें प्राप्त हैं (नि० ६।१३)। स्कन्द 'नासत्या' अश्विनों में एक का नाम भी मानते हैं। सायण का अर्थ भी इन्हें मान्य है क्योंकि दो निषेध से विधानार्थ ही व्यक्त होता है न असत्य=नासत्य। सभी दूसरे लोग भी सहमत हैं—'असत्य से रहित' अर्थ ठीक है।

'रुद्रवर्तनी'=शत्रुओं को रुलाने वाले वीरों के (रुद्र) मार्ग पर चलनेवाले— (सायण)। 'रुद्र' की व्युत्पत्ति √रुद्र (रुलाना) से होती है, जो रुलावे वही रुद्र है। तै० सं० (१।५।१।१) से यह स्पष्ट है—यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्। चिल्लाने के अर्थ में √तद् या √रु से स्कन्दस्वामी ने 'रुद्र' की व्युत्पत्ति की है जिससे पूरे पद का अर्थ हुआ—हल्ला-गुल्ला से भरे रास्ते पर चलनेवाले। वेंकटमाधव का अर्थ है—युद्ध में भयंकर पथ पर प्रवृत्त होनेवाले। गेल्डनर और लुडविग दोनों का अर्थ है—रुद्र के मार्ग पर चलनेवाले। ग्राहमैन कहते हैं—चमकीले मार्ग पर चलनेवाले। रुद्र की व्युत्पत्ति कल्पित √रुद्र (चमकना) से संभव है क्योंकि भारोपीय परिवार में ऐसे कई शब्द मिलते हैं—सं० रुधिर (लाल, रक्तिम)। अंग्रेजी—red, radiant, redolent आदि। फ्रेंच—radiex. जर्मन—rot, जो सभी किसी नष्ट धातु से उत्पन्न हैं। उव्वट और महीधर का ही अर्थ गेल्डनर ने लिया है। उन्होंने कहा था—रुद्र के मार्ग के सदृश मार्ग पर चलने वाले। परंपरा के अनुसार भी अश्विन्-युगल रुद्र के क्षेत्र में ही चलते हैं अतः दूसरे अर्थों की तरह क्लिष्ट कल्पना न होने से यही अर्थ मान्य है।

'युवाकवः' शब्द सुताः (सोमाः) के विशेषण में आया है। सायण इसे

√यु (मिश्रण) से निष्पन्न मानते हुए इसका अर्थ करते हैं—'वसतीवरी तथा घना नामक जल से मिश्रित'। अर्थात् यह सोमरस जल में फेंटकर तैयार कर दिया गया है। स्कन्दस्वामी एक दूसरी व्युत्पत्ति का परामर्श करते हैं—युवां (आप दोनों की) कामयन्ते (कामना करते हैं वे)। युव+कु (√कम्)। वे० मा० भी इस अर्थ के अनुसारी हैं। यूरोपीय विद्वान् स्कन्दस्वामी के पक्ष में कहते हैं कि मध्यम पुरुष सर्वनाम का प्रातिपदिक मूलतः 'युव' था जो युवा, युवत् आदि के रूपों में मिलता है। इसी से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। सायण स्वयं भी ऋग्वेद में अन्यत्र (१।१२०।३, ९; ३।५८।९; ३।६०।३) आये हुए इस शब्द की व्याख्या में 'युवां कामयते' का ही अर्थ अपनाते हैं। जब भी सायण, स्कन्द या महीधर ने इसके दो अर्थ दिये हैं, यही अर्थ पहले रखा है। इससे उक्त अर्थ की ओर उनका झुकाव व्यक्त होता है। इस अर्थ में कठिनाई व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति की है। भाषा-विज्ञान तो 'युव' मानकर काम चला देता है। सायण ने (१।१२०।३) व्याकरण-प्रक्रिया भी सुझायी है—'युवावौ द्विवचने' से युव-आदेश तथा आकार। युवां कामयते इति युवाकुः। मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम् (पा० सू० ३।२।१८० वा०) इति डुप्रत्ययः। अस्तु, युव शब्द के अनेक वैदिक प्रयोग मिलते हैं—युवादत्त, युवानीत, युवनीत, युवायुज्, युवावत्, युवद्दक्, युवधित, युवयु, युवदेवत्य। इन सबों में युव-शब्द 'तुम दोनों' के अर्थ में ही आया है।

दूसरा खंड 'कु' है जिसे √कम् (कामयते) से मानने का प्रयास किया गया है। किन्तु वास्तव में यह √का से बना है जिसका अर्थ 'खोजना, चाहना, प्रेम करना' है। इसे इन शब्दों में हम देख सकते हैं—आचके (ऋ० १।११७।२३ आदि में), चकानः (३।५।२, २।३१।७), चाकन् (ऋ० १।३३।४), कायमानः (ऋ० ३।९।२)। उक्त धातु धातुपाठ में संकलित नहीं किया गया है। इसीलिए √कम् धातु से लोगों को व्युत्पत्ति करनी पड़ी है। फलतः 'युवाकवः' का अर्थ है—आप दोनों को खोजनेवाले (सोमरस प्रस्तुत हैं)।

इसी प्रकार 'वृक्तबर्हिषः' भी 'सुनाः' भी 'सुनाः' का विशेषण है। सायण ने दो अर्थों में इसे लिया है। (१) वृक्त=मूलरहित (√वृज्+क्त)। बर्हिस्=कुश। 'मूलरहित कुश जिनका आस्तरण (आसन) है वे सोमरस'। (२) अथवा यह शब्द ऋत्विज् का पर्याय है जो तृतीयार्थ में है—ऋत्विजा (वृक्तबर्हिषा) सुताः। 'ऋत्विजों के द्वारा प्रस्तुत'। स्कन्दस्वामी इस शब्द को सोम का विशेषण मानकर भी अर्थ करते हैं कि आपके (अश्विनों के) बैठने के लिए कुश बिछाया हुआ है। वे० मा०—बैठने के लिए कुछ काट लेने पर। विल्सन ने सायण के पहले अर्थ का अनुसरण करके लिखा है—'कटे

हुए कुशों पर स्थापित'। गेल्डनर—जिसके चारों ओर कुश बिछाये गये हैं जिसपर टिप्पणी है—अग्नि के चारों ओर कुश बिछाये जाते हैं। ग्रासमैन ने अर्थ किया है—कुश को बिछानेवाले (ऋत्विज का सोम तैयार है)। अतः इन्होंने षष्ठी-रूप रखा है। मोनियर विलियम्स ने यही अर्थ रखा है। वृक्तबर्हिषः = जिसने बर्हिस् फैलाया है उसका। √वृज् का त्याग करना, अर्थ होते हुए भी, बिछाना, आच्छादित करना भी अर्थ संभव है। सबसे अच्छा अर्थ यही लगता है कि इसे षष्ठ्यन्त मानकर (ग्रासमैन की तरह) यज्ञकर्ता का विशेषण मान लें। वृक्तं बर्हिर्येन तस्य यजमानस्य। इससे सभी अर्थों को समन्वित किया जा सकता है।

अर्थ—दर्शनीय, असत्य से रहित तथा रुद्र के मार्ग पर चलनेवाले (हे अश्विनो)! आपके यजमान का, जिसने कुश बिछा रखा है, सोम आपकी कामना (प्रतीक्षा) कर रहा है; आप दोनों चले आवें।

स्वरविचार—(१) दस्रा—संबोधन होने के कारण षाष्ठिक आद्युदात्त। (२) युवाकवः—√यु + काकु—प्रत्ययस्वर। (३) सुताः—√सु + क्त—प्रत्ययस्वर। (४) नासत्या—पादादि में होने से निघात नहीं हुआ। आमंत्रित आद्युदात्त। (५) वृक्तऽबर्हिषः—वृक्तं बर्हिरास्तीर्णं येषां (यैः)—बहुव्रीहि। पूर्वपदप्रकृतिस्वर (६।२।१) होने से क्त-प्रत्यय का स्वर शिष्ट रहा (६) आ—उपसर्ग उदात्त (फि० ८१)। (७) यातम्—'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात। (८) रुद्रवर्तनी इति रुद्रऽवर्तनी—आमन्त्रित-निघात। प्रगृह्य होने से इतिकरण। समास होने से द्विरुक्ति। द्वितीय पद में अवग्रह।

मन्त्र—४

इस मंत्र से आरम्भ करके छठे मंत्र तक की ऋचायें इन्द्र-देवता से संबद्ध हैं। इन्द्र वैदिक काल के सबसे प्रमुख देवता हैं क्योंकि ऋग्वेद के चतुर्थांश में ये संबोधित हैं। प्रधानतया मेघों के देवता बनकर ये अवर्षण या अन्धकार का विनाश करते हैं जिससे वृष्टिमोचन या प्रकाश होता है। इसके अतिरिक्त ये युद्ध के देवता के रूप में अनार्यों पर विजय प्राप्त करने में भी आर्यों की सहायता करते हुए दिखलायी पड़ते हैं। इनकी प्राकृतिक विशेषताओं का निर्देश करते हुए इन्हें वज्रबाहु, सोमपा, वृत्रहा (वृत्रनामक असुर या अवर्षण का नाश करनेवाला), शचीपति (बल के स्वामी), शक्र या शचीवान् (बलिष्ठ), शतक्रतु (सैकड़ों शक्तियों से युक्त) आदि कहा गया है। इस प्रकार इन्द्र वैदिक आर्यों की पुंजीभूत शक्तिधारणा के प्रतीक हैं।

निरुक्त (७।१०) में इन्द्र की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है—'अथास्य कर्म। रसानुप्रदानं, वृत्रवधः। या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्म एव तत्'। बलप्रदर्शन के सारे कार्य इन्द्र से ही सम्बद्ध हैं। इन्द्र के वीरकार्यों का वर्णन करनेवाला एक सूक्त (ऋ० २।१२) मैकडोनल ने अपने वैदिक-रीडर में दिया है—यह वीररस से परिपूर्ण सूक्त है। वेद की ओजस्विनी कविता के उदाहरण के लिए, भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से यह सूक्त मननीय है।

इन्द्र के साथ अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, विष्णु, वायु आदि देवताओं की भी स्तुति हुई है। निरुक्त के अनुसार ये संस्तविक देवता हैं। इन्द्र के कर्मों में वृत्र का वध महत्त्वपूर्ण है। वृत्र की कल्पना सर्प (अहि) के रूप में की गयी है। आकाश में छाये हुए मेघों को देखकर काले सर्प की कल्पना हुई है—इसे वृष्टिरोधक असुर कहा गया है। सहसा बिजली चमकती है, मेघ गरजते हैं और पानी बरसने लगता है, तब कल्पना की जाती है कि इन्द्र ने वृत्र का संहार किया (तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः—नि० २।१६) और जलधारा चल पड़ी।

अपां बिलमपिहितं यदासीद्
वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार। (ऋ० १।३२।११)

का यही रहस्य है। आवेस्ता में विजय के देवता का एक विशेषण 'वेरेथ्रघ्न' (Verethraghna) मिलता है।

इन्द्रशब्द की व्युत्पत्ति में यास्क ने (नि० १०।८) कई धातुओं की कल्पना की है। उन निरुक्तियों का उद्धरण सायण ने भी प्रस्तुत मंत्र के भाष्य में दिया है।

(१) इन्द्रः इरां दृणाति—अन्नबीजों के अंकुरों को विदीर्ण या भिन्न करते हैं (दुर्गाचार्य)। सायण ने अर्थ किया है कि इरा=अन्न के निष्पादक मेघों को जो विदीर्ण करते हैं। (इरा + √दृ=चीरना, फाड़ना)। (२) इरां ददाति—वर्षा के द्वारा जो अन्न देते हैं। इरादः से इन्द्रः बना। (इरा + √दा)। (३) इरां दधाति—जल देकर जो तृप्तिकर सस्यों या अन्नों का पोषण या दान करते हैं (इरा + √धा=पोषण, दान—इराधः > इन्द्रः)। (४) इरां दारयति—इरा (अन्न) उत्पन्न करने के लिए कृषक के माध्यम से भूमि को फाड़ते हैं, फाड़ने को प्रेरित करते हैं (सायण)। (इरा + √दृ + णिच्—इरादारयिता > इन्द्रः)। (५) इरां धारयति—पूर्वोक्त पोषण के द्वारा ये सस्यों को विनाश से बचाते हुए स्थित करवाते हैं। (इरा + √धृ + णिच्)। (६) इन्दवे द्रवति—इन्दु या सोमपान के लिए

दौड़ पड़ते हैं (इन्दु + √द्रु=दौड़ना—इन्दुद्रवः > इन्द्रः)। (७) इन्दौ रमते—सोम में रम जाते हैं, क्रीड़ा करते हैं (इन्दु + √रम्—इन्दुरमः > इन्द्रः)। (८) इन्धे भूतानि—जीवधारियों के शरीर में चैतन्य के रूप में प्रविष्ट होकर दीप्त करते हैं। इस आध्यात्मिक निरुक्ति का समर्थन कई उपनिषद् वाक्यों से भी होता है। परमात्म-रूप इन्द्रदेव का उपासकों ने प्राण अर्थात् इन्द्रियों और प्राणादि वायु से ध्यान किया था—तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् , तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्। (√इन्ध्=जलना)।

(९) इदंकरणात्, इत्याग्रायणः—आग्रायण के मत से इदम् (इस जगत्) का निर्माण करने से उन्हें इन्द्र कहते हैं (इदम् > इन्द्रः)। (१०) इदंदर्शनात्, इत्यौपमन्यवः—औपमन्यव नामक आचार्य के मत से इस जगत् का या परमात्मा का प्रत्यक्ष-दर्शन करने के कारण वे इन्द्र हैं। (इदन्दर्शी—इन्द्रः। आग्रायण—इदंकरः > इन्द्रः)। (११) इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः—अपनी माया से जगद्रूप बने हुए हैं, यही इन्द्र का पारमैश्वर्य है। (√इद्)। तुलनीय—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋ० ६।४७।१८)। (१२) इन्‌छत्रूणां दारयिता—इन (अकारलोप से इन्) अर्थात् परमेश्वर भी हैं तथा शत्रुओं को विदीर्ण करनेवाले भी (इन + √दॄ)। (१३) द्रावयिता वा—परमेश्वर तथा शत्रुओं को पलायन के लिए विवश करनेवाला (इन √द्रु = गति)। (१४) आदरयिता च यज्वनाम्—यज्ञ का अनुष्ठान करनेवालों का इन्द्र आदर करते हैं (दुर्गाचार्य), या उनके भय को दूर करते हैं (सायण)।

इस प्रकार यास्क इन्द्र के १४ निर्वचन देते हैं। पाणिनीय व्याकरण में उणादि के 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र०' (उ० २।१८६) सूत्र से रन्प्रत्ययान्त 'इन्द्र' शब्द का निपातन होता है। इससे अर्थ है—परम ऐश्वर्य से युक्त। मैकडोनल ने 'इन्दु' से इसकी व्युत्पत्ति मानी है।

प्रस्तुत मंत्र में 'विभिन्नवर्णों की दीप्ति वाले इन्द्र को आने के लिए कहा जा रहा है क्योंकि ऋत्विजों की अंगुलियों से (अण्वीभिः) धुलाये गये ये पवित्र सोमरस उनकी प्रतीक्षा में है। इन्द्र के विशेषण में प्रयुक्त 'चित्रभानु' (चित्र = रंग-विरंग, भानु-दीप्ति, प्रकाश) का अर्थ प्रायः सभी लोगों ने एक ही रूप में रखा है—'चित्र द्युतिशाली'। 'सुताः' या तो सोमरस के अर्थ में संज्ञा शब्द है या 'सोम' (अध्याहृत) का विशेषण है।

'त्वायवः'—त्वां कामयमानाः। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से 'त्व' (युष्मदादेश) को आधार मानकर उसमें क्यच् किया गया है त्वां कामयते इति त्वायति। उसके बाद उसमें उ प्रत्यय (कर्ता के अर्थ में) किया गया—त्वायुः। बहुवचन

'त्वायवः'। सायण ने युष्मदादेश होने पर 'त्वद्यवः' में त् के स्थान पर व्यत्यय से आ माना है। 'आपकी कामना करनेवाले' यही अर्थ है।

'अण्वी' को निघण्टु में अंगुलि का पर्याय माना गया है। सूक्ष्मतावाचक 'अणु' शब्द से निष्पन्न 'अण्वी' को पाश्चात्य विद्वानों ने अंगुलि का लाक्षणिक शब्द माना है। अर्थ करने में वे—'कोमल (अंगुलियों) से' ऐसा लिखते हैं। अंगुलि अर्थ सबों को मान्य है। सबों ने इसे 'सुताः' के साथ अन्वित किया है—अंगुलियों से चुलाये गये, निचोड़े गये। किन्तु 'पूतासः' (पवित्र किये गये) के साथ लेकर 'सुताः' को सोमार्थक करना कहीं अच्छा है। अण्वीभिः पूतासः सुताः = अंगुलियों से पवित्र किये गये सोमरस।

'तना' का अर्थ सायण ने 'सदा' लेकर इसे 'पूतासः' का विशेषण बना दिया है। स्कन्द इसे 'दशापवित्र' (छानने का कपड़ा) का पर्याय मानते हैं तथा 'पूतासः' के साधक के रूप में रखते हैं—अंगुलियों तथा दशापवित्र से पूत किये गये सोमरस को। सायण ने स्वयं इसके अनेक अर्थ दूसरे स्थानों में किये हैं जैसे—नित्य, विस्तृत, धन, पुत्र, वस्त्र (दे० ऋ० १।३।४, १।२६।६, १।७७।४, ३।२५।१, ८।९४।५)। स्कन्दस्वामी का अर्थ वेंकटमाधव, उव्वट और महीधर को भी मान्य है। यही नहीं, वैदिक उद्धरणों से भी यह पुष्ट है। इसलिए वही हम स्वीकार करें।

अर्थ—रंग-विरंगी दीप्ति से युक्त इन्द्रदेव ! आप आवें। अंगुलियों तथा छानने के वस्त्र से पवित्रित यह सोमरस आपकी कामना (प्रतीक्षा) में है।

स्वरविचार—(१) इन्द्र—'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) से आद्युदात्त। (२) आ—उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) से उदात्त। (३) याहि—'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात = सभी स्वरों का अनुदात्त हो जाना। (४) चित्रभानो इति-चित्रऽभानो—'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) से निघात। ओकारान्त होनेसे प्रगृह्य—इतिकरण। समस्त होने से द्विर्वचन और दूसरे पद में अवग्रह।

(५) सुताः—सु + √क्त—प्रत्ययस्वर। 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्व-मन्यत्र विकरणेभ्यः' (वा०)। (६) इमे—इदम् (इम) + शी (अनुदात्त)। सर्वनाम का प्रातिपदिकस्वर (अन्तोदात्त)। उदात्त + अनुदात्त = उदात्त। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५)। (७) त्वायवः—युष्मद् (त्वद्) + क्यच् + उ = त्वायु—प्रत्ययस्वर। (८) अण्वीभिः—अणु + ङीप् (व्यत्यय से ङीन्)। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त। (९) तना—निपात होने से आद्युदात्त (फि० ८०)। (१०) पूतासः—√पूञ् + क्त = प्रत्ययस्वर।

मन्त्र—५

यह मन्त्र अथर्व० (२०।८४।२), साम० (२।४९७), वा० सं० (२०।८८) तथा ऐतरेयारण्यक (१।१।४।९) में भी आया है। इसका उपयोग सौत्रामणि याग में इन्द्र के आवाहनार्थ होता है। यह सौत्रामणियाग सात हविर्यज्ञों में एक है। वे हैं—(१) अग्न्याधेय—यज्ञशाला में अग्नि की स्थापना, (२) अग्निहोत्र—तेल, दूध, करम्भ आदि से अग्नि को हवि देना, (३) दर्शपूर्ण-मास—अमावास्या तथा पूर्णिमा में हवन करना, (४) चातुर्मास्य-तीनों ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) के आरम्भ में हवन करना, (५) पशुबन्ध—पशु से यज्ञ करना, (६) सौत्रामणि—इन्द्र को घी आदि का हव्य देना, (७) पाकयज्ञ—पक्वान्न का हव्य देना।

इन्द्र से आने की प्रार्थना की जा रही है कि वे भक्ति से आकृष्ट (धियेषितः) होकर तथा मेधावियों के द्वारा आहूत (विप्रजूतः) होकर चले आवें। उन्हें सोमयुक्त (सुतावतः) ऋत्विज की (वाघतः) प्रार्थनाओं के पास (ब्रह्माणि उप) आने को कहा जा रहा है। यहां प्रयुक्त शब्दों में कुछ अप्रचलित हैं जो भिन्न मतों से भिन्नार्थक हैं।

'धियेषितः' धिया + इषितः से बना है। 'धिया' (धी की तृतीया, धी + √ध्यै + क्विप्; अवेस्ता में दी = दृष्टि, अन्तर्दृष्टि, विचार) निघण्टु में कर्म का पर्याय है (२।१)। इस स्थान पर 'धी' का प्रज्ञा-अर्थ सायण, स्कन्द, तथा वें० मा० ने लिया है। गेल्डनर ने 'इच्छा' और लुडविग ने 'विचार' अर्थ लिया है। ग्रिफिथ, लैंगलोइस तथा रोजन ने स्तुति के अर्थ में और बेनफी ने (सामवेद में) भक्ति के अर्थ में रखा है। ऋग्वेद में ही इसे विभिन्न अनुवादकों और भाष्यकारों ने जहाँ-तहाँ इसके अर्थ प्रार्थना, स्तुति, मन, विचार, बुद्धि, इच्छा, उद्देश्य, भक्ति, सूक्त, कार्य, यज्ञकर्म, हवन, शक्ति, अंगुलियाँ या हाथ (कर्म साधन के रूप में), मनुष्य, गायक, यजमान आदि किये हैं। किन्तु यहां सबसे अच्छा अर्थ स्तुति या भक्ति के रूप में ही अच्छा लगता है।

इषित √इष् + क्त बना है जिससे इसका अर्थ 'भेजा गया, प्रेरित' होता है। [तुल० संस्कृत—इषिरः=तेज, इष्यति=चलाता है, भेजता है। ग्रीक–ieros भारोपीय रूप ihero या iharo लगता है]। निरु० (८।८) में उत्तेजित के अर्थ में दिया गया है। यहां इसका अर्थ आमंत्रित (सायण), प्रेषित (सायण, वेदार्थयत्न, वेंकटमाधव), प्रार्थित (लैंगलोइस), उत्तेजित (गेल्ड० + ग्रास०), द्रवित (रोजन), अन्तः प्रेरित (ग्रिफिथ) आदि किया गया है। सबसे अच्छा अर्थ स्तुति से 'द्रवित' करना होगा जो एक उपासक से अपेक्षित है।

'विप्रजूतः' में विप्र का अर्थ मेधावी होता है। (√वप + रन् = बुद्धि का बीज बोने वाला, √विप् (प्रेरणा) + रन् , वि + √प्रा (पूरा करना, भरना)। गेल्डनर ने ग्रीक logais (ज्ञानी) से इसकी तुलना की है। यहाँ पर इसके ये अर्थ हुए हैं—बुद्धिमान्, मेधावी (स्कन्द, सायण), विद्वान् (वेदार्थयत्न) ऋषि (लैंगलोइसे), प्रौढ़ वक्ता (गेल्डनर), गायक (ग्रिफिथ)। ये अर्थ ऋग्वेद के अन्यान्य मंत्रों में आये हुए प्रस्तुत शब्द के किये गये हैं। मेधावी अर्थ में कोई आपत्ति नहीं है।

'जूतः' (√जु जाना, तेज चलना + क्त । तुल० अवेस्ता—) का अर्थ 'प्रेषित' (सायण, वेदार्थ०,प्रास०, रोजन, बेनफी), आहूत (लैंगलोइस), प्रार्थित (ग्रिफिथ) आदि हुए हैं। विप्रजूतः = मेधावियों की प्रार्थना से संचलित होकर।

'सुतावतः' सुतऽवतः से छान्दस दीर्घ होकर बना है। 'सुत' = 'चुलाया गया', सोम का विशेषण होकर भी सोम के पर्याय के रूप में आता है। सुत + मतुप् = सुतवान् = प्रस्तुत किये सोमरस से संपन्न व्यक्ति।

'उप' निकट के अर्थ में आनेवाला उपसर्ग-चिन्ह (preposition) है जो इन शब्दों से तुलनीय है—लातिन–sub, गॉथिक–uf, ग्रीक–upo, अवेस्ता–upa. 'ब्रह्माणि' का मूल 'ब्रह्मन्' है। यह निघण्टु (२।७). में अन्न तथा धन (२।१०) के पर्याय के रूप में आया है। यहाँ पर इसके अर्थ हैं—प्रार्थना (सायण, प्रास०, वे० मा०, वेदार्थ०), धार्मिक वचन (लैंगलोइस), उपदेश के शब्द (गेल्डनर)। सामान्यतया सबों को मान्य होने से स्तुति या आवाहन अर्थ लेना ठीक है।

'वाघतः' वाघत् का षष्ठी रूप है। [वाघत्—√वह् = ढोना। वाघ = वाहन। केल्तिक-vozu (Vehicle) वाहन। ग्रीक-Ozos वाहन। लातिन-Vagire प्रार्थना। ग्रीक-enchomai = प्रार्थना।] निघण्टु में (३।१५) यह ऋत्विज का पर्याय है। इसी अर्थ में 'वाघत्' शब्द को सायणादि संस्कृत भाष्यकारों ने, और लैंगलोइस, गेल्डनर, रोजन, लुड्विग तथा विल्सन ने भी लिया है। अतः यह अर्थ ग्राह्य है। वाघतः = ऋत्विज् का।

अर्थ—हे इन्द्र ! हमारे भक्तिकार्यों से द्रवित होकर तथा विप्रों मेधावियों की प्रार्थनाओं से आकृष्ट होकर यज्ञ संचालक ऋत्विज के यज्ञ में की गयी स्तुतियों के निकट आवें। वह ऋत्विज आपके लिए सोमसवन कर चुका है।

स्वरविचार—(१) इन्द्र—पादादि में आमन्त्रित होने से आद्युदात्त (६।१।१९८)। (२) आ—निपात होने से आद्युदात्त (= उदात्त)—फि० ८२। (३) याहि—निघात। तिङ्ङतिङः (८।१।२८)। (४) धिया—

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (६।१।१६८) से टा-विभक्ति उदात्त है। (५) इषितः—√इष् + इट् + क्त—प्रत्ययस्वर। (६) विप्रेऽजूतः—'ऋज्रेन्द्र०' (उ०२।१८६) से रन् प्रत्यय का √वप् में निपातन। नित् के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त। जूतः में 'कर्मणि क्तः' है, इसलिए 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर (७) सुत ऽवतः—√सु + क्त + मतुप् + ङस्। पिछले दोनों प्रत्यय अनुदात्त हैं (पित्, सुप्—अनुदात्तौ सुप्पितौ ३।१।४) इसलिए प्रत्ययस्वर, क्त का अ ही उदात्त हुआ। छान्दस दीर्घ होने पर भी वह स्वर बचा रहा। (८) उप—'निपाता आद्युदात्ताः' (फि० ८२) से आद्युदात्त। (९) ब्रह्माणि—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात। (१०) वाघतः—वाघत् = ऋत्विक्, प्रातिपदिकस्वर–फिषोऽन्त उदात्तः (फि० १)। घ का अ उदात्त।

मन्त्र—६

यह साम० (२।४९८), वा० सं० (२।८९), ऐतरेयारण्यक (१।१।४।९) तथा ऋग्वेद में भी १०।१०४।६ के रूप में आया है। यहाँ इन्द्र को अपने अरुण वर्ण के (हरि) घोडे पर चढ़कर शीघ्रता से (तूतुजानः) आने के लिए तथा हमारी स्तुतियों के निकट आकर सोमसवन के समय (सुते) हमारे भोजन को (चनः) स्वीकार करने के लिए भी कहा जा रहा है।

इन्द्र के विशेषण के रूप में 'तूतुजानः' शब्द आया है। यह √तुज = (शीघ्रता करना) से निष्पन्न है जिसमें कानच् प्रत्यय लगाया गया है। निघण्टु (२।१५) के अनुसार यह क्षिप्र का पर्याय है। धातुपाठ में तुज् के कई अर्थ हैं—हिंसा, सहायता, प्रभाव, बल, निवास और कान्ति। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने तूतुजान और तूतुजि का अर्थ एक ही तरह से 'क्षिप्रगामी' लिया है। इन्द्र के घोड़े का साहचर्य देखने से यह अर्थ उपयुक्त भी लगता है।

'ब्रह्माणि' की व्याख्या ऊपर के मंत्र में हो चुकी है। यहाँ भी यह स्तुति के ही अर्थ में है। गेल्डनर ने इस पर टिप्पणी भी दी है—रहस्यशक्ति, मंत्र, धार्मिक आवाहन, परम प्रज्ञा, पवित्र वाक्य और लेख। ग्रासमैन भी अपने कोश में देते हैं—मन की उदात्तता, पवित्र प्रेरणा, स्तुति, पवित्र हृदयोद्वेलन, प्रेरणशक्ति। राजा से पुरोहित इन्हीं गुणों से पृथक् है जिससे वह ब्राह्मण है।

'हरिवः' हरि + मतुप् से बना है। इसका व्याकरण सायण ने दिया है। निघण्टु में (१।१८) 'हरि' इन्द्र के घोड़ों को कहा गया है। [तुल० अवे०—Zaini. लातिन–aurum] ग्रासमान ने पूरे शब्द का अर्थ किया है—'स्वर्णिम वर्ण के घोड़ोंवाले'। गेल्डनर ने 'अश्वपति' सायणने 'अश्वयुक्त' तथा लैंगलोइ

ने 'दो नीलाश्वों पर सवार' अर्थ किया है। घोड़ों पर सवार अर्थ सर्वमान्य होने से ग्राह्य है। इन्द्र के हरि की मूल कल्पना सूर्य किरणों की है क्योंकि इन्हें सूर्यकिरणों का प्रदाता माना गया है।

'सुते' का अर्थ सायण के अनुसार 'सोमाभिषव से युक्त कर्म में' है। अन्य लोगों ने 'सवन में' अर्थ किये हैं। ये भी ठीक हैं।

'दधिष्व' धारण कीजिये, लीजिये। √धा + थास् (लोट्)। धा बहुत प्राचीन धातु है क्योंकि अन्य सह०-भाषाओं में भी यह दिखलायी पड़ता है। [अवे०—दा, ग्रीक—thegeu, thaseg. लिथु०—dedu. स्लावो० dezda, ded-ja, प्रा० सैक्सन— du-an, ऐ० सै०—do-n, प्रा० उच्च जर्मन—tu-an, अंग्रेजी—do.]

'तनः' की प्राचीनता लातिन के nos (हमलोग) तथा फ्रेंच के notre, nos (हमारा) शब्दों से सिद्ध होती है।

'चनः' का अर्थ सायण ने अन्न लेकर इसे √चायृ (अर्पण करना, देखना) से निष्पन्न माना है। यह 'सोमरूप में भोजन' का सूचक है। गेल्डनर ने 'सोम', ग्रिफिथ ने 'सवन' (libation) तथा लुडविग ने 'रस' अर्थ माना है। कुछ भी हो, यह इन्द्र के भोजन का द्योतक शब्द है। गेल्डनर ने टिप्पणी दी है कि इसका प्रयोग निरन्तर √धा के साथ ही हुआ है जिससे अर्थ हो सकता है—आनन्द लीजिये, कृपा रखें आदि। इस विवेचन से सायण के अर्थ को समर्थन मिलता है।

स्वरविचार—(१) इन्द्र (२) आ (३) याहि—पूर्ववत्। (४) तूतुजानः—तुज् + कानच् (लिट्)। अभ्यास होने से 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१।१८९) के द्वारा आद्युदात्त। (५) उप (६) ब्रह्माणि—पूर्वमंत्र की तरह। (७) हरिऽवः—आमंत्रित होने से आष्टमिक निघात। (८) सुते—√सु + क्त—प्रत्ययस्वर। (९) दधिष्व—तिङ्निघात। (१०) नः—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) से अनुदात्त। (११) चनः—√चायृ + असुन्। नित् के कारण आद्युदात्त।

पञ्चम वर्ग समाप्त।

मंत्र—७

विश्वदेवों के विषय में यहाँ से तृच आरंभ होता है। विश्वदेव देवताओं के समूह का नाम है जो रक्षा, दान आदि कर्मों में तत्पर रहते हैं। ऋग्वेद में ६३ पूरे सूक्तों में इन्हें संबोधित किया गया है। अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १। १६४) के प्रथम ४१ मंत्रों के भी ये ही देवता हैं। सर्वत्र ये बहुवचन में ही

आये हैं परन्तु अथर्ववेद में (२०।६२।६) एकवचनान्त विश्वदेव का भी उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विश्वदेवों के स्वरूप का वर्णन मिलता है। शतपथब्राह्मण (३।९।२।६, १२) के अनुसार सूर्य की किरणों को, प्राणों को (१४।२।२।३७), यज्ञ के कर्मों को (८।१।१।४२) इन्द्र और अग्नि (२।४।४।१३) आदि को विश्वदेव कहते हैं। इसी तरह जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (२।२।४) के अनुसार दिशायें ही विश्वदेव हैं। पुराणों की भी यही कल्पना है।

यास्क ने (नि० १२।३९) सभी देवताओं के समूह को विश्वदेव कहा है। उसी स्थान पर इन तीनों मंत्रों (ऋ० १।३।७–९) की व्याख्या भी उन्होंने की है। शाकपूणि का मत है कि जिस मंत्र में समुदाय रूप से (विश्व, सर्व के द्वारा) देवता संबोधित हों उसे विश्वदेवों का मंत्र मानना चाहिए। लेकिन यास्क ने दिखाया है कि ऋ० ३।३८, ८।२९ तथा १०।१०६ में यह सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। शौनक ने बृहद्देवता (२।१२८–१३४) में यास्क और शाण्डिल्य के विचारों का समर्थन करते हुए 'विश्व' का सर्वव्यापक अर्थ बतलाया है।

लैंगलोइ, दयानन्द तथा कायगी (Kaegi) के विचार से सभी देवताओं के समूह को 'विश्वेदेवाः' कहते हैं, यह व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है। कई देवताओं को इस सामान्य नाम के अन्तर्गत रखने का प्रयास था। हौपकिन्स का कहना है कि यज्ञकर्म में कोई देवता छूट न जायँ इसलिए सभी को सामान्य रूप से विश्वदेव के अन्तर्गत रखा गया था। व्यक्तिवाचक नाम गिनाने की अपेक्षा एक जाति के अन्तर्गत सबों को रख लेना सरलतर मार्ग था। विल्सन, ग्रिफिथ तथा मैकडोनल का विचार है कि कहीं-कहीं ये सभी देवताओं को सामान्य रूप से निर्दिष्ट करते हैं किन्तु कहीं-कहीं एक पृथक् जाति के रूप में भी ये आये हैं। मैकडोनल भी हॉपकिन्स से सहमत हैं कि सर्वव्यापक यज्ञ में 'किसी देवता को न छोड़ने का' ही विश्वदेव की कल्पना का कारण है।

इस विवरण से विश्वदेव की कल्पना की तीन स्पष्ट अवस्थायें प्रतीत होती हैं—सबसे पहले ये सामान्य रूप से देवसमूह के पर्याय थे, पुनः इनका वर्ग बना और अन्त में इन्हें दिशाओं का अधिकारी माना गया जो कल्पना पुराणकाल तक चली।

अस्तु, यह मंत्र वाजसनेयि-संहिता (७।३३) तथा तै० सं० (१।१४।१६।१) में भी आया है। अभिजित्-याग (सोमयाग का एक भेद) में इसका पाठ होता है। चातुर्मास्य याग में भी सोमपान के दिन प्रातःसवन के समय

द्रोणकलश से, विश्वदेवों को देने के लिए, सोमरस निकालते समय अध्वर्यु इस मंत्र का पाठ करता है।

यहाँ विश्वदेवों को यजमान के सोमसवन के निकट बुलाया जा रहा है। इनके तीन विशेषण यहाँ दिये गये हैं—ओमासः (रक्षक), चर्षणीधृतः (मनुष्यों को धारण करने वाले) तथा दाश्वांसः (फल देनेवाले)।

'ओमासः' ओम-शब्द से बहुवचन संबोधन (प्रथमा) का रूप है। ओम = √अव (रक्षा) + मन्। संप्रसारण होकर ऊ + उ + म = ऊ + म। गुण होकर—ओम का प्रत्यय लगने पर असुक् आगम (आज्जसेरसुक् ७।१।५०)—ओमासः। ओम का भारोपीय (मूल) शब्दान्तर auei (बढ़ाना) है जो अवेस्ता में aoman है। यहाँ सभी व्याख्याकारों ने रक्षक या सहायक का अर्थ लिया है।

'चर्षणीधृतः' उपपद समास है। चर्षणि का ईकार हो गया है (ऋ० प्रा० ८।१) चर्षणि (√कृष् = जोतना, खेती करना + अनि) को निघण्टु में (२।३) मनुष्य का पर्याय माना गया है तथा सभी टीकाकारों ने इसे यहाँ उक्त अर्थ में लिया है। ग्रासमैन इसे √चर से निष्पन्न मानकर 'प्राणी' के सामान्य अर्थ में लेते हुए विशेषार्थ 'मनुष्य' मानते हैं। मोनियर विलियम्स ने इसे 'कृषक, खेती करनेवाले' अर्थ में लेकर घुमक्कड़ जातियों से इसका भेद किया है। √धृ का अर्थ है धारण करना, रक्षा करना। इसलिए पूरे शब्द का अर्थ हुआ—मनुष्यों की रक्षा या पोषण करने वाले।

'विश्वे' शब्द √विश्=व्याप्त करना + क्वनिप् से बना। अवेस्ता-विश्प, लिथु०—Visa-s, चर्चस्लावोनिक-वीसी, रूसी–ves, प्रा० फारसी–विश, प्रा० भारो०–vika (विक्य)। देव शब्द भी अन्य भाषाओं में प्राप्त है—प्रा० भारो०–deievo, deivos, लातिन—diva, divinus, प्रा० ईरानी–dia, प्रा० उच्च जर्मन–Zio, लिथु०–devas, deive, अवेस्ता–daeva, प्रा० प्रसियन–deiva-s, ग्रीक–zeos, deos, theos, (ग्रुगमैन)।

'आ गत' में √गम् धातु है। √गम् विभिन्न भाषाओं में ब्रुगमैन के अनुसार इस प्रकार है—भारो० guem, प्रा० उ० जर्मन–Coman, प्रा० फारसी–a-gan, गॉथिक—qiman, अंग्रेजी–Come, ग्रीक–baiūō.

दाश्वांसः और दाशुषः का मूल एक ही है। दोनो दाश् धातु से (भारो० dakvas, ग्रीक deuchhs) बने हैं। विश्वदेवों के विशेषण के रूप में 'दाश्वांसः' का अर्थ लोगों ने कृपालु, दानी, वदान्य, शुभेच्छु, सहायक आदि किया है। इसके अन्य अर्थ उपासक, यजमान ऋत्विज हविर्दाता आदि भी हैं। दाश्वांसः=फलदाता, दाशुषः=यज्ञकर्ता का, यजमान का।

सामान्य अर्थ यह है कि विश्वदेव मनुष्यों को दुःखों से बचाते हैं, उनका पालन-पोषण करते हैं, रक्षा करते हैं तथा अपने भक्तों को फल देते हैं। इसलिए इन्हें यजमान के द्वारा प्रस्तुत सोमयाग में सोम पीने के लिए आहूत किया जाता है।

स्वरविचार—(१) ओमासः—आमन्त्रित होकर पादादि में रहने से आद्युदात्तः (६।१।१९८)। (२) चर्षणिऽधृतः—आमन्त्रित-निघात। पूर्व में आमंत्रित होने से उसके अविद्यमानवत् होने की संभावना थी किन्तु 'विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्' (८।१।७४) से ओमासः शब्द विशेषण वाचक 'चर्षणिधृतः' के पूर्व में बहुवचन रूप में होने से विकल्प से अविद्यमानवत् होगा—यहां नहीं हुआ। इसलिए चर्षणिधृतः में निघात हो सका, पादादि नहीं माना गया। सायणभाष्य में इस पर और भी विचार हुआ है। (३) विश्वे—पादादि में आमंत्रित होने से आद्युदात्त। यहाँ 'विश्व' शब्द सर्व का पर्याय नहीं, गणदेवता का बोधक है। विशेष्य होने के कारण ही 'ओमासः' के साथ इसका सामानाधिकरण्य नहीं हुआ। नहीं तो पूर्व पाद पराङ्ग बन कर 'मित्रावरुणावृतावृधौ' की तरह यहां भी आमन्त्रित के कारण आद्युदात्त होने नहीं देता। (४) देवासः—यह 'विश्वे' का विशेषण है, अर्थ है प्रकाशयुक्त०। आमंत्रित होने से ठीक चर्षणिधृतः की तरह निघात हो गया है। देवासः विशेषणवाचक है अतः 'विश्वे' बहुवचन अविद्यमानवत् नहीं रहा। तदनुसार 'देवासः' को पादादि नहीं माना गया—निघात हो गया। (५) आ—उपसर्ग उदात्त। (६) गत—तिङ् निघात। (७) दाश्वांसः—√दाश् + क्वसु + जस् (सुप्)। (८) दाशुषः—√दाश् + क्वसु + ङस् (सुप्)। दोनों में प्रत्ययस्वर का बचा रहना (९) सुतम्—√सु + क्त। प्रत्ययस्वर से अ उदात्त।

मन्त्र—८

इसमें एक उपमान का प्रयोग करके कहा जा रहा है कि विश्वदेव सोमसवन में आवें (सुतम् आगन्त)। उन्हें 'वृष्टिदान करनेवाला' (अप्तुर्) तथा कार्य में क्षिप्र या तेज (तूर्णि) भी कहा गया है। यज्ञ में इनके आने की तुलना की गयी है कि जिस प्रकार की किरणें दिन में (अपने आप) चली आती हैं उसी प्रकार विश्वदेव भी यहाँ आवें।

अप्तुरः—अप् + √तुर् + क्विप् (शीघ्र जल देनेवाले)। ब्रुगमैन ने कल्पना की है कि मूल भारो apas-tur से apstur होकर अप्तुर् हो गया है जिससे क्रियाशील, तेजी से काम करनेवाले, अर्थ होगा। यह अर्थ ग्रासमैन, ग्रिफिथ तथा कतिपय भारतीय टीकाकारों से भी समर्थित है। दुर्गाचार्य (निरु०

५१४) के अनुसार 'काम की ओर शीघ्रता से बढ़ने वाले', गेल्डनर के अनुसार 'नदी की तरह वेगवान्' तथा सायण, लैंगलोइ के अनुसार 'वृष्टिदाता' अर्थ है। 'अप्' शब्द का मूल अर्थ कार्य ही था, लक्षणा से 'जल या वृष्टि' के गौण अर्थ में आ गया है। अतएव 'शीघ्रकारी' 'शक्तिमान्' आदि अर्थ यहाँ उचित प्रतीत होता है।

आ गन्त—√गम् + लोट् (मध्यम पुरुष बहुवचन)। अर्थ—प्रथ० पु० ब० का (व्यत्यय से)। आ + गम् + (शप् लोप) + तप् (अनुनासिकलोप न होता)—आगन्त = आगच्छन्तु (आवें)।

तूर्णयः—√त्वर् = शीघ्रता करना। नित-प्रत्यय तथा नित् की तरह कार्य (आद्युदात्त)। तुरस्=कर्मठ। लिथु०—tulas, प्रा० चर्च, स्लावि०—tyl, tulam, तुरति और तिरति (पार करता है) के समानान्तर अवेस्ता में taro तथा प्रा० फारसी में tarah मिलता है। निघण्टु (२।१५) में यह क्षिप्र के अर्थ में आया है जिसमें तूतुजानः शब्द भी है। यही कारण है निघण्टु (२।१५) में यह क्षिप्र के अर्थ में आया है कि पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी टीकाकारों ने 'शीघ्रता से, शीघ्रता युक्त आदि' अर्थ लिये हैं।

उस्राः इव—'सूर्य की किरणों की तरह' (निघण्टु, सायण)। मू० भारो०—ausra, vsros (प्रातःकाल में), ग्रीक—auriau (<aus-r-io)= प्रातःकाल, euro-s = प्रातःसमीर, पूर्वी हवा। लिथु—auszra = रक्ताकाश। गॉथिक austro, ऐं सै० eastro, प्रा० उ० जर्मन—astarum = पूर्वी। निघण्टु (२।११) में उस्रा गोका भी पर्याय है। गेल्डनर, ग्रासमैन, ग्रिफिथ, लैंगलोइ, लुडविग और वेदार्थयत्न इसे इसी अर्थ में मानते हैं। ग्रासमैन ने इसके पाँच अर्थ दिये हैं—(१) रक्तिम, दीप्तिमान् प्रातःकाल। (२) वृषभ (रक्तवर्ण के कारण)। (३) प्रातःकाल का रक्ताकाश। (४) गाय। (५) दिन की चमक। अनुमान होता है कि पहले इसका अर्थ 'प्रभात' रहा होगा, धीरे-धीरे प्रभात-प्रभा के अर्थ में यह आया। आलंकारिक रूप से यह गाय के अर्थ में आया—चाहे यह गायों के रंग से हुआ, या स्तन से चमकते हुए दूध के निकलने के कारण हुआ हो। प्रकाश से निकलने वाली किरणों को भी गाय कहा गया है। प्रातःकाल में जिस प्रकार सूर्य किरणें निकलती हैं उसी तरह गायें भी गोचर भूमि की ओर प्रस्थान करती हैं। इसीसे दोनों का सादृश्य ही नहीं तादात्म्य तक दिखलाया जाता है। यहाँ दोनों अर्थ संभव है—प्रातः-कालीन किरणों की तरह या गायों की तरह। इव शब्द (गॉथिक ba, लिथु—ipo) के साथ समास होता है तथा विभक्ति का लोप भी नहीं होता।

स्वसराणि—स्व + √सृ=चलना। स्वयं चलनेवाला। निघण्टु में यह घर

(३।४) तथा दिन (१।९) दोनों का पर्याय माना गया है। यहाँ इसके अर्थ हैं—दिन (सायण, विल्सन, रोजन, दयानन्द आदि), गोशाला (ग्रास०, ग्रिफिथ, लुडविग, बेनफी), आवास, चरना (लैंगलोइ), आरम्भिक चरना (गेल्डनर)। कल्पना यह है कि गायें जैसे चरने के लिए जाती हैं, गायें गोशाला की ओर लौटती हैं, किरणें दिन में आती हैं।

चूँकि विश्वदेवों की स्तुति सायंकाल में होती है अतः सायंकालीन दृश्य के साथ तुलना रुचिकर है। विश्वदेव उसी प्रकार इस समय हमारे सवन में आवें जिस प्रकार गायें सायंकाल में गोशाला की ओर लौटती हैं।

स्वरविचार—(१) विश्वे—√विश् + क्वनिप्। पित् के कारण प्रत्यय अनुदात्त है, अतः धातुस्वर शेष रहा। (२) देवासः—√दिव् + अच् = देव। 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त। (३) अप्तुरः—अप् + √तुर् + क्विप्। अपः तुतुरति त्वरयन्ति। उपपद समास। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तर पद का प्रकृतिस्वर—तुर् का उदात्त। (४) सुतम्—प्रत्यय स्वर। (५) आ—उपसर्ग उदात्त। (६) गन्त—तिङ्निघात। (७) तूर्णय—√त्वर + नि (निह्नत)—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७) से आद्युदात्त। (८) उस्राःऽइव—√वस् + रक् = उस्र, प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। इव के साथ समास होने पर पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। (९) स्वसराणि—स्वः सरो येषां तानि स्वसराणि अहानि। बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर।

मन्त्र—९

वैश्वदेव तृच के इस अन्तिम मंत्र में विश्वदेवों को अक्षय या अशुष्क (अस्रिधः) द्रोहरहित (अद्रुहः) तथा सर्वत्र व्याप्त प्रज्ञा से भरा हुआ कहा गया है। ये धनों के वाहक भी हैं (वह्नयः), इन्हें यज्ञ के हव्य का आस्वादन या सेवन करने को बुलाया जा रहा है। इस मंत्र में प्रयुक्त शब्दों का व्युत्पत्तिजन्य महत्त्व है।

अस्रिधः—नञ् + √स्रिध् + क्विप्। √स्रिध् का अर्थ सायण ने शोषण और क्षय रखा है जिससे विश्वदेवों को क्षयरहित या शोषरहित माना गया। गेल्डनर (अमोघ), ग्रासमैन (सुन्दर, दयालु—अशोषक) तथा लैंगलोइ (अशान्ति से रहित) आदि के अर्थ कुछ भिन्न हैं। यहाँ सबसे अच्छा अर्थ होगा—कभी असफल न होनेवाले, अमोघ।

दूसरा शब्द 'एहिऽमायासः' है। सायण ने इसकी दो निरुक्तियाँ दी हैं। एहि = आगच्छ [आ + √इ + लोट् (म० ए०—हि)]। माया = मा यासीः

(मत जाओ)। एक कथा है (बृहद्देवता, ७।१३-४) कि विश्वदेवों ने सौचीक अग्नि को पानी में घुसने से रोकते हुए कहा था—एहि मा यासीः (आ जाइये, मत भागिये)। इसीसे विश्वदेवों को 'एहिमाया' कहने लगे। गेल्डनर ने यह अर्थ स्वीकृत किया है। ओल्डनबर्ग ने इसका खंडन करते हुए कहा है कि ऐसा रूप प्राचीन भाषा में नहीं मिलता है। स्कन्द ने इसके अतिरिक्त एक और अर्थ दिया है—अहीनमायां अर्थात् सर्जनशक्ति से जो रहित नहीं हैं। सायण ने भी एक और अर्थ रखा है—जिनकी प्रज्ञा सर्वत्र व्याप्त है। रॉथ, ग्रासमैन तथा मोनियर विलियम्स के अनुसार अहिमाया से अशुद्ध रूप एहिमाया हुआ है क्योंकि चार स्थानों में यह मिलता है। यह संभव लगता है। 'अहि' आङ्√हन् + इन् से बनता है। [भारो० aghis, अवेस्ता—azis azhi, लातिन—anguis, लिथु—angis, निघण्टु में यह मेघ और जल के पर्याय के रूप में यह 'अहि' शब्द आया है। इसका प्रयोग वृत्रासुर के लिए होता है]।

माया—√मा (नापना, सृष्टि करना) + य (उ० ४।१११) + टाप् अथवा √मन् (चिन्तन करना—ग्रासमैन)। इसका सम्बन्ध ग्रीक—metis (बुद्धि, कौशल, चतुरता से) है जो उसी भाषा के mimos (अनुकारक) से बना है। निघण्टु में यह बुद्धि का पर्याय है। रॉथ ने इसके अर्थ दिये हैं—(१) प्राचीन साहित्य में, कला, अलौकिक शक्ति, आश्चर्यजनक कार्य। (२) अनुवर्ती साहित्य में, छल, कपट, धोखा आदि। गाइगर (SBW, 176, no–7 p. 218) का कथन है कि देवताओं की उच्च रहस्यात्मक शक्ति (माया) दैत्यों के निम्न कपट कार्यों से पृथक् है। गेल्डनर के अर्थ हैं—रूपान्तर, भ्रम, अद्भुत कार्य। ग्रासमैन भी अच्छेबुरे दोनों अर्थों में इसे लेते हैं—असामुप कार्य, कुशलता, इन्द्रजाल, जादू आदि। बाद में यह दार्शनिक अर्थ में आने लगा। वेदान्त में यह प्रकृति का पर्याय है तथा परब्रह्म की उपाधि के रूप में है। प्रकृति (Cosmos) के विकास में यह प्रथम सोपान है—उपादान भी है निमित्त भी।

'अहिमाया' (ऋ० १।११०।४, ६।२०।७, ६।५२।१५, १०।६३।४) का अर्थ असामनवीय शक्ति से युक्त, अनतिक्रान्त प्रज्ञा से युक्त आदि हैं। 'एहिमायासः' का अर्थ स्कन्द की तरह अहीनमाया करना अधिक अच्छा है—प्रज्ञाशक्ति से सम्पन्न।

'अद्रुहः' का अर्थ द्रोह (हिंसा)-रहित है। [तुल०—गॉथिक—dulgs, प्रा० उ० जर्मन—trugan, troum, triogan (ठगना), अवेस्ता—drujo

(निर्दय), drujyant (धूर्त)। गेल्डर तथा ग्रासमैन इसे असत्यरहित या सत्य के अर्थ में लेते हैं।

मेधम्—√मेध (<मिध्)+घञ्। इसके अर्थ यज्ञ, हवि, पान (ग्रास०), जीवनप्रद रस (गेल्डनर) आदि हैं। मेदस् (चर्बी) के साथ सम्बन्ध करके ब्रुगमैन, मोनियर विलियम्स आदि ने मेदोरस (fat–soup), मांसरस आदि अर्थ दिये। मेध का अर्थ संस्कृत में इस रूप में मिलता भी है। 'यज्ञ' के अर्थ में यह गौण रूप से ही मिलता है।

जुषन्त = सेवन करें। √जुष् (प्रीति करना, सेवन करना)। [अवेस्ता zaosha, लातिन—gustus, ग्रीक—geus, गॉथिक—kiusa, ऐं० सै०—Ceosan]।

'वह्नि' निघण्टु में अश्व का पर्याय है√वह्—ढोना, ले जाना। यहाँ यह धनवाहक (सायण), रथी (गेल्डनर), वाहक (सायण, स्कन्द, ग्रासमैन) आदि अर्थों में है। संस्कृत में यह एकमात्र अग्नि का पर्याय है।

अर्थ—असफलता से रहित, प्रज्ञाशक्ति संपन्न, अहिंसक तथा धन वहन करने वाले विश्वदेव यहाँ यज्ञ में दियें गये हव्य का सेवन करें।

स्वरविचार—(१) विश्वे—(२) देवासः—पूर्वमंत्र की तरह। (३) अस्रिधः—अ (नञ्) + √स्रिध् + क्विप् = अस्रिध्। 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से उत्तरपद का अन्तोदात्त—इ उदात्त। (४) एहिऽमायासः—एहिः माया (प्रज्ञा) येषां ते। बहुव्रीहि के कारण पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। आ + ईह् + इन् = एहि—नित् के कारण आद्युदात्त। अन्यस्वर यथानियम। (५) अद्रुह् + क्विप्। अस्रिधः की तरह स्वर। (६) मेधम्—√मेध + घञ्। ञित् स्वर के कारण आद्युदात्त। (७) जुषन्त—तिङ्निघात। (८) वह्नयः—√वह् + नि=नित् होने के कारण आद्युदात्त।

मन्त्र—१०

यहां से सरस्वती का तृच आरंभ होता है। निघण्टु के अनुसार सरस्वती के तीन अर्थ हैं—(१) नदी, (२) वाग्देवी का नाम, (३) एक नदी का नाम। बृहद्देवता के अनुसार भी सरस्वती की प्रार्थना दो रूपों में होती है–नदी के रूप में और देवी के रूप में। ऋग्वेद में ही कई ऋचाओं में नदी-अर्थ वाली सरस्वती का नाम है, कहीं देवी-अर्थ में स्तुति है। स्वयं सायणने १२ वें मंत्र में दोनों अर्थ रखे हैं। उन्होंने ऋग्वेद में पाँच अर्थों में सरस्वती शब्द को लिया है—(१) नदी-सामान्य (१।१४२।९, १।१६४।५२), (२) नदी-विशेष —(१।३।१२, २।४१।१६ आदि), (३) देवी का नाम (५।४३।११, ५।४६।२

आदि), (४) अन्तरिक्ष की देवी (१।१८८।८), (५) माध्यमिका वाग्देवी (२।३।११, ३।४।८ आदि)। गेल्डनर नदीविशेष तथा उसकी अधिष्ठात्री देवी के अर्थ में इसे लेते हैं।

ऋग्वेद में सरस्वती नदी का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। यह आधुनिक कुरुक्षेत्र के पास बहनेवाली, सिन्धु-नदी की तरह चौड़े पाट वाली नदी थी। अब इसका सुखा हुआ रूप मात्र रह गया। वैदिक तथा भूगोल के विद्वानों के द्वारा किये गये अनुसंधानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिमालय पर्वतश्रेणी में सिरमूर की पहाड़ियों से निकल कर यह पश्चिम-दक्षिण की ओर बहती थी। ऋग्वेद में 'पञ्चजाता' का प्रयोग बतलाता है कि संभवतः यह पाँच झरनों से बनी थी। पूर्व से इसमें दृषद्वती (चित्रांग) नदी मिलती थी। दृषद्वती में अपया नदी मिलती थी। आधुनिक सरस्वती से और दक्षिण की ओर पुरानी नदी बहती थी। हकरा के सूखे प्रवाह-पथ में इसका प्रवाह था। या तो यह सतलज से मिलकर सिन्ध में गिरती थी या सीधे ही उसमें गिर जाती होगी। उस समय सिन्धु-नदी और पूर्व की ओर रही होगी तथा आधुनिक कच्छ के रन में गिरती होगी। ऐ० ब्रा० (२।१९) के अनुसार सरस्वती के पार्श्व में उसी समय मरुभूमि हो गयी थी। महाभारत तथा मनुस्मृति में मरु में इसके नष्ट हो जाने का उल्लेख है।

देवी के रूप में सरस्वती की स्तुति इडा और भारती, इन दो देवियों के साथ भी हुई है। तीनों की साथ-साथ स्तुति आप्री-सूक्तों में (पशुमेध याग में अग्नि की स्तुतिवाले सूक्त) हुई है। अग्नि के साथ रहने से लगता है कि उनके तीनों रूपों (पार्थिव, अन्तरिक्ष और द्युलोक) का प्रतिनिधित्व ये देवियां करती हैं। भारती सूर्यकिरणों के अर्थ में आने से द्युस्थानीय अग्नि है। सरस्वती संभवतः पहले मेघगर्जन की देवी रही हो, बाद में वाग्देवी हुई। सायण की माध्यमिका वाक् इसी की ओर संकेत करती है। अतः अन्तरिक्ष की अग्नि यही है। अन्त में इडा भूलोक की अग्नि है। एक सौ शरदों (वर्षों) के साथ इडा का सम्बन्ध करना सिद्ध करता है कि यह जीवन-प्रद अग्नि है। इसीसे इसे 'इरा' से सम्बद्ध करके अन्न के अर्थ में भी लेते हैं क्योंकि अन्न को प्राणाग्नि (calorie) का वर्धक कहा गया है।

अन्त में, सरस्वती वाक् की देवी के रूप में भी आयी है जिसका मूल अर्थ अन्तरिक्ष की वाणी (thunder) के रूप में होगा। प्रस्तुत संदर्भ में भी सरस्वती का यही अर्थ है। संस्कृत में वाणी तथा उसकी अधिष्ठात्री देवी के रूप में ही यह शब्द है।

अस्तु, प्रस्तुत मंत्र वा० सं० (२०।८४), साम० सं० (११८९), मै० सं० (४।१०।१), क० सं० (४।१६), तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।३।१) आदि में आया है। सौत्रामणि- याग में अश्विनों को बुलाने के लिए तथा सरस्वती को हवि के लिए प्रउगशस्त्र में भी इसका विनियोग होता है। अभिजित्-याग में सोमसवन (प्रातःकाल) के समय पूरा तृच (तीन ऋचायें) पढा जाता है।

यहाँ सरस्वती को पवित्र करनेवाली (पावका), अन्नवती (वाजिनीवती) तथा कर्म से उत्पन्न धन का साधन (धियावसु) कहा गया है। वे देवी कर्मों के द्वारा (वाजेभिः) हमारे यज्ञ की (आने की) कामना करें।

पावका—√पूञ् + ण्वुल् (अक)। ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), युवोरनाकौ (७।१।१)। पावक=पवित्र करनेवाला। स्त्रीलिंग में—टाप्। सायण ने एक दूसरी व्युत्पत्ति दी है—पाव (शुद्धि,√पू + घञ्) + √कै (आवाज करना) + क प्रत्यय। पावं कायति (शोधन-शब्द करनेवाली शुद्ध करने वाली)। √पू के समानान्तर मू० भारो० में peue, peuax, (साफ करना), गॉथिक—fon, जर्मन—vet, fiur, ग्रीक—pug, फारसी—pak, अंग्रेजी—pure. है। सब तरह से 'पावका' शब्द पवित्र या शुद्ध करनेवाली के अर्थ में आ सकता है। सरस्वती मन और शरीर को शुद्ध करती है।

वाजेभिः—वाज + तृतीया बहु०। वाज=√वज् जाना, (भ्वा० २६०) + घञ्। [भारो०–ueg (ताजा करना, चलना, जाना) ग्रीक-afexo (मैं बढ़ाता हूं) गॉथिक-wahsja अवेस्ता-vaza. ऐं० सै० waecnan. wok, अंग्रेजी wing (?)] निघण्टु में वाज-शब्द अन्न और संग्राम दोनों का पर्याय है। सायण ने इसके दो अर्थ यहाँ पर किये हैं पर दोनों अन्न से सम्बद्ध हैं—हवि के रूप में अन्न, यजमान को देने योग्य अन्न। गोल्डनर ने अपनी ग्लॉसरी (कोश) में कुल छह अर्थ दिये हैं—(१) विजय, विजयशक्ति, असामान्य शक्ति और गति। (२) विजय का पुरस्कार, युद्ध का सुफल, लाभ, अभीष्ट फल। (३) युद्ध, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा। (४) शक्ति। (५) आखेट-फल। (६) तीन ऋतुओं में कनिष्ठ का नाम—(सायण की भी सहमति ७।३६।८)। ग्रासमैन ने १२ अर्थों में इसे माना है। मूलतः यह शक्ति, बल, कुशलता या तेजी के अर्थ में था। धीरे-धीरे युद्ध, दौड़ आदि के अर्थ में हुआ जहाँ उनके प्रदर्शन का अवसर था। तदनन्तर युद्ध के सुफल के अर्थ में हुआ। साथ-साथ शक्ति देने वाले पदार्थों का भी बोध इससे होने लगा—पोषण, अन्न, हवि। दूसरी ओर धन, शुभेच्छा, दान आदि शक्ति-वर्धकों का भी अर्थ होता रहा। शक्ति के मूर्तिमान रूप घोड़े के

अर्थ में भी (—ऋभु अर्थ भी) यह हुआ। इस मंत्र में अन्न, हवि, इच्छा (गेल्डनर), शक्ति तथा स्तुति के अर्थ में लोगों ने इसे रखा है।

'वाजिनीवती' सरस्वती का विशेषण है। वाज + इनि (मत्वर्थीय) + ङीप् = वाजिनी। इसमें मतुप् + ङीप् करने पर वाजिनीवती बना है। यह निघण्टु (१।८) में उषा का पर्याय है। वहीं (१।१४) वाजी शब्द को अश्व का पर्याय माना गया है। इस वाजी (स्त्रीलिंग-वाजिनी) के कई अर्थ गेल्डनर ने किये हैं—(१) शक्ति प्रदर्शन में विजयी, योद्धा, वीर, नायक। (२) युद्ध का घोड़ा, दौड़-प्रतियोगता का घोड़ा, दौड़ने वाला। (३) दानी, युद्ध से सुफल लाने वाला। 'वाजिनीवत्' का अर्थ है 'अश्वा' से युक्त। ग्रासमैन के अनुसार 'वाजिन्' का अर्थ है—(१) वाज से युक्त, (२) तेज, युद्ध के घोड़े, नायक, देवनायक, पोषणसमर्थ। तदनुसार उन्होंने वाजिनीवत् के अर्थ दिये हैं—घोड़े से युक्त, दान में समर्थ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में वाजिनीवती के अर्थ इस प्रकार हैं—अन्नपूर्ण (स्क०, वे० मा०), अन्नदात्री, हवि से परिपूर्ण, पुरस्कारपूर्ण (गेल्ड०, ग्रास०), अश्वों से पूर्ण (लुडविग)। स्कन्द ने एक अन्य अर्थ दिया है—अपनी वेगवती या बलवती सेना से युक्त (सरस्वती)।

'वाजेभिः वाजिनीवती' जैसे प्रयोग साधारण हैं। उषा को 'वाजेन वाजिनी' कहा गया है। यहाँ सरस्वती नदी के अर्थ में यह प्रतीत होता है कि वह नदी (अन्न-दायक) शक्ति के द्वारा (अन्न-दायक) शक्ति से भरी हुई है—यही अर्थ है। सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्रों की अन्नोत्पादन-सामर्थ्य की कल्पना यहाँ लगती है। वह नदी उन क्षेत्रों में अपनी सेचन-शक्ति का परिचय देती होगी। जिससे वे उर्वर बनते होंगे। इस विचार के अनुसार, वाजिनी = सरस्वती के तटों की उर्वर भूमि। 'वाजेभिः' को वष्टु के साथ सम्बद्ध करना (जैसा सायण ने किया है) ठीक नहीं। यास्क की तरह वाजिनीवती से ही अन्वय करना ठीक है। वैसे सायण ने 'अन्नवत् क्रियावती' अर्थात् अन्नोत्पादक क्रिया से युक्त—अर्थ किया है।

वष्टु—√वश् (कामना) + लोट् प्र० पु० एक०। कामना करे। सायण ने कहा है—कामना करके निर्वाह करे, पूरा करे। ऐतरेयारण्यक (१।१।४) में 'यज्ञं वष्टु' का अर्थ 'यज्ञं वहतु' ही दिया है। इसलिए अच्छा अर्थ है—पूरा करें।

धियावसुः—धी से तृतीया का अलुक् समास। धिया कर्मणा वसु यस्याः सकाशाद् भवति। अर्थात् कर्म द्वारा जिस (सरस्वती) से धन प्राप्त हो। वसु √वस् से बना है जिसका अर्थ है—चमकना। [तुलनीय—मू० भा०—

uesu. eues (अच्छा), अवे०–vanhu-s, vohu] निघण्टु में यह सूर्य किरण धन तथा अन्न का पर्यायवाचक है। निरुक्त (१२।४२) में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग के तीन वसुओं की चर्चा है, जो स्पष्टतः देवताओं के द्योतक हैं। ग्रासमैन तथा गेल्डनर के अनुसार वसु-शब्द के अर्थ हैं—अच्छा दीप्तियुक्त, कान्त, धन, सम्पत्ति।

'धियावसु' के अर्थ यहाँ प्रज्ञा से धन धारण करने वाली (स्कन्द), प्रज्ञा से सबों को धारण करने वाली (वे० मा०), भक्तिकार्य से सम्पन्न (यास्क ११।२६); धन से भक्ति का प्रतिकार करने वाली (सायण, विल्सन), प्रज्ञा से सम्पन्न (गेल्डनर) आदि हैं। 'धिया' को तृतीयान्त न मानकर क्रिया, माया आदि शब्दों के सादृश्य पर √धि से 'या' प्रत्यय लगाकर भी निष्पन्न माना जा सकता है। फिर भी अर्थ वही होगा—प्रज्ञा से सम्पन्न। यह अर्थ इसलिए उचित प्रतीत होता है कि सरस्वती देवी सुन्दर सस्यों के रूप में यजमान को वर दें। यह तभी सम्भव है जब प्रज्ञासम्पन्न देवता यजमान के यज्ञ को पूर्ण होते हुए देखें।

पूरी ऋचा में यह कल्पना लगती है कि सरस्वती नदी की देवी पवित्र करती है तथा उसके दोनों किनारों पर उर्वरा भूमि (वाजिनी) है। वह नदी अपनी सवेग सेकशक्ति (वाज) के कारण ही वाजिनीवती अर्थात् उर्वर भूमि से भरी है। अपने तटों पर होने वाले यज्ञों के यजमानों को वर देने (=अमोघ सस्यसंपदा प्रदान करने) में वह पर्याप्त रूप से प्रज्ञासंपन्न है, धियावसु है—विवेक शक्ति ही उसका धन है। इस यज्ञ की पूरी देखभाल वही करे जिससे इसमें कोई त्रुटि न रह जाय।

स्वरविचार—(१) पावका—(i) पाव + √कै + क—पावं कायतीति पावका। टाप्। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद में कृदन्त शब्द होने से उत्तरपद का अन्तोदात्त (प्रकृतिस्वर)। (ii) √पूञ् + ण्वुल् + टाप्। इकाराभाव (७।३।४४) तथा अन्तोदात्त छान्दस (अनियमित)। (२) नः—अनुदात्तं सर्वमपादादौ (८।१।१८) से अनुदात्त। (३) सरस्वती—√सृ + असुन् = सरस् (नित्—आद्युदात्त)। सरस् + मतुप् + ङीप्। दोनों प्रत्यय पित् होने से अनुदात्त (३।१।४)। अतः सरस् के आद्युदात्त की रक्षा हुई। (४) वाजेभिः—वाज शब्द वृषादि (६।१।२०३) होने से अथवा √वज् + घञ् (ञित्) होने से आद्युदात्त है। (५) वाजिनीऽवती—वाज + इनि (५।२।११५—अत इनिठनौ) + ङीप्=वाजिनी। तब मतुप् और ङीप्। दोनों ङीप् तथा मतुप् के अनुदात्त होने के कारण इनि प्रत्यय का स्वर (= आद्युदात्त) अवशिष्ट रहा। इससे इ उदात्त हुआ।

(६) यज्ञम्—√यज् + नङ् । प्रत्ययस्वर । (७) वष्टु—'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात । (८) धियाऽवसुः—धी + टा = धिया (सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ६।१।१६८ से आ विभक्ति उदात्त है । बहुव्रीहि समास है, इसलिए पूर्वपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् आ उदात्त होना ।

मन्त्र—११

यहाँ सरस्वती देवी ने यज्ञ धारण किया है, उसमें सहायता की है, यह बात कही गयी है । प्रथम दो पादों में देवी के दो विशेषण हैं—सूनृतानां (सत्य-प्रिय वाणी बोलने की) चोदयन्ती (प्रेरणा देनेवाली), तथा सुमतीनां (सुन्दर बुद्धि वाले यज्ञकर्त्ताओं को) चेतन्ती (उपदेश देनेवाली) ।

चोदयित्री—सभी टीकाओं में एक ही अर्थ है, प्रेरणा देनेवाली, बढ़ानेवाली । यह उषा के विशेषण के रूप में भी ऋग्वेद में प्रयुक्त है । यह √चुद् (प्रेरणा) से बना है । [तुल०—मू० भारो० gued (फेंकना, छोड़ना, खदेड़ना), आधुनिक फ़ारसी—चुस्त (पक्का, कर्मठ, सावधान), लिथु०—skudrus (चिप्र कार्य), प्रा० बुल्गेरियन—is-kydati (फेंक देना), ऐं० सै०—sceotan, geotan (फेंकना, छोड़ना), प्रा० उ० जर्मन—sciozan (फेंकना), लातिन—studeo. studere] । ग्रासमैन का मत है कि चुद्-धातु के दो मूल अर्थ थे—(१) तीव्र गति से चलाना, (२) तीक्ष्ण करना (sharpen) । √चुद् + णिच् + तृच् + ङीप् ।

सूनृतानाम्—'सूनृत' का अर्थ सायण ने 'सत्य और प्रिय वाणी' किया है । सु + √ऊन् + क्विप् = सुतरामूनयति अप्रियम् (अप्रिय वस्तु को अच्छी तरह नष्ट करने वाली)—सुन् । ऋत = सत्य । प्रिय तथा सत्य वाणी । 'सूनृत' निघण्टु में उषा और अन्न का पर्याय माना गया है । सूनृत और सूनर अर्थ में समान हैं जो गेल्डनर तथा ग्रासमैन के अनुसार इन अर्थों में आये हैं—(१) सुन्दर, कुलीन, समृद्ध, संपन्न, भाग्यवान्—विशेषण । (२) गीत, स्तुति (३) आशीर्वाद, उत्कृष्टता, दान । (४) उषा । (५) मूल्यवान् पदार्थ । प्रस्तुत मंत्र में यह अन्य टीकाओं में प्रिय स्तुति (ग्रिफिथ), दान (गेल्डनर), तथा सत्य (स्कन्द, वेंकटमाधव) अर्थ में गृहीत है ।

सूनर ही सुन्दर के रूप में विकसित हुआ है । सौन्दर्य समृद्धि का द्योतक है अतः सबसे उचित अर्थ सूनृत का होगा—समृद्धि । 'समृद्धि को बढ़ाने वाली सरस्वती' । नदी के अर्थ में भी यह अर्थ उपयुक्त होगा । वाग्देवी के अर्थ में, 'वाणी से समृद्धि की वृद्धि होती है'—यह युक्तिसंगत है ।

चेतन्ती—√चित् (देखना, जानना, समझना) + शतृ + ङीप् । इसका

अर्थ सबों ने समान लिया है—ज्ञापयित्री (सायण), विचारक, समझनेवाली, बतलानेवाली। इसका सम्बन्ध 'सुमतीनां' शब्द के साथ है।

'सुमति' में √मन् है जो चिन्तन, विचार के अर्थ में होता है। मन् अत्यन्त प्राचीन धातु है क्योंकि इसके रूप समान परिवारवाली भाषाओं में प्राप्त हैं—मू० भा० men (चिन्तन करना), अवे० manayen (चिन्तन किया), ग्रीक—memona (चिन्तन), लातिन—memini, monere आदि, गॉथिक—man, munum, muns, ऐं० सै०—man, जर्मन–meinen, अंग्रेजी—mind, man, लिथु—mano, सुमति शब्द का प्रयोग विभिन्न विद्वानों के अनुसार यहाँ इन अर्थों में है—सद्भाव (गेल्डनर, लुडविग), सद्विचार (लैंगलोइ, दयानन्द, बेनफी), शुभ विचार (ग्रिफिथ)। इन भाववाचक अर्थों के साथ कुछ लोगों के अनुसार इन्हीं से निष्पन्न व्यक्तिबोधक अर्थ भी किये गये हैं—सद्विचारयुक्त, सुबुद्धिवाले (सायण, स्कन्द)। अच्छा है कि भावात्मक अर्थ ही लें—सद्बुद्धियों का ज्ञापन करनेवाली देवी सरस्वती। नदी अर्थ में, सद्बुद्धियुक्त यजमानों को समझनेवाली सरस्वती नदी की अधिष्ठात्री देवी।

'दधे' √धा (धारण करना) से लिट् प्रथम पुरुष (आत्मनेपद) का रूप है। अर्थ है—धारण किया, स्वीकार किया, सम्पन्न किया।

अर्थ है कि जिसके तट पर प्रस्तुत यज्ञकार्य आरम्भ हुआ है वह सरस्वती नदी समृद्धियों का सम्वर्धन करनेवाली है—अपने तटवर्ती क्षेत्रों को उर्वर बनाती है, शोभन बुद्धिवाले यजमानों को भी विवेकपूर्वक देखती है तथा इस तरह वह यज्ञ को सम्पन्न करने में लगी है। अथवा यजमानों पर कृपा करके उनकी भक्ति (सूनृत) तथा सद्बुद्धि को आगे बढ़ाती है।

स्वरविचार—(१) चोदयित्रीः—√चुद + णिच् + तृच्। प्रत्यय स्वर, 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त—ऋ उदात्त। अब ङीप् करनेपर (ऋन्नेभ्यो ङीप्) ऋ का यणादेश हो गया, वह उदात्त था, अतः 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' सूत्र से (६।१।१७४) ङीप् के ईकार को उदात्त हुआ। (२) सूनृतानाम्—सु + √ऊन् + क्विप्, ऋ + क्त। सून् + ऋत (द्वन्द्व समास) 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) से उत्तरपद का आद्युदात्त होकर ऋ उदात्त। (३) चेतन्ती—√चित् + शप् + शतृ + ङीप्। शप् और ङीप् तो पित् होने के कारण अनुदात्त हैं। शतृ प्रत्यय लसार्वधातुक होने से अनुदात्त है, अन्ततः धातुस्वर ही निर्लेप है, वही अवशिष्ट रहा। (४) सुऽमतीनाम्—नाम् (नुट् + आम्) तब उदात्त हो सकता है जब वह ऐसे शब्द के बाद आवे जो मतुप् लगने के समय ह्रस्व रहे। 'सुमति' एक ऐसा ही शब्द है अतः

यहाँ नाम् को उदात्त हो गया—नामन्यतरस्याम् (६।१।१७७)। (५) यज्ञम्—√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (६) दधे—तिङ्निघात। (७) सरस्वती—पूर्ववत्।

मन्त्र—१२

यह मन्त्र वा० सं० (२०।८६) तथा निरुक्त (११।२७) में भी उद्धृत है। सौत्रामणि याग में सरस्वती के आवाहनार्थ इसका उपयोग है। सायण ने इसके अर्थ में सरस्वती को नदी तथा विग्रहवती (मूर्तिमती) देवी के रूप में भी लिया है। नदी के रूप में तो वह सरस्वती अपने प्रवाहरूप कर्म (केतु) से प्रचुर जलवृद्धि (मह० अर्णः—बाढ़) का प्रदर्शन करती है, किन्तु देवी के रूप में वही अनुष्ठाताओं की सारी बुद्धियों (धियः) को प्रदीप्त करती है, बढ़ाती (वि राजति)।

'महः' (= महान्) महत् का वैदिक व्यत्यय से बना हुआ नपुंसक लिंग का रूप है। यह 'अर्णः' (जल) का विशेषण है। 'महत्' उणादि (२।२४१) में अति-प्रत्ययान्त मानकर निपातित हुआ है, साथ ही इन्हें शतृ-प्रत्ययान्त की तरह मानने का भी विधान है। वैदिक भाषा में महान् के अर्थ में 'मह्' भी मिलता है—यही मौलिक रूप है क्योंकि इसीके समानान्तर रूप हमें मिलते हैं। [अवे०—maz, महत् = मू० भारो०—meg(h) nt, meg (h)n, meges; महः = अवे०—mazah, mazan, makha, mágho, आर्मेनियन—mec, ग्रीक—megas, megale, mega, लातिन—magnus, magis, maximus, अल्बानियन—math, गॉथिक—magu, mahts, प्रा० उ० जर्मन—magan, ऐं० सै०—magan, miht]।

निघण्टु में यह जल के १०१ नामों के अन्तर्गत आया है—विशेषण को विशेष्यवत् देखने से ऐसा हुआ हो। यहां उचित अर्थ होगा—महान् या बढ़।

अर्णः—√ऋ (= चलना, घुसना) + असुन्। उणादि (४।६३६) के अनुसार नुडागम। √ऋ के समान मू० भारो०—er, eri, eru (चलना, बहना)। [अर्णः = ग्रीक ergos (झरना, अंकुर); अवेस्ता—arenu, प्रा० उ० जर्मन—ernüst]। निघण्टु में यह नदी का पर्याय है। इसके अन्य अर्थ हैं—नद, बाढ़, लहर, ज्वार। अर्णव = ज्वार युक्त विशाल जलस्थान।

सरस्वती नदी की विशाल, अनन्त और भयावह जलवृद्धि का वर्णन ऋग्वेद के ६।६१।२ तथा ८ में है। मैकडोनल ने सरस्वती को नदी-देवता के रूप में मानते हुए कहा है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वह पहलेपहल वाग्देवी के रूप में आती है। किन्तु इन ऋचाओं को देखने से स्पष्ट होता है कि मधुच्छन्दा ऋषि उन्हें बुद्धि और वाणी के देवता के रूप में देखता है। इसी

मन्त्र में प्रथम दो पाद तो नदी का वर्णन करते हैं किन्तु अन्तिम पाद में उसका दूसरा रूप भी प्रकट है।

प्र चेतयति—प्रकट करती है।√चित्+णिच्। सायण, उव्वट, महीधर आदि सबों का अर्थ एक ही है।

केतुना—√चित्+घञ्=केतु सायण के अनुसार—प्रवाहरूपी कर्म, ग्रिफिथ-प्रकाश, यास्क—कर्म या प्रज्ञा, स्कन्द—गर्जन-कर्म। 'केतु' शब्द दीप्ति, प्रज्ञानचिह्न, पताका आदि के अर्थ में भी प्रयुक्त है। यहाँ उचित अर्थ होगा—अपनी चमक से, दीप्ति से।

'विश्वा धियः' का अर्थ प्रज्ञा (बहुत लोगों के विचार से), कर्म तथा भक्ति भी हुआ है। 'पवित्र विचार' सबसे अच्छा अर्थ है। विराजति=चमकाती है, प्रकाश में लाती है। लेकिन दूसरी भाषाओं की तुलना पर (मू० भा० reg=शासन करना, लातिन-regus. अंग्रेजी—regime, regulation) प्राचीन राज् का अर्थ 'अधिकार रखना' उचित प्रतीत होता है।

अर्थ—अपनी दीप्ति से सरस्वती अपनी विशाल जलवृद्धि प्रकट करती है; वह सभी पवित्र विचारों पर अधिकार भी रखती है। [सरस्वती नदी की अधिष्ठात्री देवी बाढ़ से ऊबे हुए यजमानों और ऋषियों को पवित्र विचार की प्रेरणा देती है]।

स्वरविचार—(१) महः—प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त (फि० १)। (२) अर्णः—√ऋ+(तुट्) असुन्—नित् के कारण आद्युदात्त। (३) सरस्वती—१० वें मन्त्र की तरह (४) प्र—उपसर्ग उदात्त (फि० ८१)। (५) चेतयति—तिङ् निघात (८।१।२८)। (६) केतुना—प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त 'केतु' शब्द। (७) धियः—धी+जस्—प्रातिपदिकस्वर धि के इ को उदात्त (इयङादेश से इय्)। (८) विश्वाः—√विश्+क्वन्। नित् आद्युदात्त। (९) वि—उपसर्ग उदात्त। (१०) राजति—तिङ् निघात।

षष्ठ वर्ग समाप्त।

सूक्त—४

इसी सूक्त के साथ द्वितीय अनुवाक आरम्भ होता है जो सातवें सूक्त तक चलता है। प्रस्तुत सूक्त में उसके दो वर्ग हैं, ७ तथा ८। सूक्त के देवता इन्द्र हैं जिनके विषय में पिछले सूक्त में पर्याप्त सूचना दी जा चुकी है। वैसे इन्द्र के पूरे सूक्तों में प्रथम आने का इसी सूक्त को श्रेय है। अथर्ववेद (२०।६८) में यह पूरा सूक्त ही उद्धृत है। यह तीन तृचों तथा एक समापन-मन्त्र के रूप में विभक्त है—कुल १० ऋचाएँ हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र (७।५) के अनुसार यहाँ से आरम्भ करके छह सूक्तों का (४–९)

विनियोग अभिप्लव षडह नामक याग में होता है। ऐतरेय आरण्यक (५।२।५) में शौनक ने कहा है कि इनमें प्रथम तीन सूक्त महाव्रत-याग में निष्केवल्य शस्त्र में पढ़े जाते हैं। 'सुरूपकृत्नु' से आरम्भ करके तीन ऋचायें चौबीसवें दिन माध्यन्दिन सवन में स्तोत्र के रूप में गायी जाती हैं, जो वैकल्पिक है (आश्व० श्रौ० ७।४)। आश्व० (५।१८) के अनुसार अग्निष्टोम के वैश्वदेव शस्त्र में प्रथम ऋचा अतिरिक्त रूप में (धाय्या) पढ़ी जाती है।

मन्त्र—१

यहाँ से आरम्भ करके तृच का उद्धरण अथर्ववेद (२०।५७।१–३) में तथा सामवेद (२।४३७–९) में दिया गया है। इस अकेले मंत्र की सत्ता सामवेद (१।१६०) में भी है।

कुछ शब्दों को छोड़कर पूरे मंत्र की सरलता स्पष्ट है। इन्द्र का वाचनिक उद्देश न होने पर भी उन्हीं के विषय में कहा गया है कि हम उन्हें रक्षा के लिए प्रतिदिन बुला रहे हैं। वे 'सुरूपकृत्नु' हैं, सुन्दर-रूपवाले कर्मों के संपादक हैं (सायण)। इस प्रसंग में एक तुलना की जा रही है। हमारा आह्वान ठीक उसी तरह का है जैसा दोहन के लिए, दूध देनेवाली किसी अच्छी गाय का आह्वान होता है (सुदुघामिव गोदुहे)।

'सुरूपकृत्नु' की व्युत्पत्ति सायण ने 'सुरूप + √कृ + क्नु' ऐसी दी है, जिसमें वैदिक व्यत्यय से तकार का आगम है। यद्यपि यह शब्द ऋग्वेद में केवल यहीं आया है तथापि 'त्नु' से अन्त होने वाले (कर्त्ता के अर्थ में) शब्द कई आते हैं—दर्त्नु (तोड़ने वाला, फाड़ने वाला) 'हत्नु (मारनेवाला)। ह्विट्वे (सं० ग्रामर, ११९६) तथा मैकडोनल (वे० ग्रा०, १५१) ऐसे शब्दों की पूरी सूची देते हैं। सायण, वे० मा०, स्कन्द, ग्रिफिथ तथा मैकडोनल इस शब्द का अर्थ 'सुन्दर कर्मों के सम्पादक' देते हैं। ग्रासमैन भी इनसे पृथक् नहीं हैं—सुन्दर कार्यों को सम्पन्न करने का ज्ञाता। लुडविग ने 'सुन्दर रूपों (आकारों) का निर्माता' तथा गेल्डनरने 'अपने अच्छे रूपों को धारण करनेवाला' (व्याख्या—इन्द्र अपने सर्वोत्तम रूपों का प्रदर्शन करते हैं) अर्थ किया है। वास्तव में इन्द्र के रूपों का उल्लेख ऋग्वेद में बहुधा प्राप्त होता है, उदाहरणार्थ—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

(ऋ० ७।४७।१८)।

[इन्द्र प्रत्येक रूप के उपयुक्त हो गये हैं, उनका यही सच्चा रूप पुनः पुनः ज्ञातव्य है। अपनी रहस्यात्मक शक्ति के कारण इन्द्र अनेक रूप धारण करते हैं; दस सौ घोड़े इनके लिए जोते गये हैं।] इसी तरह ३।५३।८ में भी 'मघवा अनेक रूप धारण करते हैं' कहा गया है।

ऋग्वेद के इसी प्रमाण के आधार पर 'सुरूपकृत्नु' का अर्थ 'सुन्दर रूपों को धारण करने वाला' '......का निर्माण करने वाला' अर्थ उपयुक्त लगता है।

'ऊतये'—ऊति से चतुर्थी एकवचन। ऊति = √अव् + क्तिन् (निपातन से सिद्धि)। इसी धातु से अवस् भी बना है। दोनों शब्दों का अर्थ रक्षा ही है। इन्द्र वीरकार्यों के संपादक हैं अतः रक्षा के लिए उनका आवाहन स्वाभाविक है।

दूसरे पाद में उपमा है। सायण ने 'गोदुहे' का अर्थ 'गोदोहन करनेवाले के लिए' रख कर गोदुह् (= गोधुक्) को कर्ता के अर्थ में लिया है। जिस प्रकार गौ दूहनेवाला (गोधुक्) व्यक्ति 'सुदुघा' (दूधवाली अच्छी गाय) को बुलाता है उसी तरह हम इन्द्र को बुलाते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में एक तो चतुर्थी विभक्ति की पुष्टि नहीं हो पाती है, दूसरे 'ऊतये' की तरह 'गोदुहे' की समानान्तरता से अर्थ नहीं हो पाता है। प्रसंग में तो 'गोदुहे' कर्तृवाचक (nomen agentis) की जगह भाववाचक (nomen actionis) ही अधिक उपयुक्त होता है—गोदोहन के लिए गाय को बुलाना = रक्षा के लिए इन्द्र को बुलाना।

ऋग्वेद की परम्परा इसके विपरीत है। सायण के पक्ष में ही, कर्तृवाचक अर्थ में 'गोदुह्' शब्द आया है। गेल्डनर सायण का अर्थ मानते हुए कहते हैं कि दो अर्थ संभव हैं—दूध दूहनेवाला जिस तरह गाय को बुलाता है या, दूध दूहने के लिए जिस तरह गाय को बुलाते हैं। दोनों विचार मिल गये हैं जिससे यह स्थिति आ गयी है। भाषाविज्ञान में द्रुतगामी विचारों के मिश्रण से उत्पन्न वाक्यों की अव्याकृति मानी जाती है—वही बात यहाँ है।

'द्यविद्यवि' दिवे दिवे की तरह द्विरुक्त समास है। मैकडोनल ने इन्हें Iterative compound कहा है जिसमें प्रथम पद उदात्त स्वर की रक्षा करता है। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, आदि सभी शब्दों की द्विरुक्ति हो सकती है—गृहेगृहे, अङ्गादङ्गात्, अग्निमग्निम्, उत्तरमुत्तरम्, त्वंत्वम्, पञ्चपञ्च यथायथा, प्रप्र, पिबपिब (द्रष्टव्य—VGS, पृ० २८१–८२)।

अर्थ—जिस तरह दूहने के लिये लोग अच्छी तरह दूध देनेवाली गाय को बुलाते हैं उसी तरह सुन्दर रूपों को निर्मित करनेवाले (इन्द्र) को हमलोग अपनी रक्षा के लिए प्रतिदिन बुलाते हैं।

स्वरविचार—(१) सुरूपऽकृत्नुम्—'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त। (२) ऊतये—अव् + क्तिन् = ऊति। उदात्त के रूप में निपातन (३।३।९७)। (३) सुदुघाम्ऽइव—इव के साथ समास, विभक्ति लोप नहीं होना तथा पूर्वपद का प्रकृतिस्वर रहना। पूर्वपद में सु + √दुह् + कप् (दुहः कब्घश्च ३।२।७०)। घकारादेश भी इसी से हो गया। 'दुघ' बना कप् को तथा बाद में लगनेवाले टाप् को पित् होने से अनुदात्त स्वर। धातु का स्वर उकार उदात्त रहा। सु के साथ गतिसमास करने से 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद प्रकृति स्वर होगा—सुदुघा में दु का उकार उदात्त बचा। (४) गोऽदुहे—गां दोग्धि, गोधुक्—कारक के बाद कृदन्त शब्द (√दुह् + क्विप्) आया है अतः पूर्वोक्त सूत्र से उत्तरपद का प्रकृति स्वर रहा। उत्तरपद में क्विप् पित् है इसलिए धातु का स्वर ही रहेगा। उकार उदात्त।

(५) जुहूमसि—पादादि में क्रियापद का निघात नहीं होता, स्वर रहेगा। √हु + लट् (मस् > मसि)। प्रत्ययस्वर से म का अ उदात्त हुआ। अन्तिम तत्त्व का स्वर ही बलवान् होता है (सति शिष्टस्वर बलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः)। (६) द्यविऽद्यवि द्यो शब्द प्रातिपदिक होने से उदात्त (= अन्तोदात्त) है। सप्तमी में 'ङि' प्रत्यय सुप् होने से अनुदात्त हुआ। 'नित्यवीप्सयोः' से द्यवि की द्विरुक्ति होकर पर-शब्द को आम्रेडित होने के कारण पूर्णतः अनुदात्त। अन्ततः प्रथम द्यवि में ओ के स्थान में आये हुए अव् के अ को उदात्त स्वर हुआ है।

मन्त्र—२

यहाँ इन्द्र को 'सोमपा' कह कर सम्बोधित किया जा रहा है। यजमानों के तीनों सवनों की ओर वे आवें, ऐसी प्रार्थना भी की जा रही है। हे सोम पीनेवाले इन्द्र ! आप सोमरस पी लें (सोमस्य पिब)। धनवान् व्यक्ति का (रेवतः) आनन्द (मदः) सचमुच गोप्रद होता है। इन्द्र ही यहाँ रेवान् या धनवान् हैं, सोम पीकर आनन्द में ये भर जायँगे जिससे यजमानों को गायें प्रदान करेंगे।

सवना = सवनानि उप अर्थात् तीनों सवनों के निकट। 'आ गहि' √गम् से बनता है। इसकी सिद्धि सायण के भाष्य में देखनी चाहिए। 'पिब' (√पा) के सदृश लातिन में bibo (पीना) क्रिया है। रेवत् में रयि (= धन) + मतुप् है। 'रयेर्मतौ बहुलम्' (वार्तिक) से य् का संप्रसारण यहाँ बहुलरूप से होता है। संप्रसारण होने पर र इ वत् = रेवत्। संप्रसारण न होने पर 'रयिमान्'। (द्रष्टव्य, वैदिकी प्रक्रिया, १२३)। रयि का अर्थ

धन या दान है। यह √रा (दान करना) से बनता है जिसके समानान्तर लातिन में res (दान) है। अतः 'रेवतः' का अर्थ 'दानी का, धनी का' करना चाहिए। यह इन्द्र का बोधक है। गेल्डनर ने अन्तिम पाद का अर्थ किया है—यह सचमुच धनवान् का गोप्रद हर्ष है। किन्तु सभी दृष्टिकोणों से सायण का अर्थ ही ठीक है।

स्वरविचार—(१) उप—निपात होने से आद्युदात्त है। (२) नः—अस्मद् का यह आदेश अनुदात्त होता है—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, बहुवचनस्य वस्नसौ (८।१।१८, २१)। (३) सवना—√सु + ल्युट् (३।३।११७)। लित् होने से (लिति ६।१।१९३) प्रत्यय के पूर्व के अकार को उदात्त हो गया। (४) आ—उपसर्ग आद्युदात्त। (फि० ८१)। (५) गहि—तिङन्त है अतः 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात। (६) सोमस्य—√सु + मन् (उ० १।१३७)। नित् होने के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त। (७) सोमऽपाः—आमन्त्रित है, इसलिए 'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) से आष्टमिक निघात। (८) पिब—तिङ् का निघात।

(९) गोऽदाः—गो + √दा + विच्। कृदन्त के साथ उपपद का समास (गां ददातीति) होने से कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर अर्थात् आकार उदात्त। (१०) इत्—निपात के कारण आद्युदात्त (फि० ८०)। (११) रेवतः—'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' (६।१।१७६) से मतुप का उदात्त—व का अ उदात्त हुआ। (१२) मदः—√मद् + अप्। पित् के कारण प्रत्यय स्वर न होकर धातुस्वर।

मन्त्र—२

इसके अर्थ में सायण ने अध्याहार का प्रयोग किया है और विकल्पार्थ भी दिये हैं। हे इन्द्र, सोमपान के बाद आपके अत्यन्त अन्तरंग में रहनेवाले सुन्दर बुद्धिवाले व्यक्तियों में रहकर हम आपको जान सकें (या, सद्बुद्धि से सम्पन्न होने वाले कर्मानुष्ठान के विषयों की प्राप्ति के लिए अर्थात् बुद्धिलाभ के लिए हम आप का स्मरण करें)। आप भी हमें छोड़कर किसी दूसरे के समक्ष अपना रूप प्रकट न करें, प्रत्युत हमारे पास ही आवें। स्पष्ट है कि अर्थ में काफी खींचतान करनी पड़ी है।

छान्दस दृष्टि से दीर्घ 'अथ' का अर्थ निश्चित रूप से पूर्वोक्त 'सोमपान के पश्चात्' है। 'अन्तम' (अन्तिक = निकटतम) शब्द अन्त (= निकट) से निष्पन्न होता है। इसी की तरह परम, मध्यम इत्यादि शब्द बने हैं। अन्तम के समानान्तर लातिन में intimus तथा अन्त के समानान्तर ग्रीक anta

तथा लातिन ante प्राप्य हैं। अंग्रेजी में इन्हीं से intimate, anterior आदि शब्द बने हैं। अन्तम का अर्थ इसलिए निकटतम, अन्तरंग है। इसका सम्बन्ध 'सुमतीनाम्' से है जिसका अर्थ सदिच्छा, सद्भावना, दया, कृपा अथवा स्तुति है। यास्क ने इसकी व्याख्या 'कल्याणी बुद्धिः' कहकर की है। स्कन्दस्वामी के अनुसार सुमति का अर्थ 'इन्द्र की भक्ति विषयक बुद्धि से युक्त' अथवा 'अत्यन्तोत्कृष्ट ध्यान' है। वेंकटमाधव ने कहा है—सर्वेनाभ्युदयेनायं युक्तोऽस्त्विति मतिः सुमतिः। पाश्चात्य विद्वानों को भी यही अर्थ ठीक लगता है यास्क से भी पोषित है। अतः सुमति का अर्थ शुभकामना या कृपाभाव रखना ठीक है। हे इन्द्र, हम आपके सर्वाधिक अन्तरंग कृपाभाव का ज्ञान रखें।

'विद्याम' = जानें। √विद् = जानना। [तुल०—ग्रीक oida, ऐं० सै० ic wat, we witan, जर्मन—wissen, लातिन vidēre, अंग्रेजी wit, wat, ग्रीक में idein भी प्राप्त है जो aorist में देखने के अर्थ में हैं।]

छन्द की दृष्टि से अन्तमान अम् तथा विदिआम पढ़ना होगा।

'मा नो अति ख्यः'==हमें अतिक्रान्त (उल्लंघन) करके अपने को मत दिखाओ। मा = मत। अति उपसर्ग 'ख्यः' के साथ सम्बद्ध है। ख्यः √ख्या (देखना) से लुङ् (सिप्) का रूप है, 'मा' के प्रयोग के कारण अट् का लोप हो गया है अन्यथा 'अख्यः' रूप होता। अति का अर्थ 'द्वारा, पार, आरपार' आदि है तथा गत्यर्थक धातुओं के साथ यह आता है। [लातिन— et, ग्रीक eti], । 'अतिख्यः' का अर्थ होगा—हमें बिना देखे ही हुए पार मत हो जाओ (Do not overlook us) 'आ गहि' पूर्ववत् है।

अर्थ—(हे इन्द्र), अब हम आपके निकटतम कृपाभाव का ज्ञान रखें। (अपनी कृपा-) दृष्टि से हमें वंचित न करें; आप अवश्य आवें।

स्वरविचार—(१) अथ—निपात होने से आद्युदात्त (फि० ८०)। (२) ते—'तेमयावेकवचनस्य' (८।१।२२) से युष्मद् का ते-आदेश तथा 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) से अनुदात्त। (३) अन्तमानाम्—अन्त + ठन् (५।२।११५) = अन्तिक (आद्युदात्त—नित्)। अन्तिक + तमप् (अनुदात्त—पित्) = अन्तम (आद्युदात्त)। षष्ठी ब० व०। (४) विद्याम—पादादि में होने से निघात नहीं हुआ। तब √विद् + लिङ् = विद् + यासुट् + मस्। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' (३।४।१०३) से या का आ उदात्त। (५) सुऽमतीनाम्—सु + √मन् + क्तिन्। नित् के कारण 'मति' शब्द में आद्युदात्त की संभावना थी किन्तु 'पचमनविदभूवीरा उदात्तः' से इकार ही उदात्त हो गया। सायण के अनुसार बहुव्रीहि समास (शोभना मतिर्येषां ते सुमतयः) होने पर भी 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से उत्तरपद

का प्रकृतिस्वर अर्थात् सुमति शब्द अन्तोदात्त हो गया। तथापि इसमें 'नाम्' (नुट् + आम्) प्रत्यय लगाने पर 'नामन्यतरस्याम्' (६।१।१७७) से नाम् के आ को ही उदात्त हो गया—यही बचा।

(६) मा—निपात उदात्त। (७) नः—पूर्व मंत्र की तरह अनुदात्त। (८) अति—निपात या उपसर्ग के कारण आद्युदात्त। (९) ख्यः—तिङ निघात। (१०–११) आ। गहि—पूर्व मंत्र की तरह।

मन्त्र—४

यह ऋचा स्पष्टतः होता के द्वारा यजमान को सम्बोधित है, जैसा कि सायण ने स्वीकार किया है। किन्तु स्कन्दस्वामी के अनुसार ऋषि अपनी अन्तरात्मा अर्थात् अपने आप को सम्बोधित करते हैं। वे० मा० ने स्तुति करनेवाले को सम्बोधित कहा है। अस्तु, सामान्य अर्थ है कि हे यजमान, इन्द्र के निकट जाकर पूछ आओ कि तुम्हारा यह पुरोहित (=मैं) योग्य है या नहीं; मैं मेधावी पुरोहित हूँ। जो इन्द्र तुम्हारे मित्रों को (सखिभ्यः) पूर्ण रूप से धन पुत्रादि वर देते हैं उन्हीं के पास जाओ (परेहि)। इन्द्र 'विप्र' (मेधावी) तथा 'अस्तृत' (अहिंसित) हैं—उनसे मेरे विपश्चित् (मेधावी, योग्य) होने के विषय में पूछ आओ।

'परेहि' परा + इहि से बना है। परा का प्रयोग पार्थक्य, दूरी आदि के अर्थ में होता है सामीप्य के अर्थ में नहीं। [तुलनीय—अवेस्ता para (दूर, आगे); ग्रीक—para; ला० per; जर्मन ver (vergehen मरना, नष्ट होना); अंग्रेजी—for (for-bear=पृथक् रहना)]। यहाँ ठीक अर्थ होगा—आगे जाओ। इहि—$\sqrt{}$इ + लोट् (सिप् > हि)। मध्यम पुरुष एकवचन।

'विप्रम्' का अर्थ भारतीय टीकाओं में निघण्टु (३।१५) का अनुसरण करके मेधावी दिया गया है किन्तु यह वेग से सम्बद्ध है जो $\sqrt{}$विज् (=तेज चलना) से निष्पन्न है। विप्र का विशेषण के रूप में अर्थ वेगवान्, तेज, बली अर्थ करना ठीक है। [तुलनीय—लातिन—vigor, vigere, (दृढी भवन); अंग्रेजी—vigorous]।

'अस्तृतम्' का अर्थ सायण ने $\sqrt{}$स्तृ ('हिंसा) से निष्पन्न मान कर 'अहिंसित' रखा है जो वे० मा० का भी अर्थ है। स्कन्दस्वामी ने $\sqrt{}$स्तृ (आच्छादन) से निष्पन्न मानते हुए 'अनाच्छादित या सभी वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाला' अर्थ रखा है। इनके अतिरिक्त $\sqrt{}$स्तृ का अर्थ पराजय भी है जिससे अजेय, दुर्जय (invincible) अर्थ सम्भव है। इन्द्र की वीरता के अभिव्यंजन के लिए यही अर्थ सर्वाधिक उपयुक्त भी लगता है।

'पृच्छ' को संहितापाठ में दीर्घ कर दिया गया है। संस्कृत में यह द्विकर्मक धातु है। यहाँ यह उसी रूप में दो कर्म ले रहा है—(१) इन्द्रम् और (२) विपश्चितम्। इन्द्र से हमारे विपश्चित् होने के विषय में पूछो। मूल धातु 'प्रच्छ्' है जिसके समानान्तर अवेस्ता में fras, ग्रीक में prop-os, लातिन में posco, porc-sco तथा Prec-or, उच्च जर्मन (प्रा०) में frah-en, जर्मन में fragen तथा इन्हीं के आधार पर मूल भारोपीय में prk है।

विपश्चित् में दो शब्द हैं (जैसा कि पदपाठ में भी दिखाया गया है)—विपस् (=बुद्धि, प्रेरणा) + √चित् (जानना)। अतः बुद्धि पहचानने-वाला > विद्वान्०, मेधावी, निष्णात आदि अर्थ होते हैं। निघण्टु में (३।१५) यह मेधावी का पर्याय है। यहाँ यह शब्द होता का ही बोधक है—होता अपने मेधावित्व या योग्यता के विषय में इन्द्र से ही पूछ लेने को कहता है। अच्छा हो कि 'पृच्छ' का मुख्य कर्म इन्द्र को मानें—इन्द्र के विषय में किसी मेधावी को पूछो।

अन्तिम पाद में इन्द्र के साथ यजमान के मधुर सम्बन्ध का वर्णन है। सायण ने अर्थ के साथ कुछ खींचतान की है। वे 'आ' को समन्तात् के अर्थ में रखकर 'प्रयच्छति' क्रिया का अध्याहार करते हैं जिससे अर्थ होता है—जो तुम्हारे मित्रों को अच्छी तरह वर देते हैं। यः = इन्द्र, ते = यजमान का। गेल्डनर ने इस वाक्य विन्यास को और भी क्लिष्ट कर दिया है। 'यः' से विपश्चित् और 'ते' से इन्द्र का बोध करते हुए वे देते हैं—इन्द्र बतलावेंगे कि उन्हें कौन-से ऋषि सर्वाधिक प्रिय हैं, वे निश्चित रूप से मधुच्छन्दस् का ही नाम ले लेंगे।

सरलतम मार्ग यह है—'वरम्' और 'आ' का एक साथ प्रयोग तुलना की अवस्था में होता है, 'उसकी अपेक्षा अच्छा या प्रिय'। 'सखिभ्यः' पञ्चमी विभक्ति में विभक्त पदार्थ का द्योतक है। य इन्द्र ते सर्वेभ्यः सखिभ्यः आवरम् = जो इन्द्र तुम्हारे सभी मित्रों से भी अधिक अच्छे या प्रिय हैं। (मणिलाल पटेल)। इस अर्थ की पुष्टि ऋग्वेद (९।४५।२) के 'देवान्स-खिभ्य आ वरम्' (सभी मित्रों की अपेक्षा देवताओं को अधिक प्रिय) से होती है।

अर्थ—हे यजमान, किसी मेधावी से (विपश्चितम्) उन बलवान् तथा अपराजेय इन्द्र के विषय में छो जो तुम्हें अपने सभी मित्रों की अपेक्षा अधिक प्रिय हैं।

स्वरविचार—(१) परा—उपसर्ग आद्युदात्त। (२) इहि—तिङ्निघात। (३) विग्रम्—वृषादिगण में होने से आद्युदात्त। (४) अस्तृतम्—पूर्वपद में

अव्यय का प्रकृतिस्वर। (५) इन्द्रम्—√इद् + रन् निपातन)। आद्युदात्त—नित्। (६) पृच्छ—तिङ्निघात। (७) विपःऽचितम्—विपस् + √चित् + क्विप्। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से कृदन्त शब्द से बने उत्तरपद का प्रकृति स्वर। उत्तरपद में धातु के स्वर की रक्षा, अतः इ उदात्त। (८) यः—सर्वनाम का प्रातिपदिक स्वर—उदात्त। (९) ते—पूर्वमंत्र की तरह। (१०) सखिभ्यः—समान (स) + √ख्या + इण्। समाने ख्यश्चोदात्तः (उ० ४।५७६) से उपपद का उदात्त। सखि आद्युदात्त। (११) आ—निपात उदात्त। (१२) वरम्—√वृ + अप्। प्रत्यय के पित् होने से धातु-स्वर की रक्षा।

मन्त्र—५

इस ऋचा पर पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत अधिक विवेचना प्रस्तुत की है जिसका संकलन मैक्समूलर ने किया है (SBE, vol. 32, p. 39)। पाँचवें तथा छठे मंत्र युग्मक के रूप में हैं जिनमें कहा गया है कि चाहे निन्दक लोग हमें इन्द्र का पक्षपाती कहें (मंत्र ५), चाहे मित्रलोग हमें इसके लिए भाग्यवान् मानें (मं० ६)—हम केवल इन्द्र की ही भक्ति करेंगे [तुल०—निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, भर्तृहरि नीतिशतक]। भारतीय टीकाकारों ने इस पर ध्यान नहीं दिया है। दोनों ऋचाओं का आरम्भ 'उत' से होता है जो दोनों स्थितियों का बोधक है—चाहे यह हो……चाहे वह।

सायण ने विचित्र अन्वय किया है—नः ब्रुवन्तु = हमारे सम्बन्धी ऋत्विज इन्द्र की स्तुति करें। उक्त काल्पनिक शब्द 'ऋत्विजः' का विशेषण भी है—इन्द्रे दुवः दधानाः इत् = 'इन्द्र की परिचर्या ही करते हुए'। 'निदः' को सम्बोधन मान लिया है आद्युदात्त की सिद्धि के लिए (क्योंकि सम्बोधन में तो निघात हो जायगा) कठिन तथा अनपेक्षित प्रयास भी किया है—आमन्त्रितत्वेऽपि स्ववाक्यगतपदादपरत्वात् न निघात इत्याद्युदात्तत्वमेव। हे निन्दक गण! निः आरत = यहाँ से भागो, अन्यतश्चित् = दूसरी जगहों से भी भागो। 'उत' का सम्बन्ध 'नः ब्रुवन्तु' और 'निदः निः आरत' को जोड़ने के लिए माना है।

किन्तु सीधे-सादे अन्वय की खींचतान इन लोगों ने की है। उत = चाहे; इसका सम्बन्ध दूसरे मन्त्र के 'उत' से है। नः निदः ब्रुवन्तु = 'हमारे निन्दक-गण कहें। निदः = √निद् + क्विप् = निन्दक, शत्रु, प्रतिपक्षी। बाद के दोनों पाद 'ब्रुवन्तु' के कर्म हैं। हमारे शत्रुगण कह सकते हैं कि तुम लोग अन्य सभी देवताओं से पृथक् हो गये हो (अन्यतः चित् निः आरत)।

'पृच्छ' को संहितापाठ में दीर्घ कर दिया गया है। संस्कृत में यह द्विकर्मक धातु है। यहाँ यह उसी रूप में दो कर्म ले रहा है—(१) इन्द्रम् और (२) विपश्चितम्। इन्द्र से हमारे विपश्चित् होने के विषय में पूछो। मूल धातु 'प्रच्छ्' है जिसके समानान्तर अवेस्ता में fras, ग्रीक में prop-os, लातिन में posco, porc-sco तथा Prec-or, उच्च जर्मन (प्रा०) में frah-en, जर्मन में fragen तथा इन्हीं के आधार पर मूल भारोपीय में prk है।

विपश्चित् में दो शब्द हैं (जैसा कि पदपाठ में भी दिखाया गया है)—विपस् (= बुद्धि, प्रेरणा) + √चित् (जानना)। अतः बुद्धि पहचानने-वाला > विद्वान्०, मेधावी, निष्णात आदि अर्थ होते हैं। निघण्टु में (३।१५) यह मेधावी का पर्याय है। यहाँ यह शब्द होता का ही बोधक है—होता अपने मेधावित्व या योग्यता के विषय में इन्द्र से ही पूछ लेने को कहता है। अच्छा हो कि 'पृच्छ' का मुख्य कर्म इन्द्र को मानें—इन्द्र के विषय में किसी मेधावी को पूछो।

अन्तिम पाद में इन्द्र के साथ यजमान के मधुर सम्बन्ध का वर्णन है। सायण ने अर्थ के साथ कुछ खींचतान की है। वे 'आ' को समन्तात् के अर्थ में रखकर 'प्रयच्छति' क्रिया का अध्याहार करते हैं जिससे अर्थ होता है—जो तुम्हारे मित्रों को अच्छी तरह वर देते हैं। यः = इन्द्र, ते = यजमान का। गेल्डनर ने इस वाक्य विन्यास को और भी क्लिष्ट कर दिया है। 'यः' से विपश्चित् और 'ते' से इन्द्र का बोध करते हुए वे देते हैं—इन्द्र बतलावेंगे कि उन्हें कौन-से ऋषि सर्वाधिक प्रिय हैं, वे निश्चित रूप से मधुच्छन्दस् का ही नाम ले लेंगे।

सरलतम मार्ग यह है—'वरम्' और 'आ' का एक साथ प्रयोग तुलना की अवस्था में होता है, 'उसकी अपेक्षा अच्छा या प्रिय'। 'सखिभ्यः' पञ्चमी विभक्ति में विभक्त पदार्थ का द्योतक है। य इन्द्र ते सर्वेभ्यः सखिभ्यः आवरम् = जो इन्द्र तुम्हारे सभी मित्रों से भी अधिक अच्छे या प्रिय हैं। (मणिलाल पटेल)। इस अर्थ की पुष्टि ऋग्वेद (९।४५।२) के 'देवान्स-खिभ्य आ वरम्' (सभी मित्रों की अपेक्षा देवताओं को अधिक प्रिय) से होती है।

अर्थ—हे यजमान, किसी मेधावी से (विपश्चितम्) उन बलवान् तथा अपराजेय इन्द्र के विषय में छो जो तुम्हें अपने सभी मित्रों की अपेक्षा अधिक प्रिय हैं।

स्वरविचार—(१) परा—उपसर्ग आद्युदात्त। (२) इहि—तिङ्निघात। (३) विप्रम्—वृषादिगण में होने से आद्युदात्त। (४) अस्तृतम्—पूर्वपद में

अव्यय का प्रकृतिस्वर। (५) इन्द्रम्—√इद् + रन् निपातन)। आद्युदात्त—नित्। (६) पृच्छ—तिङ्निघात। (७) विपःऽचितम्—विपस् + √चित् + क्विप्। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से कृदन्त शब्द से बने उत्तरपद का प्रकृति स्वर। उत्तरपद में धातु के स्वर की रक्षा, अतः इ उदात्त। (८) यः—सर्वनाम का प्रातिपदिक स्वर—उदात्त। (९) ते—पूर्वमंत्र की तरह। (१०) सखिभ्यः—समान (स) + √ख्या + इण्। समाने ख्यश्चोदात्तः (उ० ४।५७६) से उपपद का उदात्त। सखि आद्युदात्त। (११) आ—निपात उदात्त। (१२) वरम्—√वृ + अप्। प्रत्यय के पित् होने से धातु-स्वर की रक्षा।

मन्त्र—५

इस ऋचा पर पाश्चात्य विद्वानों ने वहुत अधिक विवेचना प्रस्तुत की है जिसका संकलन मैक्समूलर ने किया है (SBE, vol. 32, p. 39)। पाँचवें तथा छठे मंत्र युग्मक के रूप में हैं जिनमें कहा गया है कि चाहे निन्दक लोग हमें इन्द्र का पक्षपाती कहें (मंत्र ५), चाहे मित्र लोग हमें इसके लिए भाग्यवान् मानें (मं० ६)—हम केवल इन्द्र की ही भक्ति करेंगे [तुल०—निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, भर्तृहरि नीतिशतक]। भारतीय टीकाकारों ने इस पर ध्यान नहीं दिया है। दोनों ऋचाओं का आरम्भ 'उत' से होता है जो दोनों स्थितियों का बोधक है—चाहे यह हो······चाहे वह।

सायण ने विचित्र अन्वय किया है—नः ब्रुवन्तु = हमारे सम्बन्धी ऋत्विज इन्द्र की स्तुति करें। उक्त काल्पनिक शब्द 'ऋत्विजः' का विशेषण भी है—इन्द्रे दुवः दधानाः इत् = 'इन्द्र की परिचर्या ही करते हुए'। 'निदः' को सम्बोधन मान लिया है आद्युदात्त की सिद्धि के लिए (क्योंकि सम्बोधन में तो निघात हो जायगा) कठिन तथा अनपेक्षित प्रयास भी किया है—आमन्त्रितत्वेऽपि स्ववाक्यगतपदादपरत्वात् न निघात इत्याद्युदात्तत्वमेव। हे निन्दक गण ! निः आरत = यहाँ से भागो, अन्यतश्चित् = दूसरी जगहों से भी भागो। 'उत' का सम्बन्ध 'नः ब्रुवन्तु' और 'निदः निः आरत' को जोड़ने के लिए माना है।

किन्तु सीधे-सादे अन्वय की खींचतान इन लोगों ने की है। उत = चाहे; इसका सम्बन्ध दूसरे मन्त्र के 'उत' से है। नः निदः ब्रुवन्तु = 'हमारे निन्दक-गण कहें। निदः = √निद् + क्विप् = निन्दक, शत्रु, प्रतिपक्षी। बाद के दोनों पाद 'ब्रुवन्तु' के कर्म हैं। हमारे शत्रुगण कह सकते हैं कि तुम लोग अन्य सभी देवताओं से पृथक् हो गये हो (अन्यतः चित् निः आरत)।

आरत = √ऋ (जाना) + लुङ् (थ > त)। निः आरत = हट गये हो, पृथक् हो गये हो।

यहीं नहीं, वे निन्दक यह भी कह सकते हैं कि तुमलोग केवल इन्द्र में (इन्द्रे इत्) पक्षपात की भावना (दुवः) धारण किये हुए हो (दधानाः)। 'दुवः' का अर्थ है उत्साह, पक्ष, प्राथमिकता, पूज्यभाव, भक्तिभाव आदि। यह नपुंसक दुवस्-शब्द है।

अर्थ—भले ही हमारे निन्दकगण कह लें, 'केवल इन्द्र में भक्तिभाव रखते हुए तुम लोग अन्य सभी ओर (देवताओं) से हाथ खींच चुके हो…'

स्वरविचार—(१) उत—निपात होने पर भी 'एवमादीनामन्तः' (फि० ८२) से अन्तोदात्त। (२) ब्रुवन्तु—तिङ्निघात (८।१।२८)। (३) नः—इसी सूक्त के द्वितीय मंत्र में देखें। (४) निदः—√निद् + क्विप्। पित् के कारण प्रत्ययस्वर नहीं होगा, अतः धातुस्थ इकार का उदात्त हुआ है। (५) निः—उपसर्ग उदात्त। (६) अन्यतः—अन्य + तसिल्। 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय के पूर्व का उदात्त होना (७) चित्—चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४)। (८) आरत—तिङ्निघात। (९) दधानाः—√धा + शानच्। चित् प्रत्यय के कारण अन्तोदात्त की प्राप्ति है पर उसे, बाद में आनेवाला सूत्र 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१।१८९), रोककर आद्युदात्त कर देता है। (१०) इन्द्रे—पूर्वमन्त्र की तरह रन् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त। (११) इत्—निपात उदात्त। (१२) दुवः—'नब्विषय-स्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात्त।

सप्तमवर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

इस मंत्र में उपर्युक्त मंत्र के बाद के दूसरे पक्ष का अनावरण हो रहा है। किन्तु सायण को अध्याहार करके अर्थ करना पड़ा है। 'उत' का सम्बन्ध यहाँ उन्होंने अरि के साथ कर दिया है। हे शत्रुनाशक इन्द्र (दस्म), (आपकी कृपा से) शत्रुगण भी (अरिः उत) हमें सुभग कहते हैं, धनी कहते हैं; [हमारे मित्रों का (कृष्टयः) तो कहना ही क्या? वे तो कहेंगे ही।] हम इन्द्र के प्रसाद से प्राप्त सुख का उपभोग करें, उसी सुख में रहें।

पर वास्तव में यहाँ मित्रों का ही उल्लेख है। 'अरिः' जो वचनव्यत्यय का उदाहरण है (अरयः), वस्तुतः अच्छे अर्थ में है—पवित्र व्यक्ति, सज्जन। यहाँ यजमान का बोधक है। अरि शब्द पर ग्रासमैन, गेल्डनर आदि सभी विद्वानों ने विवेचना प्रस्तुत की है। (द्रष्टव्य, Indian Linguistics. vol III, P. 149-56 में चट्टोपाध्याय का लेख) 'अरिः' तथा 'कृष्टयः' सहकारी

शब्द के रूप में आये हैं—सज्जन तथा दूसरे लोग भी। नः सुभगान् वोचेयुः= हमें सुभग (भाग्यवान्) कहें।

सुभगान् + अरिः = न् का रु (दीर्घादटि समानपादे), रु का य् (भोभगो०), य् का लोप (लोपः शाकल्यस्य), आकार का अनुनासिक होना (आतोऽहि नित्यम्) = सुभगाँ अरिः।

'दस्म' की व्युत्पत्ति सायण ने 'दसु उपक्षये' से मानी है। 'गेल्डनर इसे √दंस् से निष्पन्न मानते हैं जिससे अन्य शब्द निकले हैं—दंसन, दंसना, दंसस्, दंसिष्ठ, दंसु, दस्मत्, दस्र। अवेस्ता में दख्र, दस्वा, दनूर (दस्र), दनुहह (दंसस्), दंहिश्त (दंसिष्ठ) आदि रूप हैं। √दस् का मूलार्थ शिक्षा देना, दिखाना आदि है इसीसे गेल्डनर ने 'दस्म = स्वामिन् !' माना है। ग्रासमैन दस्र से मिलाते हुए 'आश्चर्योत्पादक' अर्थ लेते हैं।

'कृष्टयः' कृष्टि से बना है (√कृष् = जोतना, खेती करना)। यह सामान्य जनों का वाचक है। इसके अर्थ का विकास निम्न रूप से हुआ है—कृष्टि = कर्षण > कृषकों का आवास > सामान्य जनता।

'शर्म' का अर्थ रक्षा, शरण आदि है। [तुलनीय—ऐं० सै० तथा जर्मन—helm, लिथुआनियन szatmas = शिरस्त्राण।] सायण ने 'सुख' अर्थ किया है। किन्तु 'रक्षा' अर्थ इन्द्र के माहात्म्य के अनुरूप तो है ही, व्युत्पत्ति से भी ठीक है।

अर्थ—......अथवा चाहें तो भद्र व्यक्ति और अन्य लोग हमें भाग्यवान् भी कह लें, हे स्वामिन् ! हम केवल इन्द्र की शरण में रहेंगे।

स्वरविचार—(१–२) उत। नः—पूर्वमंत्र की तरह। (३) सुऽभगान्—भगशब्द का पाठ क्रत्वादि गण में हुआ है। इसलिए 'क्रत्वादयश्च' (६।२।११८) से उत्तरपद का आद्युदात्त हो गया है, 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से उत्तरपद का अन्तोदात्त नहीं हो सका। (४) अरिः—अ + √रा + इ—प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (५) वोचेयुः—√वच् (उमागम) + लिङ् (झुस् > झि)। लिङ् में अङ् प्रत्यय—वोच + इय् + झुस्। लिङ् का झुस् लसार्वधातुक होने से अनुदात्त है अतः अङ् प्रत्यय का स्वर ही उदात्त होगा (इय् यासुट् आगम के स्थान में है। अ के साथ इ मिलने पर गुण एकादेश हुआ अतः 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) से एकार ही उदात्त हो गया। (६) दस्म—पद के पश्चात् आने से आमंत्रित का आष्टमिक निघात। (७) कृष्टयः—√कृष् + क्तिच्। 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त कृष्टि शब्द। कृष्टि + जस् (अनुदात्त), गुण और अयादेश।

(८) स्याम्—√अस् + यासुट् + लिङ् (मस्) अ का लोप (श्नसोर-

ल्लोपः)। स् + या + म=स्याम। यासुट् का आकार उदात्त। पादादि में होने से निघात नहीं हुआ। (९) इत्—निपात उदात्त। (१०) इन्द्रस्य—रन् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त। (११) शर्मणि—√शॄ (हिंसा) + मनिन्—नित् के कारण आद्युदात्त 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'

मन्त्र—७

यह मन्त्र यजमान को सम्बोधित तथा इन्द्र के नाम से रहित है। इन्द्र का विशेषण 'आशवे' दिया गया है जिसका अर्थ 'पूरे सोमयाग को व्याप्त करनेवाले इन्द्र के लिए' (सायण) है। द्वितीयान्त शब्द सोम के विशेषण हैं। अर्थ है कि इन्द्र के लिए तीनों सवनों में प्रस्तुत सोम का आहरण करो (लाओ)। यह सोम व्यापक (तीनों सवनों में विद्यमान), यज्ञ की संपत्ति, ऋत्विक्, यजमानादि मनुष्यों को हर्ष प्रदान करनेवाला (नृमादनम्) कर्मों को पूरा करानेवाला (पतयत्) तथा यजमानों को हर्ष देनेवाले इन्द्र का सखा (मन्दयत्सखम्) भी है।

'आ' का सम्बन्ध 'भर' क्रिया से है—आभर=आहर=ले आओ। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (वा०) से 'हर' का 'भर' हो गया है। ईम् का अर्थ है इमं सोमम् (प्रस्तुत सोम को)। आ + ईम् = एम्। उदात्त + अनुदात्त = उदात्त। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः'

'आशु' शब्द जो यहाँ सोम तथा इन्द्र दोनों का विशेषण है, सायण के अनुसार √अश् (व्याप्त करना) से बना है। √अश् + उण् = आशुः अश्नुते व्याप्नोति। किन्तु संस्कृत में आशु अव्यय जिस प्रकार 'क्षिप्र' (quick) के अर्थ में है उसी तरह दूसरी भाषाओं में भी यह क्षिप्र के ही अर्थ में है—ग्रीक ochus (तेज), लातिन—ōc-ior (द्रुततर)। सोम के विशेषण के रूप में इसका अर्थ होगा 'शीघ्र प्रभाव उत्पन्न करनेवाला'। ऋग्वेद में 'आशु' शब्द अश्व (अर्वन्, अत्य, हरि···), रथ, चक्र, पक्षी (पतंग, श्येन), दूत, विजेता, वायु (वात), इन्द्र तथा सोम के विशेषण के रूप में आया है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे उक्त अर्थ में ही लिया है। वैदिक परम्परा पर ध्यान देने से यही अर्थ ठीक भी लगता है।

'यज्ञश्रियम्' = यज्ञ की संपत्ति के रूप में स्थित सोम को। अच्छा है कि इसका अर्थ करें—यज्ञ को श्रीयुक्त करनेवाले, संपन्न करनेवाले, समर्धक। नृमादन=मनुष्यों को हर्षयुक्त करनेवाला, आनन्द देनेवाला। बाह्यचेतना से पृथक् करके अन्तश्चेतना का पूरा आनन्द देना सोमरस का काम है। √मद = हर्ष देना, ग्रीक—madáo लातिन madeō (=बूँद-बूँद करके चूना)।

'पतयत्' का अर्थ सायण ने 'पतयन्तम् अर्थात् कर्मों को सम्पन्न करनेवाला'

दिया है। इस शब्द का विचार वाकरनागेल, ग्रुगमैन, गेल्डनर, ओल्डनवर्ग आदि अनेक विद्वानों ने किया है। √पत् (ग्रीक में pet-e-tai, लातिन में pet-o तथा अंग्रेजी—centripetal केन्द्रगामी) 'उड़ना' के अर्थ में आया है। अधिकांश विद्वान् अनुवर्ती शब्द 'मन्दयत्सखम्' की तुलना में 'पतयत्सखम्' अर्थ मानते हैं। इस कल्पना से स्वर की भी व्याख्या हो जाती है। इस प्रकार के प्रयोग ऋग्वेद में अन्यत्र (५।३२।८, ८।१।२, ८।७४।१० आदि) भी हुए हैं। 'सखम्' उत्तरपद है जिसके पूर्वपद दो हैं—पतयत् और मन्दयत्। अतः 'पतयत्' का अर्थ तेज होते हुए>वेगवृद्धि करते हुए>प्रेरित करते हुए>(मित्रों को) प्रेरित करनेवाले—इस रूप में किया जा सकता है। इसलिए डा० पटेल पतयन्मन्दयत्सखम्—inspiring and cheering to friends यह अर्थ किया है। मन्दयत्सखम्' को सायण ने 'मन्दयति इन्द्रे सखा' कहकर सप्तमी समास (तत्पुरुष) रखा है। स्वर के लिए 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया-सप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (६।२।२) सूत्र से सप्तमी में बने शब्द के पूर्वपद में स्वर की रक्षा हो रही है। मैकडोनल के अनुसार (VGS, 189A) Governing Compound है जिसमें अर्थ की दृष्टि से पूर्वपद उत्तरपद पर नियंत्रण रखता है। इस समास का स्वरूप बहुव्रीहि की तरह रहता है—स्वर की दृष्टि से तथा विशेषणात्मक प्रयोग की दृष्टि से भी। अन्य उदाहरण हैं—ऋधद्वार (काम्य वस्तुओं को बढ़ाने वाला), तरद्द्वेष (शत्रुओं को परास्त करनेवाला), धारयत्कवि (विद्वानों को सहारा देनेवाला)। अतः मन्दयत्सख (अपने मित्र को प्रसन्न करनेवाला) में अत् (शतृ) का अंश ही उदात्त है।

अर्थ—हे यजमान ! द्रुतगामी (आशवे) इन्द्र के लिए इस सोम का आहरण, आदान करो जो (सोम) शीघ्र प्रभाव करनेवाला, यज्ञ को समृद्ध करनेवाला, मनुष्यों को आनन्द देनेवाला और मित्रों (इन्द्रादि) को प्रवृत्त तथा प्रसन्न करनेवाला भी है।

स्वरविचारः—(१) आ—उपसर्ग उदात्त (२) ईम्—'चादयोऽनुदात्ताः' (३) आशुम्—√अस् + उण्। प्रत्ययस्वर। (४) आशवे—आशु + ङे। आशु में पूर्ववत् स्वर। ङे को अनुदात्त होगा क्योंकि सुप् अनुदात्त होते हैं। (५) भर—'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात। (६) यज्ञऽश्रियम्—'यज्ञश्री' शब्द में 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त। 'अम्' प्रत्यय (सुप्—अनुदात्त) लगाने पर इयङ् आदेश। उसका इकार (ईकार का आदेश) उदात्त है। (७) नृऽमादनम्—नृ + √मद् + ल्युु। लित् होने से लित्प्रत्यय के पूर्व आकार उदात्त। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से वही अवशिष्ट रहा। (८) पतयत्—

√पित् + णिच् + शतृ—उपधा में वृद्धि न होना। आर्धधातुक मानकर शप् नहीं लगा जिससे पतय् रूप अकारोपदेश नहीं रह सका और इसीलिए लसार्व-धातुक के कारण अत् को अनुदात्त नहीं कह सकते। अन्ततः प्रत्ययस्वर की रक्षा की गयी = अन्तोदात्त शब्द बना। (९) मन्दयत्ऽसखम्—√मद् + णिच् + शतृ=मन्दयत्। पतयत् की तरह अन्तोदात्त। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से समासान्त टच् प्रत्यय। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (६।२।२) से सप्तमीपूर्वपद का प्रकृतिस्वर।

वस्तुतः पतयत् और मन्दयत् दोनों 'सखम्' से सम्बद्ध हैं। पूर्वपद प्रकृति स्वर हुआ है। पतयत् को पतयन्तम् का आदेश मानते हुए सायण की तरह 'अम्' (द्वितीया एकवचन की विभक्ति) लोप मानने की आवश्यकता नहीं है।

मन्त्र—८

यहां सोम की शक्ति का वर्णन हो रहा है। यह वही सोम है जिसे पीकर हे इन्द्र! आप वृत्रादि राक्षसों के हन्ता बने हैं। अपने भक्त योद्धाओं की आप युद्ध में रक्षा भी करते हैं। इस प्रसंग में इन्द्र को 'शतक्रतु' कहा गया है। इसका सायणीय अर्थ है—अनेक कर्मों से युक्त। किन्तु 'क्रतु' शब्द आन्तरिक इच्छाशक्ति तथा बल के अर्थ में आता है [ग्रीक—kratos तथा अवेस्ता xratu (पुं०)=बुद्धि, अन्तःकरण, निश्चय]। सायण ने बहुकर्मयुक्त के अतिरिक्त अगले मंत्र में बहुप्रज्ञानयुक्त अर्थ भी दिया है। गेल्डनर का अर्थ है। 'परामर्शकुशल'।

'क्रतु' का सामान्य अर्थ शक्ति होने से उपर्युक्त शब्द का उपयुक्त अर्थ हो सकता है—'शत-शत शक्तियों से युक्त'। क्रतु का अर्थ पौराणिक काल में जब यज्ञ हो गया तब 'शतक्रतु' की व्याख्या के लिए ही स्वर्गराज इन्द्र का पद एक सौ यज्ञों के अनुष्ठान से प्राप्य माना जाने लगा। लेकिन इन्द्र को ईर्ष्यालु रूप में देखकर यज्ञों की पूर्णता का बाधक भी कहा गया है। इस प्रसंग में त्रिशंकु और विश्वामित्र की कथा मननीय है।

घनः—√हन् + अप् (काठिन्य अर्थ में) + अच्। अर्थ है मारनेवाला, चीरनेवाला। ग्रीक में kheino (चीरना) धातु है।

वृत्राणाम्—'वृत्र' के कई अर्थ हैं—(१) वृष्टिरोधक दैत्य जिसे मारकर इन्द्र जल का मोचन करते हैं। (२) शत्रु सामान्य (आर्य या अनार्य)। फ्रेंच विद्वान् रेनू तथा बेनवेनिस्त ने अपनी पुस्तक vṛtra et vṛtraghna में इस शब्द से सम्बद्ध सभी कथाओं पर विचार करके इसके स्वरूप का निरूपण किया है। अवेस्ता में यह verdthra के रूप में प्राप्त है। सायण का ही अर्थ यहाँ

उपयुक्त है जिसमें बहुवचन की भी व्याख्या है—वृत्रासुर प्रभृति शत्रुओं का।

आर्नल्ड के अनुसार (Vedic Meter, P. 160) द्वितीय पाद का अन्त अनियमित यति के रूप में हुआ है।

प्र + आवः = √अव् + लङ् (सिप्) = आपने रक्षा या सहायता की है। 'वाजेषु वाजिनम्' में वाज का अर्थ संग्राम है। 'संग्राम में लड़नेवाले भक्त को'। 'वाज' √वज्=दृढ़ रहना, इस कल्पित धातु से बना है जिससे उग्र (संप्रसारण करके), ओजस् वज्र आदि शब्द भी बने हैं। [तुलनीय—ग्रीक ûg-iēs (दृढ, स्वस्थ), एँ सै० wac-ol (जागृत), लातिन Vig-ēre (दृढ या समृद्ध रहना)]। यहाँ सायण का अर्थ ही उपयुक्त लगता है।

केवल, शतक्रतो !=हे शत शत शक्तियों से युक्त इन्द्र !, यही अन्तर है।

स्वरविचार—(१) अस्य—इदम् + ङस्। 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से अकारादेश तथा 'हलिलोपः' (७।२।११३) से इकारलोप क्योंकि ङस् के स्थान में 'स्य' (हलादि प्रत्ययादेश) हो चुका है। यह अकार प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है। अन्तोदात्त ऊठ्, इदम्, पद्-आदि शब्द, अप् पुम्, रै तथा दिव् के बाद असर्वनामस्थान विभक्ति ही उदात्त होती है। उडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१)। अतः 'स्य' का अ उदात्त हुआ। यहाँ 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' (२।४।३२) इस सूत्र से अशादेश नहीं होता। इसलिए पूरे शब्द को अनुदात्त नहीं हुआ। जहाँ पूरा शब्द ही अनुदात्त हो वहां यही प्रक्रिया लगेगी। (२) पीत्वा—√पा + क्त्वा। 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) से ईकारादेश। प्रत्यय के स्वर की प्रधानता। (३) शतक्रतो इति शतऽक्रतो—(क) आमंत्रित शब्द है इसलिए निघात (आमन्त्रितस्य च ८।१।१९)। (ख) ओकारान्त आमंत्रित है इसलिए प्रगृह्यसंज्ञक होने से आद्युदात्त 'इति' का लगाया जाना। (ग) समस्त पद होने के कारण इति के बाद प्रगृह्य के रूप में शब्द का दुहराया जाना और उसी द्वितीय पद में अवग्रह-चिह्न लगना। (४) घनः—√हन् + अप् + अच् (अर्शआदि के अन्तर्गत होने से)। चित् के कारण अन्तोदात्त। (५) वृत्राणाम—'वृत्र' में प्रातिपदिक स्वर। वृत्र + (नुट्)आम्। दीर्घ ('नामि') तथा णत्व। (६)अभवः—√भू + लङ् (सिप्)। तिङ्का निघात। (७) प्र—उपसर्ग उदात्त। (८) आवः—तिङ्निघात। (९) वाजेषु—वृषादि (६।१।२०३) के अन्तर्गत होने से आद्युदात्त 'वाज' शब्द। (१०) वाजिनम्—वाज + इनि। प्रत्यय का स्वर होकर इकार उदात्त।

मन्त्र—६

यहाँ भी इन्द्र को शतक्रतु के रूप में संबोधित करके उन्हें 'वाजेषु वाजिनम्' अर्थात युद्धों में बलवान् कहा गया है। संपत्ति की प्राप्ति के लिए यजमान लोग इन्हें अन्नयुक्त करने की बात (वाजयामः) कह रहे हैं। 'वाज' का तीन बार प्रयोग करके अनुप्रास देने की चेष्टा हुई है। 'वाजेषु वाजिनम्' का अर्थ 'संग्रामों में विजय प्राप्त करनेवाले इन्द्र को' रखना ठीक है। ऊपर के मंत्र में जहाँ यह शब्द इन्द्र के भक्त का विशेषण है इसी रूप में सायण के द्वारा भी लिया गया है। बलवान् और विजेता (वाजी) में विशेष अन्तर भी नहीं।

'वाजयाम' का सायण ने अर्थ किया है 'अन्नवान् करते हैं'। स्कन्दस्वामी का अर्थ 'स्तुति करते हैं' तथा वे० मा० का 'स्तुतियों से बलवान् बनाते हैं'—यह अर्थ है। वाज से नामधातु का 'य' प्रत्यय लगाकर √वाजय् बनाया गया है। अर्थ होगा—प्रार्थना करना, सबल बनाना, विजय प्राप्त कराना। सायण ने एक दूसरी ही व्याकरण-प्रक्रिया सुझायी है। वाज + मतुप्=वाज-वान्। वाजवन्तं कुर्मः = वाजयामः। 'तत्करोति तदाचष्टे' (३।१।२६ वा०) से णिच् करके 'इष्ठवण्णौ प्रतिपदिकस्य' (६।४।१५५ वा०) से वाजवत्-रूप को इष्ठवत् मानकर 'विन्मतोर्लुक्' (५।३।६५) से मतुप् का लोप कर दिया गया है। वाज + णिच्—'टेः' से अकारलोप। वाजि + शप् + मस् गुणादेश करके वाजे + अ + मस्। अवादेश—वाजय + मस। 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ—वाजयामः। वाज का अर्थ विजय लेकर 'वाजयामः=विजय के लिए प्रेरित करते हैं। यही सर्वोत्तम अभिप्राय है।

सातये—√सन् + क्तिन्। प्राप्ति के लिए। 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (३।३।९७) से क्तिन् (उदात्त) का निपातन।

अर्थ—शत-शत शक्तियों से संपन्न, हे इन्द्र ! पूर्वोक्त गुणों से युक्त (तं) युद्धों के विजेता आपको, हम लोग धन की प्राप्ति के लिए विजयार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्वरविचार—(१) तम्—सर्वनाम उदात्त। (२) त्वा—'त्वामौ द्वितीयायाः' (८।१।२३) से अनुदात्त। (३) वाजेषु (४) वाजिनम्—पूर्व मन्त्र की तरह। (५) वाजयामः—वाज + णिच् + शप् + मस्। पित् होने से शप् को और लसार्वधातुक स्वर से मस् को अनुदात्त होता है। चित् प्रत्यय होने के कारण अन्तोदात्त होता है जो उदात्त बढ़ते-बढ़ते ज के अकार तक ही पहुँच पाता है आगे तो अनुदात्तवर्णों की परंपरा है। (६) शतक्रतो इति शतऽक्रतो—पूर्वमन्त्रवत्। (७) धनानाम्—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य'

(फि० २६) से नपुंसक लिङ्ग 'धन' आद्युदात्त होता है । (इन्द्र—आमन्त्रित निघात । (९) सातये—√सन् + क्तिन् । नित् के कारण आद्युदात्त होना चाहिए किन्तु 'ऊतियूति०' से क्तिन् का निपातन होता है जहाँ क्तिन प्रत्यय ही उदात्त है ।

मन्त्र—१०

यह ऋचा ऋग्वेद ८।३२।१३ में प्रायः इसी रूप में उद्धृत है केवल अन्तिम पाद में यह खंड वहाँ है—तमिन्द्रमभि गायत । अस्तु सायण के अनुसार इसका अर्थ है कि इन्द्र धन के रक्षक (रायः अवनिः), अपने गुणों के कारण महान्, कर्मों की पूर्ति अच्छी तरह करनेवाले तथा यजमान (सोम चुलानेवाले) के मित्र हैं । उन्हीं इन्द्र की प्रसन्नता पाने के लिए स्तुति आप लोग करें ।

रायः + अवनिः = रायोऽवनिः । इसमें सन्धि करने पर ऋग्वेद में स्वर की विशेषता आती है । रायो३ऽवनिः = रायः + अवनिः । नियम यह है कि स्वतंत्र स्वरित के बाद यदि उदात्त स्वर आवे तो १ या ३ का चिह्न दोनों के बीच में देते हैं । ऐसा चिह्न दिये जाने वाले स्थान से पूर्व का वर्ण (अर्थात् स्वतंत्र स्वरित वर्ण) यदि ह्रस्व हो तो १ का और दीर्घ हो तो ३ का चिह्न देते हैं । इन दोनों चिह्नों को अनुदात्त तथा स्वरित के चिह्न भी देते हैं । यहाँ पर रायः अन्तोदात्त है जिसमें ओकार (उदात्त) हुआ है, अवनि मध्योदात्त है। ओ (उदात्त) + अ (अनुदात्त) की संधि से पूर्वरूप एकादेश होकर ओ बचा जो स्वरित (स्वतंत्र) हुआ । यह स्वरित भी उदात्त की तरह ही होता है । ओ के बाद व का अ उदात्त ही है अतः ऐसी स्थिति आयी—जिसे प्रातिशाख्य के अनुसार 'कम्प' कहते हैं । ओ दीर्घवर्ण है अतः ३ दिया गया । ऋग्वेद १।२।४ की व्याख्या में हम १ चिह्नवाले प्रयोग पर विचार कर चुके हैं । [द्रष्टव्य—ऋक्प्राति० (३।३-४), मैकडोनल VGS p. 450, ह्विटने, SG, 87d.] ।

अवनि का अर्थ है, नदी, स्रोत आदि । सायण और वे० मा० ने 'रक्षक' अर्थ किया है (√अव् = रक्षा) । अव = नीचे, अवत = कुआँ ।

महान् + सुपारः—बीच में एक त् का प्रवेश करके महान्त्सुपारः । पाणिनि ने इसे धुट् का आगम माना है । अथर्व प्राति० २।९ तथा तै० प्रा० ५।३२-३ में यह तकारागम समर्थित है । वाज० प्राति० (४।१४) में समर्थित होने पर भी अगले सूत्र में दाल्भ्य ऋषि का विपरीत मत भी दिया गया है । ऋ० प्राति० में इसे दूसरों के मतानुसार समर्थनीय माना है (४।६) । इन ग्रन्थों में न् के पश्चात् सकार आने पर बीच में क् लगाने की बात भी कही गयी है । ये वर्ण उच्चारण के तनाव को दूर करने के लिए आते हैं ।

भाषाशास्त्री लोग पदान्त न् को न्त् से अन्त होते हुए मानते हैं। मू०. भारोपीय के स्वरूप-निर्धारण में यह ध्यान रखते हैं जैसे संस्कृत अभरन्, IE e-bher-o-nt[1]

सुपारः—अच्छी तरह पार करने वाला (नदी अर्थ में), सफल बनाने वाला (मित्र अर्थ में)। [ग्रीक enporos]। पंचम सूक्त के चतुर्थ मंत्र में इसका तृतीयपाद आया है।

अर्थ—जो धन के महान् स्रोत हैं, सोम चुलानेवाले यजमान के मित्र हैं तथा सफलता के उस पार सुरक्षित पहुँचाते हैं, उन्हीं इन्द्र की स्तुति करें।

स्वरविचार—(१) यः—सर्वनाम। प्रातिपदिकस्वर। (२) रायः—रै + जस्। 'ऊडिदं—पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) से रै के बाद की विभक्ति का उदात्त होना। इसलिए अ उदात्त। (३) अवनिः—√अव् + अनि (उ० २।२५९) प्रत्यय का स्वर (आद्युदात्त) = मध्योदात्त शब्द। (४) महान्—प्रातिपदिक स्वर। अन्तोदात्त। (५) सुऽपारः—सु + √पॄ + अच्। चित् प्रत्यय के कारण अन्तोदात्त। (६) सुन्वतः—√सु + शतृ + ङस्। 'शतुरनुमो नद्यजादी' (६।१।१७३) से विभक्ति उदात्त हुई है—अन्तोदात्त। (७) सखा—स + √ख्या + इण्। 'समाने ख्यश्चोदात्तः' (उ० ४।५७६)। यलोप तथा 'स' में उदात्त रहना। डित् के कारण टिलोप। (८) तस्मै—तद् ङे (सौ)। तद् = √तन् + अदि (डित्)—उ० १।१२९। प्रत्ययस्वर से तद् उदात्त। 'सावेकाचः०' से विभक्ति उदात्त होने पर भी 'न गोश्वन्साववर्ण०' (६।१।१८२) से निषेध। (९) इन्द्राय—√इद् + रन्। आद्युदात्त—नित्। (१०) गायत—तिङ् का निघात।

अष्टम वर्ग समाप्त।

सूक्त—५

१० मंत्रों के इस सूक्त में इन्द्र का ही वर्णन है। अष्टक पद्धति से इसमें नवम तथा दशम वर्ग अन्तर्भूत हैं। वैश्वामित्र मधुच्छन्दस् के द्वारा देखे गये इस सूक्त का उद्धरण अथर्ववेद में २०।६८।११ से लेकर ६९।८ तक दिया गया है। प्रथम तीन ऋचायें सामवेद (२।९०–९२) में भी हैं। प्रथम ऋचा सामवेद के ११६४ में भी आयी है।

चतुर्थ सूक्त में इसका भी विनियोग दिया गया है। इसके अतिरिक्त भी

१. भाषा-विज्ञान में वर्ण-प्रवेश की उक्त प्रक्रिया में आने वाली ध्वनि को glide sound कहते हैं। ऐं० सै० naēmel, numol से अंग्रेजी nimble; humle > humble यहाँ b वर्ण का प्रवेश हुआ है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र (६।४) के अनुसार प्रथम तृच का पाठ अतिरात्र-याग के तृतीय पर्याय में मैत्रावरुण-शस्त्र में होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (४।५–६) में अतिरात्र याग का वर्णन दिया गया है। उक्त ग्रन्थ का कीथ कृत अनुवाद द्रष्टव्य है।

मन्त्र—१

इसमें ऋषि अपने मित्र ऋत्विजों को सम्बोधित करके उन्हें आकर बैठने एवम् इन्द्र की प्रकृष्ट स्तुति करने को कह रहा है। उसके मित्र स्तोमों का वहन करनेवाले हैं, उन्हें ही आहूत किया जा रहा है। प्रथम और द्वितीय पादों की आवृत्तियाँ कई वैदिक ग्रन्थों में हुई हैं।

आ त्वेता—छान्दस दृष्टि से 'आ तुवेता' पढ़ना होगा। आ आ इत = आप आइये। उपसर्ग का दो बार प्रयोग ऋग्वेद में साधारण बात है। सायण ने यह द्विर्वचन आदरार्थक माना है, स्कन्दस्वामी उपसर्ग के द्वित्व से 'इत' का भी द्वित्व अध्याहृत करते हैं। 'आ तु' को पिछले सूक्त के सम्बन्ध को बोधक भी माना जा सकता है। यह अच्छी प्रक्रिया होगी। 'एता' छान्दस दीर्घ है (ऋ० प्राति० ७।१७)। 'तु' का प्रयोग निश्चय, शीघ्रता, किन्तु आदि के लिए होता है, यह निपात है।

निषीदत—√सद् + लुङ् (थ > त)। ऋत्विज लोग यज्ञशाला में आकर बैठ जायँ, यही कवि की प्रार्थना है। अभि = सर्वतः, सब तरह से। प्र = प्रकर्ष रूप में।

'सखायः स्तोमवाहसः' दोनों आमन्त्रित पद हैं—हे स्तोम (स्तुतियों) के वाहक मित्रगण !

अर्थ—स्तुति अर्पण करने वाले मित्रो ! आप अवश्य आवें, बैठ जायँ तथा इन्द्र की स्तुति का पाठ करें।

स्वरविचार—(१–३) आ तु आ (५) नि (६) प्र—उपसर्ग और निपात आद्युदात्त होते हैं। (४) इत—तिङ्निघात। (६) सीदत —तिङ् निघात। (७) इन्द्रम्—रन् प्रत्ययान्ता (नित्) होने से आद्युदात्त। (८) अभि—उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१)। 'अभि' अन्तोदात्त होता है। (१०) गायत—तिङ्निघात। (११) सखायः—पादादि में होने से निघात नहीं। 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) से आद्युदात्त। (१२) स्तोमऽवाहसः—पूर्व में आमन्त्रित है वह अविद्यमानवत् होगा इसलिए उक्त सूत्र से आद्युदात्त हुआ है।

मन्त्र—२

उपर्युक्त मंत्र में स्थित क्रिया के साथ (अभि प्र गायत) इसका संबन्ध है। अतएव इन्द्र की स्तुति करने की बात यहाँ भी है। अन्य शब्द इन्द्र के विशेषण-रूप में हैं। सोम चुला लिए जाने पर सब साथ मिलकर (सचा) उन इन्द्र की स्तुति करें जो 'पुरूतम' (अनेक शत्रुओं को परास्त करने वाले) तथा अनेक (पुरूणां) वरणीय पदार्थों के अधिकारी हैं।

छन्द की दृष्टि से 'पुरूणाम्' को 'पुरूअणाम्' तथा 'वार्याणाम्' को 'वारिआनअम्' पढ़ना है।

'पुरूतम' शब्द की व्याख्या में सायण 'पुरु = अनेक शत्रुओं को, तम = क्षीण करनेवाला (√तम्)' ऐसा कहते हैं। तदनन्तर 'पुरूणां' को वे 'वार्याणां' का विशेषण रखते हैं। किन्तु ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है। वैदिक द्विरुक्ति के अन्तर्गत 'पुरूणां पुरूतमः' प्रयोग को असामान्य नहीं। अर्थ है 'अनेक व्यक्तियों में सबसे आगे'। 'पुरुऽतम' का दीर्घ 'अन्येषामपि दृश्यते' से हो गया है। पुरु = अनेक [ग्रीक—polus]।

'वार्याणामीशानं' की तरह ही 'ईशे यो वार्याणाम्' (८।७१।१३) प्रयोग ऋग्वेद में है। √ईश् (शासन करना) के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर्म में होता है—'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' (२।३।५२)।

'सचा' (साथ, उसी तरह, में आदि) का प्रयोग विभक्तिबोधकअव्यय के रूप में सप्तम्यन्त शब्द के बाद या पहले ऋग्वेद में बहुधा होता है। √सच् = साथ देना। अवेस्ता—hac, ग्रीक epomai (साथ देना)। लातिन—sequ-or = पीछा करना। लिथु० sekú (साथ)।

अर्थ—अनेक व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ, काम्य वस्तुओं के स्वामी इन्द्र की, चुलाये गये सोम के साथ-साथ [स्तुति कीजिये]।

स्वरविचार—(१) पुरुऽतमम्—(सायण)—पुरु + √तम् + अच्। चित् के कारण अन्तोदात्त होने पर कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर को रोककर 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' से उत्तर पद का आद्युदात्त। (२) पुरूणाम—√पॄ + कुः = पुरु (अन्तोदात्त—प्रत्ययस्वर)। 'नामन्यतरस्याम्' (६।१।१७७) से नाम् विभक्ति को उदात्त हुआ क्योंकि मतुप् प्रत्यय लगाने के समय पुरु-शब्द ह्रस्व तथा अन्तोदात्त रहता है। ऐसे ही शब्दों के बाद नाम् को उदात्त हो सकता है। (३) ईशानम्—√ईश + शानच्। अनुदात्तेत् धातु का स्वर बचा। (४) वार्याणाम्—√वृङ् + ण्यत्। 'तित्स्वरितम्' (६।१।१८५) से प्राप्त प्रत्यय के स्वरित को रोककर 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (६।१।२१४) से ण्यदन्त शब्द को आद्युदात्त। 'यतोऽनावः' (६।१।२१३)

में ण्यत् का ग्रहण नहीं होता क्योंकि ण्यत् में दो अनुबन्ध लगे हैं। परिभाषा है—'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य'। (५) इन्द्रम्—पूर्ववत्। (६) सोमे—√सु + मन्। आद्युदात्त। (७) सचा—√षच + क्विप् + टा (तृ० ए०)। धातुस्वर से आद्युदात्त। 'सावेकाचः०' की प्राप्ति इसलिए नहीं हुई कि सभी विधियां वेद में वैकल्पिक हैं। यदि 'सचा' को निपात मानें तब तो आद्युदात्त स्पष्टतः हो ही जायगा। (८) सुते—√सु + क्त। प्रत्ययस्वर।

मन्त्र—३

यहाँ इन्द्र से प्राप्त होनेवाले पदार्थों की कामना की जा रही है। वे इन्द्र सचमुच हमारे लिए अप्राप्तपदार्थों को प्राप्त कराने में (योगे) सहायक बनें; इसी प्रकार धन की प्राप्ति के लिए (राये) तथा पुरंधि (युवतियों की प्राप्ति या बहुविध बुद्धि की प्राप्ति) में भी सहायक हों। वाज अर्थात् अन्न के साथ वे हमारे निकट आवें (आ गमत्)।

इसमें इन्द्र के सर्वनाम 'सः' का प्रयोग चार बार हुआ है, प्रत्येक एक वाक्य बनाता है। प्रथम तीन की क्रिया एक है—आ भुवत् = आभवेत्। चौथे की क्रिया है आ गमत् = आगच्छतु। 'आ' उपसर्ग 'गमत्' के बाद तो है ही, बीच में 'वाजेभिः' से भी व्यवहित है। पाणिनि ने इसका विवरण दिया है—छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च (द्रष्टव्य वैदिकी प्रक्रिया, अध्याय १)। 'घ' निपात है जो संहिता पाठ में ही दीर्घ हो जाता है। भुवत् = भूयात्। √भू + आशीर्लिङ् (तिप्) = भू + अङ् + तिप। ङित् प्रत्यय होने से उवङ् आदेश—भुव् + अ + त् = भुवत्।

योगे = अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति में। राये = धन के लिए > धनप्राप्ति में। 'राये' रै शब्द से चतुर्थी विभक्ति में बना है किन्तु इसके पुरोवर्ती और अनुवर्ती शब्द सप्तम्यन्त हैं—योगे, पुरंध्याम्। राये की चतुर्थी विभक्ति विषम स्थिति लाती है। कारण यह है कि रै का सप्तम्यन्त रूप ऋग्वेद में मिलता नहीं जहां-जहां भी ऐसी स्थिति आयी है 'राये' रूप ही मिलता है।

जैसे—

तमित्सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये। (ऋ० १।१०।६)।

'पुरंध्याम्' पुरंधि का सप्तम्यन्त रूप है। इसे छन्द के लिए 'पुरंधिआम्' पढ़ना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द पर बहुत विचार किया है। हिलेब्रैंट (Hillebrandt) के अनुसार विशेषण होने पर इसका अर्थ कर्मठ, उत्साही, तथा संज्ञा में उत्साह, कर्मठता, क्रिया और इन गुणों की अधिकारी स्त्री-देवता है। कोलिनेट के अनुसार ऋग्वेद में यह समृद्धि की देवी है।

पिशेल ने इसे उदार, वदान्य, उर्वर, समृद्ध अर्थों में विशेषणरूप से तथा उदारता, समृद्धि, दया आदि अर्थों में संज्ञारूप से लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इसका नारी अर्थ भी लिया है। दूसरे लोगों ने इसके अर्थ रखे हैं—वदान्य (ग्रासमैन), समृद्धि (ग्रिफिथ), संपत्ति (राजवाड़े)। मोनियर विलियम्स इसकी व्युत्पत्ति पुर् (स्त्री०) + √धा से मानकर 'पूर्णता-धारक' तथा 'पिंड-धारी' अर्थ करते हैं। मैकडोनल VR, 240) का कहना है—'धि= (√धा का ह्रसित रूप) समृद्धि दाता। पुरम (कर्मकारक, द्वितीयान्त)।'

राजवाड़े (भंडारकर संस्थान पत्रिका, खं० ३, पृ० २०) का कथन है कि पुरंधि शब्द मूलतः 'पुर्वन्द्रिः' (पुरु + अन्द्रिः) अथवा संस्कृत की तरह पुरन्ध्री के रूप में होगा। संस्कृत में पुरन्ध्री का प्रयोग वास्तव में प्राग्वैदिक काल के शब्द का (जो ग्रीक में भी है) पुनरुद्धार है। [तुल० ग्रीक—polys = अनेक, andros = मनुष्य। अंग्रेजी—polyandrous, polyandry]। किन्तु अवेस्ता में pārəndi का अर्थ 'आधिक्य', 'समृद्धि' आदि ही है जिसका मू० भारोपीय रूप pārandh—होगा; वैदिक 'पुरंधि' का मूल pr̥-randh—ही हो सकता है। किसी भी स्थिति में इसका निर्वचन कठिन-सा है।

'वाज' का अर्थ 'पुरस्कार, सुफल' है।

अर्थ वे इन्द्रदेवता, संपत्ति के योग में धनलाभ में, समृद्धि में हमारे साथ रहें; वे सुफल के साथ हमारे पास आवें।

स्वरविचार—(१) सः—सर्वनाम, प्रातिपदिकस्वर। (२) घ—'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ८४)। (३) नः—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' तथा 'बहुवचनस्य वस्नसौ' से अनुदात्त। (४) योगे—√युज् + घञ्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से जित् प्रत्यय के कारण आद्युदात्त। (५) आ—उपसर्ग उदात्त। (६) भुवत्—तिङ्निघात। (७) सः (८) राये—'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) से रै के बाद की (ङे) विभक्ति उदात्त है। (९) सः (१०) पुरम्ऽध्याम्—पुरंधिः, पुरु + धीः। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०९) से उ > अम्, ईकार और ह्रस्व। 'आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्' (६।२।९१ वा०) से आद्युदात्त। अथवा 'पुरं (शरीरं) धीयतेऽस्याम्' पुरम् + √धा + कि (कर्मण्यधिकरणे च ३।३।९३)। छान्दस अलुक्। 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से नपुंसकलिंग पुरम् को आद्युदात्त। दासीभार आदि के (६।२।४२) अन्तर्गत रखकर पूर्वपद का प्रकृतिस्वर।

(११) गमत्—√गम् + लेट् (तिप्)। गम् + अट् + त् (शप्

लोप् अट्, तिप् का इलोप) 'आगमा अनुदात्ताः' (३।१।३ पर महाभाष्य) से अट् अनुदात्त है अतः धातु का स्वर रहा। (१२) वाजेभिः—वृषादि गण में (६।१।२०३) होने से आद्युदात्त। (१३-१५) आ। सः। नः—पूर्ववत्।

मन्त्र—४

युद्धों में इन्द्र के रथ में जुते हुए घोड़ों का शत्रुगण सामना नहीं कर सकते। उन्हें देखते ही वे भाग खड़े होते हैं। उन्हीं इन्द्र की स्तुति करें।

'संस्थे' का अर्थ सायण ने 'रथ में जुते हुए' किया है। सम् + √स्था = साथ मिलना, युद्ध में मिलना, सामना करना। स्कन्दस्वामी ने ठीक अर्थ रखा है—संग्राम में।

वृण्वते—√वृ = ढँक देना > रोकना, ढकेलना, बन्दी बनाना आदि। ग्रीक eilar = ढँकना। लातिन Vēr-ēri = देखभाल करना। जर्मन wehren = रोकना, रक्षा करना। वे० मा० ने अर्थ रखा है—वारयन्ति (रोकते हैं)। जिसे शत्रु नहीं रोक सकते हैं।

हरी = पीले घोड़े। अवेस्ता—zairi (पीला)। लातिन—helus, लिथु०—zelu, प्राचीन जर्मन gëlo, अंग्रेजी—yellow (पीला)।

समत्सु = युद्धों में। सम् + √अत् + क्विप् (सायण)। स्कन्दस्वामी √अद् (खाना) मानते हुए कहते हैं कि युद्ध में योद्धा परस्पर योद्धाओं को खाते जाते हैं' समाप्त करते हैं। ग्रीक—omad-o-s (मनुष्यों की अस्पष्ट ध्वनि, युद्ध)।

अर्थ—उन्हीं इन्द्र-देवता की स्तुति आप लोग करें जिनके दोनों पीले घोड़ों को शत्रुगण संग्रामों में सामना हो जाने पर (संस्थे) रोक नहीं सकते।

स्वरविचार—(१) यस्य—यत् + ङस् (स्य)। सर्वनाम् का प्रातिपदिकस्वर। (२) समऽस्थे—सम + √स्था + क। कृदन्त का उत्तर पद प्रकृति स्वर (गतिकारकोपपदात्कृत्)। (३) न—निपात उदात्त। (४) वृण्वते—√वृ + श्नु + झ (अत्—ए)। प्रत्यय का स्वर—आद्युदात्त 'अते' अर्थात् पूरा शब्द मध्योदात्त। नियम है—सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः' (६।१।१५८ वा० ९-११)। तिङ् निघात नहीं हुआ क्योंकि 'तद्वृत्तान्नित्यम्' (८।१।६६) से निषेध होता है। (५) हरी इति—√हृ + इन् = हरि (आद्युदात्त)। ईकार द्विवचन होने से प्रगृह्य संज्ञा—अतएव इति लगाना। (६) समत्ऽसु—सम् + √अत् + क्विप्। धातुस्वर की रक्षा। (७) शत्रवः—√शत् (सौत्र धातु—हिंसा करना) + क्रुन् ('रुशातिभ्यां क्रुन् उ० ४।५४३)। नित् के कारण आद्युदात्त।

(८) तस्मै—तत् + ङे (स्मै)। 'सावेकाच०' (६।१।१६८) से विभक्ति उदात्त होनी चाहिए किन्तु उसे 'न गोश्वन्साववर्ण' (६।१।१८२) से रोककर प्रातिपदिक स्वर ही रहा। (९) इन्द्राय—रन् प्रत्ययान्त, आद्युदात्त। (१०) गायत—तिङ्निघात।

मन्त्र—५

सोमपान करने वाले इन्द्र के निकट उनके पान के लिए, हमारे द्वारा प्रस्तुत किया हुआ यह पवित्र सोमरस पहुँचे। इसे दही मिलाकर हानिरहित भी कर दिया गया है। सोमरस को बहुवचन में कहने की प्रणाली ऋग्वेद में देखी जाती है—या तो सोमबिन्दुओं का अर्थ लिया जाता है या सोम के आधिक्य की सूचना इससे मिलती है।

'सुतपाव्ने' सुतपावन् का चतुर्थी-रूप है।√पा + वनिप् = ०पावन्। 'आतो मनिन्—क्वनिब्वनिपश्च' (३।२।७४)। प्रथमान्त रूप है 'सुतपावा'= सोम पीने वाला। सायण ने यहाँ षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति मानी है—सोमपातुः वीतये (भक्षणार्थं) यन्ति।

शुचि = पवित्र, दशापवित्र। सोमरस कई अवस्थाओं में ले जाये जाने पर शुद्ध होते हैं। शुद्ध होने पर उनमें चमक आ जाती है। उसी का द्योतक यह शब्द है 'सोमासः' का विशेषण है। 'वीतये' = भोजन (वीति) के लिए। 'वीति'√वी (चाहना, बुलाना, निमंत्रण देना) से बना है (लातिन invitare = निमंत्रण)। मोनियर विलियम्स के अनुसार 'आनन्द, सहभोज' आदि अर्थ हैं। सायण ने कहीं भक्षण, कहीं प्रीति और कहीं तर्पण अर्थ भी दिये हैं। ऋ० ९।२।१ में आये हुए 'देववीः' का अर्थ (जो वस्तुतः√वी का ही रूप है) उन्होंने 'देवकामः' दिया है। अतः 'वीतये' का अर्थ 'आवाहनाय' करना अनुपयुक्त नहीं। वैसे परंमरा से 'वीति = भोजन, पान' भी ठीक है।

दध्याशिरः को छन्द के लिए 'दधि आशिरः' पढ़ना चाहिए। दधि + आशिर् (मिश्रण)। आ + √शिर् (श्री) + क्विप्। द्रष्टव्य—'अपस्पृधेथा-मानृचु०' (६।१।३६) सूत्र।√श्री (श्रीञ् पाके १५६९ क्र्यादि) धातु का निपातन से शिर् आदेश। सोमपाक की अनेक विधियाँ हैं—दही में मिलाना (दध्याशिर्), दूध में फेंटना (गवाशिर्) और यव के चूर्ण में मिलाना (यवाशिर्)। सायण 'दधि' का निर्वचन देते हैं—दधाति पुष्णाति दधि।√धा + किन्। आशीः = दोषघातक। सोम के दोषघातक पदार्थ के रूप में जब दधि का प्रयोग हो तो उस सोम को 'दध्याशीः' कहेंगे। ०आशीः, ०आशिरौ, ०आशिरः। 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८।२।७६) से प्रथमा एकवचन में दीर्घ।

अर्थ—चुलाये गये, शोधित तथा दही से मिश्रित ये सोमरस सोम पीने वाले (इन्द्र) के पास उनके आवाहन (या पान) के लिए जा रहे हैं।

स्वरविचार—(१) सुतऽपाव्ने—सुत + √पा + वनिप्—सुतं पिबन्ति। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। वनिप् के पित् होने से धातु का स्वर रहा। पा का आकार उदात्त है (२) सुताः—√सु + क्त = प्रत्ययस्वर। (३) इमे—इदम् + जस् (शी)। इदम् का प्रातिपदिकस्वर। 'दश्च' (७।२।१०९) से द>म। प्राति० स्वर = 'फिषोऽन्तउदात्तः' (फि० १)। (४) शुचये—√शुच् (दीप्ति) + इन्। आद्युदात्त। (५) यन्ति—तिङ् का निघात। (६) वीतये—√वी + क्तिन् (उदात्त)। 'पचमनविदभूवीरा उदात्तः'। (७) सोमासः—√सु + मन्। नित् के कारण आद्युदात्त 'सोम' शब्द। 'आज्जसेरसुक् से सोम + जस् होने पर असुक् का आगम। (८) दधिऽआशिरः—√धा + किन् = दधि आद्युदात्त। दध्येव आशीर्येषां ते (बहुव्रीहि)—पूर्वपद का प्रकृतिस्वर।

नवम वर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

यहाँ इन्द्र को 'सुक्रतु' अर्थात् अच्छे कर्म करने वाला या सुबुद्धियुक्त कहा गया है। हे सुक्रतु (बुद्धिमान्) इन्द्र, आप सोमपान के लिए तथा देवताओं के बीच ज्येष्ठ स्थान प्राप्त करने के लिए सहसा वृद्ध या उत्साहयुक्त हो गये।

त्वं का उच्चारण 'तुवम्' होगा। सद्यो वृद्धः अजायथाः—उसी क्षण में वृद्ध उत्पन्न हुए अर्थात् सद्यः बड़े हो गये। ऐसा ही भाव ऋ० ६।१९।२ में है—सद्यश्चिद् यो वावृधे असामि = जो इन्द्र तुरत पूर्णतया बढ़ गये। तात्पर्य है कि सोमपान के लिए जिस अवस्था की आवश्यकता है उस अवस्था में आ गये।

ज्यैष्ठ्य = ज्येष्ठस्य भावः। सायण के अनुसार 'देवताओं के बीच ज्येष्ठ स्थान'। 'प्रधानता' अर्थ ही उचित है।

अर्थ—हे बुद्धिमान् इन्द्र! आप चुलाये सोम के पान के लिए तथा प्रधानता के लिए क्षण भर में पूरी अवस्था में आ गये।

स्वरविचार—(१) त्वम्—प्रातिपदिक स्वर। (२) सुतस्य—√सु + क्त प्रत्ययस्वर। सुप् का ङस् (स्य) प्रत्यय अनुदात्त ही है (३) पीतये—√पा + क्तिन्। नित् होने पर भी व्यत्यय से प्रत्ययोदात्त। 'पचमनविद०' से होने वाला उदात्त यहाँ भी समझना चाहिए (४) सद्यः—समान + द्यः। 'सद्यःपरुत्परारि०' (५।३।२२)। प्रत्ययस्वर। (५) वृद्धः—

√वृध् + क्त। प्रत्ययस्वर। (६) अजायथाः—'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात।

(७) इन्द्र—'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) से आद्युदात्त। पादादि में होने से आद्युदात्त नहीं हुआ। (८) ज्यैष्ठ्याय—ज्येष्ठ + ष्यञ्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त। (९) सुक्रतो इति सुऽक्रतो—आमन्त्रित होने से आष्टमिक निघात (८।१।१९), प्रगृह्य होने से इति-करण, समस्त पद होने से द्विरुक्ति तथा द्वितीय पद में अवग्रह।

मन्त्र—७

यहाँ इन्द्र का संबोधन 'गिर्वणः' (स्तुतियों से सेव्य) कहकर किया गया है। हे इन्द्र! ये व्यापक सोमरस आपमें प्रवेश करें। आप प्रकृष्ट ज्ञान वाले के लिए (प्रचेतसे) ये सुखद हों = आप परम ज्ञान से युक्त हैं अतः आप इनसे सुख उठावें।

प्रथम पाद को 'आ त्वा विशन्त्विन्दवः' करके ऋ० १।१५।१ में भी दिया गया है। सोम का विशेषण 'आशवः' है जिसका विचार हम १।४।७ में कर चुके हैं। यहाँ सायण का अर्थ है कि सोमरस तीनों सवनों तथा प्रकृति-विकृति वाले यागों में भी व्याप्त होता है। 'गिर्वणः' का अर्थ निरुक्त (६।१४) में दिया गया है कि स्तुतियों से (गीर्भिः) इनका वनन (सेवा) करते हैं। गीः + √वन् (संभक्ति = सेवा, पूजा)। गीः = √गॄ + क्विप्। गीः + √वन् + असुन् = गिर्वणाः।

प्रचेतसे—प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्य तस्मै (बहुव्रीहि)। प्रकृष्ट ज्ञानवाले इन्द्र के लिए सुखद हों।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्ग उदात्त। (२) त्वा—'त्वामौ द्वितीयायाः' (८।१।२३) से अनुदात्त। (३) विशन्तु—तिङ्निघात। (४) आशवः—√अश् + उण्। प्रत्ययस्वर। (५) सोमास—√सु + मन्। आद्युदात्त सोम + जस्। असुक् का आगम। (६) इन्द्र (७) गिर्वणः—दोनों का आमन्त्रितनिघात। (८) शम्—निपात उदात्त। (९) ते—'तेमयावेकवचनस्य' (८।१।२२) से सर्वानुदात्त। (१०) सन्तु—तिङ् निघात। (११) प्रऽचेतसे—बहुव्रीहि समास होने से पूर्वपद (प्र) का प्रकृति स्वर।

मन्त्र—८

इन्द्र को 'शतक्रतु' संबोधन देकर कहा जा रहा है कि आपकी उपर्युक्त वृद्धि (मंत्र ६) स्तोमों (सामवेद के स्तोत्रों) से तथा उक्थों (ऋग्वेद की

ऋचाओं) से भी हो चुकी है—स्तोत्र और शस्त्र आपको बढ़ा चुके हैं। अब हमारी ये स्तुतियाँ भी आपको बढ़ावें।

त्वाम् के स्थान में सर्वत्र 'तुवाम्' पढ़ना होगा। इसी तरह का मन्त्र विरूप आङ्गिरस द्वारा अग्नि को सम्बोधित है—

त्वामग्ने मनीषिणस्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः।

त्वां वर्धन्तु नो गिरः॥ (ऋ० ८।४४।१९)।

एक ही शब्द से प्रत्येक पाद को आरम्भ करने की प्रणाली ऋग्वेद में देखने में आती है जैसे—१।३५।१ में 'ह्वयाम्यग्निं·········ह्वयामि मित्रा-वरुणौ·········'।

स्तोम और उक्थ को सायण ने क्रमशः साममंत्रों और ऋचाओं के अर्थ में लिया है जिसपर विल्सन ने टिप्पणी दी है कि सायण जिन मंत्रों में साम या यजुस् का निर्देश पाते हैं वहां स्पष्टतः उन मंत्रों के पूर्व उन वेदों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी जो युक्तिसंगत नहीं है। स्तोम = √स्तु (स्तुति), गाने योग्य मंत्र। उक्थ = √वच् (बोलना), पाठ करने योग्य मंत्र।

अवीवृधन्—√वृध् + णिच् + लुङ् (झि)। चङ्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, सन्वद्भाव, इकार, दीर्घ, अडागम; झि > अन्ति, इकारलोप, संयोगान्त-लोप। अर्थ—बढ़ाया है > दृढ़ किया है।

अर्थ—हे शत-शत शक्तियों के स्वामी! आपको स्तुति-गीतों ने दृढ किया है, पाठ्य मंत्रों ने भी आपको (समृद्ध किया है); अब हमारी स्तुतियां भी आपको सबल करें।

स्वरविचार—(१) त्वाम्—प्रातिपदिकस्वर। (२) स्तोमाः—√स्तु + मन्। आद्युदात्त। (३) अवीवृधन्—तिङ्निघात। (४) त्वाम्—(५) उक्थाः—√वच् + थक्। प्रत्ययस्वर। (६) शतक्रतो इति शतऽक्रतो—१।४।९ मंत्र में देखें। (७) त्वाम्। (८) वर्धन्तु—तिङ्-निघात। (९) नः—'बहुवचनस्य वस्नसौ'—अनुदात्त। (१०) गिरः—गिर् + जस्। प्रातिपदिकस्वर।

मन्त्र—६

इन्द्र-देवता 'अक्षितोति' (अक्षित + ऊति) हैं, उनकी रक्षाविधि कभी क्षीण नहीं होती, रक्षा के लिए वे सदा तत्पर रहते हैं। ये इन्द्र इस सहस्र-संख्या वाले भक्ष्यपदार्थ (वाज) का ग्रहण करें (जो और कुछ नहीं, सोमरस ही है)। यह ऐसा पदार्थ है जिसमें सब प्रकार के पुरुषोचित गुण विद्यमान हैं (यस्मिन् विश्वानि पौंस्या)।

अन्तिम पाद को सायण ने 'वाजम्' का विशेषण माना है किन्तु इसे इन्द्र का विशेषण बनाना अधिक शोभन है—जिन इन्द्र में सभी मानवोचित गुण हैं। पौंस्य शब्द 'पुम् + ष्यञ्' से बना है जिसकी सिद्धि में सायण का शास्त्रार्थ द्रष्टव्य है। मनुष्य के कर्म को 'पौंस्य' कहते हैं। प्रथमा बहुवचन में पौंस्यानि के स्थान में 'पौंस्या' हुआ है। 'शि' (नपुंसक लिंग में जस् और शस् के स्थान में आदेश) का वेद में बहुल रूप से लोप होता है—शेश्छन्दसि बहुलम्' (६।१।७०)। विश्वानि में लोप नहीं हुआ है।

इन्द्र को 'अक्षित + ऊति' कहा गया है। अक्षित = अ + √क्षि + क्त, अक्षीण, अक्षुण्ण। ऊति = सहायता, रक्षा। सायणाचार्य इस शब्द पर बहुत लम्बी विवेचना प्रस्तुत करते हैं। अर्थ होगा—अविरत सहायता करने वाले। अक्षिता ऊतिर्यस्य (बहुव्रीहि)।

इमं वाजं सवेत्—सायण ने वाज को अन्न (सोम) के अर्थ में लिया है किन्तु दूसरे स्थानों की तरह यहां भी 'विजय का फल' अर्थ अच्छा लगता है। गेल्डनर इसे 'स्तोता के प्रत्याशित पुरस्कार' के अर्थ में लेते हैं। लक्षणा से अर्थ हुआ—इन्द्र वह वस्तु पावें जिसकी ओर हमारा लक्ष्य है। इन्द्र सहस्र-संख्या में इस विजय-पुरस्कार की प्राप्ति करें।

अर्थ—अक्षुण्ण रक्षा करनेवाले इन्द्र, जिनमें सभी मानव गुण हैं, इस सहस्रसंख्यक विजयफल की प्राप्ति करें (सवेत्)।

स्वरविचार—(१) अक्षितऽऊतिः—बहुव्रीहिसमास के कारण पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद में 'अ (नञ्) + √क्षि + क्त' है। न क्षिता = अक्षिता। अव्ययपूर्वपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् अ उदात्त रहा (६।२।२)। यही अ उदात्त पूरे पद का स्वर है। (२) सवेत्—तिङ्निघात। (३) इमम्—इदम् का प्रातिपदिक स्वर। पांचवां मंत्र देखें। (४) वाजम्—वृषादि के कारण आद्युदात्त। (५) इन्द्रः—रन् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त। (६) सहस्रिणम्—सहस्र + इनि। प्रत्यय आद्युदात्त = इकार उदात्त। (७) यस्मिन्—यत् का प्रातिपदिकस्वर। (८) विश्वानि—√ विश् + क्वन्—आद्युदात्त। (९) पौंस्या—पुम् + ष्यञ्। ञित् के कारण आद्युदात्त।

मन्त्र—१०

इन्द्र से प्रार्थना की जा रही है कि हमारे शरीर को (विरोधी) मनुष्य क्षति नहीं पहुँचा सकें, आप सर्वसमर्थ (ईशानः) हैं अतः शत्रुओं से होनेवाले हमारे विनाश का प्रतिरोध करें। इन्द्र को यहां पुनः 'गिर्वणः' (स्तुतियों द्वारा सेव्य) कहा गया है।

मर्ताः—विरोधी मनुष्य, मर्त्य। √मृ + तन्। मा अभि द्रुहन् = द्रोह या क्षति न करें। 'अभि' का सम्बन्ध षष्ठी के साथ (तनूनाम्) है। द्रुहन्—√द्रुह् + लेट् (झि)। अवेस्ता—√draog, प्रा० उ० जर्मन—triukan, जर्मन—be-trügen, ये प्रयोग बतलाते हैं कि मूलतः यह drugh—के रूप में होगा।

ईशानः√ईश् + शानच्। सर्वसमर्थ। यवय—छान्दसदीर्घ (१) √यु (जुगुप्सायाम्, चुरादि) से लोट् मध्यम पुरुष एकवचन। वृद्धि का अभाव—यवय। (२) √यु (मिश्रणामिश्रणयोः, अदादि) + अच् = यव। यवं करोति—यव + णिच् = अमिश्र (पृथक्) करना।

अर्थ—हमारी स्तुतियों में आनन्द लेनेवाले हे इन्द्र! हमारे शरीर की क्षति कोई मनुष्य नहीं पहुँचावें। आप शक्तिमान् हैं, भयंकर शस्त्रों को (वधम्) आप हमसे पृथक् रखें।

स्वरविचार—(१) मा—निपाता आद्युदात्ताः' (फि० ८०)—उदात्त। (२) नः—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' से अनुदात्त की अनुवृत्ति लेकर 'बहुवचनस्य वस्नसौ' (८।१।२१) से अस्मद्-शब्द के नस् आदेश को अनुदात्त। (३) मर्ताः—√मृ + तन्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से नित् प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त हुआ है। (४) अभि—'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१)—अभि को छोड़कर सभी उपसर्ग आद्युदात्त होते हैं। अतः अभि अन्तोदात्त हुआ। (५) द्रुहन्—'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात। (६) तनूनाम्—तनु को प्रातिपदिकस्वर—'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि० १)। सामर्थ्य न रहने के कारण बाद में आमंत्रित-पद (इन्द्र) रहने पर भी पराङ्गवद्भाव नहीं हुआ। (७) इन्द्र (८) गिर्वणः—दोनों को 'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) से निघात (पूरे का अनुदात्त हो जाना।

(९) ईशानः—√ईश् + शानच्। देखिये द्वितीय मंत्र। शानच् को लसार्वधातुक अनुदात्त। अतः धातुस्वर की रक्षा। (१०) यवय—तिङ्-निघात। (११) वधम्—√हन् (वधादेश) + अप्। हन को अन्तोदात्त पढ़ा गया है उसके स्थान में आनेवाला वध भी अन्तोदात्त ही होगा। 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६।१।१६१) से वध् + अप् होने पर अप् को उदात्त हुआ (पित् के कारण अनुदात्त नहीं) क्योंकि इसीके कारण वध का उदात्त अ लुप्त हो गया। (उदात्तनिवृत्तिस्वरेण अपः उदात्तत्वम् काशिका ३।३।७६)। अतः अन्तोदात्त वध-शब्द हुआ।

दशम वर्ग समाप्त।

सूक्त—६

प्रस्तुत सूक्त में ११ वां तथा १२ वां वर्ग है। पूरा सूक्त अथर्ववेद में २०।६९।९-१२ तथा ७०।१-६ में उद्धृत है। प्रथम तृच अथर्व० (२०।२६। ४-६ तथा ४७।१०-१२), साम० (२।८१८-२०), तै० सं० (७।४।२०।१), तै० ब्रा० (३।९।४।१-३), मैत्रा० सं० (३।१६।३) आदि स्थानों में भी है। प्रथम दो मंत्र वा० सं (२३।५-६) में, मन्त्र ४, ५ और ७ क्रमशः सामवेद २।२०१, २०२ तथा २०० में; और मंत्र ४,७ तथा ८ क्रमशः अथर्ववेद २०। ४०।३,१ और ८ में हैं।

पिछले दोनों सूक्तों की तरह ही इसका भी विनियोग है। उसके अतिरिक्त आश्व० श्रौतसूत्र (६।४) के अनुसार अतिरात्र याग में तृतीय पर्याय के अन्तर्गत प्रथम तृच का पाठ ब्राह्मणाच्छंसी नामक ऋत्विज करता है।

इसमें अनेक देवता हैं। अनुक्रमणी के अनुसार प्रथम तीन तथा दसवें मंत्र के देवता इन्द्र हैं। मंत्र ४,६,८ और ९ मरुत्-देवता से सम्बद्ध हैं। ५ वें और ७ वें में मरुत् तथा इन्द्र दोनों ही देवता हैं। किन्तु इसकी विषयवस्तु का परीक्षण करके ओल्डनबर्ग निष्कर्ष निकालते हैं कि यहां इन्द्र के साथी मरुत् नहीं, अङ्गिरस् (गण) हैं। बल के उपाख्यान में इन्द्र को इनसे मिलनेवाला सहयोग सुविख्यात है (मैकडोनल, वेदिक मिथौलॉजी, अनु० ५४)। इन्द्र को 'अङ्गिरस्तम' भी कहा गया है (ऋ० १।१००।४)। इन्द्र के अतिरिक्त, सूर्य का संकेत भी यथासंभव मिलता है। अंगिरसों का भी बलोपाख्यान में संकेत ही मिलता है, स्पष्ट निर्देश नहीं। गेल्डनर इसका सम्बन्ध किसी कर्मकाण्ड से न मानकर, विचारों के क्रमिक विकास का प्रतिनिधि मानते हैं।

विषयवस्तु यह है :—उषाकाल की अरुणिमा छायी है, तारे अभी आकाश में हैं (१) गायक सूर्य के अश्व तथा इन्द्र के दोनों घोड़ों को जोतते हैं (२)। ये सूर्य उषा के साथ उत्पन्न हुए थे (३)। अंगिरसों ने सूर्योदय और सूर्यास्त का नियमन किया है (४), इन्होंने इन्द्र की सहायता से, छिपायी गयी गायों का उद्धार करके (५) इन्द्र की स्तुति की थी (६)। वर्तमान काल में सूर्य इन्द्र के साथ आवें (७)। भक्त गायकों के गीत में इन्द्र को भी स्थान मिलता है। ७-१० तक प्रार्थना है जो छठे मन्त्र के 'अनूषत' (स्तुति को) की विषय वस्तु है। यहां मधुच्छन्दस् की काव्य-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है।

मन्त्र—१

इस मंत्र का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। सायण ने तो तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।९।४।१२) की प्रामाणिकता पर अर्थ दिया ही है, स्कन्दस्वामी भी अनेक

अर्थों से परिपूर्ण अपनी लम्बी व्याख्या देते हैं। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी विभिन्न मत दिये हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में आदित्य को 'ब्रध्न', अग्नि को 'अरुष', वायु को 'चरन्', इन तीनों लोकों को 'तस्थुषः, तथा नक्षत्रों को 'रोचना' कहा है। तदनुसार सायण इन्द्र के ही ये तीन रूप—आदित्य, अग्नि और वायु मानते हुए अर्थ करते हैं। 'तस्थुषः' को व्यत्यय से प्रथमा के अर्थ में (तस्थिवांसः) मानकर वे कहते हैं कि ये चारों ओर से (परि) स्थित रहने वाले प्राणी (अर्थात् तीनों लोकों के प्राणी) उन्हीं इन्द्र को अपने-अपने कर्मों में देवता के रूप में संबद्ध करते हैं (युञ्जन्ति) जो इन्द्र बृहत् आदित्य (ब्रध्न) के रूप में स्थित हैं, हिंसकरहित (अ-रुष) अग्नि के रूप में स्थित हैं और संचरण करनेवाले (चरन्) वायु के रूप में भी स्थित हैं। उन्हीं इन्द्र की विशिष्ट मूर्ति के रूप में ये चमकनेवाले (रोचना) नक्षत्र आकाश में (दिवि) चमक रहे हैं (रोचन्ते)।

स्कन्दस्वामी का कहना मुख्यतः यह है कि इन्द्र जहाँ कहीं भी जाते हैं स्तोता इनकी स्तुति करते हैं, याजक यज्ञ करते हैं। अथवा ये जहाँ जाते हैं इनसे मनुष्य याचना करते हैं कि आप हमें यह दें, वह दें। अथवा मातलि आदि सारथि इन्द्र के रथ में ब्रध्नादि गुणों (रज्जुओं) को जोड़ देते हैं।

मैक्समूलर ने सायण की तरह 'तस्थुषः' की योजना की है किन्तु 'ब्रध्न' का अर्थ 'चमकीला' और 'अरुष' का 'लाल' किया है। 'चलते हुए इन्द्र के चारों ओर स्थित रहनेवाले लोग (इन्द्र के) चमकीले लाल (घोड़े) को सजाकर तैयार करते हैं; आकाश में प्रकाश चमकते हैं।' ओल्डेनबर्ग के व्यापक अध्ययन से इस सूक्त में इन्द्र के सहायक अङ्गिरस सिद्ध हैं जो 'युञ्जन्ति' का कर्ता हो सकते हैं। 'अङ्गिरस् ऋषिगण जोड़ देते हैं।'

ब्रध्नम्—वे० मा० ने इसका अर्थ 'महान्तम्' किया है। निघण्टु में (१।१४) यह 'अश्व' का पर्याय है जो अश्व के अर्थ वाले मंत्रों में आने से भ्रम के कारण माना गया है।

भट्टभास्करमिश्र ने तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।९।४।१) के भाष्य में लिखा है—बृंहणाद् ब्रध्नः आदित्यः। यह चमकीला, पीला के अर्थ में विशेषण हो सकता है। इसी अर्थ में यहाँ भी ग्राह्य है। ब्रध्न और अरुष का प्रयोग कई स्थानों में एक साथ है।

अरुषम्—सायण के अनुसार √रुष् (हिंसा) में नञ् लगाने से बना है। अरुष=अहिंसक (अग्नि)। स्कन्दस्वामी—दीप्त या जाने वाला। वे० मा०—आरोचमान। भट्ट भास्कर—आरोचनाद् अरुषोऽग्निः। किन्तु अरुष और अरुण

एक ही निर्वचन के शब्द हैं। अतः इसका 'लाल' अर्थ रखना उपयुक्त है। रॉथ ने भ्रमवश इसे 'अरुश' का एक रूप माना है जैसे—अरुश-हा (अश्वेत को मारनेवाला, ऋ० १०।११६।४)। किन्तु 'अरुश' में रुशत् (श्वेत) शब्द है जो अरुष (अयौगिक) से भिन्न है।

तस्थुषः–√स्था + क्वसु + शस् (द्वि० ब०)। सायण प्रथमा का अर्थ (परितोऽवस्थिताः प्राणिनः), स्कन्द षष्ठी का रूप (स्थितस्य व्याप्रियमाणस्य इन्द्रस्य प्रभावेण) और वे० मा० सायण की तरह प्रथमार्थ (तस्थिवांसो देवा वा लोका वा) मानते हैं। मैक्समूलर ने भी यही अर्थ लिया था किन्तु बाद के विद्वानों ने इसे अस्वीकार करके द्वितीया बहुवचन की ही प्रतिष्ठा की। 'तस्थुषः परि चरन्तम्' = स्थिर रहनेवाले पदार्थों के चारों ओर चलने वाले··· को'। परि के साथ द्वितीया का प्रयोग हुआ।

रोचना = रोचनानि। √रुच् (चमकना)—चमकीले तारे, आकाश के प्रकाश। रोचन्ते = चमकते हैं।√रुच् के समानान्तर अवेस्ता में raoc, लातिन में lūceo, तथा ग्रीक में leukos प्राप्त हैं जिससे मूल भारोपीय में leuq मानते हैं।

अर्थ—स्थिर पदार्थों के (तस्थुषः) चारों ओर (परि) चलने वाले (चरन्तं) चमकीले (ब्रध्नम्) तथा अरुण वर्ण के (अरुषम्) [घोड़े को अंगिरस लोग इन्द्र के रथ में] जोत देते हैं। (युञ्जन्ति)। [तब] आकाश में (दिवि) चमकीले नक्षत्र (रोचना) चमकते रहते हैं (रोचन्ते)। अभिप्राय है कि उस समय बहुत सवेरा रहता है जब कि इन्द्र या सूर्य के रथ में घोड़े जुतते हैं। स्थिर पदार्थ संसार का बोधक है।

स्वरविचार—(१) युञ्जन्ति—√युज् + श्नम् + झि (अन्ति)। प्रत्ययस्वर से अ को उदात्त हुआ। पादादि में होने से निघात नहीं हुआ है। (२) ब्रध्नम्—प्रातिपदिकस्वर। अन्तोदात्त। (३) अरुषम्—√रुष् + क। प्रत्यय स्वर से रुष अन्तोदात्त। नञ् लगाने पर 'न सन्ति रुषा यस्य' (बहुव्रीहि) होने से 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) सूत्र से अन्तोदात्त। 'अरुष + अम्' करने पर 'अमि पूर्वः' (६।१।१०७) से पूर्वरूप का एकादेश। उदात्त के साथ चूँकि एकादेश है अतः उदात्त ही रहेगा—'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५)।

(४) चरन्तम्—√चर् + शतृ + अम्। शतृ को लसार्वधातुक अनुदात्त, अम् तो सुप् होने से ही अनुदात्त है अतः धातु का स्वर बचा। च का अ उदात्त है। (५) परि—उपसर्ग आद्युदात्त। (६) तस्थुषः—√स्था + लिट् (क्वसु) + शस्। वस् प्रत्यय का स्वर बचा जो संप्रसारण करके उ हो गया है—वही उदात्त होगा।

(७) रोचन्ते—पादादि में होने से निघात नहीं हुआ। √रुच् + शप् + झ (अन्ते)। धातुस्वर बचा क्योंकि तिङ् लसार्वधातुक अनुदात्त हो गया, शप् पित् (अनुदात्त) है। (८) रोचना—√रुच् + युच्। 'चितः' (६।१।१६३) से अन्तोदात्त। (९) दिवि—द्यु + ङि। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) से विभक्ति का उदात्त होगा।

मन्त्र—२

उपर्युक्त प्रकार के इन्द्र के, जिनकी उपस्थिति आदित्यादि मूर्तियों के रूप में है, रथ में सारथिगण उनके घोड़ों को (हरी) जोड़ देते हैं। ये घोड़े काम्य, रथ के दोनों पक्षों में रहनेवाले (विपक्षसा), रक्तवर्ण के (शोणा), साहसी या धृष्ट (धृष्णू) तथा वीरों का वहन करनेवाले (नृवाहसा) भी हैं।

'युञ्जन्ति' का कर्ता सायण तथा स्कन्द ने सारथि शब्द लिया है। हमारे उपर्युक्त विचार से अंगिरस को ही कर्ता रखना चाहिए। 'युञ्जन्ति अस्य कामिया' पढ़े।

'हरी' द्विवचन शब्द है जिसका तात्पर्य है कि घोड़ों की संख्या दो है। ये घोड़े काम्य अर्थात् इन्द्र को प्रिय हैं। हरी = पीले घोड़े। घोड़ों का अन्य विशेषण है 'विपक्षसा'। सायण—रथ के दोनों पार्श्वों में जोते गये। स्कन्द—रथ के बायें-दायें जुते हुए। वि = विविध, पक्षस् = पार्श्व।

शोणा—'शोण' का प्रथमा द्विवचन। शोण = चमकीला लाल, रक्तवर्ण। ऋ० ३।३५।३ में भी इन्द्र के घोड़ों को शोण कहा गया है। धृष्णू—√धृष् (प्रगल्भता) + क्नु = धृष्णु (धृष्ट, साहसी)। नृ वाहसा—नृ + √वह् + असुन्। नरों को, इन्द्रादि पुरुषों को ढोनेवाले। वेद में द्विवचन औ के स्थान पर 'आ' भी होता है। यहाँ सभी शब्दों में यह द्रष्टव्य है।

अर्थ—वे (अङ्गिरस) उनके दोनों प्रिय, लाल, साहसी तथा वीरवाहक घोड़ों को रथ के दोनों पार्श्वों में जोड़ देते हैं।

स्वरविचार—(१) युञ्जन्ति—पूर्वमंत्र की तरह। (२) अस्य—'ब्रध्न' परामर्श करने वाला यह शब्द है। अतः 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' (२।४।३२)। अश्। शित् होने के कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५५) से सर्वादेश अनुदात्त हुआ। विभक्ति अनुदात्त ही है—अश् + स्य (ङस्) = 'अस्य' सर्वानुदात्त। (३) काम्या—√कम् + णिङ् + यत्। 'तित्स्वरितम्' (६।१।१८५) से प्रत्यय स्वरित न होकर 'यतोऽनावः' (६।१।२१३) से आद्युदात्त। 'सुपां सुलुक्०' से 'काम्या + औ' में औ के स्थान पर डा।

(४) हरी इति—√हृ + इन् = हरि आद्युदात्त । ईकार द्विवचन होने से प्रगृह्य और इसीलिए आद्युदात्त 'इति' लगाया गया। (५) विऽपक्षसा—वि + √पच् + असुन् (पचिवचिभ्यां सुट्च, उ० ४।६५९)। विभिन्ने पक्षसी पार्श्वौ ययोस्तौ (बहुव्रीहि)। पूर्वपद प्रकृतिस्वर। वि निपात के कारण आद्युदात्त है—वही बचा। (६) रथे—√रम् + क्थन्। आद्युदात्त।

(७) शोणा—√शोणृ (वर्णगत्योः) + घञ् (करणे)। ञित् के कारण आद्युदात्त। डादेश। (८) घृष्णू इति—√घृष् + क्नु। प्रत्ययस्वर। प्रगृह्य के कारण इति करण। (९) नृऽवाहसा—नृ + √वह् + असुन्। नित् के कारण 'वाहस्' आद्युदात्त। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपदप्रकृतिस्वर—वा का आ उदात्त। डादेश।

मन्त्र—३

सायण इसमें दो प्रकार से अर्थ करते हैं—(१) 'मर्याः' का अर्थ मनुष्य मानकर इन्हें सम्बोधित किया गया है कि हे मनुष्यो! यह आश्चर्य तो देखो कि इन्द्र आदित्य के रूप में अपनी दाहक किरणों से (उषद्भिः) उत्पन्न होते हैं (अजायथाः = अजायत), अथवा प्रतिदिन उषाकाल में (उषद्भिः) उत्पन्न होते हैं। (२) 'मर्याः' का अर्थ सूर्य भी लिया जा सकता है। अस्त होने के समय उनपर मृत्यु का उपचार (आरोप) करके उन्हें 'मर्य' (मरणधर्मा) कहा जा सकता है। व्यत्यय से बहुवचन हो गया है—हे मर्य सूर्य! आप प्रत्येक उषाकाल में या दाहक किरणों को लिए हुए उत्पन्न होते हैं। प्रथम अर्थ में क्रिया का व्यत्यय मानना पड़ता है, द्वितीय अर्थ में सब कुछ ठीक होने पर भी 'मर्याः' का व्यत्यय मानना पड़ा।

वस्तुतः इस मंत्र में 'इन्द्र' का प्रयोग हुआ नहीं है अतः सूर्य के अर्थ में इसकी व्याख्या साध्य होने पर करने में कोई आपत्ति नहीं। अस्तु, सायण के दोनों ही अर्थों को लेने पर उनके विशेषण भी मंत्र में आये हैं—सूर्य या इन्द्र प्रतिदिन अकेतु अर्थात् अचेतन में केतु (चेतनता) का संचार करते हैं और रूपरहित पदार्थ में (अपेशसे) रूप (पेशः) का भी आधान करते हैं। बात यह है कि रात में निद्रा और अन्धकार का साम्राज्य छा जाता है जिससे सभी प्राणी अचेत या ज्ञानशून्य हो जाते हैं। उधर सभी पदार्थ अंधकार में दिखलायी न पड़ने के कारण अपना रूप खो देते हैं। प्रातःकाल सूर्य की किरणें (चाहे सूर्य रूप में इन्द्र ही क्यों न हों) जैसे ही प्राणियों पर पड़ती हैं, वे चेत जाते हैं, संज्ञा युक्त हो जाते हैं; पदार्थों का भी रूप उभरने लगता है। अपेशस् को पेशस् तथा अकेतु को केतु करने का वही रहस्य है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।९।४।३) के अनुसार इस मंत्र का प्रयोग ध्वज स्थापन के अवसर पर होता है। मध्यकाल में प्रवर्तित कर्मकाण्ड के अनुसार आजकल केतु-ग्रह के दुष्ट प्रभाव की शान्ति के लिए यह प्रयुक्त होता है।

केतुम्—१।३।१२ में इसका विचार देखें। इसका मूल अर्थ होगा—मार्गदर्शक। तब चिह्न>विशेषक>पताका आदि पदार्थों में आया। यहाँ 'केतुं कृण्वत् = प्रकाश में लाते हुए' उपयुक्त होगा। अप्रकाशित वस्तु को प्रकाश में लाना सूर्य का ही काम है। तुलनीय—

उद्वेति प्रसविता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य। (ऋ० ७।६३।२)। 'सूर्य की फहरती हुई बड़ी पताका (किरणें) जो मनुष्यों को जगाती है, ऊपर उठी।'

पेशस्—नपुंसकलिंग के अतिरिक्त कहीं-कहीं पेश (पुं०) के रूप में भी मिलता है। इसका अर्थ है 'रूप, रंग, आकार'। अवेस्ता—Paesah (नपुं०), Paesa (पुं०)=आभूषण। (मू० भारो० Peig-, Peik-)।

सबसे अधिक विवेचित शब्द है 'मर्याः' जो बहुवचन में रहने के कारण 'अजायथाः' क्रिया से संबद्ध हो नहीं पाता। मैक्समूलर और पिशेल इसे विस्मयबोधक मानते हैं। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में निपातों के अन्तर्गत इसकी गणना भी करायी गयी है। अतः इसका प्रयोग संस्कृत 'भोः' या लातिन 'mehercle' की तरह हुआ है। उव्वट, महीधर तथा क्लुग (Kluge) ने चतुर्थी के अर्थ में इसे लिया है—अपेशसे मर्याय (रूपरहित मनुष्य के लिए)। रॉथ ने 'मर्याः' को अपने स्थान पर रखते हुए अजायथाः को 'अजायत' करने का सुझाव दिया है किन्तु इससे कठिनाइयाँ और भी बढ़ ही जायँगी क्योंकि अजायत से अजायथाः का अप-पाठ (!) कैसे हो गया—इसकी व्याख्या करनी पड़ेगी। ग्रासमैन और लैनमैन कहते हैं कि 'मर्या' संबोधन एक वचन है जो छन्द की दृष्टि से दीर्घ हो गया है। किन्तु न तो यहाँ छन्द को ऐसी आवश्यकता है और न ही विसर्ग की व्याख्या इसमें हो पाती। वाकरनागेल ने सुझाव दिया है कि अनुदात्त 'मर्याः' √स्मृ (=स्मरण करना) का लिङ् लकार में मध्यम पुरुष एकवचन ('अजायथाः' की तरह) का प्राचीन रूप होगा—स्मर्याः>मर्याः (=स्मरण करो)। किन्तु 'जनासः' की तरह इसे श्रोताओं का संबोधन ही मानना उपयुक्त लगता है=हे मानवो !

उषद्भिः—उषस्+भिस्। स्>त् (द्)—'अपो भि' (७।४।४८) पर वार्तिक है कि स्वतस्, स्वतवस्, मास् और उषस् के बाद भकारादि प्रत्यय होने पर स् को त् होता है। भाषा वैज्ञानिकों ने ज्भ से द्भ की उत्पत्ति मानी है।

किन्तु उशद्‌भिः (उशत्=कामयमानः) के सादृश्य से उषद्‌भिः का रूप बहुत संभाव्य है।

वैदिक पुराणशास्त्र के अनुसार सूर्य और उषा को पर्वत गुहा में बन्दी बनाया गया था (ऋ० १।६२।५, २।२४।३, ६।३२। २)—वलोपाख्यान का भी यही निर्देश है। प्रातःकाल उषा के साथ सूर्य उत्पन्न हुए हैं।

अर्थ—प्रकाशित के लिए प्रकाश उत्पन्न करते हुए और रसहीन के लिए हे मानवो ! रूप उत्पन्न करते हुए, (सूर्यदेव !) आप उषाओं के साथ-साथ उत्पन्न हुए हैं।

स्वरविचार—(१) केतुम्—प्रातिपदिकस्वर। (२) कृण्वत्–√कृवि + शतृ। प्रत्ययस्वर। (३) अकेतवे—अ + केतु + ङे। न केतुर्यस्य स—अकेतुः। बहुव्रीहि में 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से अन्तोदात्त। ङे तो अनुदात्त होगा जो स्वरित के रूप में बदल जायगा। (४) पेशः—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात्त। (५) मर्याः—√मृ + यत्। आमन्त्रितनिघात। (६) अपेशसे—'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद का अन्तोदात्त—अपेशः। चतुर्थी। (७) सम्—निपात उदात्त। (८) उषत्ऽभिः—√उष् (दाहे) + शतृ। प्रत्ययस्वर। (९) अजायमाः—तिङ् निघात।

मन्त्र—४

अनुक्रमणी के अनुसार पूरा सूक्त इन्द्र का होने पर भी यहाँ से आरंभ करके छह ऋचायें मरुत् की हैं। अतएव सायणादि भारतीय टीकाकार यहाँ मरुद्-गण का अर्थ मानते हैं। अर्थ किया गया है कि उसके (वर्षा के) अनन्तर ही अन्नोत्पादन के उद्‌देश्य से (स्वधाय् अनु=अन्न या जल का लक्ष्य रखकर), यज्ञ में लिये जाने योग्य नाम धारण करनेवाले, मरुद्‌गण, सदा की तरह (पुनः), मेघ को गर्भ धारण करने की प्रेरणा देने लगे।

किसी देवता का स्पष्ट निर्देश नहीं होने से देवता-विषयक संदेह होना नैसर्गिक है। ओल्डन बर्ग तथा गेल्डनर ने अंगिरसों को ही मंत्र का कर्ता लिया है जो इन्द्र के वीर कार्यों के सहायक हैं। पहले विद्वान् ने अग्नि और दूसरे ने सूर्य को प्रस्तुत मंत्र का देवता माना है। प्रासंगिक औचित्य के विचार से दूसरा मत ही ठीक है। अंगिरसों ने सूर्य के उदय और अस्त होने के नियम की स्थापना की—जो ऋ० १०।६८।११ से सिद्ध है। वल को परास्त करके गौओं का मोचन कर लेने के पश्चात् इन अंगिरसों ने संसार की नव नियति स्थिर की थी।

आन् = इसके बाद। छन्द के लिए 'आअद्' पढ़ें। अह = सचमुच।

अङ्ग, घ, ह, वै, स्म की तरह ही वाक्य में प्रथम शब्द के बाद इसका प्रयोग होता है।

स्वधामनु = अन्न या जल को लक्षित करके (सायण)। स्वधा स्त्रीलिंग 'शब्द' है जिसकी व्युत्पत्ति देना कठिन है। तैत्तिरीयसंहिता (१।१।९।३) के पदपाठ में इसे 'स्व-धा' के रूप में विभक्त किया गया है, यद्यपि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में यह अविभक्त ही है। मैक्समूलर ने कहा है कि इसका अर्थ 'स्वस्थान' तथा 'स्वप्रकृति' है। संस्कृत में पितरों को कव्य देते समय प्रयुक्त होने वाला यह अव्यय पद है। पितरों को दिये गये अन्न को भी स्वधा कहा गया है। किन्तु बेनफी ने संस्कृत 'स्वधा' की तुलना ग्रीक ēthos, जर्मन sitte, प्रा० उ० जर्मन sit-u, गॉथिक sid-u से करके 'अपनी प्रकृति (नियम), के अर्थ में इसे स्थिर किया है। डा० कुञ्जन् राजा (JORM, I, pp, 16-24) ने इसकी व्युत्पत्ति √स्वद् (आनन्द लेना, खाना) से करते हुए अर्थ किया है—'मृत्यु के अनन्तर प्रथम संसार का भोग या आनन्द'। इसपर कुप्पुस्वामी शास्त्री ने कल्पित √suedh—(मू० भारोपीय) से इसका सम्बन्ध बताने का प्रयास किया है जिससे स्वाहा, स्वधा, स्वादु और सुधा भी निष्पन्न हो सकते हैं।

स्वधा की व्युत्पत्ति स्व-धा (अपने आप में स्थिति) करना अच्छा है। ग्रीक का समशब्द इसी अर्थ की ध्वनि देता है। अतः अर्थ होंगे—स्वभाव, प्रकृति, अपनी शक्ति, आदत। जहां 'स्वधा' का अर्थ मधुर पेय या भोज्य पदार्थ है वहां यह 'सुधा' से सम्बद्ध है जिसका मूल भारोपीय धातु √dhēi (चूसना) है। स्वादु के लिए मू० भारोपीय में suād—(मीठा), ग्रीक—hedus (मीठा), लातिन—suāvis ऐं० सै० swōti, प्रा० उ० जर्मन suozi प्रा० अंग्रेजी—swēte, अंग्रेजी—sweet पाये जाते हैं। स्वधा का अर्थ यहां 'अपनी प्रकृति' लेना चाहिए।

गर्भत्वमेरिरे—गर्भ के रूप में प्रेरित में किया। अंगिरसों ने यह स्थिर किया कि प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्य पर्वत के गर्भ से निकलें तथा प्रतिदिन गर्भ में जायें। गेल्डनर की टिप्पणी है कि पर्वतगुहा से प्रतिदिन नवीन सूर्योदय की आवृत्ति होती है, यह जन्म है। और अस्तंगत सूर्य पुनः गर्भ बन जाते हैं। यही क्रम चलता है। अथर्ववेद (१३।२।२५) में यही कहा गया है—

रोहितो दिवमारुहत्तपसा तपस्वी।
स योनिमैति स उ जायते पुनः
स देवानामधिपतिर्बभूव ॥

आ + ईरिरे = एरिरे (उन्होंने प्रेरित किया)। √ईर् + लिट् (झ>

इरेच्)। अन्तिम पाद में अंगिरसों की विशेषता है कि उनके नाम यज्ञार्ह हैं। तुलनीय—नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि (ऋ० ६।१।४)।

अर्थ—तब सचमुच ही, उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार (सूर्य को) पुनः गर्भ की स्थिति में जाने को प्रवृत्त किया; वे यज्ञ के उपयुक्त नाम धारण करते थे।

स्वरविचार—(१) आन्—निपात उदात्त। (२) अह—निपात आद्युदात्त (फि० ८०)। (३) स्वधाम्—स्व + √धा + क। स्व-धा। उत्तरपद में कृदन्त शब्द हो गया अतः 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (४) अनु—(५) पुनः—निपात के कारण आद्युदात्त।

(६) गर्भऽत्वम्—गर्भ + त्व। प्रत्ययस्वर—प्रत्ययस्थ अ उदात्त। (७) आऽईरिरे—ध्यान दें कि उपसर्ग तथा तिङ् का समास है। आ + √ईर + इरेच्—चित् के कारण अन्तोदात्त। अथवा समास के कारण भी 'समासस्य' से अन्तोदात्त। 'अह' शब्द के कारण तिङ्निघात नहीं हुआ—तुपश्यपश्यता है: पूजायाम् (८।१।३९)। (८) दधानाः—√धा + शानच्। 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१।१८९) आद्युदात्त। (९) नाम—'नब्विषयस्यनिसन्तस्य' (फि०) आद्युदात्त। (१०) यज्ञियम्—यज्ञ + घ (इय)। प्रत्ययस्वर—प्रत्यय का आदि (इ) उदात्त।

मन्त्र—५

सायण ने मरुतों का अर्थ यहां भी मानते हुए कहा कि मरुद्गण वीळु या दुर्गमस्थानों को पार करनेवाले (आरुजत्नु) हैं ये वाहक (वह्नि) हैं। हे इन्द्र, इनके साथ मिलकर आपने गुहा (पर्वत की गुफा) में छिपी हुई गायों को भी (उस्रियाः) प्राप्त किया है। स्पष्टतः इस मंत्र में वल के उपाख्यान का निर्देश है। सायण भी इसका संकेत करते हैं। देवलोक की गायों को चुराकर पणियों ने उन्हें गुफा में छिपा दिया था। मरुतों की सहायता से इन्द्र उन्हें पुनः पा सके। किन्तु हम लोग देख चुके हैं कि मरुतों ने नहीं, अंगिरसों ने इस काम में इन्द्र की सहायता की थी।

वीळु=दृढ, स्थित, सुरक्षित। दृढ होने पर भी दुर्गम (सायण)। √वीड्=दृढीकरण। मैक्समूलर (SBE XXXII, p.44) ने मेयर की आप्तता के आधार पर ग्रीक Ilios का मूल रूप वीळु को माना है। उन्होंने यह भी कहा है कि इन्द्र के शस्त्रों से मेघ-विनाश का अथवा प्रकाश की शक्ति से अँधेरी रात के घेरे तथा विजय का वर्णन जो वेदों में प्राप्त है उसीके मूलरूप के आधार पर यूनानी कथा में ट्राय के घेरे तथा विजय का वर्णन हुआ था।

इसी से संभवतः वीळु में दृढ़ किलेबन्दी के अर्थ में वैदिक एवं यूनानी दोनों भाषाओं में अपना महत्त्व सुरक्षित रखा है। आर्नल्ड (VM, p. 290) ने यहां वैदिक छन्द के लिए 'वीळू' पाठ का सुझाव दिया है।

आरुजत्नुभिः—आ + √रुज् (भंग करना) + कत्नुच्। भंग करनेवाले, तोड़ने वाले। 'गुहा' शब्द गुहा (स्त्री) की तृतीया में एक वचनान्त रूप है। गुहया > गुहा। यह तो स्वरूप की दृष्टि से विचार हुआ। अर्थ की दृष्टि से—'गुहायाम्' है। गुहा का अर्थ है छिपना, गुप्त स्थान, गुफा। √गुह् = छिपना, अवेस्ता में gaoz, प्रा० फारसी √gaud (छिपना), लिथु०—su-si-gūszti (एक कोने में बैठ रहना) यहां क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त है—'छिपे हुए'। सायण अधिकरण अर्थ लेते हैं।

वह्निभिः—वह्नि (पु०) + भिस्। वह्नि = वहन करनेवाला, दूसरी जगह ले जाने में समर्थ (मरुद्गण—सायण)। देवताओं के पास यज्ञ में दिये गये पदार्थों को ढोकर ले जाने के कारण अग्नि तो 'वह्नि' कहे ही जाते हैं, यज्ञ के प्रतिनिधि के रूप में ऋषि भी वह्नि हैं। ऐसे संकेत हमें 'वह्निरुक्थैः (१।१८४।१, ३।२०।१) तथा 'उक्थवाहः' (८।१२।१३) जैसे प्रयोगों में स्पष्टतः मिलते हैं।

उस्रियाः √वस् (प्रकाशित करना) + रियक् + टाप् = उस्रिया (लाल गायें, गायें)। उस्र = लाल, चमकीला। संभवतः वस् + रक् = उस्र, उस्र + घ = उस्रिय। गायों के सामान्य अर्थ में ही इनका प्रायः प्रयोग मिलता है।

अर्थ—हे इन्द्र ! दृढ़ दुर्गों या घेरों को भी तोड़ देनेवाले तथा (यज्ञ के) नेताओं के साथ मिलकर आपने गायों को छिपे रहने पर प्राप्त कर लिया।

स्वरविचार—(१) वीळु—प्रातिपदिकस्वर—अन्तोदात्त। (२) चित्—चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४)। (३) आरुजत्नुऽभिः—आ + √रुज् + कत्नुच् = चित् के कारण अन्तोदात्त। भिस् सुप् होने से अनुदात्त है। (४) गुहा—गुहा + डा (ङि के स्थान में)। 'ग्रामादीनां च'–(फि० ३८) से आद्युदात्त। (५) चित्—। (६) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (७) वह्निऽभिः—√वह् + नि (नित् मानना)—आद्युदात्त वह्नि-शब्द। (८) अविन्दः—अट् + √विद् + लङ् (सिप्)। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१) अट् उदात्त। (९) उस्रियाः—√वस् + रियक् + टाप्—प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त हुआ है क्योंकि वह रियक् का आदिम स्वरवर्ण है। (१०) अनु—'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१) से आद्युदात्त।

एकादश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

सायण यथापूर्व मरुतों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि ।जिस प्रकार सम्मति देनेवाले इन्द्र की (मतिम्) स्तुति ऋत्विज लोग करते हैं उसी प्रकार मरुद्-गण रूपी देवताओं की कामना करते हुए, स्तुति करनेवाले ऋत्विज (गिरः) उन प्रौढ-पूज्य (महान्) मरुद्गण की स्तुति कर चुके हैं जो अपनी महिमा के द्योतक धन वा वसुओं से युक्त (विदद्वसु) तथा विख्यात (श्रुत) भी हैं। मूल ऋचा से सायण की व्याख्या को मिलाकर देखने पर अंन्वय बड़ा क्लिष्ट मालूम होगा। इसे ग्रासमैन ने तो प्रक्षिप्त मंत्र ही मान लिया है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। बाद की ऋचायें निश्चित रूप से 'अनूषत' क्रिया का कर्म प्रतीत होती हैं।

प्रथम पाद में 'यथा मतिम्' की संगति बैठाना वास्तव में कठिन कार्य है। सायण ने एक वाक्यखंड ही इसे मान लिया है। ऋग्वेद में 'मति' का सम्बन्ध प्रायः√भृ (अर्पण, धारण) के साथ हुआ है, इस आधार पर गेल्डनर ने 'भरन्ति' या 'भरन्तः' का अध्याहार करने का यहां सुझाव दिया है। सायण भी 'स्तुवन्ति' का अध्याहार करते हैं। 'देवयन्तः यथा मतिं भरन्ति'—देवताओं की कामना करनेवाले ऋत्विज जैसे स्तुति करते हैं। तुल०—'नमो भरन्तः' (ऋ० १।१।७)। ग्रासमैन ने 'यथामतिम्' समस्त पद मानने का परामर्श दिया है।

अच्छा—'अच्छ' का छान्दस दीर्घ होकर बना है। कभी पदपूरण, कभी 'ओर' के अर्थ में आता है। 'विदद्वसु' का अर्थ सायण ने किया है—औदार्य आदि गुणों के आधिक्य से अपनी सत्ता आप ही बतलाने वाले धन जिसके पास हैं। √विद् = बतलाना (णिच्) + शतृ + विदत्। बहुव्रीहि समास। मैकडोनल ने ऐसे स्थलों में Governing compound माना है जिसमें स्वरूप बहुव्रीहि का रहता है। देखें—ऋ० १।४।७ में 'मन्दयत्सखम्' पर हमारी टिप्पणी। 'विदद्वसु' का अर्थ होगा धन पानेवाला। √विद् का प्रयोग पाने के अर्थ में बहुत अधिक है। उक्त शब्द इन्द्र का विशेषण है।

'गिरः' गीर् शब्द (स्त्री०) से प्रथमा बहुवचन में है। अर्थ है—स्तुतियां। सायण की तरह स्तुतिकर्ता के अर्थ में लेने की आवश्यकता नहीं है। 'गिरः अनूषत' = हमारी स्तुतियों ने आवाहन किया है। ऐसे प्रयोग ऋग्वेद में अन्यत्र भी हैं—गिरः अनूषत (३।५१।१, ८।९५।१), वाणीरनूषत (८।९।१९ १।७।१), मतयः अनूषत (१०।४३।१)। 'महाम्' (महान्) और 'श्रुतम्' (विख्यात) इन्द्र के विशेषण हैं।

अनूषत—√नु (स्तुति करना) + लुङ् (झ—व्यत्ययसे)। अट् + नु + सिच् + अत। कुटादिगण (१।४।१) के अन्तर्गत होने से ङित् की तरह कार्य—गुणाभाव। छान्दस व्यत्यय से इडभाव, उकार का दीर्घ। 'आदेश-प्रत्ययोः' से षत्व। अनूषत (लोक भाषा में—अनाविषुः)। 'अच्छ' के साथ √नु का अर्थ—'आवाहन करना' है।

अर्थ—जिस प्रकार देवताओं की कामना करनेवाले (देवयन्तो यथा) स्तुति का (गान करते हैं), उसी प्रकार हमारी प्रार्थनायें (गिरः) भी उन महान्, विख्यात तथा धन पानेवाले (इन्द्र) का आवाहन करती हैं। अभिप्राय यह है कि हमारी प्रार्थनायें भी पुरोहित की तरह आवाहन करती हैं। पुरोहित भी देवताओं का आवाहन करते हैं, हमारी स्तुतियाँ यही करती हैं।

स्वरविचार—(१) देवऽयन्तः—देव + क्यच् + शतृ = देवयत्। क्यच् में चकार इत् है अतः 'चितः' (६।१।१६३) से आन्तोदात्त हुआ। क्यच् के बाद लगे—शप् और शतृ जो दोनों ही अनुदात्त हुए। पहला तो पित् के कारण, दूसरा लसार्वधातुक के कारण। क्यच् (अ—उदात्त) + शप् (अ अनुदात्त) + शतृ (अ अनुदात्त) = सबों का अकार एकादेश होने पर 'एकादेश उदात्तेवोदात्तः' से उदात्त अ बचा अतः 'देवयत्' शब्द अन्तोदात्त है। जस् (अनुदात्त) लगने पर 'देवयन्तः' बना है। (२) यथा—यत् + थाल् (प्रकारवचने थाल्)। 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय के पूर्व का (य में अ) उदात्त। (३) मतिम्—मन् + क्तिन् (उदात्त)—'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः' (३।३।९६) से प्रत्यय ही उदात्त है। (४) अच्छ—निपात के कारण आद्युदात्त। संहितापाठ में छान्दस दीर्घ। (५) विदत्ऽवसुम्—√विद् + शतृ = विदत् (णिजर्थ—वेदयत्)। वसु के साथ बहुव्रीहि समास। विदन्ति ज्ञापयन्ति वसूनि यं सः। विद्-धातु अदादि में है अतः शप् का लोप हो जाता है अतः अकारोपदेश के अभाव में लसार्वधातुक अनुदात्त शतृ को नहीं होगा। प्रत्युत प्रत्ययस्वर हुआ। 'विदत्' अन्तोदात्त बहुव्रीहि का पूर्वपद है यही रह गया। उत्तरपद के स्वर का निघात। (६) गिरः—√गॄ + क्विप्। 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) से इकार, रपरत्व। धातुस्वर से उदात्त 'गिर्'। जस् लगने पर गिरः (७) महाम्—'महान्तम्' में न्, त का छान्दस लोप। प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त। (८) अनूषत—तिङ् निघात। (९) श्रुतम्—श्रु + क्त—प्रत्ययस्वर।

मन्त्र—७

इन्द्र के साथ मरुद्गण के सम्बन्ध की बात यहाँ बढ़ायी जा रही है। निर्भय रहने वाले इन्द्र के साथ मिलकर, हे मरुद्गण, आप दिखलायी पड़ें।

इन्द्र तथा आप दोनों ही सदा प्रसन्न रहनेवाले (मन्दू) तथा समान दीप्ति वाले हैं। सायण ने ऋ० ८।९६।७ तथा ऐ० ब्रा० ३।२० का निर्देश करते हुए कहा है कि पुरातन काल में वृत्रवध के समय इन्द्र के सभी मित्र वृत्र के श्वास से दूर भाग गये। तब भी मरुतों ने उन्हें छोड़ा नहीं, इन्द्र ने मरुतों के साथ मिलकर काम किया। ऋग्वेद की उक्त ऋचा में कहा गया है कि वृत्र की साँस से आपके सभी साथी देवताओं ने आपको छोड़ दिया। हे इन्द्र ! आपकी मैत्री मरुतों के साथ बनी रहे, तब आप सभी संग्रामों में विजयी होंगे।

किन्तु यहाँ मरुद्गण की अपेक्षा सूर्य का अर्थ उपयुक्त होगा क्योंकि इन्द्र के साथ वे ही दृष्टिगोचर होंगे। मरुद्गण का अर्थ दूर की कल्पना होगी।

संदृक्षसे—संदृश्येथाः (आप हमारे द्वारा देखे जायें)। √दृश् + लेट् (थास् > से)। अडागम, सिप्, गुणाभाव, षत्व (व्रश्चभ्रस्ज०) को क्—हक् स + से = आदेशप्रत्यययोः' से स का ष—दृक्षसे।

'मन्दू' और 'समानवर्चसा' पदपाठ के अनुसार प्रथमा द्विवचन हैं जिससे इन्द्र और मरुद्गण दोनों के विशेषण के रूप में इसे सायण ने लिया है। किन्तु यास्क ने तृतीया एकवचन मानने का भी सुझाव दिया है—मन्दुना > मन्दू; समान वर्चसा' तो स्पष्ट ही तृ० ए० में हो सकता है। किन्तु यह अनिष्ट-कल्पना है। ग्रासमैन ने 'मन्दू' पर विचार करते हुए इसमें इन्द्र और परिज्मन् (मंत्र ९) को संबोधित माना है।

सायण का अर्थ बिल्कुल ठीक है केवल मरुद्गण के स्थान पर सूर्य मानना चाहिए।

निर्भीक इन्द्र के साथ चलते हुए (= आते हुए) आप अच्छी तरह देखे जायें, आप दोनों प्रसन्न तथा तुल्य कान्तिवाले हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्रेण—रन्प्रत्ययान्त निपातन, अतः आद्युदात्त। (२) सम्—उपसर्ग उदात्त। (३) हि—निपात उदात्त। (४) दृक्षसे—√दृश् + सिप् शप् + अट् + थास् (से—लेट्)। सिप् शप् पित् हैं, अट् आगम है, से लसार्वधातुक है, अतः सभी अनुदात्त हुए। अन्ततः धातुस्वर ही बचा। 'हि च' (८।१।३४) से प्रतिषेध हो जाने के कारण तिङ्निघात नहीं हो सका है। (५) सम्ऽजग्मानाः—सम + √गम् + कानच् (लिट्)। द्वित्व, उपधा-लोप। चित् प्रत्यय होने के कारण शब्द अन्तोदात्त है। गतिसमास है अतः 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर रहा। (६) अबिभ्युषा—नञ् (अ) + √भी + क्वसु। पूर्वपद में अव्यय का प्रकृति-स्वर (६।२।२)। (७) मन्दू इति—प्रगृह्य के कारण इति-करण। √मद्

+ कु। नुमागम—मन्दु। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (८) समानऽवर्चसा —समानं वर्चो ययोरिति (बहुव्रीहिः)। पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद में 'समान' शब्द में प्रातिपदिकस्वर अन्तोदात्त है—वही स्थिर रहा।

मन्त्र—८

इस मंत्र में तृतीयान्त 'अनवद्यैः' 'अभिद्युभिः' और 'काम्यैः' पद गणैः के विशेषण हैं। मरुद्गण निर्दोष (अन् + अवद्य), स्वर्ग की ओर अभिमुख (अभि-द्यु) तथा काम्य (इच्छा के विषय) हैं। सायण सदा की तरह यहाँ भी मरुद्गणों का ही अर्थ लेते हैं। इन के साथ ही इन्द्र को (इन्द्रस्य=इन्द्रम्) बलवान् (सहस्वत्) बनाने के लिए यह मख था यज्ञ इन्द्र की पूजा करता है। यह यज्ञ मरुतों को और इन्द्र को भी प्रसन्न करने का प्रयास करता है। 'गणैः' के विशेषणों की व्याख्या में उचित होते हुए भी 'इन्द्रस्य' के संसर्ग की स्थापना में सायण की भ्रान्ति-स्पष्ट है। इन्द्रस्य को सहस्वत् के साथ मिलाने का व्यर्थ प्रयास किया गया है क्योंकि 'इन्द्रस्य' को 'इन्द्रम्' मानकर सहस्वत् का विशेष्य बनाने से अच्छा 'इन्द्रस्य काम्यैः गणैः' अन्वय करना ही है। इन्द्र के अभीष्ट गणों के साथ=अंगिरस के साथ या उनके वंशज वर्तमान ऋषियों के साथ (गेल्डनर)।

'अभिद्यु' का प्रयोग ऋग्वेद में १४ बार हुआ है। यह दिव्य तथा अदिव्य दोनों प्रकार के जीवों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। अर्थ है—स्वर्गीय स्वर्ग का शासक (दिव्य अर्थ में) स्वर्ग की ओर प्रवृत्त, स्वर्गेप्सु स्वर्गरत, भक्त। कहीं सामान्यतया 'दीप्तिमान्' के अर्थ में भी है। यहाँ 'दिव्य प्रकाश की ओर अभिमुख' अर्थ संगत हो सकता है।

'मखः' यज्ञ के सामान्य अर्थ में होता है यहां लक्षणा से 'मखस्थ ऋत्विज' अर्थ है क्योंकि 'मखः अर्चति' अन्वय से अनुपपन्न है—मख के ऋत्विज इस सबल (गीत) का गान कर रहे हैं (अर्चति)।

स्वर्ग प्रकाश के लिए उन्मुख, निष्कलंक तथा इन्द्र के प्रिय (ऋषि) गणों के साथ मिलकर यज्ञकर्ता इस सबल (गीत) का गान करते हैं।

स्वरविचार—(१) अनवद्यैः—न अवद्यं येषां तेऽनवद्याः (बहुव्रीहि)। अवद्य = नञ् + √वद् + यत् (निपातन)। 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से उत्तर पद का अन्तोदात्त। (२) अभिऽद्युभिः—अभिगता द्यौर्यैस्तेऽभिद्यवः (बहुव्रीहिः)। पूर्व पद का प्रकृति स्वर। पूर्वपद में 'अभि' (प्रातिपादिक के कारण अन्तोदात्त, अथवा 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' से अनाद्युदात्त=अन्तोदात्त) है—उसी का स्वर रहा। (३) मखः—प्रातिपदिकस्वर अर्थात् 'फिषोन्त

उदात्तः' (फि० १) से अन्तोदात्तः । (४) सहस्वत्—सहस् (= बल) + मतुप् (पित्—अनुदात्त) । 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) से सहस् को भसंज्ञा हो गयी जिससे पदसंज्ञा में बाधा पड़ जाने से स् को रु नहीं हुआ (रु होने पर सहोवत् होता)। मतुप् के म को व (८।२।९)। मतुप् तो पित् के कारण अनुदात्त है अतः सहस् का स्वर बचा='नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से नपुंसकलिंग सहस् को आद्युदात्त। (५) अर्चति—तिङ्निघात।

(६) गणैः—गण में प्रातिपदिकस्वर, अन्तोदात्त। अनुदात्त ऐस् (भिसादेश) मिलने पर भी 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) से, वृद्ध्यादेश होने पर उदात्त ही रहा। (७) इन्द्रस्य—पूर्ववत् आद्युदात्त। (८) काम्यैः—√कम् + णिङ् (लोप) + यत्। 'तित्स्वरितम्' (६।१।८५) से स्वरित होने पर भी उसे रोककर 'यतोऽनावः' (६।१।२१३) से आद्युदात्त।

मन्त्र—६

हे परिज्मन् (चारों ओर से व्याप्त करने वाले मरुद्गण) ! आप उस स्थान से (मरुतों के स्थान से) यहां आवें, आकाश से (दिवः) अथवा चमकीले सौर क्षेत्र से भी आयें—हमारे कर्म संपादन के समय आप जहां कहीं हों उन सभी स्थानों से चले आयें। कारण यह है कि इस याग में ऋत्विज गीतों या स्तुतियों को (गिरः) अच्छी तरह सजा रहा है (सम् ऋञ्जते) !

परिज्मन् = घूमने वाला, भ्रमणशील, पथिक। परिज्मन् + आ = परिज्मन्ना। 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्'। 'ज्म' मूलतः 'न्त' या 'न्स' होगा जो ग्रीक में भी दृष्टिगोचर होता है (वाकरनागेल) सायण ने परिज्मन् में √अज् (घूमना) + मनिन् माना है जिसमें व्यत्यय से अ का लोप हो गया है।

समृञ्जते—सम् + √ऋज्ज् (लालसा कामना)। इन्द्र (या सूर्य) में ही हमारी प्रार्थनायें निरत हैं, उनकी कामना करती हैं। यहां प्रथमपुरुष बहुवचन का क्रियारूप है।

अर्थ—हे भ्रमणशील (सूर्य, इन्द्र), आप यहां से आयें, या दीप्तिमान् आकाश से आयें ! हमारी स्तुतियां मिलकर उन्हीं को कामना करती हैं (अस्मिन् ऋञ्जते)।

स्वरविचार—(१) अतः—एतत् + तसिल् (५।३।७)। एतत् का अश् आदेश (५।३।५)—शित् होने से सर्वादेश। अस् + तसिल् = अतः। 'लिति' (६।१।१९३) प्रत्यय के पूर्व का उदात्त होना अर्थात् अ उदात्त हुआ है। (२) परिऽज्मन्—परि + √अज् + मनिन् (३।२।७५) छान्दस

अकारलोप। आमन्त्रित होने के कारण आष्टमिक निघात (८।१।१९)। (३) आ—उपसर्ग उदात्त। (४) गहि—√गम् + लोट् (सिप् > हि)। मलोप, हि का लोप नहीं होता (आभीय असिद्धि के कारण)। तिङ्निघात (५) दिवः—द्यु + ङसि। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) से विभक्ति का ही उदात्त होना। (६) वा—'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ८४) से अनुदात्त। (७) रोचनात्—√रुच् + युच् (अन) = रोचन। चित् के कारण अन्तोदात्त। (८) अधि—कर्मप्रवचनीय को भी निपात के अन्तर्गत रखते हैं अतः आद्युदात्त (फि० ८०) (९) सम्—उपसर्ग उदात्त। (१०) अस्मिन्—इदम् + ङि (स्मिन्)। 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' (२।४।३२) से अश् अनुदात्त आदेश। शित् के कारण सर्वादेश। विभक्ति तो अनुदात्त है ही इस तरह पूरा पद अनुदात्त है। (११) ऋञ्जते—√ ऋजि + श (लट्)। इस धातु का अर्थ 'भूंजना' है। सम् के साथ मिलने पर सजाना, सवांरना अर्थ हो जाता है। तिङ्निघात (१२) गिरः—गिर् (प्रातिपदिकस्वर) + जस्।

मन्त्र—१०

इन्द्र देवता से हमलोग प्रार्थना कर रहे हैं कि वे हमें धनदान (सातिम्) करें। वे हमें चाहे इसी लोक से लाकर धनदान करें जो पार्थिव लोक कहलाता है, या स्वर्गलोक से लायें अथवा विशाल (महः) अन्तरिक्ष लोक से लायें। वे चाहे जहां कहीं से हमें धन दें, उनकी प्रार्थना से हमें प्रयोजन है।

सातिम् और इन्द्रम् दोनों में द्वितीया विभक्ति याचनार्थक 'ईङ् गतौ' के प्रयोग के कारण है। साति का अर्थ गेल्डनर के अनुसार अंगिरसों के सन्दर्भ में पुनः पायी गयी गायों का पुरस्कार है। आधुनिक ऋषियों के सन्दर्भ में दक्षिणा का पुरस्कार भी संभव अर्थ है। सायण ने √सन् (देना) + क्तिन् से इसकी व्युत्पत्ति की है जिससे 'दानम्' अर्थ होता है।

पार्थिवादधि—'अधि' कर्मप्रवचनीय (Preposition) है जिसका पञ्चम्यन्त या सप्तम्यन्त शब्द के साथ प्रयोग होता है। प्रार्थिवः—पृथिव्या विकारः। 'ओरञ्' से अञ् की अनुवृत्ति करके 'अनुदात्तादेश्च' (४।३।१४०) सूत्र के द्वारा अञ् प्रत्यय। पृथिवि में √प्रथ् + षिवन् + ङीष् है। इसका सम्बन्ध 'इतः' के साथ है—इस पार्थिव लोक से। 'महः' मह् (महान्) का पञ्चम्यन्त रूप है। इस रूप में मह् शब्द वैदिक भाषा में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। रजस् (नपुंसक) स्थान या अन्तरिक्ष के अर्थ में होता है।

स्वरविचार—(१) इतः—इदम् + तसिल्। इदम् को इश् आदेश (सर्वादेश ५।३।३) 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (५।३।१) से तसिल् को विभक्ति

संज्ञा' हो गयी। विभक्ति होने से 'ऊडिदंपदा' सूत्र विभक्ति को (असर्वनाम विभक्ति को) उदात्त हुआ। अतएव त का अ उदात्त है। सायण ने शास्त्रार्थ किया है कि इदम् (इश्) + तसिल् करने पर एक ही साथ दो सूत्र आ भिड़े—'ऊडिदम्०' (६।१।१७१) के अनुसार आभ्याम् एभिः की तरह विभक्ति का उदात्त; दूसरी ओर 'लिति' (६।१।१९३) के अनुसार पचनं पाचकः की तरह प्रत्यय के पूर्व स्वरवर्ण का उदात्त। दोनों ही सूत्र नित्य हैं, विकल्प का विधान नहीं करते हैं; अतः परसूत्र होने के कारण 'लिति' का स्थान इष्टतर है, इ को उदात्त होना चाहिए। अब तसिल् विभक्तिसंज्ञक होने के कारण 'ऊडिदम्०' से विभक्ति को उदात्त हो सकता है किन्तु एक परिभाषा है—'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' (परिभाषेन्दुशेखर ४०) अर्थात् दो शास्त्रों की एक ही साथ प्राप्ति (गति) होने पर, जब कि दोनों शास्त्र एक दूसरे का समान रूप से निषेध कर रहे हों, जो शास्त्र एक बार (सकृत्) बाधित हो गया हो वह सदा के लिए बाधित हो गया—अब उसकी पुनर्गति संभव नहीं है। इससे 'ऊडिदम्०' की प्राप्ति तो सदा के लिए समान हो गयी।

पूर्वपक्षियों के इस विचार का उत्तर होगा कि ऐसी बात नहीं है। लक्ष्य (उदाहरण) में विभक्ति उदात्त है उस पर दया करनी चाहिए। परिभाषा है, पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धम् (परि० ३९) अर्थात् कभी-कभी एकाध उदाहरणों की सिद्धि के लिए यह मानना पड़ता है कि पूर्वस्थित शास्त्र परशास्त्र से बाधित होने पर भी पुनः जगाया जाता है, उसका प्रसङ्ग पुनः आता है। इसलिए 'ऊडिदम्०' की प्राप्ति हम पुनः करा सकते हैं, अन्यथा 'इतं' का स्वर अनुपपन्न होगा।

अब यदि कोई कहे कि ऐसी व्याख्या होने पर यतः ततः जैसे शब्दों में 'लिति' (६।१।१९३) के परशास्त्र से बाधित होने पर भी 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) के पुनः प्रसङ्गविज्ञानं के बल पर तसिल् (विभक्ति) को उदात्त कर दें—तो इसका उत्तर होगा कि यत् और तत् शब्द सु (प्रथमा एकवचन) में अवर्णान्त रहते हैं अतः 'न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः' (६।१।१८२) से उक्त कार्य का निषेध हो जायगा। दूसरी बात यह है कि 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानं च' ऐसी परिभाषा नहीं कि जहाँ-तहाँ नचाते चलें। कुछ उदाहरणों की सिद्धि के लिए यह प्रवृत्त हुई है। लक्ष्य के अनुरोध से कहीं-कहीं इसका सहारा किया जाता है।

---

१. तुलनीय-काशिका—तसिलादीनां विभक्तित्वे प्रयोजनं त्यदादिविधयः, इदमो विभक्तिस्वरश्च (५।३।१)।

(२) वा—चादयोऽनुदात्ताः। (३) सातिम्—'ऊतियूतिजूतिसाति०' से क्तिन् उदात्त का निपातन। अतः अन्तोदात्त। (४) इमहे—√ईङ्+ माहिङ् (लट्)। श्यन् विकरण का छान्दस लोप हो गया। धातु चूँकि ङित् है इसलिये 'तास्यनुदात्तेङिददुपदेशात्०' (६।१।१८६) से उसके बाद के तिङ् प्रत्यय को लसार्वधातुक अनुदात्त हुआ। अन्ततः धातु का स्वर बचा। तिङन्त होने पर भी इसे निघात नहीं हुआ है क्योंकि 'चवायोगे प्रथमा' (८।१।५९) से उसका निषेध हो जाता है। च और वा के योग में कई वाक्य बनेंगे जिसमें कई तिङ् होंगे। उनमें प्रथम तिङ् को निघात नहीं होता। यहां पर यद्यपि एक ही तिङ् है किन्तु 'दिवो वा' 'रजसो वा' में भी तो किसी क्रियापद का अध्याहार होगा ही, अतः उसी के आधार पर 'ईमहे' को प्रथम तिङ् कहेंगे।

(५) दिवः—द्यु + ङसि। 'ऊडिदंपदाद्य०' (६।१।१७१) से विभक्ति का ही उदात्त हो जाना। (६) वा—पूर्ववत्। (७) पार्थिवत्—पृथिवि + अञ्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त। (८) अधि—निपात आद्युदात्त।

(९) इन्द्रम्—पूर्ववत् आद्युदात्त। (१०) महः—मह् + ङसि। 'सावेकाचः०' से विभक्ति उदात्त। (११) वा। (१२) रजसः—रजस् शब्द 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' से नपुंसक होने के कारण आद्युदात्त है।

द्वादश वर्ग समाप्त।

सूक्त—७

इस सूक्त में अष्टक पद्धति से १३ वां और १४ वां वर्ग आते हैं। ऋषि-(मधुच्छन्दा), छन्द (गायत्री), देवता (इन्द्र) तथा स्वर (षड्ज) सभी पूर्ववत् हैं। विनियोग कुछ तो पूर्व सूक्त की तरह हैं, कुछ नये भी हैं। महाव्रत याग के निष्केवल्य शास्त्र में इसका पाठ होता है (ऐ० आर० ५।२।१) पुनः अच्छावाक शस्त्र में (जो अतिरात्र के प्रथम पर्याय में पाठ्य है) इस तृच का (प्रथम तीस ऋचाओं का) पाठ होता है।

ऐतरेय आरण्यक में (१।४।१।४) इस सूक्त की प्रथम नौ ऋचाओं को 'अर्कवत्' की संज्ञा दी गयी है। पूरा सूक्त अथर्ववेद (२०।७०।७—१६) में उद्धृत है। वैसे छिटपुट ऋचायें जहाँ-तहाँ अन्य संहिता ग्रंथों में उद्धृत हैं।

मन्त्र—१

मन्त्र का प्रत्येक पाद द्वितीयान्त 'इन्द्र' से आरम्भ होता है। पूर्व सू०. में कई मन्त्रों में इन्द्र का नाम नहीं था—इसकी क्षतिपूर्ति यहाँ की जा रही है! सामगान करने वाले ऋत्विज बृहत्-नामक साम से केवल इन्द्र की ही स्तुति

करते हैं। ऋचाओं के द्वारा ऋक्पाठक यही काम कर रहे हैं। अन्त में अवशिष्ट ऋत्विज अर्थात् अध्वर्यु-गण भी यजुस्-रूपी वाणियों (मन्त्रों) से इन्द्र की ही स्तुति करते हैं। कहीं अर्थ दसवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में भी हैं—गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।

'गाथिनः' गाथ (स्त्री०—गाथा = स्तुति, अवेस्ता—गाथा = सूक्त) शब्द से बना है। अर्थ होगा—स्तुतियों से, गीतों से परिचित लोग। सायण और स्कन्ध ने परम्परा के अनुसार 'गाथिनः' को सामगायक उद्गाताओं के अर्थ में लिया है। 'अर्केभिः अर्किणः' ऋग्वेद के पाठक होताओं से संबद्ध किया गया है। और 'वाणी अनूषत' (यजूरूपाभिः वाग्भिः) अध्वर्यु के यजुर्वेद से सम्बन्ध है।

बृहत्—क्रियाविशेषण के रूप में है—जोरों से। सायण इसके लुप्त तृतीया मानकर 'बृहत्-नामक साम के द्वारा अर्थ करते हैं। अर्क = सूक्त, √अर्च = गाना, स्तुति। आर्मेनियम में' erg = सूक्त। 'वाणीः' वस्तुतः प्रथमा बहुवचन है, जो 'अनूषत' का कर्ता है। इसका अर्थ है—ध्वनि, स्वर,, संगीत, स्तुति। मोनियर विलियम्स ने वृन्दगान या उसके गायकों के अर्थ में इसे रखा है।

अर्थ—इन्द्र की ही गायक-गण उच्चस्वर से, स्तुतिकर्ता स्तुतिगीतों से तथा ध्वनियां (संगीत) भी, स्तुति करती हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्रम्—पूर्ववत् √इद् + रन्—आद्युदात्त। (२) इत—निपात उदात्त। (३) गाथिनः—√गेङ + थन् (उ० २।१६१) = गाथ + इनि। इनि का प्रत्ययस्वर इकार उदात्त हुआ है। यही 'सति शिष्टस्वर-बलीयान्०' के नियम से बचा है। (४) बृहत्—अन्तोदात्त के रूप में निपातन (उ० २।२४१)। (५) इन्द्रम्। अर्केभिः—√अर्च + घ = अर्क, प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। (७) अर्किणः—अर्क + इनि। इनि का प्रत्यय-स्वर। (८) इन्द्रम्। (९) वाणीः—'वृषादीनां च' (६।१।२०३) से आद्युदात्त. (१०) अनूषत—तिङ्नि घात।

मन्त्र—२

इन्द्र वज्र धारण करनेवाले तथा हिरण्यमय (सभी आभरणों से भूषित) हैं। वे अपने दोनों घोड़ों को एक साथ मिलाकर चलनेवाले हैं। ये घोड़े भी उनकी बात पर ही रथ में जुड़ जाते हैं। इस प्रकार इस मंत्र में इन्द्र के विशेषण ही विशेषण हैं। सायण की व्याख्या से अन्वय के बाद भी कुछ कठिनाइयाँ रह ही जाती हैं। 'सचा' = एक साथ, युगपत्। संमिश्लः = संमिश्रः, सम्यक् मिश्रण करनेवाला।

हर्योः सचा संमिश्लः = दोनों घोड़ों को एक ही साथ मिश्र करने वाले, मिला देने वाले। 'संमिश्लः' की योजना पृथक् करके सभी वस्तुओं को मिलाने वाला अर्थ करना अशोभन है। स्कन्द ने भी उपर्युक्त अर्थ ही लिया है। ऋ० ८।३३।४ के 'यः संमिश्लो हर्योयः सुते सचा' के आधार पर 'वचोयुजा' के वाक्य का पार्थक्य संभव है। वेद में मिश्र और मिश्ल दोनों शब्द मिलते हैं। मोनियर विलियम्स के अनुसार महाभारत में इन्द्र का नाम संमिश्ल आया है। अर्थ यही है कि इन्द्र अपने रथ में दोनों घोड़ों को एक ही साथ जोड़ देते हैं।

'आ वचोयुजा' अपने में एक पृथक् वाक्य है, यह कुछ लोगों का विचार है। अध्याहार करके अर्थ किया जायगा—इन्द्र उन घोड़ों पर सवार हो जायँ जो उनकी वाणी से ही रथ में जुड़ जाते हैं। 'आ' के साथ कोई क्रिया चाहिए—आयुनक्तु या आतिष्ठतु। 'वचोयुजा' गेल्डनर के अनुसार 'हरी' का स्थायी विशेषण है। 'हरी' के रूपान्तरित होने पर भी उसी रूप में है। यही विचार सायण और स्कन्दस्वामी का भी है। 'इन्द्र इन घोड़ों पर आरूढ़ हो जायँ' इसका अध्याहार किया जा सकता है।

अंत में इन्द्र को वज्री (वज्रधारण करने वाला) और हिरण्मय (हिरण्य या रत्न से युक्त) कहा गया है। वैसे उनके रथ को भी हिरण्मय कहा गया है—'वज्री रथो हिरण्मयः' (ऋ० ८।३३।४)। स्वयं इन्द्र के विशेषण भी हिरण्यवर्ण (५।३८।२), हरिवर्पस् (१०।९०।१) आदि शब्द हैं। आदित्य (२।२७।९) तथा मरुतों को (५।८७।५) भी हिरण्मयाः कहा जाता है।

अर्थ—इन्द्र अपने दोनों पीले घोड़ों को एक ही साथ मिलाकर रखने वाले हैं; वे अपने आदेश से जुड़ जाने वाले (घोड़ों पर आरूढ़ हों)—ये वही इन्द्र हैं जो वज्र चलाते हैं और स्वर्णिम वर्ण के हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्रः—पूर्ववत् आद्युदात्त। (२) इत्—निपात उदात्त। (३) हर्योः—√हृ + इन् = हरि। नित् के कारण आद्युदात्त। ओस् (अनुदात्त) विभक्ति। (४) सचा—निपातस्वर। (५) सम्ऽमिश्लः—सम् + √मिश्र (मिश्रयति) + घञ्। सम्यक् मिश्रो यस्य सः (बहुव्रीहि)। पूर्वपद प्रकृतिस्वर। (६) आ—निपातस्वर। (७) वचःऽयुजा—वचसा युज्येते इति वचोयुजौ। तयोः। वचोयुजयोः। षष्ठी द्विवचन के स्थान में 'सुपां सुलुक्०' से आकार + √युज् धातुस्वर से अन्तोदात्त। वचोयुज् में उत्तरपद में कृत् होने के कारण उत्तरपद का प्रकृतिस्वर। वही उकार उदात्त रहा। (८) इन्द्रः। (९) वज्री—वज्र + इनि। इनि प्रत्यय

का स्वर—इकार उदात्त, वज्रिन् में। (१०) हिरण्मयः—हिरण्य + मयट्। छान्दस मकार लोप (६।४।१७५)। हिरण्य + अय। प्रत्यय स्वर से अ को उदात्त स्वर हुआ।

मन्त्र—३

इन्द्र ने संसार भर के दीर्घकालीन प्रकाश के लिए सूर्य को आकाश में ले जाकर स्थापित कर दिया। वृत्र के द्वारा फैलाये गये अंधकार को दूर करने के अनंतर प्राणियों को प्रकाश देने या उन्हें दृष्टि शक्तिप्रदान करने के लिए (चक्षसे) इन्द्र ने सूर्य को स्थापित किया। उधर सूर्य ने भी अपनी किरणों के द्वारा संसार में प्रकाश-पुंज बिखेरे तथा अद्रि-आदि समस्त पार्थिव जगत्को दृष्टि पथ में आने की प्रेरणा दी। यहाँ अद्रि को पार्थिव पदार्थों का उपलक्षण मान लिया गया है। दूसरा विकल्पार्थ सायण ने सुझाया है कि तृतीय चरण में इन्द्र का उल्लेख है—इन्द्र ही जलों से (गोभिः) मेघ को (अद्रिं) प्रेरित करते हैं।

दीर्घाय चक्षसे—दूर-दूर तक देख सकें इसके लिए। दीर्घ = लम्बा, विस्तृत √द्राघ् = खींचना, लम्बा बढ़ाना। अवेस्ता-daraega. draegha ग्रीक-dolikho-s (लम्बा)। चक्षस् = दृष्टि। √चक्ष् (देखना) < √कस् या √काश् (चमकना) का द्वित्व। अवेस्ता-चश् (देखना), चश्मन् (आँख)।

द्वितीय पाद के समानान्तर उद्धरण—(१) ऐरया सूर्यं रोहयो दिवि (ऋ० ८।८९।७); आ सूर्यं रोहयो दिवि (जमि की कथित, ऋ० १०।१५६।४)। इन्द्र ने ही सूर्य को आकाश में उदय के योग्य बनाया। जब तक वृत्र का राज्य था, संसार में अन्धकार फैला था। इन्द्र ने उसे मारा और सूर्य आकाश में उदित हुए। तुलनीय—

वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिम्।
आदित्सूर्यं दिव्या रोहयो दृशे॥ (ऋ० १।५१।४)

गोभिः अद्रिमैरयत्—सम्भवतः अद्रिरूप में विद्यमान वृत्र को मार कर गायों की रक्षा की ओर संकेत है। उन्होंने अद्रिगुहा खोल दी (ऐरयत्)।

अर्थ—सबों के दूर से देख सकने के लिए सूर्य को इन्द्र ने आकाश में आरूढ कराया, उन्होंने ही गायों के लिए (गोभिः निमित्तैः) पर्वतखण्ड भी उद्घाटित किया।

स्वरविचार—(१) इन्द्र–√इद् + रन्–आद्युदात्त, नित् के कारण। (२) दीर्घाय–दीर्घ शब्द में प्रातिपदिकस्वर अर्थात् अन्तोदात्त। (३) चक्षसे–√चक्ष् + असुन् = चक्षस्। नित् के कारण आद्युदात्त। (४) आ–उपसर्ग उदात्त। (५) सूर्यम्–√सु (षू प्रेरणे) + क्यप् (निपातन)

प्रत्यय पित् है अतः धातुस्वर बचा। (६) रोहयत्-तिङ् निघात। (७) दिवि-द्यु + ङि। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) द्यु के बाद विभक्ति को ही उदात्त होना। (८) वि-उपसर्ग उदात्त। (९) गोभिः-गो का प्रातिपदिकस्वर। (१०) अद्रिम्—√अद् + क्रिन्। अदन्ति पशवस्तृणादि कमन्न इति अद्रिः। नित् के कारण आद्युदात्त-'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७)। (११) ऐरयत्—√ईर्√ + णिच् + लङ् (तिप्)। तिङ्निघात।

मन्त्र—४

हे इन्द्र, आप उग्र हैं अर्थात् शत्रुगण आप को कभी दबा नहीं सकते। तो अपनी उग्र रक्षाविधियों का प्रयोग कर के हमारी रक्षा युद्धों में करें। सामान्य युद्धों के अतिरिक्त उन युद्धों में भी हमें बचावें जहाँ हजारों की संख्या में गज, अश्व आदि प्रकृष्ट धनों की प्राप्ति हो।

वाज के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु रक्षा के प्रयोग से यहां युद्ध अर्थ ही अच्छा है। 'सहस्रप्रधन' में 'प्रधन' का विनाश अर्थ भी सम्भव है-जहाँ हजारों का नाश हो रहा हो वहाँ भी हमारी रक्षा करें। यह अर्थ प्रासंगिक भी है। लौकिक भाषा में तो 'प्रधन' विनाश के अर्थ में है ही—क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः (मेघदूत १।५१) किन्तु वेद के सभी व्याख्याकार प्रधन = प्राप्ति ही रखते हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्र-'आमन्त्रितस्य च' से आद्युदात्त (६।१।१९८)। (२) वाजेषु-वाज शब्द 'वृषादीनां च' (६।१।२०३) से आद्युदात्त है। (३) नः-अनुदात्तं सर्वमपादादौ, बहुवचनस्य वस्नसौ—अनुदात्त। (४) अव-तिङ् निघात।√अव् (रक्षा करना) । नः + अव = नोऽव। प्रकृतिभाव नहीं हुआ क्योंकि यहाँ अ के बाद व है। द्रष्टव्य-'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (६।१।११५)। (५) सहस्रऽप्रधनेषु-सहस्रं प्रधनानि येषु तेषु (बहुव्रीहि)। पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद का सहस्र शब्द 'कर्दमादीनां च' (फि० ५९) से मध्योदात्त है। वही रहा। (६) च-चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४)। (७) उग्रः-'ऋज्रेन्द्र०' (उ० २।१८६) से रन्। नित् होने पर भी व्यत्यय से अन्तोदात्त। (८) उग्राभिः-पूर्ववत्। (९) ऊतिऽभिः-'ऊतियूति०' से क्तिन् उदात्त।

मन्त्र—५

इन्द्र को हमलोग प्रचुर धन की प्राप्ति के लिए बुला रहे हैं। यदि अल्प

धन की प्राप्ति हो तो भी इन्द्र को ही बुलायेंगे। इन्द्र सहायता करने वाले (युजं) तथा शत्रुओं पर वज्र चलाने वाले हैं।

.सायण के अनुसार 'महाधने' और 'अर्भे' धन के अर्थ में हैं—चाहे महाधन हो या थोड़ा धन, दोनों के निमित्त इन्द्र ही हैं। किन्तु ऋ० १।४०।८, ११२।१७ आदि स्थलों के आधार पर महाधन का अर्थ 'भीषण युद्ध' लगता है। युद्ध में प्राप्य विजय पुरस्कारों की पुष्कलता भी असंभाव्य अर्थ नहीं। 'अर्भे' का अर्थ 'छोटा' युद्ध है। लातिन-orbus, ग्रीक orphanas. आर्मेनियन arbaneak, orb. भारो० orbho-(छोटा)।

वयम् के समानान्तर अवेस्ता waēm, गाथिक veis, अंग्रेजी we, जर्मन wir, भारो०-*vei हैं। वृत्रेषु = शत्रुओं के प्रति। गेल्डनर ने कहा है कि यह वृत्रहत्येषु का संक्षिप्त रूप है।

अर्थ—बड़े युद्धों में या छोटे युद्ध में हम इन्द्र को बुला रहे हैं। ये वही इन्द्र हैं जो हमारे मित्र की तरह शत्रुओं के प्रति वज्र धारण (संचारण) करते हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्रम्–पूर्ववत्। (२) वयम् + अस्मद् + जस्। अस्मद् के मपर्यन्त का 'वय' आदेश (७।२।९३ यूयवयौ जसि)। प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त। (३) महाऽधने—महच्च तद्धनम् (कर्मधारयः)। 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त। (४) इन्द्रम्। (५) अर्भे—√ऋ (अर्ति) + भन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (६) हवामहे—√ह्वेञ् + लट् (महिङ्)। संप्रसारण (हु), गुण (हो), अवादेश (हव्)। शप् के अ में मिलकर हव + महे (टित आत्मनेपदानां टेरे)। 'अतो दीर्घो यञि' से व में आकार—हवामहे। 'तिङ्ङतिङः' से निघात (पूरे का अनुदात्त हो जाना)। (७) युजम्–√युज् + क्विप्। धातुस्वर से उकार उदात्त। (८) वृत्रेषु–√वृत् + रक्। (९) वज्रिणम्—वज्र + इनि। प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त।

त्रयोदश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

इस मंत्र में इन्द्र को 'सत्रादावन्' और 'वृषन्' कहकर सम्बोधित किया गया है। वृषन् का परम्परा-प्राप्त अर्थ है—वृष्टि करने वाले या कामनाओं की पूर्ति करने वाले (√वृष्)। 'सत्रादावन्' को सायण ने 'हमारे सारे अभीष्ट फलों को एक ही साथ प्रदान करने वाला' इस अर्थ में रखा है। इंद्र हमारे लिए कभी प्रतिस्खलित (प्रतिस्कुत) नहीं हुआ करते। वे हमारे लिए

सामने विद्यमान मेघ (चरुम्) को अपावृत करें, उद्घाटित करें जिससे वर्षा हो और हम सुखी हों। इन्द्र हमारी कोई भी याचना ठुकराते नहीं हैं।

'सः' से यहाँ बुद्धिस्थ इन्द्र का परामर्श होता है। यह अनिश्चयवाचक सर्वनाम है। (द्रष्टव्य--मैकडोनल vgs, p 294)। रैप्सन ने स और सः को वैकल्पिक रूप मानते हुए कहा है कि अवेस्ता के 'हा' और 'हस् (चित्)' एवं ग्रीक के ho और hos की तरह ये भी विकल्प रूप हैं।

'वृषन्' का अनुवाद (वृष, वृषभ आदि का भी) पाश्चात्य विद्वान् साँड (bull) के रूप में करते हैं। जर्मन-विद्वान् हिलेब्रैंट ने इस पर टिप्पणी दी है कि प्राचीन आर्यों में सांढ बल, पौरुष, शौर्य-वीर्य आदि उदात्त गुणों का प्रतीक था। पशुपालन चूँकि आर्यों का मुख्य धन्धा था इसलिए उसीसे सम्बद्ध रूपक वे अपने वीर देवों के लिए रखा करते थे। इसमें भारतीयों की धर्म-भावना को क्षति पहुंचने का प्रश्न नहीं है। किन्तु, वस्तुस्थिति चाहे जो हो, प्राचीन काल में सांढ पौरुष का प्रतीक हो या नहीं—परम्परा ने कभी ऐसे अर्थ का संकेत भी नहीं किया। √वृष् से बने प्रस्तुत शब्द का अर्थ वर्षा करने वाला, कामनाओं की पूर्ति करने वाला आदि रखना ही ठीक है। प्रस्तुत मंत्र में तो इसकी संगति और भी ठीक है क्योंकि मेघ को पृथ्वी पर वर्षा करने का इन्द्रादेश यहां वर्णित है।

सत्रादावन्—'सत्रा' = अधिक, प्रचुर (ग्रेस्डनर)। दावन् = देनेवाला (√दा + वनिप्)। सायण सत्र का अर्थ 'सह' (एक ही साथ) रखते हैं। मैकडोनल (VGS. p–213) का अर्थ 'एक ही स्थान में' है। त्रल् प्रत्यय स्थान के अर्थ में ही होता है। उपयुक्त अर्थ होगा—एक ही स्थान में सभी फल देनेवाला।

अपा वृधि = अनावृत करें। 'अप' का छान्दस दीर्घ। वृधि—√वृ + लोट् (हि > धि)। अप्रतिष्कुतः—विरोध रहित, तिरस्कार रहित। √स्कुञ् (आप्रवणे क्या०)। सायण √कुङ् (शब्दे) से इसे निष्पन्न मानकर अर्थ करते हैं कि इन्द्र हमारी याचना पर 'नहीं देंगे' ऐसे प्रतिशब्द का प्रयोग नहीं करते हैं। पारस्करादि गण से (६।१।१५७) यहां सुडागम माना गया है। मैकडोनल √स्कु० (चीरता) से ही 'स्कुत' की व्युत्पत्ति करते हैं। अप्रतिष्कुत = अनिच्छारहित। चरु = पात्र, हव्यपात्र। यह उन मूल्यवान् वस्तुओं का प्रतीक है जो इन्द्र के अधिकार में विद्यमान हैं। निरुक्त (६।१६) की टीका में दुर्ग तथा सायणादि इसे मेघ के अर्थ में लेते हैं।

अर्थ—सभी वस्तुएँ एक ही स्थान में देने वाले तथा वृष्टिप्रद इन्द्र! आप

हमारे लिए कभी अनिच्छा का प्रदर्शन नहीं करते अतः हमारे लिए सामने विद्यमान पात्र (मूल्यवान् वस्तुओं से भरे) को अनावृत कर दें।

स्वरविचार—(१) सः—प्रातिपदिकस्वर। (२) नः—पूर्ववत् (४र्थ मंत्र में)। (३) वृषन्—अमंत्रित-निघात (८।१।१९)। (४) अमुम्—अदस् + अम्। अदस् का प्रातिपदिक स्वर (अन्तोदात्त)। (५) चरुम्—√चर् + उ। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (६) सत्राऽदावन्—सत्रा (सह) + √दा + वनिप्। 'आमन्त्रितस्य च' (६।१९८) से आद्युदात्त। पादादि में होने से निघात नहीं हुआ। (७) अप—उपसर्ग आद्युदात्त। छान्दस दीर्घ केवल संहिता में। (८) वृधि—तिङ् का निघात। (९) अस्मभ्यम्-अस्मद् + भ्यस् (भ्यम्)। 'शेषे लोपः' से द् का लोप। प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। (१०) अप्रतिऽष्कुतः—नञ् + प्रति + √कुङ् (सायण, अथवा √स्कुञ्) + क्त। नञ् समास में अव्यय पूर्वपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् प्रथम अ उदात्त हुआ (६।२।२)।

मन्त्र—७

अन्य देवताओं से अपने उपास्य इन्द्र की विशेषता का प्रदर्शन करने वाले ऋषि की यह उक्ति है कि फलदान करने वाले विभिन्न देवताओं (तुञ्जे तुञ्जे) के लिए जो स्तुतियां बहुत उत्कृष्ट समझी जाती हैं वे वज्रधारी इन्द्र के लिए अच्छी नहीं हैं। इन्द्र में इतने गुण हैं कि जिन स्तोत्रों से अन्य देवताओं की उत्तम अर्चना हो सकती हैं वे स्तोत्र ही मुझे इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए अच्छी स्तुति के रूप में प्रतीत नहीं होते हैं। सायण ने यही अर्थ दिया है।

यह मंत्र निरुक्त (६।१७–१८) में भी आया है जिसमें यास्क का कथन है कि प्रत्येक (स्तुति) दान में जो स्तोत्र उत्कृष्टतर होते जाते हैं उनसे भी वज्रधर इन्द्र की स्तुति की समाप्ति मैं नहीं कर पाता हूँ। गेल्डनर ने भी यास्क का ही अर्थ लिया है।

तुञ्जे तुञ्जे—विरुद्ध समास है (Iterative Compound) है। √तुञ्=दान करना। प्रत्येक दान में अर्थात् प्रत्येक स्तुति के दौरे में (at each strain)। जैसे-जैसे स्तुति होती है, स्तुतियां उत्कृष्टता होती जाती है।

विन्धे—√विन्ध (विध्) = सेवा, संतोष। सायण √विद् = पाना। तुदादि के कारण 'श'। 'शे मुचादीनाम्' (७।१।४९) से नुम्। व्यत्यय से द का ध।

सुष्टुतिम्—सु + स्तुति। अच्छी स्तुति। इन्द्र की अच्छी स्तुति के रूप में मुझे संतोष नहीं हो रहा है। सु + √स्तु + क्तिन्। प्रादिसमास। 'उपसर्गा-

स्सुनोति०' (८।३।६५) से षत्व। इसके स्वर पर सायण ने विस्तारपूर्वक विवेचना की है जो प्रायः ३५ पंक्तियों में फैली है।

अर्थ—यद्यपि वज्रधारी इन्द्र की स्तुतियां प्रत्येक स्तुतिदान में क्रमशः उत्कृष्टतर होती जा रही हैं तथापि मैं (उन स्तुतियों को) अच्छी स्तुति के रूप मानकर संतुष्ट नहीं हूँ।

स्वरविचार—(१) तुञ्जेऽतुञ्जे—√तुञ्ज् + अच् = तुञ्जः (चित्त होने से अन्तोदात्त)। तुञ्जे की द्विरुक्ति 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) से। द्वितीय पद को आम्रेडित-संज्ञा और अनुदात्त। 'तस्य परमाम्रेडितम्, 'अनुदात्तं च' (८।१।२-३)। (२) ये—प्रातिपदिकस्वर। (३) उत्ऽतरे—उत् + तरप्। अन्तर्भूत धातु से प्रत्यय विधान। पित् का स्वर अनुदात्त है अतः उत् के स्वर की रक्षा। सायण के अनुसार—उत + तॄ√ + अप्। उत्कृष्टः तरो यस्य (बहुव्रीहि)। पूर्वपद का प्रकृतिस्वर (=उत् उपसर्ग का उदात्त होना) (४)। स्तोमाः—√स्तु + मन्। नित् के कारण आद्युदात्तः। (५)—इन्द्रस्य—पूर्ववत्। (६) वज्रिणः—वज्र + इन् + जस् (अनुदात्त) इन् का प्रत्ययस्वर। इ उदात्त (७) न—निपात उदात्त। (८) विन्धे—तिङ्निघात। (९) अस्य—'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' (२।४।३२) से इदम् का अश् आदेश। अश् + ङस् (अनुदात्त)। दोनों अनुदात्त = सर्वानुदात्त पद। (१०) सुऽस्तुतिम्—सु + √स्तु + क्तिन्। शोभना स्तुतिर्यस्याम् (बहुव्रीहि)। 'नञ्सुभ्याम्' (६।१।१७२) से अन्तोदात्त। अथवा 'सुष्टुति = ऋचा' करके 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' से क्तिच् प्रत्यय लगावें। चित् के कारण अन्तोदात्त।

['सुष्टुति' पर सायण की विवेचना—(१) सबसे पहले सु + स्तुति का समास होने पर पूर्वपद में अव्यय होने के कारण पूर्वपद का प्रकृतिस्वर (६।२।२) होना चाहिए (सु को उदात्त), किन्तु उसे रोककर 'गतिकारकोपपदात्कृत' (६।२।१३९) से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर (= क्तिन्नन्त स्तुति में उ उदात्त) होना चाहिए। इसका भी अपवाद है—तादौ च निति कृत्यतौ' (६।२।५०) अर्थात् तकरादि नित् (न् जहां इत् हो) कृत्प्रत्ययान्त शब्द यदि पर में हों तो अव्यवहित गतिसंज्ञक शब्द को प्रकृतिस्वर होता है। इसमें सु को ही उदात्त हो जायगा। इसमें भी बाधा देनेवाला सूत्र है—'मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः' (६।२।१५१) अर्थात् मन्नन्त, क्तिन्नन्त, व्याख्यादि शब्द यदि उत्तर पद में हो तो अन्तोदात्त होते हैं। इसी से 'सुष्टुति' शब्द अन्तोदात्त हुआ।

ऋग्वेद के निम्नांकित मन्त्रों में यह शब्द इसीलिए अन्तोदात्त है—सुहवां

सुष्टुती हुवे (२।३२।४), वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् (८।७५।६), यास्ते राके सुमतयः (२।३२।५)।

(२) यहां पुनः प्रश्न होता है कि 'मन्क्तिन्०' सूत्र में ऊपर से 'कारकात्' की अनुवृत्ति आती है। अतएव मन्नन्त, क्तिन्नन्त आदि अन्तोदात्त तभी होंगे जब कारक के बाद आये हों जैसे—पाणिनिकृतिः। काशिकावृत्ति में इसके प्रत्युदाहरण में कहा गया है—'कारकादित्येव। प्रकृतिः प्रहृतिः' (६।२।१५१) अर्थात् प्रकृति आदि शब्दों में जहां पूर्वपद में कारक नहीं क्तिन्नन्त शब्द अन्तोदात्त नहीं होंगे। सुष्टुति की भी तो यही अवस्था है, उसमें अन्तोदात्त कैसे होगा ?

सायण कहते हैं कि स्तुति की निरुक्ति है 'स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः' (करणे क्तिन्)। अतः यह क्तिन् करणार्थक ऋक् का वाचक है सुशब्द के द्वारा करण की विशेषता प्रकट होती है, धात्वर्थ की नहीं। फलतः सुष्टुति में सु कारक का ही बोधक है। प्रकृति, प्रहृति शब्दों में प्र धात्वर्थ का विशेषण था इसलिए उसकी उपपत्ति प्रत्युदाहरणों के रूप में होती है।

(३) किन्तु पूर्वपक्षी कहेंगे कि यह बात ठीक नहीं। ऐसा होने पर (सु को कारण का विशेषण मानने पर) सु का संबन्ध क्रिया से नहीं हो सकेगा तथा 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (१।४।५८) से सु को जो उपसर्ग संज्ञा होती है, नहीं हो सकेगी। विपत्ति यहीं तक सीमित नहीं। 'उपसर्गात्सुनोति०' इत्यादि सूत्र से षत्व करते हैं वह भी नहीं होगा क्योंकि सु तो उपसर्ग रहा नहीं—'सु + स्तुति=सुष्टुति' कैसे होगा ?

(क) पूर्वपक्षियों को एक आशंका है कि 'मन्क्तिन्' के समर्थक एक दूसरे मार्ग से आ सकते हैं—क्तिन् से करण का बोध हो रहा है और करण होता क्रिया का साधन; इसलिए करण का विशेषण सु-शब्द भी करण के अन्तर्गत क्रिया के साथ संबंध होने से उपसर्ग कहला सकेगा। पूर्वपक्षी कहेंगे कि ऐसी बात नहीं है। जिस क्रिया से जो युक्त रहेगा उसके प्रति ही वह उपसर्गसंज्ञक होता है (पा० १।४।६० पर वार्तिक)। अतः 'करोति' अर्थ के प्रति ही सु उपसर्ग होगा, स्तु-धातु के अर्थ के प्रति नहीं। परिणामतः स् का ष् नहीं ही हो सकेगा।

(ख) पूर्वपक्षियों को दूसरी आशंका भी है। समर्थक गण कहेंगे कि स्तु-धातु के अर्थ (स्तुति करता) के द्वारा ही उसके करण का विशेषण सु-शब्द बन जायगा। जो स्तुति शोभन (सु) है, उसका करण (साधन = ऋचा) भी शोभन ही होगा। इस प्रकार स्तु धातु के अर्थ से संबन्ध होने पर उसके प्रति सु उपसर्ग होगा और षत्व ग्रहण करायेगा। इसी से करण का

विशेषण हाने के कारण सु कारक का भी वाचक हो जायेगा। काशिकावृत्ति का बिना विरोध किये ही सुष्टुति-शब्द 'मन्क्तिन्०' मूल के द्वारा सरलता से अन्तोदात्त होगा। 'प्रकृतिः प्रहृतिः' शब्दों में भाववाचक क्तिन् प्रत्युदाहरण के रूप में है। पूर्वपक्षी इस स्थापना का परिहार करते हुए कहते हैं कि यह ठीक नहीं। वहाँ प्रशब्द करणवाचक ही है तब आप कह सकते हैं कि यह प्रत्युदाहरण में क्यों चला गया, उदाहरण में ही क्यों नहीं रखा गया—करण वाचक है तो कारक है, और कारक के बाद क्तिन्नता अन्तोदात्त होता है, इस नियम के उदाहरण में इसे क्यों नहीं दिया गया? बात ऐसी है कि करण में क्तिन् का जो उदाहरण होता है उसमें भी केवल धात्वर्थ का विशेषण होना मानते हैं, प्रत्ययार्थ का भी विशेषण होगा, यह नहीं मानते। यही कारण है कि प्रकृति आदि प्रत्युदाहरण हुए। प्र√कृ का विशेषण है, क्तिन् का नहीं। सुष्टुति में तो क्तिन् के वाचक करण तक सु-शब्द का व्यापार है इसलिए यह उदाहरण ही है, प्रत्युदाहरण नहीं।

(४) सायण पूछते हैं कि 'सुष्टुति' में सुशब्द श्रुति (Verbally) से ही प्रकृति और प्रत्यय दोनों अर्थों के विशेषण के रूप में है या एक का विशेपण श्रुति से और दूसरे का अर्थ से है? और जहाँ दोनों का विशेषण है तो वहां एक ही साथ है या क्रमशः? यदि एक साथ मानते हैं तो प्रत्येक विशेष्य में विशेषण पद की आवृत्ति होने लगेगी और यदि क्रमशः मानते हैं तो विरत हो जाने के बाद भी व्यापार का संचालक मानना पड़ेगा। नियम है कि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म एक बार विरत हो जाएँ तो उनका अग्रिम व्यापार नहीं चल सकता। जो रुके सो रुक ही गये। अतः श्रुति से उभय विशेषण नहीं होगा। अब दूसरा विकल्प लें कि एक में श्रुति से, दूसरे अर्थ से विशेपण होगा। यहां कठिनाई यह है कि धात्वर्थसंबंध को अर्थसंबंध मानें तो षत्व की असिद्धि होगी, प्रत्ययार्थसंबंध को आर्थिक मानें तो 'मन्क्तिन्०' के स्वर की असिद्धि होगी। इसके अलावे अर्थ से कारकसंबंध का अभिधान करें तो प्रकृति आदि प्रत्युदाहरण नहीं होंगे। श्रुति से केवल धात्वर्थ संबंध मानते हैं तो प्रशब्द के अर्थ में करण का संबन्ध किसी तरह ले ही आयेंगे।

अतः यहां केवल प्रत्ययार्थ का संबन्ध स्वीकार करके स्वर की सिद्धि करें, षत्व को छान्दस मान लें। अथवा स्वर विचार में निर्दिष्ट प्रक्रिया से स्वर सिद्धि की जाय।

मन्त्र—८

जिस प्रकार वृषभ गोसमूह को प्राप्त करता है उसी तरह इन्द्र भी जो

कामनाओं की वर्षा करने वाले, सामर्थ्यवान् तथा याचकों को सूखा उत्तर न देने वाले हैं, मनुष्यों को प्राप्त करते हैं।

वृषा यहां विशेषण के अर्थ में है—सबल, उद्दाम आदि। यह वंसगः (वृषभ) का विशेषण है। जिस प्रकार सबल वृषभ यूथ का संचालन करता है··· । सायण इन्द्र का वाचक इसे मानते हैं। वंसगः = वृषभ। √वन् + √गम् (वचनीयगतिः वृषभः–सायण)। कृष्टीः—कृषक, मनुष्य। √कृष् = जोतना, खेती करना। गेल्डनर ने कृष्टि और चर्षणि का पारस्परिक संबन्ध माना है जिससे √कृष् का अर्थ 'घूमना, चक्कर काटना' है। √चर् = लातिन–Versari, ग्रीक–telos, सामान्यतया कृष्टि मनुष्य के अर्थ में है। प्रायः इसका बहुवचन प्रयोग ही हुआ है। इसी अर्थ में 'पञ्च जनाः' का प्रयोग भी अनेक बार हुआ है। अगला मंत्र भी देखें।

इयर्ति—√ऋ + (श्लु) + तिप्। द्विर्भाव, ऋकार का अकार (७।४।६६) हलादि-शेषः। अ का इकार—इ अर् ति। इयङ् आदेश इयर्ति > इयर्ति = जाता है।

अर्थ—जिस प्रकार कोई बलिष्ठ वृषभ गोयूथ का संचालन करता है उसी प्रकार अपने बल से शासन करने वाले, अस्खलित इन्द्र देवता मनुष्यों का संचालन करते हैं।

स्वरविचार—(१) वृषा—√वृष् + कनिन्। नित्—आद्युदात्त। (२) यूथाऽइव = यूथेव—√यु + थक्। यूथ में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। 'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' (२।१।४ वा०)। इव के साथ समास। यूथ के प्रकृति स्वर की रक्षा। (३) वंसगः—पृषोदरादि गण के अन्तर्गत साधुत्व और स्वर—आद्युदात्त की सिद्धि। सायण की असामर्थ्य। (४) कृष्टीः—√कृष् + क्तिच्। चित् के कारण अन्तोदात्त। (५) इयर्त्ति—तिङ्निघात + (६) ओजसा—√उब्ज् + असुन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (७) ईशानः—ईश् + सानच्। 'चितः' से होने वाले अन्तोदात्त को रोककर लसार्वधातुक होने से शानच् को अनुदात्त, अतः धातु का स्वर। (८) अप्रतिऽस्कुतः—नञ् + प्रति + सुट् कु + क्त। अव्यय पूर्वपद का प्रकृति स्वर। छठा मंत्र भी देखें।

मन्त्र—६

ये वही इन्द्र हैं जो अकेले ही सभी मानवों पर (चर्षणीनाम्), सभी संपत्तियों पर तथा पाँच निवासियों पर भी शासन करते हैं।

यहां एक बहुत प्रसिद्ध शब्द आया है—पञ्च क्षितीनाम्। √क्षि = निवास करना। क्षिति = निवासी, जन, मनुष्य। 'पांच मनुष्यों' का उल्लेख वेद में

बहुधा मिलता है—पञ्चजनाः, पञ्च मानुषाः, पञ्च चर्षणयः इत्यादि। ये कौन-सी पांच जातियां थीं? मैकडोनल तथा कीथ ने (Vedic Index, I, p, 466) इसके विभिन्न मतों का संकलन किया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।३१) के अनुसार ये पांच हैं—देवता, मनुष्य, गन्धर्व तथा अप्सरा, सर्प, पितृगण। यास्क का कथन है—गन्धर्व पितृगण, देव, असुर, राक्षस। औपमन्यव ने उसी स्थान पर (नि० ३।८) चार वर्णों तथा निषाद को 'पञ्चजनाः' के अन्तर्गत रखा है। सायण का भी यही विचार है। रॉथ और गेल्डनर ने चारों दिशाओं के व्यक्ति तथा मध्यदेशीय आर्यों को मिलाकर पांच की पूर्ति की है। किन्तु जिमर (Zimmer) ने इसका खंडन किया है कि इससे केवल आर्यों का ही बोध होता है। तदनुसार उन्होंने अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश, पूरु ये नाम दिये हैं जो आर्यों की जातियां थीं। शाकपूणि ने चार ऋत्विजों और यजमान का अर्थ रखा है। हिलेब्रैंट ने सबों का उपसंहार किया है कि वेद में 'पञ्च' का कोई निश्चित रूप अवश्य था किन्तु उत्तर वैदिककाल में इनका स्वरूप कल्पना का विषय हो गया। पीछे ये देवरूप में भी आ गये।

इरज्यति—√इरज् = ईर्ष्या, ऐश्वर्य। √रज् (ऋज्) का यगन्त रूप है। 'शासन करता है' यही इसका अर्थ है। चर्षणि = मनुष्य, जाति, दल, वर्ग।

स्वरविचार—(१) यः—प्रातिपदिक स्वर। (२) एकः—√इण् + कन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (३) चर्षणीनाम्—चर्षणि शब्द फिट् स्वर से अन्तोदात्त है। 'अन्तोदात्तात्' की अनुवृत्ति करके 'नामन्यतरस्याम्' (६।१।१७७) से 'नाम्' विभक्ति का उदात्त होना। [४] वसूनाम्—√वस् + उ [नित्]। नित् के कारण आद्युदात्त। [५] इरज्यति—√इरज् + यक् [कण्ड्वादि] + तिप्। यक् का प्रत्ययस्वर। [६] इन्द्रः। [७] पञ्च—√पच् + कनिन्। आद्युदात्त। [८] क्षितीनाम्—क्षिति शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है। अन्तोदात्त के बाद 'नामन्यतरस्याम्' से नाम् विभक्ति उदात्त हुई है।

मन्त्र—१०

यहां ऋत्विजों और यजमानों को संबोधित करते हुए कहा जा रहा है कि सभी मनुष्यों के ऊपर अवस्थित इन्द्र को हम आप लोगों के लिए बुला रहे हैं। वे इन्द्र केवल हमारे लिए ही अनुग्रह प्रदान करें। अन्य सभी लोगों की अपेक्षा इन्द्र हम पर अधिक कृपालु हों।'

पूर्व मंत्र के साथ ही इसका भी अन्वय है। विश्वतः—चारों ओर से। जनेभ्यः = पांच जनों के लिए। इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वे हमें ही मानें।

अर्थ—इन्द्र को हम आपके लिए, पंचजनों के लिए, चारों ओर से बुला रहे हैं। वे केवल हमारे ही हों।

स्वरविचार—[१] इन्द्रम्—√इद् + रन्। आद्युदात्त। [२] वः—युष्मदादेश, अनुदात्त। 'बहुवचनस्य वस्नसौ'। [३] विश्वतः—विश्व + तसिल्। लित् प्रत्यय के पूर्व का उदात्त [४] परि—निपात के कारण आद्युदात्त। [५] हवामहे—√ह्वेञ् + शप् + महिङ्। संप्रसारण—धातुस्वर। पादादि में होने से निघात नहीं। [६] जनेभ्यः—√जन् + घञ्। 'जनिवध्योश्च' (७।३।३५) से उपधा में वृद्धि का अभाव। ञित् के कारण आद्युदात्त। [७] अस्माकम्—अस्मद् + आम् [सुट् आम् > आकम्]। अस्मद् अन्तोदात्त है। विभक्ति अनुदात्त। जहाँ 'शेषे लोपः'। से द् का लोप हुआ वहाँ अ (उदात्त) + आ (अनुदात्त) मिलकर दीर्घ एकादेश से उदात्त हुआ। यदि टिलोप मानें तो अस्मद् में अद् चला जायगा (उदात्त भी इसी में नष्ट हुआ अतः 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' के द्वारा आकम् के आ को ही उदात्त हो गया। (८) अस्तु—तिङ्निघात। (९) केवलः—वृषादिगण से आद्युदात्त।

चतुर्दश वर्ग समाप्त।

सूक्त—८

सूक्त ८ से ११ तक तृतीय अनुवाक है जिसमें ४ सूक्त आते हैं। 'एन्द्र सानसिम्' से आरंभ होने वाले प्रस्तुत ८ वें सूक्त में ऋषि (मधुच्छन्दस्), छन्द (गायत्री), देवता (इन्द्र) तथा विनियोग पूर्ववत् हैं। ऐतरेयारण्यक (५।२।५) में विशेष विनियोग भी निर्दिष्ट है—महाव्रत-याग के निष्केवल्य-शस्त्र में ८ वें और ९ वें सूक्तों का विनियोग होता है। पुनः आश्वलायन श्रौतसूत्र (६।४) के अनुसार अतिरात्र-याग के प्रथम पर्याय (round) में अच्छावाक शस्त्र में भी इसका विनियोग होता है। उसी ग्रन्थ के (१।६) अनुसार दर्शयाग में इन्द्र के याजक सांनाय्य की अनुवाक्या के रूप में भी यह सूक्त प्रयुक्त होता है।

यह सूक्त पूरा का पूरा अथर्ववेद में २०।७०।१७ से लेकर ७१।६ तक आया है। यहां इन्द्र की प्रार्थना में उनसे होनेवाली रक्षा, उनकी सोमपाद-शक्ति, उनसे प्राप्त संतानों तथा अन्य संपत्तियों का उल्लेख किया गया है।

मन्त्र—१

हे इन्द्र, आप हमारी रक्षा (जीवनरक्षा) के लिए ऐसा धन लायें जो सेवनीय हो अर्थात् हम उसका उपयोग कर सकें (सानसिम्); समान शत्रुओं

पर विजय भी जिससे मिले। धन से ही वीर सैनिकों की नियुक्ति करके शत्रुओं को जीता जा सकता है। वह धन वर्षिष्ठ (प्रचुर मात्रा में) हो कि शत्रुओं को सदा ही अभिभूत कर सके। ऐसा न हो कि शत्रुओं को एक बार परास्त करते ही वह धन समाप्त हो जाय और हम दूसरी बार होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण को न सँभाल सकें।

'सानसि' √सन् (विजय, उत्पादन) से बना है जिसका अर्थ होगा—विजयप्रद, उत्पादक। सायण ने √सन् = संभक्ति (सेवा) अर्थ रखा है। 'सानसि' 'सजित्वन्' आदि विशेषण बतला रहे हैं कि इन्द्र से जिस धन की याचना की जा रही है वह सामान्य धन नहीं, वीर पुत्रों के रूप में धन मांगा जा रहा है। जनसंख्या के अभाव से व्याकुल तथा शत्रुओं के आक्रमण से त्रस्त आर्यों की यह याचना युक्तियुक्त है। यही भाव ऋग्वेद (२।३०।११) में 'रयिं सर्ववीरम्', ७।४।६ में 'रायः सुवीर्यस्य' तथा १०।९१।१५ में 'रयिं सुवीरम्' कहकर व्यक्त किया गया है।

मंत्र में एक विशेषता है कि उपसर्ग 'आ' आरंभ में है और धातु 'भर' अंत में—तथापि दोनों संबद्ध हैं, आभर = आहर (लाइये)।

अर्थ—हे इन्द्र! आप हमारी रक्षा के लिए उत्पादक (विजयप्रद), सव-विजेता, सदा सबको अभिभूत करनेवाला तथा सर्वोत्तम धन ला दें।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्ग उदात्त। (२) इन्द्र—'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) से निघात। (३) सानसिम्—√सन् + असि। वृद्धि तथा अन्तोदात्त का निपातन (उ० ४।५४७)' (४) रयिम्—प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। (५) सऽजित्वानम्—समानान् अरीन् जेतुं शीलमस्य। समान् + √जि + क्वनिप्। पित् के कारण तुगागम। उपपद समास। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर = जिका धातुस्वर रहेगा क्योंकि प्रत्यय तो पित् के कारण (अनुदात्तौ सुप्पितौ ३।१।४) अनुदात्त ही है। (६) सदाऽसहम्—सदा + √सह् + क्विप्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर से धातु का स्वर बचा। (७) वर्षिष्ठम्—वृद्ध (वर्ष) + इष्ठन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (८) ऊतये—√अव् + क्तिन् (निपातन)। क्तिन् का 'ऊतियूति०' से उदात्त-रूप में निपातन। अतः प्रत्यय का उदात्त। ऊति + ङे (अनुदात्त) = ऊतये। (९) भर—तिङ्निघात। 'हर' के स्थान में 'भर'। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (३।१।८४ वा०)।

मन्त्र—२

यहाँ इन्द्र की कृपा से शत्रुओं को रोके जाने का वर्णन है। उपर्युक्त मंत्र में इन्द्र से प्राप्त होने वाले धन का वर्णन हुआ है। उसी धन से पुष्ट

या समृद्ध होकर हमलोग शत्रुओं पर मुष्टिप्रहार करें। अविरल मुष्टिकवर्षा करके उन्हें हम रोक देंगे। हे इन्द्र! आपके द्वारा सुरक्षित होने पर हम उन्हें अपने घोड़ों पर चढ़कर भी रोक सकेंगे। इस प्रकार सायण ने अर्थ लिया है कि चाहे मुक्कों का युद्ध (pugilistic encounter) हो, चाहे घोड़ों पर चढ़कर लड़ना पड़े हम वृत्रों को (शत्रुओं को) पछाड़ दें।

'मुष्टिहत्या' का अर्थ है मुष्टि का प्रहार, घात।√हन् + क्यप् + टाप्। 'हनस्त च' से नकार को तकार होकर 'हत्या' (घात)। त्वोतासः = त्वया ऊताः रक्षिताः। त्वा + ऊतासः। युष्मद् को त्वद् आदेश होने पर छान्दस दकारलोप हुआ है। दूसरी ओर √अव् + क्त करने पर धातु को 'ज्वरत्वर०' (६।४।२०) से उपधा का ऊठादेश—ऊत। त्व + ऊतः = त्वोतः। 'एत्येध-त्यूठ्सु' से वृद्धि का अवकाश था, वह छान्दस व्यत्यय से नहीं हुआ। वस्तुतः 'त्वया' का संक्षिप्त रूप 'त्वा' है जो सवर्णलोप (haplology) का परिणाम है।

'अर्वता' = अश्वेन। अर्वत् का अश्व अर्थ सायण, ग्रासमैन, मैकडोनल तथा गेल्डनर ने भी स्वीकार किया है किन्तु जिमर का कहना है कि वैदिक काल में अश्वों का युद्ध अज्ञात था। युद्ध रथ पर किया जाता था अतः 'अर्वता' का 'रथेन' अर्थ रखना चाहिए। ग्रिफिथ ने भी अपने अनुवाद में 'रथ' (car) अर्थ रखते हुए उक्त टिप्पणी दी है। किन्तु ऐसा नहीं लगता कि वैदिक आर्य अश्वारोहण से अपरिचित थे (यद्यपि घोड़ों के रथ में जोते जाने की ही चर्चा अधिक हुई है)। उदाहरण के लिए देखें—स नः कदाचिदर्वता गमदा वाजसातये (ऋ० ८।४०।२)। लुड्विग ने अर्थ रखा है—अश्व के द्वारा आपसे सुरक्षित होकर।

'त्वोतासो न्यर्वता' को 'तुवोतासो निअर्वता' पढ़ना चाहिए। मंत्र में तीन स्थानों पर 'नि' आया है जिनमें पहले 'नि' को 'नितराम्' अर्थ में सायण ने मुष्टिहत्या के साथ जोड़ दिया है। दूसरे और तीसरे 'नि' रुणधामहै क्रिया के साथ हैं—मुष्टिहत्यया निरुणधामहै, अर्वता च निरुणधामहै। वैदिक भाषा में एक ही क्रियापद होने पर कारकों को अपना-अपना उपसर्ग अपने साथ रखना पड़ता था। थाल खाने के लिए एक ही थी, पर खानेवालों को पीने के लिए अपना ग्लास लाना पड़ता था।

अर्थ—जिस धन से, हमलोग, आपके द्वारा रक्षित होकर, बाहुयुद्ध में तथा अश्वयुद्ध में, अपने शत्रुओं के आक्रमणों को रोक सकें।

स्वरविचार—(१) नि—निपात अथवा उपसर्ग उदात्त। (२) येन—यद् का प्रातिपदिकस्वर शेष है। (३) मुष्टिऽहत्यया—मुष्टिभिः

हत्या मुष्टिहत्या (हन् + क्यप्)। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर होना चाहिए पर उसे रोककर 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) के बहुलत्व का लाभ उठाकर वार्तिक में कहा है—'त्रिचक्रादीनां छन्दस्यन्तोदात्तत्वम्' (वहीं, वार्तिक)। अतः इसे भी अन्तोदात्त हुआ। (४) नि। (५) वृत्रा—वृत्र + शस् (शि)—वृत्राणि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' से शिलोप। प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। (६) रुणधामहै—√रुध् (श्नम्) + लोट् (महिङ्)। 'आडुत्तमस्य पिच्च' (३।४।९२) से आडागम तथा पित्। पित् होने के ही कारण 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से प्राप्त अकारलोप का निषेध हुआ। चूँकि उत्तमपुरुष का प्रत्यय पित् है इसलिये वह अनुदात्त हुआ और विकरण (श्नम्) को ही उदात्त हुआ (= ण में अ उदात्त है)। 'एत ऐ' (३।४।९३) से 'महे' को 'महै'।

यहाँ प्रश्न होता है कि तिङ् को निघात क्यों नहीं हुआ ? कारण यह है कि यहाँ पर दो तिङ्विभक्तियाँ हैं, 'मुष्ट्या निरुणधामहै' में तो श्रुत विभक्ति है, 'अर्वता निरुणधामहै' में अनुषक्त (understood) है। इन दोनों को जोड़नेवाला 'च' लुप्त है अतः 'चादिलोपे विभाषा' (८।१।६३) से प्रथम तिङ् का निघात नहीं हुआ है। तैत्तिरीय संहिता (२।५।४।३) के 'नात्मना तृप्यति नाऽन्यस्मै ददाति' में इसी कारण से तृप्यति में निघात नहीं हुआ, ददाति में हो गया। अब कोई कह सकते हैं कि वहाँ दोनों तिङ्विभक्तियाँ श्रुत (प्रयुक्त) थीं; प्रस्तुत मंत्र में तो एक ही श्रुत विभक्ति है। उसी विभक्ति को पुनः अनुषक्त करते हैं, दूसरी कोई तिङ्विभक्ति नहीं आती। तब कैसे वह प्रथम तिङ् माना जाये ? उत्तर में हम कहेंगे कि अनुषंग से प्राप्त द्वितीय तिङ् के आधार पर भी प्रथम तिङ् का निर्धारण करके निघात का निषेध होता है (अनुषङ्गलब्धद्वितीयापेक्षमपि प्राथम्यमुपजीव्य निघातनिषेधदर्शनात्) जैसे—'पुरोडाशं चाधिश्रयत्याज्यं च' (तै० सं० १।६।९।३-४), 'प्रोक्षणीश्चासादयत्याज्यं च' (वहीं) इन उदाहरणों में 'अधिश्रयति' और 'आसादयति' जो प्रथम वाक्यों में श्रुत हैं, द्वितीय वाक्यों में अनुषक्त होते हैं। इस अनुषंग के आधार पर ही तिङ् (श्रुत) की प्राथमिकता मानकर उन्हें 'चवायोगे प्रथमा' (८।१।५९) से निघात का निषेध किया गया है—यह हम देखते हैं। अतः यहाँ भी तिङ् (श्रुत—प्रथम) को निघात नहीं हुआ है।

(७) त्वाऽऊतासः—'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपद का प्रकृति स्वर अर्थात् आ उदात्त। उदात्त के साथ संहिता में गुण एकादेश करने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) से परिणाम भी उदात्त = ओ उदात्त (त्वोतासः)। (८) नि। (९) अर्वता—√अर्व् (गतौ) + वनिप् =

अर्वन्। धातुस्वर से अ उदात्त। 'लोपो व्योर्वलि' से वलोप। अर्वन् + टा = अर्वता। 'अर्वणस्त्रसावनञः' (६।४।१२७) से न् का त्।

मन्त्र—२

हे इन्द्र, आपसे संरक्षित होकर हम दृढ़ वज्र (घना वज्रं) स्वीकार करें (आ ददीमहि)। उसी से हम युद्ध में अपने शत्रुओं पर विजय पायें।

'घना' के अन्वय पर विभिन्न विद्वानों ने अपने पृथक्-पृथक् विचार व्यक्त किये हैं। ओटलिंक ने सायण की तरह घन का अर्थ दृढ़ मानकर घना को 'घनम् + आ' का संधिबद्ध रूप माना है। ग्रासमैन ने अपने अनुवाद में तो 'घनम्' का प्रस्ताव किया है किन्तु शब्दकोश (wr) में 'घनाः' की बात करते हैं। ओल्डनवर्ग भी 'घनाः' रूप ही रखते हैं। 'घना' का अर्थ है बड़ी गदा (mace)। लैनमैन 'घना' को घनया का संक्षिप्त रूप लेते हैं—आपकी गदा के साथ ही आपका वज्र हम स्वीकार करें।' किन्तु 'घना' (घनया) का अर्थ 'गदा के द्वारा' करना उपयुक्त है। गदा के द्वारा हम वज्र स्वीकार करें अर्थात् इन्द्र के वज्र की तरह ही हमारे हाथ में गदा की शक्ति होगी।

'स्पृधः' का अर्थ है स्पर्धा, ईर्ष्या, द्रोह करनेवाले = शत्रु। तुलनीय अवेस्ता Spərəd (स्त्री०) = ईर्ष्या। √स्पर्ध् + क्विप्।

अर्थ—हे इन्द्र! आपसे संरक्षित होकर हम गदा के द्वारा वज्र का आदान करें—हमारे हाथों में गदा आपके वज्र का काम करे। उसी से युद्ध में हम शत्रुओं को जीत लें।

स्वरविचार—(१) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) त्वाऽऊतासः—पूर्व मंत्र की तरह। (३) आ—उपसर्ग उदात्त। (४) वयम्—अस्मद् का आदेश, प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। (५) वज्रम्—√वज् (गतौ) + रन् (निपातन)—आद्युदात्त। (६) घना—घन (काठिन्य) + अच् (मत्वर्थ)। चित् के कारण अन्तोदात्त। 'सुपां सुलुक्०' से डादेश। (७) ददीमहि—तिङ् निघात। √दा + लिङ् (महिङ्)। श्लु विकरण, द्वित्व—दा दा महि। अभ्यास ह्रस्व, लिङ् में आये सीयुट् का सलोप (लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य)—ददा + ईय् महि। 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' से यलोप—ददीमहि। (८) जयेम—√जि + लिङ् (मस्)। जि शप् यासुट् मस्। गुण, अयादेश—जय + इय् (अतो येयः) + मस्। 'लोपो व्योर्वलि' से यलोप, 'नित्यं ङितः' से सलोप। जयेम। तिङ् लसार्वधातुक के कारण अनुदात्त है, आगम अनुदात्त ही है (यासुट् > इय्), शप् पित् के कारण अनुदात्त है—शेष रहा धातु, वही उदात्त होगा, ज का अ उदात्त है। पादादि में होने से निघाताभाव। (९) सम्—उपसर्ग

उदात्त। (१०) युधि—√युध् + क्विप्=युध्, सप्तमी में ङि लगाने पर 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) से विभक्ति को उदात्त। (११) स्पृधः—√स्पर्ध् + क्विप्–संप्रसारण। धातुस्वर=अ > ऋ (उदात्त)।

मन्त्र—४

हे इन्द्र ! हम आयुध चलाने वाले शूर वीरों से युक्त होकर आपकी सहायता लें तथा उन शत्रुओं को युद्ध में परास्त करें जो सेना मँगाने (कामना करने) की चिन्ता में हैं।

अस्तृभिः—आयुधों को फेंकने वाले, चलाने वाले वीरों के साथ (√अस्= क्षेपण)। इनसे हम मिल जायें। त्वया युजा=सहायकरूपेण त्वया सह (सहायक के रूप में आपको अपने साथ रखकर)। ऋग्वेद में पाँच बार 'त्वाऽयुजा' का इसी अर्थ में प्रयोग है। स्पष्टतः 'त्वोतासः' की ही तरह त्वया 'त्वा' के रूप में संक्षिप्त हो गया है।

सासह्याम—√सह् (पराभूत करना) + यङ् + लिङ् (मस्)। परस्मैपद का रूप (चर्करीतं परस्मैपदम् अदादिवच्च द्रष्टव्यम्)। √सह् के समानान्तर अवेस्ता में √haz ग्रीक में skhes है।

पृतन्यतः—पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् = अपनी समृद्धि के लिए सेना बुलाने वाले (seeking reinforcement) शत्रुओं को। पृतना + क्यंच्। पृतना में √पृत् = युद्ध करना, धातु है। [समानान्तर अवेस्ता में pərət (स्त्री०) युद्ध।] अर्थ है कि हम अपने शत्रुओं को परास्त करें।

स्वरविचार—(१) वयम्–पूर्व मंत्र की तरह अन्तोदात्त। (२) शूरेभिः—√शु + क्रन् (दीर्घ)। कित् से गुणाभाव, नित् से आद्युदात्त। (३) अस्तृऽभिः—√अस् + तृन् (तच्छीलतद्धर्म-तत्साधुकारिषु च)। नित् से आद्युदात्त। (४) इन्द्र—पूर्ववत् (√इद् + रन्) आद्युदात्त। यहाँ आमंत्रित आद्युदात्त। (५) त्वया—युष्मद् (√युष् + मदिक्) + टा। युष्मद् का त्वद् आदेश। 'योऽचि' (७।२।८९) से यकारादेश–त्वया। प्रातिपदिकस्वर। (६) युजा—√युज् + क्विन = युज्, तृतीया की टा-विभक्ति लगाने पर 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' से विभक्ति को उदात्त होना। (७) वयम्। (८) सा सह्याम्—पादादि में है, निघात नहीं होगा। √षह (मर्षणे) + यङ् + लिङ् (मस्)। यङ् के कारण द्वित्व, अभ्यासकार्य, दीर्घ (दीर्घोऽकितः) सा सह् (यङ् लुक्) यासुट् + मस् 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से यासुट् के स का और 'नित्यं ङितः' अन्तिम स का लोप। शिष्ट होने के करण यासुट् के स्वर को ही उदात्त हुआ (बच रहा)-या का आकार उदात्त। (९) पृतन्यतः—पृतना + क्यच् + शतृ + शस् (द्वितीया बहु०)। 'पृतन्य' धातु

चित् के कारण अन्तोदात्त है। उसके बाद लट् का शतृ आदेश है; शप् पित् है, शतृ लसार्वधातुक अनुदात्त है अतः पृतन्य के अन्तोदात्त से अनुदात्त की संधि होने पर फल उदात्त ही होगा—एकादेश उदात्तेनोदात्तः। शस् सुप् है अतः अनुदात्त है, किन्तु अन्तोदात्त (पृतन्यत्) के बाद होने से 'शतुरनुमो नद्यजादी' (६।१।१७३) के द्वारा शस् उदात्त होगा।

मन्त्र—५

ये इन्द्र-देवता महान् अर्थात् शरीर से प्रौढ़ और अपने गुणों के कारण उत्कृष्ट भी हैं। इसके अतिरिक्त (नु), वज्रधारी इन्द्र की पूर्वोक्त महिमा निरन्तर बनी रहे। यद्यपि इन्द्र की यह महिमा स्वभावसिद्ध है तथापि ऋषि भक्ति के कारण यह प्रार्थना (याचना, कामना) कर रहे हैं। पुनः द्युलोक की तरह (द्यौर्न) इन्द्र की सेना प्राचुर्य से (प्रथिना) संयुक्त रहे। अभिप्राय है कि जिस तरह द्युलोक पर्याप्त बड़ा है उसी तरह इन्द्र की सेना भी बड़ी है।

सामवेद (११६६) में यह मंत्र आया है किन्तु 'नु' के स्थान में 'नः' आया है जो वास्तव में इसका अप-पाठ है। महित्वम्—महिः बड़ा (√मह् + √इन्)। महि + त्व=महित्व (महत्त्व) पदपाठ में इसे पृथक् कर दिया गया है—ध्यातव्य है।

द्यौः न—स्वर्गलोक की तरह। उपमार्थक 'न' का प्रयोग उपमान के बाद होता है, निषेधार्थक 'न' का प्रतिषेध्य के पूर्व प्रयोग होता है (निरुक्त—१।४)। प्रथिना=प्रथिम्ना। (पृथु + इमनिच्= प्रथिमन्)। पृथु√'प्रथ विस्तारे' से बना है। प्रथिना का अर्थ है—पृथुता के कारण (हेतौ तृतीया)। शवः=बल, इन्द्रशक्ति, सेना।

अर्थ—इन्द्र महान् हैं, हाँ, उससे भी अधिक ही हैं। वज्रधर इन्द्र की यह महत्ता बनी रहे। विशालता में इन्द्र की शक्ति स्वर्ग की तरह है।

स्वरविचार—(१) महान्—प्रातिपदिकस्वर। 'इन्द्रः' से संधि होने पर न् को रु और पूर्व आकार का अनुनासिक (दीर्घादटि समानपादे, आतोऽटि नित्यम्)। रु को य (भो भगोअघो०) तथा 'लोपः शाकल्यस्य' से लोप। महाँ इन्द्रः। यलोप असिद्ध हो जाने के कारण स्वरसंधि नहीं हुई। (२) इन्द्रः—√इद् + रन्। आद्युदात्त। 'ऋज्रेन्द्राग्र०' (उ० २।१८६) से निपातन। (३) परः—प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। (४) च—चादि निपात अनुदात्त है। (५) नु—निपात उदात्त (६) महिऽत्वम्—महि + त्व प्रत्यय स्वर से त्व उदात्त। (७) अस्तु—तिङ् निघात। (८) वज्रिणे—वज्र + इन्। प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त। वज्रिन् + ङे (अनुदात्त)।

(९) द्यौः—द्यो (प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त) + सु (णित्)। वृद्धि होकर ओ को औ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से औकार भी उदात्त ही हुआ। (१०) न—निपात उदात्त। (११) प्रथिना—पृथु + इमनिच्=प्रथिमन् अन्तोदात्त-चित्)। प्रथिमन् + टा—'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से उपधा के अकार का लोप। प्रथिम्ना। छान्दस् मलोप। 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६।१।१६१) से, अ (उदात्त) का लोप हो जाने के कारण, अनुदात्त आ (विभक्ति) को ही उदात्त हो गया। (१२) शवः—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से नपुंसकलिंग में 'शवः' को आद्युदात्त।

पञ्चदश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

जो व्यक्ति संग्राम में या अपत्य के लाभ में (इन्द्र को) अपनी स्तुति के द्वारा व्याप्त करते हैं—अथवा जो मेधावी लोग प्रज्ञा की कामना से (धियायवः) उक्त स्तुति करते हैं वे सभी अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। संग्राम में विजय, अपत्य का लाभ तथा प्रज्ञा की प्राप्ति—ये सभी इन्द्र की कृपा से मिलते हैं।

सायण के अर्थ को थोड़ा बदलने की आवश्यकता है। वास्तव में इन्द्र के बल का वर्णन यहां है। अध्याहार करना पड़ेगा कि सब इन्द्र के बल का ही परिणाम है। चाहे युद्ध स्थलों में कुछ प्राप्त हुआ हो या अपत्य लाभ हुआ हो या मनुष्यों में विद्याव्यसनी मेधावी हुए हों—सब इन्द्र का काम है।

तोकस्य सनितौ—सनिति = प्राप्ति (√सन् + क्तिन्)। तोक = अपत्य। ऋग्वेद में जहां युद्ध का वर्णन हुआ है—वहां युद्ध के फल के रूप में, अपत्य लाभ का युद्ध से सीधा संबन्ध दिखाया गया है। होर्नले, ग्रियर्सन तथा अन्य विद्वानों से सहमत होते हुए गेल्डनर ने विचार किया है कि इसमें वेदकालीन युद्धों में पुरस्कार के रूप में पकड़ी गयी स्त्रियों का रहस्य है। उन्हें पकड़ लेने पर आर्य विवाह करके संतान की प्राप्ति किया करते थे।

'आशत' क्रिया का संबन्ध तीनों से है—ये समोहे आशत (जिन्होंने युद्ध में सुफल के रूप में कुछ पाया), ये तोकस्य सनितौ आशत (संतान की प्राप्ति में जो कुछ पाया) तथा धियायवः विप्रासः आशत (बुद्धिकामी मेधावियों ने जो पाया)—सब इन्द्र की कृपा का फल है।

स्वरविचार—(१) सम्ऽओहे—प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त। 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि० १)। (२) वा—चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४)। (३) ये—प्रातिपदिक स्वर। (४) आशत—√अशू (व्याप्तौ) + लुङ् (झ)= आट् अश् + च्लि (लोप) + अत = आशत। आट् आगम उदात्त।

'सति शिष्ट स्वरबलीयस्त्वम्' से वही शिष्ट रहता है। (५) नरः—नृ + जस्। नृ को प्रातिपदिकस्वर। (६) तोकस्य—तोक को प्रातिपदिकस्वर। (७) सनितौ—√सन् + क्तिन्। इडागम। नित् के कारण आद्युदात्त। (८) विप्रासः—वप् + रन् (ऋज्रेन्द्राग्र० से निपातन)। नित्—आद्युदात्त। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७)। (९) वा। (१०) धियाऽयवः—√धि से धीयते धार्यतेऽवबुध्यतेऽर्थजातमनया इति धिया प्रज्ञा। धिया + क्यच + उ। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त।

मन्त्र—७

इन्द्र का जो उदरप्रदेश सर्वाधिक सोम पीनेवाला है वह समुद्र की तरह फूला हुआ है (पिन्वते—वर्धते)। जिस प्रकार मुख से सम्बद्ध (मुंह से निकलने वाला काकुदः) प्रचुर मात्रा में जल बढ़ जाता है, उसी प्रकार उदर भी बढ़ा है। सायण आशय समझाते हैं कि जीभ से चलनेवाला जल कभी सूखता नहीं, उसी तरह सोम से भरा हुआ इन्द्र का उदर भी कभी सूखता नहीं है।

यः—कुक्षिः का बोधक। गेल्डनर इसे 'यस्य' का स्थानिक मानते हैं। पिन्वते—√पिन्व् (पिवि) = सींचना, प्रवाहित होना, क्षरण, बढ़ना। यह भाषाशास्त्रीय दृष्टि से *√पिनु (<पि या पी) से बना है। जिनका उदर समुद्र की तरह बढ़ गया है।

तृतीय पाद में 'पिन्वन्ते' का अध्याहार करना चाहिए—काकुदः उर्वीः आपः न पिन्वन्ते = इन्द्र की कंठनली प्रशस्त जलधारा की तरह प्रवाहित होती है। काकुद् = मुख की नली, तालु। ककुद् = शृङ्ग [लातिन—cacūmen]। आपः के कारण काकुदः भी बहुवचन है—चौड़ी जलधाराओं की तरह कंठनली ('नलियां' नहीं)। ग्रासमैन 'काकुदः' में अपादान मानते हैं—जैसे जिह्वा से धारा चलती है।

सोमपातमः—सोमं पिबति सोमपाः। तेषु अतिशयेन। सर्वाधिक सोम पीनेवाला।

अर्थ—जिस इन्द्र का सर्वाधिक सोम पीनेवाला उदर समुद्र की तरह फैलता है और जिनकी कंठनली चौड़ी जल प्रणाली की तरह (फैलती है)।

स्वरविचार—(१) यः—प्रातिपदिकस्वर। (२) कुक्षिः—प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। (३) सोमऽपातमः—सोम + √पा + क्विप् = सोमपाः। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर होकर पा का आ उदात्त। उसके बाद का तमप् पित् होने से अनुदात्त ही है। (४) समुद्रःऽइव—'समुद्र' को प्रातिपदिक होने से अन्तोदात्त।

इव को साथ समास होने पर विभक्ति का लोप नहीं होता तथा पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। इसलिए 'द्र' का अ उदात्त रहा। (५) पिन्वते—यत् के योग के कारण निघाताभाव। √पिवि (नुम्) + शप् + त (लट्)। शप् पित् के कारण और त प्रत्यय लसार्वधातुक के कारण अनुदात्त है। अतः धातु का स्वर (इकार उदात्त) ही बचा। (६) उर्वीः—उरु शब्द अन्तोदात्त है। उसमें ङीष् स्त्रीप्रत्यय लगा। यणादेश होने पर 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (६।१। १७४) से ईकार उदात्त। जस् के साथ मिलने पर पूर्वरूप एकादेश हुआ। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त ही रहा। (७) आपः—अप् + जस्। अप् का प्रातिपदिकस्वर। (८) न—निपात उदात्त। (९) काकुदः काकुद् (प्रातिपदिकस्वर—अन्तोदात्त) + जस्।

मन्त्र—८

इन इन्द्र-देव की सूनृता (सत्य और प्रिय वाणी) विभिन्न प्रकार की है (विरप्शी) गो-धन प्रदान करनेवाली है, महनीय (पूज्य) है। जिस तरह पकी हुई (फलों से भरी हुई) शाखा हो, उसी तरह वह यजमानों को फल देती है।

'एवा' में एव का दीर्घ हो गया है—निपातस्य च। अर्थ है—सचमुच। सूनृता—सायण के अनुसार, सु + √ऊन् + ऋत। सुतरामूनयति अप्रियम् इति सून्। सून् च ऋता च—सूनृता (प्रिय और सत्य)। किन्तु अधिक संभव है—सू-नृ-ता (अच्छा आदमी होना) जिसके पर्याय के रूप में 'सज्जनता' दे सकते हैं। अर्थादेश से दया, उदारता, दिव्य प्रसाद आदि अर्थ भी हो सकते हैं। सूनरता से व्यंजनागम (glide sound) करके सुन्दरता, सूनर > सुन्दर शब्द बने हैं। स्कन्द ने सूनृता का सर्वकामधुक् (सभी कामनाओं की पूर्ति करनेवाला) अर्थ दिया है।

विरप्शी—विविध (सायण)। अतिशायी, प्रचुर। वि + √रप्श् = भरा रहना। इसलिए 'परिपूर्ण' अर्थ ठीक है। भारतीय टीकाकार √'रप् = शब्द करना' मानते हैं—'अनेक शब्द उत्पन्न करनेवाली'। ब्लूमफील्ड इसमें 'वीर + रशिन्' की कल्पना करते हैं। निघण्टु में यह महत् का पर्याय है। गोमती=गायें देने वाली। मही=महती।

पक्वा शाखा न—आशय यह है कि वृक्ष की फल-भरी डाल जिस तरह उदार होती है, उसी तरह इन्द्र की उदारता या सज्जनता भी प्रचुर फल देती है।

अर्थ—सचमुच इन इन्द्र की सज्जनता अत्यधिक, गोधन प्रदान करने

वाली, और श्लाघ्य है। वह यजमान के लिए वृक्ष की पकी हुई शाखा की तरह है।

स्वरविचार—(१) एव—'एवमादीनामन्तः' (फि० ८२) से अन्तोदात्त। संहिता में दीर्घ। (२) हि—निपात आद्युदात्त। (३) अस्य—प्रकृत इन्द्र का परामर्श करने से अन्वादेश है अतः 'इदमोऽन्वादेशे०' (२।४।३२) से अशादेश—सर्वानुदात्त। (४) सूनृता—'परादिश्छन्दसि बहुलम्' से 'सु + ऊन् (सून्) + ऋत' में ऋकार उदात्त। (५) विऽरप्शी—वि + √रप् + क्विप् = विरप् (व्यक्तवाणी)। तदेषामस्ति इति विरप्शानि वाक्यानि। विरप्श + इति + ङीप् = विरप्शिनी। नकारलोप छान्दस। इनि के प्रत्ययस्वर (इ) को उदात्त। विरप्शि (अन्तोदात्त) + ई (अनुदात्त)—'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त सवर्णदीर्घ आदेश। (६) गोऽमती—गो + मतुप् + ङीप्। दोनों प्रत्यय पित् हैं अतः अनुदात्त होंगे और गो का स्वर ही उदात्त रूप में शेष रहेगा। (७) मही—महत् + ङीप्। प्रत्यय को अनुदात्त होना चाहिए किन्तु 'शतुरनुमो नद्यजादी' (६।१।१७३) के अन्तर्गत एक वार्तिक है 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' जिससे उसे उदात्त हुआ।

(८) पक्वा—√पच् + क्त। 'पचो वः' से क्त को व। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। टाप् (अनुदात्त) मिलने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त ही रहना। (९) शाखा—√शाखृ (व्याप्ति) + अच्। वृषादिगण के कारण आद्युदात्त, चित् से अन्तोदात्त नहीं। (१०) न—निपात उदात्त। (११) दाशुषे—√दा + क्वसु। 'दाश्वान्०' से निपातन—क्वसु में इडभाव, द्वित्व नहीं होना। दाश्वस् में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। चतुर्थी एकवचन में ङे (अनुदात्त) विभक्ति लगी। भसंज्ञा में 'वसोः 'संप्रसारणम्' से व का उ हुआ—'संप्रसारणाच्च' से पर पूर्व दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश। दाशुस् + ए। 'शासिवसिघसीनां च' से षत्व—दाशुषे। प्रत्ययस्वर से 'व' का स्थानिक उ उदात्त।

मन्त्र—६

हे इन्द्र ! आपकी विभूतियाँ (ऐश्वर्य) ऐसी ही हैं कि मेरे समान यजमान के लिए रक्षा के रूप में तुरत हो जाती हैं। जब भी हम कर्म का अनुष्ठान करते हैं तभी आपकी रक्षाविधियां अपना काम करने लगती हैं, यही आपका ऐश्वर्य है।

विभूति = ऐश्वर्य, अतिप्राकृत शक्तियां। विशेषण के रूप में इसका अर्थ है—प्रचुर, पर्याप्त। यहां इसका अर्थ 'सहायता' है। मावते—मावत् + ङे।

अस्मद् + वतुप्। मेरी तरह यजमान के लिए—मत्सदृशाय। वेद में सादृश्य के अर्थ में अस्मद् और युष्मद् से वतुप् प्रत्यय होता है। त्वावान्, मावान्।

सद्यश्चित्सन्ति—तुरत मिल जाती हैं। विभूति और ऊति दोनों विशेष्य-विशेषण के रूप में हैं। रक्षा के रूप में आपकी विभूतियाँ तुरत मिलती हैं।

अर्थ—हे इन्द्र! मेरे सदृश हविर्दाता यजमान को, सचमुच आपकी वे सहायतायें जो रक्षा-विधि के रूप में हैं, तुरत मिल जाती हैं।

स्वरविचार—(१) एव। (२) हि—पूर्व मंत्र की तरह। (३) ते—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) से अनुदात्त की अनुवृत्ति करके 'तेमयावेकवचनस्य' (८।१।२२) से 'ते' को अनुदात्त। (४) विऽभूतयः—विशिष्टा भूतयः। अव्ययपूर्वपद का प्रकृतिस्वर—इ उदात्त। (५) ऊतये—√अव् + क्तिन्। 'ऊतियूति०' से क्तिन् को ही उदात्त निपातन। (६) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (७) माऽवते—अस्मद् (मद् आदेश) + वतुप्। 'आ सर्वनाम्नः' से मद् को मा होकर मावत्। प्रत्यय पित् है अतः अङ्ग का ही स्वर बचा—आ उदात्त। (८) सद्यः—समान + द्यु। निपातन से सद्यः। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (९) चित्—'चादयोऽनुदात्ताः' से अनुदात्त। (१०) सन्ति—√अस + लट् (झि)। अन्तादेश, 'श्नसोर-ल्लोपः' से अ का लोप, अदादि के कारण शप् का लोप। स् अन्ति। तिङ् प्रत्यय का आद्युदात्त—अ उदात्त। यहां 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१।१।६२) के अनुसार शप् के अकार के आधार पर तिङ् प्रत्यय को लसार्वधातुक अनुदात्त नहीं हुआ क्योंकि एक परिभाषा है—'वर्णाश्रयविधौ प्रत्ययलक्षणं नास्ति' (परिभा० २१)। तदनुसार प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है। (११) दाशुषे—पूर्व मंत्र की तरह।

मन्त्र—१०

इन इन्द्र-देवता के स्तोम (सामयोग्य गेय स्तुतियां) तथा उक्थ (पाठ्य स्तुति की ऋचायें)—दोनों ही काम्य (अभीष्ट) तथा शंसनीय भी हैं। इन स्तोत्रों या शस्त्रों का पाठ इसलिये होता है कि इन्द्र सोम पी लें। उनके सोम-पान के समय ही उन स्तुतियों का पाठ उचित है।

इस ऋचा में ह्मस्य को हिअस्य, काम्या को कामिआ, तथा शंस्या को शंसिआ पढ़ना चाहिए।

सोमपीति के स्वरनिश्चय में सायण ने इसके सामान्य अर्थ 'सोमपान' के अतिरिक्त एक और अर्थ का प्रस्ताव रखा है—जिस इन्द्र का पान सोम का ही है (बहुव्रीहि) अर्थात् सोम पीनेवाले इन्द्र के लिए। सोमपीति=इन्द्र।

अर्थ—सचमुच इनका स्तोम और ऋचाओं का शस्त्र दोनों ही इन्हें प्रिय हैं, इन्हें इन्द्र के सोमपान के समय पढ़ना चाहिए।

स्वरविचार—(१) एव (२) हि (३) अस्य—८ वें मंत्र में देखें। (४) काम्या—√कम् + णिङ् + यत्। 'णेरनिटि' से णि लोप। 'तित्स्वरितम्' से स्वरित की प्राप्ति थी किन्तु 'यतोऽनावः' (६।१।२१३) से आद्युदात्त हो गया। सुप् को डादेश हुआ है। (५) स्तोमः—√स्तु + मन्। आद्युदात्त। (६) उक्थम्—√वच् + थक् प्रत्ययस्वर (७) च—चादि निपात अनुदात्त हैं (८) शंस्या—√शंस् + यत्। यतोऽनावः' से आद्युदात्त।

(९) इन्द्राय—√इदि + रन् (निपातन)। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त। इन्द्र + ङे (ङेर्यः से य)=इन्द्र य। 'सुपि च' से दीर्घ—इन्द्राय। (१०) सोमऽपीतये—सोमस्य पीतिः। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर होना चाहिए किन्तु व्यत्यय से आद्युदात्त हो गया है। अथवा—सोमस्य पीतिर्यस्य (बहु०)। प्रकृतिस्वर पूर्वपदका—सोम (सु + मन्) आद्युदात्त है अतः आदि का ओकार उदात्त रहा। शेष अनुदात्त हुए।

सूक्त—९

प्रस्तुत सूक्त में १० मंत्र हैं। ऋषि आदि तो पहले जैसे ही हैं। विशेष विनियोग आश्वलायन श्रौतसूत्र (६।४) में वर्णित है कि अतिरात्र नामक विकृति-याग में द्वितीय पर्याय में अच्छावाकशस्त्र में प्रथम तृच का प्रयोग होता है।

सूक्त में इन्द्र के सौम्य स्वरूप का वर्णन है। इन्द्र यशस्वी, दानी, धन के अधिपति, सोमपायी तथा सुन्दर हैं।

मन्त्र—१

हे इन्द्र, आप आयें और आकर इन समस्त सोमरस-रूपी अन्नों (भोज्य) से प्रसन्न हो जायें। तदनन्तर आप अपने बल से महान् बनकर अभिष्टि अर्थात् शत्रुओं को परास्त करने वाला बनें।

मत्सि√मद् (दिवादि) + सिप् = माद्य (प्रसन्न हों)। अदादि की तरह मानकर सीधे सिप् किया गया है। इसका संबन्ध 'अन्धसः' के साथ है—अन्न से (यज्ञ में हवि के रूप में दिये गये अन्न से) प्रसन्न हों। सायण ने पिछले दोनों शब्दों के साथ समानाधिकरण करने का प्रयास करके इसे 'अन्धोभिः' रूप में रखा है। किन्तु 'अन्धसः मत्सि' में शेष लक्षणा षष्ठी है।

सोमपर्वभिः—पर्व का अर्थ है 'बारी' (time)। सोम सवन के सभी कालों में इन्द्र को बुलाया जाता है। √पॄ + वनिप् = पर्वन्। जब-जब सोम

की पूर्ति हो, सवन हो। सायण एक काल्पनिक अर्थ देते हैं—लतारूपं सोमं पृणन्ति' पूरयन्तीति सोमपर्वाणः = सोमरसाः। यही अर्थ लेने के कारण 'अन्धोभिः' करना पड़ा है। इसलिए उचित है कि अर्थ रखें—सभी सोमपर्वों (सोमसवनों) के समय।

अभिष्टिः—अभि + इष्टिः। एमनादिषु पररूपं वाच्यम् (६।१।९४ वा०) से पररूप। सायण के अनुसार 'अभिगन्ता' (अभिभूत करने वाला) अर्थ है। पाश्चात्य विद्वान् 'रक्षक' अर्थ करते हैं।

अर्थ—हे इन्द्र, आप यहां आइये। सोमरस पीकर प्रत्येक सोमसवन के समय आनन्दित हो जाइये। आप अपने बल के कारण महान् तथा शत्रुओं से हमारी रक्षा करने वाले हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) आ—उपसर्ग उदात्त। (३) इहि—तिङ् निघात। (४) मत्सि—√मद् + सिप्। प्रत्यय पित् है अतः धातुस्वर रहा। यहाँ दो तिङ् विभक्तियाँ इहि और मत्सि (लोट् का रूप)। 'लोट् च' (८।१।५२) से दूसरी क्रिया अनुदात्त (निघात) नहीं हुई क्योंकि गत्यर्थलोट् के साथ संयुक्त है। (५) अन्धसः—√अद् + असुन् (नुम्, धत्व)। नित् के कारण आद्युदात्त। (६) विश्वेभिः—√विश् + क्वन्। आद्युदात्त। (७) सोमपर्वऽभिः—सोमं पृणातीति सोमपर्वा। √पॄ + वनिप्। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से उपपद समास में कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् पॄ का धातुस्वर (सायण)। 'सोमस्य पर्वाणि सोमपर्वाणि' भी कर सकते हैं क्योंकि कारक के बाद भी कृत् को उत्तर पद प्रकृतिस्वर होता है। किसी भी स्थिति में प का अ उदात्त।

(८) महान्—महत् को प्रातिपदिकस्वर। (९) अभिष्टिः—अभि + √इष् + क्तिन्। 'मन्त्रे वृषेषपचमन०' (३।३।९६) से क्तिन् उदात्त। क्तिन् प्रत्यय यद्यपि भाव में होता है तथापि यहाँ कर्तृवाचक है। (१०) ओजसा। √उब्ज् + असुन् (बलोप)। नित् के कारण आद्युदात्त 'ओजस्' शब्द।

मन्त्र—२

यहां अध्वर्युओं को उपदेश दिया जा रहा है कि चुला लेने के बाद (चमसों या कटोरों में रख लेने पर) इसे इन्द्र के लिए पुनः दूसरे चमस में उठाइये—उसी में इन्द्र को परोस दीजिये। यह सोम आनन्दयुक्त इन्द्र के लिए आनन्दप्रद है, सभी कार्यों को संपन्न करने वाले इन्द्र के लिये यह भी अच्छी तरह काम करने वाला है। इन्द्र जिस विशेषता से युक्त हैं, सोम में भी वह विशेषता विद्यमान है। स्ववर्ग में इन्द्र को प्रीति अवश्य होगी।

एमेनं सृजता सुते—यह पाद निरुक्त में (१।१०) ईम् (निरर्थक पादपूरण निपात) का प्रयोग दिखलाने के लिए आया है । 'चुला लेने के बाद इन्द्र को अर्पित कर दें'—यही इसका अर्थ है । 'आ सृजत' को शुक्रामन्थि चमसगण में पुनः उठाने के अर्थ में सायण ने लिया है, अनपेक्षणीय अर्थ है । आ + √सृज्—बिछाना, परोसना, अर्पण । अन्य पादों में इन्द्र के विशेषणों से सोम के विशेषण मिलाये गये हैं, बड़ी चमत्कारपूर्ण पदशय्या है—मन्दिने इन्द्राय मन्दिम्, चक्रये चक्रिम् । मन्दि—मद् + णिच् + इ । आनन्दयुक्त । 'मन्दिने' को नपुंसक के सादृश्य से (व्यत्यय) नुम् लगाया गया है । यदि इन्द्र आनन्द लेने वाले हैं तो सोम भी आनन्द देने वाला है ।

चक्रि—√कृ + किन् (लिट्) । क कृ + इन् = चकृइ = चक्रि । कार्यशील, कर्मठ । यदि इन्द्र सभी कुछ (विश्वानि) कर सकने में समर्थ हैं तो सोम भी क्रियाशील ही है । वह भी अपना प्रभाव आनन्द के संचार में या शक्ति बढ़ाने में तुरत दिखाता है ।

अर्थ—प्रस्तुत कर लिये जाने पर इस आनन्दप्रद तथा क्रियाशील सोम को आनन्द युक्त तथा सभी कार्यों को संपन्न करने वाले इन्द्र को अर्पित कर दें ।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्गस्वर । (२) ईम्—निपात, चादयोऽनुदात्ताः । (३) एनम्—इदम् को द्वितीया में एनादेश (२।४।३४) तथा अन्वादेश होने से सर्वानुदात्त (२।४।३२) । (४) सृजत—तिङ् निघात । संहितादीर्घ । (५) सुते—√सु + क्त । प्रत्ययस्वर । (६) मन्दिम्—√मद् + णिच् + इ । प्रत्ययस्वर । (७) इन्द्राय—पूर्ववत् । (८) मन्दिने—प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त । (९) चक्रिम्—√कृ + किन् । नित् के कारण आद्युदात्त । (१०) विश्वानि—√विश् + क्वन् । आद्युदात्त । इसमें 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) से षष्ठी नहीं हुई है क्योंकि 'चक्रये' में जो किन् प्रत्यय है वह लिट् की तरह होता है; इसीलिए 'न लोकाव्ययनिष्ठा०' सूत्र (२।३।६९) से लकारकृत् के कर्म में यहां षष्ठी का निषेध हुआ । (११) चक्रये—√कृ + किन् । चक्रि (आद्युदात्त) + ङे = चक्रये ।

मन्त्र—३

यहां इन्द्र को 'सुशिप्र' (सुन्दर हनु या नाक वाला) तथा 'विश्वचर्षणि' (सभी मनुष्यों से युक्त या यजमानों के द्वारा पूज्य) के रूप में संबोधित करके कहा गया है कि आप हमारे हर्षप्रद स्तोत्रों से भी प्रसन्न हो जायें (मत्स्व) तथा हमारे सोमसवनों के समय अन्य देवताओं के साथ चले आयें ।

मत्स्व—√मद् (अदादिवत्-व्यत्यय) + लोट् (से > स्व)। 'सवाभ्यां वामौ' (३।४।९१) प्रसन्न हों। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) से दीर्घ। 'सुशिप्र' में 'शिप्र' शब्द का अर्थ यास्क ने (६।१७) हनु (ठुड्डी Chin) या नासिका किया है। कपोल अर्थ में इसे ग्रिफिथ तथा ओष्ठ अर्थ में मैकडोनल रखते हैं (VR,50)। मैकडोनल ने इसका अर्थ संदिग्ध मानते हुए कहा है कि इन्द्र के सोमपान के साथ संबन्ध होने से ओठ या मूँछों के अलावे कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता है। सुशिप्र=सुन्दर ओठों वाले।

विश्वचर्षणे—सबों के शासक ! सभी लोग जिनकी प्रजा हैं। यहां इन्द्र को सोम की जगह हर्षप्रद स्तोमों से आनन्द लेने को कहा गया है (सोमः स्तोमत्वमागतः)।

तृतीय पाद में सवनों में उन्हें आने को निमंत्रण है। सचा=सह, आ = आगच्छ। 'गच्छ' का अध्याहार करना पड़ेगा।

अर्थ—सुन्दर ओठों वाले, सबों के अधिपति ! हे इन्द्र ! आप इन आनन्द प्रद स्तोत्रों (गेय स्तुतियों) से आनन्द उठायें; हमारे इन सोमसवनों में भी आप आ जायें।

स्वरविचार—(१) मत्स्व—√मदि (अनुदात्तेत्) + से (स्व)। 'तास्यनुदात्तेन्ङिद्दुपदेशात्०' (६।१।१८६) से लसार्वधातुक अनुदात्त तिङ् प्रत्यय को हैं अतः धातुस्वर शेष रहा। छान्दस दीर्घ। (२) सुऽशिप्र— आमन्त्रित निघात। (३) मन्दिऽभिः—√मद् + णिच् + इ। प्रत्ययस्वर से मन्दि को अन्तोदात्त। (४) स्तोमेभिः—√स्तु + मन्। आद्युदात्त स्तोम शब्द। (५) विश्वऽचर्षणे—आमन्त्रितनिघात। (६) सचा—निपात आद्युदात्त। (७) एषु—इदम् + सु। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' से विभक्ति को उदात्त। (८) सवनेषु—√सु + ल्युट्। 'लिति' से प्रत्यय के पूर्व को उदात्त-धातु का स्वर। (९) आ—उपसर्गस्वर।

मन्त्र—४

हे इन्द्र ! आपके लिए मैंने स्तुतियां प्रस्तुत की हैं (असृग्रम्—√सृज्)। वे स्तुतियां कामनाओं के पूरक तथा रक्षक इन्द्र के (आपके) पास पहुँच भी चुकी हैं (उत् अहासत—√हा = गति) और उन स्तुतियों को आप स्वीकार भी कर चुके हैं (अजोषाः) :

असृग्रम्—√सृज् + लङ् (मिप्)। अट् + सृज् + श + रुट् (शीङो रुट्, बहुलं छन्दसि) + अम्। ज् का ग् होकर यह रूप हुआ है। मैंने सृष्टि की है। 'त्वाम्' से इन्द्रम्' का परामर्श होता है जिसके विशेषण हैं 'वृषभं'

तथा 'पतिम्'। वृषभ=वीर, काम्य वस्तुओं की पूर्ति करने वाला। पति=रक्षक, सोम पीने वाला, यजमानों का पालक।

उत् अहासत—उड़कर पहुँची हैं। √हा (ओहाङ् गतौ)+लुङ् (झ–अदादेश)। अजोषाः—√जुष्+लङ् (थास्)। छान्दस थकार लोप। आप उन्हें स्वीकार कर चुके हैं। ग्रिफिथ ने 'अजोषाः' का अर्थ 'असंतुष्ट' किया है और इसे 'गिरः' का विशेषण माना है। 'स्तुतियों ने अपने को असंतुष्ट रूप में ही ऊपर उठाया है' अर्थात् स्तुतियां चिर नवीन हैं। यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता। अन्ततः सायण का ही अभिप्राय संगत है।

स्वरविचार—(१) असृग्रम्—अट्+√सृज्+लङ् (मिप्)। अट् उदात्त ही 'सति शिष्टस्वर' के नियम से बच रहेगा। उसे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से उदात्त विहित है। (२) इन्द्र—आमन्त्रितनिघात। (३) ते—१।८।९ की तरह अनुदात्त। (४) गिरः—गिर्+शस्। गिर् को प्रातिपदिकस्वर (५) प्रति—निपातस्वर (आद्युदात्त)। (६) त्वाम्—युष्मद् का आदेश त्वद्—प्रातिपदिकस्वर। (७) उत्—उपसर्ग आद्युदात्त। (८) अहासत—तिङ् निघात। (९) अजोषाः—अट्+√जुष्+थास्। अट् का उदात्तस्वर शिष्ट रहा। (१०) वृषभम्—√वृष्+अभच् (किद्वत्)। चित् के कारण अन्तोदात्त। (११) पतिम्—√पा (रक्षा)+डति। प्रत्यय का आद्युदात्त–अ उदात्त।

मन्त्र—५

हे इन्द्र! रंग-विरंग (चित्र) श्रेष्ठ धन हमारी ओर (अर्वाक्) अच्छी तरह प्रेरित करें (सं चोदय)। आपके पास हमारे भोग के लिए पर्याप्त (विभु) धन तो है ही, उससे भी अधिक (प्रभु) है। इसलिए हमें भी थोड़ा धन दें।

चोदय-प्रेरय (प्रेरित करें)। √चुद (प्रेरणे) धातु चुरादि है अतः णिच् लगकर लोट् मध्यम पुरुष एकवचन में यह रूप हुआ। संस्कृत का यह पवित्र शब्द, जो मीमांसा सूत्र में धर्म के लक्षण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, क्षेत्रीय भाषा में अश्लीलार्थक है, यद्यपि साहित्य में कहीं इसे अश्लील नहीं लिया गया अर्थापकर्ष का उदाहरण इससे अच्छा नहीं मिल सकता।

अर्वाक्—इधर, मेरी ओर। इसी से 'अर्वाचीन' शब्द बना है। यह √अञ्चु (पूजा, गति) से बना है। राधः=धन। वरेण्य√वृञ्+एण्य। वरण के योग्य, श्रेष्ठ। असत्=अस्ति (है)। इत्=एव (ही)। विभु—विशेषेण भवतीति, वि+√भू+डु। भोग के लिए पर्याप्त धन। प्रभु=भोग से अधिक धन।

स्वरविचार—(१) सम्—उपसर्ग स्वर। (२) चोदय—तिङ्निघात। (३) चित्रम्—प्राति० स्वर। (४) अर्वाक्—प्राति० स्वर। (५) राधः—√राध् + असुन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (६) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (७) वरेण्यम्—वृषादि गण के कारण आद्युदात्त। (८) असत्—√अस् + अट् + लेट् (तिप्—त्)। धातु का स्वर शेष रहा, अट् (आगम अनुदात्त होते हैं) तथा तिप् अनुदात्त हैं। (९) इत्—निपात का स्वर। (१०) ते—१।८।९ में देखें। (११) विऽभु—कृदुत्तर पद का प्रकृति स्वर अर्थात् डु का प्रत्यय स्वर (वि + भू + डु)। (१२) प्रऽभु—विभु की तरह।

सप्तदश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—३

हे इन्द्र, यदि यह संभव नहीं हो कि आप हमारी ओर धन प्रेरित करें तो हमें ही धन की ओर प्रेरित कर दें। आप प्रचुर धन वाले हैं और हमलोग उद्योगवान् (रभस्वतः) हैं, कीर्तियुक्त (यशस्वतः) हैं।

अस्मान् + सु = अस्मान्त्सु। 'नश्च' (८।३।३०) से धुट् का आगम। तत्र—कर्म की ओर (सायण), धन की ओर। राये—धन की प्राप्ति के लिए। इन्द्र को 'तुविद्युम्न' संबोधन किया गया है जिसे सायण ने 'प्रभूत धन वाला' कहा है। तुवि = बहुत, द्युम्न=कान्ति। अनन्त कान्तियुक्त, या प्रचुर धन वाले।

अस्मान् के दो विशेषण हैं—रभस्वतः, यशस्वतः। रभस् = उद्योग, वेग। यशस्=कीर्ति, अन्न। हमलोग उद्योगी हैं जिससे धन प्राप्ति के पूरे अधिकारी हैं। यही नहीं, हम अन्नयुक्त भी हैं—आपको अन्न अर्पित करेंगे।

अर्थ—अधिक कान्ति से युक्त, हे इन्द्र! हमलोगों को, जो उद्योगी तथा अन्नयुक्त हैं, वहाँ धन की प्राप्ति के लिए अच्छी तरह प्रेरित कीजिये।

स्वरविचार—(१) अस्मान्—प्राति० स्वर। (२) सु—उपसर्ग स्वर। (३) तत्र—तत् + त्रल्। लित् स्वर से प्रत्यय के पूर्व उदात्त। (४) चोदय—तिङ्निघात। (५) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त (६।१।१९८)। (६) राये—रै + ङे। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) से विभक्ति उदात्त। (७) रभस्वतः—रभस् + मतुप्। √रभ् (राभस्य=उपक्रम) + असुन्=रभस् आद्युदात्त है। उसी का स्वर शिष्ट रहा क्योंकि मतुप् प्रत्यय अनुदात्त है (अनुदात्तौ सुप्पितौ)।

(८) तुविऽद्युम्न—आमन्त्रित आद्युदात्त। (९) यशस्वतः—यशस्

शब्द 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (उ० २६) से आद्युदात्त है। वही स्वर शिष्ट रहा क्योंकि मतुप् पित् होने से अनुदात्त है।

मन्त्र—७

हे इन्द्र ! आप हमें धन (श्रवः) दीजिये (संधेहि)। अन्य शब्द इसी धन के विशेषण हैं। जो धन हमें आप दें वह गोमत् (गो-धन से सम्पन्न), वाजवत् (अन्नयुक्त), पृथु (प्रचुर परिमाण में), बृहत् (गुण की दृष्टि से भी उत्तम), विश्वायुः (पूरी आयु देने वाला) तथा अक्षित (कभी नष्ट न होने वाला, अक्षय) रहे। इस प्रकार इसमें इन्द्र से संतान के अतिरिक्त सब कुछ मांग लिया गया है।

अपनी प्रार्थनाओं में वैदिक आर्य प्रायः गायों की मांग अवश्य किया करते थे ! गाय-बैल धन की इकाई थे।

अस्मे—अस्मद् + शे। बहुवचन चतुर्थी का रूप। अस्मभ्यम्। देखें—सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः। भ्यस् के स्थान में शे होने से सर्वादेश अनेकाल्शित्सर्वस्य) हुआ। 'शे' (१।१।१३) का भी प्रगृह्य संज्ञा होती है जिससे इसकी सन्धि नहीं होती—पदपाठ में 'इति' भी लगा देते हैं। श्रवः—श्रूयते इति (धनम्)। पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ कीर्ति रखते हैं। (श्रुत = विख्यात)। √श्रु से। जो सुनें—ख्याति। विश्वायुः—जिस धन से पूरी आयु प्राप्त हो, अथवा पूरे जीवन भर जो चलता रहे। अक्षितम्—√क्षि (=नष्ट होना) + क्त। अन्तर्भूत णिच् मानकर यह निष्ठा प्रत्यय किया गया है अतः 'निष्ठायामण्यदर्थे' (६।४।६०) से दीर्घ नहीं हुआ और इसीलिए 'क्षियो दीर्घात्' (८।२।४६) से त को न नहीं हो सका। लोक में ऐसी स्थिति में 'क्षीण' शब्द बनता।

अर्थ—हे इन्द्र ! हमें गायों से परिपूर्ण बलयुक्त (वाजवत्), विस्तृत, उत्तम, पूरी आयु तक स्थिर तथा अक्षय कीर्ति दीजिये।

स्वरविचार—(१) सम्—उपसर्ग उदात्त, धेहि से सम्बद्ध। (२) गोऽमत्—गो + मतुप् (अनुदात्त)। गो का प्रातिपदिक स्वर शेष रहा। (३) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (४) वाऽजवत्—वाज (√वज् + घञ्—आद्युदात्त) + मतुप्। वाज का स्वर (आद्युदात्त) शेष रहा। वृषादि गण के कारण भी इसे आद्युदात्त कह सकते हैं। (५) अस्मे इति—प्रगृह्य होने से इति-करण। अस्मद् + भ्यस् (शे)। अस्मद् को प्राति० स्वर। (क) यदि 'शेषे लोपः' से टिलोप करते हैं तो 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' से शे को ही उदात्त हो जाता है। (ख) यदि अन्त्यलोप (द् का लोप) करते हैं तो 'अस्म + ए' को 'अतो गुणे' से पररूप होगा और 'एकादेश उदात्तेनो-

दात्तः' से उदात्त होगा। (६) पृथु—√प्रथ् + कु। प्रत्ययस्वर। (७) श्रवः—√श्रु + असुन्। आद्युदात्त। (८) बृहत्—प्राति० स्वर। अन्तोदात्त। (९) विश्वऽआयुः—विश्वमायुर्यस्मिन् धने (बहु०)। विश्व (क्वन्नन्त) आद्युदात्त। बहुव्रीहि में पूर्वपद का प्रकृति स्वर होने से वही बचा रहता किन्तु 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) से पूर्वपद का अन्तोदात्त होता है। सन्धि करने पर (सवर्णदीर्घ एकादेश) 'विश्वायुः' मध्योदात्त हुआ। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५)। (१०) धेहि—तिङ् निघात। (११) अक्षितम्—न क्षितम्। नञ्समास में अव्यय पूर्वपद का प्रकृति स्वर (६।२।२)।

मन्त्र—८

यहां इन्द्र से कीर्ति (श्रवः), धन (द्युम्न) और अन्न (इषः) माँगा जा रहा है। हे इन्द्र ! हमें उत्तम कीर्ति (बृहत् श्रवः), सहस्रों की संख्या में धन तथा वे प्रसिद्ध अन्न दीजिये जो रथ पर लाये जाते हैं।

'श्रवः' का अर्थ यहाँ सायण ने कीर्ति रखा है, पूर्वमंत्र में 'अन्न' अर्थ लिया था। वस्तुतः 'श्रवः' कीर्तिवाचक ही शब्द है। √श्रु कीर्ति का निर्देश करता है। द्युम्न = धन। सायण तथा पाश्चात्य विद्वान् भी यहां सहमत हैं। सहस्रं सनुते ददाति = सहस्रसाः। हजारों की संख्या में देनेवाला। उनमें श्रेष्ठ—सहस्रसातमम् (हजार देनेवालों में सर्वोत्तम)।

ताः—इन प्रसिद्ध अन्नों को; धान, यव, गेहूँ आदि। रथिनीः इषः—रथ पर लाने योग्य अन्नों को, रथयुक्त अन्नों को। जो अन्न अपने उत्पादन स्थान से यजमान के यहां गाड़ियों पर लाये जाते हैं—उनका ही निर्देश यहां है। इषः = अन्न। यह स्त्रीलिंग है जिससे 'रथिनीः' विशेषण लगाया गया है।

स्वरविचार—(१) अस्मे इति—पूर्व मंत्र की तरह। (२) धेहि—तिङ् निघात। (३) श्रवः। (४) बृहत्—पूर्व मंत्र में देखें। (५) द्युम्नम्—प्राति० स्वर। (६) सहस्रऽसातमम्—सहस्र + √सन् + विट् = सहस्रसाः। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् √सन् का धातुस्वर। तमप् (अनुदात्त) लगाने पर कोई अन्तर नहीं पड़ा। (७) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त। (८) ताः- प्राति० स्वर। (९) रथिनीः—रथ + इनि + ङीप्। इनि का प्रत्ययस्वर, इ उदात्त। (१०) इषः—इष् + शस्। इष् (= अन्न) को यदि यौगिक (√इष् + क्विप्) मानें तो धातुस्वर, यदि रूढ माने तो प्राति० स्वर हुआ।

मन्त्र—६

धन की रक्षा के लिए, स्तुतियों से स्तवन करते हुए हमलोग उन इन्द्र-देवता को बुला रहे हैं (होम) जो वसुपति (धनाधीश), ऋग्मिय (ऋचाओं के विषय) तथा यज्ञस्थानों में जानेवाले हैं।

सायण ने 'वसोः' को मंत्रान्त में स्थित 'ऊतये' के साथ जोड़ दिया है किन्तु यह उचित नहीं। वस्तुतः 'वसोः वसुपतिम्' इन्द्र का विशेषण है। धन के धनाधीश (अधिपति)। ऐसे स्थानों में 'वसुपति' शब्द केवल पत्यर्थक रह गया है। इसे वैदिक द्विरुक्ति (Tautology) कह सकते हैं। वैदिक ऋषि ऐसे प्रयोगों के भाण्डागार थे। इनका विवेचन हो चुका है।

गीर्भिः गृणन्तः—स्तुतियों के द्वारा स्तवन करते हुए। √गॄ=जोर से बोलना। [तुलनीय,—प्रा० भारो० *√guera=जोर से बोलना, स्पेनिश-guerra=युद्ध, फ्रेंच-guerre]। इन्द्र का अन्य विशेषण है—ऋग्मियम् जिसका अर्थ सायण 'ऋचां मातारम्' (ऋचाओं को मापनेवाले—ऋचाओं के द्वारा स्तव्य) किया है। ऋचां मिमीते इति ऋग्मीः। स्पष्ट अर्थ है–ऋचाओं का विषय (विल्सन)।

होम—√ह्वेञ्+लट् (मस्, सायण–मिप्, व्यत्यय से)। संप्रसारण आह्वयामः अर्थ है। हम बुला रहे हैं।

अर्थ—स्तुतियों का गान करते हुए हमलोग धनाधिपति, ऋचाओं से स्तवनीय तथा गमनशील इन्द्र-देवता को अपनी सहायता (रक्षा) के लिए बुला रहे हैं।

स्वरविचार—(१) वसोः—√वस्+उ (नित्)। आद्युदात्त। (२) इन्द्रम्—√इदि+रन् (निपातन—'ऋज्रेन्द्राग्र०')। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७) से नित् के कारण आद्युदात्त। (३) वसुऽपतिम्—वसूनां पतिः। 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त होना चाहिए पर 'पत्यावैश्वर्ये' (६।२।१८) से ऐश्वर्यार्थक पति शब्द उत्तरपद में होने से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर (वसु–आद्युदात्त) हुआ। (४) गीःऽभिः—गिर्+भिस्। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) से विभक्ति को उदात्त। (५) गृणन्तः—√गॄ+श्ना+लट् (शतृ)। गृणत् में शतृ के अकार को प्रत्यय स्वर से उदात्त। (६) ऋग्मियम्—ऋच्+√मा+क्विप्। 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) से ईकार—ऋग्मीः। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर=ईकार उदात्त। ई को द्वितीया एकवचन में इयङ् आदेश। (७) होम—√ह्वेञ्+मिप्। धातु का स्वर शेष रहा (८) गन्तारम्—√गम्+तृन् (ताच्छील्यार्थ में)। नित् के कारण आद्युदात्त। (९)

ऊतये—√अव् + क्तिन्। 'ऊतियूति०' (३।३।९७) से उदात्त क्तिन् का निपातन। उति (अन्तोदात्त) + ङे = ऊतये।

मन्त्र—१०

सबके सब यजमान (आ इत् अरिः) निश्चित स्थान वाले तथा प्रौढ़ इन्द्र के लिए उनकी प्रौढ़ (प्रबल) शक्ति (शूषम्—पराक्रम) की अर्चना या स्तुति प्रत्येक सोमसवन के समय करते हैं।

यहां भी द्वितीय मंत्र की तरह इन्द्र और उन्हें देय पदार्थ के विशेषणों को समान करने का प्रयास हुआ है—'बृहते इन्द्राय बृहत् शूषम्। शूष=बलप्रद स्तोत्र, पराक्रम। शूषमर्चति—पराक्रम का गान करता है। सुते-सुते—प्रत्येक सोमसवन के समय। वीप्सा (व्याप्त करने की इच्छा, देखें काशिका—८।१।४) में द्विरुक्ति। न्योकसे—निः=स्थिर। ओकस्=निवास। नियतस्थान में रहनेवाले के लिए। आ इत्—सर्वोऽपि (सभी)। अरिः—√ऋ + इ। इयर्ति गच्छतीति। (यजमान)।

स्वरविचार—(१) सुतेऽसुते—√सु + क्त=सुत में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। द्विरुक्ति में दूसरे को आम्रेडित संज्ञा होकर 'अनुदात्तं च' (८।१।३) से अनुदात्त। (२) निऽओकसे—नियतमोको यस्य तस्मै (बहुव्रीहिः)। पूर्वपद प्रकृति स्वर। नि का निपातस्वर। संधि करके यणादेश करने पर 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से ओकार को स्वरित, न्योकसे। (३) बृहत्—(४) बृहते—दोनों में प्रातिपदिकस्वर। (५) आ (६) इत्—निपातस्वर। (७) अरिः—√ऋ + इ—प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (८) इन्द्राय—रन् प्रत्ययान्त निपातित होने से आद्युदात्त। (९) शूषम्—प्राति०स्वर। (१०) अर्चति—तिङ्निघात।

अष्टादश वर्ग समाप्त।

सूक्त—१०

इस सूक्त में अनुष्टुप् छन्द का आश्रय लिया गया है जिसमें आठ-आठ अक्षरों के चार चरण होते हैं। मन्त्रों की संख्या १२ है और सबों में इन्द्र-देवता की स्तुति की गयी है। विशेष रूप से इन्द्र द्वारा यजमान की रक्षा, उनके वीरतापूर्ण कार्य, शत्रुवध, सोमपान आदि का स्मरण कराया गया है।

इस सूक्त में ऋषि और देवता पूर्ववत् हैं। विनियोग में नवीनता अवश्य है। अभिप्लव षडह के उक्थ्यों में तृतीय सवन के समय प्रयुक्त अच्छावाक-स्तोत्र :भाग इसका प्रथम तृच है।

मन्त्र—१

यहाँ इन्द्र के प्राचीन संबोधन 'शतक्रतु' का उल्लेख करते हुए कहा जा रहा है कि हे इन्द्र ! उद्गाता आपकी स्तुति करते हैं, ऋचाओं के पाठक होता भी आप जैसे अर्चनीय देवता की अर्चना में अपने शस्त्रगत मंत्रों का पाठ करते हैं। ब्रह्मा आदि अन्य ब्राह्मण भी वंश की तरह आपको उन्नत कर रहे हैं। वंश की उपमा का स्पष्टीकरण सायण दो प्रकार से करते हैं। (१) जिस तरह बाँस लेकर नाचनेवाले नर्तक बीच-बीच में बांस को ऊपर उठाते हैं, (२) या जिस तरह सन्मार्ग पर चलने वाले लोग अपने कुल को ऊंचा उठाते हैं उसी प्रकार इन्द्र को भी ये ब्राह्मण ऊँचा उठाते हैं।

समानधातुक शब्दों के प्रयोग का प्रेम यहां भी दर्शनीय है। प्रथम दो पादों में 'त्वा' दो छोड़कर 'गै' और 'अर्च' धातु ही तो हैं। 'अर्चन्त्यर्कमर्किणः'—अर्चनीय इन्द्र की स्तुति स्तोता (होता) लोग करते हैं। अर्क = मन्त्र, लक्षणा से इन्द्र के अर्थ में। √अर्च् + घ। गायत्र = साम। गायत्र + इनि = गायत्रिन् (साम गाने वाले)। अर्क (मन्त्र) + इनि=अर्किन् (मन्त्र पाठ करने वाले—होता)। 'शतक्रतु' शब्द कई बार आ चुका है—शत-शत शक्तियों वाले इन्द्र ! सायण—बहुकर्मन्, बहुप्रज्ञ !

स्वरविचार—(१) गायन्ति—√गै + शप् + लट् (झि)। शप् (पित् के कारण) और तिङ्विभक्ति (लसार्वधातुक होने से) अनुदात्त है अतः धातु का स्वर ही उदात्त हुआ। (२) त्वा—युष्मद् का यह आदेश 'त्वामौ द्वितीयायाः' (८।१।२३) से होकर 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) से अनुदात्त है। (३) गायत्रिणः—गायत्र + इनि। प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त। (४) अर्चन्ति—√अर्च + शप् + लट् (झि)। शप् तिङ् अनुदात्त हैं (गायन्ति की तरह)। अतः धातुस्वर। (५) अर्कम्—√अर्च् + घ। प्रत्ययस्वर। (६) अर्किणः—अर्क + इनि। प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त। (७) ब्रह्माणः—ब्रह्मन् में प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त। (८) त्वा। (९) शतक्रतो इति शतऽक्रतो—शतक्रतु का संबोधन। ओकारान्त सम्बुद्धि होने से प्रगृह्य संज्ञा जिसके कारण इति-करण, आमन्त्रित निघात, समस्त पद होने से द्विरुक्ति और समासद्योतक अवग्रह का चिह्न द्वितीय पद में आया है। उत् के साथ संधि होने पर ओ का अवादेश और 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) से व का लोप। (१०) उत्—उपसर्गस्वर। (११) वंशम्ऽइव—वंश शब्द प्राति० स्वर से अन्तोदात्त है। इव के साथ समास, विभक्ति का लोप नहीं होना और पूर्व पद का प्रकृतिस्वर। (१२)

येमिरे—'तिङ्ङतिङः' से निघात। √यम् + लिट् (झ > इरेच्)। 'अत एक हल्मध्ये०' से एकार।

मन्त्र—२

जब यजमान याग संपादन की योजना बना कर सोमलता, समिधा आदि लाने के लिए पहाड़ की एक चोटी से दूसरी चोटी पर आरूढ़ होता है तथा सोमयाग के रूप में अपने महान् कर्म का स्पर्श (आरम्भ) करता है, तभी इन्द्र उसका अभिप्राय (अर्थं) समझ जाते हैं और वे वृष्णि (कामनाओं के पूरक) देवता (इन्द्र) अपने यूथ (मरुत्समूह) के साथ हिल पड़ते हैं—अपने स्थान से चलने की तैयारी करने लगते हैं कि यज्ञ में चलना होगा।

सानु—पर्वत की चोटी, पर्वतभाग, जहां यज्ञ की सामग्री मिलती है। यजमान यज्ञ सामग्री के अन्वेषण में पहाड़ों का भ्रमण करता है। अरुहत्—√रुह् + लङ् (तिप्)। अट् + रुह् + श प् + त् = अरुहत्। भट्टोजिदीक्षित ने यहाँ लुङ् माना है जो पाणिनि का भी अर्थ है, 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' (३।१। ५९) से √रुह् को लुङ् में च्लिके स्थान पर अङ् विकल्प से होता है। दीक्षित ने यही उदाहरण दिया है।

भूरि कर्त्वम्—अपने समक्ष विद्यमान कठिन कार्य, बड़ा काम। यज्ञ संपादन साधारण कार्य नहीं था। √कृ + त्वन् (कृत्यार्थक) = कर्त्वम् = कर्त्तव्य। अस्पष्ट = सायण के अनुसार. स्पर्श किया अर्थात् उपक्रम (आरंभ) किया। वस्तुतः यह √स्पश् (पश्य् से सम्बद्ध) धातु से बना है जिसका अर्थ 'देखना' है। सम्बद्ध शब्द है—स्पश (गुप्तचर), पस्पश (निरीक्षण, स्पर्शन)। [अंग्रेजी spy, फ्रेंच (प्रा०) espie, espier = निरीक्षण, अन्वेषण]। इसलिए, 'अस्पष्ट' का संभाव्य अर्थ 'देखा, देखता है' होगा।

अर्थम्—इच्छा, उद्देश्य। चेतति—√चित (जानना)। समझ जाते हैं। यूथेन—अपने समूह के साथ। इन्द्र के समूह मरुद्गण हैं। उन्हीं के साथ ये चल पड़ते हैं। वृष्णि :—√वृष् (वर्षा करना)। कामनाओं के पूरक। एजति = √एज् (कम्पन)। इन्द्र अपने स्थान से चल पड़ते हैं। यत् ''तत् = यदा'''तदा।

अर्थ—जब यजमान एक पर्वतभाग (ridge) से दूसरे पर आरोहण करता है तथा अपने कठिन कर्त्तव्य पर दृष्टिपात करता है, कल्पना करता है तो उसके उद्देश्य को इन्द्र समझ जाते हैं तथा अपने गणों (मरुतों) के साथ वे कामपूरक देवता चल पड़ते हैं।

स्वरविचार—(१) यत्—निपात स्वर (२) सानोः—√षणु + ञुण्। ञित् आद्युदात्त। (३) सानुम्। (४) आ—उपसर्गस्वर। (५)

अरुहत्—अट् + रुह् + शप् + लङ् (तिप्)। अट् को उदात्त विहित है। सबसे पीछे विहित (सतिशिष्ट) होने के कारण यही शेष रहा। निपातों में यत्, यदि, हन्त, कुवित् आदि के साथ आने पर तिङन्त को निघात नहीं होता (८।१।३०)। (६) भूरि—√भू + क्रिन्। नित्—आद्युदात्त। (७) अस्पष्ट—अट् (उदात्त) + √स्पश् लङ् (त)। व्रश्चभ्रस्ज०' से षत्व औ 'ष्टुना ष्टुः' से त को ट। अट् का उदात्त शेष रहा। यत् (अनुषंग से विद्यमान) के योग से निघाताभाव। (८) कर्त्वम्—सायण के अनुसार √कृ + विच्=कर्। कर् + त्व = कर्त्वम्। इन्होंने स्वरनिर्देश नहीं किया है। वास्तव में 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (३।४।१४) से √कृ + त्वन् करके यह बना है। उक्त सूत्र के उदाहरण में दीक्षित ने 'भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्' दिया भी है। नित् के कारण आद्युदात्त हुआ।

(९) तन्—निपातस्वर। (१०) इन्द्रः—पूर्ववत्। (११) अर्थम्—√ऋ + थन्। नित्, आद्युदात्त। (१२) चेतति—तिङ्निघात। (१३) यूथेन—√यु + थक् (निपातन)। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (१४) वृष्णिः—√वृष् + नि (कित् की तरह)। प्रत्यय स्वर। (१५) एजति—तिङ्निघात।

मन्त्र—३

इन्द्र को 'सोमपाः' (सोम पीनेवाला) के द्वारा संबोधित करके कहा जा रहा है कि पहले तो आप उन घोड़ों को (हरी) रथ में जोत लीजिये जो लंबे-लंबे केशों से भरे हैं (केशिना), पूर्ण युवक हैं (वृषणा) तथा इतने पुष्ट हैं कि पेट में लगायो जानेवाली रस्सी को पूरी तरह कस देते हैं (वह रस्सी ढीली नहीं रह पाती)। इसके बाद, हे इन्द्र ! आप हमारी स्तुतियों के श्रवणार्थ निकट आ जायें।

युक्ष्व (ा)—छान्दस दीर्घ। √युज् + से (स्व)। जोड़ दो। केशिना—केशिनौ (डा) = कंधे पर लंबे केशवाले। केश + इनि। हरी—पीले घोड़ों को। वृषणा—वृषणौ (डा)। √वृष् (= सींचना) + कनिन्। सेचन (गर्भाधान) में समर्थ, पूर्ण युवक, सबल। कक्ष्यप्रा—कक्ष्या = घोड़े के पेट में बांधी गयी रस्सी। √प्रा = पूरा करना, भर देना। ये घोड़े ऐसे तगड़े हैं कि उस रस्सी को पूर्णतः भर देते हैं। दुर्बल होने से रस्सी ढीली हो जाती। कक्ष्यां प्रातः पूरयतः इति कक्ष्यप्रौ (डा)—कक्ष्यप्रा।

उपश्रुतिम्—उप = समीप, श्रुति = श्रवण। निकट में रहकर श्रवण करने के उद्देश्य से। चर = चल (चल दीजिये)।

स्वरविचार—(१) युद्व— √युज् + लोट् (से = स्व)। 'सतिशिष्ट' (पीछे विहित) होने से प्रत्ययस्वर शेष रहा। (२) हि—निपातस्वर। (३) केशिना—केश + इनि। केशिन् में इ (प्रत्ययस्वर) उदात्त। (४) हरी इति— √हृ + इन् = हरि आद्युदात्त। ईकार द्विवचन होने से प्रगृह्य संज्ञा, अतएव इति-करण। इति आद्युदात्त (निपात) है। (५) वृषणा— √वृष् + कनिन् = वृषन् आद्युदात्त (नित्)। (६) कक्ष्यऽप्रा—कक्ष्यं प्रातः (पूरयतः)—कक्ष्य + √प्रा + क। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। आ उदात्त। (७) अथ—निपातस्वर। 'निपातस्य च' से दीर्घ। (८) नः—'अनुदात्तं सर्वम्०' से अनुदात्त। विशेष पहले आ चुका है। (९) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (१०) सोमऽपाः—आमन्त्रितनिघात। समास के कारण अवग्रह। (११) गिराम्—गिर् + आम् (ष० बहु०)। 'सावेका-चस्तृतीयादिर्विभक्तिः' से विभक्ति को उदात्त। (१२) उपऽश्रुतिम्—प्रादि-समास। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर प्राप्त था किन्तु 'तादौ च निति कृत्यतौ' (६।२।५०) के कारण यहां गति को ही प्रकृतिस्वर हो गया है क्योंकि गति के बाद तकारादि नित् कृत्प्रत्यय (क्तिन्) है। यहां उप के रूप में गति निपातस्वर से आद्युदात्त है—वही स्वर शेष रहा। (१३) चर—तिङ्निघात।

मन्त्र—४

इस मंत्र की व्याख्या के अवतरण में सायण कहते हैं कि इसका विशेष विनियोग श्रौतसूत्र में नहीं है, ऐसी स्थिति में इसका स्मार्त विनियोग ब्रह्मयज्ञ (अध्यापन) आदि के रूप में समझना चाहिए। यही बात सभी असूत्रित मंत्रों के साथ है।

> विशेषविनियोगस्तु यत्र श्रौतो न सूत्रितः।
> स्मार्तं तत्र विजानीयाद्ब्रह्मविधानादिसूत्रतः॥

अस्तु, यहां इन्द्र को 'वसो' (निवास के कारण रूप) कहकर उनसे आग्रह किया जा रहा है कि यज्ञ में सभी ऋत्विजों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों की प्रशंसा करें। स्तोमों (उद्गाता के स्तोत्रों) को देखकर अभिस्वरण (प्रशंसा-त्मक शब्दों का उच्चारण) करें, अध्वर्यु को देखकर अभिगरण ('हाँ' की आवाज) करें, और होता के शब्दों (ऋङ्मन्त्रों) पर भी रव (ध्वनि) करें—सबों की प्रशंसा करें। तदनन्तर हमारे यज्ञ और अन्न (ब्रह्म) को साथ-ही-साथ बढ़ायें। यज्ञ की समृद्धि तो करें ही, उसके फल अन्न की भी वृद्धि करें।

प्रथम दो चरणों में सायण ने ऋत्विजों की आपूर्ति करने का निर्णय किया है, वह व्यर्थ है। वस्तुतः इन्द्र को प्रस्तुत की गयी स्तुतियों का ही वर्णन है जिन्हें स्वीकृत करने का आग्रह है। एहि, अभि स्वर (उत्तर दें), अभिगृणीहि (स्वीकारोक्ति दें), आ रुव (जोरों से हर्षध्वनि करें)। आपकी ये सारी प्रतिक्रियायें हमारी स्तुतियों पर हों, ये ध्वनियां ही स्तुतियों की परीक्षा हैं।

वसु = अच्छा। [तुलनीय वसिष्ठ]। ब्रह्म = प्रार्थना। हे अच्छे इन्द्र ! हमारी प्रार्थनाओं के साथ-साथ यज्ञ की भी वृद्धि करें।

अर्थ—हे अच्छे इन्द्र ! आप आइये, हमारे स्तोत्रों का उत्तर दीजिये, स्वीकार-स्वर दीजिये तथा हर्षध्वनि कीजिये। पुनः हमारे स्तोत्रों और संबद्ध यज्ञ को भी साथ-साथ समृद्ध कीजिये।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्गस्वर। (२) इहि—तिङ्निघात। (३) स्तोमान्—√स्तु + मन्। नित् आद्युदात्त। (४) अभि—अभि उपसर्ग अन्तोदात्त होता है। 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१)। (५) स्वर—तिङ्निघात। (६) अभि। (७) गृणीहि—निघात। (८) आ। (९) रुव—निघात। √रु (शब्द करना) + लोट् (सि—हि अपित्) —उवङादेश। (१०) ब्रह्म—√बृह् + मनिन्। आद्युदात्त—नित्। (११) च—अनुदात्त निपात। (१२) नः—पूर्ववत्। (१३) वसो इति—आमन्त्रितनिघात। (१४) सचा—निपातस्वर। (१५) इन्द्र—पादादि में आमन्त्रित आद्युदात्त। (१६) यज्ञम्—√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त (१७) च। (१८) वर्धय—तिङ्निघात।

मन्त्र—५

इन्द्र अनेक शत्रुओं को रोकने वाले हैं (पुरुनिष्षिधे), उनकी वृद्धि करनेवाला सूक्त (ऋग्वेद के मंत्रों का शस्त्र) हमें पढ़ना चाहिए। हमें शस्त्रों का ऐसा शंसन करना है कि ये शक्र (इन्द्र) हमारे पुत्रों पर तथा मित्रों पर हर्ष की ध्वनि व्यक्त करें।

उक्थ = शस्त्र (मंत्रसमूह)। शंस्यम् = शंसन (पाठ) करना चाहिए। वर्धन = वृद्धि साधा। पुरुनिष्षिधे = प्रचुर दान करनेवाले के लिए। निस् + √सिध् = दान करना (ग्रिफिथ)। बहुत से शत्रुओं के निषेधक (सायण)। यहां उपसर्ग है निस् और सायण ने इसे 'नि' के अर्थ में ले लिया है। निष्षिध् का अर्थ 'देनेवाला' ही उचित है। पुरु = बहुत। [ग्रीक—polys, polus, ग्रीकवर्णमाला के उप्सीलॉन (υ) को अंग्रेजी में प्रायः y देते हैं, मूलतः वह u है।]

शक्रः = इन्द्र। अगले मंत्र में 'शक्तिमान्' के अर्थ में √शक् से निष्पन्न यह शब्द विशेषण के रूप में आयेगा। 'सुतेषु' का सायणीय अर्थ 'पुत्र' है किन्तु सोमसवन के प्रसंग में चुलाये गये सोम का उपयोग ही अधिक प्राकरणिक लगता है। सखित्वे—मित्रता में। हमारी मैत्री में तथा सोमार्पण में—दोनों में ही इन्द्र अधिक आनन्द लें। रारणत्—√रण्>√रम् यङ्लुक्+लेट् (तिप्)। पूरा आनन्द लें।

अर्थ—अनेक पदार्थ देनेवाले इन्द्र को बढ़ाने वाले ऋक्समूह का पाठ हमें करना चाहिए जिससे वे शक्तिमान् देवता हमारे सोमसवनों में तथा हमारी मित्रताओं (सहभोजादि) में खूब आनन्द लें।

स्वर-विचार—(१) उक्थम्—√वच्+थक्। प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। (२) इन्द्राय—√इदि+रन् (निपातन)। नित्—आद्युदात्त। (३) शंस्यम्—√शंसु+यत् (णिच् के बाद)। 'तित् स्वरित' को रोक कर 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त हुआ। (४) वर्धनम्—√वृधु+ल्युट् (करणे)। 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय के पूर्व धातु का स्वर उदात्त। (५) पुरुनिःऽसिधे—पुरु+निस्+√सिध्+क्विप्। पुरूणां निष्षिधे (षष्ठी तत्पुरुष)। षिध् (क्विबन्त) में धातुस्वर से उदात्त है। निस् और षिध् का समास (प्रादि) होने पर वही स्वर शेष रहा (गतिकारकोपपदात्कृत्)। कारकसमास (कर्मणि षष्ठ्यन्त के साथ) होने पर पुनः वही स्वर रहा—कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्। अन्ततः, 'षि' का 'इ' उदात्त है।

(६) शक्रः—√शक्+रक्। प्रत्ययस्वर। (७) यथा—यत्+थाल्। लित् स्वर से प्रत्यय के पूर्व अ उदात्त। (८) सुतेषु—√सु+क्त—प्रत्ययस्वर। (९) नः—पूर्ववत् अनुदात्त। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) से संहिता में णत्व। (१०) ररणत्—√रण् (शब्दे)+यङ् (लुक्)+लेट् (तिप्)। प्रत्यय लक्षण से द्वित्व, दीर्घ (दीर्घोऽकितः)। रारण्+शप्+त्। यद्यपि अदादिवद्भाव से शप् का लोप होता पर बहुल-ग्रहण से रुक गया। शप् अनुदात्त है अतः धातु का स्वर (अन्तोदात्त) शेष रहा है। शप् के द्वारा लसार्वधातुक को व्यवधान पड़ गया है, अतः उसके बाद विहित 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१।१८९) से होनेवाला आद्युदात्त नहीं हो रहा है। 'तिङ्ङतिङः' से निघात भी नहीं हुआ क्योंकि 'यथा' के योग में निघात नहीं होता है—'यावद्यथाभ्याम्' (८।१।३६)। निघाताभाव सिद्ध करने का एक और उपाय है—'चवायोगे प्रथमा' (८।१।५९) के अनुसार 'च' या 'वा' से सम्बद्ध दो तिङ्विभक्तियों में प्रथम को निघात नहीं होता। यहां एक विभक्ति

तो प्रत्यक्ष है, दूसरी 'सख्येषु च' में अनुकृष्ट होती है। उसके विचार से तो 'शरणत्' (श्रुन) अवश्य प्रथम है। अतः निघाताभाव हुआ। पदपाठ में इसे 'रणत्' कर दिया गया है, ध्यातव्य है। (११) सख्येषु—सखि + य (सख्युर्यः)। 'यस्येति 'च' से इकार लोप। प्रत्ययस्वर। (१२) च—चादयोऽनुदात्ताः।

मन्त्र—६

मित्रता के लिए हम उन्हीं इन्द्र के पास जाते हैं, धन के लिए उन्हीं के पास और उत्तम शक्ति पाने के लिए भी उन्हीं के पास जायें। पुनः वे शक्तिमान् इन्द्र हमें धन-दान करते हुए हमारी रक्षा में समर्थ हैं।

ईमहे—√ईङ् (गतौ)। जाते हैं, निघण्टु में याचनार्थक धातुओं में पढ़े जाने के कारण सायण ने 'याचामहे' (याचना करते हैं) ऐसी व्याख्या करने का प्रस्ताव रखा है। मन्त्र में तीनों काम्य पदार्थों के साथ 'तम्' (इन्द्र को) शब्द लगाया गया है। क्रियापद एक ही है—ईमहे। राये = धन के लिए (चतुर्थी)। सुवीर्ये = अच्छी शक्ति के लिए (निमित्त सप्तमी)। सखित्वे = मैत्री के निमित्त (वही)। शक्रः शकत्–समान धातुक प्रयोग। अर्थ है—शक्तिमान् इन्द्र हमारी रक्षा (सहायता) में समर्थ हो। दयमानः—देते हुए। हमें धन बाँटते हुए। √दय = दान, गति, रक्षा, हिंसा, आदान। अर्थ ठीक है।

स्वरविचार—(१) तम्—प्राति०स्वर। (२) इत्—निपात स्वर। (३) सखिऽत्वे—सखि + त्व—प्रत्ययस्वर। (४) ईमहे—तिङ्निघात। (५) तम्। (६) राये—'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' से 'रै + ङे' में विभक्ति को उदात्त। (७) तम्। (८) सुऽवीर्ये–शोभनं वीर्यं यस्यासौ (बहुव्रीहि)। 'वीरवीर्यौ च (६।२।१२०) से वीर्य शब्द उत्तर पद में होने से उसका आद्युदात्त। (९) सः—प्राति०स्वर। (१०) शक्रः—√शक् + रक्। प्रत्ययस्वर। (११) उत—'एवादीनामन्तः' (फि० ८२) से अन्तोदात्त। (१२) नः—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ'। (१३) शकत्—तिङ्निघात। (१४) इन्द्रः—पूर्ववत्। (१५) वसु—√वस् + उ (नित्)। आद्युदात्त। (१६) दयमानः—√दय् + शप् + लट् (शानच्)। शप् पित् के कारण अनुदात्त है। शानच् चित् है अतः अन्तोदात्त होना चाहिए। किन्तु अदुपदेश शप् के बाद होने से उसे लसार्वधातुक अनुदात्त हो जायगा। अन्ततः धातु का स्वर ही बचा।

एकोनविंश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—७

हे इन्द्र, आप के द्वारा जो अन्न (यशः) हमें दिया गया है वह सुविवृत (चारों ओर भली-भाँति फैला हुआ) तथा सुनिरज (आसानी से निःशेष रूप में प्राप्य) है। तदनन्तर आप गायों के वासस्थान के द्वार खोल दें (अप वृधि)। हे वज्रधर ! (अद्रिवः) आप हमारे लिए धन संपन्न करें।

सुविवृत—सु + वि + √वृ + क्त)। सायण का अर्थ है 'सुष्ठु सर्वत्र प्रसृतम्'। ग्रिफिथ अनुवाद करते हैं—खोलने में आसान। इन्द्र से युद्ध में विजय तथा शत्रुओं के धनापहरण की कामना की जाती है। इन्द्र की सहायता से प्राप्त शत्रुधन प्रायः गायों के रूप में प्राप्त होता है जिन्हें खोलना (विवर्तन) तथा हँका कर ले जाना (निरजन) दोनों ही सरल कार्य हैं। यदि गायों के रूप में अर्थ नहीं हो तो भी 'सुविवृत=आसानी से खुलने वाला, मिलनेवाला' अर्थ ही सम्मत है। वि√वृ = खुलना।

सुनिरज—सु + निस् + √अज् (गति) + खल्—आसानी से ले जाने योग्य, सुगम रीति से जाये। यशः = अन्न, धन, शत्रुओं की संपत्ति। इन्द्र के द्वारा दिलायी या दी गयी सम्पत्ति सुगमता से खुल (मिल) जाती है तथा हमारे घर आ भी जाती है। त्वादातम्—त्वया का संक्षिप्त रूप है त्वा, त्वयादत्तम्।

व्रज = गोशाला, वासस्थान। राधः=धन। 'अद्रिवः'—वज्र धारण करने वाले ! 'अद्रि' पर्वत का पर्याय होने पर भी उसके टुकड़े से बने हुए वज्र का अर्थ देता है। अद्रि + मतुप्—'छन्दसीरः' से म का व। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।७०) से नुमागम। सु लोप, ल् लोप। अद्रिवन्—'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) से रुत्व, विसर्ग, अद्रिवः।

पूरे मन्त्र का वातावरण युद्ध में परास्त शत्रुओं की गायों पर अधिकार करने का है। इन्द्र से कहा जा रहा है कि आप के द्वारा ही दिया गया धन ऐसा है जिसका भाण्डागार आसानी से खुले और जिसे आसानी से हम ले जायें। हे वज्रधर ! अब तो वह समय आ गया है—आप उन गायों का स्थान अपावृत करें और धन से हमें सम्पन्न करें। 'वज्रधर' सम्बोधन तभी सार्थक है।

स्वरविचार—(१) सुऽविवृतम्—वि और वृत का प्रादि समास हुआ-विवृतम्। कृदुत्तरपद के प्रकृति स्वर (वृत अन्तोदात्त) को रोककर, 'कर्मणि क्त' पर में होने से 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) सूत्र के द्वारा पूर्वपद का प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ किन्तु 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) से ऋकार उदात्त हुआ है। अब सु के साथ विवृत का समास करने पर कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर अर्थात वही ऋकार उदात्त शेष रहा।

तो प्रत्यक्ष है, दूसरी 'सख्येषु च' में अनुकृष्ट होती है। उसके विचार से तो 'रारणत्' (श्रुन) अवश्य प्रथम है। अतः निघाताभाव हुआ। पदपाठ में इसे 'ररणत्' कर दिया गया है, ध्यातव्य है। (११) सख्येषु—सखि + य (सख्युर्यः)। 'यस्येति च' से इकार लोप। प्रत्ययस्वर। (१२) च—चादयोऽनुदात्ताः।

मन्त्र—६

मित्रता के लिए हम उन्हीं इन्द्र के पास जाते हैं, धन के लिए उन्हीं के पास और उत्तम शक्ति पाने के लिए भी उन्हीं के पास जायें। पुनः वे शक्तिमान् इन्द्र हमें धन-दान करते हुए हमारी रक्षा में समर्थ हैं।

ईमहे—√ईङ् (गतौ)। जाते हैं, निघण्टु में याचनार्थक धातुओं में पढ़े जाने के कारण सायण ने 'याचामहे' (याचना करते हैं) ऐसी व्याख्या करने का प्रस्ताव रखा है। मन्त्र में तीनों काम्य पदार्थों के साथ 'तम्' (इन्द्र को) शब्द लगाया गया है। क्रियापद एक ही है—ईमहे। राये = धन के लिए (चतुर्थी)। सुवीर्ये = अच्छी शक्ति के लिए (निमित्त सप्तमी)। सखित्वे = मैत्री के निमित्त (वही)। शक्रः शकत्—सामान धातुक प्रयोग। अर्थ है—शक्तिमान् इन्द्र हमारी रक्षा (सहायता) में समर्थ हो। दयमानः—देते हुए। हमें धन बाँटते हुए। √दय = दान, गति, रक्षा, हिंसा, आदान। अर्थ ठीक है।

स्वरविचार—(१) तम्—प्राति०स्वर। (२) इत्—निपात स्वर। (३) सखिऽत्वे—सखि + त्व—प्रत्ययस्वर। (४) ईमहे—तिङ्निघात। (५) तम्। (६) राये—'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' से 'रै + ङे' में विभक्ति को उदात्त। (७) तम्। (८) सुऽवीर्ये—शोभनं वीर्यं यस्यासौ (बहुव्रीहि)। 'वीरवीर्यौ च (६।२।१२०) से वीर्य शब्द उत्तर पद में होने से उसका आद्युदात्त। (९) सः—प्राति०स्वर। (१०) शक्रः—√शक् + रक्। प्रत्ययस्वर। (११) उत—'एवादीनामन्तः' (फि० ८२) से अन्तोदात्त। (१२) नः—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ'। (१३) शकत्—तिङ्निघात। (१४) इन्द्रः—पूर्ववत्। (१५) वसु—√वस् + उ (नित्)। आद्युदात्त। (१६) दयमानः—√दय् + शप् + लट् (शानच्)। शप् पित् के कारण अनुदात्त है। शानच् चित् है अतः अन्तोदात्त होना चाहिए। किन्तु अदुपदेश शप् के बाद होने से उसे लसार्वधातुक अनुदात्त हो जायगा। अन्ततः धातु का स्वर ही बचा।

एकोनविंश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—७

हे इन्द्र, आप के द्वारा जो अन्न (यशः) हमें दिया गया है वह सुविवृत (चारों ओर भली-भाँति फैला हुआ) तथा सुनिरज (आसानी से निःशेष रूप में प्राप्य) है। तदनन्तर आप गायों के वासस्थान के द्वार खोल दें (अप वृधि)। हे वज्रधर ! (अद्रिवः) आप हमारे लिए धन संपन्न करें।

सुविवृत—सु + वि + √वृ + क्त)। सायण का अर्थ है 'सुष्ठु सर्वत्र प्रसृतम्'। ग्रिफिथ अनुवाद करते हैं—खोलने में आसान। इन्द्र से युद्ध में विजय तथा शत्रुओं के धनापहरण की कामना की जाती है। इन्द्र की सहायता से प्राप्त शत्रुधन प्रायः गायों के रूप में प्राप्त होता है जिन्हें खोलना (विवर्तन) तथा हँका कर ले जाना (निरजन) दोनों ही सरल कार्य हैं। यदि गायों के रूप में अर्थ नहीं हो तो भी 'सुविवृत=आसानी से खुलने वाला, मिलनेवाला' अर्थ ही सम्मत है। वि√वृ = खुलना।

सुनिरज—सु + निस् + √अज् (गति) + खल्—आसानी से ले जाने योग्य, सुगम रीति से जाये। यशः = अन्न, धन, शत्रुओं की संपति। इन्द्र के द्वारा दिलायी या दी गयी सम्पत्ति सुगमता से खुल (मिल) जाती है तथा हमारे घर आ भी जाती है। त्वादातम्—त्वया का संक्षिप्त रूप है त्वा, त्वयादत्तम्।

व्रज = गोशाला, वासस्थान। राधः=धन। 'अद्रिवः'—वज्र धारण करने वाले ! 'अद्रि' पर्वत का पर्याय होने पर भी उसके टुकड़े से बने हुए वज्र का अर्थ देता है। अद्रि + मतुप्—'छन्दसीरः' से म का व। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।७०) से नुमागम। सु लोप, त् लोप। अद्रिवन्—'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) से रुत्व, विसर्ग, अद्रिवः।

पूरे मन्त्र का वातावरण युद्ध में परास्त शत्रुओं की गायों पर अधिकार करने का है। इन्द्र से कहा जा रहा है कि आप के द्वारा ही दिया गया धन ऐसा है जिसका भाण्डागार आसानी से खुले और जिसे आसानी से हम ले जायें। हे वज्रधर ! अब तो वह समय आ गया है—आप उन गायों का स्थान अपावृत करें और धन से हमें सम्पन्न करें। 'वज्रधर' सम्बोधन तभी सार्थक है।

स्वरविचार—(१) सुऽविवृतम—वि और वृत का प्रादि समास हुआ–विवृतम्। कृदुत्तरपद के प्रकृति स्वर (वृत अन्तोदात्त) को रोककर, 'कर्मणि क्त' पर में होने से 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) सूत्र के द्वारा पूर्वपद का प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ किन्तु 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) से ऋकार उदात्त हुआ है। अब सु के साथ विवृत का समास करने पर कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर अर्थात वही ऋकार उदात्त शेष रहा।

[इसके स्वर पर कुछ शास्त्रार्थ किया गया है। प्रश्न—ऊपर सु के साथ विवृत का जो समास करके कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर कर रहे हैं, यह भूल है। कृदन्त तो वृत शब्द है, विवृत नहीं। परिभाषा है—प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य वा ग्रहणम् (परि० २३)। जब हम 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) कहते हैं तब कृत् का अर्थ होता है—वह शब्द जिसके अन्त में कृत् प्रत्यय विहित होकर लगा हो। यहां क्त √वृ में विहित है और इसीलिए कृदन्त 'वृत' है। दूसरी ओर 'सुविवृतम्' में उत्तर पद 'विवृत' है, अतएव यहाँ कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर कैसे आप कह रहे हैं? उत्तर—उक्त परिभाषा का अपवाद इसमें है—'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (परि०२८) अर्थात् दूसरे प्रत्ययों में भले ही तदादि या तदन्त का ग्रहण होता हो किन्तु जहाँ कृत्प्रत्यय की बात हो वहां कृदन्त का सामान्य अर्थ तो होता ही है, यदि उसके पूर्व गति या कारक हो तो इन्हें मिलाकर भी कृत् ही कहा जाता है। अतः 'विवृत' को कृत् कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

इस पर पुनः आक्षेप किया जाता है। जिस परिभाषा से आप विवृत को 'कृदन्त' शब्द का अभिधान दे रहे हैं उसी से हम उक्त शब्द को 'क्तान्त' भी कह सकते हैं। अब कर्मवाचक क्तान्त (विवृत) उत्तर पद में हुआ, पूर्वपद में सु। अतः 'गतिरनन्तरः' सूत्र से सु को प्रकृतिस्वर हो जायगा। यहाँ आप 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' कहकर भाग नहीं सकते क्योंकि उस सूत्र का सहारा लेने पर उत्तरपद में स्थित 'विवृत' शब्द के इकार को उदात्त हो जायेगा, परादि वही है न? विवृत के समास में परादि ऋकार था पर 'सुविवृतम्' के समास में, 'सति शिष्ट' (पीछे विहित) स्वर के प्रबलतर होने के कारण, इसके उत्तरपद के आदि अर्थात् इकार को उदात्त होगा। अतः 'सु' में उदात्त मानें या 'वि' में, ऋकार तो उदात्त होगा नहीं।

समाधान—'गतिरनन्तरः' सूत्र में ऊपर के सूत्र (६।२।४५) से क्त की अनुवृत्ति आती है, यह अतिथि है। यहां क्त-ग्रहण में कृद्ग्रहण वाली परिभाषा नहीं लगेगी, प्रत्यय-ग्रहण वाली सामान्य परिभाषा ही यहां ग्राह्य है। यदि कृद्ग्रहण परिभाषा का सहारा लिया जायेगा तो व्यवहित गति को भी प्रकृतिस्वर होने लगेगा और सूत्र में आया हुआ 'अनन्तर' शब्द निष्फल सिद्ध होगा। इसी अभिप्राय से काशिका-वृत्ति में 'अनन्तर' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन बतलाते हुए 'अभ्युद्धृतम्' प्रत्युदाहरण दिया गया है कि उत् से व्यवहित 'अभि' शब्द को प्रकृतिस्वर नहीं हो। फलतः 'गतिरनन्तरः' की प्राप्ति प्रस्तुत 'सुविवृतम्' में नहीं है। पूर्वोक्त प्रक्रिया से ऋ ही उदात्त होगा।]

(२) सुनिःऽअजम्—सु + निस् + √अज् + खल् । 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (३।३।१२६)। निस् के द्वारा सु का व्यवधान न समझें। वास्तव में सु शब्द को केवल उपपद ही रहना है, उसका अव्यवहित रहना आवश्यक नहीं है । तभी खल् प्रत्यय हो जायेगा । इसी से सुपरिहर, दुष्परिहर आदि शब्द सिद्ध होते हैं। निस् और अज का गति समास हुआ। 'अजम्' शब्द में लित् प्रत्यय के कारण प्रत्यय के पूर्व में स्थित धातु को उदात्त हुआ (अकार उदात्त)। निस् के साथ समास में कृदुत्तरपद के प्रकृतिस्वर में वही शेष रहा। अब सु और निरजम् के समास में 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (परि० २८) से निरज को भी कृत् मानकर कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर हुआ अर्थात् र का अ उदात्त शेष रहा। (३) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त । (४) त्वाऽदातम्—त्वया शोधनेन विशदीकृतम् । पहले 'दात' शब्द लें। √दैप् (शोधने) + क्त=दात । 'आदेच उपदेशेऽशिति' से ऐ को आ । प् अनुबन्ध है, जिसके होने पर भी एजन्त मानने में कोई कठिनाई नहीं आती। चूँकि दैप् घुसंज्ञक नहीं है (दाधा घ्वदाप्) इसलिए 'दो दद्घोः' से होने वाला दा को दद् आदेश नहीं हुआ है । यदि कोई कहे कि 'अदाप्' में केवल √दाप् (लवने) का निषेध है, दैप् से बने दाप् का नहीं क्योंकि पहला तो प्रतिपदोक्त है, दूसरा लाक्षणिक लक्षण और प्रतिपदोक्त दोनों रहने पर केवल पिछले का ही ग्रहण किया जाता है (परिभा०१०५)—तो हमारा उत्तर होगा कि ऐसी बात नहीं है गा, मा, दा शब्दों के ग्रहण (शब्दशास्त्रीय प्रयोग) में दोनों का ग्रहण होता है—जो धातु इस रूप में पहले से हैं उनका और जो प्रक्रियावशात् इस रूप में आ गये हैं उनका भी। इनके दोनों रूपों में कोई भेद-भाव नहीं दिखाया जाता है (गामादाग्रहणेष्वविशेषः, परिभाषा-१०६)। यह प्रतिप्रसव (अपवाद का अपवाद) जिस प्रकार दाप् को घु से बहिष्कृत करता है, उसी प्रकार दैप् को भी। 'त्वा'=युष्मद् (त्वद्) + टा (डा—सुपां सुलुक्०) = त्वा । अब स्वर—त्वद् में प्राति० स्वर से उदात्त था, डा लगाने पर अद् (टि) का लोप हुआ—'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६।१।१६१) से डा को ही उदात्त हो गया। तृतीया समास में 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से कर्मवाचक क्त के पूर्व का तृतीयान्त शब्द पूर्वपद-प्रकृतिस्वर होता है, वही आ उदात्त शेष रहा। (५) इत्—निपातस्वर। (६) यशः—√अशू + असुन् (युट्, धातु को)। नित् आद्युदात्त।

(७) गवाम्—गो + आम् । प्रातिपदिकस्वर । 'सावेकाचः०' से विभक्ति को उदात्त होना चाहिए किन्तु 'न गोश्वन्साववर्ण०' (६।१।१८२) से निषेध हो गया। (८) अप—उपसर्ग, आद्युदात्त । (९) व्रजम्—प्राति० स्वर।

(१०) घृषि—तिङ्ङतिङः से निघात। (११) कृणुष्व—पादादि में होने से निघात नहीं हुआ। √कृवि (हिंसा, करण) + उ + लोट् (थास् > से > स्व)। नुमागम, षत्व। 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः' इस नियम से यहाँ 'सति शिष्ट' (पश्चाद्विहित) होने पर भी विकरणस्वर को रोककर प्रत्यय का स्वर हुआ। अ उदात्त है। (१२) राधः—√राध् + असुन्। आद्युदात्त। (१३) अद्रिऽवः—'आमन्त्रितस्य च' (८।१।१९) से निघात।

मन्त्र—८

हे इन्द्र-देवता! जब आप शत्रुओं का वध करने लगते हैं तब स्वर्ग और पृथिवी दोनों मिलकर आपकी महिमा का पार नहीं पा सकते। कृपया आप स्वर्ग से आनेवाले वृष्टिरूपी जल पर विजय प्राप्त करें (जेषः), उसे अपने नियंत्रण में रखकर हमारी ओर भेजें। यही नहीं, वृष्टि द्वारा हमें अन्न देकर हमारे लिए दूध, दही आदि देनेवाली गायें भी भेज दें।

रोदसी—द्यावा और पृथिवी। ऋघायमाणम्—नॄन् हन्ति इति ऋघा। √हन् + विच्। न का लोप, ह का घ। (व्यत्यय)। अनृघा ऋघा भवति—इस अर्थ में क्यष्। ऋघायते। शानच्—ऋघायमाणः = शत्रुओं का वध करते हुए, क्रुद्ध अवस्था में। नहि इन्वतः—व्याप्त नहीं कर सकते, सँभाल नहीं सकते। इन्द्र जब क्रोध की मुद्रा में आते हैं तो स्वर्ग-पृथिवी थर्रा उठते हैं। तुलनीय—

> द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते।
> शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते॥ (ऋ० २।१२।१३)।

√इवि (व्याप्त करना) + लट् (तस्)।

जेषः—√जि + लेट् (सिप्)। जि + सिप् (स्)। गुण होकर—जे स् + अट् + स्—जेषः (जीत लें)। स्वर्वतीः—स्वर् + मतुप् + ङीप्। स्वर्गयुक्त जलों को आप हमारे लिए जीत लें। सं धूनुहि—सम्यक् या प्रचुर मात्रा में प्रेरित करें। √धूञ् (कम्पने) + श्नु + लोट् (सिप् > हि)। हमारे लिए अधिक संख्या में गायें भेज दें।

स्वरविचार—(१) नहि—न और हि का समास 'सह सुपा'। समासान्तोदात्त। (२) त्वा—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' तथा 'त्वामौ द्वितीयायाः'। (३) रोदसी इति—√रुद् + असुन्। आद्युदात्त। द्विवचन ईकार, प्रगृह्य। इसीलिए इति-करण (४) उभे इति—प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। (५) ऋघायमाणम्—ऋघन् + क्यष् + शप् + शानच्। शप् पित् है, शानच्

अदुपदेश के बाद लसार्वधातुक अनुदात्त है अतः क्यप् का प्रत्ययस्वर शेष रहा। (६) इन्वतः—√इवि (नुम्) + शप् + लट् (तस्)। शप् (पित्) तथा तस् (लसार्वधातुक) अनुदात्त हैं अतः धातु का इकार ही उदात्त है। 'हि' के साथ रहने से निघाताभाव (७) जेषः—√जि + लेट् (सिप्)= पूरा रूप—जे स् अट् (अनुदात्त आगम) स्। धातु का स्वर शेष रहा। (८) स्वःऽवती—स्वर् + मतुप् + ङीप्। 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' (फि० ७४) से स्वर् शब्द स्वरित (independent, उदात्त का स्थानापन्न) है। बाद के प्रत्यय अनुदात्त (प्रचय) हैं—'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' (१।२।३९)। (९) अपः—'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' से 'अप् + शस्' में विभक्ति को उदात्त हुआ। (१०) सम्—उपसर्गस्वर (११) गाः—प्राति०स्वर 'गो + शस्। (१२) अस्मभ्यम्—अस्मद् + भ्यस्। प्राति० स्वर। यौगिक मानें तो √अस् + मदिक्—प्रत्ययस्वर। (१३) धूनुहि—तिङ्निघात।

मन्त्र—६

यहाँ इन्द्र को 'आश्रुत्कर्ण' कहकर संबोधित किया गया है जिसका अर्थ सायण ने रखा है—जिनके कान चारों तरफ की बात सुन सकते हैं वैसे इन्द्र। पाश्चात्य विद्वान् आश्रुत् का अर्थ 'शीघ्र सुनने वाले' करते हैं। जिनके कान बहुत तेज हैं। तो, हे इन्द्र हमारे आह्वान को शीघ्र सुनिये तथा हमारी स्तुतियों को भी अपने मन में धारण किये रहें (दधिष्व)। हे इन्द्र! आप हमारे इस स्तोत्र को तो अपने सहायक (युजः) से भी निकटतर रखें। जिस तरह मित्र की बात से आपको सुख मिलता है उसी तरह मेरी स्तुतियों को भी प्रीतिहेतु समझें।

आश्रुत्कर्ण—आ + √श्रु + क्विप् = आश्रुत् (चारों ओर की बात सुनने वाला)। श्रुधी—√श्रु + लोट् (सिप् > हि > धि)। छान्दस दीर्घ। श्रवण करें। हवम्—√ह्वेञ् + अप्। हु + अप = हव (आह्वान)। नू = नु (शीघ्र)।

दधिष्व—√धा+लोट् (थास् > से > स्व)। श्लु के कारण द्वित्वादि। द धा स्व। 'छन्दस्युभयथा' (३।४।११७) से इसे आर्धधातुक मानकर इडागम, आकारलोप (आतो लोप इटि च)—षत्व, दधिष्व (= धारण कर लीजिये)। कृष्वा—√कृ+लोट् (स्व)। शप् का छान्दस बाहुलक से लोप। छान्दस दीर्घ—कृष्वा (कर लें)।

युजश्चिदन्तरम्—अपने सहायक (साथी, मित्र) से भी निकटतर। √युज्+क्विप् = युज्। अन्तर = निकटतर, अन्तिकतर। अन्तिक का संकु-

चितरूप अन्+तरप्। ग्रिफिथ यहां 'युज्' का अभिप्राय वज्र से लेने का प्रस्ताव रखते हैं क्योंकि वही इनका परम सहायक है।

स्वरविचार—(१) आश्रुत्ऽकर्ण—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) श्रुधि—√श्रु+लोट् (धि)। प्रत्ययस्वर। 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (८।१।७२) से पहले का आमन्त्रित-पद अविद्यमानवत् माना जायेगा तथा 'श्रुधि' को पादादि में रहने का फल मिलेगा जिससे निघात नहीं होगा। (३) हवम्—√ह्वे+अप्। धातुस्वर क्योंकि प्रत्यय पित् (अनुदात्त) है। (४) नु—निपात उदात्त। (५) चित्—चादयोऽनुदात्ताः। (६) दधिष्व—तिङ् निघात। (७) मे—अस्मदादेश, सर्वानुदात्त, 'तेमयावेकवचनस्य'। (८) गिरः—गिर्+शस्—प्राति० स्वर।

(९) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त। (१०) स्तोमम्—√स्तु+मन्। नित्, आद्युदात्त। (११) इमम्—इदम्+अम्। प्राति० स्वर। (१२) मम—अस्मद् को 'तवममौ ङसि' से मम आदेश। प्राति० स्वर से अन्तोदात्त होता पर 'युष्मदस्मदोर्ङसि' (६।१।२११) से आद्युदात्त हो गया। (१३) कृष्व—√कृ+लोट् (थास्>से>स्व)। प्रत्ययस्वर। पादादि में होने से निघाताभाव। (१४) युजः—युज्—युज्+ङसि। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८)से विभक्ति को उदात्त। (१५) अन्तरम्—वृषादि के कारण आद्युदात्त। अथवा अन्तिक (अन्)+तरप्—प्रत्ययपित् है, प्राति० स्वर।

मन्त्र—१०

इसमें इन्द्र का एक विशेषण 'वृषन्तम' (कामनाओं की सर्वाधिक वर्षा या पूर्ति करने वाला) दो बार आया है। संग्रामों में आह्वान सुननेवाले आप वृषन्तम को मैं जानता हूँ। वृषन्तम की हजारोंहजार दान करनेवाली सहायता के उद्देश्य से हम उन्हें बुला रहे हैं।

विद्म—√विद्+लट् (मस्>म)। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' से दीर्घ। वृषन्तम—√वृष्+कनिन्। वृषन्+तमप्। सर्वाधिक वर्षक (कामपूरक)। वृषन्—बल का प्रतीक होने से इसका अर्थ ग्रिफिथ ने 'बलिष्ठ' लिया है।

वाजेषु हवनश्रुतम्—संग्राम में जब भी इन्द्र को बुलाया जाता है वे चले आते हैं। 'श्रुतम्' में लक्षणा है, सुनकर इन्द्र अनुकूल फल देते हैं। हवन+√श्रु+क्विप्। हूमहे—√ह्वे+लट् (महिङ्)। धातु का छान्दस संप्रसारण, शप् का लोप। लोक में, ह्वयामः। ऊतिम्—रक्षा, सहायता। सहस्रसातमाम्—सहस्र का दान करने में सर्वोत्कृष्ट (√सन्)।

स्वरविचार—(१) विद्म—√विद्+मस् (म)। तिङ्स्वर। (२) हि—निपातस्वर। (३) त्वा—युष्मदादेश, 'त्वामौ द्वितीयायाः, सर्वानुदात्त। (४) वृषन्ऽतमम्√वृष्+कनिन्+तमप्। नित् प्रत्यय के कारण आद्युदात्त। तमप् पित् है (अनुदात्त)। (५) वाजेषु—वृषादि-गण के अन्तर्भूत है, आद्युदात्त। (√वज्+घञ्)। (६) हवनऽश्रुतम्—हवनं शृणोति। हवन+√श्रु+क्विप् = हवनश्रुत्। कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वर से उकार उदात्त। (७) वृषन्ऽतमस्य—पूर्ववत्। (८) हूमहे—तिङ्निघात। (९) ऊतिम्—'ऊतियूति०' (३।३।९७) से √अव् में क्तिन्-उदात्त का निपातन। (१०) सहस्रऽसातमाम्—सहस्र+√ षणु+विट्+तमप्+ टाप्। पिछले दोनों प्रत्यय अनुदात्त हैं। 'सहस्रसाः' में 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। आ उदात्त। यही शेष रहा, अन्य सभी अनुदात्त हुए—अनुदात्तं पदमेकवर्जम्।

मन्त्र—११

प्रस्तुत ऋचा में इन्द्र को 'कौशिक' कह कर संबोधित किया गया है। इस पर सायण टिप्पणी देते हैं कि इषीरथ के पुत्र कुशिक ने इन्द्र के समान पुत्र पाने के लिए ब्रह्मचर्य धारण किया। इन्द्र ही उनके गाथी पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए (अनुक्रमणी, ऋ० सं० ३।१)। तदनुसार कुशिकपुत्र विश्वामित्र इन्द्र ही हैं किन्तु यहां स्तुति इन्द्र की ही की जा रही है। आनुषंगिक रूप से उन्हें कौशिक कहा गया है। ग्रिफिथ कहते हैं कि मधुच्छन्दस ऋषि के परिवार के प्रधान देवता होने के कारण इन्द्र को 'कौशिक' कहा गया है। हे इन्द्र ! आप शीघ्र आयें तथा प्रसन्न होकर (मन्दसानः) इस प्रस्तुत सोम का पान करें। पुनः सभी देवताओं के द्वारा स्तुत्य (नव्य) कर्म के रूप में हमारा जीवन बढ़ायें तथा सहस्र संख्या में लाभ पाने वाला ऋषि (अतीन्द्रिय द्रष्टा) बना दें।

प्रथम पाद में 'आ' के साथ 'गच्छ' का सायणीय अध्याहार निरर्थक है। दोनों पादों में एक ही वाक्य है—नः सुतम् आ पिब। 'नव्यम्' को णु-धातु से यत् प्रत्यय करके 'स्तुत्य' के अर्थ में सायण लेते हैं। वस्तुतः यह नवीन का प्रसिद्ध पर्याय है। स्तुत्य अर्थ में लेने से ही अर्थ अस्पष्ट हो गया है। प्र सु तिर=बढ़ा दें। हमारी आयु नये सिरे से बढ़ायें, नये रूप में हमारा जीवन ले चलें। चतुर्थ पाद में 'सहस्रसाम् ऋषिं कृधि' का अर्थ सायण ठीक नहीं देते हैं—'हमें ऋषि बना दें' यह प्रार्थना असंगत है। मुझ ऋषि को सहस्र

संख्यक लाभ पानेवाला बना दें, यह अर्थ उपयुक्त है। ऋषित्व उसका यहां साध्य धर्म नहीं, सिद्ध धर्म है।

अर्थ—कुशिकवंश के पूज्य इन्द्र! आप प्रसन्न होकर हमारे प्रस्तुत सोम का अच्छी तरह पान करें। हमारा जीवन नव्यरूप में बढ़ायें तथा मुझ ऋषि को सहस्रसंख्यक लाभ दें।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्गस्वर। (२) तु—निपातस्वर। (३) नः—पूर्ववत् अनुदात्त। (४) इन्द्र (५) कौशिक—दोनों में आमन्त्रित निघात। (६) मन्दसानः—√मादि (नुम्)+असानच्। चित् के कारण अन्तोदात्त। (७) सुतम्—√सु+क्त। प्रत्ययस्वर। (८) नव्यम्—√णु (स्तुतौ)+यत्। 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त। (९) आयुः—√इ+उसि (नित्)। आद्युदात्त। (१०) प्र—उपसर्गस्वर। (११) सु—निपातस्वर। छान्दस दीर्घ। (१२) तिर—√तॄ+लोट् (सिप्)। व्यत्य से श। तिङ्निघात। (१३) कृधि—पापादि में निघाताभाव। √कृ+लोट् (सिप् > हि > धि)। तिङ्स्वर। (१४) सहस्रऽसाम्—सहस्र+√षणु+ विट्। कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर। (१५) ऋषिम्—√ऋषी (गतौ)+इन् (किद्वत्)। आद्युदात्त।

मन्त्र—१२

हे स्तुतियों से सेव्य इन्द्र! (गिर्वणः) सभी प्रकार के कर्मों में प्रयुक्त होनेवाली हमारी ये स्तुतियां आपको सभी तरफ से व्याप्त कर लें। ये स्तुतियां प्रौढ़ आयुष्य से परिपूर्ण आपको अभिप्रेत करके स्वयं वर्धनशील हैं, आपके द्वारा सेवित होने पर (जुष्टाः) ये हमारे मन में प्रीति उत्पन्न करें (जुष्टयः)।

गिर्वणः—गिर्+√वन् (सेवा), स्तुतियों से सेवनीय, स्तुतियों के प्रेमी। सम्बोधन है। विश्वतः—चारों ओर से; 'सभी कामों में प्रयुक्त' यह सायणीय अर्थ अनपेक्षित है। हमारी ये स्तुतियां आपको चारों ओर से व्याप्त कर लें।

दूसरी पंक्ति में समधातुक शब्दों का प्रयोग बहुत सुन्दर बन पड़ा है। ये वृद्ध आयु (अवस्था, जीवन) वाले इन्द्र को समृद्ध करनेवाली स्तुतियां हैं। वृद्धमायुर्यस्य—वृद्धायुः। जुष्ट = प्रीत, प्रिय। जुष्टि = प्रीति, आनन्द। ये स्तुतियां आपको प्रिय आनन्द देनेवाली हैं। जुष्टयः भवन्तु—स्तुतियां आनन्द (= आनन्ददायक) बनें।

अर्थ—हे स्तव्य इन्द्र ! हमारी ये स्तुतियां आपको चारो ओर से व्याप्त कर लें। पूरे जीवन वाले इन्द्र के लिए ये वृद्धि (कारक) हैं, तथा आपके लिए प्रिय आनन्द (देनेवाली) हैं।

स्वरविचार—(१) परि—उपसर्गस्वर। (२) त्वा—पूर्ववत् अनुदात्त। (३) गिर्वणः—आमन्त्रित निघात। (४) गिरः—प्रातिपदिक स्वर। (५) इमाः—इदम् का प्राति० स्वर। (६) भवन्तु—तिङ्निघात। (७) विश्वतः—विश्व+तसिल्। 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय के पूर्व को उदात्त, व का अकार उदात्त। (८) वृद्धऽआयुम्—√वृध्+क्त=वृद्ध, प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। वृद्धमायुर्यस्य (बहुव्रीहि)—पूर्वपद प्रकृतिस्वर से वही शेष रहा। अब सवर्णदीर्घ का एकादेश करने पर आ को ही ('वृद्धायु' में) उदात्त हो गया—एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५)। (९) अनु—निपात स्वर=आद्युदात्त। (१०) वृद्धयः—वृध्+क्तिन्। नित्, आद्युदात्त। (११) जुष्टाः—√जुष्+क्त। प्रत्ययस्वर होता, किन्तु 'जुष्टार्पिते' की अनुवृत्ति होकर 'नित्यं मन्त्रे' (६।१।२१०) से आद्युदात्त। (१२) भवन्तु—तिङ्निघात। (१३) जुष्टयः—√जुष्+क्तिन्। नित्—आद्युदात्त।

विंश वर्ग समाप्त।

सूक्त ११

अनुष्टुप् छन्द में विद्यमान केवल ८ ऋचाओं से संकलित इस सूक्त की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इसके ऋषि मधुच्छन्दस नहीं, बल्कि उनके पुत्र जेतृ-नामक ऋषि हैं। इन्द्र देवता के कार्यों से संबद्ध बलोपाख्यान की चर्चा इसमें हैं। इन्द्र के दानी स्वरूप की स्तुति इसमें पुनः पुनः हुई है, सूखा (drought) दूर करना, अन्नदान करना आदि गुण वर्णित हैं।

महाव्रत-याग में निष्केवल्य शस्त्र में पूरे सूक्त का पाठ होता है। इसके अलावे पृष्ठ्य याग में पांचवें दिन निष्केवल्य शस्त्र में प्रथम तृच का तथा अभिप्लव षडह के उक्थ्यों में तृतीय सवन के समय अच्छावाक शस्त्र में द्वितीय तृच का भी विनियोग होता है।

पूरे सूक्त में एक ही वर्ग है (२१ वां) और इसी के साथ तृतीय अनुवाक भी समाप्त होता है।

मन्त्र—१

हमारी सारी स्तुतियां इन्द्र को बढ़ा चुकी हैं। इस सम्बन्ध में इन्द्र के कई विशेषण आये हैं 'समुद्रव्यचसम्' 'रथीनां रथीतमम्', 'वाजानां पतिम्' और 'सत्पतिम्'।

समुद्रव्यचसम्—√व्यच् (व्याप्त करना, फैलना)+असुन्=व्यचस् (व्याप्ति, प्रसार)—समुद्र की तरह प्रसार वाले इन्द्र को। 'रथीनां रथीतमम्' दोनों में संहितापाठ में दीर्घ हो गया है, पदपाठ ह्रस्व ही रहेगा। यहां भी वैदिक द्विरुक्ति है। 'रथवाले योद्धाओं में श्रेष्ठ'—यही है। स्पष्टतः 'रथितम' शब्द श्रेष्ठ के अर्थ में रूढ़ माना गया है। 'वाज' का अर्थ यहां अन्न माना गया है (सायण), किन्तु पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार इसका अर्थ 'शक्ति' है। वाजों का पति=शक्तियों का अधिकारी। सत्पति=सज्जनों के पालक, अच्छे अधिकारी। अवीवृधन्—√वृध्+णिच्+लुङ् (झि)। चङ् (च्लि के स्थान में) के कारण द्वित्व, सन्वद् भाव, लघूपधगुणाभाव। 'बढ़ाया है'।

अर्थ—हमारी सभी स्तुतियों ने समुद्र की तरह व्यापक, रथियों में श्रेष्ठ, शक्तियों के अधिपति तथा सज्जनों के रक्षक इन्द्र-देवता को बढ़ाया है।

स्वरविचार—(१) इन्द्रम्—√इदि (नुम्)+रन् (निपातन)। आद्युदात्त। (२) विश्वाः—√विश्+क्वन्। नित्—आद्युदात्त। (३) अवीवृधन्—तिङ्निघात। (४) समुद्रऽव्यचसम्—समुद्रव्यच इव व्यचो यस्य (बहुव्रीहि) पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। समुद्र प्राति० स्वर से अन्तोदात्त है, वही शेष रहा। (५) गिरः—गिर्+जस्। प्राति० स्वर। (६) रथिऽतमम्—रथ+इनि+तमप्। इनि का प्रत्ययस्वर—इ उदात्त। (७) रथिनाम्—रथ+इनि - रथिन्। पूर्ववत्। (८) वाजानाम्—वाज वृषादि के कारण आद्युदात्त। (९) सत्ऽपतिम्—'पत्यावैश्वर्ये' (६।२।१८) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। स (अ) उदात्त। (१०) पतिम्—√पा+डति—प्रत्ययस्वर से अ उदात्त।

मन्त्र—२

हे बल के अधिपति इन्द्र! हम अश्वयुक्त (वाजिनः) हैं, आपकी मित्रता में रहकर कभी भी भयभीत न हों। आप शत्रु के विजेता हैं, कभी पराजित नहीं हुए हैं, अतएव अभयदान करने वाले आपको हम सब तरह से प्रणाम कर रहे हैं, स्तुति कर रहे हैं।

'शवसस्पते' में दो शब्द पृथक्-पृथक् हैं—शवसः, पते। किन्तु 'शवसः' को 'पते' के साथ पराङ्गवद्भाव (स्वर में उपयोगी) हो गया है जिससे दोनों को निघात होता है, दोनों एक पद-जैसे हैं। शवस्=शक्ति, बल। इन्द्र को 'बल का अधिकारी' कहने की समृद्ध परंपरा है।

'वाजिनः'—सायण के अनुसार 'अश्वयुक्त'। 'बलवान्' अर्थ ठीक है क्योंकि युद्ध, भय आदि के प्रसङ्ग में यही अर्थ प्राकरणिक है। हम बलवान् हैं अतः शत्रुओं से न डरें, विशेषतः इन्द्र की मित्रता पाकर। मा भेम—नहीं डरें।

√भी (ञिभी भये)+लुङ् (मस्)। 'नित्यं ङितः' से सलोप। छान्दस च्लिलोप, तिङ् के अर्धधातुक (छान्दस) होने से ङित्वाभाव में गुण हुआ है। माङ् के योग में अट् का अभाव। संस्कृत में—'अभैष्म>भैष्म'। नोनुमः—√नु+यङ्लुक्+लट् (मस्)। बार बार नमस्कार करते हैं।

अर्थ—हे बलाधीश इन्द्र! आपकी मैत्री से सबल होकर हम निर्भय हो जायें। आप जैसे विजेता और कभी परास्त न होनेवाले देवता की इसीलिए हम पुनः पुनः सब तरह से स्तुति करते हैं।

स्वरविचार—(१) सख्ये—सखि+य। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (२) ते—'तेमयावेकवचनस्य' से ते आदेश, सर्वानुदात्त। (३) इन्द्र—आमन्त्रित-निघात। (४) वाजिनः—वाज+इनि। प्रत्ययस्वर। (५) मा-निपातस्वर। (६) भेम—तिङ्निघात। (७-८) शवसः। पते—पते को आमन्त्रित निघात। 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२।१।२) से दोनों पदों का निघात। (९) त्वाम्—युष्मद्+अम्। प्रातिपदिक स्वर। (१०) अभि-'अभि' उपसर्ग अन्तोदात्त है। उपसर्गाश्चाभिवर्जम्। (११) प्र—उपसर्गस्वर। (१२) नोनुमः—तिङ्निघात। (१३) जेतारम्—√जि+तृन् (ताच्छील्य)। नित्-आद्युदात्त। (१४) अपराऽजितम्—नञ्+पराजित का समास। अव्ययपूर्वपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् नञ् (अ) उदात्त हुआ।

मन्त्र—३

इन्द्र का धनदान प्राचीन काल से प्रसिद्ध है (या प्रचुर है—पूर्वीः)। अपने यज्ञ करने वाले भक्तों को धन देना इन्द्र की प्रकृति हो गयी है। ऐसी स्थिति में यदि आज भी कोई यजमान ऋत्विजों को गायों के साथ धन का दान (दक्षिणा के रूप में) करता है तो इन्द्र की रक्षाविधियां उससे क्षीण नहीं होतीं। सायण का अभिप्राय यही लगता है कि यजमान अपने ऋत्विजों को धन देता जाय तथापि इन्द्र के द्वारा उसे जो धन मिला है क्षीण नहीं होगा।

पूर्वीः—√पॄ (पूरणे)—पुरु = प्रचुर, पुर्वी>पूर्वी। 'रातयः' और 'ऊतयः दोनों ही 'दस्यन्ति' के कर्ता हैं—न तो इन्द्र का प्रचुर दान करना ही कम होगा, और न उनकी रक्षाविधि में ही कोई कमी आयेगी। दस्यन्ति—क्षीण होते हैं। √दसु=उपक्षय। इसका पूर्व वाक्यांश (antecedent) दूसरी पंक्ति में है।

यदि<यदि (छान्दस दीर्घ)। गोमतः वाजस्य=गोयुक्त अन्न का। संबन्ध 'मघम्' के साथ है जिसका अर्थ है 'दक्षिणा, धन'। मंहते=ददाति। यदि वह स्तुतिकर्त्ताओं को गोयुक्त अन्नरूपी धन का दान करता है। वह=ते,

यजमान (सायण); किन्तु प्रतीत होता है कि यह इन्द्र का ही द्योतक है। जब इन्द्र अपने भक्तों को······।

अर्थ—जब वे अपने स्तोताओं में गोयुक्त अन्न-धन (अथवा शक्तिरूपी धन) वितरण करने लगते हैं, तब इन्द्र की प्रचुर (स्वाभाविक, प्रसिद्ध) दान-प्रक्रिया अथवा रक्षाविधि का भी क्षय नहीं होता।

स्वरविचार (१) पूर्वीः—पुरु+ङीष्। प्रत्ययस्वर। (२) इन्द्रस्य—पूर्ववत्। (३) रातयः—√रा+क्तिन्। 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः' से क्तिन् को ही उदात्त। (४) न—निपातस्वर। (५)-वि उप० स्वर। (६) दस्यन्ति—तिङ्निघात। (७) ऊतयः—'ऊतियूति०' से क्तिन् उदात्त। (८) यदि—निपातस्वर। निपात के कारण ही संहिता में दीर्घ। (९) वाजस्य—वृषादि के कारण आद्युदात्त 'वाज'। (१०) गोऽमतः—गो+मतुप् प्राति० स्वर से गो का ओ उदात्त। प्रत्यय पित् अनुदात्त है। (११) स्तोतृऽभ्यः—√स्तु+तृच्। चित्। अन्तोदात्त। भ्यस् के साथ अवग्रह है, ध्यान दें। (१२) मंहते—√मंह+शप्+त (लट्)। शप् (पित) और तिङ्प्रत्यय (लसार्व-धातुक) अनुदात्त हैं अतः धातुस्वर ही शेष रहा। 'निपातैर्यद्यदिहन्त०' (८।१।३०) के कारण 'यदि' रहने से निघात नहीं हुआ। (१३) मघम्—प्राति० स्वर।

मन्त्र—४

यहाँ इन्द्र के विशेषणों का पूरा संकलन है। 'इन्द्रः अजायत' (इन्द्र उत्पन्न हुए) के अतिरिक्त सभी विशेषण ही हैं।

(१) पुरां भिन्दुः—असुरों के नगरों को तोड़ने वाला। √भिद् (श्नम्)+कु = भिन्दुः। यहाँ पुर का विशेष अर्थ है मेघ जो वर्षा को रोके रहते हैं। ये वृत्र के दुर्ग या पुर के रूप में वैदिक आख्यानों में प्रसिद्ध हैं। इन्हें तोड़कर इन्द्र वर्षा कराते हैं। पुर् शब्द प्रातिपदिक है जिसमें षष्ठी बहु-वचन में 'आम्' लगाने पर 'पुराम्' बना है। (२) युवा=युवक, कभी वृद्ध न होनेवाला। (३) कविः = मेधावी, बुद्धिमान्। (४) अमितौजाः—असी-मित बलवाले। ओजस्=बल, शक्ति। (५) विश्वस्य कर्मणः धर्ता—सभी ज्योतिष्टोमादि यागों के पोषक। (६) वज्री—यजमान की रक्षा के लिये सदा वज्र धारण करने वाला। (७) पुरुष्टुतः—अनेक प्रकार के विभिन्न कर्मों में संस्तुत, अधिक स्तुत (much extolled—ग्रिफिथ)।

स्वरविचार—(१) पुराम्—पुर्+आम्। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' से विभक्ति (आम्) को उदात्त। (२) भिन्दुः—√भिदिर् विदारणे

(श्नम्)+क्त = भिनद्+त । 'श्नसोरल्लोपः' से अकार का लोप । 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४) से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण अर्थात् नकार—भिन्दुः । 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (१।१।५७) से अकारलोप को स्थानिवत् मानकर (=अ का काम वह करता ही) झल् पर में न रहने से, नकार को अनुस्वारादेश नहीं होना चाहिए—किन्तु 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु' (१।१।५८) के कारण अनुस्वार के प्रसंग में वह परिभाषा नहीं लगती । (देखें, सिद्धान्तकौमुदी 'रुन्धः' की सिद्धि)। भिन्दु में प्रत्ययस्वर । (३) युवा—√यु+कनिन् । उवङादेश । नित्–आद्युदात्त । (४) कविः—√कु (शब्दे)+इ । प्रत्ययस्वर । (५) अमितऽओजाः—अमित शब्द को अव्ययपूर्वपद का प्रकृतिस्वर है । अब 'अमितमोजो यस्य सः' (बहु०) विग्रह में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होने से वही स्वर शिष्ट रहा । (६) अजायत—तिङ्निघात ।

(७) इन्द्रः—पूर्ववत् । (८) विश्वस्य—√विश्+क्वन् । आद्युदात्त (९) कर्मणः—√कृ+मनिन् । नित्, आद्युदात्त । (१०) धर्ता—√धृ+तृच् । चित्, अन्तोदात्त । (११) वज्री—वज्र+इनि । प्रत्ययस्वर । पुरुऽस्तुतः—पुरुषु बहुषु प्रदेशेषु स्तुतः—'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६।२।१४४) से अन्तोदात्त । तृतीया समास करते तो 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपद का प्रकृति स्वर होता ।

मन्त्र—५

ऋग्वेद में प्रसिद्ध बलोपाख्यान का इसमें निर्देश है । यह बलासुर वृत्र का भाई अथवा अभिधानान्तर से स्वयं वृत्र ही था । इसने देवताओं की गायें चुराकर किसी पर्वत-गुफा में छिपा दी थीं । इन्द्र ने अपनी सेना के द्वारा उसे घेर कर उस गुफा से गायों का मोचन किया था । इस प्रसंग में इन्द्र के 'वज्रधर' (अद्रिवः) विशेषण की सार्थकता स्पष्ट है । हे वज्र चलाने वाले इन्द्र ! आपने गोयुक्त (गायें चुराने वाले) बलासुर के बिल अर्थात् गुफारूपी दुर्ग को घेर लिया (अप अवः—अपवृत किया) । उस समय बल ने जब देवताओं को मारना प्रारंभ किया तो हिंसित (तुज्यमानासः) होने पर, देवता, आपके द्वारा निर्भय किये जाने पर (अबिभ्युषः), आपके ही पास आये (आविषुः) ।

गोमतः बलस्य—गोसहित बल का, गौओं को चुराये हुए बल का । बिलम् = गुफा, बलासुर द्वारा गौओं के छिपाये जाने की जगह । अप अवः—अप+√वृ+लङ् (सिप्)—अपवृत किया = सायण के अनुसार 'घेर लिया'

(अपावृतवानसि)। वस्तुतः 'अप√वृ = खोलना, तोड़ना'। जब आपने बल के दुर्ग को खोला या तोड़ा।

अबिभ्युषः—√भी+क्वसु = बिभिवस्। प्रथमा बहुवचन में व्यत्यय से म मानकर संप्रसारण। नञ्—अबिभ्युषः = निर्भीक होकर। जब आपकी संरचा में देवता आये तो अभय हो गये। तुज्यमानासः—हिंस्यमानाः (सायण)। हिंस्यमानाः' और 'अभीताः' की संगति कठिन है। युद्ध में इन्द्र की सहायता के लिए देवता गये थे, 'हिंसित' होने पर इन्द्र द्वारा निर्भय कैसे बनाये गये? पाणिनि के धातुपाठ में √तुज (तुज तुजि) पांच हैं— तुज हिंसायाम् (भ्वा० पर०), तुजि पालने (वही), तुजि (प्रकारान्तर से तुज) हिंसा बलादाननिकेतनेषु (चु० पर०), तुज भाषार्थक। इसके अतिरिक्त 'तुञ्ज प्रापणे हिंसायां बले च भी है। यहां पालनार्थक या बलार्थक तुज ही संगत है। ये देवता आपके द्वारा सबल किये गये, पालित हुए।

'आविषुः' को भी सायण ने गत्यर्थक ले लिया है यद्यपि √अव की रक्षा अर्थ प्रसिद्ध है, वही यहाँ संगत होता है। (आपके द्वारा) निर्भीक तथा सबल बनाये गये देवताओं ने आपकी सहायता की थी। यह न सोचें कि इन्द्र की वीरता में इससे कोई कमी आ गयी।

अर्थ—हे वज्रयुक्त इन्द्र! आप गो चुरानेवाले बल की गुफा (दुर्ग) को जब तोड़ रहे थे तो आपके द्वारा निर्भय एवं सबल किये गये देवताओं ने आपकी सहायता की थी।

स्वरविचार—(१) त्वम्—सर्वनाम, उदात्त (प्राति० स्वर)। (२) बलस्य—प्राति० स्वर। (३) गोऽमतः—गो+मतुप्। प्राति० स्वर से ओकार उदात्त। (४) अप—निपात, आद्युदात्त। (५) अवः—अट्+√वृस्+लुङ् (सिप्)। इकारलोप, धातु को गुण, स लोप, र को विसर्ग। तिङ् के कारण निघात। (६) अद्रिऽवः—पूर्वसूक्त के ७ वें मन्त्र में सिद्धि देखें। आमन्त्रित का निघात। (७) बिलम्—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से नपुंसकलिङ्ग को आद्युदात्त। (८) त्वाम्—प्राति० स्वर। (९) देवाः—√दिव्+अच्। चित्, अन्तोदात्त। विशेष ऋग्वेद के १।१।१ में देखें। (१०) अबिभ्युषः—√भी+क्वसु+जस्—बिभ्युषः, बाद में नञ् आया—अबिभ्युषः। अव्ययपूर्वपद का प्रकृतिस्वर० = अ उदात्त। (११) तुज्यमानासः—√तुज्+यक्+शप्+शानच् (लट्)। शानच् लसार्वधातुक होने से अनुदात्त है। यक् का ही प्रत्ययस्वर शेष रहा। (१२) आविषुः—√अव्+लुङ् (झि > उस्)। अट्+अव्+सिच्+उस्—आ अव्+इट्+स् उस् = आविषुः।

मन्त्र—६

हे शूर इन्द्र ! प्रवाहित होनेवाले सोम (सिन्धु) के विषय में अच्छी तरह कहते हुए मैं आपके धनदानों के (रातिभिः) कारण, इस यज्ञ में पुनः आ गया हूँ। स्थिति ऐसी है कि पहले आपने हमें बहुत धन दिये हैं इसलिए इस सोमयाग में आपकी कीर्ति (धन-दान विषयक) प्रकट करते हुए मैं पुनः आया हूँ। स्तुतियों से सेव्य हे इन्द्र ! आपके पास ऋत्विक्, यजमान आदि कर्ता लोग (कारवः) उपस्थित हुए हैं—वे आपके धन-धान्य के दान का ज्ञान रखते हैं।

प्रति आयम् = पुनः आगच्छम्। √इण्+लङ् (मिप्)। आपके धन-दान (राति) के कारण आपके पास मैं पुनः आया हूँ।

सिन्धुम्—सायण ने √स्यन्द+उ से व्युत्पत्ति मानकर 'प्रवाहित होनेवाला सोम' अर्थ रखा है जिससे अर्थ की खींचातानी हुई है। 'सोममावदन्' तथा '......इत्यर्थः' में कोई तारतम्य बैठता ही नहीं। 'सिन्धु' का सोम अर्थ यहां नहीं हो सकता—सामान्यतया 'नदी, समुद्र, बाढ़ या स्रोत' के अर्थ में ही यह ग्राह्य है। यहां सिन्धु इन्द्र को ही कहा गया है क्योंकि वे धन-दान की सरिता हैं।

आवदन्—सम्यक् वर्णन करते हुए। विदुष्टे—विदुः+ते। 'युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्' से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' से त का ट। कारवः— √कृ+उण् = कारु = स्तुतिकर्ता।

अर्थ—हे वीर ! दान के सिन्धु (स्रोत, सरिता)—स्वरूप इन्द्र का सम्यक् वर्णन करते हुए, आपके धन-दानों का स्मरण करके (रातिभिः) मैं आपके पास आया हूं। स्तव्य देवता ! स्तोता आपके उक्त गुण से अभिज्ञ हैं, वे आपके निकट आ गये हैं।

स्वरविचार—(१) तव—'युष्मदस्मदोर्ङसि' से आद्युदात्त। (२) अहम्—प्रातिपदिक स्वर। (३) शूर—आष्टमिक निघात (आमन्त्रित होने से)। (४) रातिऽभिः—√रा+क्तिन्। 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः' से क्तिन् उदात्त। (५) प्रति—उपसर्ग अ.द्युदात्त। (६) आयम्—तिङ्निघात। (७) सिन्धुम्—√स्यन्द्+उ (नित्)—आद्युदात्त। (८) आऽवदन्—√वद् + शप् + शतृ (लट्)। शप् और शतृ (लसार्वधातुक) अनुदात्त हैं अतः धातुस्वर से व में अ उदात्त हुआ। अब आङ् के साथ 'कुगतिप्रादयः' से समास होने पर कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर अर्थात वदन् के उदात्तस्वर का शेष रहना।

(९) उप—उपसर्गस्वर। (१०) अतिष्ठन्त—तिङ्निघात। (११)

गिर्वणः—आमन्त्रित निघात। (११) विदुः— √विद् + लट् (झि > उस्)—प्रत्ययस्वर। पादादि में होने से निघाताभाव (१३) ते—'तेमयावेकवचनस्य' से अनुदात्त। (१४) तस्य—तत् + ङस् (स्य—अनुदात्त)। प्राति० स्वर। (१५) कारवः— √कृ + उण् = कारु—प्रत्ययस्वर (उ उदात्त)। उसका स्थानीय अ उदात्त (कारवः में)।

मन्त्र—७

हे इन्द्र! आपने कपटयुक्त शुष्कता (शोषण, अवृष्टि) देने वाले असुर को अपनी मायाओं (कपटों या उसका प्रतिकार करने वाली प्रज्ञाओं) से नष्ट कर दिया है। बुद्धिमान् अनुष्ठाता लोग आप के इस इतिवृत्त को जानते हैं अतएव अपने उन प्रशंसकों के अन्नों की (श्रवांसि) वृद्धि करें।

माया = कपट, अतिप्राकृत शक्तियाँ। मायिनम्—माया या छल करने वाले दैत्य को। शुष्णम्—इस नाम के असुर को, शोषण, अवर्षण को। वस्तुतः इन्द्र की वृष्टिकारक शक्ति का यहाँ वर्णन है। भारतीय कृषि में प्रायः सूखा पड़ता था, वृष्टि का अभाव हुआ करता था—तब इन्द्र की प्रार्थना की जाती थी। वर्षा के द्वारा इन्द्र कृषकों को कृतकृत्य करते थे। सूखा को दैत्य के रूप में (प्रायः वृत्र के रूप में) देखा गया है। इसका संहार इन्द्र से ही संभव था। वर्षा के लिए इन्द्रपूजा की प्रथा पौराणिक और परवर्ती काल में भी पायी जाती है।

अव+अतिरः – √तॄ+लङ् (सिप्)। 'ऋत इद्धातोः' से इकार, शप् (व्यत्यय) मेधिराः—बुद्धिमान् लोग। √मेध+इरन्। श्रवांसि – अन्नानि; कीर्तियां, स्तुतियां (√श्रु)—पाश्चात्य मत। उत्तिर – बढ़ जायें। बढ़ायें (सायण)।

अर्थ—हे इन्द्र! अपनी अलौकिक शक्तियों से आपने (कृषकों के साथ) छल करने वाले अवर्षण को दूर भगा दिया है। मेधावी स्तोता आपके इस कर्म को जानते हैं; आप उनकी स्तुतियों से भी आगे बढ़ जावें (स्तुति में कहे गये गुणों से भी अधिक गुण वाले हो जायें)।

स्वरविचार—(१) मायाभिः—√माङ्+य+टाप्। य प्रत्यय का स्वर शेष रहा। टाप् (अनुदात्त) के साथ एकादेश सन्धि होने पर भी उदात्त ही रहा। (२) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (३) मायिनम्—माया+इनि। प्रत्ययस्वर। (४) त्वम्—सर्वनाम उदात्त। (५) शुष्णम्—√शुष् (णिच्)+न (नित्वत्, कित्)। नित् के कारण आद्युदात्त। (६) अव—उपसर्गस्वर। (७) अतिरः—तिङ्निघात।

(८-१०) विदुः ते तस्य—पूर्व मन्त्र की तरह। (११) मेधिराः—√मेधृ+इरन्। नित्, आद्युदात्त। (१२) तेषाम्—तद्+सुट् आम् (साम्)। प्राति० स्वर। (१३) श्रवांसि—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' से आद्युदात्त। (१४) उत्—उप० स्वर। (१५) तिर—तिङ्निघात √तॄ+लोट् (सिप्> हि>०)।

मन्त्र—८

स्तुतिकर्ता ऋत्विजों ने (स्तोमाः) अपने बल से शासन करने वाले उन इन्द्र की स्तुति सब तरह से की है (अभि अनूषत) जिनके धनदान सहस्र की संख्या में हैं, प्रत्युत उससे भी अधिक हैं।

'स्तोम' का अर्थ सायण ने स्तुतिकर्ता दिया है। संभवतः 'अनूषत' क्रिया की संगति बैठाने के लिए ऐसा किया गया है। किन्तु यह अनपेक्षित है—स्तोमाः अनुषत=स्तुतियों ने स्तवन किया, समृद्ध किया। ऋ० (१।६।६ तथा १।७।१ में अनूषत के साथ। ऐसा ही कर्ता जुड़ा है—वाणीरनूषत।

इन्द्र के धन-दान की प्रशंसा की जा रही है। इनकी रातियां (दान-क्रियाएँ) हजार ही नहीं, उससे भी अधिक हैं। भूयसीः—अधिकतराः। बहु+ईयसुन्+ङीप्।

स्वरविचार—(१) इन्द्रम्—√इदि परमैश्वर्ये+रन् (निपातन) 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त। (२) ईशानम्—√ईश्+शानच्। ईश धातु अनदात्तेत् है अर्थात् इसमें अ को अनुदात्त पढ़ा गया है। 'तास्यनुदात्तेत्०' (६।१।१८६) से अनुदात्तेत् के पश्चात् लसार्वधातुक को अनुदात्त हो गया है। फलतः धातु का स्वर ही शेष रहा। (३) ओजसा—√उब्ज्+असुन्। नित्, आद्युदात्त। अथवा 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात्त। (४) अभिः—'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्'। अभि अन्तोदात्त है, अन्य उपसर्ग आद्युदात्त। (५) स्तोमाः— √स्तु+मन्—नित् के कारण आद्युदात्त। (६) अनूषत—तिङ्निघात।

(७) सहस्रम्—'कर्दमादीनां च' (फि० ५९) मध्योदात्त। (८) यस्य—यत् का प्राति० स्वर। (९) रातयः—√रा+क्तिन्। 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः' से क्तिन् को उदात्त। (१०) उत—प्राति० स्वर। इसका स्वर ध्यातव्य है, निपात होने पर भी अन्तोदात्त है। (११) वा—'चादिरनुदात्तः'। (१२) सन्ति—√अस+झि। प्रत्यय का आद्युदात्त। 'अन्ति' का अ उदात्त। 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात नहीं हुआ क्योंकि 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (८।१।६६) से यत् सर्वनाम के साथ संबद्ध होने से निघात नहीं होता। (१३) भूयसीः—बहु+ईयसुन्+ङीप्।

गिर्वणः—आमन्त्रित निघात। (११) विदुः— √विद् + लट् (झि > उस्)—प्रत्ययस्वर। पादादि में होने से निघाताभाव (१३) ते—'तेमयावेकवचनस्य' से अनुदात्त। (१४) तस्य—तत् + ङस् (स्य—अनुदात्त)। प्राति० स्वर। (१५) कारवः— √कृ + उण् = कारु—प्रत्ययस्वर (उ उदात्त)। उसका स्थानीय अ उदात्त (कारवः में)।

मन्त्र—७

हे इन्द्र ! आपने कपटयुक्त शुष्कता (शोषण, अवृष्टि) देने वाले असुर को अपनी मायाओं (कपटों या उसका प्रतिकार करने वाली प्रज्ञाओं) से नष्ट कर दिया है। बुद्धिमान् अनुष्ठाता लोग आप के इस इतिवृत्त को जानते हैं अतएव अपने उन प्रशंसकों के अन्नों की (श्रवांसि) वृद्धि करें।

माया = कपट, अतिप्राकृत शक्तियाँ। मायिनम्—माया या छल करने वाले दैत्य को। शुष्णम्—इस नाम के असुर को, शोषण, अवर्षण को। वस्तुतः इन्द्र की वृष्टिकारक शक्ति का यहाँ वर्णन है। भारतीय कृषि में प्रायः सूखा पड़ता था, वृष्टि का अभाव हुआ करता था—तब इन्द्र की प्रार्थना की जाती थी। वर्षा के द्वारा इन्द्र कृषकों को कृतकृत्य करते थे। सूखा को दैत्य के रूप में (प्रायः वृत्र के रूप में) देखा गया है। इसका संहार इन्द्र से ही संभव था। वर्षा के लिए इन्द्रपूजा की प्रथा पौराणिक और परवर्ती काल में भी पायी जाती है।

अव+अतिरः - √तॄ+लङ् (सिप्)। 'ऋत इद्धातोः' से इकार, शप् (व्यत्यय) मेधिराः—बुद्धिमान् लोग। √मेध+इरन्। श्रवांसि - अन्नानि; कीर्तियां, स्तुतियां (√श्रु)—पाश्चात्य मत। उत्तिर - बढ़ जायें। बढ़ायें (सायण)।

अर्थ—हे इन्द्र ! अपनी अलौकिक शक्तियों से आपने (कृषकों के साथ) छल करने वाले अवर्षण को दूर भगा दिया है। मेधावी स्तोता आपके इस कर्म को जानते हैं; आप उनकी स्तुतियों से भी आगे बढ़ जावें (स्तुति में कहे गये गुणों से भी अधिक गुण वाले हो जायें)।

स्वरविचार—(१) मायाभिः—√माङ्+य+टाप्। य प्रत्यय का स्वर शेष रहा। टाप् (अनुदात्त) के साथ एकादेश सन्धि होने पर भी उदात्त ही रहा। (२) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (३) मायिनम्—माया+इनि। प्रत्ययस्वर। (४) त्वम्—सर्वनाम उदात्त। (५) शुष्णम्—√शुष् (णिच्)+न (निदवत्, कित्)। नित् के कारण आद्युदात्त। (६) अव—उपसर्गस्वर। (७) अतिरः—तिङ्निघात।

(८-१०) विदुः ते तस्य—पूर्वं मन्त्र की तरह। (११) मेधिराः—√मेधृ+इरन्। नित्, आद्युदात्त। (१२) तेषाम्—तत्+सुट् आम् (साम्)। प्राति० स्वर। (१३) श्रवांसि—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' से आद्युदात्त। (१४) उत्—उप० स्वर। (१५) तिर—तिङ्निघात √तॄ+लोट् (सिप् > हि > ०)।

मन्त्र—८

स्तुतिकर्ता ऋत्विजों ने (स्तोमाः) अपने बल से शासन करने वाले उन इन्द्र की स्तुति सब तरह से की है (अभि अनूषत) जिनके धनदान सहस्र की संख्या में हैं, प्रत्युत उससे भी अधिक हैं।

'स्तोम' का अर्थ सायण ने स्तुतिकर्ता दिया है। संभवतः 'अनूषत' क्रिया की संगति बैठाने के लिए ऐसा किया गया है। किन्तु यह अनपेक्षित है—स्तोमाः अनुषत=स्तुतियों ने स्तवन किया, समृद्ध किया। ऋ० (१।६।६ तथा १।७।१ में अनूषत के साथ। ऐसा ही कर्ता जुड़ा है—वाणीरनूषत।

इन्द्र के धन-दान की प्रशंसा की जा रही है। इनकी रातियां (दान-क्रियाएँ) हजार ही नहीं, उससे भी अधिक हैं। भूयसीः—अधिकतराः। बहु+ईयसुन्+ङीप्।

स्वरविचार—(१) इन्द्रम्—√इदि परमैश्वर्ये+रन् (निपातन) 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से आद्युदात्त। (२) ईशानम्—√ईश्+शानच्। ईश धातु अनदात्तेत् है अर्थात् इसमें अ को अनुदात्त पढ़ा गया है। 'तास्यनुदात्तेत्०' (६।१।१८६) से अनुदात्तेत् के पश्चात् लसार्वधातुक को अनुदात्त हो गया है। फलतः धातु का स्वर ही शेष रहा। (३) ओजसा—√उब्ज्+असुन्। नित्, आद्युदात्त। अथवा 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात्त। (४) अभिः—'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्'। अभि अन्तोदात्त है, अन्य उपसर्ग आद्युदात्त। (५) स्तोमाः— √स्तु+मन्—नित् के कारण आद्युदात्त। (६) अनूषत—तिङ्निघात।

(७) सहस्रम्—'कर्दमादीनां च' (फि० ५९) मध्योदात्त। (८) यस्य—यन् का प्राति० स्वर। (९) रातयः—√रा+क्तिन्। 'मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः' से क्तिन् को उदात्त। (१०) उत—प्राति० स्वर। इसका स्वर ध्यातव्य है, निपात होने पर भी अन्तोदात्त है। (११) वा—'चादिरनुदात्तः'। (१२) सन्ति—√अस+झि। प्रत्यय का आद्युदात्त। 'अन्ति' का अ उदात्त। 'तिङ्ङतिङ' (८।१।२८) से निघात नहीं हुआ क्योंकि 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (८।१।६६) से यत् सर्वनाम के साथ संबद्ध होने से निघात नहीं होता। (१३) भूयसीः—बहु+ईयसुन्+ङीप्।

वहोर्लोपो भू च बह्वोः' (६।४।१५८) मे भू आदेश और ई लोप। भू यस्+ ङीप्। नित् के कारण आद्युदात्त, ङीप् तो पित् होने से अनुदात्त ही है। भूयसी+जस्। वैदिक व्यत्यय से यणादेश न होकर पूर्वरूप एकादेश। भूयसीः।

'एकविंश वर्ग समाप्त।

सूक्त—१२

इस सूक्त से चतुर्थ अनुवाक प्रारम्भ होता है जिसमें कुल छह सूक्त हैं। यहां से अनुष्टुप् छन्द छोड़कर पुनः गायत्री-छन्द ही आरम्भ होता है। इसके ऋषि कण्व के पुत्र मेधातिथि हैं तथा अग्नि-देवता का स्पष्ट वर्णन है। प्रातरनुवाक में आग्नेय क्रतु में पूरे सूक्त का पाठ होता है। पुनः पृष्ठ्य षडह के दूसरे दिन में यही सूक्त आज्यशस्त्र का अंग बन जाता है। दर्शपूर्णमासों में सामिधेनी ऋचाओं में प्रथम मन्त्र भी विनियुक्त होता है।

इसमें अग्नि के विभिन्न कर्मों में उनके दूत-कर्म का विशेष रूप से निर्देश पाया जाता है।

मन्त्र—१

तैत्तिरीय संहिता (२।५।८।५) के एक वाक्य का उद्धरण देकर सायण समझा रहे हैं कि देवताओं के दूत अग्नि हैं, असुरों के उशनस् (काव्य) अर्थात् शुक्राचार्य। अग्नि के उक्त दूतकर्म का ही निर्देश यहां किया जा रहा है। अग्नि का मैं वरण कर रहा हूँ। अन्य शब्द अग्नि के विशेषण हैं—दूतम् (दूतस्वरूप), होतारम् (होतृ-रूप), विश्ववेदसम् (सभी धनों के अधिपति) तथा इस यज्ञ के श्रेष्ठ निष्पादक या सद्बुद्धिवाले (सुक्रतुम्)।

विश्ववेदस्—विश्वानि वेदांसि यस्य। वेदस्=धन, सम्पत्ति। सुक्रतु—अच्छी तरह काम करनेवाला, अच्छी मेधा वाले। क्रतु—शारीरिक या मानसिक शक्ति, दक्ष। यहां सुक्रतु का 'सुनिष्पादक' अर्थ ही किया जायगा। हमारे इस यज्ञ में जो पूर्णतः दक्ष (क्रतु) हैं।

स्वरविचार—(१) अग्निम्— √अग् (अङ्ग)+नि। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (२) दूतम्—प्राति० स्वर।' (३) वृणीमहे—तिङ्निघात। (४) होतारम्— √ह्वेञ्+तृन्। संप्रसारण—होतृ शब्द नित् के कारण आद्युदात्त। (५) विश्वऽवेदसम्—बहुव्रीहि समास है अतः 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (६।२।१०६) से विश्व पूर्वपद का अन्तोदात्त। (६) अस्य—इदम् (अ)+ङस् (स्य)। 'ऊडिदंपदाद्य०' (६।१।१७१) से इदम् के बाद की विभक्ति को उदात्त। (७) यज्ञस्य—यज्ञ में प्राति० स्वर से

अन्तोदात्त। (८) सुऽक्रतुम--सु+√कृ+कतु। 'क्रत्वादयश्च' (६।२।११८) से उत्तरपदस्थ क्रतु को आद्युदात्त।

मन्त्र--२

आह्वान करने में प्रयुक्त मन्त्रों से (हवीमभिः) अग्निदेव को अनुष्ठाता लोग सदा बुलाते रहते हैं। ये अग्नि प्रजाओं के पालक (विश्पति), आहुति में दी गयी (हव्य) वस्तुओं का वहन करनेवाले—उन्हें देवताओं के पास ले जाने वाले और सभी लोगों के प्रिय (प्रेमास्पद) हैं।

अग्निम् अग्निम्—द्विरुक्ति। वीप्सा में द्विरुक्ति। सायण का कहना है कि यह द्विरुक्ति, अग्नि के स्वरूपतः एक रूप होने पर भी प्रयोगों में भेद के कारण या आहवनीयादि स्थानभेद के कारण अथवा पावक आदि विशेषणों में भेद होने के कारण, उनके बहुविध रूप की कल्पना पर आश्रित है। अर्थ है--अग्नि के प्रत्येक रूप को।

हवीमभिः--√ह्वेञ्+मनिन्। छान्दस ईडागम। आह्वान के साधन मन्त्रों के द्वारा (सायण), आह्वानों के द्वारा। हवन्त--√ह्वेञ्+लट् (झ > अन्त। एत्वाभाव वैदिक व्यत्यय से। छान्दस संप्रसारण। विश्पतिम्-विश्=प्रजा, निवासी, जन। सभी निवासियों के अधिकारी। हव्यवाहम्—हव्य+√वह्+ण्वि = हव्यवाट् (हव्य वहन करने वाला)। पुरुप्रियम्—पुरु=अनेक [ग्रीक–Polys)। अनेकों के प्रिय, अधिक प्रिय।

स्वरविचार—(१) अग्निम्ऽअग्निम्—वीप्सा में द्विरुक्ति। आम्रेडित (द्वितीय) को 'अनुदात्तं च' से अनुदात्त। प्रथम को प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। यह एक पद है, ध्यान दें। (२) हवीमऽभिः—√ह्वेञ्+मनिन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (३) सदा—सर्व (स आदेश)+दा। व्यत्यय से आद्युदात्त। (४) हवन्त—तिङ्निघात। (५) विश्पतिम्—विशां पतिम्। 'पत्यावैश्वर्ये' (६।२।१८) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होना चाहिए परन्तु 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) से उत्तर पद को आद्युदात्त हुआ है। (६) हव्यऽवाहम्—हव्य + √वह् + ण्वि = हव्यवाट्, आ उदात्त। उत्तर पद का प्रकृतिस्वर—'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३९)। (७) पुरुऽप्रियम्—पुरूणां प्रियम् (षष्ठी तत्पुरुष)। 'समासस्य' (६।१।२२३) अन्तोदात्त।

मन्त्र—३

हे अग्निदेव! आप उत्पन्न होकर (अरणियों के मन्थन से प्रादुर्भूत होकर), आस्तरण के लिए कुशों को (बर्हिः) तोड़नेवाले यजमान पर अनुग्रह दिखाने के लिए देवताओं को यहाँ बुला लायें। हमारे लिये देवताओं को बुलानेवाले आप ही हैं, आप स्तुत्य हैं।

जज्ञानः—√जन् + कानच् (लिटः स्थाने) = उत्पन्न । इसका सम्बन्ध 'वृक्तबर्हिषे' के साथ सीधा है—कुश तोड़े हुए यजमान के लिए उत्पन्न हुए हैं। सायण 'जज्ञानः' को स्वतंत्र पद रखकर 'वृक्तबर्हिषे' को 'आवह' के साथ मिला देते हैं। वृक्तबर्हिः—वृक्तं छिन्नं बर्हिः येन सः यजमानः ।

'ईड्यः' होता का विशेषण है। अर्थ है स्तुति के योग्य ।

अर्थ—हे अग्निदेव ! कुश तोड़े हुए यजमान पर कृपा दिखाने के लिए आप उत्पन्न हुए हैं, देवताओं को यहां बुलायें। आप हमारे स्तुत्य होता हैं।

स्वरविचार—(१) अग्ने—आमन्त्रित आद्युदात्त, (पादादि में है)। (२) देवान्—पूर्व सूक्त के ५ वें मंत्र में देखें। √दिव् + अच्। अन्तोदात्त (चित्)। (३) इह—इदम् + ह। प्रत्ययस्वर (४) आ—उपसर्ग स्वर। (५) वह—तिङ्निघात। (६) जज्ञानः—√जन् + कानच्—चित् का अन्तोदात्त। (७) वृक्तबर्हिषे—बहुव्रीहिसमास, पूर्वपदप्रकृतिस्वर अर्थात् √वृजी + क्त से बने 'वृक्त' के प्रत्ययस्वर का शेष रहना। (८) असि—√अस + सिप्। 'तासस्त्योर्लोपः' से स का लोप। धातुस्वर। (९) होता—प्रथम मंत्र की तरह। (१०) नः—'अनुदात्तं सर्वम्०' तथा 'बहुवचनस्य वस्नसौ' से अनुदात्त। (११) ईड्यः—√ईड् + ण्यत्। 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (६।१।२१४) से आद्युदात्त।

मन्त्र—४

हे अग्निदेव ! चूँकि आप दूत के काम में नियुक्त होते हैं, इसलिए यज्ञ की कामना करने वाले (उशतः) उन देवताओं को हमारे हवि को स्वीकार करने के लिए जागृत करें, प्रेरित करें। पुनः उन देवताओं के साथ बर्हि (= यज्ञ सायण) में आकर बैठ जायें।

ताँ उशतः—'दीर्घादटि समानपादे' से न् को रु और 'आतोऽटि नित्यम्' से अनुनासिक। रु को यकार, लोप। उशतः—√वश् (कामना) + शतृ (लट्)। 'ग्रहिज्या०' से संप्रसारण। कामना करनेवालों को। अध्याहृत 'देवान्' का विशेषण। दूत्यम्—दूतस्य कर्म। 'दूतस्य भागकर्मणी' (४।४।१२०) से यत्। 'दूत्यं यासि' संस्कृत की शैली है—दूत का काम करते हैं। देवैः—देवताओं के साथ। 'सह' अन्तर्भूत है। ससि—√सद् + सिप् (लट्) = बैठते हैं। 'बर्हिषि' = कुशासन पर। देवताओं के साथ कुश पर आप बैठ जायें (प्रार्थना)।

स्वरविचार—(१) तान्—प्राति० स्वर। (२) उशतः—√वश् + शतृ + शस्। 'शतुरनुमो नद्यजादी' (६।१।१७३) से विभक्ति को ही उदात्त।

(३) वि—उपसर्गस्वर। (४) बोधय—तिङ्निघात। (५) यत्—निपातस्वर (६) अग्ने—आमन्त्रित निघात। (७) यासि—√या + सिप्। धातुस्वर। 'निपातैर्यद्यदि०' के कारण निघाताभाव। (८) दूत्यम्—दूत + यत्। 'तित्स्वरितम्' से अ स्वरित—उच्चारण 'दूतियम्'। (९) देवैः—पूर्ववत्। (१०) आ—उप० स्वर। (११) सत्सि—तिङ्निघात। (१२) बर्हिषि—√बृंह् + इसि (न का लोप)। प्रत्ययस्वर से इकार उदात्त ('बर्हिस्' में)।

मन्त्र—५

यहां अग्नि को दो नये विशेषणों से संबोधित किया गया है—घृताहवन (घृत से बुलाये जाने वाले) तथा दीदिवः (दीप्यमान)। हे अग्निदेव, आप हमारे उन शत्रुओं को (रिषतः) जला दीजिये जो राक्षसों से युक्त हैं।

घृताहवन—जिनको घृत देकर बुलाया जाता है, घृत से समृद्ध होनेवाले। घृत + आ + √हु + ल्युट् (अधिकरणे)। घृतेन आहूयतेऽस्मिन्। √हु को कर्म अविवक्षित है अतः अकर्मक क्रिया होने से घृत को करण मानना पड़ेगा, न कि कर्म। इसलिए 'घृतेन' में 'तृतीया च होश्छन्दसि' से नहीं, प्रत्युत 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया विभक्ति है। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' से समास हुआ है।

दीदिवः—दिव् + क्वसु (लिट्)। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' से अभ्यास-दीर्घ। शेष प्रक्रिया सायणभाष्य में देखें। अर्थ है—दीप्यमान, चमकने वाले (radiant) 'प्रति' शब्द को सायण 'प्रतिकूल' का संक्षिप्त रूप समझते हैं इसीलिए 'प्रतिकूलान्' अर्थ किया है। हमसे प्रतिकूल चलने वाले हिंसक शत्रुओं को भस्मीभूत कर ही दें। रिषतः—√रिष=हिंसा करना। रिष् + शतृ= रिषत्। दह स्म=भस्म करें।

रक्षस्विनः—रक्षस्=राक्षस। राक्षसों से युक्त, उनसे सहायता प्राप्त करने वाले शत्रुओं को। रक्षस् + विनि।

स्वरविचार—(१) घृतेऽआहवन—'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) से आद्युदात्त। (२) दीदिऽवः—आमन्त्रित निघात (८।१।१९) यहां प्रश्न होता है कि यह शब्द उस आमन्त्रित शब्द के बाद आया है जो पादादि में है, अतः 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (८।१।७२) सूत्र से पूर्वशब्द को अविद्यमानवत् मानकर 'दीदिवः' को पादादि के कारण आद्युदात्त क्यों नहीं करेंगे? प्रश्नकर्ता आगे कहते हैं कि 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्य-वचनम्' (८।१।७३) से अविद्यमानवद्भाव का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि

अविद्यमानवद्भाव का निषेध वहीं होता है जहां समानाधिकरण आमन्त्रित पद पर में हो और सामान्य (विशेष्यवाचक) शब्द पूर्व में हो। प्रस्तुत स्थल में दोनों शब्द 'अग्नि' के विशेषण हैं विशेष्य इनमें कोई नहीं। तब अविद्य-मानवत् मानकर उक्त प्रक्रिया क्यों नहीं हो ? इसी कारण तो 'इडे रन्तेऽदिते सरस्वति' (तै० सं० ७।१।६।८) में पृथक्-पृथक् आद्युदात्त हुआ है ? उत्तर में कहेंगे कि 'दीदिवः' वास्तव में घृताहवन का द्योतन करने के लिए आया है, अग्नि का विशेषण नहीं है। 'घृताहवन' विशेष्य के रूप में विवक्षित है। यह विशेषण युक्त (विशिष्ट) होकर ही 'अग्नि' का विशेषण बनता है। दूसरे शब्दों में, 'घृताहवन' 'दीदिवः' के प्रति विशेष्य (सामान्य) है, 'अग्नि' के प्रति विशेषण (विशेष)। अतः अविद्यमानवत्व का निषेध यहां अवश्य होगा और निघात की सिद्धि होगी। यही नहीं, परस्पर विशेष्य विशेषण भाव के कारण सामर्थ्य होने पर 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२।१।२) से 'दीदिवः' का अङ्गवत् घृताहवन शब्द बन जायगा और 'शेष-निघात' से भी स्वर की सिद्धि हो सकती है। दोनों एकपद-वत् हो गये। इसलिए आमंत्रित आद्युदात्त के अलावे तो सब का निघात हो जायगा। 'इडे रन्ते' में परस्पर अन्वय नहीं था।

(३) प्रति—निपातस्वर। (४) स्म—चादयोऽनुदात्ताः। (६) रिषतः—√रिष्+शप्+शतृ। पिछले दोनों अनुदात्त हैं, पित् और लसार्व-धातुक के कारण। अतः धातुस्वर शेष रहा। (७) दह—तिङ्निघात। (८) अग्ने—आमंत्रित आद्युदात्त। (९) त्वम्—सर्वनाम, प्राति० स्वर। (१०) रक्षस्विनः—रक्षस्+विनि। प्रत्ययस्वर।

मन्त्र—८

अग्नि से अग्नि की संदीप्त करते हैं— आहवनीय अग्नि में दूसरी अग्नि देकर उसे संदीप्त करते हैं अथवा निर्मथ्य नामक (= मंथन से उत्पन्न) अग्नि के द्वारा उसे सम्यक् प्रकार से दीप्त करते हैं। अब इन पर मानवीय गुणों का आरोपण हो रहा है—ये कवि अर्थात् मेधावी, यजमान के गृह के पालक, नित्य तरुण (युवा), हव्य पदार्थ का वहन करने वाले तथा जुहू (हवन करने के लिए लकड़ी का पात्र—कलछुल की तरह) रूपी मुख से युक्त हैं।

युवा—अब जब अग्नि को संदीप्त करते हैं तब-तब उनका नवजन्म होता है इसलिए उन्हें युवा अर्थात् नित्य तरुण कहा जाता है। जुह्वास्यः—जुहू + आस्यः—जुहू उस पात्र का नाम है जिससे अग्निकुंड में घी आदि डालते हैं। आस्यम्—मुख। आस्यन्दते एनदन्नम् (यास्क)। जुहू से चूँकि अग्नि पदार्थों का ग्रहण करते हैं इसलिए उसे इनका मुख कहा गया है।

स्वरविचार—(१) अग्निना—√अङ्ग् + नि । प्रत्ययस्वर । (२) अग्निः—पूर्ववत् । (३) सम्—उपसर्गस्वर । (४) इध्यते—तिङ्निघात । √इन्धू + यक् + लट् (त) । (५) कविः—√कु + इ । प्रत्ययस्वर । (६) गृहऽपतिः—'पत्यावैश्वर्ये' (६।२।१८) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् गृह को प्राति० स्वर से अन्तोदात्त । (७) युवा—√यु + कनिन् । उवङ् आदेश । नित्-आद्युदात्त । (८) हव्यऽवाट्—हव्य + √वह् + ण्वि—'हो ढः' से ढ, 'झलां जशोऽन्ते' से ड् अथवा 'वावसाने' से ट् । 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर । (९) जुहूऽआस्यः—जुहूः आस्यं यस्य (बहु०) पूर्वपद का प्रकृतिस्वर । हु को उदात्त छोड़कर सबों का निघात । संहिता में यण् होकर 'जुह्वास्यः' बना, अब 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से आकार को स्वरित कर दिया गया—जुह्वास्यः ।

मन्त्र—७

यहाँ स्तोताओं से यज्ञ में आकर अग्निदेव की स्तुति करने को कहा जा रहा है (अग्निमुपस्तुहि) । इस प्रसंग में अग्नि के विशेषण 'कवि' (मेधावी), 'सत्यधर्मा' (सत्यभाषणरूपी धर्म से युक्त), 'देव' (द्योतमान) तथ 'अमीवचातन' (हिंसक शत्रुओं या रोगों के घातक) आये हैं ।

प्रतीत होता है कि विशेषणों के युग्म यहाँ विशेषार्थक हैं—सत्यधर्माणं कविम्, अमीवचातनं देवम् = प्रथम दोनों परस्पर संबद्ध हैं, प्रथम द्वितीय की व्याख्या करता है । यही बात दूसरे जोड़े में है । अग्नि वैसे ऋषि हैं जो प्राकृतिक नियमरूपी धर्म में सत्य का ही आश्रय लेते हैं । पुनः वे ऐसे देव हैं जो रोगों (शत्रुओं) का संहार करते हैं ।

सत्यधर्माणम्—सत्यं धर्मो यस्य स (बहुव्रीहि)—'धर्मादनिच् केवलात्' से समासान्त अनिच् प्रत्यय लगाया गया है । अमीवचातनम्—'√अम रोगे' से वन् प्रत्यय और ईट् आगम के साथ 'अमीव' का निपातन होता है इसका अर्थ है—रोग (सायण, मैकडोनल) स्वास्थ्यहीनता, दुःख (ग्रिफिथ) । इन्हीं अर्थों में सभी लेते हैं । चातन—√चत् (हिंसा) + ल्यु । चातयतीति चातनः । दुःखों को दूर करने वाले, नैरुज्य देने वाले अग्नि को··· ।

स्वरविचार—(१) कविम् । (२) अग्निम्—पूर्वमंत्र की तरह । (३) उप—उप० स्वर । (४) स्तुहि—तिङ्निघात । (५) सत्यऽधर्माणम्—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् सत्य का प्रातिपादिक अन्तोदात्त स्वर का शेष रहना । (६) अध्वरे—'न विद्यते ध्वरोऽस्य' । बहुव्रीहि समास में 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) से अन्तोदात्त । (७)

देवम्—√दिव् + अच् । चित् अन्तोदात्त । (८) अमीवऽचातनम्—अमीवानां चातनः । कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर । उत्तरपद में 'चातन' (चत् + ल्यु) लित् स्वर से आद्युदात्त है । (वस्तुतः—'अन' प्रत्यय के पूर्व आ को उदात्त हुआ) । वही शेष रहा ।

मन्त्र—८

हे अग्निदेव, जो हविष्पति (यजमान) आपकी—देवताओं के दूत की—सपर्या (परिचर्या, सेवा, अर्चना) करता है, उस यजमान के रक्षक (प्राविता) आप अवश्य रहें ।

हविष्पतिः—√हु + इसि = हविस् । हूयते इति हविः । उसका अधिकारी = यजमान । 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' से षत्व । सपर्यति—सपर (= पूजा) शब्द से कण्ड्वादिगण में लगनेवाला यक् प्रत्यय लगाने से सपर्य धातु आया । 'अतो लोपः' से सपर के अन्त्याकार का लोप हुआ था । शप् + तिप् लगाकर सपर्यति = अर्चयति । प्राविता = प्रकृष्टः अविता (रक्षकः) । √अव् + तृच् । इट् का आगम । 'स्म' का संबन्ध 'भव' के साथ बलाघात (emphasis) के लिए है । आप अवश्य हों ।

स्वरविचार—(१) यः—यत् का प्राति०-स्वर । (२) त्वाम्—प्राति० स्वर, उदात्त । (३) अग्ने—आमन्त्रित निघात । (४) हविःऽपतिः—'पत्यावैश्वर्ये' (६।२।१८) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर अर्थात् 'हविस्' में प्रत्ययस्वर से इ उदात्त । (५) दूतम्—प्राति० स्वर । (६) देव—आमन्त्रित निघात । (७) सपर्यति—सपर + यक् + शप् + तिप् = सपर्य + अ ति । यक् का प्रत्ययस्वर शेष रहेगा क्योंकि पीछे विहित (सति शिष्ट) होने पर भी दोनों शप् तिप् (पित् के कारण) अनुदात्त हैं । सपर्य (अन्तोदात्त) के साथ शप् (अ) की संधि होने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त ही रहेगा । तिङ्निघात (८।१।२८) से इसलिए नहीं हुआ कि यत् का प्रयोग में हुआ है (यद्वृत्तान्नित्यम् ८।१।६६) । (८) तस्य—तत् का प्राति० स्वर । (९) स्म—'चादयोऽनुदात्ताः' । (१०) प्रऽअविता—√अव् + तृच् । चित् , अन्तोदात्त । प्र के साथ समास होने पर 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर । (११) भव—'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से निघात ।

मन्त्र—९

यजमान की 'हविष्पति' उपाधि अब 'हविष्मान्' (हवि से युक्त) के रूप में आयी है । जो यजमान देवताओं के भोजन के लिए (वीतये, यज्ञ के

लिए) अग्नि के निकट आकर उनकी परिचर्या करता है, हे पावक (पवित्रकर्ता अग्निदेव !) उस यजमान को आप सुखी बनावें (मृळय)।

यह मंत्र गार्हपत्य और आहवनीय दोनों अग्नियों के परस्पर संसर्ग कराने के समय याज्या के रूप में पाठ्य है (आश्व० श्रौ० ३।१३)।

देववीतये—देवताओं के भोजन के लिए = यज्ञ के संपादन के लिए जहाँ देवताओं का हविर्भोज होता है। आ विवासति–आ + √वा + सन्। √वा= जाना। आगमयितुमिच्छति—अन्तर्भावित णिच्। आह्वान की इच्छा का उद्देश्य परिचर्या रहने के कारण निघण्टु में यह उसी अर्थ में है। सन् होने पर 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त हुआ जिससे 'वि' को उदात्त। 'यः' के प्रयोग के कारण निघात नहीं हो सका। 'तिङि चोदात्तवति' (८।१।७१) से उदात्तयुक्त तिङन्त शब्द पर रहने से 'आङ्' को निघात हो गया है। 'आ' के साथ 'विवासति' का समास (सह सुपा) होने पर 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' से उत्तरपद का आद्युदात्त = वही फल। (६) तस्मै—तत् का प्रातिपदिकस्वर। 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि संप्रदानम् (वा०)' से संप्रदान होकर चतुर्थी। (७) पावक—आमंत्रित निघात। (९) मृळय— तिङ् निघात।

मन्त्र—१०

यहाँ अग्नि को 'पावक' और 'दीदिवः' दोनों संबोधनों से विशिष्ट किया गया है। उनसे प्रार्थना की जा रही है कि वे देवताओं को हमारे लिए इस स्थान पर ले आवें। तृतीय पाद में सायण के अनुसार देवताओं के पास (उप) हमारे यज्ञ तथा हवि को भी पहुँचाने की बात कही जा रही है (प्रापयेति शेषः)। किन्तु अध्याहार करने की अपेक्षा उन्हीं शब्दों से अर्थ निकालना अच्छा है। वास्तव में देवताओं को यहाँ अर्थात् यज्ञ में (यज्ञम्) और हवि के समीप लाने की प्रार्थना की जा रही है, यज्ञ और हवि दोनों को देवताओं के निकट ले जाना असंगत है। पद-संघटना ऐसी है कि हवि और यज्ञ को पृथक् नहीं कर सकते—जो क्रियापद लगेगा, दोनों के लिए। दोनों सहकारी हैं। हवि देवताओं के पास ले जा सकते हैं, यज्ञ नहीं—अन्ततः अन्वय यही होगा—देवान् इह, नः यज्ञं हविश्च उप आ वह। देवताओं को यहाँ हमारे यज्ञ और हवि के पास ले आवें। पावक = शोधक, दीदिवः = देदीप्यमान। (दिव् + क्वसु)।

स्वरविचार—(१) सः—प्राति० स्वर से उदात्त। (२) नः— 'बहुवचनस्य वस्नसौ' से अनुदात्त अस्मदादेश। (३) पावक—आमन्त्रित निघात। (४) दीदिऽवः—वही। अवग्रह की विचित्रता पर ध्यान दें।

(५) अग्ने—आमन्त्रित आद्युदात्त । (६) देवान्—अच् प्रत्ययान्त, अन्तोदात्त । (७) इह—इदम् + ह । प्रत्यय स्वर । 'इदम इश्' से इश् सर्वादेश । (८) आ—उपसर्गस्वर । (९) वह—तिङ् निघात । (१०) उप—निपातस्वर से आद्युदात्त । (११) यज्ञम्—√यज् + नङ् । प्रत्यय-स्वर । (१२) हविः—√हु + इसि । प्रत्ययस्वर । (१३) च—चादयोऽनुदात्ताः । (१४) नः—पूर्ववत् ।

मन्त्र—११

हे अग्निदेव ! आपकी स्तुति हम इस सूक्त से कर रहे हैं जो गायत्री छन्द में निबद्ध है, यह अत्यन्त नवीन है क्योंकि पहले किसी ने इसका संपादन नहीं किया था । तो स्तुति किये जाने पर (स्तवानः-स्तूयमानः) आप हमें धन (रयि) और वीर संतानों से युक्त अन्न भी दें (आ भर-हर) ।

स्तवानः—√स्तु + शप् + शानच् । शानच् आत्मनेपद धातुओं से ही होता है । अतः √स्तु का फल कर्ता को अभिप्रेत होने से आत्मनेपद किया गया है । अर्थ कर्मवाच्य का है 'स्तुति होने पर' । गायत्रेण-गायत्र्याः सम्बन्धि गायत्रम् (अण्) । '√गै + शतृ = गायत् । गायत् + √त्रैङ् (पालने) + क=गायत्र'-रामाश्रमी (पृ० १४५, २५६) । गायत्र=गानमंत्र, गेयस्तुतियाँ । नवीयसा—नव + ईयसुन् । रयि=धन ।

वीरवतीम् इषम्—इष् (स्त्री०)=अन्न । वीर=वीरपुत्र । ऐसा अन्न जो वीरपुत्र प्रदान करे, अथवा सायण की तरह—वीरपुत्रों से युक्त अन्न ।

स्वरविचार—(१) सः—(२) नः—पूर्ववत । (३) स्तवानः—√स्तु + शप् + शानच् । शप् पित् अनुदात्त है, शानच् लसार्वधातुक अनुदात्त है । अतः धातुस्वर शेष रहा । (४) आ—उपसर्गस्वर । (५) भर—तिङ्निघात । (६) गायत्रेण—गायत्री + अण् । प्रत्ययस्वर (सायणविधि) । गायन्तं त्रायते—गायत् + √त्रै + क । कृदुत्तर पद का प्रकृतिस्वर = त्र (अ) उदात्त । (७) नवीयसा—नव + ईयसुन् । नित् आद्युदात्त । (८) रयिम्—प्राति० स्वर । (९) वीरऽवतीम्—वीर + मतुप् + ङीप् । पिछले दोनों अनुदात्त हैं अतः वीर का प्राति० स्वर अ उदात्त शेष रहा । (१०) इषम्—इष् (प्राति० उदात्त) + अम् । अम् सुप् होने के कारण अनुदात्त है ।

मन्त्र—१२

हे अग्निदेव, अपनी शुक्ल ज्योति से तथा समस्त (विश्वाभिः) देवहूतियां (देवताओं को बुलाने के साधन स्तोत्रों) के द्वारा आप हमारे प्रस्तुत स्तोम का आनन्द लें ।

शुक्रेण—शुक्लेन। ल का रकारीकरण। शोचिषा = कान्ति के द्वारा, ज्योति से दीप्ति से। देवहूतिभिः—देवानां हूतय आसु स्तुतिषु इति देवहूतयः। देवाह्वान की स्तुतियाँ। हूति = आह्वान। √ह्वेञ् + क्तिन्। स्तोम = स्तोत्र। जुषस्व = √जुष (प्रीति, सेवन)। सेवा करें, प्रेम करें, आनन्द लें।

स्वरविचार—(१) अग्ने—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) शुक्रेण—प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। (३) शोचिषा—प्राति० स्वर। (४) विश्वाभिः—√विश् + क्वन् = विश्व आद्युदात्त (नित्)। (५) देवहूतिऽभिः—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृति स्वर। पूर्वपद में देव शब्द अन्तोदात्त (दिव् + अच्, चित्) है, वही शेष रहा। (६) इमम्—इदम् का प्रातिपदिक स्वर। (७) स्तोमम्—√स्तु + मन्। नित् आद्युदात्त। (८) जुषस्व—तिङ्निघात। (९) नः—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' से अनुदात्त के अधिकार में 'बहुवचनस्य वस्नसौ' से अस्मद् का वस् आदेश अनुदात्त होता है।

त्रयोविंशतितम वर्ग समाप्त।

सूक्त—१३

यह सूक्त आप्रीसूक्तों में से एक है। आप्रीसूक्त अग्नि से संबद्ध होते हैं। इन सूक्तों में ११ या १२ ऋचायें होती हैं—प्रत्येक ऋचा में एक-एक देवता संबोधित किये जाते हैं, वे अग्नि के ही विभिन्न रूप हो सकते हैं अथवा यज्ञ से संबद्ध देवताओं जैसे—बर्हिः (कुश), द्वार आदि को भी संबोधित हो सकते हैं। द्वितीय मन्त्र में कुछ आप्रीसूक्तों में तनूनपात् को, कुछ में नराशंस को आहूत किया गया है, इस विकल्प वाले आप्रीसूक्तों में केवल ११ ऋचायें होती हैं। जहाँ दोनों देवताओं की ऋचायें आयी हैं—उन सूक्तों में ऋचाओं की संख्या १२ हो गयी है। आप्रीसूक्तों के साथ मैत्रावरुण नामक ऋत्विज से संबद्ध प्रैषों की (तै० ब्रा० ३।६।२) तुलना अपेक्षणीय है।

फ्रांसीसी विद्वान् बर्गेन् ने आप्रीसूक्तों में केवल ७ प्रयाजों की कल्पना कुछ ऋषिवंशों में की है किन्तु यह सन्दिग्ध विचारधारा है। पशु-याग में पाठ्य प्रयाज आप्रीसूक्तों में ११ या १२ ही हैं (आश्व-श्रौ० ३।२)।

इस सूक्त में ऋषि कण्वपुत्र मेधातिथि हैं, छन्द पूर्ववत् गायत्री है, किन्तु पूर्व सूचना के अनुसार देवताओं की संख्या १२ है जो एक-एक ऋचा से संबद्ध हैं। ये हैं—सुसमिद्ध (= पूर्ण प्रदीप्त, अथवा इध्म), तनूनपात्, नराशंस, इळः (इट् नामक अग्नि), बर्हिः, दिव्य द्वार, उषा और नक्त का युग्म, दो दिव्य होता, दो प्रचेतस, तीन देवियाँ (सरस्वती, इळा, भारती), त्वष्टा, वनस्पति तथा स्वाहाकृति।

मन्त्र—१

हे अग्निदेव ! आप 'सुसमिद्ध' नामक हैं (अथवा पूर्ण रूप से प्रदीप्त हैं) आप हवि प्रदान करने वाले हमारे यजमान पर कृपा करने के लिए देवताओं को यहाँ ले आयें। पुनः अग्नि को 'पावक' (शुद्ध करने वाला) तथा 'होतः' (होम निष्पन्न करने वाला) इन दो शब्दों से संबोधित करते हुए उन्हें यज्ञ कराने के लिए कहा जा रहा है (यक्षि च)।

सुसमिद्धः—सु + सम् √इन्ध् + क्त। पूर्णतः प्रज्वलित। अनुक्रमणी के अनुसार एक देवता। हविष्मते—हवि से युक्त यजमान के लिए, उस पर कृपा प्रदर्शन के लिए। होतः—होतृ-रूप में अग्नि का संबोधन। हे होतृस्वरूप अग्निदेव ! यक्षि = √यज् + लोट् (सिप्)। छान्दस-प्रक्रिया से हि आदेश नहीं होना। 'व्रश्चभ्रस्ज०' से ज् का ष् होकर 'षढोः कः सि' (८।२।४१) से ष् का क् = यक् सि। 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व—यक्षि। वैदिक व्यत्यय से यज् में शप् का लोप हो गया था। 'यज' के रूप में लौकिक प्रयोग। यज्ञ करें = देवताओं की पूजा करें।

स्वरविचार—(१) सुऽसमिद्धः—सु का समिद्ध शब्द के साथ कर्मधारय समास। सु प्राति० स्वर से उदात्त है। 'कर्मधारयेऽनिष्ठा' (६।२।४६) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर हुआ। यदि सु को क्रियाविशेषण के रूप में ग्रहण करेंगे तो यह गति-संज्ञक हो जायगा तथा प्रादि समास में 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से 'सम्' को उदात्त होगा तथा कृदुत्तरप्रकृतिस्वर से वही शेष रहेगा—किन्तु यह तो अभीष्ट नहीं, अतः पूर्व प्रक्रिया से सु को उदात्त करें। यह अनभीष्ट रूप १।१०।७ मन्त्र में स्थित 'सुविकृतम्' से तुलनीय है। (२) नः—पूर्व सूक्त की तरह अनुदात्त। (३) आ—उपसर्गस्वर। (४) वह—तिङ्निघात। (५) देवान्—√दिव् + अच्। चित् के कारण अन्तोदात्त। (६) अग्ने—आमन्त्रित निघात। (७) हविष्मते—हविस् + मतुप्। प्रत्यय पित् है अतः हविस् का प्रातिपदिकस्वर इ उदात्त शेष रहा। सन्धि करने में 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) सूत्र के द्वारा हविस् को भ संज्ञा कर देते हैं जिससे पदसंज्ञा बाधित हो जाती है और स् का रु नहीं होता कि हविर्मान् बने। हविस् + मत्—हविष्मत्। (८) होतरिति—'होतः' आमन्त्रित आद्युदात्त है। रकारान्त होने से इतिकरण। (९) पावक—आमन्त्रित निघात। ये दोनों आमन्त्रित पद पृथक्-पृथक् क्रियाओं से संबद्ध हैं इसलिए परस्पर असमर्थ हैं, फलतः पराङ्गवद्भाव नहीं होने से उस पर आधारित एकस्वरता का प्रश्न नहीं उठता। यह भी नहीं समझना चाहिए कि द्वितीय आमन्त्रित पद (पावक), आष्टमिक निघात हो जाने से, एकस्वरता का

सहायक हो सकेगा। कारण यह है कि 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (८।१।७२) सूत्र से 'होतः' को अविद्यमानवद्भाव होने से 'पावक' पादादि में ही माना जायगा, किसी पद के बाद नहीं। 'होतः' शब्द विशेष्य है 'पावक' विशेषण है,—अतः 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्' (८।१।७३) से सामान्यवाची 'होतः' को अविद्यमानवद्भाव नहीं हुआ। पादादि में न रहने से अथवा पदान्तर के बाद रहने से पावक को निघात हो सका है। दूसरी विधि से पराङ्गवद्भाव होने से शेष निघात के द्वारा भी सर्वानुदात्त की सिद्धि की जा सकती है। (१०) यक्षि—√यज्+सिप्। धातुस्वर। 'चादिषु च' (८।१।५८) से च शब्द पर में होने से निघातप्रतिषेध। सायण ने इस शब्द पर भी शास्त्रार्थ किया है कि पूर्वोक्त प्रक्रिया से अविद्यमानवत् आमन्त्रित मानकर 'यक्षि' को पादादि से लेकर निघाताभाव कर सकते हैं। किन्तु यही स्थिति 'पावक' के साथ क्यों नहीं होती ? यह कह सकते हैं कि वहाँ सामान्य और विशेषण का संबन्ध था, यहाँ नहीं है। किन्तु जब एक बार नियम टूट कर उदाहरण (Precedence) बन गया तब 'यक्षि' को निघात होगा ही। इसीलिए 'चादिषु च' का सहारा लेना पड़ा। (११) च— 'चादयोऽनुदात्ताः' से च अनुदात्त होता है।

मन्त्र—२

इसमें तनूनपात नामक अग्निदेव को संबोधित करते हुए कहा जा रहा है कि वे हमारे इस मधुयुक्त या रसपूर्ण हवि को देवताओं के पास उनके भक्षण के लिए (वीतये) पहुँचा दें (कृणुहि)। अग्नि को यहाँ भी 'कवि' कहा गया है।

मधुमन्तम्—मधु या रस से पूर्ण। मैक्समूलर—मधु से समृद्ध। यह 'यज्ञम्' का विशेषण है जो लक्षणा से हवि के अर्थ में आया है। हमारे मधुर हव्य पदार्थ को देवताओं तक पहुँचायें।

तनूनपात्—रॉथ और ग्रासमैन के अनुसार 'अपना पुत्र'। अपने आप से उत्पन्न होने वाला। तनू=शरीर, नपात=पुत्र। [लातिन—noepōs, nepotis=पौत्र तथा भतीजा, अंग्रेजी—nephew, nepotism, आदि। नपात् का दुर्बलीकृत रूप (weak stem) है नप्तृ जो वस्तुतः 'नपितृ' शब्द का संक्षिप्त रूप है। इसका अर्थ भी लातिन की तरह 'पौत्र और भतीजा' दोनों हैं। हिन्दी—नाती।] अग्नि को 'अपना पुत्र' कहने का रहस्य है कि ये अपने ही रूप से प्रकट होते हैं जैसे विद्युत से या अरणिमन्थन से।

'अद्य' का 'निपातस्य च' से दीर्घ। कृणुहि—√कृवि(=करना)+लोट् (सिप्>हि)। नुम् आगम। 'धिन्विकृण्व्योरच' (३।१।८०) से शप् का

अपवाद उ विकरण। उसी से व को अ। वीतये कृणुहि—भोजन के लिए पहुँचा दें।

स्वरविचार—(१) मधुऽमन्तम्—√मन् + उ (धकार अन्तादेश)। नित् की तरह मानने से आद्युदात्त मधु-शब्द। मधु + मतुप् (अनुदात्त)। (२) तनूऽनपात्—आमंत्रित निघात। (३) यज्ञम्—√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (४) देवेषु—पूर्वमंत्र की तरह। (५) नः—पूर्ववत्। (६) कवे—आमन्त्रित निघात। (७) अद्य—'अस्मिन् काले' के अर्थ में इदम् + द्य। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (८) कृणुहि—तिङ् निघात। (९) वीतये—√वी + क्तिन् (उदात्त प्रत्यय)। 'मन्त्रे वृषेषपचमन०' से क्तिन् प्रत्यय उदात्त के रूप में होता है।

मंत्र—३.

मैं इस यज्ञ में नराशंस नामक अग्नि को बुला रहा हूँ। ये देवताओं के प्रिय, मधुजिह्व (माधुर्य रस की आस्वादक जिह्वावाले, मधुरभाषी) तथा हवि के निष्पादक (हविष्कृत्) भी हैं।

'नराशंस' (मनुष्यों की प्रार्थना) अग्नि के आध्यात्मिक नामों में से एक है। ऋ० ३।२९।११ के अनुसार असुरों के बीज के रूप में जन्म लेने पर तनूनपात् ही नराशंस बन जाते हैं। यास्क के अनुसार जिन मंत्रों में कोई स्पष्ट देवता नहीं रहते, उनके देवता किसी मत से नराशंस ही हैं। अवेस्ता में nairyosanha (नइर्योसङ्ह) का अर्थ 'मनुष्यों का गीत' है। नराशंस= मनुष्य के द्वारा प्रार्थित। नर = √नॄ (नये) + अप्। शंस = √शंस् + घञ् (अधिकरणे)। नराणां शंसः—नराशंसः। वनस्पत्यादि गण में पाठ होने से नर को दीर्घ तथा दोनों पदों में उदात्त स्वर रहना-ध्येय है।

मधुजिह्वम्—मधुमयी जिह्वा यस्य सः मधुजिह्वः (बहुव्रीहि)। जिसकी जिह्वा पर मधु (माधुर्य, मधुररस) हो। हविष्कृतम्—हवि को उत्पन्न करनेवाले को।

स्वरविचार—(१) नराशंसम्-'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' (६।२।१४०) से दोनों पदों एक ही साथ प्रकृतिस्वर। नर शब्द अप् प्रत्यय से बना है, धातुस्वर शेष होने से (क्योंकि प्रत्यय पित् है) आद्युदात्त है; शंस घञ् से बना है, मित् के कारण आद्युदात्त है, फलतः न और श के अकार दोनों ही उदात्त हुए। (२) इह—इदम् (इश्)+ह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (३) प्रियम्—√प्री + क। इयङ्आदेश। प्रत्ययस्वर। (४) अस्मिन्—इदम् + ङि (स्मिन्)। 'ऊडिदंपदाद्य०' से विभक्ति को उदात्त होना। (५) यज्ञे—

√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर (६) उप—उपसर्ग स्वर से आद्युदात्त। (७) ह्वये—तिङ्निघात। (८) मधुऽजिह्वम्—बहुव्रीहि समास के कारण पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद का 'मधु' (मन् + उ, धकारादेश) निद्वत् माने जाने से आद्युदात्त है। (९.) हविःऽकृतम्—हविष्करोति। हवि + √कृ + क्विप् कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर—ऋ उदात्त।

मन्त्र—४

सायण के अनुसार यहाँ 'ईळित' शब्द का प्रयोग होने से इट् नामक अग्नि का वर्णन है। वैसे ईळित का अर्थ 'स्तुति किये जाने पर' है। हे अग्निदेव ! आप अपनी स्तुति सुनकर देवताओं को सबसे अधिक सुख देनेवाले रथ पर ले आइये। आप मनु (मन्त्र, मनुष्य) के द्वारा स्थापित किये हुए होता (देवताओं के आवाहक) हैं।

ईळितः—√ईड (स्तुतौ) + क्त। स्तुत (magnified)। मनुर्हितः—√मन् + उ = मनु। 'मनुना हितः' समास करने पर तृतीया टा का सु-आदेश > रुत्व। विभक्ति का छान्दस अलुक्—मनुर्हितः। भट्टोजिदीक्षित ने 'मनुष्वदग्ने' की व्याख्या में (देखें—वैदिकी प्रक्रिया, अध्याय १) मनुस् की सिद्धि जनुस् के सादृश्य से (जनेरुसिः) वैदिक व्यत्यय मानकर √जन् + उसि से की है। यही सरलतर विधि है।

स्वरविचार—(१) अग्ने—'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) आद्युदात्त। (२) सुखऽतमे—सुख + (मतुप् लुप्त) + तमप्। प्रत्यय पित् हैं अतः अनुदात्त हैं। सुख में प्राति०स्वर से अन्तोदात्त है। (३) रथै—√रमु + कथन्। नित्—आद्युदात्त। (४) देवान्—अच् प्रत्यय के कारण अन्तोदात्त। (५) ईळितः—√ईड् + इट् + क्त। प्रत्ययस्वर। यद्यपि इट् सतिशिष्ट (सबसे पीछे विहित) है तथापि यह आगम होने से अनुदात्त है (आगमाः अनुदात्ताः—पतञ्जलि ३।१।३ पर) (६) आ—उपसर्गस्वर। (७) वह—तिङ्निघात। (८) असि—√अस् + सिप्। 'तासस्त्योर्लोपः' से स् का लोप। धातुस्वर शेष रहना। (९) होता—√हु + तृन्। गुण। नित् के कारण आद्युदात्त। (१०) मनुःऽहितः—मन् + उ (नित् की तरह) आद्युदात्त मनुशब्द। 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर हुआ क्योंकि पर में क्तान्त शब्द है।

मन्त्र—५

यहाँ अग्नि के बर्हि नामक स्वरूप की सूचना प्राप्त होती है। हे बुद्धिमान् ऋत्विजो ! उन कुशों को (बर्हिः) बिछा दें जो 'आनुषक्' (क्रम से अनुषक्त,

सटे हुए) हैं, जिनके ऊपर (पृष्ठ पर) घृतपूर्ण स्रुचाएँ रखी हैं तथा जिन बर्हियों पर अमृत समान घृत के दर्शन होते हैं।

स्तृणीत = √स्तृञ् आच्छादने। लोट् (थ)>त। क्र्यादिगण के कारण 'श्ना' विकरण—'ई हल्यघोः' (६।४।११३) से ईकार। 'प्वादीनां ह्रस्वः' से धातु को ह्रस्व। अर्थ–बिछा दें (यूयं स्तृणीत)। आनुषक्–उचित क्रम से (अव्यय)। सायण ने आङ् + अनु उपसर्गों के पश्चात् √षञ्ज् + क्विप् लगाकर सिद्धि की है 'आपस में क्रम से सटे हुए'। घृतपृष्ठम्–बर्हिः का विशेषण। जिसके ऊपर घृत है। सायण स्रुचाओं के रखे जाने से ऐसा अर्थ लेते हैं; पुनः 'अमृत' का अर्थ घृत ही लेकर पुनरुक्ति कर देते हैं। अमृतस्य-अमरता का (ग्रासमैन)। चक्षणम् = दर्शन, प्रतीति। जहां अमरता के दर्शन होते हैं। अमर = अग्नि (सायण)-यही अर्थ (जिसे सायण द्वितीय विकल्प के रूप में देते हैं) संगत है। बर्हि नामक अमर अग्नि के दर्शन होते हैं।

अर्थ—हे विवेकशील ऋत्विजो ! आपलोग यज्ञ में वह कुश एक क्रम से बिछा दें जिसके ऊपर घृत लगा है तथा जहां (जिनमें) अमर अग्नि के दर्शन (अभिमान–apprehension) होते हैं।

स्वरविचार—(१) स्तृणीत—√स्तॄ + श्ना + लोट् (थ>त)। विकरण सबसे बाद में आया है (सतिशिष्ट) तथापि उसका स्वर बलवान् नहीं होता। 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः'–अतः प्रत्यय त को उदात्त होगा। (२) बर्हिः—√बृंह् + इस् (न लोप)–प्रत्ययस्वर। (३) आनुषक्—सायण–आ + अनु + √षञ्ज् + क्विप्। गतिसमास में कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। वैसे अव्यय के कारण प्राति० स्वर से भी सिद्धि कर सकते हैं। (४) घृतऽपृष्ठम्—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर √घृ + क्त = प्रत्ययस्वर से 'त' उदात्त। वही शेष रहा। (५) मनीषिणः— आमन्त्रित निघात। (६) यत्र—यत् + त्रल्। 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय के पूर्व उदात्त। (७) अमृतस्य—'न मृतं मरणं यस्य'। बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर से अ उदात्त होता, उसे रोकनेवाला 'नञ्सुभ्याम्' है जिससे उत्तरपद का अन्तोदात्त होता–उसे भी रोककर 'नञो जरमरमित्रमृताः' (६।२।११६) से उत्तरपद का आद्युदात्त हुआ है। (८) चक्षणम्—√ चक्षिङ् (व्यक्तायां वाचि)>अर्थ विस्तार (extension) से अभिव्यक्ति मात्र में इसका प्रयोग। ल्युट् प्रत्यय लगाने पर 'क्रित्' का स्वर अर्थात् प्रत्यय के पूर्व (चक्ष् + अन) च के अ को उदात्त।

मन्त्र—६

दिव्य द्वारों के रूप में जो अग्निदेव हैं इनका वर्णन करते हुए कहा जा

रहा है कि हमारे समस्त यज्ञशाला के वे द्वार विवृत हो जायें सत्य या यज्ञ को बढ़ाने वाले (ऋतावृधः), चमकीले (देवीः) तथा खुलने के बाद प्रवेश करने वाले पुरुषों में सहने वाले नहीं हैं। दूसरा अर्थ यह होगा कि प्रवेशक पुरुषों से रहित (असश्चतः) यज्ञगृहों में पुरुषों के प्रवेश के लिए द्वार-रूप में विद्यमान अग्नि की विशेष मूर्तियां विशेषतः सेवित हों (वि श्रयन्ताम्)। द्वार से प्रवेश अथवा उसकी सेवा का प्रयोजन नहीं है कि आज यज्ञ का संपादन अवश्य (नूनं) हो।

वि श्रयन्ताम्—√श्रि। खोल दिये जायें, विवृत हों, अथवा सेवित हों। ऋतावृधः–ऋत (यज्ञ, सत्य) की वृद्धि करने वाले। ऋत + √वृधु + क्विप्= ऋतवृध्। छान्दस दीर्घ। द्वारः (स्त्री०)–द्वार् का बहुवचन। देवीः–प्रथमा बहुवचन का रूप। 'वा छन्दसि' (३।४।८८) से देवी + जस् करने से पूर्वसवर्णदीर्घ।

असश्चतः—नञ् + √षस्ज् (व्यत्यय से चकार) + शतृ। सायण की अनिश्चयपूर्ण व्याख्या कई स्थानों में कई प्रकार की है। 'द्वार के अभाव में जिनमें लोग जानेवाले न हों'। यहां भी दो-तीन अर्थों में वे रखते हैं—प्रथम अर्थ के अनुसार प्रथमा विभक्ति में, दूसरे अर्थ में द्वितीया विभक्ति में। 'प्रवेशक पुरुषों से रहित'। मैकडोनल ने इसका अर्थ 'अश्रान्त', 'अद्वितीय' किया है—√सच् = अनुसरण करना। मैक्समूलर ने 'नहीं सहने वाले' अर्थ रखा है। यहां संगत अर्थ 'नहीं सटने वाले' (संगरहित) ही होगा जो सायण तथा मैक्समुलर से अनुमोदित है—ये द्वार परस्पर सट कर बंद नहीं होते।

नूनम् = अभी (now)। यष्टवे–√यज् + तवेन्। यष्टुम् (यज्ञ करने के लिए) आज और अभी यज्ञ करने के लिए मिथः संसक्ति-रहित, यज्ञ-वर्धक दिव्य द्वारों की विशेष सेवा की जाये।

स्वरविचार—(१) वि—उपसर्गस्वर। (२) श्रयन्ताम्—√श्रि + शप् + लोट् (झ)। झ > अन्त > टि को एकार, अन्ते > 'आमेतः' (३।४।९०) से आम्, अन्ताम्। यहां तिङ् का निघात हो गया है। (३) ऋतऽवृधः—ऋतं वर्धयन्ति–ऋतवृध्। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद (कृद्–वृध्) को प्रकृतिस्वर। (४) द्वारः—द्वार् का प्राति० स्वर। (५) देवीः—देव अजन्त होने से अन्तोदात्त ('चितः' से) है। देव + ङीष्–प्रत्ययस्वर को उदात्त। विभक्ति (अनुदात्त) के साथ संधि होने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त ही बच रहा। (६) असश्चतः—नञ् + √षस्ज् + शप् + शतृ–प्रत्यय का स्वर, अ उदात्त। यों सायण स्वर पर

मौन हैं। बहुव्रीहि समास होने पर भी उत्तरपद को अन्तोदात्त है (देखें— VGS, P. 455 ca)। (७) अद्य—छान्दस दीर्घ। अस्मिन् द्यवि के अर्थ द्यप्रत्ययान्त 'अद्य' का निपातन—प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (८) नूनम्—'एवादीनामन्तः' (फि० ८२) से अन्तोदात्त। (९) च—चादयोऽनुदात्ताः। (१०) यष्टवे—√यत् + तवेन्। नित् के कारण आद्युदात्त। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (३।१।१९७)।

मन्त्र—७

यहां नक्त (रात्रि) और उषस् को अग्नि के रूप में दिखाया गया है। ये दोनों देवताद्वन्द्व हैं जैसे कि दोनों के दो स्वर (उदात्त) प्रकट करते हैं। तो, रात्रि और उषोदेवता दोनों को, जो सुन्दर रूप (पेशस्) से युक्त हैं, इस यज्ञ में बुला रहा हूँ कि वे हमारे इस कुशासन (बर्हिः) पर बैठ जायें।

नक्तम् च उषाश्च नक्तोषसा। मलोप तथा उपधादीर्घ छान्दस हैं। नक्तम्= रात्रि [लाटिन–nocturnus, nox=रात्रि]। मैं रात्रि और उषा के युग्म को (जो अग्नि के रूप हैं) बुलाता हूं। सुपेशसा—शोभनं पेशः ययोस्ते० सुपेशसा (औ > आ)। पेशस् = रूप। सुन्दर रूप वाले दोनों। उप ह्वये = बुलाता हूँ (√ह्वेञ् + इट्)। आसदे—आ + √सद् + क्विप्—आसद् + ङे। बैठने के लिए।

स्वरविचार—(१) नक्तोषासा—'देवताद्वन्द्वे च' (६।२।१४१) से पूर्वोत्तर दोनों पदों का एक ही साथ स्वर (प्रकृतिस्वर) होना। प्रथम पद आद्युदात्त है। (वृषादिगण) तथा द्वितीयपद अन्तोदात्त (प्राति०स्वर) है। संहितापाठ में ष को षा हो गया है। (२) सुऽपेशसा—'पेशः' नपुंसकलिंग होने से आद्युदात्त है (नब्विषयस्यानिसन्तस्य)। बहुव्रीहि होने पर 'नञ्सुभ्याम्' से होने वाले अन्तोदात्त को रोककर 'आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि' (६।२।११९) से उत्तरपद को आद्युदात्त हो गया है। (३) अस्मिन्—इदम् + ङि (स्मिन्)। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (६।१।१७१) से विभक्ति को उदात्त। (४) यज्ञे—√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (५) उप—उपसर्ग स्वर। (६) ह्वये—तिङ् का निघात। (७) इदम्—प्राति० स्वर। (८) न—पूर्ववत् अनुदात्त। (९) बर्हिः—प्राति० स्वर (रूढ), अथवा √बृंह + इसि। 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ० २।२६६)। प्रत्ययस्वर। (१०) आऽसदे—आङ् + √सद् + क्विप्। धातुस्वर। प्रादिसमास—'गतिकारकोपपदात्कृत्' से वही शेष रहा।

मन्त्र—८

यह ऋचा 'दैव्यौ होतारौ' से संबद्ध है। कहना कठिन है कि ये दोनों दैव्य

होता कौन-कौन हैं। स्थिति यह है कि इनकी चर्चा आप्रीसूक्तों के अतिरिक्त ऋ० १०।६५।१० तथा १०।६६।६३ में ही हुई है। अतः इनके स्वरूप पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। मैक्समूलर ने अग्नि और आदित्य, अग्नि और वरुण अथवा वरुण और आदित्य की कल्पना की है (प्राचीन संस्कृत साहित्य, पृ० ४६४)। सायण याज्ञिकों में प्रसिद्ध दोनों अग्नियों का अभिप्राय समझते हैं।

वे दोनों दैव्य होता, जिनकी जिह्वा सुन्दर है (=प्रिय बोलने वाले, सुन्दर ज्वाला वाले,), जो मेधावी हैं, हमारे इस यज्ञ का अनुष्ठान करें (यक्षताम्) उन्हें मैं बुला रहा हूँ। यहाँ दो क्रियाएँ है 'उप ह्वये'—बुला रहा हूँ तथा 'यक्षताम्' वे दोनों यज्ञ करें।

सुजिह्वौ + उप—सुजिह्वा उप। आव् आदेश, वलोप (शाकल्य मत से)। दैव्या (दैव्यौ)—देव सम्बन्धी दोनों होता। होतारा=होतारौ। दोनों स्थानों में 'डा' आदेश—'सुपां सुलुक्०'। यक्षताम्—√यज + लोट् (तस्)। यज + सिप् + ताम् (बाहुलक सिप्)। यज का षत्व (व्रश्चभ्रस्ज ८।२।३६)। 'षढोः कः सि' (८।२।३९) से क्। यक् + स् + शप् + ताम् > यक् + ष् + शप् (अ) + ताम् = यक्षताम्। (अर्थ—यजताम्)। मन्त्र का सायणीय अर्थ ही सर्वत्र स्वीकार्य है।

स्वरविचार—(१) ता (तौ)—प्राति० स्वर। (२) सुऽजिह्वौ—'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद का अन्तोदात्त। (३) उप—उपसर्ग स्वर। (४) ह्वये—तिङ्निघात। (५) होतारा—√हु + तृन्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त। (६) दैव्या—देव + यञ्। आद्युदात्त। (७) कवी इति—√कु + इ। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। द्विवचन (ई) होने से प्रगृह्य संज्ञा और इतिकरण। (८) यज्ञम्—√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (९) नः—'बहुवचनस्य वस्नसौ'। अनुदात्त। (१०) यक्षताम्—तिङ्निघात। (११) इमम्—इदम् + अम् प्राति० स्वर से अन्तोदात्त।

मन्त्र—९

यहाँ तीन देवियों का एक ही साथ उल्लेख है—इळा, सरस्वती, मही। सायण का कहना है कि अन्य आप्रीसूक्तों में तीसरी देवी भारती है अतः यहाँ भी मही का संकेत महत्त्व गुण से युक्त भारती की ही ओर है। इन तीनों के रूप में अग्नि की जो मूर्तियां हैं वे दिव्य या द्योतनशील (देवीः Shining) हैं, वे सुख उत्पन्न करने वाली (मयोभुवः) तथा शोषण या क्षय से रहित (अस्रिधः) भी हैं। ये देवियाँ कृपया हमारे यज्ञ में प्रस्तुत कुशासन पर आसीन हो जायें।

मैक्समूलर की कल्पना है कि ये तीनों कोई स्थानीय देवियां रही होंगी। 'इळा' मनु की पुत्री के रूप में भूमि की देवी थी जब कि सरस्वती और मही नदियों के नाम थे। प्रकरण से प्रतीत होता है कि ये यज्ञ में प्रयुक्त होने से वाणी की अधिकारिणी ही थीं। जैसा कि तृतीय सूक्त के सरस्वती-मंत्रों में हम कह आये हैं सरस्वती नदी के किनारे यज्ञ हुआ करते थे जिनमें उक्त नदी से पर्याप्त सहायता प्राप्त थी। यही कारण है कि उसे देवता का रूप मिल गया है। अतएव विकल्पतः दोनों अर्थ संभव है।

मयोभुवः—मयः + √भु + क्विप्। सुख उत्पन्न करनेवाली (मयोभूः)। मयः = सुख (मय् + अस् = प्रसन्नता)। सायण—मीञ् हिंसायाम्। हिनस्ति दुःखमिति सुखं मयः। असुन्। प्रत्यय है। अस्रिधः—√स्रिध् (हिंसा, शोषण) + क्विप्। शोषण रहित, अहिंसक। तीनों वाग्देवियाँ (वस्तुतः वाग्देवी) कभी सूखती नहीं हैं, वाणी अनवरत प्रवाहित होती है, अथवा किसी की क्षति भी ये नहीं करतीं। नदी के अर्थ में, न सूखनेवाली या बाढ़ आदि से हिंसा न पहुँचाने वाली अर्थ स्पष्ट ही है। उलटे ये 'मयोभू' कल्याण करने वाली हैं। वाणी या नदी मे उत्पन्न सुख का कहना ही क्या?

स्वरविचार—(१) इळा—√ईड् + क्विप् (टाप्)। छान्दस ह्रस्व। प्रत्ययों के अनुदात्त होने से धातुस्वर शेष रहा। (२) सरस्वती—√सृ + असुन् = सरस् (नित् के कारण) आद्युदात्त। बाद में लगने वाले मतुप् और ङीप् पित् होने से अनुदात्त हैं फलतः वही स का अकार उदात्त रहा। (३) मही—महत् + ङीप्। ह में अ उदात्त प्राति० स्वर से है। त् का लोप छान्दस हुआ अब मह + ई। 'यस्येति च' से अलोप। जहाँ उदात्त का लोप होता है तो वहाँ पर आने वाले अनुदात्त को ही उदात्त हो जाता है (अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः)—इसीसे ङीप् के ई को उदात्त हो गया। (४) तिस्रः—त्रि + जस्। स्त्रीलिंग में, तिसृ + अस्। ऋ को र् (अचि र ऋतः)। 'तिसृभ्यो जसः' (६।१।१६६) से जस् का उदात्त होना। (५) देवीः—देव + ङीप्-प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। 'दीर्घाज्जसि च' से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो गया था किन्तु 'वा छन्दसि' से हो गया। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः'। (६) मयःऽभुवः—मयो भावयन्तीति। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (७) बर्हिः—√बृंह् + इसि। प्रत्ययस्वर। (८) सीदन्तु—तिङ् निघात। 'षद्लृ' धातु को 'पाघ्राध्मा०' आदि से सीद् आदेश होता है। (९) अस्रिधः—नञ् + स्रिध् + क्विप्—अस्रिध्। न स्रिध् यासु ताः अस्रिधः। बहुव्रीहि—'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद का अन्तोदात्त अर्थात् इकार उदात्त हुआ।

मन्त्र १०

मैं त्वष्टा नामक अग्निमूर्ति का आवाहन कर रहा हूँ। ये अग्रिय (श्रेष्ठ) तथा अपनी इच्छा से ही विविध प्रकार के रूप धारण कर लेते हैं (विश्व-रूपम्)। हमारी प्रार्थना है कि ये केवल हमारे ही देवता (सहायक) होकर रहें—दूसरे यजमानों की अपेक्षा मुझपर अधिक अनुग्रह रखें।

त्वष्टा नामक देवता लौह या काष्ठकर्म में निपुण माने गये हैं—यज्ञ में इनकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। ये इन्द्र के वज्र का निर्माण करते हुए दिखलाई पड़ते हैं—

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
धत्ते इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन्वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम् ॥ (ऋ० १।८५।९)
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द; त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
(१।३२।१ का तृ० चरण, २ का द्वि० चरण)

अनुवर्ती साहित्य में इनका विश्वकर्मा रूप प्रकट हुआ।

अग्रियम्—अग्र+घच्। अग्रिम, सबसे ऊपर, सर्वप्रथम उत्पन्न। विश्व-रूपम्—विविध रूप धारण करने वाले। संभवतः यही 'विश्वकर्मा' के प्रत्यय के उद्भव का कारण है।

स्वरविचार—(१)इह—इदम् + ह = प्रत्ययस्वर। (२) त्वष्टारम्—√त्वक्ष् (तनूकरण, पतला बनाना)+ तृन्। आद्युदात्त। (३) अग्रियम्—अग्र + घच्—'चितः' से अन्तोदात्त। (४) विश्वऽरूपम्—विश्वानि रूपाणि यस्य। बहुव्रीहि में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर प्राप्त था किन्तु 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (६।२।१०६) से पूर्वपद का अन्तोदात्त हुआ। (५) उप—उपसर्ग स्वर आद्युदात्त। (६) ह्वये—'तिङ्ङतिङः' से निघात। (७) अस्माकम्—√असि + मदिक् = अस्मद् प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। अस्मद् + स् आम् (आकम्)। सुप् अनुदात्त होता है। पूर्वस्वर रहा। (८) अस्तु—तिङ्निघात। (९) केवलः—वृषादिगण के कारण आद्युदात्त।

मंत्र—११

यहाँ अग्नि के वनस्पति-रूप का आवाहन किया जा रहा है। हे वनस्पति-देव ! आप देवताओं के लिए हमारे हवि का समर्पण करें—उन्हें दे आयें। आपकी कृपा से दान करनेवाले यजमान को 'चेतन' (परलोकविषयक विज्ञान) प्राप्त हो।

वनस्पति = वनों के स्वामी, वृक्ष। ऋग्वेद के तृतीय मंडल के ८ वें सूक्त के कई मंत्रों में इसका अर्थ यूप (पशु को यज्ञ में बाँधनेवाला खूँटा) है। ऋ० १०।७०।१० में, जो आप्रीसूक्त ही है, वनस्पति से पशु के बाँधे जाने का

वर्णन है; अन्य आप्रीसूक्तों में वनस्पति से प्रार्थना की जाती है कि वे पशु का बन्धन शिथिल कर दें। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि आप्रीसूक्त में यज्ञ से सम्बद्ध वनस्पति अर्थात् यूप का ही वर्णन यहां हुआ है।

चेतनम्—विज्ञान, परलोकज्ञान (सायण), यश। दाता को यश प्राप्त हो।

स्वरविचार—(१) अव—उपसर्ग स्वर। (२) सृज—तिङ्निघात। छान्दस दीर्घ पर ध्यान दें (३) वनस्पते—आमन्त्रितनिघात। (४) देव—षाष्ठिक आद्युदात्त। 'आमन्त्रितस्य च'। (५) देवेभ्यः—√दिव् + अच्। चित् से अन्तोदात्त। (६) हविः—√हु + इस्—प्रत्ययस्वर (७) प्र—निपातस्वर से उदात्त। (८) दातुः—√दा + तृच्। चित् के कारण अन्तोदात्त। दातृ। दातृ + ङस्। 'ऋत उत्' (६।१।१११) से उत्व, एकादेश, रपर। दातुर् + स्। 'रात्सस्य' से स का लोप। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त (उ + अ का एकादेश—उ उदात्त हुआ)। (९) अस्तु—तिङ्निघात। (१०) चेतनम्—√चित् + ल्युट्—प्रत्यय के पूर्व को उदात्त, 'लिति' (६।१।१९३)। अन के पूर्व इ को उदात्त।

मंत्र—१२

यहां स्वाहा नामक अग्नि की विशेष मूर्त्ति का उल्लेख है। यह शब्द अग्नि में देवताओं को दिये गये हव्य का द्योतक है। अग्नि में देने पर प्रयुक्त शब्द का तादात्म्य अग्निदेव से किया गया है। महाभारत में स्वाहा को अङ्गिरस् के पुत्र बृहस्पति की पुत्री माना गया है। पुराणों में इसकी उत्पत्ति पर दूसरा प्रकाश दिया गया है कि यह दक्ष की पुत्री और अग्नि की पत्नी है।

ऋत्विजों को सम्बोधित करके कहा जा रहा है—ऋत्विजो! इन्द्र की तुष्टि के लिए यजमान के (यज्वनः) घर पर स्वाहा-अग्नि से संपन्न होनेवाले यज्ञ का अनुष्ठान करें। मैं देवताओं को उसी यज्ञ में बुला रहा हूँ।

स्वाहा—अव्यय निपात है। कृणोतन—√कृवि (करना) + लोट् (थ>त)। नुम् का आगम। त के स्थान में तनप्। शप् के स्थान में उ प्रत्यय, व का अकार। 'अतो लोपः' से उस अ का लोप कृणुतन। गुण होकर 'कृणोतन'। यज्वनः—√यज् + ङ्वनिप्। यज्ञ करनेवाले यजमान का। 'गृहे' से सम्बन्ध। स्वाहा=स्वाहा शब्द के द्वारा।

स्वरविचार—(१) स्वाहा—निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०)। (२) यज्ञम्—यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (३) कृणोतन—तिङ्निघात। (४) इन्द्राय—रन्-प्रत्ययान्त निपातन। नित्, आद्युदात्त। (५) यज्वनः—√यज् + ङ्वनिप्। प्रत्यय पित् है इसलिए अनुदात्त होगा। अतएव धातु का स्वर ही शेष रहा। (६) गृहे—ग्रह् + क। संप्रसारण। प्रत्ययस्वर।

(७) तत्र—तत् + त्रल्। 'लिति' से प्रत्यय के पूर्व त के अ को उदात्त।
(८) देवान्—पूर्ववत् अच्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त। (९) उप—उपसर्गस्वर।
(१०) ह्वये—तिङ्निघात।

पञ्चविंश वर्ग समाप्त।

सूक्त—१४

यह सूक्त भी पूर्ववत् १२ मंत्रों का है जिसमें ऋषि और छन्द भी यथापूर्व हैं। किन्तु देवता इसमें अनेक हैं, इसलिए इसे विश्वदेवों का सूक्त कहते हैं। इसका विनियोग है—व्यूढ द्वादशाह नामक याग के प्रथम छन्दोममें तृतीय-सवन में वैश्वदेव शस्त्र में इसका पाठ होता है (आश्व० श्रौ० ८।९)।

सूक्त में अग्नि, वायु, बृहस्पति, मित्र आदि देवताओं का आवाहन तो है ही, कण्व के पुत्र अपना संकेत भी इसमें देते हैं। ये ही सूक्त के ऋषि हैं। कण्वपुत्र सहायता प्राप्त करने के लिए देवताओं की स्तुति करते हैं। पुनः मनु का उल्लेख भी पुरोहित या नियम निर्धारण करनेवाले आदि पुरुष के रूप में हुआ है।

मंत्र—१

हे अग्निदेव! आप इन सभी देवताओं के साथ सोमपान के लिए हमारे यज्ञ में चले आयें। यहां हम आपकी परिचर्या (सेवा—दुवः) तथा स्तुति (गिरः) कर रहे हैं। आप उसे ही ग्रहण करें तथा यज्ञ का अनुष्ठान भी करें (यक्षि)।

ऐभिः = आ + एभिः (देवेभिः)। 'आ' का संबंध 'याहि' से है। दुवः (नपुं) = सेवा, भक्ति। गिरः = स्तुतियां। हमारी सेवाविधि तथा स्तुतियों के निकट आप आयें। सोमपीतये—सोमस्य पीतिर्यस्मिन्यागे स सोमपीतिः (बहुव्रीहि)। सोमपान का प्रयोग होनेवाले याग में भाग लेने के लिए। यक्षि—यज् + सिप्—ज का ष (व्रश्च०), ष् का क् (षढोः कः सि), यक् + षि (आदेशप्रत्यययोः)—यक्षि = यज (यज्ञ करें)।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्गस्वर। (२) एभिः—इदम् (अश् आदेश अनुदात्त) + भिस् = अ + भिस्। 'नेदमदसोरकोः' (७।१।११) से भिस् को ऐस् नहीं होता। अंग और विभक्ति दोनों ही अनुदात्त हैं (३) अग्ने—आमन्त्रित निघात। (४) दुवः—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात्त। (५) गिरः—गिर् + शस्। प्राति० स्वर। (६) विश्वेभिः—√विश् + क्वन्। नित् आद्युदात्त। (७) सोमऽपीतये—बहुव्रीहि में पूर्व पद का प्रकृतिस्वर अर्थात् सोम (√सु + मन्) को नित् का आद्युदात्त शेष

रहा। (८) देवेभिः—देव + भिस्। देवशब्द अच्-प्रत्यय से बना अन्तोदात्त है (९) याहि—तिङ्निघात। (१०) यक्षि—यज् + सिप्। धातुस्वर। 'चादिषु च' (८।१।५८)। च पर में है अतः तिङन्त का निघात नहीं हुआ। (११) च—'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ८४)।

मंत्र—२

हे विप्र (मेधावी) अग्ने ! कण्ववंशवालों ने आपको यज्ञनिष्पादक जान कर आहूत करते हैं, बुलाते हैं। वे आपके कर्मों का (धियः) गान करते हैं (गृणन्ति)। इसलिए हे अग्निदेव ! आप देवताओं के साथ आयें।

कण्वाः—कण्व के पुत्रगण, वंशज। ऋषि अपनी ही चर्चा यहाँ कर रहे हैं। अहूषत—√ह्वे + लुङ् (झ)। अट् + हु (संप्रसारण, परपूर्वत्व) + सिच् + अत। 'हलः' से धातु को दीर्घ, 'आदेशप्रत्यययोः' मे षत्व—अहूषत (= आहूतवन्तः)। 'बुलाया है'। तुलनीय—'अनूषत'। धियः—कर्माणि, कर्मों को, स्तुतियों को। आ गहि—√गम + लोट् (सिप् > हि) = 'अनुदात्तोपदेश०' से म् लोप। गहि। असिद्धवदत्राभात् से उक्त (मलोप की) क्रिया लग जाने पर (६।४।३७) पुनः 'अतो हेः' (६।४।१०५) मे अ के बाद होने से हि का लोप नहीं हुआ। अर्थ है 'आगच्छ'।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्गस्वर। (२) त्वा—'त्वामौ द्वितीयायाः' (८।१।२३) से अनुदात्त। (३) कण्वाः—√कण (शब्द करना) + क्वन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (४) अहूषत—तिङ्निघात। (५) गृणन्ति—पादादि में होने से निघात नहीं हुआ। √गॄ + श्ना + झि (अन्ति) लट्। 'प्वादीनां ह्रस्वः' मे दीर्घ ॠ को ह्रस्व। 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से अकार-लोप। ऋवर्ण के बाद भी णत्व होता है गृ ण् अन्ति। सतिशिष्ट के नियम में विकरण को रोक दिया गया है इसलिए विकरण यद्यपि 'सतिशिष्ट' (सबसे पीछे निहित) है तथापि उसका स्वर शेष नहीं रहेगा—तिङ् का स्वर 'अन्ति' में अ उदात्त ही शेष रहा। (६) विप्र—आमन्त्रितनिघात। (७) ते—'तेमयावेकवचनस्य' से 'ते' आदेश अनुदात्त। (८) धियः—धी का प्राति० स्वर। (९) देवेभिः—देव + भिस् देव शब्द अच्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त। (१०) अग्ने—आमन्त्रितनिघात। (११) आ—उपसर्ग स्वर। (१२)—गहि—तिङ्निघात।

मंत्र—३

इसमें विभिन्न देवताओं के नाम द्वितीया विभक्ति में आये हैं; और कोई भी शब्द नहीं है। अतः वाक्य पूरा करने के लिए सायण इसमें 'हे अग्ने

यक्षि' इन दो पदों का अध्याहार करते हैं। हे अग्निदेव ! आप इन देवताओं की पूजा करें—इन्द्र और वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषन्, भग, आदित्य-गण और मारुत गण। कण्वों ने इन देवताओं को बुलाया है और पूजा की है।

बृहस्पति—शाब्दिक अर्थ 'स्तुति का स्वामी'। इनका दूसरा नाम 'ब्रह्मणस्पति' भी है। इनके शस्त्र धनुष और बाण हैं, ये अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। देवताओं के पुरोहित के रूप में भी ये प्रसिद्ध हैं। मैकडोनल के अनुसार पूरे ११ सूक्तों में केवल बृहस्पति की स्तुति हुई है। इनकी विशेषता यह है कि ये अन्य देवताओं की तरह प्राकृतिक तत्त्वों के प्रतिनिधि नहीं हैं। म्यूर का कथन है कि इस तरह के देवता नैतिक विचारों के परिणाम अथवा भक्ति-भावना के मूर्त भाव हैं।

पूषन्—गोधन तथा मानवीय संपत्तियों की रक्षा और संवर्धन में निरत ये देवता स्वभावतः सौर देवता हैं। ऊपर से ये पूरे जगत् को देखते हैं तथा मार्गों-यात्राओं के प्रदर्शक भी हैं। 'भग' उदार स्वामी तथा रक्षक हैं जो धनदान में परमप्रवीण हैं।

आदित्य-गण—परम व्योम में 'आदित्याः' के नाम से कुछ देवताओं का समूह-रूप में निवास है। अदिति अर्थात् नित्यता के द्वारा ये संरक्षित हैं तथा उसे भी ये सुरक्षित रखते हैं। इनका दिव्य प्रकाश बहुत मुख्य है। किसी ज्योतिःपिण्ड से ये सम्बद्ध नहीं हैं किन्तु नित्य प्रकाश के संरक्षक के रूप में ही इनकी प्रसिद्धि है। पौराणिक काल में सूर्य से सम्बन्ध करके, १२ मासों के आधार पर, १२ आदित्यों की कल्पना की गयी।

स्वरविचार—(१) इन्द्रवायू इति—द्विवचन ऊकार होने से प्रगृह्य, इतिकरण। 'देवताद्वन्द्वे च' (६।२।१४१) से उभयपद का प्रकृतिस्वर होना चाहिए किन्तु 'नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ'० (६।२।१४२) से निषेध। 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त। (२) बृहस्पतिम्—वामन के अनुसार बृहत् आद्युदात्त। पति—√पा + डति। प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त। 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' (६।२।१४०) से उभयपद का प्रकृतिस्वर। (३) मित्रा—मित्रम् में अम् को आच्-आदेश। प्राति० स्वर। (४) अग्निम्—पूर्ववत्। (५) पूषणम्—प्राति० स्वर। (६) भगम्—वृषादिगण से आद्युदात्त। (७) आदित्यान्—अदिति + ण्य—प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (८) मारुतम्—मरुत् + अञ् (अनुदात्तादेश्च)। ञित् आद्युदात्त। (९) गणम्—प्राति० स्वर।

मंत्र—४

हे इन्द्रादिदेवगण ! आपके लिए ये सोमरस अच्छी तरह सम्पन्न किये गये हैं (प्र भ्रियन्ते)। ये सोम तृप्तिकारक (मत्सराः), हर्ष देनेवाले, बिन्दु के रूप में स्थित (द्रप्साः), मधुर (मध्वः) तथा कटोरे (चमू) आदि पात्रों में विद्यमान हैं।

भ्रियन्ते—√भृ या √हृ से कर्मवाच्य का रूप। ह्रियन्ते (संपादित होते हैं)। 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' से रिङादेश। इन्दवः—बिन्दवः, सोमरस। √उन्द + उ (नित्)। जो पात्रों को भिंगा दे। स्मरणीय है कि चमू में शुक्लवर्ण के रखे हुए सोम और इन्दु दोनों संस्कृत में रूपसादृश्य के आधार पर चन्द्रमा के पर्याय हो गये हैं। मत्सराः—√मद् + सर। तृप्ति देनेवाले। संस्कृत में इसका अर्थादेश ध्येय है। मादयिष्णवः—√मद + णिच् + इष्णुच्। हर्ष प्रदान करनेवाले, मानसिक स्फीति देनेवाले। द्रप्साः = बिन्दु—समूह। तुलनीय, जर्मन—tropfe, डच तथा अंग्रेजी drop, प्रा० अंग्रेजी—dropa आदि। मध्वः—'मधुः—(मीठा) शब्द का प्रथमा बहुवचन। गुण का अभाव, यण्।

चमूषदः—चमू = कटोरा, सोमपात्र, चमस। √सद् = बैठना। चमू में रहनेवाले। चमू की व्युत्पत्ति है √चमु (अदने) + ऊ। चम्यते भक्ष्यन्ते येषु चमसेषु ते चम्वः। जिनमें लोग खायें।

स्वरविचार—(१) प्र—उपसर्ग स्वर। (२) वः—युष्मदादेश अनुदात्त। 'बहुवचनस्य वस्नसौ'। (३) भ्रियन्ते—तिङ्निघात। (४) इन्दवः—√उन्दी + उ (नित्)। आद्युदात्त। (५) मत्सराः—√मद् + सर (चित्)। अन्तोदात्त। (६) मादयिष्णवः—√मद् + णिच् + इष्णुच्। चित् के कारण अन्तोदात्त 'मादयिष्णु' शब्द। (७) द्रप्साः—प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। (८) मध्वः—√मद् + उ (नित्)। आद्युदात्त। देखें—१।१३।२। व्यत्यय से पुंल्लिङ्ग। (९) चमूऽसदः—चमूषु सीदन्ति। चमू + √सद् + क्विप्। सुषामादि से षत्व। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर होने से स का अ उदात्त है। चमूषद् + जस्।

मंत्र—५

हे अग्निदेव ! आपकी वन्दना ऋत्विज लोग कर रहे हैं। वे ऋत्विज आपकी सहायता के इच्छुक (अवस्यवः), मेधावी (कण्वासः), दर्भतृणों का छेदन किये हुए (वृक्तबर्हिषः), हविष् से युक्त तथा अलंकृत करनेवाले हैं।

सायण ने 'कण्वासः' का 'मेधाविनः' अर्थ करके इसे विशेषण बना दिया है जिससे उन्हें विशेष्य 'ऋत्विजः' का अध्याहार करना पड़ा है। वस्तुतः 'कण्वासः' कण्व के वंशजों की ओर संकेत करता है। वह विशेष्य है, कर्ता

है—कण्वासः ईळते = कण्वपुत्र वन्दना करते हैं। 'ईड् स्तुतौ' का रूप आत्मने-पद होता है—ईट्टे, ईळाते, ईळते। ईळते = ईड + लट् (अते)। ड का ळ।

अवस्यवः—√अव + अच् (अवन्तीत्यवाः) = अवाः देवाः। अव + क्यच्। अवान् अतिशयेन इच्छति। अव + य। 'क्यचि च' से ईकार नहीं हुआ क्योंकि 'नच्छन्दस्यपुत्रस्य' के द्वारा उसका निषेध होता है। 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः' एक वार्तिक है जिससे सुक् आगम हुआ। 'अवस्यति' क्रियापद है। 'क्याच्छन्दसि' से उ प्रत्यय। अवस्यु। बहुवचन में, 'अवस्यवः' = देवताओं की इच्छा करनेवाले। किन्तु √अव् + असुन्=अवस् रक्षा के अर्थ में लेकर रक्षाभिलाषी अर्थ लेना कहीं ठीक है।

वृक्तवर्हिषः पहले आ चुका है। वृक्तानि बर्हींषि यैस्ते। जिन्होंने कुशच्छेदन कर लिया है। 'कण्व' की व्युत्पत्ति सायण √कण् (ध्वनि करना) + क्वन् से करते हैं—जो ध्वनि करें, स्तोत्रपाठादि करें अर्थात् ऋत्विज।

हविष्मन्तः—हविस् + मतुप्। 'तसौ मत्वर्थे' से भसंज्ञा होती है अतः पदत्वाभाव में स् का रु नहीं हुआ। हवि से पूर्ण, हवि देनेवाले। अरंकृताः—अलम् + √कृ + क्विप् = अलंकृत्। ल > र। सभी चीजों को प्रस्तुत या सुशोभित करनेवाले।

अर्थ—हे अग्निदेव! रक्षार्थी, कुश का छेदन किये हुए, हविः-पूर्ण तथा सभी चीजों को प्रस्तुत करनेवाले कण्वपुत्र आपकी वन्दना कर रहे हैं।

स्वरविचार—(१) ईळते—√ईड (अनुदात्तेत्) + लट्(अते)। विभक्ति लसार्वधातुक के कारण अनुदात्त है अतः धातुस्वर शेष रहा। (२) त्वाम्—सर्वनाम उदात्त। (३) अवस्यवः—अवस् + क्यच् + उ = प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त 'अवस्यु'। (४) कण्वासः—√कण् + क्वन्। आद्युदात्त (नित्)। (५) वृक्तऽबर्हिषः—बहुव्रीहि के कारण पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। वृक्त में प्रत्ययस्वर के कारण अन्तोदात्त का शेष रहना। (६) हविष्मन्तः—√हु + इसि = हविस्। प्रत्ययस्वर से इ उदात्त। मतुप् प्रत्यय अनुदात्त ही है अतः वही स्वर शेष रहा। (७) अरम्ऽकृतः—अलं कुर्वन्तीत्यरंकृतः। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से 'कृत्' को प्रकृतिस्वर।

मंत्र—६

हे अग्निदेव! वाहक घोड़े (वह्नयः) जो आपको वहन करते हैं उन्हीं पर देवताओं को आप सोमपान के लिए ले आयें। घोड़ों की पीठ चमकीली है (घृतपृष्ठाः) तथा मन में संकल्प करते ही रथ में ये आप ही जुड़ जाते हैं। घोड़ों का बहिरंग तो सुन्दर है ही, अन्तरंग भी अच्छा है कि उन्हें रथ में जोतने के लिए श्रम करना नहीं पड़ता।

घृतपृष्ठाः—√घृ (क्षरणदीप्त्योः) + क्त = घृत (प्रदीप्त, चमकीला)। पृष्ठ = पीठ। जिनकी पीठ बहुत चमकीली है। पाश्चात्य विद्वानों ने घृत का अर्थ 'घी' लेकर असंगति उत्पन्न कर दी है। वस्तुतः यह विशेषण वाहक घोड़ों का है जिनकी पीठ के भास्वर होने में ही संगति है। मनोयुजः—मन में विचार उठते ही जुत जानेवाले। मनसा युञ्जते। वह्नयः—√वह् + नि। वहन करनेवाले (घोड़े)। चूंकि अग्नि यजमान के हव्य के वाहक हैं अतः संस्कृत में पीछे जाकर इनका ही नाम वह्नि है। तृतीय पाद में 'वह' क्रिया पद का अध्याहार करना है। देवान् आवह। देवान् + सोमपीतये = देवान्त्सोमपीतये। धुट् का आगम।

स्वरविचार—(१) घृतऽपृष्ठाः—बहुव्रीहिसमास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद में 'घृत' प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है, वही स्वर शेष रहा। (२) मनःऽयुजः—मनस् + √युज् + क्विप्। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर होने से उदात्त। (३) ये—सर्वनाम उदात्त। (४) त्वा—युष्मदादेश अनुदात्त। (५) वहन्ति—√वह् + शप् + झि (अन्ति)। शप् और झि (लसार्वधातुक) अनुदात्त हैं अतः धातु का स्वर शेष रहा। 'यद्वृत्तान्नित्यम्' से निघाताभाव हुआ। (६) वह्नयः—√वह् + नि (नित्)। आद्युदात्त। (७) आ—उपसर्गस्वर। (८) देवान्—अच्प्रत्ययान्त, अन्तोदात्त। (९) सोमऽपीतये—सोमस्य पीतिर्यस्मिन् (बहुव्रीहि)—पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद में सोम मन् प्रत्यय (नित्) से बना है, आद्युदात्त है।

षड्विंश वर्ग समाप्त।

मंत्र—७

यहाँ यजमान प्रार्थना करते हैं कि हे अग्निदेव! आप उन इन्द्रादि देवों को, जो यजनीय (यजत्रान्) हैं, सत्य या यज्ञ के वर्धक हैं, पत्नीयुक्त कर दीजिए। हे सुन्दर जिह्वावाले देवता! आप उन्हें मधुर सोमरस का भाग (मध्वः) पिलावें।

यजत्रान्—√यज + अत्रन्। यजनीय, पूज्य। ऋतावृधः—ऋत के वर्धक, नैतिक या याज्ञिक नियमों की वृद्धि करनेवाले। पत्नीवतस्कृधि—पत्नीवान् कर दें। अभिप्राय यह है कि उन्हें पत्नी के साथ आने को कहें। कृ + लोट् (सिप् > हि > धि) 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' से हि को धि आदेश—कृधि (कुरु, कर दें)।

मध्वः—मधु + ङस्। 'षष्ठी शेषे' से 'भागम्' इस अध्याहृत पद का संबंध है—मध्वः मधुनः भागं पायय (मधुर सोम का अंश पिलावें)। पायय—√पा + णिच् (युक्—आगम)। पाययति।

स्वरविचार—(१) तान्—प्रातिपदिकस्वर से उदात्त। (२) यजत्रान्—√यज् + अत्रन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (३) ऋतऽवृधः—ऋत + √वृध् + क्विप्। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (४) अग्ने—पादादि में होने के कारण 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) से आद्युदात्त। (५) पत्नीऽवतः—पति (√पा + डति) शब्द प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) से ङीप् और इ को न्। पत्न् ई—पत्नी + मतुप्। 'छन्दसीरः' (८।२।१५) से म् का व्। पत्नीवत्। ङीप् और मतुप् पित् के कारण आद्युदात्त हैं अतः पति का आद्युदात्त ही शेष रहा है। (६) कृधि—√कृ + धि (लोट्)। तिङ्निघात। (७) मध्वः—मधु + ङस्। गुणाभाव, यण्। पूर्ववत् आद्युदात्त। (८) सुऽजिह्व—आमन्त्रितनिघात। (९) पायय—तिङ्निघात। यहाँ 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' से 'सुजिह्व' को अविद्यमानवत् रूप होगा अतः 'मध्वः' की अपेक्षा से निघात हुआ है।

मंत्र—८

हे अग्निदेव ! आप देवताओं को तो ले आये। अब वे यजनीय तथा वन्दनीय देवगण वषट्कार के समय मधुर सोमरस का अंश आपकी जीभ से पियें।

ये ये···ते—जो-जो देवता यजनीय तथा स्तुत्य हैं वे सभी अपनी जिह्वा का कौशल सोमपान में दिखायें। वषट्कृति—वषट् देवताओं को हव्यदान के समय प्रयुक्त ध्वनि है। जब यज्ञ में वषट् का उच्चारण हो, तब ये देवता सोम पियें। एक 'ते' (तव) 'जिह्वया' से संबद्ध है—आपकी जीभ से (अग्नि के द्वारा)।

स्वरविचार—(१) ये—प्राति० स्वर। (२) यजत्राः—√यज् + अत्रन्। आद्युदात्त (नित्)। (३) ये। (४) ईड्याः—√ईड् + ण्यत्। 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (६।१।२१४) से आद्युदात्त। (५) ते—सर्वत्र म उदात्त। (६) ते—युष्मद् का आदेश अनुदात्त। (७) पिबन्तु—तिङ्निघात। (८) जिह्वया—प्राति० स्वर। (९) मधोः—√मद् + उ (नित्) आद्युदात्त। (१०) अग्ने—आमन्त्रितनिघात। (११) वषट्ऽकृति—वषट् इति करणं यस्मिन् (बहुव्रीहि)—पूर्वपद (वषट्— निपात आद्युदात्त) का प्रकृतिस्वर।

मन्त्र—९

ये मेधावी अग्निदेव जो होम पूरा करनेवाले होता भी हैं, सूर्य के चमकीले

(रोचन) स्थान से उन सभी देवताओं को इस यज्ञ में ले आयें जो प्रातःकाल ही यज्ञ में जाने के लिए जाग जाते हैं (उषर्बुधः)।

आकीम्—दूर के अर्थ में निपात। 'दूर से'। सूर्य का रोचन अर्थात् दीप्तिमान् स्वर्गलोक बहुत दूर है, वहीं से अग्नि देवताओं को ले आयेंगे। ये देवता 'उषर्बुध' अर्थात् प्रातःकाल ही जागनेवाले हैं। √बुध् = जागना। उषःकाले बुध्यन्ते—उषर्बुधः। उषस् + √बुध् + क्विप्। अग्नि विप्र अर्थात् मेधावी हैं, होता हैं क्योंकि देवताओं को बुलाकर लाते हैं और होम को निष्पन्न करते हैं। वक्षति—√वह् + लेट् (तिप्)। वह् + सिप् + शप् + तिप्। 'हो ढः' से ह् को ढ्। 'षढोः कः सि' से क्, स् का ष् (इण्कोः)। वक्षति = वहन करें।

स्वरविचार—(१) आकीम्—निपाता आद्युदात्त। (२) सूर्यस्य—सृ + क्यप् (निपातन—'राजसूयसूर्य०' ३।१।११४)। धातुस्वर से आद्युदात्त। (३) रोचनात्—√रुच् + युच्। 'चितः' से अन्तोदात्त। (४) विश्वान्—√विश् + क्वन्। नित् आद्युदात्त। (५) देवान् + √दिव् + अच्। अन्तोदात्त (चित्)। (६) उषःऽबुधः—उषसि बुध्यन्ते। उषस् + √बुध् + क्विप्। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' (६।२।१३९) से उत्तरपद का प्रकृति स्वर बु (उ) उदात्त। (७) विप्रः—√वप् + रन् (ऋज्रेन्द्राग्र० से निपातन)। नित् आद्युदात्त। (८) होता—√ह्वे + तृन्। संप्रसारण, परपूर्वत्व, गुण। नित्—आद्युदात्त। (९) इह—इदम् + ह। प्रत्ययस्वर। (१०) वक्षति—तिङ्निघात।

मन्त्र—१०

प्रस्तुत ऋचा का प्रयोग अग्निष्टोम में प्रउगशस्त्र में याज्या के रूप में होता है। यहां अग्निदेव को सभी देवताओं के साथ मिलकर सोमरसयुक्त मधु पीने को आमंत्रित किया जा रहा है। अग्नि इन्द्र, वायु तथा मित्र के धाम (तेज, प्रकाश) के रूप में विद्यमान देवताओं के साथ आकर मधु पियें।

विश्वेभिः—सभी देवताओं के साथ। इसके कुछ व्यक्ति हैं—इन्द्र, वायु, मित्र आदि सोम्यं मधु—सोम से युक्त मधु। सोम + य ('तदर्हति' या 'विकार' अर्थ) = सोम्यम्। मित्रस्य धामभिः—मित्र की ज्योतियों से। अभिप्राय है कि मित्र के रूप आपकी ही मूर्ति है। अपने उन प्रकारों से भी आप मधु पीयें। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) से पिब को संहिता में दीर्घ।

स्वरविचार—(१) विश्वेभिः—क्वन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त। (२) सोम्यम्—सोम + य। प्रत्ययस्वर। (३) मधु—√मद् + उ (नित्)। आद्युदात्त। (४) अग्ने—पादादि में रहने से आमन्त्रित आद्युदात्त। (५)

इन्द्रेण—√इदि (परमैश्वर्ये)+रन् (निपातन—ऋज्रेन्द्र०) नित्—आद्युदात्त। (६) वायुना—√वा+उण्। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (७) पिब—√पा+शप्+लोट् (हि)—पिबादेश—पिब+शप् (हि का लोप 'अतो हेः')। शप् पित् है इसलिए धातुस्वर ही शेष रहा। पादादि में होने से निघाताभाव। (८) मित्रस्य—मित्र को प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। (९) धामऽभिः—√धा+मनिन्। नित्—आद्युदात्त।

मन्त्र—११

हे अग्निदेव! आप होता (होमनिष्पादक) हैं, (होतृ, अध्वर्यु आदि) मनुष्यों के द्वारा स्थापित (मनुर्हितः) हैं। आप चूँकि सभी यज्ञों में आसीन होते हैं अतः हमारे इस यज्ञ (अध्वर) को भी निष्पन्न कीजिये।

मनुर्हितः होता—मनु के द्वारा हमारे होता के रूप में प्रतिष्ठित (ग्रिफिथ)। यही विचार सभी पश्चिमी व्याख्याकार रखते हैं। सायण व्याकरण की प्रक्रिया से √मन्+उस् से मनुस् का अर्थ मनुष्य लेते हैं। अतः 'मनुष्य के द्वारा हित (संपादित)' अर्थ किया गया है। वस्तुतः मनु (आदि पुरुष) से अग्नि का सम्बन्ध कम ही रहा है। यज्ञेषु सीदसि—यज्ञों में बैठते हैं। इमम् अध्वरं यज=इस यज्ञ का संचालन करें। चूँकि आप प्रत्येक यज्ञ में आसीन होते हैं, इस लिए हमारे यज्ञ में आप अनुष्ठाता का काम करें।

स्वरविचार—(१) त्वम्—सर्वनाम उदात्त। (२) होता—√ह्वेञ्+तृन्। नित्—आद्युदात्त। (३) मनुःऽहितः—√मन्+उस् (नित्) मनुस् आद्युदात्त। √धा+क्त=हितः। मनुषा हितः (तृतीया तत्पुरुष समास)—'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (२।१।३२)। 'तृतीया कर्मणि' (६।२।४८) से पूर्वपदप्रकृतिस्वर। म का अ उदात्त रहा। (४) अग्ने—पादादि में होने से आमन्त्रित को आद्युदात्त (६।१।१९८)। (५) यज्ञेषु—√यज्+नङ्। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त 'यज्ञ'। (६) सीदसि—तिङ्निघात। (७) सः—तत् का प्रातिपदिकस्वर। (८) इमम्—इदम् का प्रातिपदिकस्वर। सः+इमम्=सेमम्। 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' (६।१।१३४) से सु का लोप होकर गुणादेश। 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से 'सेमम्' में दोनों उदात्त स्वर हो गये। (९) नः—अस्मदादेश अनुदात्त। (१०) अध्वरम्—न ध्वरो हिंसा यस्मिन् सोऽध्वरः। बहुव्रीहिसमास में 'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद का अन्तोदात्त। 'नो अध्वरम्' में 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' से प्रकृतिभाव। (११) यज—तिङ् का निघात।

मन्त्र—१२

हे अग्निदेव! अपने रथ में रोहित् नायक घोड़ियों को आप जोत लें।

ये घोड़ियाँ गतियुक्त (अरुषीः) तथा रथारूढ़ पुरुषों को ले जाने में समर्थ (हरितः) हैं। उन्हीं के द्वारा आप देवताओं को यहाँ ले आयें।

युक्ष्वा—'युक्ष्व' का छान्दस दीर्घ। √युज् + लोट् (थास् > से)। रुधादिगणीय श्नम् का लोप। युज् से (स्व) = युक् + ष्व = युक्ष्व। जोड़ दें। अरुषीः—अरुण वर्ण की। अरुष और अरुण समान मूल वाले शब्द हैं। सायण के अनुसार √ऋ + उषन्। धातु को गुण, रपर। अर् + उष = अरुष। स्त्रीलिंग में छान्दस ङीप्। द्वितीया बहुवचन। रोहितः का विशेषण। हरितः = पीत वर्ण की। सायण—हर्तुं समर्थाः। √हृ + इति प्रत्यय। रथ = √रम् + क्थन्।

अर्थ—हे अग्निदेव ! आप रथ में अरुण, पीत तथा रक्त वर्ण की घोड़ियों को जोत लें तथा उनकी सहायता से देवताओं को यहां ले आयें।

स्वरविचार—(१) युक्ष्व—√युज + लोट् (थास् > से > स्व)। प्रत्ययस्वर। (२) हि—निपातस्वर। (३) अरुषीः—√ऋ + उषन्। आद्युदात्त—नित्। (४) रथे—रम् + क्थन्—आद्युदात्त (नित्)। (५) हरितः—√हृ + इति—प्रत्ययस्वर। (६) देव—आमन्त्रितनिघात। (७) रोहितः—√रुह् + इति—प्रत्ययस्वर। (८) ताभिः—तत् का प्राति० स्वर। 'सावेकाचः०' (६।१।१६८) से विभक्ति को उदात्त होता किंतु ०न्मावर्णं०' (६।१।१८२) से निषिद्ध हुआ। (९) देवान्—अच् प्रत्ययान्त। चित् के कारण अन्तोदात्त। न् का रुत्व और अनुनासिक। (१०) इह—इदम् + ह—प्रत्ययस्वर। (११) आ—उपसर्गस्वर। (१२) वह—तिङ्निघात।

सप्तविंश वर्ग समाप्त।

सूक्त—१५

१२ ऋचाओं के इस सूक्त के देवता 'ऋतु' हैं। भारतीय ऋतुओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले ये देवता ऋग्वेद के अल्पप्रसिद्ध देवताओं में हैं। इनकी कोई विशेषता भी यहां प्रकट नहीं है। दूसरे देवताओं की प्रधानता और सोम रस के अविरल पान में इनकी विशेषताएँ दब गयी हैं। इन्द्र, मरुत्, त्वष्टा, अग्नि, मित्रावरुण आदि देवताओं की प्रधानता ही इन मन्त्रों में हो गयी है जिससे 'ऋतु' अप्रधान हो गये हैं।

मन्त्र—१

हे इन्द्र ! ऋतु-देवता के साथ आप सोमरस पियें। वे सोम के बिन्दु (इन्दवः) आप में प्रवेश करें—बूँद-बूँद करके सोमरस आपके उदर में प्रवेश

करें। ये सोमरस तृप्तिकर (मत्सरासः) तथा सदा उसी उदर में निवास करनेवाले (तदोकसः) हैं।

'पिब ऋतुना' संहिता-तथा पद-पाठ दोनों में पृथक्-पृथक् हैं किन्तु छन्द का आग्रह है कि 'पिबर्तुना' पढ़े—यही विधि इस सूक्त भर में लगायी जायगी। इन्दवः—सोमबिन्दु, सोमरस। मत्सरासः—मत्सर + जस् (असुक्)। मत्सर = मद (आनन्द, तृप्ति) देनेवाला। √मद् + सर (चित्)। विशेषतः १।१४।४ में देखें। तदोकसः—'तत्' से इन्द्र के उदर का परामर्श होता है। ओकस = निवासस्थान। सोमबिन्दुओं का स्थायी निवास इन्द्र का उदर ही है। वहीं ये निश्चिन्तपूर्वक कुछ देर रह सकते हैं।

स्वरविचार—(१) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) सोमम्—√सु + मन्। नित्—आद्युदात्त। (३) पिब—√पा + शप् + लोट् (सिप् > हि)। पा का पिब् आदेश, पिब् + शप्। धातुस्वर। हि का लोप। 'पिब' और 'विशन्तु' दो तिङ् संबद्ध हैं किन्तु उन्हें जोड़नेवाला 'च' लुप्त है अतः 'चादिलोपे विभाषा' (८।१।६३)से प्रथम तिङ् का निघात नहीं हुआ है। पिब + ऋतुना में 'ऋत्यकः' (६।१।१२८) से शाकल्य के मत से प्रकृतिभाव, गुणनिषेध। (४) ऋतुना—ऋतु का प्राति० स्वर। (५) त्वा—युष्मदादेश अनुदात्त (६) विशन्तु—तिङ्निघात। (७) इन्दवः—√उन्दी (क्लेदन, भिंगाना) + उ (नित्)। आद्युदात्त। (८) मत्सरासः—√मद् + सर (चित्) अन्तोदात्त। (९) तत्ऽओकसः—तद् ओकः स्थानं येषां ते—बहुव्रीहि में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर।

मन्त्र—२

ऊपर के मंत्र में जिस प्रकार ऋतुदेवता के साथ सोम पीने के लिए इन्द्र का आवाहन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ मरुतों को बुलाकर सोम पीने का आग्रह हो रहा है। हे मरुतो! ऋतुदेवता के साथ आप लोग पोतृ-नामक ऋत्विज के पात्र से सोमरस पियें। पुनः हमारे इस यज्ञ को पवित्र करें (पुनीतन)। हे अच्छे दाता! आप लोग ऐसे ही हैं—यज्ञ को पवित्र करने में आपकी ख्याति बहुत है।

पोत्रात्—पोतृ + अण् (तस्येदम्)। आदि अच् की प्राप्त वृद्धि छान्दस विकल्प से नहीं हुई। पोता एक ऋत्विज हैं, देखें—१।१।१ की व्याख्या। पोतृ की व्युत्पत्ति है—√पूञ् + तृच्। छान्दस व्यत्यय से ही इट् का अभाव हुआ—अन्यथा 'पविता' रूप बनेगा (लोक में)। अर्थ है—पोता के पात्र से। 'पात्रात्' का अध्याहार करना पड़ता है।

पुनीतन—√पूञ् (पवने) + लोट् (थ > त > तन)। श्ना विकरण, 'ई हल्यघोः' से आ का ई। 'प्वादीनां ह्रस्वः' से पु—पु + नी + तन। दोनों प्रत्ययों (नी, तन) के ङित् (सार्वधातुकमपित्) होने से गुणाभाव। (यूयं) पुनीतन = आपलोग पवित्र कर दें।

हि + स्थ = हि ष्ठा (व्यत्यय से षत्व और छान्दस आकार)। सुदानवः— सुन्दर दानशील। सु + √दा + नु। स्वर की दृष्टि से यह सम्बोधन है, अन्यथा यहां 'आपलोग सुन्दर दानशील हैं' यह अर्थ सर्वोत्तम होता। हे अच्छे दातृगण ! आप लोग ऐसे (= पवित्र करनेवाले) हैं।

स्वरविचार—(१) मरुतः—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) पिबत— 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' से 'मरुतः' अविद्यमानवत् होगा, जिससे पिबत को पादादि समझेंगे और यथानियम स्वर लगेगा √पा + लोट् (थ > त) = पा + शप् + त = पिब् + अ + त—पिबत। शप् अनुदात्त है (पित्) तथा 'त' भी लसार्वधातुक अनुदात्त ही है अतः धातुस्वर शेष रहा। (३) ऋतुना— प्राति० स्वर। (४) पोत्रात्—पोतृ + अण्। तिङ्निघात। (५) यज्ञम्— √यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (६) पुनीतन—तिङ्निघात। (७) यूयम्— युष्मद् को यूय आदेश + जस् (अम्)। प्राति० स्वर से अन्तोदात्त यूय में अम् लगा—'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त स्वर। (८) हि—निपातस्वर। स्थ—'हि च' से निघातनिषेध होनेपर तिङ् को उदात्तस्वर। (१०) सुऽदा- नवः—आमन्त्रितनिघात।

मन्त्र—२

हे पत्नीयुक्त (ग्नावः) त्वष्टा देवता ! (नेष्टः) हमारे यज्ञ की देवताओं के पास स्तुति कीजिए। ऋतु-देवता के साथ सोम भी पियें क्योंकि आप रत्नों के दाता हैं। सायण कहते हैं कि 'ग्ना' का अर्थ यास्क की प्रामाणिकता पर 'स्त्री' है। जिसकी स्त्री हो—ग्नावान्। 'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि'—ग्नावः। ग्नावत् के त् को रु। पुनः नेष्टा का अर्थ 'त्वष्टा' देवता रखा गया है। वैसे नेष्टा ऋत्विजों में एक है। (देखें—ऋ० १।१।१ की व्याख्या)। हे ग्नावः नेष्टः = हे पत्नीयुक्त त्वष्टा देवता।

यज्ञं गृणीहि—यज्ञ का स्तवन करें। √गृ = स्तुति करना। रत्नधाः = 'रत्न' का अर्थ 'धन' होता है—√धा = √दा। धनों के दाता। आप धनदाता हैं इसलिए सोम पियें। रत्न शब्द का ऋग्वेद में धन अर्थ ही सर्वत्र हैं।

स्वरविचार—(१) अभि—उपसर्गों में अभि अन्तोदात्त है। (२) यज्ञम्—√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (३) गृणीहि—तिङ्निघात। (४) नः—अस्मदादेश अनुदात्त। (५) ग्नावः—पादादि में होने के कारण आम-

न्त्रित का आद्युदात्त। (६) नेष्टरिति—आमन्त्रित आद्युदात्त है क्योंकि पूर्व आमंत्रित के अविद्यमानवत् होने से यह पादादि में माना जायगा। 'ग्नावः' विशेषण है 'नेष्टः' विशेष्य—इसलिए 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे विशेषवचनम्' के द्वारा अविद्यमानवत्व का निषेध नहीं हुआ है। ऋकारान्त शब्द का संबोधन है अतः इतिकरण। (७) पिब—पा(>पिब्) + शप्। धातुस्वर। पूर्व में संबोधन पद अविद्यमानवत् हैं इसलिए पादादि में रहने के कारण निघात नहीं हुआ है। (८) ऋतुना—पूर्ववत्। (९) त्वम्—प्राति० स्वर। (१०) हि—निपात स्वर। (११) रत्नऽधाः—रत्नं दधाति। रत्न + √धा + क्विप्। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (१२) असि—√अस् + सिप्। धातुस्वर। 'हि च' के कारण निघाताभाव।

मन्त्र—४

हे अग्निदेव! देवताओं को यहाँ ले आइये। तीनों सवनों के समय अपने उचित स्थानों पर लाकर उन्हें बैठा दें। उन्हें अच्छी तरह अलंकृत करें और अन्त में आप ऋतु-देवता के साथ सोमरस पियें।

योनिषु त्रिषु—दोनों पृथगर्थबोधक शब्द मानकर सायण ये अर्थ किया हैं—त्रिषु सवनेषु, योनिषु स्थानेषु = तीनों सवनों में अपने-अपने उचित स्थानों पर। वस्तुतः 'त्रिषु' 'योनिषु' समानाधिकरण विशेष्य-विशेषण के रूप में हैं—तीनों स्थानों पर। योनि—√यु + नि (नित्)। 'सादय' में छान्दस दीर्घ। भूष—√भूष् + लोट् (हि)।

स्वरविचार—(१) अग्ने—आमंत्रित आद्युदात्त। (२) देवान्—√दिव् + अच्। अन्तोदात्त। न् का रु; रु का अनुनासिक। (३) इह—इदम् + ह। प्रत्ययस्वर। (४) आ—उपसर्गस्वर। (५) वह—तिङ् निघात। (६) सादय—पादादि में निघाताभाव। √सद् + णिच् = सादि + शप् + लोट् (हि)। णिच् का स्वर (इ > ए > अय्—अ उदात्त)। (७) योनिषु—√यु + नि (नित्)। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त। (८) त्रिषु—'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) से विभक्ति को उदात्त। (९) परि—उपसर्ग-स्वर। (१०) भूष—तिङ् निघात। (११) पिब—तिङ् के बाद तिङ् है इसलिए निघाताभाव है। स्वर पूर्ववत्। (१२) ऋतुना—पूर्ववत्।

मंत्र—५

हे इन्द्रदेवता! आप ब्राह्मण की (ब्राह्मणाच्छंसि नामक ऋत्विज की) संपत्ति के रूप में विद्यमान पात्र से, ऋतुदेवों के पी लेने के पश्चात्, सोमरस

पियें। उस पात्र से आप भी पियें, ऋतु-देव भी पियें। आपके इस सहपान का कारण यह है कि ऋतुओं के साथ आपकी मैत्री अविच्छिन्न है (अस्तृतम्)।

'ब्राह्मण' का अर्थ यहाँ ब्राह्मणाच्छंसि नामक पुरोहित है जो १६ में अन्यतम है। 'राधसः' = संपत्ति से। उक्त ऋत्विज की संपत्ति वह पात्र है जिससे देवताओं को हवि देते हैं। संपत्ति से अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणाच्छंसि का काम ही है पात्र में हवि देना, वही कर्तव्य है। अतएव वह अपने नियोग को अशून्य करते हुए ऐसा करता है। पात्र-दान के प्रभारी के रूप में (incharge of) वह ऋत्विज है अतः उसके 'धनरूप पात्र से' कहा गया है। राध्नोति प्रीणयति इति राधः धनम्।

ऋतूँरनु—ऋतून् + अनु। 'दीर्घादटि समानपादे' (८।३।९) से न् को रु हुआ। 'भो भगोअघो०' से रु को प्राप्त यकार नहीं हुआ क्योंकि उसके पूर्व अवर्ण नहीं है। 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (८।३।२) से वैकल्पिक अनुनासिक लगा। अस्तृतम्—√स्तृ = मारना। 'अहिंसित, अविच्छिन्न'। ऋतुओं के साथ आपका सख्यभाव अटूट है।

स्वरविचार—(१) ब्राह्मणात्—ब्रह्मन् (अनुदात्तादि, पुंल्लिंग में) = अञ्। 'ब्राह्मण' ञित् के कारण आद्युदात्त। 'अनुदात्तादेरञ्'। ब्रह्मा से संबद्ध पात्र से। (२) इन्द्र—आमन्त्रितनिघात। (३) राधसः—√राध् + असुन्। आद्युदात्त। (४) पिब—छान्दस दीर्घ। पादादि में पूर्ववत् स्वर। (५) सोमम्—√सु + मन्। नित्—आद्युदात्त। (६) ऋतून्—प्रातिपदिकस्वर। (७) अनु—निपात आद्युदात्त। (८) तव—युष्मद् ('तवममौ ङसि' से तवादेश) + ङस् (अश्)। 'युष्मदस्मदोर्ङसि' से आद्युदात्त। (९) इत्—(१०) हि—निपात स्वर। (११) सख्यम्—सखि + य। प्रत्ययस्वर (१२) अस्तृतम्—नञ् + √स्तृ + क्त। अव्यय पूर्व पद का प्रकृतिस्वर (६।२।२)।

मंत्र—६

यहाँ ऋतु के साथ मित्र और वरुण के युग्म को आहूत किया गया है। ये दोनों (मित्र, वरुण) धृतव्रत अर्थात् कर्मों को स्वीकृत किये हुए हैं। हे देवयुगल! आप ऋतुदेव के साथ हमारे इस यज्ञ को व्याप्त करें—यहाँ पहुँचे। हमारा यह यज्ञ दक्ष (प्रौढ) तथा अविनाश्य (दुर्दभ > दूळभ) है।

सायण ने 'दूळभं दक्षम्' को 'यज्ञम्' का विशेषण माना है किन्तु उन दोनों शब्दों को 'युवम्' (आप दोनों—मित्रावरुण) का समानाधिकरण

मानना ठीक है। आप दोनों जो एक दुर्लभ (अपराजेय) शक्ति (दक्ष) हैं। युवम् = युवाम् (आप दोनों)। दक्षम्—शक्ति। यह नपुंसकलिङ्ग है। धृतव्रत—अपने नियम के पक्के। मित्रावरुण के नियमों (नैतिक नियमों) का ऋग्वेद में बहुत उल्लेख है। पदपाठ में यह दीर्घ है क्योंकि द्विवचन प्रयोग है। यही दशा मित्रावरुण की है। छन्द के आग्रह से आकार का दोनों पदों में संहितापाठ में ह्रस्व हो गया है।

दूळभम्—सायण के अनुसार, दुर् + √दह् + खल्। व्यत्यय से उ को ऊ, र् का लोप, द का ड, ह का भ—ये चार क्रियायें। दुःखेन दह्यते—दुःख से जिसे दग्ध करें वह यज्ञ, अक्षय। √दह् से इसकी व्युत्पत्ति ठीक नहीं है। इसलिए मैकडोनल का कथन है—दुस् + दभ (जिसे लोग धोखा न दे सकें)। √दभ = ठगना। भारोपीय भाषाविज्ञान में इसकी व्युत्पत्ति का प्रकार यों है—दुस् दभ > दुज् दभ > दुज् दभ > दूळभ। मूर्धन्य ध्वनियों के संस्कृत में आगमन के विचार के समय यह प्रश्न उठता है। यही बात निस् + द > नीड में देखी जाती है। आशाथे—√अशू (व्याप्तौ) + लिट् (आथाम् > आथे)। अर्थ है—आप दोनों पहुँचते हैं।

अर्थ—अपने नियम के धारक हे मित्र और वरुण! आप दोनों, जो एक अजेय शक्ति के रूप में हैं, ऋतुदेवता के साथ यज्ञ में पहुँचते हैं।

स्वरविचार—(१) युवम्—युष्मद् (युवद् आदेश) + अम्। 'शेषे लोपः' से टि अथवा अन्तिम द् का लोप। युव + अम्। 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश। भाषा में आकार। युवद् का प्रातिपदिक स्वर। टि लोप के पक्ष में 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (६।१।१६१) से अम् को उदात्त, अन्त्यलोप करते हैं तो 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।४) से एकादेश 'अ' को उदात्त। दक्षम्—√दक्ष् + घञ्। नपुंसकलिंग। जित् के कारण आद्युदात्त। (३) धृतऽव्रता—आमन्त्रित निघात। (४) मित्रावरुण—आमन्त्रित पद है पादादि में रहने से आद्युदात्त हुआ। (५) दुःऽदभम्—दुस् + √दभ् (या √दह्) + खल्। दभ में लित् स्वर से द (अ) उदात्त है। कृदुत्तर पद का प्रकृतिस्वर होने से वही शेष रहा। (६) ऋतुना—प्राति० स्वर। (७) यज्ञम्—पूर्ववत्। (८) आशाथे इति—तिङ्निघात। प्रगृह्य संज्ञक होने से इति-करण।

अष्टाविंश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—७

चाहे अग्निष्टोमादि प्रकृतियाग (अध्वर) हो, चाहे उक्थ्यादि विकृतियाग (यज्ञ) ही क्यों न हों—सर्वत्र ऋत्विज लोग धन की कामना करते हुए

(द्रविणसः) अपने हाथों में सोम की लता को पीसने वाले पाषाणखण्डों को लेकर उन अग्निदेव की वन्दना करते हैं जो धनदाता हैं (द्रविणोदाः) या यजमानों की धनलिप्सा यथेष्ट धन लेकर समाप्त कर देते हैं। [अथवा 'द्रविणोदाः'—धनदाता अग्निदेव (सोमपान करें)]।

द्रविणोदाः—'द्रविण' का अर्थ है 'धन' विशेषतः 'चल संपत्ति'; √द्रु = दौड़ना, चलना। सायण ने दो प्रकार की व्युत्पत्तियाँ दी हैं—(१) द्रविण + √दा + क्विप् = धन देने वाला। पूर्व पद में सकार का आगम छान्दस विधि से, स > रु > उ। (२) द्रविणमात्मन इच्छति—(द्रविण + क्यच्) द्रविणस्यति। क्यच् पर में होने से सुक् का आगम (सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः)। उसके बाद क्विप् प्रत्यय लगाने पर 'अतो लोपः' से य का लोप—द्रविणस् (धनेच्छा)। द्रविणसं = धनेच्छां दस्यति (द्रविणस् + √दस् + क्विप्) उपक्षपयति—द्रविणोदाः। इस प्रकार 'द्रविणोदस्' सकारान्त शब्द हुआ। इस प्रक्रिया से अर्थ होगा—अग्नि यजमान की धनेच्छा का सर्वथा नाश कर देते हैं—इतना धन दे देते हैं कि अधिक धन मांगने की लालसा ही नहीं रह जाती। √दस् = नाश करना।

शब्दार्थ तो हो गया, अब प्रस्तुत मन्त्र में इसकी संगति बैठानी है। यहां भी सायण दो विकल्प रखते हैं—(१) द्रविणोदाः (द्वितीया के अर्थ में प्रथमा) देवम्—द्रविणदाता देवता को। इस विधि से एक ही वाक्य की कल्पना से निर्वाह होता है किन्तु सुप् का व्यत्यय मानना पड़ता है। (२) द्रविणोदाः (अग्निः सोमं पिबतु—इति शेषः)—इसमें भिन्न वाक्य माना गया है और 'पिबतु' का अध्याहार करना पड़ा है—द्रविणोदाः (धनदाता अग्नि) द्रविणसः (सोमरस का) पिबतु (पान करें)।

'द्रविणसः' की दो व्याख्यायें हैं—एक में यह 'ऋत्विजः' (अध्याहृत) का विशेषण है, दूसरे में 'पिबतु' (अध्याहृत) का कर्म। (१) धनेच्छा युक्त ऋत्विज अग्नि की वन्दना करते हैं। (२) धनदाता अग्नि सोमरस का (द्रविणसः) पान करें। प्रथम रीति से प्रथमा बहुवचन, दूसरी रीति से षष्ठी एकवचन। (१) द्रविण + क्यच्—द्रविणस्यति। क्विप्, यलोप पूर्ववत्। द्रविणस् + जस्—द्रविणसः। (२) द्रविण (= धन रूप सोम) + ङस्। सकारागम छान्दस। द्रविणसः।

ग्रावहस्तासः—ग्राव युक्ता हस्ता येषां ते। जिनके हाथ में सोम पीसने के पत्थर हैं। सोम पीसने वाले ऋत्विज। अध्वर और यज्ञ में सायण यहां प्रकृति याग और विकृति याग का अन्तर मानते हैं। अध्वर—ध्वर = हिंसा। हिंसारहित याग।

स्वरविचार—(१) द्रविणःऽदाः—द्रविण (स्) + √दा (√दस्) + क्विप्। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (२) द्रविणसः—(क) द्रविण + ङस्। नियमतः (वृषादिगण) आद्युदात्त। (ख) द्रविण + क्यच् + क्विप्—अन्तोदात्त को रोककर व्यत्यय से आद्युदात्त। (३) ग्रावऽहस्तासः—ग्रावन् शब्द वृषादि से आद्युदात्त है। बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होने से वही शेष रहा। (४) अध्वरे—न + ध्वर। 'नञ्सुभ्याम्' से बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त। (५) यज्ञेषु—√यज् + नङ्। प्रत्ययस्वर। (६) देवम्—√दिव् + अच्। अन्तोदात्त। (७) ईळते—तिङ्निघात।

मन्त्र—८

उपर्युक्त धनदाता अथवा धनेच्छानाशक (द्रविणोदाः) देवता हमें वैसे धन दें जिन्हें हवि के उपयुक्त होने के रूप में हम सुनते आये हैं। उन सभी धनों की हम देवताओं के लिए सेवा करें, उनसे देवताओं का यज्ञ करने के लिए हम उन्हें स्वीकार करते हैं।

शृण्विरे—√श्रु + लिट् (वर्तमान अर्थ में)। झ के स्थान में इरेच्। व्यत्यय से सार्वधातुक मानकर श्नु विकरण लगाया गया है, उसी के संनियोग 'शृ' रूप (श्रुवः शृ च)। 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यणादेश—शृ ण् व् इरे। अर्थ है—सुने जाते हैं, श्रूयन्ते। ता = तानि। तत् + शस् (शि)। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' से लोप करके 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप। वनामहे = सेवा करते हैं। √वन् = सेवा, संभक्ति। व्यत्यय से आत्मनेपद हुआ है।

स्वरविचार—द्रविणःऽदाः—पूर्वमन्त्र की तरह। (२) ददातु तिङ्निघात। (३) नः—अस्मद् आदेश अनुदात्त। (४) वसूनि—√वस्+उ (नित्)। आद्युदात्त। (५) यानि—यत् + शि (शस्)। प्राति० स्वर। (६) शृण्विरे – श्रु + श्नु + इरेच्। चित्—अन्तोदात्त। 'यद्वृत्तान्नित्यम्' से निघातप्रतिषेध। (७) देवेषु—पूर्ववत् चिदन्तोदात्त। (८) ता—प्राति० स्वर। (९) वनामहे—तिङ्निघात।

मन्त्र—९

उक्त द्रविणोदा देवता ऋतुओं के साथ नेष्टा के पात्र से सोम पीना चाहते हैं (पिपीषति)। इसलिए हे ऋत्विजो ! आप लोग हवन के स्थान पर जायें, वहां हवन करें तथा तब कहीं दूसरी जगह प्रस्थान करें।

इसमें चार क्रियापद हैं जिनका अन्वय करने में क्रम इस प्रकार है—पिपीषति, इष्यत, जुहोत, प्रतिष्ठत। प्रथम का कर्ता 'द्रविणोदाः' है, शेष का

अध्याहृत 'ऋत्विजः' (यूयम्) पद । पिपीषति—√पा + सन् । पा पा स् > प पास् > पिपास् । छान्दस ईकार, षत्व होकर पिपीष् + शप् + तिप् = पिपीषति (पातुमिच्छति) = पीना चाहते हैं । जुहोत—√हु + लोट् (थ > त > तप्) । द्वित्व, चुत्व, धातुगुण । प्रतिष्ठत—√स्था के प्र होने से आत्मनेपद होता है किन्तु यहाँ इसलिए नहीं हुआ है कि प्र और स्था के बीच 'च' के द्वारा व्यवधान पड़ गया है । यह 'च' जुहोत के साथ तिष्ठत को जोड़ता है । इष्यत—√इष + श्यन् + थ (त) । √इष=जाना ।

स्वरविचार—(१) द्रविणःऽदाः—पूर्ववत् । (२) पिपीषति—तिङ्निघात । (३) जुहोत—√हु + तप्—हुहुत > जुहोत—'अभ्यस्तानामादिः' की अनुवृत्ति करके 'अनुदात्ते च' के द्वारा आद्युदात्त प्राप्त था किन्तु 'भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति' (६।१।१९२) से ओकार को उदात्त हो गया क्योंकि यह पित् प्रत्यय के पूर्व में है । (४) प्र—उपसर्गस्वर । (५) च—चादयोऽनुदात्ताः । (६) तिष्ठत—तिङ्निघात । च के साथ 'जुहोत' समुच्चित है अतः 'चवायोगे प्रथमा' (८।१।५९) से 'जुहोत' को निघात निषेध हुआ, 'तिष्ठत' अप्रथमा तिङ्विभक्ति है इसलिए निघात हो गया । (७) नेष्ट्रात्—नेष्ट्र + अण् । प्रत्ययस्वर । पोत्र शब्द की तरह यह बना है । (८) ऋतुऽभिः—प्राति० स्वर । (९) इष्यत—तिङ्निघात ।

पहले के तीन मन्त्रों में 'द्रविणोदाः' की स्तुति हो चुकी है, यहां चौथी बार स्तुति हो रही है ।

हे द्रविणोदः ! चूंकि आपको हम ऋतुओं के साथ चौथी बार अर्चन कर रहे हैं, अतः हमारे लिए आप दाता बनें । 'तुरीयम्' = चतुर्थ । यह 'त्वा' का विशेषण है । इसके अन्वय पर सायण स्पष्ट नहीं हैं कि इसे 'चौथी बार' के अर्थ में लें या चतुर्थ द्रविणोदा देवता के अर्थ में । संभवतः प्रथम पक्ष ही उनका होगा । लुड्विग आदि ने 'चतुर्थ स्थान में स्थित' अर्थ किया है क्योंकि इन्द्र, मरुत, त्वष्टा, अग्नि के क्रम में ये चौथे हैं । अध = इसलिए । ददिः = √दा + कि (लिट्) ददिः=दाता ।

स्वरविचार—(१) यत्—प्राति० स्वर (२) त्वा—युष्मदादेश अनुदात्त । (३) तुरीयम्—चतुर + छ (ईय) आद्यक्षर लोप । प्रत्ययस्वर से ईकार उदात्त । (४) ऋतुऽभिः—प्राति० स्वर । (५) द्रविणःऽदः—पादादि में आमन्त्रित है अतः आद्युदात्त । 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) । (६) यजामहे—√यज् + शप् + महिङ् । शप् पित के कारण और तिङ् लसार्वधातुक के कारण अनुदात्त है अतः धातुस्वर शेष रहा । पूर्व में आमन्त्रित अविद्यमानवत् है अतः इस तिङ् को पादादि में ही मानने के कारण निघात

नहीं हुआ। (७) अध—निपातस्वर। (८) स्म—चादयोऽनुदात्ताः। (९) नः—पूर्ववत् अनुदात्त। (१०) ददिः—√दा + कि। प्रत्ययस्वर। (११) भव—तिङ्निघात।

मन्त्र—११

हे अश्विन्-युगल! आप दोनों मधु (मधुर सोमरस) पियें। आप दोनों विद्योतित अग्नि से युक्त हैं (दीद्यग्नी), अपने कर्मों में शुद्ध हैं तथा ऋतुदेव के साथ यज्ञ के निर्वाहक भी हैं।

दीद्यग्नी—दीदि + अग्नि। दिव् + विच्। छान्दस द्वित्व, तुजादि के कारण अभ्यास को दीर्घ। दीदि = कान्तिमान्। अथवा दिव् + यङ् (लुक्)। अभ्यास को गुणाभाव। जिनकी अग्नि दीप्तिमान् है, चमकीली ज्वाला वाले।

शुचिव्रता—शुचि = पवित्र, शुद्ध, स्पष्ट। व्रत=कर्म। पवित्र कर्मों वाले। औकर को आकारादेश—सुपां सुलुक्०। यज्ञवाहसा—यज्ञ + √वह् + असुन् (णित्)। उपधा की वृद्धि। यज्ञं वहतः इति यज्ञवाहसौ। पूर्ववत् आकार। यज्ञ का निर्वाह करने वाले। अश्विन्—युगल ऋतुओं के साथ यज्ञ को निष्पन्न (पूरा) करते हैं।

स्वरविचार—(१) अश्विना—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) पिबतम्—√पा (पिब्) + शप् + तम् (थस् के स्थान में)। शप् तथा तम् (लसार्वधातुक) अनुदात्त हैं। अतएव धातुस्वर शेष रहा। पूर्व में अविद्यमानवत् आमन्त्रित होने से पादादि में निघात नहीं हुआ है। (३) मधु—√मद् + उ (नित्)। आद्युदात्त। (४) दीद्यग्नी इति दीदिऽअग्नी—आमन्त्रित आद्युदात्त। प्रगृह्य होने से इतिकरण। समास होने से द्विरुक्ति, उत्तरवचन में अवग्रह। (५) शुचिऽव्रता—आमन्त्रित निघात। 'दीद्यग्नी' सामान्य वचन (विशेष्य) है, 'शुचिव्रता' विशेषण है अतः 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्' से अविद्यमानवत् नहीं हो सका इसलिए निघात हो गया है। अथवा पूर्व को पराङ्गवत् मानकर भी एकस्वरता की सिद्धि हो सकती है। (६) ऋतुना—प्राति० स्वर। (७) यज्ञऽवाहसा—आमन्त्रित-निघात। सामर्थ्य न होने से पूर्व को पराङ्गवद्-भाव नहीं हुआ है। अन्यथा ऋतुना के साथ यह शब्द आमन्त्रित स्वर लेता।

मन्त्र—१२

हे फलप्रद अग्निदेव (सत्य)! गार्हपत्य के रूप से युक्त ऋतुदेवता के साथ आप यज्ञ के निर्वाहक हैं। देवताओं की कामना करनेवाले यजमान के लिए (देवयते) आप देवताओं की अर्चना करें।

गार्हपत्येन—गृहपति से संयुक्त के अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय हुआ। अग्नि का एक भेद है गार्हपत्य। उसी के माध्यम से अग्निदेव ऋतु के साथ मिलकर यज्ञ का निर्देशन करते हैं। गार्हपत्य वह अग्नि है जिसे सभी गृहस्थ अपने घरों में प्रज्वलित रखते थे। इसी से यज्ञ में उपयुक्त अग्नि का भी प्रज्वलन होता था।

सन्त्य—षणु (दाने) + क्तिच् = सन्ति (=दान)। सन्ति + यत् = सन्त्यः। संबुद्धि में सन्त्य = फलप्रद! यज्ञं नयतीति यज्ञनीः। यज्ञ + √नी + क्विप्। यज्ञनिर्देशक, यज्ञ के निर्वाहक। देवयते—देव + क्यच् + शतृ=देवयत्। ङे (चतुर्थी एकवचन)—देवयते। अपने लिए देवताओं की कामना करने वाले यजमान के लिए। क्यच् प्रत्यय करने पर देव शब्द में 'क्यचि च' से प्राप्त ईकार नहीं होता क्योंकि 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' से निषेध हो जाता है। देवान् यज=देवताओं की अर्चना करें।

स्वरविचार—(१) गार्हऽपत्येन—गृहऽपति + ञ्य। ञित्-आद्युदात्त। गृहपति में अवग्रह होने से सत्कार्यवाद के नियम से उससे बने गार्हपत्य में अवग्रह है। (२) सन्त्य—आमन्त्रित निघात। (३) ऋतुना—प्राति० स्वर। (४) यज्ञऽनीः—कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (५) असि—तिङ्निघात। (६) देवान्—√दिव् + अच्। चित्—अन्तोदात्त। (७) देवऽयते—देव + क्यच् + शतृ + ङे। क्यच् को (चित्) अन्तोदात्त, शप् अनुदात्त, शतृ लसार्वधातुक स्वर से अनुदात्त है—किन्तु उदात्त के साथ दोनों अनुदात्तों का एकादेश ('य' में) होने पर उदात्त ही बचा अर्थात् देवयत् अन्तोदात्त है; अब अन्तोदात्त के बाद आने वाली विभक्ति को 'शतुरनुमो नद्यजादी' सूत्र से उदात्त हो गया। (८) यज—'तिङ्ङतिङः' से निघात।

ऊनत्रिंश वर्ग समाप्त।

सूक्त—१६

चतुर्थ अनुवाक का यह पञ्चम सूक्त है जिसमें ९ ऋचायें हैं। ऋषि और छन्द पूर्ववत् हैं। कोई विशेष आदेश न रहने से इसके देवता इन्द्र हैं। प्रातः सवन में मैत्रावरुण के उन्नयन-काल में पूरे सूत्र का विनियोग होता है। पुनः षोडशिशस्त्र में 'आ त्वा वहन्तु हरयः' आदि तीन ऋचाओं का विनियोग होता है।

सूक्त का आशय है कि इन्द्र को सोमपान के लिए घोड़े सुखद रथ पर ले आयें। सोमसवन के बाद इन्द्र तुरत आकर अपना भाग पियें। इस

सोमपान से इन्द्र को बल (आवेग) की प्राप्ति होती है। इन्द्र की स्तुति और सोमपान, ये दो विषय सूक्त में मुख्य हैं।

मन्त्र—१

हे इन्द्र, आप कामनाओं के पूरक हैं, आपको सोमपान करने के लिए घोड़े इस कर्म में (यज्ञ में) ले आयें। आपको सूर्य के समान प्रकाश वाले [ऋत्विज अपनी स्तुतियों से अभिव्यक्त करें।] इस प्रकार सायण 'सूरचक्षसः' शब्द से पृथक् वाक्य की कल्पना करते हैं जिससे कुछ पदों का अध्याहार करना पड़ता है। वस्तुतः यह 'हरयः' का ही विशेषण है। इन्द्र के पीले घोड़े (हरयः) सूर्य की तरह दिखलायी पड़ते हैं, बहुत चमकीले हैं। वृषणम् = कामानां वर्षितारम् (सायण)। लक्षणा से इसका अर्थ दृढ़, सबल आदि है। सूरचक्षसः सूर = सूर्य, चक्षस् = प्रकाश। सूर्य की तरह कान्तिमान्।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्गस्वर। (२) त्वा—युष्मदादेश अनुदात्त। (३) वहन्तु—तिङ्निघात। (४) हरयः—√हृ + इन्। नित्-आद्युदात्त। (५) वृषणम्—√वृष् + कनिन्। नित्-आद्युदात्त। (६) सोमऽपीतये—देखें १।१४।१ (७) इन्द्र—आमन्त्रित आद्युदात्त। (८) त्वा—(९) सूरेऽचक्षसः—सूरवद् ख्यानं येषां ते। पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद में 'सूर'—√सु + क्रन्—आद्युदात्त है, वही शेष रहा।

मन्त्र—२

दोनों घोड़े (हरी) इन्द्र को उनके सर्वाधिक सुखद रथ पर चढ़ाकर यज्ञ में बिखरे हुए इन यव-तण्डुल कणों (धानाः) के उद्देश्य से ले आयें जो घृत से सने हैं, जिनसे घी चू रहा है।

धानाः—यव और तण्डुल के रखे हुए दाने। ये दाने यज्ञ में प्रयोग करने के लिए घृत में भिगाकर कुश पर रखे हुए हैं। घृत स्नुवः—घृतं स्नुवन्ति। जो घृत चुला रहे हैं, घृताक्त। वक्षतः—√वह (प्रापणे) + लेट् (तस्)। अट् और सिप्। ह > ढ (हो ढः), ढ > क (षढोः कः सि), स > ष (आदेशप्रत्यययोः)। सुखतमे—सर्वाधिक सुखद। सुख + अ = सुखः (सुखदेने वाला)। सुख + तमप् = सुखतमः।

स्वरविचार—(१) इमाः—प्राति० स्वर। इदम् (स्त्री०) + शस्। (२) धानाः—√धी + न + टाप्। प्रत्ययस्वर। (३) घृतऽस्नुवः—घृत + √स्नु + क्विप् = घृतस्नूः। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। शस् में उवङ् आदेश। (४) हरि इति—हृ + इन्। आद्युदात्त। प्रगृह्य संज्ञा होने से

इतिकरण, संधि का अभाव। (५) इह—इदम् + ह। प्रत्ययस्वर। (६) उप—उपसर्गस्वर। (७) वक्षतः—तिङ्निघात। (८) इन्द्रम्—√इदि + रन् (निपातन से)। नित्-आद्युदात्त। (९) सुखऽतमे—सुख + अ + तमप्। अ प्रत्यय का स्वर। (१०) रथे—रम् + क्थन्। नित्—आद्युदात्त।

मन्त्र—३

इन्द्र को प्रातःकाल हम बुला रहे हैं, अध्वर के प्रक्रान्त अर्थात् आरम्भ हो जाने पर (मध्याह्न सवन) भी उन्हें बुलाते हैं, [उसी प्रकार तृतीय सवन में भी] सोमपान के लिए इन्द्र को हम बुलाते हैं। सायण तीनों सवनों में इन्द्र के आह्वान का अर्थ इसमें करते हैं। किन्तु इन्द्र का तीन बार प्रयोग होने से ही तीन वाक्य नहीं हो सकते। क्रिया 'हवामहे' तो एक ही है। वास्तव में प्रातःसवन में ही इन्द्र को सोमपान के लिए बुलाया जा रहा है जब कि यज्ञ का आरम्भ हो चुका हो। बलाघात के लिए 'इन्द्र' का तीन बार प्रयोग भले ही हो सकता है।

प्रयति—प्र + √इ + शतृ। प्रगच्छति, प्रक्रान्ते वा। शतृ प्रत्यय वर्तमान-काल में होता है अतः अर्थ होगा—यज्ञारंभ के समय।

स्वरविचार—(१, ४, ७) इन्द्रम्। (२) प्रातः—'स्वर्' आदि में अन्तोदात्त के रूप में निपातन। (३) हवामहे—तिङ्निघात। (५) प्रऽयति—'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' (परि० २८) से, 'प्र + √इ + शतृ' होने पर पूरे शब्द को शत्रन्त कह सकते हैं। फलतः 'शतुरनुमो नद्यजादी' (६।१।१७३) से विभक्ति को उदात्त होगा। (६) अध्वरे—न ध्वरो यस्य। 'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्त। (८) सोमस्य—√सु + मन्। आद्युदात्त। (९) पीतये—√पा + क्तिन्। छान्दस अन्तोदात्त।

मन्त्र—४

हे इन्द्र-देवता! अपने केशयुक्त (सकेसर) घोड़ों की सहायता से आप हमारे इस प्रस्तुत सोमरस के निकट आइये। कारण यह है कि सोम चुला लिए जाने पर ही हम आपको बुला रहे हैं।

आगहि = आगच्छ, आइये। आ + √गम् + लोट् (सिप् > हि)। शप् का छान्दस लोप कर देने से छकारादेश नहीं हुआ। 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से अनुनासिक म् का लोप, आभीय प्रकरण में असिद्ध हो जाने के कारण 'अतो हेः' से हि को लुक् नहीं हुआ। हरिभिः—पीले घोड़ों से। केशिभिः—√क्लिश् + अन् = केश, इति प्रत्यय लगाने पर केशिन्।

स्वरविचार—(१) उप—निपातस्वर से आद्युदात्त। (२) नः—अस्मद् का आदेश होने से अनुदात्त। 'बहुवचनस्य वस्नसौ'। (३) सुतम्—√सु + क्त। प्रत्ययस्वर। (४) आ—उपसर्गस्वर। (५) गहि—तिङ्निघात। (६) हरिऽभिः—√हृ + इन्। नित्—आद्युदात्त। (७) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (८) केशिऽभिः—केश + इनि। प्रत्ययस्वर। (९) सुते—√सु + क्त। प्रत्ययस्वर। (१०) हि—निपातस्वर। (११) त्वा—युष्मदादेश, 'त्वामौ द्वितीयायाः' से अनुदात्त। (१२) हवामहे—√ह्वेञ् (हु–हो–हव्) + लट् (महिङ्)। हव् + शप् + महे। शप् पित् के कारण तथा तिङ् लसार्वधातुक के कारण अनुदात्त है अतः धातुस्वर ही शेष रहा। 'हि च' के कारण निघातप्रतिषेध हुआ है।

मन्त्र—५

इसलिए, हे इन्द्र! आप हमारी इस स्तुति के निकट आयें, इस समय चुलाये गये सोम से युक्त प्रातःसवनादि कर्म हो रहे हैं। हे इन्द्र! आप गौरमृग की तरह तृष्णायुक्त होकर सोम का पान करें। जिस तरह प्यासा मृग पानी पीता है उसी तरह आप सोम पियें।

'इदं सवनं सुतम्' का अन्वय सायण पृथक् वाक्यखंड में करते हैं। किन्तु यह 'आ गहि' का ही कर्म मालूम पड़ता है। आप हमारे सोम में तो आयें ही, प्रस्तुत सवन में भी चले आवें। गौरमृग से इन्द्र की तुलना की गयी है। न= इव, तरह। तृषितः—√ञितृष + क्त। पिपासायुक्त।

स्वरविचार—(१) सः—प्रातिपदिकस्वर। (२) इमम्—प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। सः + इमम् का संहितापाठ में सुलोप और संधि—'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' (६।१।१३४) से। 'सोमम्' दोनों उदात्त हुए। (३) नः—अस्मदादेश अनुदात्त। (४) स्तोमम्—√स्तु + मन्। नित्—आद्युदात्त। (५) आ—उपसर्ग स्वर। (६) गहि—तिङ्निघात। (७) उप—उपसर्गस्वर। (८) इदम्—प्राति० स्वर। (९) सवनम्—√सु + ल्युट्। लित्—प्रत्यय के पूर्व उदात्त। (१०) सुतम्—पूर्ववत्। (११) गौरः—प्राति० स्वर। (१२) न—निपातस्वर। (१३) तृषितः—तृष् + इट् + क्त। प्रत्ययस्वर। आगम अनुदात्त हैं—पतञ्जलि। (१४) पिब—तिङ्निघात।

त्रिंश वर्ग समाप्त।

मंत्र—६

ये सोमरस भिंगा देनेवाले (शुष्कता दूर करने वाले) हैं, यज्ञ में (बर्हिषि) अधिक मात्रा में ये प्रस्तुत किये गये हैं। हे इन्द्र! आप इन्हें बल-प्राप्ति के

लिए पियें। सायण 'सुतासो अधि बर्हिषि' का अर्थ करते हैं—यज्ञ में अधिक मात्रा में प्रस्तुत हैं। किन्तु 'अधि' अधिकरणद्योतक निपात है बर्हिषि अधि= कुश पर। सहस् = बल।

अर्थ—ये सोमबिन्दु कुश पर व्यक्त हो रहे हैं, इन्द्र ! आप इन्हें बललाभ के लिए पियें।

स्वरविचार—(१) इमे—प्राति० स्वर। (२) सोमास—√सु + मन्। नित्—आद्युदात्त। (३) इन्दवः—√उन्दी (क्लेदने) + उ (नित्) आद्युदात्त। (४) सुतासः—√सु + क्त। प्रत्ययस्वर। 'अधि' के साथ संधि करने पर 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' से सुतासो अधि। (५) अधि—निपात स्वर। (६) बर्हिषि—√बृंह + इस्। प्रत्ययस्वर। (७) तान्—प्राति० स्वर। 'दीर्घादटि समानपादे' से रु, 'आतोऽटि नित्यम्' मे अनुनासिक। (८) इन्द्र—आमन्त्रित निघात। (९) सहसे—√षह् (मर्षणे) + असुन्। नित् के कारण आद्युदात्त। (१०) पिब—तिङ्निघात।

मन्त्र—७

हे इन्द्र ! हम लोगों की यह स्तुति सर्वश्रेष्ठ है, आपके हृदय का स्पर्श करते हुए, यह आपके लिए परम सुखद बने। स्तुति हो जाने के बाद इस तैयार सोमरस का पान आप करें।

अग्रियः—अग्र से यत्, घच् और छ प्रत्यय होते हैं, यहाँ घच् (इय) प्रत्यय लगा। अर्थ है—श्रेष्ठ, सबसे प्रथम उत्पन्न। हृदिस्पृक्—हृदि स्पृशति। हृद्+√स्पृश्+क्विन्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से अलुक्। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से श् को क्। हृदय को छूनेवाला, आपके हृदय या मन को आकर्षक लगने वाला। शंतमः—शम् = सुख, कल्याण। सबसे अधिक सुख देनेवाला।

स्वरविचार (१) अयम्—प्रातिपदिकस्वर। (२) ते—युष्मद् का आदेश, अनुदात्त। (३) स्तोमः—√स्तु + मन्। नित्—आद्युदात्त। (४) अग्रियः—अग्र + घच्। चित्—अन्तोदात्त। (५) हृदिऽस्पृक्—कृदुत्तर पद का प्रकृतिस्वर। (६) अस्तु—तिङ्निघात। (७) शम्ऽतमः—प्राति० स्वर से शम् को उदात्त। तमप् पित (अनुदात्त) है। (८) अथा—निपात आद्युदात्त। छान्दस दीर्घ। (९) सोमम्—√सु + मन्। आद्युदात्त। (१०) सुतम्—√सु + क्त। प्रत्ययस्वर। (११) पिब—तिङ्निघात।

मन्त्र—८

वृत्र या शत्रु का विनाश करनेवाले इन्द्र-देवता सोमरस के पान के लिए तथा तज्जन्य आनन्द के लिए सभी प्रस्तुत सोमसवनों में पहुँच जाते हैं।

- विश्वमित्—सबों में; कोई पक्षपात नहीं है। मदः—√मद् + अप्। आनन्द, सोमपात के अनन्तर प्राप्त बुद्धिवैशद्य। वृत्रहा—वृत्र के विनाशक, इन्द्र का विशेषण। वृत्र + √हन् + क्विप्। 'सौ च' (६।४।१३) से दीर्घ। सुतं सवनम्—प्रस्तुत सवनों में। सोमस्य पीतिर्यस्मिन्यागे स सोमपीतिः (बहुव्रीहि)।

स्वरविचार—(१) विश्वम्—√विश् + क्वन्। नित्—आद्युदात्त। (२) इत्—निपात उदात्त। (३) सवनम्—√सु + ल्युट्। लित्—प्रत्यय के पूर्व को उदात्त। (४) सुतम्—√सु + क्त। प्रत्ययस्वर। (५) इन्द्रः—रन् प्रत्ययान्त निपातन, आद्युदात्त। (६) मदाय—√मद् + अप्। धातुस्वर। (७) गच्छति—तिङ्निघात। (८) वृत्रऽहा—वृत्र + √हन् + क्विप्। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (९) सोमऽपीतये—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर (सु + मन् = सोम आद्युदात्त)। अथवा तत्पुरुष समास में 'दासीभार' आदि गण (६।२।४२) के कारण पूर्वपद का प्रकृतिस्वर।

मन्त्र—९

तो, हे शतक्रतो ! आप हमारी इस कामना की पूर्ति गायों और अश्वों से करें। अच्छी तरह ध्यान लगाकर हम आपकी स्तुति कर रहे हैं। कामम् आ पृण=काम्य फल की आपूर्ति करें। पृण—√पृण् + लोट (सिप् > हिं—लोप), हे इन्द्र ! आप गायों और अश्वों का दान करें। 'शतक्रतु' = शत-शत शक्तियों से युक्त इन्द्र।

स्तवाम—√ष्टुञ् (स्तुतौ) + लोट् (मस्)। ङित् के कारण सलोप। 'आडुत्तमस्य पिच्च' (३।४।९२) से आट् का आगम। हम स्तुति करें। स्वाध्यः—सुऽआध्यः = सु + आ + √ध्यै + क्विप्। अच्छे विचारों से युक्त होकर, सुन्दर ध्यान युक्त होकर।

स्वरविचार—(१) सः (२) इमम् (३) नः—५ वें मन्त्र की तरह। (४) कामम्—√कम् + घञ्। 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (६।१।१५९) से अन्तोदात्त प्राप्त था किन्तु उसे रोककर वृषादिगण के कारण आद्युदात्त हो गया। (५) आ—उपसर्ग। (६) पृण—तिङ्निघात। (७) गोभिः—गो का प्राति० स्वर। 'सावेकाचः०' से विभक्ति को उदात्त होना था किन्तु 'न गोश्वन्साववर्ण०' से प्रतिषेध हुआ। (८) अश्वैः—√अस् + क्वन्। नित्—आद्युदात्त। (९) शतक्रतो इति शतऽक्रतो—प्रगृह्य संज्ञा होने से इति-करण। आमन्त्रित निघात। समास होने से द्विरुक्ति, द्वितीय पद में अवग्रह।

(१०) स्तवाम—√स्तु + आट् + मस्। आट् पित् है अतः धातुस्वर

शेष रहा। पादादि में तिङ् का निघात नहीं हुआ है। (११) त्वा—युष्मदादेश अनुदात्त। (१२) सुऽआध्यः—सु + आ + √ध्यै (संप्रसारण धि) + क्विप्। स्वाधि + जस्—'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (६।४।८२) से यणादेश। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से उत्तर पद का प्रकृतिस्वर। स्वाधि में इ उदात्त है, जस् का अ स्वरित (पराधीन)। दोनों का यणादेश होने पर—'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) से यः को स्वरित (क्षेप्र) हो गया।

एकत्रिंश वर्ग समाप्त

मन्त्र—१

मैं इन्द्र और वरुण देवताओं की सहायता की कामना करता हूँ, ये दोनों सम्राट् हैं (= सम्यक् राज्य से युक्त, या सम्यक् दीप्यमान हैं)। हमारी उक्त कामना या वरण के कारण वे दोनों हमें सुखी करें (मृळातः)।

वीरों के प्रतिरूप इन्द्र तथा राजा वरुण को एक साथ संबोधित करते हुए उनसे सहायता मांगी जा रही है। सम्राजोः—राजाओं के राजा। सम् + √राज् (शोभा) से व्युत्पन्न मानकर सायण इन्हें 'दीप्यमान' विशेषण से अलंकृत करते हैं। किन्तु उनका प्रथम अर्थ ही वैदिक परम्परा और प्रयोग के अनुरूप है। √राज्=शासन करना, भारोपीय—reg (रेग्य्) = शासन लालित—regere (शासन करना), rex = राजा। इन्द्र और वरुण को सम्राट् के रूप में देखने की वैदिक परम्परा प्रसिद्ध है। अवः = रक्षा, सहायता। √अव् + असुन्। मृळातः—√मृड (सुखने) + लेट् (तस्)। आडागम, शविकरण। ईदृशः—इदम् + √दृश् (देखना) + कञ्। उपपद समास में इदम् को ईश् आदेश। ईदृशे = इस प्रकार का वरण होने से। निमित्त सप्तमी है।

स्वरविचार—(१) इन्द्रावरुणयोः—इन्द्र में रन् तथा वरुण में उनन् प्रत्यय होने से दोनों शब्द नित् के कारण आद्युदात्त हैं। 'देवताद्वन्द्वे च' से समास में पूर्वपद को आनङ् आदेश, 'उभे युगपत्' के प्रसंग में 'देवताद्वन्द्वे च' से दोनों का प्रकृतिस्वर। (२) अहम्—अस्मद् का आदेश, प्राति० स्वर। (३) समऽराजोः—सम् + √राज् + क्विप्। म् को अनुस्वार प्राप्त होने पर 'मो राजि समः क्वौ' से मकारादेश। कृदुत्तर पद का प्रकृतिस्वर होने से आकार उदात्त। (४) अवः—√अव् + असुन् (भावे)। नित् आद्युदात्त। (५) आ—उपसर्ग स्वर। (६) वृणे—तिङ्निघात। (७) ता—(तौ)—प्राति० स्वर। (८) नः—आद्युदात्त अस्मदादेश। (९) मृळातः—

तिङ्निघात। (१०) ईदृशैः—इदम् + √दृश् + कञ्। उत्तरपद ञित् के कारण आद्युदात्त है, 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से वही शेष रहा।

मन्त्र—२

हे इन्द्र और वरुण! आप अपने अनुष्ठाता की रक्षा के लिए (अवसे), मेरे जैसे ब्राह्मण के आह्वान के निकट अवश्य जाते हैं। आप सभी मनुष्यों का भरण-पोषण करके उन्हें धारण करनेवाले हैं।

गन्तारा=गन्तारौ (गमनशील)। 'हवम्' से संबद्ध है—ऋत्विज के आवाहन पर जानेवाले। अवसे—√अव् + असुन् + ङे। रक्षा के लिए। सायण के अनुसार √अव् + असेन् (तुमुन् के अर्थ में) = अवितुं रक्षितुम्। दोनों विधियों से स्वर में एकरूपता ही रहेगी। हवम्—√ह्वेञ् + अप्। संप्रसारण।

मावतः—अस्मद् + वतुप् (सादृश्यार्थ में)। अस्म>म (प्रत्ययोत्तर-पदयोश्च) द्>आ (आ सर्वनाम्नः) = म + आ + वत् (मेरी तरह), मावत्। धर्तारा (रौ) = धारक। चर्षणीनाम् = मनुष्याणाम्। विशेष विवरण देखें—ऋ० १।७।८९। यहाँ सायण 'कृषेरादेश्च चः' (उ० २।२६१) से कृष् + अनि प्रत्यय लगाकर इसकी सिद्धि करते हैं।

स्वरविचार—(१) गन्तारा—√गम् + तृन् (ताच्छील्य)। नित—आद्युदात्त। औ के स्थान में डा—आदेश। (२) हि—निपातस्वर। (३) स्थः—'हि च' मे निघात निषेध, इसलिए स्वर रहा (प्रत्यय में)। (४) अवसे—असुन् या असेन् से अन्त होने के कारण आद्युदात्त। स्थः + अवसे दोनों उदात्तों की अभिनिहित संधि—स्थोऽवसे। (५) हवम्—√ह्वेञ् (>हु) + अप्। धातुस्वर। (६) विप्रस्य—√वप् + रन् (निपातन)। नित्—आद्युदात्त। (७) माऽवतः—अस्मद् (म + आ) +वतुप्। प्रत्यय पित है, अतः प्राति० स्वर। (८) धर्तारा—√धृ + तृच्। चित्—अन्तोदात्त। (९) चर्षणीनाम्—√कृष् + अनि। प्रत्ययाद्युदात्त रोककर छान्दस अन्तोदात्त। अन्तोदात्त के बाद विभिक्ति को ही 'नामन्यतरस्याम्' से उदात्त हो गया है।

मन्त्र—३

हे इन्द्र और वरुण! आप हमारी इच्छा (कामना) के अनुसार, अथवा हम जब-जब धन की कामना करें तब-तब, हमें धन प्रदान करके तृप्त करें। हम तो यही याचना करते हैं कि उक्त रूप में आप दोनों हमारे निकटतम (नेदिष्ठ) रहें।

अनुकामम्—(१) कामस्य पश्चात्, कामनानुसार, हमारी इच्छा के

अनुकूल। (२) कामे-कामे—प्रत्येक कामना में, प्रति कामना की पूर्ति करके। (३) अपनी इच्छा के अनुसार, 'कामम्' के अर्थ में (ग्रिफिथ)। किन्तु यह असंगत अर्थ है क्योंकि भक्त अपनी याचना में, वेदों की परंपरा में, अपनी कामना पर ही बल देता है।

राय आ तर्पयेथाम्—धन से हमें संतुष्ट करें। रायः (प्रदानेन)—धन का दान करके। नेदिष्ठम्—अन्तिक (नेद आदेश) + इष्ठन्। 'निकटतम' ईमहे—√ईङ् (गतौ)। श्यन् का लोप। ङित् के कारण आत्मनेपद।

स्वरविचार—(१) अनुऽकामम्—अव्ययीभाव समास में अम् आदेश। 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त। (२) तर्पयेथाम्—तिङ्-निघात। (३) इन्द्रावरुणा—आमन्त्रित आद्युदात्त। संहितापाठ में आकार को ह्रस्व। (४) रायः—'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' से विभक्ति को उदात्त। (रै + ङस्)। (५) आ—उपसर्गस्वर। (६) ता—(तौ)—प्राति० स्वर। (७) वाम्—युष्मदादेश, 'युवयोः' के स्थान में। अनुदात्त—'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (८।१।२०) (८) नेदिष्ठम्—अन्तिक + इष्ठन्। नित्—आद्युदात्त। (९) ईमहे—तिङ्निघात।

मन्त्र—४

इन्द्र

इन्द्र और वरुण को सम्बोधित इस मंत्र का अर्थ कुछ अस्पष्ट-सा है। सायण ने यह अर्थ दिया है—चूंकि हमारे कर्मों से सम्बद्ध (शचीनां) सोमरस के रूप में विद्यमान हवि पवित्र जल से अथवा दूध, सत्तू आदि पदार्थों से मिश्रित (युवाकु) है, पुनः सद्बुद्धि युक्त ऋत्विजों के स्तोत्र के रूप में स्थित वचन भी नाना प्रकार के गुणों से मिश्रित (युवाकु) है—अतः आप दोनों की कृपा से हम अन्न प्रदान करनेवाले पुरुषों में (वाजदाव्नाम्) अग्रणी बने रहें। इस प्रकार सायण युवाकु = मिश्रित (√यु मिश्रणे) लेकर हवि तथा स्तोत्र के मिश्रण की बात यहाँ करते हैं। हमारा हवि भी मिश्रित है, स्तोत्र भी। इस आधार पर हम अन्न देनेवाले यजमानों में अग्रणी अवश्य होंगे।

शची (स्त्री०) = शक्ति; सायण के अनुसार—कर्म। युवाकु—युवां कामयमानाः वयम् (आप दोनों की सहायता लेनेवाले)। शक्ति के विषय में आपकी सहायता लेने वाले, आप दोनों की शक्ति के अभिलाषी। वस्तुतः इसका अन्वय कठिन है। शचीनां युवाकु—युवयोः शचीनां शक्तीनां कामनावन्तो वयम्। सायण का अर्थ ऊपर दिया गया है।

सुमतीनां युवाकु—आपकी शोभन बुद्धि (भक्ति, सद्भावना) के हम अभिलाषी हैं। 'वाजदाव्नाम्' भी 'शचीनाम्' के साथ ही है—वाज=शक्ति, दावन् (√दा + वनिप्) = देनेवाला। षष्ठी में 'वाजदाव्नाम्'। अर्थ होगा—शक्ति प्रदान करने वाले देवताओं की अभिलाषा हम करें। वाजदाव्नां युवाकु (इच्छुकाः—लक्षणया) वयं भूयाम। वैसे अन्तिम पाद में सायण का अर्थ भी ग्राह्य है—हम अन्न दान करने वालों में अग्रणी हों।

अर्थ—हम आप दोनों की शक्तियों के इच्छुक, आपके सद्भाव के इच्छुक तथा शक्तिप्रद देवताओं के भी इच्छुक हों (या अन्नदाताओं में हमारा स्थान बना रहे)।

स्वरविचार—(१) युवाकु—√यु + काकु। उवङ् आदेश। प्रत्यय का आद्युदात्त। (२) हि—निपातस्वर। (३) शचीनाम्—शार्ङ्गरवादिगण के कारण ङीन् होने से आद्युदात्त (देखें काशिका, ६।२।१४०)। (४) युवाकु। (५) सुऽमतीनाम्—देखें १।४।३ मंत्र में। सुमति अन्तोदात्त है ('नञ्सुभ्याम्' से अथवा कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर से क्तिन् उदात्त का शेष रहना)। तब 'नामन्यतरस्याम्' से विभक्ति को उदात्त हो गया। (६) भूयाम—√भू + यासुट् + मस्। सतिशिष्ट होने से यासुट् का उदात्त शेष रहा। (७) वाजऽदाव्नाम्— वाजं ददातीति वाजदावा। वाज + √दा + वनिप्। उत्तरपद में धातुस्वर—कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर होने से वही शेष रहा।

मन्त्र—५

सहस्र संख्यक धन प्रदान करनेवाले देवताओं में इन्द्र ही क्रतु अर्थात् धन देनेवाले हैं, वरुण स्तुत्य देवताओं के मध्य स्वयं भी स्तुत्य हैं (उक्थ्यः)। इस प्रकार सायण दोनों देवताओं को पृथक्-पृथक् वाक्य में रखते हैं। किन्तु दोनों को एक साथ दोनों विशेषणों का स्वाद लेने दें, तो कोई आपत्ति नहीं।

सहस्रदाव्नाम्—सहस्र + √दा + वनिप्। सहस्र धनों के दाताओं के बीच। शंस्यानाम्—स्तुति के योग्य देवों के बीच। इन्द्र और वरुण सहस्रदाताओं तथा स्तुत्यों के बीच······।

क्रतुः—√कृ + कतु। 'कर्त्ता', धनदानकर्ता। वस्तुतः इसका अर्थ 'शक्ति' है। उक्थ्यः—उक्थ + यत्। शस्त्र (उक्थ) के द्वारा स्तुत्य। (इन्द्र और वरुण) प्रशंसनीय शक्ति के रूप में हैं। द्विवचन के स्थान वाक्य-भेद से काम चलाने का यह वैदिक उदाहरण है।

स्वरविचार—(१) इन्द्रः—रन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त। (२) सहस्रऽदाव्नाम—कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर, उत्तरपद में √दा + वनिप् होने से

धातुस्वर। (३) वरुणः—√वृ + उनन्। नित्—आद्युदात्त। (४) शंस्यानाम्—√शंसु + ण्यत्। 'तित्स्वरितम्' को रोककर 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (६।१।२१४) से आद्युदात्त। शंसिआनाम् पढ़ना होगा। (५) क्रतुः—√कृ + कतु—यणादेश। प्रत्ययस्वर। (६) भवति—तिङ्निघात। (७) उक्थ्यः—उक्थ + यत्। 'तित्स्वरितम्' से स्वरित। 'यतोऽनावः' से दो अच् होने पर भी आद्युदात्त नहीं हुआ, क्योंकि सभी विधियाँ छन्द में वैकल्पिक होती हैं। सायण ने यहाँ कुछ शास्त्रार्थ उठाया है जो अप्रसक्त होने से हम छोड़ देते हैं।

द्वात्रिंश वर्ग समाप्त।

मंत्र—६

इन दोनों देवताओं—इन्द्र और वरुण—की ही सहायता या रक्षा से हम लोग (अनुष्ठातृ-गण) धन की प्राप्ति करें। उस धन से अपेक्षित राशि का उपभोग करके अवशिष्ट निधि के रूप में बचा कर रखें (निधीमहि च)। यही नहीं, हमें तो प्ररेचन (उपभोग और संग्रह से भी अधिक) धन मिलना चाहिए।

अवसा—√अव् + असुन् = अवस् (रक्षा, सहायता)। सनेम—√षणु + लिङ् (मस्)। प्राप्त करें। इसका कर्म 'धन' अध्याहृत होता है। धीमहि—√धा + महिङ् (लिङ्)। निहित करें, बचा रखें। उत प्ररेचनं स्यात्—वह धन उक्त उपभोगों से भी अधिक हो। √रिच् = विरेचन।

स्वरविचार—(१) तयोः—तत् का प्राति० स्वर। (२) इत्—निपातस्वर। (३) अवसा—√अव् + असुन्। नित्—आद्युदात्त। (४) वयम्—अस्मद् का वय आदेश, प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। (५) सनेम—पादादि में होने से निघातनिषेध। √सन + यासुट् (>इय्) + मस् (सलोप)—सन + इ + म—(गुण) सनेम, यासुट् का सतिशिष्ट स्वर शेष रहा जिससे ए उदात्त है। (६) नि—उपसर्गस्वर। (७) च—चादयोऽनुदात्ताः। (८) धीमहि—तिङ्निघात। (९) स्यात्—यादादि में निघाताभाव, √अस् + यासुट् + तिप्। यासुट् स्वर, उदात्त। (१०) उत—'एवादीनामन्तः' से अन्तोदात्त। (११) प्रऽरेचनम्—प्र + √रिच् + ल्युट्। लित् के कारण प्रत्यय के पूर्व रे (ए) को उदात्त, कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर से वही शेष रहा।

मन्त्र—७

यजमान का ऋत्विज कह रहा है कि हे इन्द्र और वरुण! विभिन्न प्रकार के (मणि, मुक्तादि के रूप में) धन की प्राप्ति के लिए (चित्राय राधसे) आप

दोनों को मैं बुला रहा हूँ। आप भी हम अनुष्ठाताओं को विजयी कर दें (हमें शत्रुओं पर विजयी बनावें)।

वाम् = युवाम् (आप दोनों को)। युष्मद् का द्वितीया द्विवचन रूप है। अहं हुवे—मैं बुलाता हूँ। √ह्वेञ् + लट् (इट्)। संप्रसारण, परपूर्वत्व। उवङादेश—हुव् + ए (टित आत्मनेपदानां टेरे)। चित्राय=विभिन्न प्रकार के। राधसे = धन के लिए। राधस् = धन। √राध् + असुन्। अस्मान् + सु = अस्मान्त्सु। 'नश्च' से धुडागम। जिग्युषः – √जि + क्वसु + शस्। द्वित्व, द्वितीय को कुत्व—'सन्लिटोर्जेः'। भ – संज्ञा होने पर 'वसोः संप्रसारणम्'—जि गि उस् + शस्। 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से यणादेश, 'शासिवसिघसीनां च' से षत्व—जिग्युष् + अस् = जिग्युषः (जययुक्तान्)। हो विजययुक्त करें। कृतम्—कृ + लोट् (थस् > तम्)। शप् का छान्दस लोप। लोक में 'कुरुतम्'।

स्वरविचार—(१) इन्द्रावरुणा—आमन्त्रित आद्युदात्त। (२) वाम्—युष्मदादेश अनुदात्त। (३) अहम्—प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। (४) हुवे—ह्वे (हु) + इट्। प्रत्ययस्वर। पादादि में होने से तिङ् का निघात नहीं हुआ। (५) चित्राय—प्राति० स्वर। (६) राधसे—√राध् + असुन्। आद्युदात्त। (७) अस्मान्—प्राति० स्वर। (८) सु—निपात-स्वर। (९) जिग्युषः—√जि + क्वसु + शस् – क्वसु प्रत्यय का स्वर। उस् होने पर उ उदात्त। (१०) कृतम्—तिङ्निघात।

मन्त्र—८

हे इन्द्र और वरुण! आप दोनों की सेवा करने की इच्छा रखने वाली जब हमारी बुद्धियां (कामनायें) होती हैं, तभी आप हमें सुख (शर्म) प्रदान करें।

वां सिषासन्तीषु धीषु—भावलक्षण में सप्तमी विभक्ति। जब हमारी बुद्धि आप की सेवा करना चाहती है तब०…। √सन् (सेवा) + सन् + शतृ + ङीप्। सन् के न् को 'जनसनखनां सञ्झलोः' से आकार। 'आदेश-प्रत्यययोः' से षत्व। सिषासन्ती = सनितुम् इच्छन्ती। धी=प्रार्थना। जब हमारी प्रार्थनायें आप की सेवा करना चाहती हैं तब आप हमें सुख तुरत दें। तु = तुरत। अतिशय द्योतक के लिए द्वित्व।

शर्म—सुख। √शॄ + मनिन्। यच्छतम्—दीजिये।

स्वरविचार—(१) इन्द्रावरुणा—आमन्त्रित आद्युदात्त, संहिता में ह्रस्व। (२) नु—निपात उदात्त, संहिता में छन्द के कारण दीर्घ। (३)

नु—यथावस्थित रहा है। (४) वाम्—युष्मदादेश अनुदात्त। (५) सिसासन्तीषु—√सन्+सन्=द्वित्व होने से—सन् सन् सन्। अभ्यासकार्य इकार—सि सन् स (धातु संज्ञा)। शप्+शतृ+ङीप्—ये तीनों अपने अपने कारणों से अनुदात्त हैं अतः सन् का नित्—आद्युदात्त होने से सि (इ) का उदात्त हुआ। सन् धातु के न् को आकार हो गया। पदपाठ में दूसरे स को षत्व नहीं हुआ है, संहितापाठ में अवश्य होगा। (६) धीषु—धी+सुप्। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' से उकार को ही उदात्त हो गया। (७) आ—निपातस्वर।

(८) अस्मभ्यम्—√अस्+मदिक्=अस्मद् प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। विभक्ति अनुदात्त। (९) शर्म—√शृ+मनिन्। नित्, आद्युदात्त। (१०) यच्छतम्—तिङ्निघात। 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८)।

मन्त्र—६

हे इन्द्र और वरुण! हमारी सुन्दर स्तुति आप को व्याप्त करे, आप दोनों तक पहुँचे। यह वही स्तुति है जिसकी ओर आप दोनों का हम आवाहन करते हैं तथा जिस सहस्तुति (एक साथ की जाने वाली स्तुति) को आप दोनों समृद्ध करते हैं।

प्र+अश्नोतु वाम्=युवां प्राप्नोतु (आप दोनों तक पहुँच जाये)। सुष्टुतिः=सुः+स्तुति (सुन्दर स्तुति)। इसके अन्तोदात्त स्वर पर सायण ने १।७।७ मन्त्र की व्याख्या में बहुत लम्बा शास्त्रार्थ किया है। हुवे=बुलाता हूँ। जिसे मैं आपको अर्पित करता हूँ (ग्रिफिथ)।

ऋधाथे—√ऋध् (वृद्धि के अर्थ में)+लट् (आथाम्>आथे)। श्नु-विकरण का छान्दसलोप। सधस्तुतिम्—सहस्तुति को (Joint eulogy)। ह का व्यत्यय से ध। पाणिनि ने 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (६।३।९६) में माद और स्थ के पूर्व ही सधादेश का विधान किया है।

स्वरविचार—(१) प्र—उपसर्गस्वर। (२) वाम्—युष्मद् का आदेश अनुदात्त। (३) अश्नोतु—तिङ्निघात। (४) सुऽस्तुतिः—सु+√स्तु+क्तिन्। 'मन्क्तिन्व्याख्यानशयना०' (६।२।१५१) से उत्तरपद का अन्तोदात्त। द्रष्टव्य, ऋ० १।७।७ पर टिप्पणी। (५) इन्द्रावरुणा—पूर्ववत्। (६) याम्—प्राति० स्वर। (७) हुवे—'यद्वृत्तान्नित्यम्' से निघातनिषेध। स्वर ह्वेञ् (हु+उवङ्)+इट्। प्रत्यय का स्वर। (८) याम्। (९) ऋधाथे इति—एकार द्विवचन होने से प्रगृह्य-संज्ञा, इसलिए इति-करण। 'यत्' के योग (याम्) से ही निघाताभाव। ऋध्+आथे। प्रत्ययस्वर।

(१०) सधऽस्तुतिम्—सह स्तुतिर्यस्यां सुष्टुतौ सा सहस्तुतिः। पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। 'सह' को अन्तोदात्त (एवादीनामन्तः) उसीका शेप रहना।

त्रयस्त्रिंशवर्ग समाप्त।

सूक्त—१८

यहां से पञ्चम अनुवाद आरम्भ होता है जिसमें ६ सूक्त हैं—१८ वें से २३ तक। प्रस्तुत सूक्त में ऋषि और छन्द पूर्ववत् हैं किन्तु देवताओं की विशेषता है। १–५ मंत्रों में ब्रह्मणस्पति देवता हैं यद्यपि चतुर्थ में इन्द्र और सोम, तथा पंचम में दक्षिणा-देवता भी आये हैं। अन्य चार मंत्रों में सदसस्पति देवता हैं, यद्यपि अन्तिम मंत्र कुछ लोगों के विचार से नराशंस देवता का भी माना जाता है।

ब्रह्मणस्पति बृहस्पति की ही तरह के एक देवता हैं यद्यपि इनका ठीक-ठीक निरूपण करना असंभव है कि ये किस तत्व के प्रतिनिधि हैं। नाम से ये स्तुति के अधिकारी प्रतीत होते हैं। धनदान, रोगनिवारण, पोषणदान आदि की विशेषताएँ केवल उन्हींके लिए नहीं हैं, दूसरे देवता भी ऐसे हैं। स्तुतियों से ये बहुधा सम्बद्ध रहते हैं।

इस सूक्त में सोम को भी देवता का रूप दिया गया है। इस तथ्य का पूर्ण निरूपण सोममण्डल (नवम मण्डल) में हुआ है। दक्षिणा भी एक देवता के रूप में आयी है—वस्तुतः यजमान द्वारा ऋत्विजों को दिये गये पुरस्कार का ही यह देवीकरण है।

मन्त्र—१

हे ब्रह्मणस्पते! आप सोम सवन करनेवाले ऋत्विज को देवताओं में प्रकाशयुक्त (स्वरण) ठीक कक्षीवान् ऋषि की तरह ही कर दें, जो (ऋषि) उशिज् के पुत्र हैं।

इस मंत्र की व्याख्या यास्क ने भी (६।१०) की है। यहां सोमाभिषव करनेवाले को कक्षीवान् ऋषि की तरह प्रकाशपूर्ण (विख्यात) कर देने की प्रार्थना है। कक्षीवान् ऋषि उशिज् के पुत्र थे जो पज्रवंश में उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेद के कई सूक्तों के ऋषि के रूप में ये प्रसिद्ध हैं (ऋ० १।११६, १।१२६)। विल्सन के अनुसार वायु और मत्स्यपुराण तथा महाभारत में भी इनकी कथा आयी है। दीर्घतमा ऋषि को उशिज् नामक स्त्री से कक्षीवान् पुत्र हुए थे। यह उशिज् कलिंग-राज की पत्नी की दासी थी। कलिंगराज ने अपनी पत्नी को दीर्घतमा की सेवा में देना चाहा जिससे सन्तान की प्राप्ति हो। रानी ने अपने स्थान पर अपनी दासी उशिज् को ही भेज दिया। दीर्घतमा

को यह छल मालूम हो गया, फिर भी उन्होंने उसी से कक्षीवान् पुत्र को उत्पन्न किया। ये कलिंग के सम्बन्ध से तो क्षत्रिय हुए किन्तु दीर्घतमा के कारण ब्राह्मण थे। तैत्तिरीय शाखा में ये यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान में समर्थ कहे गये हैं, सूक्तों के ऋषि भी हैं। सायण ने कक्षीवान् के ऋषित्व का उपोद्बलक प्रमाण ऋग्वेद से ही दिया है—

'अहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' (ऋ० ४।२६।१)।

यहाँ वाक्य की संरचना ध्यातव्य है। कक्षीवन्तमिव सोमानं स्वरणं कृणुहि, यः (कक्षीवान्) औशिजः। 'इव' का अध्याहार किया गया है।

सोमानम्—√सु + मनिन्। अथवा √सु + मनि (बाहुलक)। सोम चुलाने वाले को। स्वरणम्—√स्वृ + ल्युट् (कर्मणि) प्रख्यात।

कक्षीवन्तम्—कक्ष + य = कक्ष्या (अश्व के पेट की रस्सी)। कक्ष्या + मतुप्। निपातन से 'आसन्दीवत्०' (८।२।१२) के द्वारा कक्षीवत् का निपातन। ऋषिविशेष। औशिजः—उशिज् + अण्। उशिज् = √वश् + इजि। जो उशिज् के पुत्र हैं।

स्वरविचार—(१) सोमानम्—√षुञ् (अभिषवे) + मनिन् या मनि। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' से मनिन्। इसलिए ('दृश्यन्ते' से दूसरी विधि का उपसंग्रह होने के कारण) नित् होने पर भी आद्युदात्त नहीं हुआ। अथवा मनि प्रत्यय मानकर प्रत्ययस्वर। (२) स्वरणम्—स्वृ (शब्द, उपताप) + ल्युट्। 'लित्' होने से प्रत्यय (अन) के पूर्व स्व के अकार को उदात्त हुआ। पाठ करने के समय इन्हें 'सोमआनं सुवरणम्' पढना होगा। (३) कृणुहि—तिङ्निघात। (४) ब्रह्मणः (५) पते—'पते' को आमंत्रित निघात हो गया है। 'ब्रह्मणः' भी उसी से संबद्ध है, समर्थ है, अतः 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (२।१।२) से इसे भी पराङ्गवद्भाव होकर 'निघात' हो गया। वस्तुतः 'ब्रह्मणस्पते' एक ही पद है, 'ब्रह्मणस्पतिः' में एक ही साथ दो स्वर लगते हैं अतः पदद्वय की कल्पना की गयी है।

(६) कक्षीवन्तम—कक्ष + य (+ टाप्) + मतुप्। यह प्रत्यय का स्वर, ई हो जाने पर भी उसी को उदात्त हुआ। (७) यः—प्राति० स्वर। (८) औशिजः—उशिज् + अण्। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त।

मन्त्र—२

जो ब्रह्मणस्पति धनवान् (रेवान्), रोगों के नाशक, धन प्राप्त करनेवाले और पुष्टि (धनसंग्रह) के वर्धक हैं, शीघ्र फल देनेवाले (तुरः) वे देवता हमारी सेवा करें—हम पर अनुग्रह दिखाएँ।

रेवान्—रयि + मतुप। 'रयेर्मतौ बहुलम्' से यि का संप्रसारण होकर र + इ हो गया। 'छन्दसीरः' से म् > व् = रेवत्। पुल्लिङ्ग में रेवान्। इस शब्द की सिद्धि में सायण ने शास्त्रार्थ दिया है। 'छन्दसीरः' का अर्थ है कि वेद में इकारान्त तथा एकारान्त शब्द के बाद मतुप् करने पर इसके म् को व् होता है। 'रेवान्' की सिद्धि में र + इ = रे कर देने पर यह इकारान्त नहीं रह जाता कि म् को व् हो सके। यह भी आवश्यक है कि म् को व् करने के पूर्व ही हम गुण कर लें (र + इ = रे कर लें) क्योंकि वकारादेश गुण के समक्ष असिद्ध हो जायगा (पूर्वत्रासिद्धम्) और बहिरङ्गकार्य भी है। (असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे)। गुण पहले करना चाहिए, तब वकारादेश। किन्तु व् होना ही संभव नहीं है। उत्तर में यह कहा जा सकता था कि 'अन्तादिवच्च' के द्वारा आदिवद्भाव मानकर इकार की कल्पना कर लें और व् कर दें, किन्तु यह उचित उत्तर नहीं होगा। वर्ण पर आश्रित विधि में यह रीति काम नहीं देती। अन्यथा 'खट्वाभिः' शब्द में अन्तवद्भाव से सवर्णदीर्घ में अकार की कल्पना करके 'अतो भिस ऐस्' से ऐसादेश कर सकते थे। यह आरोप नहीं किया जा सकता कि उक्त प्रक्रिया से व को निरवकाश (विनियोग-रहित) कर देने पर कहीं भी उसे अवकाश मिलेगा ही नहीं (न च निरवकाशत्वेन वत्वस्यानवकाशत्वम्) क्योंकि 'अग्निवान् हरिवः' प्रभृति शब्दों में तो वह विनियोग का अवसर पाता ही है। फलतः रेवान् में म को व हो नहीं सकता। पूर्वपक्षियों की इस आशंका का उत्तर देते हुए सायण कहते हैं कि शंका तो ठीक है किन्तु यहां अ + इ के गुणादेश होने के पहले ही मतुप् लगा है (= इकार के बाद)। कभी-कभी इकार के बाद मतुप् लगने के बाद एकारादेश होने से इवर्ण के अभाव में भी म को व होता है, यह सूत्रकार पाणिनि का विवक्षित विषय है। इसे ही ध्यान में रखकर काशिकावृत्ति में 'हरिवः' आदि उदाहरण देने के बाद अन्त में 'आरेवान्' उदाहरण दिया गया है (का० ८।२।१५)। रेवान् और आरेवान् में भेद ही क्या है ? स्वर के विचार में भी, आरे के बाद मतुप् को उदात्त होने से (६।१।१७६ वा०) रे के बाद भी होगा।

अमीवहा—√अम (रोगे) + वन् लगाने से अमीवन् का निपातन अर्थ है—रोग। √हन् + क्विप्—अमीवहा = रोगनाशक। वसुवित्—वसु विन्दति। वसु + √विद् (लाभे) + क्विप्। धन पानेवाला। पुष्टिवर्धनः—पुष्टि + √वृधु + ल्यु (अन)। पोषण की वृद्धि करनेवाला। तुरः—शीघ्रकारी। √तुर + क।

सिषक्तु—पदपाठ में षकार नहीं होना। √सच् (सेवा) + श्लु + लोट् (तिप् > तु)। सेवा करे।

स्वरविचार—(१) यः—प्रातिपदिकस्वर। (२) रेवान्—रयि। (संप्रसारण) + मतुप्। 'रेशब्दाच्च मतुप उदात्तत्वं वक्तव्यम्' (६।१।१७६ वा०) से मतुप् के उदात्त। (३) यः। (४) अमीवऽहा—कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर (५) वसुऽवित्—कृदु० प्रकृतिस्वर। (६) पुष्टिऽवर्धनः—पुष्टेर्वर्धनः। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर। उत्तरपद 'वृध् + ल्यु' होने से लित् के कारण व को उदात्त रखे हुए है। वही शेष रहा। (७) सः। प्राति० स्वर। (८) नः—अस्मदादेश अनुदात्त। (९) सिसक्तु—तिङ्निघात। (१०) यः। (११) तुरः—√तुर + क (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः)। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त।

मन्त्र—३

उपद्रव करने के लिए हमारे पास आये हुए (अररुषः) शत्रुरूपी मनुष्य का आघातक (धूर्तिः) वाग्बाण (शंसः) हमारे पास न पहुंचे, शत्रु के द्वारा किया गया तिरस्कार हमें प्राप्त न हो। हे ब्रह्मणस्पते! आप हमारी रक्षा करें।

मा नः प्रणक्—हमारे साथ संपर्क न हो। प्रणक्—√पृची (संपर्के)+ श्नम् + लङ् (तिप्)। च्>क्, यणादेश पृ>प्र (पृ + अट् = प्र)। यह अट् श्नम् को हुआ है—'व्यत्ययो बहुलम्'। किसके साथ संपर्क न हो ? (उत्तर आगे है)।

अररुषः शंसः—√ऋ (अर्) + अरुस् = अररुस् (शत्रु, उपद्रवी) शंसः= अधिक्षेप, निन्दा। उपद्रवी के द्वारा की गई निन्दा से हम सम्बद्ध न हो जायें। शत्रु हमारी निन्दा न करें।

मर्त्यस्य धूर्तिः = मनुष्य-कृत हिंसा। इससे भी हम पृथक् रहें। मनुष्य हम पर आघात न करें। धूर्तिः—√धुर्वी (मारना) + क्तिच् = हिंसा, आघात।

'धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य' यह उदाहरण सिद्धान्तकौमुदी की वैदिकी प्रक्रिया में 'मन्त्रे घसह्वरणश०' (२।४।८०) की व्याख्या में √नश् से निष्पन्न 'प्रणक्' को बतलाते हुए दिया गया है। प्र + √णश् √लुङ् (तिप्)। च्लिलोप। 'नशेर्वा' से श् को क्। तदनुसार अर्थ होगा—हमें नष्ट न करें।

'रक्षा (द्व्यच् तिङ् का दीर्घ) णः' में 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) से णत्व।

अर्थ—हमें शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त तिरस्कार अथवा किसी दूसरे मानव के द्वारा किया गया प्रहार (धूर्तिः) नष्ट न कर सके; इसलिए, हे ब्रह्मणस्पते! आप हमारी रक्षा करें।

स्वरविचार—(१) मा—निपातस्वर। (२) नः—अस्मदादेश अनुदात्त। (३) शंसः—√शंस् + घञ्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त। (४) अररुषः—√अर् (ऋ)+अरुस्। वृषादि-गण के कारण आद्युदात्त। (५) धूर्तिः—√धुर्वी+क्तिच्। चित्, अन्तोदात्त। (६) प्रणक्—सायण के अनुसार √पृची + लङ् (तिप्)। श्नम् को अट्। अडागम के अनुदात्त को रोककर व्यत्यय से अनुदात्त। दूसरी विधि से—प्र का उपसर्ग स्वर। 'चादिलोपे विभाषा' से निघाताभाव। (७) मर्त्यस्य—√मृङ् + तन् = मर्त (आद्युदात्त) + यत् (भवार्थे)—मर्त्यः। 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त।

(८) रक्ष—√रक्ष् + शप् + लोट् (सिप् > हि > ०) धातुस्वर। संहितापाठ में दीर्घ। (९) नः। (१०) ब्रह्मणः। (११) पते—दोनों को आमंत्रित निघात। पूर्ववत्।

मंत्र—४

जिस मनुष्य को (यजमान को) इन्द्र, ब्रह्मणस्पति या सोम-देवता बढ़ाते हैं (हिनोति) वह वीर यजमान नष्ट नहीं होता (न रिष्यति)। यहाँ सोमरस के अधिकारी सोमदेवता की चर्चा की गयी है। प्राचीन आर्यों में किसी भी शक्ति को श्रद्धावश देवता का रूप देने की जो प्रथा थी, उसकी ओर यह संकेत है।

घ = एव। जिसे ये देवता मानते हैं केवल वही यजमान लाभान्वित होता है। संहिता में दीर्घ। रिष्यति—विनश्यति। √रिष् (दिवादि—श्यन्)। हिनोति—√हि = जाना, बढ़ाना, मानना।

स्वरविचार—(१) सः—प्राति० स्वर से उदात्त। (२) घ—चादयोऽनुदात्ताः। (३) वीरः—प्राति० स्वर से अन्तोदात्त। (४) न—निपातस्वर से उदात्त। (५) रिष्यति—तिङ्निघात। (६) यम्—प्राति० स्वर। (७) इन्द्रः—रन्-प्रत्ययान्त आद्युदात्त। (८) ब्रह्मणः—√बृंह् + मनिन्—आद्युदात्त। (९) पतिः—√पा + डति। प्रत्ययस्वर से अ उदात्त। (१०) सोमः—√सु + मन्—नित्, आद्युदात्त। (११) हिनोति—यह द्वितीय तिङ् है अतः निघात नहीं हुआ। √हि (वृद्धि)+ श्नु + तिप्। श्नु का ही स्वर हुआ—ओ को उदात्त। (१२) मर्त्यम्—पूर्वमन्त्र की तरह।

मन्त्र—५

हे ब्रह्मणस्पते! उस मनुष्य या यजमान की आप पाप से रक्षा करें। सोम, इन्द्र तथा दक्षिणा नामक देवता भी उसकी रक्षा पाप से करें। वाक्य की

संरचना ध्यान देने योग्य है—त्वं, सोमः, इन्द्रः······च पातु। सोम की तरह यहाँ ऋत्विजों की दी गयी दक्षिणा को देवता का रूप देकर उनका वर्णन किया गया है।

अंहस् = पाप, दुःख, कष्ट। आधुनिक वैदिक विद्वान् इसे इसी अर्थ में लेते हैं।

स्वरविचार—(१) त्वम्—प्रति० स्वर। (२) तम्—प्रा० स्व०। (३-४) ब्रह्मणः। पते—आमन्त्रितनिघात। (५) सोमः (६) इन्द्रः—पूर्ववत्। नित्—आद्युदात्त। (७) च—चादयोऽनुदात्ताः। (८) मर्त्यम्—मर्त + यत्। 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त। (९) दक्षिणा—√दक्ष् + इनन्। नित्—आद्युदात्त। (१०) पातु—तिङ्निघात। (११) अंहसः—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात्त।

चतुस्त्रिंश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

यहाँ सदसस्पति नामक देवता के पास पहुँचने की (अयासिषम्) बात कही जा रही है। ये सदसस्पति (सभा के अध्यक्ष, विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष, अग्नि) आश्चर्यंकर हैं, इन्द्र के प्रिय हैं (क्योंकि दोनों एक ही साथ सोमपान करते हैं); कमनीय तथा धन के दाता (सनिम्) भी हैं—इनके पास मैं मेधा की प्राप्ति के लिए पहुंच चुका हूँ।

अद्भुतम्—'अदि भुवो डुतच्' (५।६८९) से अद् + √भू + डुतच् प्रत्यय करने से बना है। आश्चर्यजनक। सनिम् = √षणु दाने। देनेवाला। मेधा के बाद सायण ने 'लब्धुम्' का अध्याहार किया है। किन्तु 'मेधां सनिम्'=बुद्धि के दाता सदसस्पति के निकट मैं पहुचा हूँ—यह अर्थ कहीं अधिक संगत है। अयासिषम्—अट्+√या+सिच्+मिप् (अम्—लुङ्) 'यमरमनमातां सक् च' (७।२।७३) से धातु को सक् आगम और सिच् को इट्। अ + या + सक् + इट् + सिच् + अम् = अयासिषम् (आदेशप्रत्यययोः से षत्व)।

स्वरविचार—(१) सदसः—√सद् + असुन्। नित्—आद्युदात्त। (२) पतिम्—√पा + डति। प्रत्ययस्वर। (३) अद्भुतम्—वृषादिगण से आद्युदात्त। (४) प्रियम्—√प्री + का इयङादेश। प्रत्ययस्वर। (५) इन्द्रस्य—पूर्ववत् रन्। (६) काम्यम—√कम् + यत्। 'णेरनिटि' से णिङ् का लोप। 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त। (७) सनिम्—√सन् + इ। प्रत्ययस्वर। मेधाम्—प्रातिपदिकस्वर। (९) अयासिषम्—'तिङ्ङतिङः' से निघात।

मन्त्र—७

जिन सदसस्पति देवता के अभाव में विद्वान् (विपश्चित्) यजमान का भी अनुष्ठेय यज्ञ सिद्ध नहीं होता है, वे देवता हमारी बुद्धियों या कर्मों का सम्बन्ध (योगम्) व्याप्त करते हैं।

स धीनां योगमिन्वति—वे देवता बुद्धियों की परम्परा प्रेरित करते हैं (he stirs up the series of thoughts)। धी + आम्—संस्कृत में इयङ् आदेश करके 'धियाम्' होता है, वेद में नुडागम—धीनाम्। धी = बुद्धि या कर्म। इन्वति—व्याप्नोति, प्रेरयति।√इवि। (व्याप्तौ)। शप् और नुमागम।

स्वरविचार—(१) यस्मात्—यत् का प्राति० स्वर। (२) ऋते—'एवादीनामन्तः' से अन्तोदात्त। (३) न—निपातस्वर। (४) सिध्यति—यत् के योग से निघाताभाव। √सिध् + श्यन् + तिप्। श्यन् नित् है, अतः आद्युदात्त। (५) यज्ञः—√यज् + नङ् प्रत्ययस्वर। (५) विपःऽचितः—विपस् = विप्रकृष्ट (दूर की बातें)। तत् चिनोति चिन्तयति, चेतति (√चि + क्विप्)। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर। (६) चन—'एवादीनामन्तः' से अन्तोदात्त। (७) सः—प्राति० स्वर। (८) धीनाम्—'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (६।१।१६८) से उदात्त विभक्ति। (९) योगम्—√युजिर् + घञ्। जित्—आद्युदात्त। (१०) इन्वति—तिङ्निघात।

मन्त्र—८

सदसस्पति देवता हवि का संपादन करने वाले यजमान को तुरत (आत्—अविलंब) बढ़ा देते हैं—फल प्रदान करते हैं। पुनः वे अध्वर को भी प्रकर्ष गति से युक्त अर्थात् निर्विघ्न परिसमाप्ति के योग्य (प्राञ्चम्) कर देते हैं। आहूत की गयी देवशक्ति (होत्रा) यजमान की ख्याति के विस्तार के लिए देवताओं के निकट जाती है।

ऋध्नोति—वर्धयति।—ऋधु वृद्धौ। श्नु-विकरण। हविष्कृतिम्—हविषः कृतिः संपादनं यस्य स हविष्कृतिः (यजमानः) = हव्यदाता यजमान।

प्राञ्चम्—प्र + √अञ्च् + क्विन्। अम् (द्वितीया एकवचन)। अच्छी तरह समाप्य। होत्रा=हूयमाना देवता (सायण), प्रार्थना।√हु + त्रन्। हमारी प्रार्थना या होता के द्वारा की गयी स्तुति देवताओं के पास पहुँच जाती है।

स्वरविचार—(१) आत्—निपातोदात्त। (२) ऋध्नोति—तिङ्-निघात। (३) हविःकृतिम्—बहुव्रीहि में पूर्वपद का प्रकृति स्वर अर्थात् हविस् (√हु + इसि) को प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हुआ है, वही बच रहा। (४) प्राञ्चम्—प्र + √अञ्च् + क्विन्। 'अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये' (६।२-

५२) से गति (= प्र) को प्रकृतिस्वर, पुनः अ (उदात्त—नित्) के मिलने से उदात्त ही रहा। (५) कृणोति—तिङ्निघात। (६) अध्वरम्—न ध्वरो हिंसा यस्मिन्। 'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्त। (७) होत्रा—√हु + त्रन्। नित्—आद्युदात्त। (८) देवेषु—√दिव् + अच्। अन्तोदात्त। (९) गच्छति—तिङ्निघात।

मंत्र—६

इस अन्तिम मन्त्र में नराशंस नामक देवता की स्तुति है। निरुक्त (८। ६) के प्रामाण्य पर सायण इसे व्युत्पत्ति द्वारा 'नरों के द्वारा प्रशंसनीय' अर्थ में भी लेकर सदसस्पति का विशेषण मानते हैं। अतः, मनुष्यों के द्वारा प्रशंस्य सदसस्पति या नराशंस नामक देवता को मैंने शास्त्र की दृष्टि से देखा है। ये देवता सर्वाधिक धृष्टता (स्थिरबुद्धि) वाले हैं, अत्यन्त प्रथित (विख्यात) हैं, तथा द्युलोकों की तरह तेजःसंपन्न हैं (सद्ममखसम्)। सूर्य चन्द्र आदि से युक्त द्युलोक जिस प्रकार प्रकाशपूर्ण हैं, उसी प्रकार ये नराशंस भी हैं। 'नराशंस' का वर्णन ऊपर १।१३।३ में आ चुका है। सुधृष्टमम्—सु + √धृष् + क्विप् = सुधृक् (शोभनं धृष्णोति) + तमप्। ष् का जश्त्व (ग् > क्) होना छान्दस व्यत्यय से रुक गया—सुधृष्टम (अत्यन्त दृढमतिवाले)। सप्रथस्तमम्—√प्रथ (प्रख्याते) + असुन् = प्रथस्। सह प्रथसा वर्तते = सप्रथः ('तेन सहेति तुल्ययोगे'—बहुव्रीहि) + तमप्—सप्रथस्तम (= अत्यन्त ख्यातिमान्)।

सद्ममखसम्—तेजस्विनम् (सायण)। सद्म = प्राप्त (√सद्), मखस् (< महस्) = तेजस्। सद्म महो यस्य। जिसमें तेज हो। ग्रिफिथ—गृहपुरोहित, मानो वे स्वर्ग के गृह-पुरोहित हों। सद्म = गृह, मखस् = यज्ञकर्ता। यही अर्थ अच्छा है क्योंकि नराशंस अग्नि के ही रूप हैं और ये पुरोहित रूप में आहूत भी हुए हैं।

स्वरविचार—(१) नराशंसम्—नरा + शंस। 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' से दोनों को प्रकृतिस्वर। √नृ + अप् = नर में धातुस्वर से आद्युदात्त. √शंस् + घञ् = शंस आद्युदात्त (ञित्)। (२) सुऽधृष्टमम्—सु + √धृष् + क्विप् + तमप्। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर होने से ऋ उदात्त। तमप् तो पित् (अनुदात्त) है। (३) अपश्यम्—पादादि में होने से निघाताभाव। अट् + √दृश् + शप् + लङ् (मिप् > अम्)। अट् उदात्त। (४) सप्रथःऽतमम्—√प्रथ् + असुन् = प्रथस् आद्युदात्त। सह प्रथसा विद्यते 'सप्रथः' में 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' से उत्तरपदादि को उदात्त। (५) दिवः—द्यु + ङस्। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' से विभक्ति उदात्त। (६) न—निपातस्वर।

(७) सद्मऽमखसम्—बहुव्रीहि में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। पूर्वपद सद्म√सद् + मनिन् से बना है, नित् के कारण आद्युदात्त है। यही शेष रहा।

पञ्चत्रिंश वर्ग समाप्त।

सूक्त—१६

पंचम अनुवाक का यह द्वितीय सूक्त है। इसमें भी पूर्ववत् ९ मंत्र हैं। ऋषि और छन्द पूर्ववत् हैं, देवता अग्नि और मरुत् दोनों हैं। वर्षा की कामना से किये गये कारीर नामक याग (कारीरी इष्टिः) में इसके प्रथम मंत्र को धाय्या ऋचा के रूप में पढ़ा जाता है।

पूरे सूक्त में अन्तिम पादों में 'मरुद्‌भिरग्न आ गहि' यह ध्रुवपद आया है—जिससे अग्नि को मरुतों के साथ बुलाने का अर्थ प्राप्त होता है। सूक्त वर्षा और उसमें आनेवाली आँधी से सम्बद्ध है—मरुतों की भयंकरता का बड़ा ही सुन्दर काव्यात्मक वर्णन यहाँ प्राप्त होता है। मरुद्-गण मेघों को इधर-उधर बिखेरते हुए शत्रुओं का डटकर संहार करते हैं, फिर भी ये कोमल तत्त्वों से परिपूर्ण हैं अतएव इनकी प्रसन्नता के लिए मधुर सोमरस निवेदन किया जाता है।

पिटरसन ने अपने संग्रहों के प्रथम भाग में सबसे पहले इसी सूक्त का समावेश किया है।

मन्त्र—१

उस सुन्दर अध्वर के प्रति आप सोमपान के लिये बुलाये जाते हैं, अतः हे अग्निदेव! आप मरुद्-गणों के संग इस अध्वर में चले आयें।

त्यम् = तम्। तत् के समानान्तर एक सर्वनाम त्यत् भी है, उसी से यह 'त्यम्' द्वितीया एकवचन (पुं०) में बना है। त्यं चारुमध्वरं प्रति—उस सर्वांगसुन्दर अध्वर की ओर। गोपीथाय—गो = गोदुग्ध, गोदुग्धमिश्रित सोम। मैक्समूलर—गोदुग्ध पीने के लिए। रॉथ-रक्षा और दुग्धपान के लिए। सायण—सोमपान के लिए। पीथ = पान। तुलनीय—सोमपीथ (ऋ० १ ५१।७)। ल्युट् के अर्थ में थक् प्रत्यय। सर्वोत्तम अर्थ है—गोदुग्ध से मिश्रित (गवाशिर) सोम पीने के लिए।

प्र हूयसे—आप बुलाये जाते हैं। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आ गहि—आगच्छ। √गम् + लेट् (सिप् > हि)। अनुनासिक लोप। शप् लोप। अदादि की तरह इसके साथ व्यवहार किया गया है।

स्वरविचार—(१) प्रति—निपातस्वर। (२) त्यम्—प्राति० स्वर।

(३) चारुम्—चर + ञुण्। जित—आद्युदात्त। (४) अध्वरम्— पूर्ववत् बहुव्रीहि। 'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद का अन्तोदात्त। (५) गोऽपीथाय—गो + √पा + थक्। 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से ईकार। 'समासस्य' (६।१।२२३) से अन्तोदात्त। (६) प्र—उपसर्ग उदात्त। (७) हूयसे—तिङ्निघात। (८) मरुत्ऽभिः—√मृ + उति। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। मरुत (९) अग्ने—निघात (आमन्त्रितस्य च)। (१०) आ—उपसर्गोदात्त। (११) गहि—तिङ्निघात।

मन्त्र—२

हे अग्निदेव ! आप महान् हैं, आपके (महः तव) संबन्धी कर्मविशेष (क्रतुम्) से बढ़कर न तो कोई देवता है और न कोई मानव ही है। जो मनुष्य आपके यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं और जिन देवताओं की पूजा वहाँ होती है उनसे बढ़कर कोई नहीं—वे ही उत्कृष्ट हैं। मरुतों के साथ आप आयें।

नहि देवो·····क्रतुं परः—सायण का आशय है कि अग्नि के क्रतु से सम्बद्ध मनुष्यों और देवताओं से बढ़कर कोई मनुष्य और देवता नहीं है। वे ही सर्वोत्कृष्ट हैं। पाश्चात्य विद्वान् 'क्रतु' को ग्रीक 'क्रतोस्' तथा अवेस्ता 'ख्रतु' के समानान्तर मानकर शक्ति के अर्थ में रखते हैं अतः अर्थ होगा कि महान अग्नि की शक्ति से बढ़कर कोई देव या मानव नहीं है।

मर्त्यः—मनुष्य, लातिन—mortu-us अवेस्ता—maretan, अंग्रेजी—mortal (मानव)। महः = महतः। छान्दस तलोप। अवेस्ता—math (महान्)। 'क्रतु' शब्द ऋग्वेद में यज्ञ के रूप में कहीं प्रयुक्त नहीं है। अवेस्ता में √kar = बुद्धि है। √कृञ् + कतु। यणादेश होकर 'क्रतु'।

स्वरविचार—(१) नहि—एवादीनामन्तः। अन्तोदात्त। (२) देवः—अच् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त। (३) न—निपातोदात्त। (४) मर्त्यः—मर्त + यत्। 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त। (५) महः—महतः का छान्दस तलोप। 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' से विभक्ति को उदात्त। तव—'युष्मदस्मदोर्ङसि' से आद्युदात्त। (७) क्रतुम्—√कृ + कतु। प्रत्यय (आद्युदात्त) स्वर। (८) परः—प्राति० स्वर। (९) मरुत्ऽभिः । (१०) अग्ने। (११) आ। (१२) गहि—पूर्ववत्।

मन्त्र—३

जो मरुद्गण महान् जल के (महतः रजसः) वर्षण की रीति को भली तरह जानते हैं, जो सात गणों से युक्त (विश्वे) चमकनेवाले, द्रोहरहित (वर्षा के द्वारा सभी जीवों का एक ही रूप में उपकार करनेवाले) देवता हैं। उन मरुद्गणों के साथ हे अग्निदेव ! आप आ जायें।

ये महो रजसो विदुः—जो विशाल आकाश (अन्तरिक्ष-प्रदेश) को जानते हैं। रजस् = सायण—जल; यास्क—ज्योति, उदक, लोक, असृक् (रक्त), दिन। विश्वे देवासः—वैसे एक साधारण देवसमूह को 'विश्वेदेवाः' कहते हैं किन्तु यहाँ 'मरुतः' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं—सभी देवता अर्थात् मरुद्गण। सायण 'विश्वे' को तैत्तिरीयसंहिता (२।२।११ सप्तगणा वै मरुतः) के आधार पर सप्त गणों से युक्त अर्थ में लेते हैं और 'देवासः' का अवयवार्थ रखते हैं—द्योतमानाः।

अद्रुहः—द्रोहरहित, दयालु। सबों का एक ही तरह से उपकार करने से मरुतों को ऐसा कहा गया है। मरुतों की वृष्टि-कृति का उल्लेख ऋग्वेद ५।५५।५ में इस प्रकार है—उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः (हे मरुद्गण, आप समुद्र से वर्षा उठाकर अर्थात् जल लेकर उसे वाष्पमिश्रित करके बरसा देते हैं)।

अर्थ—जो सभी देवता द्रोहरहित हैं, इस विशाल अन्तरिक्ष प्रदेश को जानते हैं, उन मरुद्गणों के साथ, अग्निदेव ! आप आयें।

स्वरविचार—(१) ये—प्राति० स्वर। (२) महः—पूर्ववत्। (३) रजसः—'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि० २६) से आद्युदात्त क्योंकि नप् (नपुंसकलिंग) है। (४) विदुः—√विद् + उस् (विदो लटो वा)। लट् लकार में झि को उस् आदेश हुआ है। प्रत्ययस्वर। 'यद्वृत्तान्नित्यम्' से निघाताभाव। (५) विश्वे—√विश् + क्वन्। वित्—आद्युदात्त। (६) देवासः—पूर्ववत्। (७) अद्रुहः—नञ् + √ द्रुह् + क्विप् (भावे) = ध्रुक् येषां ते अद्रुहः (अद्रुह् + जस्)। 'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद को अन्तोदात्त होकर उकार को उदात्त हुआ। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से स्वरसिद्धि नहीं होगी क्योंकि नञ् न गति है न कारक। (८) मरुत्ऽभिः। (९) अग्ने। (१०) आ। (११) गहि—पूर्ववत्।

मन्त्र—४

जो मरुद्गण तीव्र (उग्राः) होकर उदक (अर्कम्) का अर्चन करते हैं, वृष्टि के द्वारा संपन्न करते हैं, तथा अपने बल से अतिरस्कृत हैं—सबों से प्रबल हैं; हे अग्निदेव, उन मरुद्गणों के साथ आप आएँ।

अर्कम् = सायण के अनुसार जल अर्थ में है, प्रमाण—'आपो वा अर्कः' (श० ब्रा० १०।६।५।२)। निर्वचन भी वहाँ दिया गया है—अर्चन करते हुए 'क' (जल) उत्पन्न हुआ, इसे इसलिए अर्क कहते हैं (√अर्च् + क = अर्क)। किन्तु अर्च् (युद्धगान) से निष्पन्न इस शब्द का यहाँ युद्धगान

अर्थ ठीक है क्योंकि मरुतों का युद्ध में उपयोग होता है—साधारण युद्ध में नहीं, वर्षायुद्ध में। आनृचुः—गाते हैं। अर्च् + लिट् (उस्)। 'तस्मान्नुड्द्विहलः' से नुट्, संप्रसारण। जो मरुत् उग्र होकर अपना युद्धगान गाते हैं।

अनाधृष्टासः—नञ् (अन्) + आ + √धृष् + क्त। किसी के द्वारा इन पर आक्रमण नहीं किया जा सकता, वे सबसे बलवान् हैं।

अर्थ—जो उग्र होकर युद्धगान गाते हैं, ओजस्वी होने के कारण जिन पर आक्रमण करना असंभव है, हे अग्निदेव ! उन मरुद्गणों के साथ आप आयें।

स्वरविचार—(१) ये—प्राति० स्वर। (२) उग्राः—प्राति० स्वर। (३) अर्कम्—√अर्च् + घ। (देखिये—ऋ० १।१०।१)। प्रत्ययस्वर। (४) आनृचुः—'आपस्पृधेथाम्' (६।१।३६) से निपातन। देखिये—वैदिकी प्रक्रिया। उस् प्रत्यय का स्वर शेष रहा। (५) अनाधृष्टासः—न आधृष्टाः। अव्ययपूर्वपद का प्रकृतिस्वर। (६) ओजसा—√उब्ज् + असुन्। नित्—आद्युदात्त। (७) मरुत्ऽभिः। (८) अग्ने। (९) आ। (१०) गहि—पूर्ववत्।

मन्त्र—५

जो मरुद्गण शोभायमान (शुभ्र), उग्र रूप धारण करनेवाले (घोरवर्पसः), सुन्दर धन से युक्त (सुक्षत्रासः) तथा हिंसकों के विनाशक हैं उनके साथ, हे अग्निदेव ! आप आवें। इसमें मरुतों के चार विशेषण दिये गये हैं।

शुभ्राः = √शुभ् (चमकना)। चमकीले, सुन्दर। घोरवर्पसः—घोरं वर्पः येषां ते। वर्पस् = शरीर, आकार। भयावह शरीर धारण करनेवाले। सुक्षत्रासः—सायण ने 'क्षत्र' का अर्थ धन रखा है। किन्तु इसका अर्थ राज्य अथवा क्षात्र तेज है। सायण का भ्रम निघण्टु के कारण है। उच्च कोटि के राज्य से संपन्न। रिशादसः—रिशन्तीति रिशाः (हिंसकाः)। √रिश् + क—रिशः। रिश + √अद् + असुन् = रिशादस्। हिंसकों को खा जानेवाले। पिटरसन लिखते हैं कि √रिश का अर्थ छोटे-छोटे टुकड़ों में कर देना है। टीकाकारों ने 'रेशयदारिन्' (हिंसकों को टुकड़े-टुकड़े करने वाला) से इसकी व्याख्या की है। उक्त चार विशेषणों में शुभ्राः और घोरवर्पसः, सुक्षत्रासः और रिशादसः परस्पर विरोधधर्म से सम्बद्ध हैं।

अर्थ—जो शोभायमान होते हुए भी भयंकर रूप धारण करते हैं, सुन्दर राज्य से संपन्न होने पर भी हिंसकों के विदारक हैं—उन मरुद्गणों के साथ, हे अग्निदेव, आप आयें।

स्वरविचार—(१) ये—प्राति० स्वर। (२) शुभ्राः—√शुभ्+रक्। प्रत्ययस्वर। (३) घोरऽवर्पसः—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। घोर शब्द प्रातिपदिक अन्तोदात्त है, वही शेष रहा। (४) सुऽक्षत्रासः—शोभनं क्षत्रं येषां ते। 'नञ्सुभ्याम्' से बहुव्रीहि में अन्तोदात्त। (५) रिशादसः—रिशान् अदन्ति। रिश+√अद्+असुन्। कृदुत्तरपद का प्रकृतिस्वर। उत्तरपद में अदस् आद्युदात्त है, उसी का स्वर शेष रहा। रिश के साथ संधि होने पर एकादेश (दीर्घ) को उदात्त। आ—उदात्त। (६) मरुत्ऽभिः (७) अग्ने। (८) आ। (९) गहि—पूर्ववत्।

षट्त्रिंश वर्ग समाप्त।

मन्त्र—६

जो मरुद्गण दुःखातीत सूर्य के (नाकस्य) ऊपर (अधि) स्थित द्युलोक के दीप्यमान होने पर (चमकने पर) स्वयं भी दीप्यमान (देवासः) होकर स्थित रहते हैं; उन्हीं के साथ, हे अग्निदेव, आप आयें। इस प्रकार सायणीय अर्थ में कुछ विशेषतायें हैं—नाक = सूर्य। (क–सुख, नञ्+क = अक = दुःख, न अक=नाक)। 'दिवि रोचने' को सायण ने 'भावे सप्तमी' के अर्थ में लिया है और 'देवासः' का अर्थ भी दीप्यमान लिया है। आधुनिक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार, नाक = आकाश, रोचन=प्रकाशपूर्ण, दिवि = स्वर्ग में। जो देवता आकाश के ऊपरी भाग में, चमकने वाले द्युलोक में विराजमान रहते हैं।

अधि = ऊपर। षष्ठी या सप्तमी के साथ प्रयोग। रोचते = √रुच (दीप्तौ) + युच्। आसते—√आस (उपवेशने) + लट् (झ)।

अर्थ—जो देवता अन्तरिक्ष-प्रदेश के ऊपरी भाग में, दीप्तिमान् द्युलोक में निवास करते हैं, हे अग्निदेव! उन मरुद्गणों के साथ आवें।

स्वरविचार—(१) ये—प्राति० स्वर। (२) नाकस्य—न कं यस्मिन् इति अकः (दुःखम्), बहुव्रीहिः। न अको नाकः (नञ् तत्पुरुष)। अव्ययपूर्वपद का प्रकृतिस्वर, 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (६।२।२)। यदि पहले तत्पुरुष करके बाद में बहुव्रीहि करते तो उत्तरपद का अन्तोदात्त हो जाता। (३) अधि—निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०)। (४) रोचने—√रुच्+युच् (अन)। चित्—अन्तोदात्त। (५) दिवि—'ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' से विभक्ति को उदात्त। (६) देवासः—दिव्+अच्। चित् स्वर (अन्तोदात्त)। (७) आसते—√आस्+झ। धातु अनुदात्तेत् है (= अ अनुदात्त था)। अतः आत्मनेपद; झ को अदादेश। अनुदात्तेत् होने से

लसार्वधातुक अनुदात्त। अतः धातुस्वर। यद् के योग से निघात नहीं हुआ। (८) मरुत्ऽभिः। (९) अग्ने। (१०) आ। (११) गहि—पूर्ववत्।

मन्त्र—७

यहां मरुद्गणों के द्वारा समुद्र में तरंगों के उठाये जाने का वर्णन है। जो मरुत् मेघों को (पर्वतान्) संचालित करते हैं तथा उदकयुक्त (अर्णव) सागर को भी तिरस्कृत करते हैं—सागर के निश्चल जल को तरंगोत्पादन के लिए संचालित करते हैं (यही तिरस्कार है); हे अग्निदेव, इन्हीं मरुतों के साथ आप आएं।

ईङ्खयन्ति=संचालित करते हैं। √ईखि (गतौ) + णिच् + नुमागम। पर्वतान्—मेघ (सायण), तरंग (पीटरसन)। यहां पर्वतों से कवि उन लहरों का बोध करते हैं जो आँधी के प्रभाव से चंचल सागर पर पहाड़ की तरह उछल-उछल पड़ते हैं। लक्षणा से पर्वत का अर्थ लहर हो गया। वेद में रूपसादृश्य से मेघों को भी पर्वत कहा गया है। रॉथ ने पर्वत को मेघ के अर्थ में लेकर ही समुद्र का अर्थ मेघों में विद्यमान जल लिया है। यह अनुचित अर्थ है।

तिरः—आरपार, पृष्ठभाग पर। अर्णव=चंचल। तुलनीय, ऋ० १०।५८।५, ३।५३।९ इत्यादि। समुद्र का यह विशेषण है।

अर्थ—[वर्षाकाल में] जो निरन्तर चंचल सागर के ऊपर पर्वतों की तरह तरंगें उठाते रहते हैं, हे अग्निदेव! उन मरुद्गणों के साथ आप आयें।

स्वरविचार—(१) ये। (२) ईङ्खयन्ति—√ईख् + णिच् = ईङ्खि चित् के कारण अन्तोदात्त है, यही स्वर शेष रहा। यत् के कारण निघाताभाव। (३) पर्वतान्—√पर्व + अतच्। आद्युदात्त। (४) तिरः—'एवादीनामन्तः' से अन्तोदात्त निपात। (५) समुद्रम्—प्राति० स्वर। (६) अर्णवम्—प्राति०स्वर। (७) मरुत्ऽभिः। (८) अग्ने। (९) आ। (१०) गहि—पूर्ववत्।

मन्त्र—८

जो मरुद्गण सूर्यकिरणों के साथ मिलकर [आकाश को] व्याप्त कर लेते हैं (आ तन्वति), पुनः अपने बल से समुद्र का भी तिरस्कार (संचालन) करते हैं—उन्हीं के साथ, अग्निदेव! आप आयें।

आ तन्वन्ति = फैले रहते हैं, विस्तृताः सन्ति। रश्मिभिः—अपनी किरणों से या सूर्य-किरणों के कारण। ओजसा = बल से। समुद्रं तिरः = सागर के ऊपर। तन्वन्ति के कर्म के रूप में 'द्याम्' (आकाश को) का अध्याहार करना

चाहिए। सायण ने दो वाक्यों की कल्पना करके अर्थ में विकृति ला दी है। तिरः के साथ 'कुर्वन्ति' का अध्याहार अनावश्यक है।

अर्थ—जो मरुद्गण अपनी (या सूर्य की) किरणों की सहायता से तथा अपनी ओजस्विता के कारण समुद्र के ऊपर (आकाश में) चारों ओर छाये रहते हैं—उन्हीं के साथ, हे अग्निदेव, आप आयें।

स्वरविचार—(१) आ—उपसर्ग उदात्त। (२) ये—प्राति०। (३) तन्वन्ति—√तत् + उ + लट् (झि > अन्ति)। 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः' से अन्ति का स्वर (आद्युदात्त) ही बलवान् हुआ अतः न्व (अ) उदात्त है। (४) रश्मिभिः—प्राति० स्वर से रश्मि अन्तोदात्त। (५) तिरः—पूर्ववत्। (६) समुद्रम्—अव्युत्पत्ति पक्ष में अन्तोदात्त (प्राति० स्वर)। सम् + √उन्दी + रक्। 'उद्र' को प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त। 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से उत्तर पद का प्रकृतिस्वर होने से वही शेष रहा। (७) ओजसा—√उब्ज् + असुन् (ब् लोप)। आद्युदात्त-नित्। (८) मरुत्ऽभिः। (९) अग्ने। (१०) आ। (११) गहि—पूर्ववत्।

मन्त्र—६

हे अग्निदेव! आपके प्रथम पान के लिए मैं सोम से युक्त मधुर रस का संपादन (समर्पण) कर रहा हूँ—आप मरुतों के साथ आयें।

अभि सृजामि = तैयार कर रहा हूँ, पूर्वपीतये—पूर्वा चासौ पीतिश्च (कर्मधारय)। 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' से पुंवद्भाव (पूर्वा > पूर्व-) सोम्यम्—सोम + य (= सोमयुक्त)। मधु=मधुर रस।

स्वरविचार—(१) अभि—'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' में निषेध होने से अभि को अन्तोदात्त। (२) त्वा—सर्वानुदात्त पूर्ववत् (३) पूर्वऽपीतये—कर्मधारय समास। व्यत्यय से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर। (४) सृजामि—√सृज + श + मिप्। विकरण-स्वर से आ उदात्त। 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ। (५) सोम्यम्—सोम + य। प्रत्ययस्वर। (६) मधु—√मद् + उ (नित्)। आद्युदात्त। (७) मरुत्ऽभिः—√मृ + उति। प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त। (८) अग्ने—आमन्त्रित निघात। (९) आ—उपसर्ग स्वर। (१०) गहि—तिङ्निघात।

परिशिष्ट १

वैदिक व्याकरण की मुख्य विशेषतायें

यह सर्वमान्य सत्य है कि वैदिक और संस्कृत (या लौकिक) भाषाओं में व्याकरण तथा शब्दकोश की दृष्टि से पर्याप्त भेद है। वैदिक शब्दों के यथार्थ अर्थ के निरूपण में मतान्तर होते हुए भी उसका व्याकरण सरल है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा के व्याकरण से वैदिक व्याकरण का अन्तर स्पष्ट करते हुए यत्र-तत्र कुछ सूचनायें दी हैं जिन्हें भट्टोजि दीक्षित-कृत सिद्धान्त-कौमुदी की वैदिकी प्रक्रिया में देखा जा सकता है किन्तु वैदिक भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण लिखने का श्रेय प्रो० मैकडोनल को ही है। भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों के प्रकाश में इन्होंने नवीन रीति से वैदिक व्याकरण का उद्धार किया है। उक्त दोनों ग्रन्थों के आधार पर यहां कुछ मुख्य तथ्य उपस्थित किये जाते हैं।

१. ध्वनिसम्बन्धी विशेषतायें—वैदिक स्वरध्वनियों की सबसे मुख्य विशेषता है—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, इन तीन प्रकार के स्वरों की सत्ता। ये स्वर इतने नियमित हैं कि इनका व्याकरण लिखना संभव हो सका है। स्वरों के आधार पर शब्दों और वाक्यों के अर्थ भी निर्धारित होते हैं। इनका पृथक् विचार किया गया है। ये स्वर ग्रीकभाषा के स्वरों की तरह संगीतात्मक है।

ह्रस्व और दीर्घ के अतिरिक्त वैदिक भाषा में प्लुत की मात्रा भी पायी जाती है। यह प्लुत-मात्रा उदात्तादि तीनों स्वरों में मिलती है। इनका वर्णन पाणिनि ने अष्टाध्यायी (८।२।८२ से १०८ तक) में किया है। प्रस्तुत संस्करण में यह प्लुत नहीं आ सका है। वैसे ऋ० १०।१२९।५ में 'अधः स्विदासी ३द् उपरिस्विदासी३त्।' में अनुदात्त प्लुत का उदाहरण दिया जा सकता है।

किसी पद के अन्त में अ, इ, उ, ऋ, (ह्रस्व या दीर्घ) हो और बाद में कोई स्वरवर्ण हो किन्तु संभव होने पर भी सन्धि नहीं हो रही हो तो उक्त स्वरों का अनुनासिक रूप हो जाता है। संहिता-पाठ के उ को पदपाठ में ऊँ (+ इति) हो जाता है।

वैदिक भाषा में ळ और ळ्ह ये दो व्यञ्जनध्वनियाँ अधिक हैं जो क्रमशः ड और ढ के स्थान में आती हैं जब ये दोनों ओर से स्वरवर्णों से घिरी हों, जैसे—ईडे > ईळे, मीढुषे > मीळ्हुषे; किन्तु ईड्यः मीढ्वान् आदि शब्दों में दोनों ओर स्वरध्वनि नहीं होने से ळ, ळ्ह नहीं हो सका है।

संयुक्त व्यंजनध्वनियों का उच्चारण स्वरयन्त्र की मांसपेशियों पर तनाव डालकर होता है। इसके फलस्वरूप संयुक्ताक्षरों के प्रथम अथवा द्वितीय वर्ण की द्विरुक्ति हो जाती है जिसे प्रातिशाख्य में 'क्रम' कहा जाता है। यद्यपि संस्कृत में भी इनका प्रयोग होता है ('अचो रहाभ्यां द्वे' जैसे धर्म्मः, ब्रह्म्मा) तथापि उनपर विशेष बल नहीं दिया जाता। ऋक्प्रातिशाख्य (३७३–३९१) में ऐसे क्रमों का सम्यक् निरूपण है।

सन्धि-विचार—(Euphonic Combination)

(क) स्वरसन्धि—इनके कई भेद हैं जिन्हें ऋक्प्रातिशाख्य में कई नाम दिये गये हैं। यथा—

प्रश्लिष्ट { (क) अ (आ) + अ (आ) = आ
इ (ई) + इ (ई) = ई
उ (ऊ) + उ (ऊ) = ऊ } अकः सवर्णे दीर्घः (पा०)।

{ (ख) अ (आ) + इ = ए
अ (आ) + उ = ओ } आद्गुणः (पा०)।

{ (ग) अ (आ) + ए (ऐ) = ऐ
अ (आ) + ओ (औ) = औ } वृद्धिरेचि (पा०)।

क्षैप्र { इ (ई) + असवर्णस्वर = य् + असवर्ण०
उ (ऊ) + ,, = व् + ,, } इको यणचि (पा०)।

अभिनिहित { ए + अ = एऽ
ओ + अ = अऽ } एङः पदान्तादति (पा०)।

अभिनिहित सन्धि का नियम ऋग्वेद में पाद के अन्त में माना जाता है जैसे—'स नः पितेव सूनवेऽग्ने भद्रं करिष्यसि'। किन्तु पाद के मध्य में ऐसी सन्धि नहीं होती, प्रकृतिभाव हो जाता है जैसे—विश्वे देवासो अप्तुरः (१।३।८), अथा ते अन्तमानाम् (१।४।३)। द्रष्टव्य पाणिनि—प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे (६।१)।

उद्ग्राह { ए + स्वर = अ + स्वर। अग्ने + इन्द्र = अग्न इन्द्र।
ओ + उ = अ + उ। वायो उक्थेभिः = वाय उक्थेभिः।

उद्ग्राहवत् { अ (आ) + ऋ = अ + ऋ
यथा मधुना + ऋतस्य = मधुन ऋतस्य } ऋत्यकः (पा०)।

भुग्न { ओ + अनोष्ठ्य स्वर=अव्+अनो० स्वर । वायवा याहि (ऋ० १।२।१)
औ + अनोष्ठ्य स्वर=आव् + 　" 　। तावा यातम् (ऋ० १।२।५)

यह नियम पाणिनि के 'एचोऽयवायावः' सूत्र-सा है। उद्ग्राह में 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) माना जा सकता है।

पदवृत्ति { ऐ + स्वर = आ + स्वर । दातवा उ ।
औ + स्वर = आ + स्वर । उभा उ । } लोपः शाकल्यस्य (पा०)।

प्रकृतिभाव (स्वरसन्धि का अभाव)—

(१) प्रगृह्य स्वर के अनन्तर स्वरवर्ण हो तो सन्धि नहीं होती (प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्) यथा—वायो इति, ऊँ इति, अस्मे आ, इन्द्रवायू इमे, रोदसी अभ्यसेताम् इत्यादि। प्रगृह्य स्वरों की सूची पाणिनि ने दी है।

(२) पाद मध्य में ए ओ के बाद अकार आये तो सन्धि नहीं होती। अभिनिहित के प्रसंग में उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु अकार के बाद व् या य् हो तो सन्धि होती है—तेऽवदन्। तेऽयजन्।

(३) सु निपात के बाद ऊ से आरम्भ होनेवाला शब्द आये तो सन्धि नहीं होती यथा—ताभिरूषु + ऊतिभिः यथापूर्व रहता है।

(४) कुछ शब्दों तथा समस्त पदों की स्वतः सन्धि का अभाव है—तितउ, प्रउग, नमउक्ति, पुरएता, गोओपशा, गोऋजीक।

(ख) व्यञ्जन सन्धि—इसके पहले दो भेद हैं, आस्थापित (जिसमें एक व्यञ्जन के साथ दूसरे का सम्पर्क हो) तथा आन्-पदवृत्ति (जिसमें आन् से अन्त होने वाले पदों के बाद कोई स्वर आने पर न् को अनुनासिक होता है जैसे—महाँ इन्द्रः, विद्वां अग्ने)।[1]

आस्थापित के सभी दो भेद हैं—अवशंगम (जब दो व्यंजनों के मेल से कोई विकार न हो जैसे—यस्पतये, वषट्ते) तथा वशंगम (जब विकार या परिवर्तन हो)। वशंगम सन्धि संस्कृत के समान ही होता है जो पाणिनि के प्रमुख सूत्रों से स्फुट प्रतीत होता है। मुख्यतः ये सूत्र द्रष्टव्य हैं—

(१) झलां जश्झशि—यद्वाक्, आनुपग्घृतपृष्ठम्, सनेदिमम्।
(२) यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा—प्रणङ्मर्त्यस्य, तन्नः।
(३) शश्छोऽटि—विपाट् + शुतुद्री = विपाट्छुतुद्री।

१. यदि पदान्त ईन्, ऊन्, ऋन्, के बाद स्वरवर्ण हो तो अनुनासिक के साथ रकार भी होता है—परिधीन् + अति = परिधीँरति। अभीशून् + इव= अभीशूँरिव। नृन् + अभि = नॄँरभि।

(४) स्तोः श्चुना श्चुः—तच्चक्षुः, यज्जाग्रतः ।

(५) झयो होऽन्यतरस्याम्—इत् + हर्यो = इद्धर्योः (ऋ० १।७।२)

(६) तोर्लि—जिगीवाँल्लक्षमादत् ।

(७) वा पदान्तस्य—भद्रङ्करिष्यसि, अहञ्च ।

(८) मोऽनुस्वारः (परिपन्न-प्राति०)—होतारं रत्नधातमम् ।

(ग) विसर्ग सन्धि—यहां भी संस्कृत व्याकरण के ही नियम चलते हैं । प्रातिशाख्य के शास्त्रीय शब्दों की तुलना अवश्य नयी होगी ।

(१) अभिनिहित—('अतो रोरप्लुतादप्लुते' तथा 'एङः पदान्तादति')—सोऽयम् । गायत्रिणोऽर्चन्ति । इसमें अनुवर्ती अकार पूर्ववर्ती अक्षर में समाविष्ट हो जाता है ।

(२) प्रश्लित—विसर्ग के स्थान में 'उ' होकर ओकार हो जाना (पा०—ह शिच, अतो रोरप्लुता०) जैसे—देवो देविभिः । देवासो अप्लुरः । विसर्ग के पूर्व अ तथा बाद के घोष वर्ण रहना चाहिए ।

(३) रेफ—(ससजुषो रुः) विसर्ग के पूर्व अवर्णेतर वर्ण हो तथा बाद में घोष वर्ण हो तो विसर्ग का र् होता है—अग्निर्देवेभिः, पूर्वेभिर्ऋषिभिः, परिभूरसि । प्रातः, स्वः इत्यादि के बाद भी यह रकार होता है—प्रातरग्निम्, स्वर्धेहि ।

(४) उपाचरित—(विसर्जनीयस्य सः) विसर्ग के बाद क्, प् होने से स् (ष्) होता है—विश्वतस्परि (ऋ० १।७।१०), ब्रह्मणस्पतिः, निष्कृतम् ।

(५) उद्ग्राह पदवृत्ति—(विसर्ग लोप)—अ आ के बाद विसर्ग हो तथा उसके बाद अ को छोड़कर कोई दूसरा स्वरवर्ण हो तो विसर्ग का लोप हो जाता है—भरन्त एमसि, सखिभ्य आ, मर्ता अभि द्रुहन् , दधाना इन्द्रे ।

(६) नियत—इसमें विसर्ग का लोप इस नियम पर आश्रित है कि पूर्व का स्वरवर्ण दीर्घ हो जाय । विसर्ग के बाद रकारादि शब्द रहने पर ऐसा होता है जैसे—अग्निः + रक्षांसि = अग्नी रक्षांसि । पाणिनि—रो रि, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ।

(७) अकाम—आ, ई, ऊ + विसर्ग + र ऐसा सन्धि रूप रहने पर विसर्ग लुप्त हो जाता है, उसकी कामना नहीं रहती जैसे अश्वाः + रथः = अश्वारथः । इसी प्रकार आ के बाद विसर्ग हो तथा तब कोई घोषवर्ण हो तो विसर्ग का लोप हो जाता है—इमा भवान्तु, स्तोमा अवीवृधन् ।

२—शब्दरूप—(Declension)

वैदिक शब्दों के रूप संस्कृत के रूपों के समानान्तर होने पर भी कहीं-कहीं अपनी विलक्षणता रखते हैं। उनकी मुख्य विशेषताएं निम्नांकित हैं—

अ. अजन्त शब्दों के रूप (अकारान्त—पुं. नपुं.)

(१) प्र० द्वि० सं० में द्विवचन—आ, औ; नरा-नरौ, नासत्या-नासत्यौ (पुं०)।

(२) प्र० सं० में बहु०—जनाः-जनासः (पुं०), विश्वा-विश्वानि (नपुं०—द्वि० बहु० में भी)।

(३) तृ० में एकवचन—प्रियेण-प्रिया; (बहु०)—देवैः-देवेभिः।

(४) स० में एक०—वसन्ते-वसन्ता (सुपां सुलुक्० से डा)।

आकारान्त (स्त्री०)

(१) प्र० द्वि० सं० बहु०—प्रियाः-प्रियासः।

(२) तृ० एक०—प्रिया-प्रियया। —

इकारान्त (पुं० स्त्री० नपुं०)

(१) प्र० द्वि० सं० में द्विवचन (नपुं०)—शुची ('शुचिनी' नहीं)।
बहुवचन (नपुं०)—शुचि, शुची, शुचीनि (३ रूप)।

(२) तृ० एक० (पुं०) शुच्या, शुचिना (नपुं०); (स्त्री०)—ऊत्या, ऊति, ऊती।

(३) स० एक०—तीनों लिंगों में दो रूप—अग्ना, अग्नौ।

(४) प० ष० एक०—अरेः-अर्यः।

ईकारान्त (पुं० स्त्री०)

(१) प्र० एक० (पु०)—रथी-रथीः।

(२) प्र० बहु० (स्त्री०)—देवीः, देव्यः।

उकारान्त (पुं० स्त्री० नपुं०)

(१) प्र० द्वि० सं० में द्विवचन—मधू (स्त्री० पुं०); मध्वी (नपुं०, मधुनी नहीं)।

बहुवचन (नपुं०)-मधू, मधु मधूनि (३ रूप)।

(२) तृ० में एक-मधुना-मध्वा (पुं०); (नपुं०) मधुना; (स्त्री०) मध्वा।

(३) चतुर्थी एक०—मधुने-मध्वे (स्त्री० पुं०)। नपुं० में दोनों रूप।

(४) पञ्चमी एक०—मधो (स्त्री० पुं०); मधोः-मधुनः (नपुं०)।

(५) ष० एक०—मध्वः-मधोः (पुं०); मधोः-मधुनः (नपुं०); मधोः (स्त्री०)।

(६) स० एक०—मधौ-मधवि (पुं०); मधौ-मधुनि (नपुं०); मधौ (स्त्री०)

ऋकारान्त (पुं० स्त्री०)

(१) प्र० द्वि० सं० में द्विवचन—मातरा-मातरौ; नरा-नरौ ('नृ' शब्द)।

ओकारान्त—गो शब्द

(१) प्र० द्वि० सं० में द्विवचन—गावौ, गावा। (इसी प्रकार द्यावा-द्यावौ)

(२) ष० बहु०—गवाम्, गोनाम्।

आ. हलन्त शब्दों के रूप (सामान्यतः)

(१) प्र० द्वि० सं० द्विव०—आ, औ; अश्विना-अश्विनौ; श्वाना-श्वानौ पादा-पादौ; वाचा-वाचौ; अपसा-अपसौ।

(२) स० एक० में अन्नन्त शब्दों की विभक्ति का लोप—व्योमन्, धन्वन्, शर्मन्, वरिमन्। असन्त शब्दों को ई—सरसी।

(३) सं० एक० में °मत् या °वस् प्रत्ययान्त को 'वः'—हरिवः, मीढ्वः, मरुत्वः।

इ. सर्वनामों के रूप

(१) अस्मद्—प्र० द्वि० द्वित्र०-वाम्। च० एक०—मह्य-मह्यम्।
च० बहु०—अस्मे-अस्मभ्यम्। स० एक०— मे, मयि।
स० बहु०—अस्मे-अस्मासु।

(२) युष्मत्—प्र० द्वि०—युवम्। तृ० एक०—त्वा-त्वया।
पं० एक०—युवत्-त्वत्। ष० द्वित्र०—युवोः।
स० एक०— त्वे, त्वयि। स० बहु०—युष्मे-युष्मासु।

(३) तद् (त्यद्)—प्र० द्वि० द्वित्र० (पुं०)-ता, तौ (त्यौ)। तृ० बहु०—तैः, तेभिः।

सप्त० एक०—तस्मिन्-तस्मिन्।

(४) इदम्—तृ० एक० (स्त्री०)—अया, अनया।
ष० द्विव० (पुं०)—एनोः, एनयोः।

(५) किम्—प्र० द्वि० एक० (नपुं०)—किम्, कद्। तृ० बहु०-केभिः।

(६) वेद में 'एक' के स्थान पर 'त्व' का प्रयोग भी होता है। त्वः, त्वे, त्वम्।

३. धातुरूप (Conjugation)

संस्कृत भाषा की अपेक्षा वैदिक भाषा में धातुरूपों की संख्या अधिक है। केवल लेट् लकार का प्रयोग ही वेद की विलक्षणता नहीं है, प्रत्युत विभिन्न लकारों की संसृष्टि, किसी धातु का गणविशेष में निश्चित नहीं होना, लकारार्थ की अनियमितता, लुङ्-लङ्-लृङ् में लगने वाले अट् आगम का अनिश्चय इत्यादि कई विलक्षणताएँ हैं। इनका अन्तर्भाव पाणिनि ने छान्दस व्यत्यय के अधीन ही प्रायशः किया है यद्यपि कुछ विशेषताओं के निर्देशक सूत्र भी दिये गये हैं जैसे—छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (लकारार्थ की अनियमितता), बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि, लिङर्थे लेट्, उपसंवादाशङ्कयोश्च इत्यादि। मैकडोनल ने धातुरूपों को वर्गीकृत करने में नया दृष्टिकोण अपनाया है। उनके अनुसार चार प्रकार के रूप पाये जाते हैं—

(१) लट्-मूलक रूप (Present System)
(२) लिट्-मूलक रूप (Perfect System)
(३) लुङ्-मूलक रूप (Aorist System)
(४) लृट्-मूलक रूप (Future System)[1]

इन सभी रूपों में प्रत्येक की पाँच-पाँच दशाएँ (moods) होती हैं—

(१) निर्देश-दशा (Indicative) जिसमें उक्त लकारों के रूप रहते हैं।

(२) अनुज्ञा (Inperative लोट्) जिसमें आदेश या इच्छा व्यक्त होती है। इसमें उत्तम पुरुष के रूप नहीं मिलते हैं।

(३) विधि (Injunctive)—लोट् के समान रूप होते हैं।

(४) इच्छार्थ (Optative लिङ्)—ऐसी इच्छा की अभिव्यक्ति जिसकी पूर्ति वक्ता के अधीन नहीं हो।

(५) विध्यर्थ (Subjunctive लेट्)—इसमें ऐसी इच्छा की अभिव्यक्ति होती है जिसकी पूर्ति वक्ता के अधीन रहती है।

इस प्रकार मैकडोनल ने कुल २१ (लङ् के साथ) प्रकार के रूपों की सत्ता बतलाई है। पाणिनीय संप्रदाय में लट्, लिट्, लुङ्, लृट्—इन चारों की निर्देश दशा तथा लट् की पाँचों दशाएँ (लट् या निर्देश, लोट्, विधिलिङ्, लङ्, लेट्) स्वीकृत हैं। शेष का कार्य व्यत्यय से चलता है जैसे √चित्

---

१. इनके अतिरिक्त लङ्लकार (Imperfect) भी एक काल ही है किन्तु इसकी दशाएँ नहीं होतीं अतः उसे 'मूलक रूप' में नहीं रखा गया। इसे दशा के रूप में रखा जा सकता है।

(जानना) से लिट्-मूलक रूप की विध्यर्थ-दशा (Perfect Subjunctive) है—चिकेतत् । इसकी व्याख्या पाणिनि-मत में होगी कि चित्-धातु व्यत्यय से जुहोत्यादि के समान श्लु लेकर द्वित्व लेता है और तब लेट् लकार में रूप होगा । मैकडोनल के विश्लेषण की वैज्ञानिकता इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है ।

लट् मूलक रूप (Present System)

(१) निर्देशदशा में लट् लकार का रूप संस्कृत के समान होता है किन्तु परस्मैपद में मध्यमपुरुष बहुवचन में थ-थन (जैसे-वदथन, स्थन)-ये दो प्रत्यय होते हैं तथा उ० प्र० बहु० में भी मः-मसि (जैसे—इमसि, मिनीमसि)—ये दो रूप होते हैं । आत्मनेपद संस्कृत से मिलता-जुलता है ।

(२) अनुज्ञा में संस्कृत लोट् का ही रूप रहता है किन्तु कुछ अपवाद हैं । अन्यपु० एक० में तु-तात (भवतु, भवतात्) ये दो रूप, मध्यमपु० एक० में सि-हि-धि (मत्सि, शृणुहि, श्रुधि, शृणुधि) ये रूप भी तथा मध्यमपु० बहु० में त-तन-थन (शृणुत, शृणोत, शृणोतन, याथन) ये कई रूप परस्मैपद के हैं । आत्मने० में मध्य० बहु० का ध्वम् तो है ही, ध्वात् (वारयध्वात्) भी मिलता है ।

(३) विधि-दशा का रूप लोट् का होता है और केवल अ० पु०+म० पु० द्विवचन तथा म० पु० बहु० में प्राप्य है:—भवताम्, भवतम्, भवत—क्रमशः ये ही परस्मैपद के रूप हैं । आत्मनेपद में भी लोट् के तत्तत्-स्थानीय रूप होते हैं । मैकडोनल विधि-दशा को मूल तथा अनुज्ञा को इस पर आश्रित मानते हैं इसलिए इसका पृथक् विभक्ति-निर्देश नहीं करते ।

(४) इच्छार्थ दशा में विधिलिङ् का रूप रहता है । संस्कृत से समानता है ।

(५) लङ्लकार (Imperfect) को भी यहाँ समाविष्ट कर लिया जा सकता है । मूलतः तो यह काल ही है किन्तु लट्मूलक रूप ग्रहण करता है ।

(६) विध्यर्थ-दशा (लेट्) की विभक्तियाँ निम्नांकित हैं—

	परस्मैपद	आत्मनेपद
अन्य०	अति, अत्—अतस्—अन्, अन्ति	अते, अतै—ऐते—अन्तै, अन्त ।
मध्य०	असि, अस्—अथस्—अथ०	असे, असै—ऐथे—अध्वै ।
उत्तम०	आनि, आ—आव आम०	ऐ —आवहै—आमहै-आमहे ।

तदनुसार √भू का रूप इस प्रकार होगा—

परस्मैपद

अन्य०	भवाति, भवात्—भवातः—भवान्
मध्य०	भवासि, भवाः—भवाथः—भवाथ
उत्तम०	भवानि, भवाः—भवाव—भवाम

आत्मनेपद

अन्य०	भवाते, भवातै—भवैते—भवान्ते
मध्य०	भवासे, भवासै—भवैथे—भवाध्वे
उत्तम०	भवै — भवावहै—भवामहै

लिट्-मूलक रूप (Perfect System)

(१) निर्देश-दशा—में यह संस्कृत के लिट् लकार का रूप ग्रहण करता है जैसे— √धा का रूप—

परस्मैपद

अन्य०	दधौ	दधतुः	दधुः ।
मध्यम०	दधाथ	दधथुः	दध ।
उत्तम०	दधौ	दधिव	दधिम ।

आत्मनेपद

अन्य०	दधे	दधाते	दधिरे (दध्रे भी) ।
मध्यम०	दधिषे	दधाथे	दधिध्वे ।
उत्तम०	दधे	दधिवहे	दधिमहे ।

(२) अनुज्ञा में यह जुहोत्यादि-गण के धातुओं के समान रूप लेता है जैसे— √चित् से चिकिद्धि (मध्य० ए०); √मुच् से मुमुग्धि, मुमुक्तम् (मध्य० बहु०), मुमोक्तु (अन्य० एक०) ।

(३) विधि-दशा में दूधोत् (√धू = हिलाना, अन्य० एक०), सुस्रोत् (√स्रु=प्रवाहित होना), ततनन्त (आत्मने० अन्य० बहु० √तन्) इत्यादि रूप हैं ।

(४) इच्छार्थ दशा के रूपों में जगम्यात् (अन्य० ए० √गम्), बभूयाः, ववृत्याः (मध्य० एक०), बभूयात् (अन्य० एक०), ववृतीय (√वृत् , आमने० उत्तम० एक०), वावृधीथाः (√वृध् , आत्मने० मध्य० एकव०) इत्यादि मिलते हैं ।

(५) विध्यर्थ (लेट्) रूप जैसे—ततनः (√तन्), बुबोधः

(√बुध्), जुजोषसि (√जुष्)—सभी परस्मै० मध्य० एक०; चिकेतन (√चित्), दिदेशति (√दिश्)—अन्य० एक० । आत्मनेपद रूप—जुजोषते, अनशामहै (√अंश् = पाना) ।

(६) इन दशाओं के अतिरिक्त लिट्-मूलक रूप के अन्तर्गत एक और रूप पाया जाता है जिसमें लिट् के रूप के साथ लङ् के समान अट् का आगम तथा विभक्तियां पायी जाती हैं। इसे मैकडनोल Pluperfect कहते। यहां इसका यही स्थान है जो लट्मूलक रूप में लङ् का। कभी-कभी लङ् के समान ही इसमें अट् का अभाव होता है। कुछ रूप इस प्रकार हैं—अजग्रभीत् (√ग्रह), अचिकेतत्—अन्य० एक०; अचचक्षम् (√चक्ष्), अतुष्टावम् (√स्तु); अमुमुक्तम् (√मुच् , मध्य० द्वि०); अचुच्यवीतन (√च्यु, मध्य० बहु०)। अजग्मिरन् , अपेचिरन् , अससृग्रन् , (√सृज् , आत्मने० अन्य० बहु०)।

लुङ्-मूलक रूप (Aorist)

वेदों में प्रायः ४५० धातुओं से इसका रूप निष्पन्न हुआ है। अट् का आगम इसमें भी होता है। लङ् से इसका अर्थ भिन्न होता है तथा लङ् के समान इसका समरूप वर्तमान काल नहीं होता। इसके दो भेद हैं—(१) सकारग्राही (Sigmatic) जिसमें धातु तथा विभक्ति (तिङ्) के मध्य अ या इसके बिना भी स् का आगमन होता है तथा (२) सकारहीन (non-Sigmatic) जिसमें मूल या द्वित्वविशिष्ट धातु से सीधे या अ लगाने के बाद विभक्ति जुड़ती है। पहले प्रकार के (जो २०० धातुओं से होता है) चार भेद हैं—स, स् , इष्, सिष्। दूसरे प्रकार के रूप २५० धातुओं से संबद्ध हैं तथा इसके तीन भेद हैं—अ, शून्य, धातुद्वित्व।

सकारग्राही लङ् (Ist Aorist)

(क) स के रूप में विकरण—ग्रहण करने वाले लुङ् के उदाहरण विभिन्न दशाओं में पाये जाते हैं, जैसे—

(१) निर्देश-दशा—अधुक्षत , अधुक्षन् (√दुह्); अरुक्षाम। आत्मने०—अधुक्षत, अमृक्षन्त।

(२) अनुज्ञा—यक्षताम्, मृक्षतम्। आत्मने०—धुक्षस्व।

(३) विधि—दुक्षः मृक्षः (√मृष्)। धुक्षत, धुक्षन्त।

(ख) स् के रूप में विकरण वाला लुङ्—

(१) निर्देश-दशा—अभाः, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः। आत्मनेपद—अस्तोष्ट, अस्तौषाताम् अस्तोषत।

(२) अनुज्ञा—नेष (√नी, परस्मै० मध्य० एक०)। आत्मने०—साच्व (√साह्), रासताम्, रासन्ताम् ।

(३) विधि—स्तोषम्, जेषम्, (√जि, उत्तम० एक०) जेष्म (उत्त० बहु०)।

(४) इच्छार्थ—दिषीय (√दा = काटना), मुक्षीय (√मुच्)—उत्तम० एक० । दर्षीष्ट (√दृ = फाड़ना), भक्षीत ।

(५) विध्यर्थ—स्तोषाणि, स्तोषसि, स्तोषः, जेषः (√जि) । आत्मने० स्तोषै, स्तोषन्ते, स्तोषाथे ।

(६) इस लुङ् के कालार्थक रूप (Participle)—(परस्मै०) दक्षत्, धक्षत् । (आत्मने०) मन्दसान (आनन्दित होते हुए), यमसान (भगाये जाते हुए)।

(ग) इष् के रूप में विकरण वाला लुङ्—

(१) निर्देश-दशा—अक्रमीत्, अक्रमिष्टाम्, अक्रमिषुः । अक्रमिषम्, अक्रमिष्म (उत्त० बहु०) आत्मने०—अक्रमिष्ट, अक्रमिषाताम्, अक्रमिषत ।

(२) अनुज्ञा—अविष्टु, अविष्टाम्, अविड्ढि, अविष्टन ।

(३) विधि—तारीत्, तारिषुः, वधिष्ट, वधिष्टन । आत्म०—बाधिष्ट, राधिषि ।

(४) इच्छार्थ (केवल आत्मने०)—जनिषीष्ट, तारिषीमहि (उत्त०बहु०)।

(५) विध्यर्थ—तारिषत्, बोधिषत्, दविषाणि । आत्मने०—याचिषामहे । (पाणिनि ने इन्हें लेट् लकार में लेते हुए सिप्-विकरण माना है—सिब्बहुलं लेटि ।)।

(घ) सिष् के रूप में विकरण वाला लुङ्—इस प्रकार का लुङ् केवल ७ धातुओं से होता है—गा (√गै), ज्ञा, प्या (भर देना), या, हा, वन् (जीतना), रम् ।

(१) निर्देश-दशा—अयासिषम्, अयासिष्ट, अगासिषुः ।

(२) अनुज्ञा—यासिष्टम्, यासिष्ट ।

(३) विधि—हासिष्ट, हासिषुः, रंसिषम् ।'

(४) इच्छार्थ—यासिषीष्ठाः, वंसिषीय (उत्तम एक०), प्यासिषीमहि ।

(५) विध्यर्थ—गासिषत्, यासिषत् ।

सकारहीन लुङ् (2nd Aorist)

(क) अकार (अङ्) विकरण वाला लुङ्—इसका रूप तुदादिगणीय धातुओं के लङ् लकार जैसा होता है । यह प्रायः ८० धातुओं से होता है ।

(१) निर्देश-दशा—अविदत् , अविदः, अविदम् । आत्मने०—अविदत अविदेताम्, अविदन्त, अविदे, अविदावहि, अविदामहि ।

(२) अनुज्ञा—सदतुं, सदताम्, सदन्तु । आत्म०—सदन्ताम्, सदध्वम् ।

(३) विधि—विदत , विदन्, विदम्, आत्मने०-विदत, विदन्त, विदामहि ।

(४) इच्छार्थ—विदेत् , विदेः, विदेयम् । आत्मने०—विदेय, विदेमहि ।

(५) विध्यर्थ—विदाति-विदात् , विदातः, विदाथ-विदाथन । आत्मने०—विदाते, विदामहे ।

(ख) विकरण-विहीन (शून्य) लुङ्—वेदों में प्रायः १०० धातुओं से ऐसा लुङ् होता है । इसमें धातु से सीधे प्रत्यय लगाए जाते हैं । पाणिनि का सूत्र 'घसह्वरणश' च्लि-लोप करता है, तुलनीय है ।

(१) निर्देश-दशा—अस्थान् , अस्थानाम्, अस्थुः । अस्थाः, अस्थातम्, अस्थात । अस्थाम्, अस्थाम । आत्मने०—अकृत, अकृताम्, अक्रत । अकृथाः,-अकृध्वम् । अक्रि, अकृवहि, अकृमहि ।[1]

(२) अनुज्ञा—कृष्व, कृध्वम् (आत्मने०) । दातु, कृधि, श्रुधि, पूर्धि, गमन्तु, गहि, श्रोतु ।

(३) विधि—भूत , भुवन् , भूः, भुवम्, भूम । आत्मने०—धीमहि, नंशि, वृत ।

(४) इच्छार्थ—भूयात् , अश्याम्, भूयाम, अश्युः । आत्मने०-अशीय, नशीमहि (√नश् = पहुँचना) ।

(५) विध्यर्थ—करति-करत् , करतः, करन्ति-करन् । आत्मने०—करसे, करते, करन्त, कराम है ।

(ग) द्वित्वयुक्त (reduplicated) लुङ्—यह प्रायः ९० धातुओं से निष्पन्न होता है । पाणिनि व्याकरण में णिजन्त धातुओं से लुङ् में जो चङ् लगता है, यही प्रकार है ।

(१) निर्देशदशा—अजीजनत् , अजीजनम्, अचीकृपम् (√कृप् = खींचना), अबूभुवः, सिष्वपः, अज़ीगः (√गृ=निगलना), अवीवृधन् , अदिद्युतत् । आत्मनेपद—अजीजनत, अजीजनध्वम्, अवीवृधध्वम्, अबीभयन्त, असिष्यदन्त (√स्यन्द्) ।

---

१. आत्मनेपद के अन्यपुरुष बहुवचन में 'रन्' की विभक्ति बहुत से धातुओं में होती है—अकृप्रन् , अगृभ्रन् , अदृश्रन् , अबुध्रन् , अवृत्रन् । इसी प्रकार परस्मै० उत्त० एक० में 'रम्'—अदृश्रम, अबुध्रम, असृग्रम् ।

(२) अनुज्ञा—वोचतात्, वोचतु, जिगृतम्, पूपुरन्तु (√पॄ), पप्तत ।
(३) विधि—चुक्रुधाम, चिक्षिपः, पिस्पृशः, रीरधः, मीमयत्, रीरधत ।
(४) इच्छार्थ—वोचेयम्, वोचेः, वोचेत् । आत्म०—वोचेय, वोचेमहि ।
(५) विध्यर्थ—रारधा तीतपासि, सीषधाति (√साध्), रीरमाम ।

लृट्-मूलक रूप (Future System)

इसे पाणिनि स्य विकरण लगाकर बनाते हैं तथा रूप लट् के समान ही होता है । मैकडोनल इस भविष्यत्काल को लृट् (Simple), लुट् (Periphrastic) तथा लृङ् (Conditional) के रूप में तीन भागों में निरूपित करते हैं ।

(क) लृट् (Simple Future)—

(१) निर्देश-दशा—करिष्यति, करिष्यामि, करिष्यामः–करिष्यामसि । आत्मने०—करिष्यते, करिष्यसे, करिष्ये ।
(२) विध्यथ—करिष्याः, नोत्स्यावहै (√नुद्)
(३) कालार्थक (Participle)—करिष्यत्, धक्ष्यत्, यक्ष्यमाण ।

(ख) लुट् (Periphrastic Future)—संहिताओं में इसके कोई निश्चित उदाहरण नहीं मिलते । 'अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र' (यजु०) इत्यादि उदाहरणों में तृच्-प्रत्ययान्त शब्द के रूपमात्र हैं ।

(ग) लृङ् (Conditional)—इसका केवल एक उदाहरण ऋ० २।३०।२ में है—अभरिष्यत् (भरने जा रहा था) । केवल शतपथब्राह्मण में इसके प्रायः पचास प्रयोग होंगे, अन्यथा अन्यत्र यह दुर्लभ है ।

कालबोधक कृदन्त (Participles)

इसके तीन भाग हैं—(१) परस्मैपदीय या कर्तृवाचक (Active), (२) आत्मनेपदीय तथा कर्मवाचक (Middle and Passive), (३) अव्ययभूत (Indeclinable or Gerund) ।

(१) परस्मैपदीय या कर्तृवाचक (Active Participle)—

(१) परस्मैपद में चलने वाले धातुओं से कर्तृवाचक कालार्थक कृदन्त बनाने के लिए अन्त (अत, शतृ-प्रत्यय) लगाया जाता है जैसे—भवन्, अस्यन्, कृण्वन्, भिन्दन् । द्वित्व वाले धातु (जुहोत्यादि) न् नहीं लेते—जुह्वत । ये लट्मूलक रूपों के उदाहरण हैं । लुङ्मूलक रूपों से भी—विदन्, ऋधन्, क्रन् (√कृ), ग्मन्, पान् (√पा)—इत्यादि होते हैं । इसी प्रकार लृट्मूलक रूपों से भी—भविष्यन्, करिष्यन् इत्यादि होते हैं ।

(२) लिट् मूलक रूपों से परस्मैपदीय कृदन्त बनाने के लिए वांस् (क्वसु-प्रत्यय) लगाते हैं जैसे—चकृवान् , जगन्वान् , तस्थिवान् , बभूवान् ववृत्वान् , पत्तिवान्, ईयिवान्, ऊषिवान् इत्यादि । इनका रूप विद्वस् के समान चलता है । कुछ धातुओं में यह प्रत्यय सीधे (बिना द्वित्व) लगता है—दाश्वान् , विद्वान् , साह्वान् , मीढ्वान् , खिद्वान् , (√खिद्) । अन्य उदाहरण—√चित > चिकित्वान् । √जि > जिगीवान् । विच् > विविक्वान् ।

(२) आत्मनेपदीय तथा कर्मवाचक (Middle and Passive Participle)—

(१) आत्मनेपद में चलने वाले धातुओं से (चाहे वे कर्तृवाच्य में हों या कर्मवाच्य में) वर्तमानकालबोधक कृदन्त बनाने के लिए मान या आन (शानच् प्रत्यय) लगाया जाता है । उदाहरण—यक्ष्यमाण, क्रियमाण, यजमान, ब्रुवाण, जुह्वान, रुन्धान, कृण्वान, पुनान, स्तवान, शयान, आसान-आसीन, दुघान-दुहान ।

(२) लिट्मूलक रूपों में आत्मनेपदी धातुओं के आन (कानच्-प्रत्यय) लगाया जाता है । तदनुसार इसमें द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होता है । उदाहरण—आनशान (√अंश्), ईजान (√यज्), ऊचान (√वच्), चक्राण (√कृ), चिकितान (√चित्), जग्मान (√गम्), पस्पशान (√स्पश्), शिश्रियाण (√श्रि), सुषुपाण (√स्वप्)। शशमान, तूतुजान, शूशुजान, शूशुवान (√शू=फूल जाना) ।

(३) कर्मवाच्य में भूतकाल का बोधक कृदन्त प्रायः 'त' (क्त-प्रत्यय) या कहीं-कहीं 'न' (तुल०—रदाभ्यां निष्ठा तो नः०) लगाने से बनता है । 'न'—लीन (√ली = सटना), दून (√दू = जलना), द्राण (√द्रा = सोना), दीन (√दो = काटना), हीन (√हा), गीर्ण (√गॄ = निगलना), स्कन्न (√स्कन्द् = उछलना), वृक्ण (√व्रश्च् = काटना), रुग्ण । कुछ धातुओं में 'त' तथा 'न' दोनों के रूप में देखे जाते हैं—√नुद्—नुन्न, नुत्त; √विद्—विन्न, वित्त; √सद्—सन्न, सत्त; √पॄ—पूर्ण, पूर्त्त । 'त' प्रत्यय धातुओं से सीधे भी लगता है और इट् लगाकर भी । उदाहरण—यात, जित, भीत, नष्ट (√नश्), गूढ (√गुह्), दुग्ध (√दुह्), सृष्ट (√सृज्), विद्ध (व्यध्) । √दा—दात (स्वा-दात), दत्त (स्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः), व्यात्त (वि + आ + दा) । 'इत' के उदाहरण—निन्दित, कुपित, उक्षित (√वक्ष् = बढ़ाना), गृभीत (√ग्रह्), उदित (√वद्) ।

कर्तृवाच्य में उपर्युक्त 'त' प्रत्यय में वत् लगाकर (क्तवतु-प्रत्यय) बनाये गये रूप का एकमात्र उदाहरण अथर्ववेद में मिलता है—अशितावान् । ब्राह्मणों में भी ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं ।

(४) कर्मवाच्य में भविष्यत्काल का बोधक कृदन्त (Gerundive) ऋग्वेद में चार प्रत्ययों से (य, आय्य, एन्य, त्व) तथा अथर्ववेद में इनके अतिरिक्त दो प्रत्ययों से (तव्य-अनीय) बनता है ।

य— देय, भव्य-भाव्य (√भू), वार्य, द्वेष्य, श्रुत्य, कृत्य, चर्कृत्य (स्तुत्य) ।

आय्य—पनाय्य (श्लाघ्य), विदाय्य (प्राप्य), श्रवाय्य । कुछ प्रत्ययान्त धातुओं से भी—पनयाय्य (√पन् + णिच्), स्पृहयाय्य, दिधिषाय्य (√धा + सन्), वितन्तसाय्य (शीघ्रता करने योग्य, यङ्) ।

एन्य—द्विषेण्य, युधेन्य, दृशेन्य, वरेण्य, यंसेन्य, दिदृक्षेण्य (√दृश् + सन्), मर्मृजेन्य (√मृज् + यङ्), वावृधेन्य (√वृध् + यङ्), सपरेण्य (पूजनीय, सपर्या से नाम धातु बनाकर) ।

त्व—कर्त्व, हेत्व (√हि), सोत्व (√सु), वक्त्व, सनित्व । पाणिनि ने इनमें से कुछ प्रत्ययों को 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' में निर्दिष्ट किया है ।

तव्य, अनीय—अथर्ववेद में प्रत्येक के केवल दो-दो उदाहरण हैं—जनितव्य, हिंसितव्य । उपजीवनीय, आमन्त्रणीय ।

(३) अव्ययभूत कालबोधक कृदन्त (Gerund)

संस्कृत में पूर्वकालिक क्रिया के लिए केवल 'त्वा' (क्त्वा-प्रत्यय) तथा इसका आदेश 'य' (ल्यप् प्रत्यय) ही होते हैं । वेद में इनके अतिरिक्त त्वी तथा त्वाय भी हैं । ये सभी 'तु' से अन्त होने वाले शब्द के विकार हैं जिससे 'तुम्', 'तोः' इत्यादि की क्रियार्था क्रिया भी बनती है ।

त्वी—कृत्वी (करके), गत्वी, गूढ्वी (छिपाकर), भूत्वी, जनित्वी, स्कभित्वी ।

त्वा—पीत्वा, श्रुत्वा, दृष्ट्वा, जग्ध्वा (√जक्ष्), गृहीत्वा ।

त्वाय—गत्वाय, जग्ध्वाय, दृष्ट्वाय, हत्वाय ।

य(या), त्य(त्या)—अभ्युप्य (√वप्, आच्छन्न करके), निचाय्या, अतिदीव्य (√दिव्), निषद्या, विभाज्य, पुनर्दाय, कर्णगृह्य (कान पकड़कर) हस्तगृह्य, एत्य, अभिजित्य, आहत्य, अरंकृत्या, अक्खलीकृत्य (हल्ला करके), आगत्या ।

५. क्रियार्थो क्रिया (Infinitive)

संस्कृत में इसके लिए केवल 'तुम्' (तुमुन्-प्रत्यय) लगता है किन्तु ऋग्वेद में इसके केवल पांच ही उदाहरण हैं। वेदों में क्रियार्था क्रिया के लिए द्वितीयान्त (Accusative), चतुर्थ्यन्त (Dative), पञ्चमी-षष्ठ्यन्त (Ablative-Genitive) तथा सप्तम्यन्त (Locative) रूप पाये जाते हैं। इनमें चतुर्थ्यन्त का प्रयोग सर्वाधिक होता है।

(क) द्वितीयान्त—इसके दो भेद हैं, 'अम्' लगाकर तथा 'तुम्' लगाकर। ये प्रत्यय धातुओं से सीधे लगाये जाते हैं—समिधम् (√इध्, जलाने के लिए), संपृच्छम् (पूछने के लिए), शुभम् (चमकने के लिए), प्रमियम् (√मी, तिरस्कारार्थं)। दातुम् (लातिन datum), प्रभर्तुम्, प्रष्टुम्।

(ख) चतुर्थ्यन्त—इसके भी दो भेद हैं, धातु से सीधे प्रत्यय लगाकर और धातु को संज्ञा बनाकर प्रत्यय लगाने से भी यह बनता है। प्रथम भेद के उदाहरण—परादै (√दा), मिये (√मी), तिरे (√तॄ), भुवे = भ्वे, महे (प्रसन्न होने के लिए), भुजे, दृशे, ग्रभे, नुदे। दूसरे भेद के अन्तर्गत ९ प्रकार से संज्ञाएं बनाई जाती हैं, तब चतुर्थी का ए प्रत्यय लगता है।

(१) असन्त—चक्षसे, चरसे, भियसे (असेन्-प्रत्यय)।

(२) इकारान्त—महये, युधये, सनये।

(३) 'ति' अन्तवाले—इष्टये, पीतये, वीतये। वास्तव में यह क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्द का चतुर्थी रूप है। किन्तु अर्थ-साम्य देखकर मैकडोनल ने इसे क्रियार्था क्रिया के अन्तर्गत रखा है।

(४) 'तु' अन्तवाले—एतवें, कर्तवे, हन्तवे, पातवे, चरितवे।

(५) 'तवा' अन्तवाले—एतवै, ओतवै, (बुनने के लिए), सर्तवै, पातवै।

(६) 'त्या' अन्तवाले—का एकमात्र उदाहरण 'इत्यै' (जाने के लिए) है।

(७) 'ध्या' अन्तवाले—गमध्यै, चरध्यै, पिबध्यै, पृणध्यै।

(८) मन्नन्त—त्रामणे, दामने (देने के लिए, ग्रीक–domenai), विद्मने (जानने के लिए, ग्रीक idmenai), धर्मणे।

(९) वन्नन्त—तुर्वणे (√तॄ, परास्त करने के लिए), दावने (ग्रीक–dovnai, dophenai)।

(ग) पञ्चमी-षष्ठ्यन्त—इसमें यस् या तोस् से अन्त होने वाले रूप हैं जो पंचम्यन्त या षष्ठ्यन्त समझे जा सकते हैं जैसे—आतृदः (√तृद् =

चीरना), संपृचः (संपृक्त होते हुए), अवपदः (गिरते हुए), निमिषः (पलक गिरने के लिए)। एतोः, गन्तोः, जनितोः, कर्त्तोः, दातोः।

(घ) सप्तम्यन्त—सीधे धातु से, तर्-अन्तवाला शब्द बनाकर तथा सन्-अन्त शब्द बनाकर—इन तीन रूपों में सप्तमी का 'इ' प्रत्यय लगाने से क्रियार्थी क्रिया बनती है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—(१) संचक्षि, दृशि, बुधि। (२) धर्तरि, विधर्तरि। (३) नेषणि (नेतुम्), पर्षणि (पार होने के लिए), अभिभूषणि (सहायतार्थं), गृणीषणि (गाने के लिए)।

६. समास (Compounds)

भारोपीय काल से चला आने वाला समास वैदिक भाषा में भी पाया जाता है जिसमें दो या तदधिक शब्दों को स्वर, शब्दरूप तथा संरचना की दृष्टि से एक पद माना जाता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में तीन से अधिक पदों के समास नहीं मिलते। तीन पदों के समास भी बहुत कम हैं जैसे—पूर्वकामकृत्वन् (प्राचीन कामनाओं की पूर्ति करने वाला)। समास की मुख्य विशेषता है—स्वरों की अन्विति (एक ही उदात्त स्वर शेष रहना) तथा पूर्वपद की विभक्ति का लोप। किन्तु इन दोनों नियमों के अपवाद मिलते हैं जैसे देवता-द्वन्द्व समास में या वनस्पत्यादि शब्दों में दोनों पदों के स्वर रहते हैं। अलुक् में पूर्वपद की विभक्ति यथापूर्व रहती है।

समासों के निम्नलिखित छह भेद किये जा सकते हैं—(१) द्वन्द्व, (२) तत्पुरुष, (३) बहुव्रीहि, (४) पूर्वप्रधान, (५) वाक्यात्मक तथा (६) द्विरुक्त। इनमें वेदों के सभी समस्त पदों का अन्तर्भाव हो जाता है।

(१) द्वन्द्व समास (Co-ordinative)—इसके कई रूप देखे जाते हैं—(१) सभी द्वन्द्वों के तीन चौथाई भाग में वे द्वन्द्व हैं जिनमें प्रत्येक पद द्विवचनान्त रहता है। ऐसे समासों को देवता-द्वन्द्व कहते हैं तथा दोनों पदों में उदात्त स्वर रहता है—मित्रावरुणा, मातरापितरा, द्यावापृथिवी। ऋग्वेद में प्रायः ये जोड़े पृथक् रहते हैं—द्यावा चिदस्मै पृथिवी। बाद में पूर्वपद से विभक्ति का लोप आरम्भ हुआ—इन्द्रवायू, दक्षक्रतू। तब इन्हें साथ रहना अनिवार्य हो गया।

(ख) बहुवचनान्त द्वन्द्व—इनमें उदात्त समास के अन्तिम वर्ण पर पड़ता है। उदाहरण—अहोरात्राणि, अजावयः (अज + अवि), भद्रपापाः (अच्छे और बुरे)।

(ग) एकवचनान्त द्वन्द्व (समाहार)—इष्टापूर्तम्, कृताकृतम्, भद्रपापम्। ऐसे समास नपुंसक लिंग में तथा अन्तोदात्त होते हैं।

(घ) विशेषणों के द्वन्द्व—नीललोहित, उत्कूलनिकूल, दक्षिणसव्याभ्याम्।

(ङ) पुराने द्विवचन द्वन्द्वों (द्रष्टव्य 'क') के एक पद के द्वारा भी दोनों का बोध होता है जिसे पाणिनि एकशेष कहते हैं। जैसे—द्यावा (स्वर्ग और पृथ्वी), मित्रा (मित्र और वरुण) पितरा (माता-पिता), मातरा (माता-पिता)।

(२) तत्पुरुष समास (Determenative)—इसके दो भेद हैं। पहले भेद में वे तत्पुरुष आते हैं जिनमें पूर्वपद अप्रधान होकर दूसरे पद पर निर्भर करता है। इन्हें व्यधिकरण कहा गया है। द्वितीय से सप्तमी तक की विभक्तियों का अर्थ पूर्वपद में रहता है, कभी-कभी उनकी विभक्ति यथापूर्व रहती है तब उन्हें अलुक् कहते हैं। उदाहरण—गोहन, हविरद् (हवि खाने वाला), भद्रवादिन्; इन्द्रपातम (इन्द्र द्वारा खूब पिया गया), अग्निदग्ध; विश्वशम्भू; गोज (गाय से उत्पन्न); राजपुत्र, विश्पति, द्रुपद (लकड़ी का खूँटा); अहर्जात, बन्धुक्षित् (बन्धु के बीच रहने वाला)। अलुक्—अभयंकर, धनंजय, विश्वरिन्व, अश्वमिष्टि, शुभंया; गिरावृध्, शुनेषित, वाचास्तेन (वाणी से चोरी या क्षति करने वाला); दस्यवे वृक; दिवोजा; ग्नास्पति, ब्रह्मणस्पति, दिवोदास, शुनःशेप; रथेस्था अप्सुसद्, दिविक्षय (स्वर्ग में निवास करने वाला)।

तत्पुरुष का दूसरा भेद कर्मधारय कहलाता है। संहिताओं में इसके प्रयोग कम हैं। प्रथम पद दूसरे के साथ समान स्तर के वर्णनात्मक (appositional), विशेषणात्मक (attributive) अथवा क्रियाविशेषणात्मक रूप में सम्बद्ध हो सकता है। उदाहरण—पुरुषमृग, उलूकयातु (उल्लू के समान राक्षस), पुरुषव्याघ्र; कृष्णशकुनि, नवज्वार, महाग्राम, अर्धदेव, पूर्वाह्ण, मध्यन्दिन, आशुपत्वन्, आशुहेमन् (तेज चलने वाला), सत्ययज्, हरिश्चन्द्र (पीला चमकने वाला); अमुत्रभूय, एवार (बिल्कुल प्रस्तुत), पुरोहित, (आगे में रखा हुआ), सत्यमुग्र (सचमुच वीर), इदावत्सर (यह साल), अतिकृष्ण, अधिराज, प्रवीर, संवत्सर (पूरा वर्ष)।

(३) बहुव्रीहि समास (Possessive Compounds)—इसके भी दो भेद हैं, समानाधिकरण तथा व्यधिकरण। पहले के उदाहरण हैं—उग्रबाहु (शक्तियुक्त भुजाओं वाला), हतमातृ (जिसकी माँ मारी गई हो), रुशद्वत्सा (जिसका बच्चा चमकता हो), इन्द्रशत्रु (जिसका शत्रु इन्द्र हो), अनुद्र (जिसमें जल न हो), सुपर्ण (सुन्दर पंखों वाला)। ज्येष्ठ, श्रेष्ठ तथा भूयस् शब्द लगाकर भी इसकी रचना होती हैं—इन्द्रज्येष्ठ, यमश्रेष्ठ, अस्थिभूयस् (जिसमें अधिक हड्डी ही हों)।

व्यधिकरण बहुव्रीहि में दोनों पदों की विभक्तियाँ भिन्न होती हैं, पूर्वपद प्रायः अपनी विभक्ति रखता है—रायस्काम (धन की कामना करने वाला), दिवियोनि (स्वर्ग में जन्म वाला), त्वांकाम (तुम्हारी कामना वाला); हिरण्यहस्त, घृतपृष्ठ, मधुजिह्व। दशाङ्गुल (दस अंगुलियों की नाप), त्रियुग (तीन युगों की अवधि)।

(४) पूर्वप्रधान समास (Governing Compounds)—इस समास की यह विशेषता है कि इसमें पूर्वपद (जो उपसर्ग की तरह का अव्यय या कृदन्त शब्द होता है) अर्थ की दृष्टि से उत्तरपद पर नियंत्रण रखता है। बहुव्रीहि के समान इसका रूप तो होता ही है, उसीके समान इसकी प्रकृति भी विशेषणात्मक होती है। किन्तु अर्थ में पर्याप्त अन्तर रहता है क्योंकि जहाँ पूर्वपद में उपसर्ग रहता है वहाँ वह बहुव्रीहि समास के समान विशेषण का काम नहीं करता, प्रत्युत उपसर्ग (preposition) ही का काम करता है। कृदन्त की स्थिति में पूर्वपद सकर्मक क्रिया से बना होता है, अकर्मक से नहीं। उदाहरण—(१) अतिरात्र (रातभर चलनेवाला), अनुकाम (इच्छा के अनुकूल), परोमात्र (परिमाण से अधिक). परोक्ष, अधस्पद (पैर के नीचे)। (२) तरद्-द्वेष (शत्रुओं को परास्त करने वाला), धारयत्कवि (विद्वान् का सहायक), मन्दयत्सख (मित्र को आनन्दित करने वाला), भरद्वाज (पुरस्कार ले जाने वाला, भरत्>हरत्), त्रस-दस्यु (शत्रु को डरानेवाला), वीति-राधः (हव्य का आनन्द लेने वाला)।

(५) वाक्यात्मक समास (syntactical)—वेदों में कुछ अनियमित तथा असमर्थ समास भी हैं जो देखने में वाक्य के समान लगते हैं। वाक्य में किन्हीं दो शब्दों के सान्निध्य से ये बने हुए समास हैं जिन्हें स्वर की दृष्टि से एकपद माना जाता है। उदाहरण—याच्छ्रेष्ठ (यथासंभव उत्तम), ये-यजामहे (वाज० संहिता), अहमुत्तर (उत्तमता के लिए संघर्ष), मम-सत्य (अधिकार का संघर्ष, सत्यमिदं मम), अहंपूर्व।

(६) द्विरुक्त समास (Iterative Compound)—वेदों में इसकी रचना, संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, संख्याशब्द, क्रियाविशेषण तथा उपसर्ग की द्विरुक्ति से होती है। द्विरुक्ति होने पर उत्तरपद का निघात (पूरा अनुदात्त) हो जाता है। पाणिनि इस उत्तरपद को आम्रेडित कहते हैं (तस्य परमाम्रेडितम्)। संज्ञाद्विरुक्ति—अहरहः, दिवेदिवे, द्यविद्यवि, मासिमासि, गृहेगृहे, दमेदमे (हर घर में), यज्ञस्य-यज्ञस्य (सभी यज्ञों का), पर्वणि-पर्वणि (प्रत्येक संधिस्थल में)। पाणिनि यहाँ वीप्सा में द्विरुक्ति मानते हैं। विशेषणद्विरुक्ति—पण्यंपण्यं सोमम् (पुनः पुनः स्तुति-योग्य सोम को);

प्राचींप्राचीं प्रदिशम्, उत्तरामुत्तरां समाम् (प्रत्येक अनुवर्ती वर्ष को)। सर्वनाम द्विरुक्ति—यद्यद् यामि (मैं जो-जो माँगूँ), त्वंत्वम् अहर्यथाः (तुम सदा प्रसन्न रहे)। संख्याद्विरुक्ति—पञ्च-पञ्च (प्रत्येक बार पाँच, पाँच-पाँच), सप्त-सप्त त्रेधा (तीन बार सात-सात = २१)। क्रियाविशेषण—यथा यथा, अद्याद्या, श्वः-श्वः। उपसर्ग—प्र प्र, उपोप। तुल० पाणिनि–'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (८।१।६)। क्रियापद की द्विरुक्ति का संस्कृत में बहुत प्रयोग होता है किन्तु वेदों में केवल 'पिब-पिब' तथा 'यजस्व-यजस्व' (शत० ब्रा०) ये ही उदाहरण हैं।

इस प्रकरण में वैदिक व्याकरण की ये मुख्य विशेषताएँ दिखलायी गयी हैं। इसका विस्तृत निरूपण प्रो० मैकडोनल के वैदिक व्याकरण में हुआ है। प्रत्येक जिज्ञासु को उसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

परिशिष्ट २

वैदिक स्वर (Vedic Accent)

उच्चारण में उदात्तादि स्वरों का प्रयोग वैदिक भाषा की एक मुख्य विशेषता है। सभी संहिताएँ, शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण तदनुसार स्वरांकित हैं। यद्यपि विभिन्न संहिताओं में स्वरांकन की पृथक् विधियाँ हैं, हम ऋग्वेद-संहिता की अंकन-विधि का यहाँ निरूपण करेंगे। वेदों में तीन स्वर हैं—

(१) उदात्त—(accented)—जिस वर्ण (vowel) के उच्चारण में गात्रों का आरोह होता है वह उदात्त है। तालु आदि उच्चारण-स्थानों के ऊर्ध्वभाग से इसका उच्चारण होता है (उच्चैरुदात्तः, पा० १।२।२९)। ऋग्वेद में उदात्त स्वर का अंकन नहीं किया जाता जैसे—अ॒ग्निना॑। इसमें इ उदात्त है। सामान्यतया सभी शब्दों में, कुछ अपवादों को छोड़कर, एक वर्ण का उदात्त होना आवश्यक है (अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, पा० ६।१।१५८)। शेष वर्ण अनुदात्त रहते हैं।

(२) अनुदात्त (unaccented)—जिस स्वरवर्ण के उच्चारण में गात्रों का अवरोह होता है अर्थात् शरीर में शिथिलता आती है, वह अनुदात्त है। तदनुसार उच्चारण स्थानों के अधोभाग का इसमें प्रयोग होता है (नीचैरनुदात्तः १।२।३०)। इसका अंकन वर्ण के नीचे रेखा लगा कर किया जाता है जैसे उपर्युक्त उदाहरण 'अ॒ग्निना॑' में अ अनुदात्त है।

(३) स्वरित—इसके उच्चारण में गात्रों की आरोहावस्था से शिथिलावस्था की ओर प्रवृत्ति होती है अर्थात् उदात्त और अनुदात्त के समन्वय (समाहारः स्वरितः) से यह उत्पन्न होता है। इसका चिह्न वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा है जैसे अ॒ग्निना॑ में 'आ'। इसके दो भेद हैं—परतंत्र तथा मुख्य स्वरित। परतंत्र स्वरित वह है जो उदात्त के अनन्तर विद्यमान अनुदात्त के स्थान में आता है। 'अग्निना' में इ के उदात्त होने से शेष दोनों स्वर अनुदात्त होंगे (अनुदात्तं पदमेकवर्जम्) किन्तु उदात्त के बाद अनुदात्त को स्वरित हो जाता है (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, पा० ८।४।६६) अतः 'आ' परतंत्र स्वरित है। इसे अपना स्थान छोड़ना भी पड़ सकता है। संहितापाठ में अग्निना के बाद तुरत कोई उदात्त स्वर वर्ण हो तो आ पर स्वरित न पड़कर, भावी उदात्त का द्योतक अनुदात्त ही पड़ेगा। हमें प्रायः परतंत्र स्वरित ही मिलते हैं।

मुख्य स्वरित वह है जो मूलतः स्वरित हो। यह भी दो प्रकार का है—
(क) असंधिज या जात्यस्वरित—जहाँ स्वरित उदात्त के समान किसी पद का मुख्य स्वर हो। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार इसके पूर्व कोई वर्ण नहीं होता या अनुदात्त होता है (अपूर्वोऽनुदात्तपूर्वो वा)। यह विशेषतः य् व् के संयुक्ताक्षर में होता है जैसे—स्वः, क्व, वीर्यम्, रथ्यम्, तन्वम्। पाणिनि के अनुसार तित्-प्रत्यय (तत्, ण्यत् इत्यादि) स्वरित होते हैं। पाश्चात्य विद्वान् स्वरित की समाहार-प्रकृति का अन्वेषण करते हुए इस जात्यस्वरित के उदाहरणों में स्वरभक्ति करके उदात्त तथा परतंत्र स्वरित का योग मानते हैं—स्वः=सुअः। वीर्यम् = वीरिअम्।

(ख) सन्धिज स्वरित—विभिन्न प्रकार की सन्धियों से भी स्वरित उत्पन्न होता है। इसके तीन भेद हैं क्योंकि प्रश्लिष्ट, क्षैप्र तथा अभिनिहित सन्धियों से यह उत्पन्न होता है। इन सन्धियों का स्वरूप परिशिष्ट—१ में दिया गया है। यहां इनके उदाहरण लें—

प्रश्लिष्ट सन्धि से उत्पन्न—इ + इ = ई; सुचि + इव = सुचीव।
क्षैप्र सन्धि से उत्पन्न—उदात्त इ उ + अनुदात्त असमान वर्ण = स्वरित;
नु + इन्द्र = न्विन्द्र।
अभिनिहित सन्धि से उत्पन्न—उदात्त ए ओ + अ = एऽ, ओऽ;
ते + अवर्धन्त = तेऽवर्धन्त।

इन तीन स्थितियों को छोड़कर अन्य स्थानों में उदात्त + अनुदात्त की सन्धि होने पर उदात्त ही रहता है (एकादेश उदात्तेनोदात्तः, पा० ८।२।५)।

(४) प्रचय—स्वरित (मुख्य या परतन्त्र) के बाद अनुदात्त प्रचय कहलाते हैं तथा इन्हें अंकित नहीं किया जाता। यह क्रम वहां तक जाता है (संहितापाठ में) जब तक कोई उदात्त न मिल जाय। उदात्त के पूर्व के अनुदात्त को तो अवश्य ही अंकित करना है। तब तक के सारे अनुदात्त प्रचय कहलाते हैं। जैसे—अग्निमीळे (ए प्रचय है)। इसी प्रकार—

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू।

यहां 'न्द्र' के अकार को स्वरित हो जाने के बाद अनन्तर ४ वर्ण प्रचय हैं, 'ता' उदात्त हैं जिसके कारण उसके पूर्व का वर्ण 'सु' अनुदात्त है। पुनः वाजिनीवसू के सभी वर्ण प्रचय हैं। पदपाठ में उसके सभी वर्ण अनुदात्त होते क्योंकि वह अपने आप में स्वतन्त्र पद होता, पूर्व के स्वर का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता।

उदात्त तथा प्रचय दोनों ही अनंकित (unmarked) रहते हैं किन्तु प्रचय की विलक्षणता है कि यह स्वरित के बाद आता है। यदि कोई अनंकित वर्ण मन्त्रार्ध के आरम्भ में, या पदपाठ में पदारम्भ में हो, उसके पूर्व अनुदात्त (अंकित) हो या बाद में स्वरित अंकित हो तो उसे उदात्त समझना चाहिए। उपर्युक्त मन्त्र में 'वा' उदात्त है। पद-पाठ में 'तौ, आ' अनंकित रहने से उदात्त हैं। इन्द्रः में इ उदात्त हैं, सुतानां में ता उदात्त है।

(५) कम्प—जब किसी प्रकार के मुख्य स्वरित के बाद तुरत उदात्त हो तो उसे कम्प स्वरित कहते हैं। इसे १ या तीन के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। यदि वह स्वरित ह्रस्व स्वर पर हो तो १ का चिह्न देकर इसके ऊपर-नीचे स्वरित तथा अनुदात्त अंकित करते हैं किन्तु स्वरित को अनंकित ही छोड़ देते हैं जैसे—मुप्सिव १ तथा (ऋ० १।२।६)। यदि वह स्वरित दीर्घ स्वर पर हो तो ३ का चिह्न देकर इसके ऊपर-नीचे स्वरित तथा अनुदात्त अंकित करने के साथ उस स्वरित वाले वर्ण को भी अनुदात्त-चिह्न लगा देते हैं जैसे—राय्यो ३ वनिः (ऋ० १।४।१०)।

पदों में स्वर-निर्णय[1]—

प्रायः प्रत्येक वैदिक शब्द में एक मुख्य स्वर रहता है जो उदात्त होता है। भारतीय दृष्टिकोण से मुख्य (independent) स्वरित का भी वही स्थान है किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे उदात्त + स्वरित (परतन्त्र) का योग मानते हैं, यह ऊपर कहा जा चुका है। अन्ततः स्वर-निर्णय का प्रधान कार्य पद में उदात्त का निरूपण करना है क्योंकि उदात्त जान लेने के बाद हम उसके पूर्ववर्ती वर्णों को अनुदात्त तथा अनुवर्ती वर्ण को स्वरित तथा बादवालों को प्रचय मानकर तदनुसार अंकन कर ले सकते हैं। जैसे यह ज्ञात हो जाय कि 'करिष्यसि' में य उदात्त है तो हम इसका अंकन इस प्रकार कर लेंगे—करिष्यसि।

(१) एकपदों में स्वर-निर्णय (Accent in Single Words)—स्वर-निर्णय के लिए सामान्यतया पद की व्युत्पत्ति (प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन) जानना अनिवार्य है। व्याकरण के सभी तत्त्वों में—धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक,

१. पाणिनि ने स्वरों का परिपूर्ण विवेचन किया है जिससे उनके समय में संस्कृत के उच्चारण की परिशुद्धि का पता लगता है। विशेषतः प्रत्ययों में लगाये गये अनुबन्धों की सार्थकता स्वर के प्रसङ्ग में ही मालूम पड़ती है। इस निबन्ध में अतिमुख्य सूत्रों के आधार पर ही स्वर का निर्णय दिया जा रहा है। विशेष विवरण सिद्धान्तकौमुदी की स्वर-प्रक्रिया में देखें।

निपात, उपसर्ग इत्यादि में—अपना-अपना स्वर रहता है अर्थात् एक उदात्त रहता है। धातु का अन्तिम वर्ण उदात्त होता है (धातोः, पा० ६।१।१६२)। प्रत्यय का आदि वर्ण उदात्त होता है (आद्युदात्तश्च, ३।१।३), किन्तु सुप् प्रत्यय तथा पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं (अनुदात्तौ सुप्पितौ, ३।१।४)। प्रातिपदिक यदि अव्युत्पन्न हैं तो प्रायः अन्तोदात्त होते हैं (फिषोऽन्त उदात्तः, फिट्सूत्र ११), वृषादि शब्द आद्युदात्त होते हैं (६।१।२०३), इसी प्रकार नपुंसकलिंग के शब्द भी आद्युदात्त हैं। (नब्विषयस्यानिसन्तस्य, फि० सू० २१२६)। व्युत्पन्न प्रातिपदिकों में बाद में आने के कारण प्रत्यय के स्वर का आधिपत्य हो जाता है। अर्थात् प्रत्यय का उदात्त शिष्ट रहता है। किन्तु निम्नलिखित अपवाद हैं—घञ् को छोड़कर (जिससे बना शब्द अन्तोदात्त होता है, ६।१।१५९) शेष जित् तथा नित् प्रत्ययों से बने शब्द आद्युदात्त होते हैं (ञ्नित्यादिर्नित्यम्, ६।१।१९७)। चित् प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त होता है, तित्प्रत्यय स्वरित होता है (६।१।१८५); यत् प्रत्ययान्त आद्युदात्त होता है (यतोऽनावः ६।१।२१२), रित् प्रत्ययान्त शब्द का उपान्त्य वर्ण उदात्त होता है। लित् प्रत्यय के पूर्व का वर्ण उदात्त होता है।

व्युत्पत्ति के लिए उपर्युक्त अपवादों को छोड़कर सामान्य स्वरों में नियम यह है कि शब्द की सिद्धि में जो तत्त्व सबों के अन्त में प्रविष्ट हो उसीका स्वर बलिष्ठ रहता है (सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः) जैसे—'गोपाय' शब्द की सिद्धि में गुप्+आय+हि (लुप्त) ये व्याकरण तत्त्व हैं 'गो' धात्वंश (गुप् धातु से निष्पन्न) है, 'पा' में प्रत्यय का स्वर (आद्युदात्त) है, 'य' में 'सनाद्यन्ता धातवः' के अनुसार धातु-संज्ञा मानकर अन्तोदात्त का स्वर है। प्रत्ययान्त धातु संज्ञा सबसे अन्त में हुई है इसीलिए √गुप् के स्वर तथा आय प्रत्यय के स्वर की अपेक्षा उसका स्वर बलवान है। तदनुसार गोपाय यह रूप होगा। तिङन्त शब्दों में स्वर-निर्णय के समय इसका बड़ा महत्त्व है। विकरणों के साथ यह 'शिष्टस्वर-नियम' नहीं लगता जैसे—'गृणीतः' में क्रमशः धातु, श्ना विकरण तथा तस्-प्रत्यय के तत्त्व हैं, सबसे अन्त में श्ना का ही प्रवेश होता है। किन्तु उसका स्वर बलिष्ठ नहीं होगा क्योंकि विकरण है। अन्ततः तस् प्रत्यय के स्वर को अंतिम मानकर प्रधानता दी जायगी—गृणीतः।

निपात आद्युदात्त होते हैं तथा अभि को छोड़कर उपसर्ग भी ऐसे ही हैं (फि० सू० ४।८०-१)। एव, एवम्, नूनम् सह इत्यादि शब्द अन्तोदात्त होते है। दूसरी ओर च, वा, इव, उ, घ, ह, चिद्, स्म, स्वित्, कम् (नु, सु, हि के बाद) तथा पादान्त में यथा—ये अव्यय (निपात) अनुदात्त हैं। सर्वनामों में युष्मद्-अस्मद् के वः, नः, मा, त्वा, इत्यादि छोटे रूप भी

अनुदात्त ही होते हैं। इदम् शब्द के अ(श्) वाले रूप (अस्य, अस्मिन् इत्यादि) अनुदात्त होते हैं यदि इनके साथ इनका विशेष्य नहीं हो। विशेष्य रहने पर विभक्ति उदात्त होती है। उदाहरण—अस्य जनिमानि (अनुदात्त)। अस्य। उपसः।

(२) निघात—जब किसी स्थानविशेष में रहने के कारण किसी शब्द के सभी वर्ण अनुदात्त हो जायें तो इसे निघात अर्थात् स्वर का निहत होना कहते हैं। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' के अनुसार जब उदात्त के अतिरिक्त दूसरे वर्ण अनुदात्त हो जाते हैं तब इसे भी निघात कहा जाता है किन्तु अधिकांशतः इसका प्रयोग पहले अर्थ में ही होता है। संबोधन-पदों का निघात हो जाता है यदि वे पादादि में नहीं (आमन्त्रितस्य च ८।१।१९)—इसे आष्टमिक निघात (अष्टमाध्याय के सूत्र से होने वाला) कहते हैं। पादादि में आने पर संबोधन को आद्युदात्त होता है (यही सूत्र ६।१।१९८)। षष्ठाध्याय के समान-सूत्र से उपपन्न होने के कारण इसे षाष्ठ आद्युदात्त कहते हैं। तिङन्त-पद का भी, यदि वह किसी दूसरे तिङन्त के बाद न हो तो, निघात होता है (तिङ्ङतिङः ८।१।२८) तिङन्त-पद पादादि में रहने पर उदात्त ग्रहण करता है तथा पादादि में विद्यमान संबोधन के बाद हो तो भी उसे पादादि में ही समझा जाता है (आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८।१।७२)। यद्, यदि, हन्त, यत्र, नेत्, चेत्, हि, यावत्, यथा, च, तु इत्यादि से युक्त होने पर तिङन्त का निघात नहीं होता। यद् के किसी रूप से (यः, ये यानि, यस्मिन्···) सम्बद्ध होने पर तिङन्त में स्वर अवश्य पड़ता है (यद्वृत्तान्नित्यम् ८।१।६६)। द्विरुक्ति होने पर द्वितीयपद को निघात होता है—दिवेदिवे। दूसरा दिवे निहत है।

(३) दुहरे स्वर (Double Accent)—सामान्य नियम के विपरीत कुछ शब्दों में दो उदात्त स्वर होते हैं—(क) तवै प्रत्ययान्त शब्दों में—एतवै। अपभर्तवै। प्रथम तथा अंतिम दोनों वर्ण उदात्त हैं (तवै चान्तश्च युगपत् ६।२।५१)। (ख) वनस्पति आदि शब्दों में भी दो स्वर पड़ते हैं दोनों पद अपने-अपने मूल स्वर की सुरक्षा करते हैं—वनस्पतिः। बृहस्पतिः। शचीपतिः। नराशंसः। शुनः शेपः। (उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् ६।२।१४०) (ग) देवताद्वन्द्व में भी दो स्वर होते हैं तथा दोनों पद अपने-अपने मूल स्वर की रक्षा करते हैं—मित्रावरुणा। इन्द्राबृहस्पती (इसमें तीन स्वर हैं)।

(४) सुबन्त-स्वर—सामान्यतया सुप प्रत्यय अनुदात्त होते हैं अतः इनके लगने पर प्रातिपदिक-स्वर को प्रधानता होती है। जहाँ प्रातिपदिक तथा सुप् में सन्धि होनी है वहाँ यथानियम कार्य होकर स्वर का प्रयोग होता है जैसे—प्रिय+अम् = प्रियम्। उदात्त (य में अ) के साथ अनुदात्त की

संधि-होने पर यदि एकादेश हो तो उदात्त ही होता है (एकादेश उदात्तेनोदात्तः)। कुछ स्थितियों में सुप् की विभक्तियाँ भी उदात्त होती हैं। सप्तमी बहुवचन में प्रत्यय लगने के समय जो अंग एकाच् हो जाय, उससे लगने वाली तृतीया आदि विभक्तियाँ उदात्त होती हैं जैसे—वाचा (६।१।१६८)। पुनः ऊठ् वाले शब्द (प्रष्ठवाट्), इदम्, पद्-दत् इत्यादि (६।१।६३), अप्, पुप्, रै और द्यु के बाद लगने वाली शस् आदि विभक्तियाँ उदात्त होती हैं (६।१।१७१)।

(५) समासस्वर—सामान्य रूप मे द्विरुक्त समास, बहुव्रीहि समास तथा पूर्वप्रधान (Governing) समास में पूर्वपद में स्वर पड़ता है, उत्तरपद का निघात हो जाता है। तत्पुरुष (कर्मधारय के साथ) और नियमपूर्वक बने हुए द्वन्द्व समास में उत्तरपद का अन्तिम वर्ण उदात्त होता है (समासस्य, ६।१।२२३)।

(क) द्विरुक्त—पदों को पदपाठ में अवग्रह से पृथक् करके पूर्वपद में उदात्त दिया जाता है जैसे—यथाऽयथा। अद्यऽअद्य (अद्याद्य-संहिता में)। श्वःऽश्वः। पिबऽपिब।

(ख) पूर्वप्रधान—तरद्ऽद्वेषः। मन्दयत्ऽसखः। धारयत्ऽकविः। किन्तु जब पूर्वपद कोई उपसर्ग हो और उत्तरपद अकारान्त हो तो समास अन्तोदात्त होता है—अनुऽक्रामः। अभिऽप्रदः।

(ग) बहुव्रीहि—विश्वतःऽमुखः। धियाऽवसुः। सहऽवत्सः। दधिऽआशिरः। किन्तु कुछ बहुव्रीहि समासों में उत्तरपद का ही (प्रायशः अन्त) उदात्त होता है। यह प्रायः तब होता है जब पूर्व पद दो स्वरवर्णों (vowels) का इकारान्त या उकारान्त हो जैसे—पुरुऽरूपः। बहुऽअन्नः। तुविऽद्युम्नः। त्रिऽनाभिः।[1]

(घ) कर्मधारय—सामान्यतः अन्तोदात्त होता है—प्रथमऽजा। प्रातःऽयुज्। महाऽधन। किन्तु जब उत्तरपद का अन्त इ, मन्, वन् से हो या वह कृत्य प्रत्ययान्त हो तो उपान्त्य वर्ण उदात्त होता है—दुःऽगृभिः। सुऽनर्मा। रघुऽपत्मानः। पूर्वऽपेयः।

(ङ) तत्पुरुष—सामान्यतः अन्तोदात्त होता है जैसे राजपुत्रः। उदऽमेघः। किन्तु जब दूसरा पद अन (कर्तृवाचक), य (भाव में कृत्य-प्रत्यय), वन् मे अन्त होने वाला कृदन्त या इकारान्त विशेषण हो तो मूल स्वर की सुरक्षा होती है जैसे—देवऽमादनः। अहिऽहत्यम्। पथिऽरक्षिः। सोमऽपावा।

---

१. नञ तथा सु पूर्वपद में हो तो बहुव्रीहि समास अन्तोदात्त होता है—नञ्सुभ्याम् (पा० सू० ६।१।१७२)।

(तुल० गतिकारकोपपदात्कृत्, पा० ६।२।१३९)। इसे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर कहा जाता है। कभी-कभी पूर्वपद का स्वर सुरक्षित रहता है जब कि वह तुल्यार्थक, द्वितीयान्त, सप्तम्यन्त, उपमान, अव्यय, तृतीयान्त या कृत्यप्रत्ययान्त हो (६।२।२)। उत्तरपद में क्त या क्तिन् प्रत्ययान्त पद हो तो भी पूर्वपद का स्वर होता है—देवऽहितम्। धनऽसातिः। वनस्पति आदि शब्द दोनों पदों में स्वर सुरक्षित रखते हैं।

(च) द्वन्द्व—(अन्तोदान्त) अजावयः। अहोरात्राणि। इष्टापूर्तम्। देवताद्वन्द्व या उसके समान बने हुए शब्द दुहरा स्वर लेते हैं—इन्द्रावरुणा। सूर्यामासा (सूर्य और चन्द्रमा)। तुर्वशायदू। मातरापितरा।

संहिता-पाठ से पद-पाठ में परिवर्तन—

(१) सबसे पहले सभी संधियों का विच्छेद कर देना चाहिए। पृथक् पदों (जो समस्त नहीं हों) को अलग-अलग रखें मानो उनमें कोई सम्बन्ध नहीं। संहिता-पाठ में जहाँ पूरा मन्त्रार्ध एक इकाई समझा जाता है और एक पद के स्वर का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, पद-पाठ में एक ही पद की इकाई होती है और पदान्तर पर उसके स्वर का प्रभाव नहीं पड़ता। मित्रं हुवे (संहिता) में 'त्र' के उदात्त होने से 'हु' को स्वरित हो गया है और इसलिए 'वे' प्रचय है। पदपाठ में मित्रम् पृथक् पद है, हुवे पृथक् (अनुदात्त होने से इसे उस रूप में अंकित करेंगे)। उदात्त के बाद के अनुदात्त को स्वरित होता है इसीलिए संहिता-पाठ में 'हु' स्वरित है। दो उदात्तों के बीच अनुदात्त हो तो उसे स्वरित नहीं होता जैसे—वायविन्द्रश्च। 'वा' और 'वि' दोनों उदात्त हैं अतः बीच का अ अनुदात्त के रूप में अंकित हुआ है। उदात्त के पूर्व के जितने अनुदात्त हों, यदि पूर्णविराम के बाद हों तो, वे सभी अनुदात्त के द्वारा अंकित होते हैं जैसे—प्रऽघृश्रुती। यदि पूरा पद अनुदात्त हो तो पद पाठ में सबों को अंकित किया जाता है। इसी प्रकार उदात्त के बाद जितने अनुदात्त हों उनमें प्रथम को स्वरित और शेष को प्रचय होता है—

अ अ अ उ = अ अ अ उ। उ अ अ अ अ उ = उ स्व प्र प्र अ उ।

(२) अवग्रह-चिह्न—सभी समस्त पदों को अवग्रह के द्वारा पृथक् कर दें। यदि पूर्वपद में स्वर का परिवर्तन थोड़ा भी हुआ हो तो अवग्रह नहीं होगा। दो से अधिक पदों के समासों में अवग्रह के द्वारा केवल अन्तिम पद को पृथक् किया जाता है। सु, भिः, भ्यः, तर, तम, मत् और वत् प्रत्ययों को भी अवग्रह के द्वारा पृथक् किया जाता है यदि प्रातिपदिक के अन्त में इनके लगने से कोई स्वर-विकृति नहीं हुई हो जैसे मुनिऽभिः, किन्तु नाल-

केभ्यः । इसी प्रकार नामधातु के य और यु को भी अकारान्त अंग से पृथक् कर देते हैं—स्वाऽयवः ।[1]

(३) संधि से जो मूर्धन्य ष या ण हुआ हो उसे स न में बदल दें । कम्प के अंक हटाकर नियमानुसार स्वरांकन करें । जिन शब्दों में छान्दस दीर्घ हो गया है उन्हें भी ह्रस्व कर दें जैसे—चर्षणीधृतः > चर्षणिऽधृतः । अच्छा > अच्छ । एवा > एव । श्रुधी > श्रुधि ।

(४) ओकारान्त संबोधन, द्विवचन रूप (ई, ऊ, ए से अंत होने वाले) तथा अन्य प्रगृह्य वर्णों के बाद इति लगायें । यह आद्युदात्त होगा । यदि यह समस्त पद हो तो इति के बाद उसकी आवृत्ति करें तथा दूसरे में अवग्रह लगायें । ऐसी स्थिति में स्वर की कुछ विकृतियाँ होती हैं । [2]

(५) पदों में उदात्त का पता लगाकर तदनुसार दूसरे स्वरों का अंकन कर दें ।

पदपाठ से संहितापाठ में परिवर्तन—

'इति' निकाल कर सभी सन्धियाँ मिला देनी चाहिएँ । छन्द का निर्णय करके दो पादों के बाद पहला पूर्ण-विराम दें । इसके लिए सम्बद्ध मंत्र का, हलका ही सही, संस्कार रहना चाहिए । गायत्री में तीसरे पाद तथा अनुष्टुप् आदि में चौथे पाद पर पुनः पूर्ण विराम दें । जहाँ-जहाँ उदात्त हो वहाँ-वहाँ वर्ण के नीचे एक हलका-सा शून्य का चिह्न लगा दें जिसे मिटाया भी जा सके । इससे शेष स्वरों के अंकन में सुविधा होगी । अब उदात्त के पूर्व वाले वर्ण को सर्वत्र अनुदात्त अंकित कर दें । यदि एक ही साथ दो उदात्त सटे हों तो प्रथम उदात्त के पूर्ववर्ण को अनुदात्त अंकित करना है क्योंकि द्वितीय उदात्त के पूर्व तो उदात्त ही है । अब उदात्त के बाद वाले वर्ण को (यदि पहले की क्रिया में अनुदात्त अंकन नहीं किया गया है) सर्वत्र स्वरित अंकित कर दें । शेष वर्णों को छोड़ दें, वे प्रचय हैं ।

---

१. इव शब्द का भी समास होता है । उपमान और इव के बीच अवग्रह-चिह्न लगाया जाता है । उपमार्थक 'न' को यह सुविधा नहीं है । द्वन्द्व तथा नञ् समास में अवग्रह नहीं होता ।

२. स्वः तथा कः की भी इति लगाकर आवृत्ति की जाती है—स्वरिति स्वः । कुरिति कः (यह √कृ से बना क्रियापद है)।